1904

Lib. G. K. V
Hardwar

111056

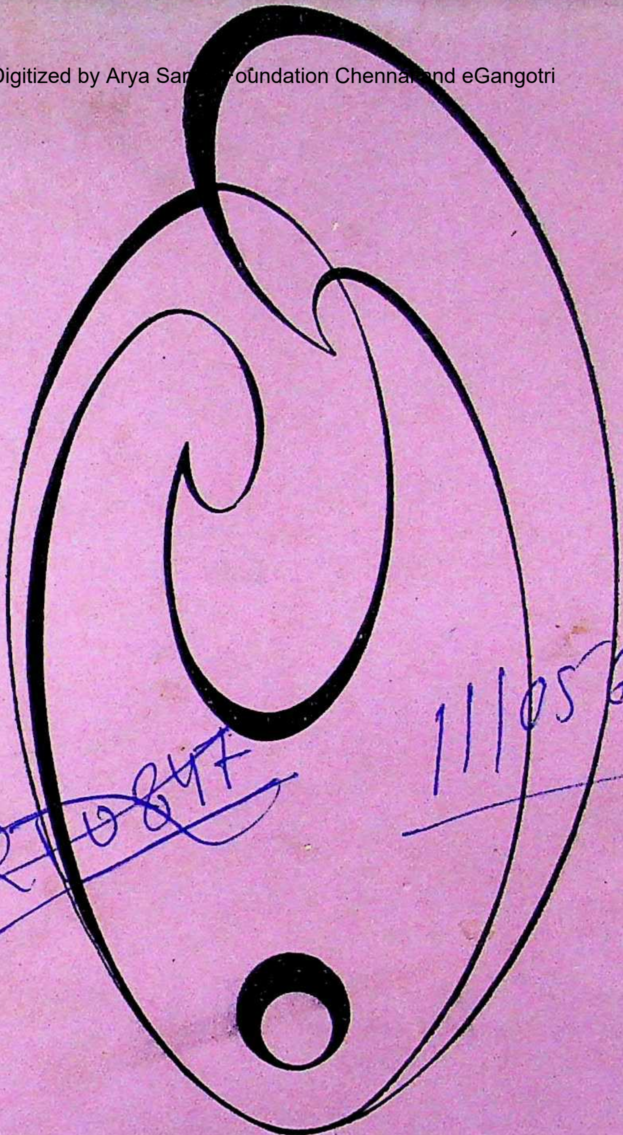

R 0847

11|056

माध्यम

संपादक - बालकृष्ण राव

१ : अंक ९
वरी १९६५

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

भारत सरकार की ओर से भेंट

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

वर्ष १ : अंक ९
जनवरी १९६५

श्रद्धांजलि

श्रद्धांजलि ३ बालकृष्ण राव

लेख

प्रतिभा : एक प्रश्न-दृष्टि ५ रमेशचंद्र शाह
कुछ कैफ़ियत ११ जैनेन्द्र कुमार
समसामयिक परिवेश और आस्था की समस्या २५ शिवकुमार मिश्र
वाङ्मय परिमर्दनम् ३३ केशवचंद्र वर्मा
शब्दों की पुनरुक्तियाँ और अर्थ-भेद ३९ बदरीनाथ कपूर
हिंदी फ़िल्मों में बौद्धिक चेतना का समावेश ७० प्रभा पारमिता
बंबई की डायरी ७४ अवध नारायण मुद्गल

कविताएँ

उद्‌बोध १६ सुमित्रानंदन पंत
एक मनःस्थिति १७ स्नेहमयी चौधरी
मृत्यु का गीत १८ रामधारी सिंह दिनकर
संसरण १९ अमृता भारती
दुर्घटना ३२ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
अमियो, मुझे माफ़ करो ४९ गोपीकृष्ण गोपेश

कहानियाँ

संदिग्ध चालें २० कुँवर नारायण
आत्मीयता के छंद ४५ रमेश उपाध्याय

सहवर्ती साहित्य

पंजाबी साहित्य : एक विहंगम दृष्टि ५१ रवींद्र कालिया

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
बद्रीनाथ तिवारी

संपादकीय पता
पोस्ट बाक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

माध्यम

का दसवाँ अंक

प्रस्तुत कर रहा है:

- परशुराम चतुर्वेदी और फ़ादर आई० ए० एक्सट्रॉस के लेख।
- माखनलाल चतुर्वेदी और बच्चन की कविताएँ।
- अनुसूया प्रसाद पाठक द्वारा प्रस्तुत ओड़िया का 'सहवर्ती साहित्य'।
- मोहन राकेश के 'अँधेरे बंद कमरे' पर इलाचंद्र जोशी की विवेचना।
- कहानियाँ, प्रतिपत्तिका समीक्षाएँ आदि।

पंगु लेखनी (कविता) ५५ तारा सिंह
मेरा दुखांत (कविता) ५६ जसबीर सिंह आहलूवालिया
सूर्यांकित आकाश (कविता) ५६ सति कुमार
अजनबी (कहानी) ५७ कुलवंत सिंह विर्क

विवेचना

'हम विषपायी जनम के' ८४ भारतभूषण अग्रवाल
गोष्ठी प्रसंग : 'विवेचना' ९३ विवेचक
गीत और नयी कविता के द्वंद्व के बीच दो गीतकार ९८ श्रीराम वर्मा

विविधा

वैदिक मधुविद्या ६२ वासुदेवशरण अग्रवाल
आर्य-द्रविड़ संघर्ष की काल्पनिक आग ६४ किशोरीदास वाजपेयी
मेले जहाँ मन का मैल धुल जाता है ६८ रामनारायण उपाध्याय

प्रतिक्रिया-पुनर्विचार

एक प्रश्न :

समसामयिक आलोचना ७९ उदयभान मिश्र
तिथि संबंधी भ्रांतियाँ ८१ मुरलीधर श्रीवास्तव
'सुबह होने तक' ८२ सुरेश सिनहा

●●

आवरण-सज्जा : दीनानाथ सरोदे

●

आवरण-चित्र : लक्ष्मीचंद्र

111056

श्रद्धांजलि

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ! ––आने वाली पीढ़ियाँ इस नाम से ही उन्हें जानेंगी, और इस नाम की गरिमा से अभिभूत होंगी। पर हम समकालीन उन्हें 'दद्दा' के नाम से ही जानते-मानते-पुकारते रहे हैं और इसी नाम से उन्हें आज स्मरण करते हैं। हम उनके इतने निकट रहे हैं, उनका आशीर्वाद, स्नेह, साहचर्य हमें सदैव इस प्रकार अनायास प्राप्त होता रहा है कि उनके अपने बीच से उठ जाने पर भी हम उस दृष्टि से उन्हें नहीं देख सकते जिससे अनुवर्ती पीढ़ियाँ देखेंगी। साहित्यिक रुचियों, मान्यताओं और मूल्यों में परिवर्तन होता ही रहता है। आने वाले युगों में भी निश्चय ही 'दद्दा' के व्यक्तित्व और कृतित्व के विषय में धारणाएँ बनती, बदलती रहेंगी। पर उनका जो चित्र हमारी आँखों के आगे इतने वर्षों से रहा है, वह परिवर्तनशील नहीं है––हमारे लिए तो 'दद्दा' का सहज, स्नेहशील, हँसमुख रूप सदा-सर्वदा के लिए स्मति-पट पर अंकित हो गया। उनके विराट रूप के प्रति हम श्रद्धावनत हैं और रहेंगे, पर जिसकी स्मृति हम सँजोये रहेंगे वह है 'दद्दा' का निकटस्थ, निश्छल, आत्मीय रूप। 'प्रियप्रवास' की गोपियों के शब्द याद हो आते हैं :

न कामुका हैं हम राजवेष की,
न नाम प्यारा यदुनाथ है हमें ;
अनन्यता से हम हैं ब्रजेश की
विरागिनी, पागलिनी, वियोगिनी ।

'दद्दा' ने अपने ७८ वर्षों के जीवन में बहुतेरा सम्मान पाया––पर ऐसा कुछ भी नहीं पाया जो उन्होंने सच्चे और संपूर्ण अर्थ में अर्जित नहीं किया था। सच तो यह है कि उन्हें जो भी श्रद्धा और सम्मान मिला उससे कहीं अधिक पाने के वे अधिकारी थे। प्रायः ६० वर्षों तक उन्होंने अनवरत काव्य-रचना की। जिस समय उन्होंने लिखना शुरू किया था, अर्थात बीसवीं शती के आरंभ में, उस समय जैसे यह कल्पनातीत था कि देश एक अर्धशताब्दी के भीतर ही स्वतंत्र हो

जायगा वैसे ही, और उतना ही, कल्पनातीत यह भी था कि खड़ी बोली हिंदी कविता अपनी उस समय की तुतलाने की-सी स्थिति से आज की स्थिति तक पहुँच जायगी, जब वह भारत की ही नहीं संसार की सर्वोच्च साहित्यिक भाषाओं में गौरवपूर्ण स्थान की अधिकारिणी है।

खड़ी बोली हिंदी को साहित्य की भाषा के रूप में सँवारने-निखारने वाले साधक शिल्पियों में 'दद्दा' का स्थान अन्यतम है। आचार्य द्विवेदी को यदि इसका श्रेय है कि उन्होंने खड़ी बोली हिंदी के साहित्यिक रूप को व्यवस्थित करने और उसे लोकग्राह्य बनाने के महत्कार्य का नेतृत्व किया तो 'दद्दा' इस कारण हमारे आदर और आभार के अधिकारी हैं कि उन्होंने उस सद्योनिर्मित स्फटिक-स्वच्छ प्रासाद को मानव-आवास की ऊष्मा प्रदान की। 'दद्दा' की काव्योपलब्धियों के बिना जिसे हम द्विवेदीयुगीन साहित्य कहते हैं वह क्या रह जाता है? यदि हम युग-युगों तक स्मरण रखेंगे तो किसे? निश्चय ही सबसे पहले 'दद्दा' को और उनके 'साकेत', 'यशोधरा', 'द्वापर' को; उनकी 'पंचवटी', 'जयद्रथ-वध', 'भारत-भारती' को; उनके 'मेघनाद-वध' और 'विरहिणी ब्रजांगना' को। हम याद रखेंगे उनके संस्कृत वृत्तों में खड़ी बोली हिंदी की कविता को आकार देने के प्रयोगों को। और हम यह भी याद रखेंगे कि इस अद्भुत प्रतिभाशाली कवि ने सहज उदारता और विलक्षण दूरदर्शिता के साथ, अपनी मान्यताओं और रुचियों के प्रति निष्ठावान रहते हुए भी, अपरिचित नवीन की कभी उपेक्षा या अवहेलना नहीं की। इतना ही नहीं, उन्हें यह देख कर आंतरिक आह्लाद होता था कि कोई नया प्रयोगकर्ता कोई ऐसी सफलता प्राप्त करता है जो उनके बस की नहीं थी। अपनी बुजुर्गी के टीले पर बैठ कर, चारों ओर सबको अपने से छोटा देख कर, अपने बड़प्पन से संतुष्ट होना 'दद्दा' की प्रकृति के अनुरूप नहीं था। वे सच्चे हृदय से कहते थे : **'पीछे जो आ रहे उन्हीं का मैं आगे का जय-जयकार !'**

'दद्दा' अब हमारे बीच नहीं रहे। उनके निधन के साथ विगत से वर्तमान को जोड़ने वाला जीवंत सेतु टूट गया। उनके साथ रामभक्ति की युग-युगों से प्रवाहित होती हिंदी की विशिष्ट काव्य-धारा लुप्त हो गयी। उनके साथ भारतीय संस्कृति और गांधीवाद का एक महान प्रतिनिधि और प्रवक्ता सदा के लिए मूक हो गया। आज हिंदी संसार में कौन किसे सांत्वना दे? कौन किस किसका आँसू पोछे? ऐसा कौन हिंदी वाला है जो आज क्षतिग्रस्त नहीं है? आगामी २६ जनवरी से उनकी और हमारी हिंदी औपचारिक और आधिकारिक रूप से भारत की राजभाषा होने जा रही है। उस दिन हम हिंदी वालों को 'दद्दा' का अभाव कुछ उसी प्रकार खलेगा जैसे स्वतंत्र भारत के जनतांत्रिक संविधान के लागू होने के दिन राष्ट्रपिता गांधी का अभाव खला था। लगता है कि निःस्वार्थ सेवा करने वाले अपने लगाये वृक्षों के फल खुद खाने के लिए रुका नहीं करते।

—बालकृष्ण राव

●●

रमेशचंद्र शाह

प्रतिभा : एक प्रश्न-दृष्टि

डाक्टर जानसन ने प्रतिभा (जीनियस) की परिभाषा करते हुए एक जगह लिखा है कि प्रतिभा और कुछ नहीं, सिर्फ़ उन सब सामान्य--किंतु विस्तृत और सुविकसित--क्षमताओं से संपन्न बुद्धि का नाम है जो संयोगवश किसी एक दिशा में सक्रिय हो गयी है। इस उद्धरण में 'विस्तृत' और 'संयोगवश' इन दो शब्दों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि सारी विचारणा इन्हीं दो आधारबिंदुओं पर टिकी हुई है। अभिप्राय स्पष्ट रूप से यही है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति की मानसिक संरचना सामान्य व्यक्ति की मानसिक संरचना से भिन्न नहीं होती। दोनों में अंतर सिर्फ़ इसी बात का है कि विशिष्ट प्रतिभा वाले व्यक्ति के अंदर सामान्य व्यक्ति में पायी जाने वाली मानसिक शक्तियाँ ही अधिक विस्तृत और अधिक परिपक्व रूप में सक्रिय होती हैं। इस प्रकार, जानसन के अनुसार, काव्य, संगीत या चिंतन की प्रतिभा मूलतः एक और अभिन्न होनी चाहिए, क्योंकि एक 'विस्तृत शक्तियों वाली' बुद्धि का पराक्रम ही तो इन तीनों में से किसी भी एक दिशा में परिणमित हो सकता है। और यह परिणमन मात्र संयोग पर निर्भर करता है, अर्थात यदि न्यूटन महाशय बचपन में ही कविता की ओर उन्मुख हो गये होते, तो वहाँ भी उनकी प्रतिभा वही जौहर दिखलाती जो उसने विज्ञान में दिखलाया था।

फिर एक प्रश्न सहज ही सिर उठाने लगता है कि आखिर जन्मजात कवि या जन्मजात गणितज्ञ जैसी भी तो कोई चीज़ होती होगी। कम से कम कवियों के संबंध में--उनके कवि होने के गुण (या अवगुण) के 'जन्मजात' और मूलभूत होने के बारे में तो प्लेटो तक को कोई संदेह नहीं था। संदेह ही होता तो उनके लिए बनवास की व्यवस्था करने की ज़रूरत उसे क्यों होती? क्या एथेंस में कोई कारावास नहीं बचा था? मगर उसे खूब अच्छी तरह मालूम था कि कवि होने का मतलब सिर्फ़ कवि और 'जन्मना' कवि होना होता है और इस क़िस्म की जन्मजात बुराइयों का इलाज एथेंस के ही क्या, दुनिया के किसी भी कारावास में नहीं हो सकता। उसका तो मूलोच्छेद ही होना चाहिए और मूलोच्छेद तभी संभव है जब अपराधी को या तो फिर से जनमांतरित कर दिया जाय या फिर कम से कम देशांतरित तो कर ही दिया जाय।

मगर जानसन ने प्रतिभा की जो परिभाषा ऊपर दी है उसमें 'जन्मजात कवि' या 'जन्म जात गणितज्ञ' जैसी धारणाओं के लिए रत्ती भर भी गुंजाइश नहीं है। वह एक बुद्धिवादी की परिभाषा है---तर्क और विवेक पर आश्रित व्याख्या, जिसके निकट हमारे अनुभव के 'अतर्क्य'

और 'विलक्षण' तत्वों का विचार एकदम अप्रस्तुत है। प्रतिभा इसलिए प्रतिभा नहीं है कि वह 'असामान्य' या सामान्येतर है, बल्कि इसलिए कि उसमें सामान्य मानसिकता का ही महत्तम विकास और विस्तार उपलब्ध होता है। एक औसत आदमी के मस्तिष्क में वही शक्तियाँ सीमित, संकुचित और असंतुलित रूप में क्रियाशील देखी जाती हैं। ऐसा बहुत कम देखने में आता है कि एक ही व्यक्ति में कल्पना, तर्कशक्ति, स्मरण-शक्ति और अंतर्दृष्टि आदि सभी मानसिक शक्तियाँ एक-सी विकसित और समृद्ध मिल जायें। मगर जानसन की मान्यता यह है कि प्रतिभावान व्यक्ति के अंदर मानसिक शक्तियों का वितरण विषम नहीं होता। उसकी हर शक्ति सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा बढ़ी-चढ़ी और सक्षम होती है। यह दूसरी बात है कि कालांतर में——किसी एक ख़ास दिशा को उन्मुख हो चुकने के बाद——इनमें से कुछ शक्तियाँ अपेक्षाकृत बहुत समृद्ध हो जायें और शेष शक्तियाँ उस अनुपात में गतिशील न हो पाने के कारण जहाँ की तहाँ रह जायें। वैसे जानसन इस संभावना को भी स्वीकार कर पाते या नहीं, यह कहना कठिन है, क्योंकि उनके अनुसार तो 'प्रतिभा', जो एक नहीं, अनेक बातों में विशेष होती है, अपनी समस्त शक्तियों को साथ ले कर ही अपनी उस ख़ास संयोगलब्ध दिशा में प्रेरित होती है। दिशा चाहे कोई भी हो, एक बार उसमें अग्रसर हो चुकने पर 'प्रतिभा' की समग्र मानसिकता उसी में खप जाती है, सभी वरदानों या शक्तियों का भरपूर उपयोग स्वतः होता रहता है——एकांगी या असमान प्रगति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि किसी भी दिशाक्षेत्र में प्रतिभा में निहित सभी क्षमताओं के लिए पूरी गुंजाइश रहती है। इतना तो सभी मानेंगे कि किसी भी क्षेत्र में महत्तम उपलब्धि 'संपूर्ण' व्यक्तित्व के पुंजीभूत सामर्थ्य से ही अधिक निपजती है——किसी एक ख़ास सामर्थ्य की एकांत महत्ता से कम।

अब यहाँ पर यह शंका सहज ही उठ सकती है कि अनेक शक्तियों का समन्वित और पुंजीभूत प्रभाव क्या आवश्यक रूप से किसी एक ख़ास शक्ति की प्रचंड शक्तिमत्ता से बढ़ कर होता है? स्पष्ट ही यह दावा करना कठिन है। इस बीसवीं सदी में भी हम ब्रह्मास्त्र के क्रूर तथ्य से इनकार नहीं कर सकते। इसके अलावा हम देखते हैं कि इतिहास भी तो विशिष्ट शक्तियों का, उनकी असाधारण व्यक्तिमत्ता का अधिक अनुसरण करता प्रतीत होता है, संतुलित सामाजिक शक्तियों का कम। तो अंतर्जगत के क्षेत्र में भी एक ही विशिष्ट शक्ति (या वृत्ति) का अधिनायकत्व यदि अनेक शक्तियों की समन्वित एकता से कभी-कभी अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है तो इसमें अचरज की क्या बात है?

यों भी, सर्वसाधारण के बीच 'जीनियस' की जो अवधारणाएँ प्रचलित हैं वे लगभग सभी अतिरेकवादी हैं। संतुलन या मानसिक प्रौढ़ता की अपेक्षा सनक और अतिवाद ही 'जीनियस' के लक्षण समझे जाते रहे हैं। प्रतिभाओं की एक कोटि ऐसी भी अवश्य होती है जिसका वैशिष्ट्य उसकी अतिपरकता में ही निहित रहता है। इस कोटि की प्रतिभाओं के स्वभाव और व्यक्तित्व में ही नहीं, प्रत्युत आचरण में भी एक खास दिशा में किसी एक ख़ास प्रवृत्ति का अतिरेक स्पष्ट परिलक्षित होता है। शेक्सपियर का समसामयिक नाटककार क्रिस्टोफ़र मार्लो इसी कोटि का जीनियस था। उसकी हर कृति का नायक किसी न किसी अति से ग्रस्त रहता है। और यही अति

सारी कृति को नाटकीय महत्ता और विलक्षण कवित्व प्रदान करती है। मार्लो की प्रतिभा है ही इसी असाधारण चित्रण में निहित। वह अपने व्यक्तित्व तथा आचरण में भी अपने कृतित्व की ही भाँति असंतुलित और उच्छृंखल था। इस अतिमयता या असंतुलन को मात्र संयोग या स्वभाव कह कर नहीं टाला जा सकता, क्योंकि इसका संबंध सीधे उस विलक्षणता से जुड़ता है जिसके कारण 'जीनियस' 'जीनियस' होती है। एक थोड़े भिन्न स्तर पर 'निराला' के निरालापन, ब्लैक के 'दिव्योन्माद' और बादलेयर के 'विद्रोह' को भी इसी संदर्भ में समझा जा सकता है।

यह 'विलक्षणता' या असामान्यता का तत्व बहुत से कलाकारों—मुख्यतः कवि-प्रतिभाओं—में सक्रिय देखा गया है। प्लेटो ने कहा था कि **'कवि की आत्मा में एक प्रकृत उन्माद होता है और वही उसे कविता करने को प्रेरित करता है'**। उसके अनुसार तो बिना इस उन्माद के, बिना इस सामान्येतर संवेदनशीलता के कोई कवि नहीं हो सकता। और वास्तव में जब हम मार्लो की 'चरम' के प्रति 'चरमासक्ति' का अनुभव करते हैं, मीराँ या क्रिस्टीना ऐसेटी की 'परम' के प्रति परमासक्ति का तथा 'साउंड ऐंड फ़्यूरी' के फ़ाकनर का स्मरण करने बैठते हैं, तब हमें प्लेटो का कथन न केवल कवि-प्रतिभाओं, बल्कि कुछ महान नाटककारों एवं उपन्यासकारों की प्रतिभा के विषय में भी कमोबेश ठीक जँचने लगता है। हम मानने को विवश से हो जाते हैं कि सब न सही, कुछ प्रतिभाओं की विशिष्टता का तो उत्स ही इस असामान्यता या विलक्षणता में रहता है। हम 'सेमैंटिक' प्रतिभाओं की बात सोचते हैं और पाते हैं कि बायरन की प्रतिभा उतनी ही एकांगी और असंतुलित है जितनी कि 'रेनेसाँ' युग के मार्लो की। मार्लो हर संतुलन से परे, केवल चरम स्थितियों का कवि है। और बायरन भी उतने ही चरम आवेश के साथ विद्रोह और आक्रोश के गीत गाता है। बायरन की कविता में वर्ड्स्वर्थ की तरह न तो कोई आदर्श या रहस्य-भावना मिलेगी, न गेटे की तरह जीवन की सर्वांगीण, संतुलित व्याख्या। मिलेगा सिर्फ़ एक प्रचंड आह्वान, एक विध्वंसक पौरुष। संक्षेप में, बायरन की प्रतिभा मूलतः असंतुलित और एकांगी है। संतुलित हो कर शायद वह 'जीनियस' नहीं रह पाता—कवि तो नहीं ही रह पाता।

तो जीनियस को संतुलित शक्ति और सर्वांगीण सामर्थ्य का पर्याय मानने वाली जानसनी मान्यता उपर्युक्त उदाहरणों के समक्ष जैसे एक बारगी लड़खड़ाने लगती है। टिके भी तो कैसे? हमें तुरंत यह भी याद आ जाता है कि आलोचना के क्षेत्र में जितने जीनियस हो गये हैं, उनमें स्वयं जानसन महोदय का भी तो एक नाम है। और कम से कम मेरे लिए तो यह कल्पना करना ही कठिन है कि यदि जानसन इतना बड़ा आलोचक और संभाषक न होता तो वह उतना ही बड़ा महाकवि या नाटककार होता। जिस आदमी का सारा जीवन ही बुद्धिमत्ता और ठोस व्यावहारिक विवेक को समर्पित हो गया हो, जिसके पास कल्पना और सौंदर्य-बोध और रागात्मकता के नाम पर कुछ भी न होते हुए भी जो इन सब अभावों की महज़ अपने विलक्षण सहज विवेक के बल पर क्षतिपूर्ति कर गया हो, भला ऐसा व्यक्ति कभी कवि हो सकता था? इतना अवश्य कह सकते हैं कि जानसन की अपनी प्रतिभा पूर्णतः नहीं तो बहुत कुछ उसकी परिभाषा के अंदर आ जाती है—विस्तृति के लिहाज़ से (संयोग के लिहाज़ से नहीं)। कल्पना और सौंदर्य-बोध को छोड़ कर

बाक़ी मानव-मन की जितनी भी शक्तियाँ हो सकती हैं, वे सब, निश्चय ही जानसन के अंदर पूर्ण विकसित रूप में विद्यमान थीं, अंतर्दृष्टि की कल्पनामूलक गहराई चाहे उसमें बहुत कम हो, उसके पास प्रत्यक्ष जीवनानुभव का वह ठोस आधार और जीवन-मूल्यों की वह व्यापक दृष्टि थी जो आलोचनात्मक प्रतिभा का केंद्रीय रहस्य है। 'कामन सेंस' जब अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाता है, तब वह लगभग उतना ही सक्षम, उतना ही कारगर सिद्ध होता है जितनी कि 'कल्पना' और जानसन का 'जीनियस', कहना न होगा ——'कामन सेंस' का 'जीनियस' था विस्तृत, प्रखर और संतुलित किंतु अंततः एक सीमित और संकुचित 'जीनियस'।

जो भी हो, अपनी सारी विस्तृति और संतुलन के साथ भी जानसन बहुत बड़ा कवि नहीं हो सकता था। क्या बायरन और मार्लो को संयोग श्रेष्ठ आलोचक भी बना सकता था? शायद नहीं, क्योंकि बहुत अधिक ज्ञान और बुद्धिमत्ता के बीच कल्पना का कुशल ज़रा संदिग्ध होता है।

फिर भी साहित्य के इतिहास में ऐसी प्रतिभाएँ भी कई हुई हैं, जो जानसन की धारणा को बहुत कुछ औचित्य प्रदान करती लगती हैं। वे एकांगी या अतिवादी हरगिज़ नहीं थे। उनकी मानसिक शक्तियाँ न केवल परस्पर संतुलित रहीं, बल्कि उनका क्षेत्र भी बहुत विपुल और विस्तृत था। दांते और कॉलरिज कृतित्व और व्यक्तित्व की दृष्टि से एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं, मगर इनकी प्रतिभाओं में एक विशेषता समान रूप से मौजूद है। हम देखते हैं कि दोनों में 'कल्पना' और 'ज्ञान' की चेतनाओं का चरम प्रस्फुटन और एक-सा संतुलन विद्यमान था। दोनों ही प्रतिभा-पुरुष उच्चस्तरीय सर्जना-शक्ति के साथ-साथ गहन वैचारिक और आलोचकीय क्षमताओं के भी धनी थे। वर्तमान काल में टी० एस० इलियट में पुनः यह मानसिक संतुलन और प्रौढ़ता वाली प्रतिभा देखने को मिली है। हिंदी में इस बहुविध, विस्तारधर्मा 'जीनियस' के उदाहरणस्वरूप प्रसाद और अज्ञेय, और बँगला में रवींद्रनाथ का नाम सहज ही ज़बान पर आ जाता है।

उक्त दृष्टांतों से प्रतीत होता है कि प्रतिभा जितनी बड़ी होगी, उसमें गहराई के साथ विस्तार भी उतना ही होगा। यह आवश्यक नहीं कि सर्जनात्मक प्रतिभा की सारी विस्तृत शक्तियाँ, उसकी समस्त सभावनाएँ सक्रिय हों ही; यह बिलकुल संभव है कि इन विपुल संभावनाओं का एक अंशमात्र ही वास्तविक सर्जना में प्रतिफलित हो। कल्पना और ज्ञान की परस्पर विरोधी और संपूरक सिद्धियों का कॉलरिज जैसा अपूर्व संयोग साहित्य के इतिहास में (और जीवन में) बहुत कम देखा जाता है। फिर भी सर्जनात्मक धरातल पर उस ऐश्वर्य का कितना छोटा हिस्सा हम तक पहुँच पाया! हम पाते हैं कि कॉलरिज की प्रतिभा जानसन की परिभाषा के अनुकूल 'विस्तृत' है। कॉलरिज की मेधा में कल्पना, तर्क, विचार, संवेदन, सौंदर्य-बोध आदि सभी सामर्थ्यों का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ था, और समय के साथ ये सारी शक्तियाँ उसके अंदर अधिकाधिक पुष्ट होती गयीं। किंतु शुरू से ही किसी एक ख़ास लक्ष्य की ओर निश्चित रूप से प्रेरित न हो पाने के कारण, या यों कहिए कि निश्चित ध्येय और संकल्प के अभाव में, वह अप्रतिम प्रतिभा वार्तालाप और वक्तृता में ही व्यतीत हो गयी। वास्तव में अपनी अतिरोमैंटिक संवेदना के बावजूद कॉलरिज बायरन की भाँति 'अतिमूलक' जीनियस नहीं था——बल्कि विस्तृत और व्यापक संभावनाओं का जीनियस था। यह दूसरी बात है कि यह विस्तारधर्मिता ही उसके लेखक को खा गयी।

कॉलरिज से कम तेजस्वी, किंतु लेखन की दृष्टि से अधिक सफल, प्रतिभा स्विनबर्न की थी जो कवि के रूप में अत्यंत सीमित होने पर भी एक आलोचक की हैसियत से अत्यंत नमनीय और सूक्ष्म रुचिप्रतिभा का धनी था। इसका आशय यही हुआ कि स्विनबर्न की प्रतिभा मात्र उसकी विलक्षण ध्वन्यात्मक संवेदनक्षमता तक ही सीमित नहीं थी। वह तो अनेक विस्तृत मानसिक क्षमताओं का समुच्चय थी। यह दूसरी बात है कि किन्हीं स्वभावगत विवशताओं के कारण उसकी सर्जनशीलता इन क्षमताओं के एक छोटे से अंश का ही उपयोग कर पाती थी और बाक़ी क्षमताएँ उसके आलोचनात्मक प्रयत्नों के अंदर ही सक्रिय हो पाती थीं। रुचि का यह विस्तार प्रथम श्रेणी की प्रतिभा में अक्सर दिखायी दे जाता है। यह एक तथ्य है कि अधिकांश लेखकों की रुचि और रीझ-बूझ का सामर्थ्य उनके सर्जन-सामर्थ्य को देखते हुए बहुत संकुचित और सीमित होता है। हिंदी कवियों में, बहुत संभव है, एकाध गीति-प्रतिभा ऐसी मिल जाय जिसकी ध्वन्यात्मक संवेदनशीलता स्विनबर्न की टक्कर की हो या उससे भी सविशेष हो। किंतु जब रुचि-विस्तार और आलोचकीय अंतर्दृष्टि का प्रश्न आता है तब यह कहना मुश्किल है कि यहाँ पर भी तुलना का परिणाम अनुकूल ही निकलेगा। उदाहरण के तौर पर छायावादी कवियों में निराला और पंत में काव्येतर क्षमताएँ थोड़ी-बहुत मिलती भी हैं। पर उनकी कोई स्थायी महत्व की उपलब्धि इस दिशा में हो, ऐसा नहीं लगता। इसका कारण संभवतः यही हो कि इन कवियों की प्रतिभा बहुत मानसिक शक्तियों की संयुक्त, संतुलित और संयोग-प्रेरित प्रवृत्ति विशेष उतनी नहीं, जितनी कि एक विशिष्ट वरदान की उत्तरोत्तर विकासमान परिणति। पंत की प्रतिभा में कलाकार की सुकुमार संवेदनशीलता और सुसंयत सौंदर्य-बोध का तत्व अधिक सक्रिय रहा तो 'निराला' में प्रकृत कवि के रसावेश और भावोन्माद का तत्व अधिक।

उपर्युक्त विवेचन और उदाहरणों से एक निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि जानसन प्रदत्त 'जीनियस' की परिभाषा कम से कम कविता के क्षेत्र में निरपवाद रूप से लागू नहीं होती। फिर भी ऊपर हमने यह भी देखा है कि ऐसी काव्य-प्रतिभाएँ भी प्रथम श्रेणी की हुई ही हैं जो उक्त परिभाषा का विरोध नहीं करतीं। तुलसीदास संत, विद्वान, कवि और मनुष्य चारों जगह पूरे थे; शायद यही कारण है कि उनका काव्य साधारण जन से ले कर मर्मज्ञ आलोचकों तक को संतोष देता रहा है। कॉलरिज और दांते की चर्चा पहले ही की जा चुकी है।

तो एक छोर पर प्रतिभा अतिपरक भी हो सकती है और दूसरे छोर पर सर्वांगसम और संतुलित भी। मार्लो, वायरन, दास्ताएवस्की, मायकोवस्की, आदि पहले छोर के निकट हैं तो होमर, वाल्मीकि, दांते, तुलसी, रवींद्रनाथ आदि दूसरे छोर की ओर अधिक झुकते हैं। दोनों मनः प्रवृत्तियों को एक दूसरे का एकदम विरोधी भी नहीं मान सकते। कुछ-कुछ रोमैंटिक-क्लासिकल का-सा द्वैत इनमें देखा जा सकता है—उसी तरह विरुद्धगामी और संप्रेरक दोनों। क्या शेक्सपियर की प्रतिभा में यह द्वैत विलीन नहीं हो जाता? जो आदमी हमें 'किंग लियर' के रौरव और टेंपेस्ट' की निर्विकल्प शांति का एकत्र अनुभव करा सकता है, उसे 'जीनियस' की इस या उस परिभाषा में बाँधना कितना हास्यास्पद लगता है! फिर भी अगर इस प्रतिभा को दोनों में से कोई एक संज्ञा देनी ही हो तो जानसन वाली परिभाषा को ही चुनने के लिए हम बाध्य हो जाते हैं।

एक शक्ति की प्रचंडता नहीं, बल्कि अनेक शक्तियों का सहयोग ही चरित्रों की उस विशाल सृष्टि को झेल सकता था और उनकी अगणित मानसिकताओं को यथार्थतः प्रत्यक्ष कर सकता था।

इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि अतिमूलक प्रतिभा में हमें झकझोरने या अभिभूत करने की शक्ति कितनी ही प्रबल क्यों न हो, जीवन के विराट वैविध्य के सहज और यथार्थ उद्घाटन की क्षमता उसमें या तो होती ही नहीं या बहुत विरल और क्षीण होती है। मार्लो और शेक्सपियर के कृतित्वों की तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। यह तो एक स्वयंसिद्ध तथ्य है कि किसी प्रतिभा में मूल में अनेक और विविध मानसिक शक्तियों का जितना ही बृहत और संतुलित आयोजन होगा, उसके अंदर जीवन के समर्थ आलोचन और उद्घाटन की संभावनाएँ भी उतनी ही बड़ी होंगी। इस कोटि की प्रतिभा अनिवार्य रूप से अनुभव और अभिव्यक्ति दोनों में 'पूर्णता' और 'प्रमाणिकता' को साध्य मान कर चलेगी जो 'विलक्षणता' या 'मार्मिकता' से कहीं ऊँचे स्तर की सिद्धियाँ हैं।

अंत में रोमैंटिक-क्लासिक के संदर्भ में जो एक आम आक्षेप रोमैंटिक प्रतिभा पर लगाया जाता है, कि वह तो अतिमूलक ही हो सकती है, उसका विचार भी यहाँ पर अप्रासंगिक न होगा। कॉलरिज का 'जीनियस' मूलतः रोमैंटिक था; प्रसाद का भी; तथापि ये विपुल और विस्तृत और सर्वांगीण सामर्थ्य के धनी थे। वास्तविकता यह है कि अनेक अतियों का समन्वय स्वयं में अतिरेक नहीं होता। इसलिए टी० एस० इलियट का कहना है कि उच्चकोटि के 'जीनियस' में विचार और कल्पना, सर्जनशीलता और आलोचनात्मक प्रौढ़ता दोनों विशेषताएँ पूरे उत्कर्ष में विद्यमान रहती हैं। इसलिए चार्ल्स लैंब ने अपने 'द सैनिटी ऑफ़ टू जीनियस' शीर्षक निबंध में लिखा था कि **'सृजन के आविष्ट क्षणों में भी सच्ची प्रतिभा ऊँची से ऊँची उड़ानों के बीच भी संयति और स्वाभाविकता के धरातल से कभी विच्छिन्न नहीं हो पाती। स्वप्न देखते हुए भी उसका विवेक अनुक्षण जाग्रत रहता है जो हर प्रकार के असत्य और अतिवाद से उसे मुक्त रखता है।'** जानसन की परिभाषा भी, कहना न होगा कि प्रतिभा के इसी धर्म को संकेतित करती है और साथ ही साथ उसके पालन का आश्वासन भी देती है। लैंब की 'सैनिटी' और जानसन की 'विस्तृति'—दोनों लगभग एक ही अर्थ को ध्वनित करते हैं। इलियट की मान्यता भी—जैसे कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, बहुत दूर तक जानसन का समर्थन करती है। हाँ संयोग वाली बात की पुष्टि अवश्य ही उससे नहीं होती। वह उतनी महत्वपूर्ण भी नहीं। संयोग तो बड़ा अटपटा और भ्रामक शब्द है। किंतु उसकी जगह पर यदि वातावरण या 'परिवेश' को रख दिया जाय तो भी स्थिति अनसुलझी ही रहती है। शायद प्रतिभा के कार्यक्षेत्र या दिशा को निर्धारित करने वाला तत्व वातावरण या संयोग की अपेक्षा स्वयं प्रतिभा के अंदर ही निहित रहता है। संयोग और वातावरण अधिक से अधिक उसकी सक्रियता को या तो और अधिक उत्प्रेरित कर सकते हैं या फिर उसे अनिश्चित काल तक स्थगित कर सकते हैं। पहली स्थिति का साक्ष्य हमें पास्तरनाक की जीवनी में मिलता है और दूसरी स्थिति का चार्ल्स लैंब के उदाहरण में।

—मोतीलाल विज्ञान महाविद्यालय,
भोपाल (म० प्र०)।

जैनेन्द्र कुमार

कुछ कैफ़ियत

मुझे ठीक कुछ पता नहीं। लगता यह है कि मैं भगवान के दर्शन पाना चाहता हूँ। मानता एक उन्हीं को हूँ, पर साक्षात में उन्हीं के दर्शन नहीं हो पाते। देखने को सामने अनंत चीज़ें हो आती हैं। पर समय और संसार की इस अनवरत लीला में से बस भगवान ही नहीं दीख पाता है। भीतर मेरे ज़िद्द है कि एक वही है। लेकिन है के रूप में जितना जो दृश्यमान है वह सब अपना-अपना नामरूप ले कर प्रमुख बन आता है। उसके नानात्व में वह एक खो जाता है कि जिसके नाते ही सब है।

ऐसे परेशानी में दिन बीत रहे हैं। जीना अकारथ हुआ जा रहा है। कारण, उसका एक ही सारार्थ है और वह यह कि स्वयं में न रह जाया जाय, कुल में मिल जाया जाय।

शायद यही है कि जिसके लिए मैं का जीना सार्थक माना जा सकता है। मेरा लिखना अंत में इसी प्रयोजन से जा मिलता होगा। अन्यथा अपने आप में उसका दूसरा प्रयोजन मुझे नहीं मालूम होता है।

यथार्थ के रूप में दूर-पास जो घटित हो रहा है वह मन पर आ कर लगता है। उससे इन्कार नहीं हो सकता। पर स्वीकार कर उतने ही में बंद रहना भी संभव नहीं हो पाता। अर्थात होने के रूप में जीना ही बस नहीं है, उस जीने को जानने की भी ज़रूरत रह जाती है। होने और जीने में शायद यही फ़र्क़ है। होना उतना ही रहता है, जीने में अनिवार्य बढ़ना-फैलना समाया है। जीने में कल्पना शामिल है जो आगे जाती है। स्मृति भी गर्भित है जो पीछे जाती है। इस तरह जीना एक प्रयत्न बनता है। चेतना का वह पुरुषार्थ है। कालगति उस चेतना में समायी रहती है। इस क्षण रहते हुए अतीत और अनागत को भी वर्तमान में ले आने की शक्यता जब चेतना में होती है तब मानो उसको जीना कहा जाता है। चिन्मय जीवन समय के अधीन नहीं होता। अधिक से अधिक समय का संगी वह होता है अथवा तो मुक्त एवम विभु होता है।

काल सबको समाता-खाता चला जा रहा है। फिर भी परंपरा आज जीवित है। उस परंपरा के द्वारा ऐतिहासिक के पार अनैतिहासिक तक जीवित है। इस प्रकार सुदूर अतीत वर्तमान से मिल जाता है। साहित्य द्वारा उसी प्रकार दूरांत भविष्य को भी कल्पना के ज़ोर से खींचकर हम आज के अंक में ले लेते हैं। इस पद्धति से बीतते और बिताते हुए काल को मानो स्थिरी-

भूत करने की क्षमता हममें आ जाती है। हम सोचते हैं और इस सोचने के ज़रिये मानो अपने ही बीतते हुए जीवन से अलग हो कर मात्र साक्षी बन जाते हैं। तब काल हमारे सामने से बहता हुआ चला जाता है, हम पर उसका बस नहीं चलता। जीने वाला प्राणी अपनी आयु की समाप्ति पर समाप्त हो जाता है, पर उस द्वारा सोचा हुआ विचार और देखा गया दर्शन ज्यों का त्यों क़ायम बना रह जाता है। वह मानो समय को चुनौती देता हुआ अमर बनता है।

तो यही चक्कर है, नित्य और अनित्य का चक्कर। हमारे जीवन में अवश्य ही कुछ नित्य है। किंतु जिस वर्म में उस नित्यता के बीज को सुरक्षित बना कर रखा गया है वह अनित्य और क्षरणशील है। उसी को ले कर शायद यह संसार है जो मूर्त और प्रत्यक्ष है। इसमें वह जो नित्य है अमूर्त और परोक्ष बना रहता है। अतः उसे कैसे पाया—देखा जाय, यह साधना और समस्या का विषय बन रहता है।

मैं जब तक हूँ, मेरे लिए इतर भी है। अर्थात मैं द्वैत में ही हो सकता हूँ। दूसरा उपाय नहीं है। होना मात्र खंडित है। कुछ शेष से अलग किया जा सकता है, इसी अर्थ में वह हो सकता है। यह अलगपन अंत में माना हुआ ही तो है। इस तरह सब होना असत् हो जाता है, भवबाधा बन जाता है। मानो काल यही सिद्ध करता है। जिसको देखते हैं कि है, देखते-देखते वही अगले क्षण समाप्त हो कर कुछ और हो जाता है। अर्थात जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश है। फिर वह क्या है जिसमें यह सब उत्पत्ति-विनाश की लीला चलती रहती है, इसलिए जिसका स्वयं आदि है न अंत है? न जिसकी उत्पत्ति है, न विनाश है?

वह केवल और अखंड सत्य पाया कैसे जाय? जाना कैसे जाय?

अतः लगता है कि जानने में केवल अज्ञान आता है और पाने में केवल नाशवान। इसलिए जहाँ तक ज्ञान का संबंध है, अनिश्चितता और व्यर्थता ही उसका सार रह जाता है और दुख, विरह, वियोग, व्यथा ही एक उपलब्धि बन जाती है।

मैं देख रहा हूँ कि मेरा मैं ही सबसे बड़ा कष्ट है। मैं की शर्त पर मुझे जीना होता है। पर वही सबसे बड़ी व्यर्थता है। इस तरह अपने प्रति ही लौट कर आने वाला जीवन भार सरीखा हो जाता है। 'मैं अपने को पाये', करने वालों ने यह कोशिश बेहद की है। हाथ उनके क्या आया है, मालूम नहीं हो सका है। 'मैं' का बिंदु इस अखंड सत्ता के सरोवर में से मानों पृथक छिटकी हुई बूंद के मानिंद हैं। उसमें सत्यता है ही नहीं। इसलिए मैं को पाने की कोशिश अंत में कहीं नहीं जायगी, पछाड़ खा कर अपने पर ही लौट कर सिसकती रह जायगी। यही मैं की सबसे बड़ी अकृतार्थता है कि वह अपने को माने रहता है और अपने से छूट नहीं पाता।

सच पूछिए तो यह विवशता मैं के लिए अनिवार्य नहीं है। बल्कि अनिवार्य उससे उल्टी अवस्था है अर्थात मुक्ति की अवस्था। यहाँ जगत में कोई या कुछ भी नहीं है जो संबद्धता से रहित हो। आकर्षण और परस्पराकर्षण पर समस्त सृष्टि टिकी है। कोई उस भाव और प्रभाव से वंचित नहीं है। अर्थात प्रत्येक के चहुँ ओर मुक्ति का आवाहन खुला फैला है। बंधन में जनमा हो, लेकिन हर कोई मुक्ति में जी सकता है। उसके मैं को सब ओर से निमंत्रण है। निमंत्रण को उसे सुनना और स्वीकारना भर है। उस आवाहन पर विसर्जित और समर्पित होता रहे तो

फिर 'होना' वहाँ उसके लिए बंधन रह जाता है। तब होना प्रश्न नहीं रहता, मानो उत्तर और समाधान बनता चला जाता है। अहम अगर उत्तरोत्तर अखिल के आकर्षण में अपने को छोड़ता चला जाय तो क्या वह स्वयं में अंश से पूर्ण नहीं बनता चला जाता? और इस तरह व्यर्थता मानो सार्थक हो जाती है और व्यथा ही आनंद बन जाता है। कौन है जिसने आकर्षण अनुभव नहीं किया है? किंतु समझदारी हमें और तरह समझाने लगती है। आकर्षण में वह संशय पैदा करती है और इसलिए प्रतिरोध में पुरुषार्थ का भाव पड़ जाता है। मैं मैं हूँ और रहूँगा, मानो यह हठ समझदारी हममें पैदा कर देती है। ज्ञानवान और विद्वान बनने के नाते हम समष्टि से अपने को तोड़ लेते हैं, शायद इसलिए कि अपने को अपने से भलीभाँति जोड़ सकें। इससे जोड़-तोड़ का जीवन शुरू हो जाता है और नाना विधि निषेधों से हम आकीर्ण बन जाते हैं।

व्यक्ति और वस्तु के बीच, उसी तरह व्यक्ति और व्यक्ति के बीच परस्पर की आवश्यकता का तंतु पूरा हुआ है। उसमें से सहयोग और सहजीवन फलित होता है। यह तंतु साधारणतया झीना होता है। हम उसकी सहसा उपेक्षा भी कर जा सकते हैं। लेकिन व्यक्ति परस्पर विषमलिंगी हों तो एक दूसरे की आवश्यकता का सूत्र उतना निर्बल या निर्भर नहीं रह जाता है। नर-नारी के बीच पारस्परिक आकर्षण एवं आवश्यकता का सूत्र अमोघ जैसा लग आता है। इसको 'काम' कहा जाता है। यह काम सृष्टि में सर्वव्याप्त है। पदार्थ-क्षेत्र में उसको हम दूसरा नाम दे रहते हैं, जीवंत अथवा चेतन क्षेत्र में ही उसे हम 'काम' की संज्ञा देते हैं। पदार्थ के क्षेत्र में इस आकर्षण-विकर्षण के तत्व को ज्यों का त्यों हम स्वीकार करते और उसके अनुसंधान-अध्ययन में से नाना विज्ञानों का आविष्कार करते हैं। आज का वैज्ञानिक चमत्कार उसी की देन है। लेकिन चैत्य जगत में 'काम' का नाम दे कर मानो उस महत्तत्त्व के स्वीकार-अंगीकार से हम बचते हैं, उल्टे उसकी रोक-थाम में लग जाते हैं। हमारे धार्मिक, नैतिक, सामाजिक आदि प्रयत्न इस तरह अनिवार्य और अमोघ के टक्कर में आ जाते हैं और जीवन की क्षति और क्षय का कारण बनते हैं।

मेरी प्रतीति है कि जो भागवत शक्ति संसार को धारण कर रही है, इस धारणा में जो उसे निरंतर उत्कर्ष और विकास की ओर बढ़ाती जा रही है, वह यही परस्पराकर्षण और परस्परालंबन की शक्ति है। उसी को प्रेम कहते हैं। काम उसमें अंतर्भूत है। इस भागवत शक्ति के प्रति वर्जन इत्यादि का संबंध अहंकृत ही हो सकता है और बूंद सागर को इन्कार करने लग जाय तो जो फल होगा वही फल उस अहंकारजन्य वर्जनशीलता का होता है।

उपदेश दिया जाता है कि न चाहो। पर चाह बिना जिया कैसे जा सकता है? इस तरह चाह को मारने में हम मरते चले जाते हैं, पूरे होने की तरफ़ तनिक भी नहीं बढ़ पाते। चाह के साथ तो हम जनमे ही हैं और वह चाह साथ इसलिए है कि हमें अपनेपन से बाहर लाये, शेष की ओर बढ़ाये और साथ संयुक्त करे। उस चाह के निरोधन से जीवन के विस्तार और विकास की प्रक्रिया वहीं कुंठित हो जाती है। सहयोग और सहजीवन से जो क्षेत्र पुष्पित-फलित होने के लिए है वह अलग-अलग खड़े या लड़ते हुए अहंकारों के ठूंठों से वीरान और भयानक हो जाता है। ये अहंकार वैयक्तिक से आगे बढ़ कर जब सामुदायिक बन जाते हैं तब तो त्राहि-त्राहि ही मच उठती है।

●

व्यवस्थापक मानस कहेगा कि क्या चाहों को खुला छोड़ दिया जाय? मर्यादाओं को नष्ट कर दिया जाय? संयम की अर्गला को उठा लिया जाय? नीति-नियमन का अंकुश कहीं रहने ही न दिया जाय? ऐसे ही क्या मानव-जीवन परिपूर्णता की ओर उठेगा? वह मानस कहेगा कि नहीं, ऐसे तो मानव पशुता में गिरेगा। ऐसे दिव्यता क्या आयगी, घृण्यता आ रहेगी। आप जिस शक्ति को मुक्त करना चाहते हों, उसमें से तो केवल प्रकृत और आदिम और असंस्कृत ही खुल-खेलने को रह जायगा। संस्कारिता का नाश हो जायगा। इसलिए इच्छा के निरोध को तप मानना होगा और उस तप के तेज से ही जीवन प्रकृष्ट बनेगा। इच्छा मात्र के प्रति संशय से देखना होगा और निरभिलाषी-निष्काम बन कर चलना होगा।

उन समाजहितैषी व्यवस्थापक की बात ग़लत नहीं है। लेकिन जो सारे जगत-जीवन पर भगवान की बात लिखी हुई दिखायी देती है क्या उनकी बात उससे भी अधिक सही है? नीति-नियमों से, मर्यादा-रेखाओं से, विधि-निषेधों से, अंकुश से और दंड से निरुद्ध हम किसका क्या करना चाहते हैं? जिसको रोकना चाहते हैं वह असत बनने में ही कैसे आया? कहीं ऐसा तो नहीं कि असत के नाम पर सत को रोकने की चेष्टा में से ही स्वयं असत की सृष्टि न हो आ रही हो? हमारे रोक-थाम के साग्रह प्रयत्नों के कारण ही अनिष्ट न उपज रहा हो?

भगवान की सृष्टि अगम है। ऐसा नहीं है कि वहाँ विष अनुपस्थित है। लेकिन विष के साथ अमृत भी मिल जाता है। कुल मिला कर हम सिरजनहार पर विश्वास रख सकते हैं। अर्थात इच्छा मात्र से भोग है, तो साथ ही यज्ञ और योग भी है। इसलिए जब इच्छा को मूल से रोका जाता है तो योग और यंत्र की संभावनाएँ भी समाज में से सूखने लग जाती हैं। तब जो है सो समाप्त तो नहीं होता, बस संस्कार बनने की जगह घुट कर वह विकार अवश्य बन सकता है। विकास की प्रक्रिया में मनुष्य के बनते ही असंभव हो गया कि वह लौट कर पशु बन सके। उसमें अंतरंग विवेक पैदा हो गया। उस विवेक के यंत्र से हीन कोई व्यक्ति हो सकता नहीं है। प्रत्येक इच्छा को उस यंत्र में से छन कर आना होता है। किंतु जब हम मनुष्य की प्रकृति का ही अविश्वास करते हैं, तब मानो उसमें अंतर्भूत देवत्व का भी अविश्वास कर जाते हैं। परिणाम होता है कि इच्छा रुक और तप कर वासना बन जाती है और तदंतर्गत यज्ञ-तत्व का वहाँ ह्रास और लोप होने लगता है। तब भावना की प्रफुल्लता नष्ट हो जाती है और वहाँ वासना की वीभत्सता बसने लग जाती है। जो यज्ञ रूप हो सकता था वह निरा भोग रूप पकड़ लेता है और जिसमें से दिव्य फलित हो सकता था वहाँ से ही दैत्य फूटने लग जाता है।

हमारे प्रयासों में नम्रता और स्वीकारता जब नहीं रहती, हठता और नियंत्रकता आ जाती है तब मानो भगवत-चेतना के विरोध में हमारी अहम-चेतना खड़ी हो जाती है। प्रकृत तब अहंकृत और विकृत हो जाता है और जीवन को संस्कृत बनाने की संभावना से हीन हो जाता है।

मैंने यदि लिखा है तो उसमें इसीलिए यथार्थ की ऊपरी यथार्थता के साथ न्याय नहीं हो पाया है। अर्थात कदर्य और कुत्सित के प्रति मैं अपनी ओर से नतमस्तक नहीं हो सका हूँ। मैं नहीं मान पाता कि कोई केवल दुष्ट है या केवल साधु है। सब स्वयं हैं और समाज-व्यवस्था के

नाते अथवा ऊपरी परिवेश के हिसाब से जो हमने खाने बना दिये हैं उसमें कोई भी बंद या खतम हो रहने के लिए नहीं है। हम अपनी समझ पर ही डाट लगाते हैं जब किसी को 'लेबिल' दे कर अपने से दूर हटा देते हैं। प्रत्येक चरित्र अपने में चुनौती है और किसी न किसी रूप में सत्य के अमुक पहलू का उद्‌घाटन भी है। यदि कुछ अनिष्ट उसमें दीखता है तो शायद इसी कारण कि इष्ट को वहाँ कदाचित युक्त अवसर नहीं मिल पाया है। अन्यथा मेरा आग्रह है कि भागवत-सत्य प्रत्येक के चरित में से हठात अपनी पूर्ति और अभिव्यक्ति खोज रहा है। और यदि हममें से हरेक भटकता दीखता है तो इसी कारण कि उसमें मैं का दम है और समष्टि के विधान में उसका योग नहीं सध पाया है। योग की चेष्टा अनिवार्य है और हममें से कोई इससे मुक्त नहीं है। यदि इस चेष्टा के स्रोत की तरफ़ हमारी निगाह हो तो मुझे प्रतीत होता है कि लेखन में आलोचना और निंदा का तत्व कम होगा, संवेदन सघन हो सकेगा और उसका परिणाम स्थायी एवं अंततः श्रेयस्कर होगा।

--७।३६, दरियागंज, दिल्ली।

हमारे चार नवीनतम प्रकाशन

हिंदू देव परिवार का विकास

लेखक : डॉ० संपूर्णानंद

भारतीय साहित्य में यह ग्रंथ अपने ढंग का सर्वथा अनूठा और अद्वितीय है। किसी भी भारतीय अथवा विदेशी भाषा में ऐसा ग्रंथ अब तक नहीं लिखा गया।

मूल्य : ६.५०

नील दर्पण

रचयिता : दीनबन्धु मित्र

अनुवादक : डॉ० महादेव साहा

'नील दर्पण' नाट्य-परंपरा के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस युगांतकारी नाटक का अनुवाद प्रसिद्ध विद्वान डॉ० महादेव साहा ने किया है।

मूल्य : ४.५०

हिंदी काव्य प्रवाह

संकलन : श्रीमती पुष्पा स्वरूप

प्रस्तुत संकलन में सिद्ध सरहपा से गिरिधरदास तक प्रत्येक युग की प्रत्येक धारा के प्रतिनिधि कवियों की उत्कृष्टतम रचनाओं के उदाहरण मिलेंगे।

मूल्य : २०.००

अग्नि परीक्षा

लेखिका : श्रीमती आशापूर्णा देवी

अनुवादक : श्री रामनारायण शुक्ल

इस नवीनतम उपन्यास में मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्राचीन तथा आधुनिक मान्यताओं तथा मूल्यों के संघर्ष का बड़ा सजीव एवं सुंदर चित्रण किया गया है।

मूल्य : ३.५०

प्रकाशक : मित्र प्रकाशन (प्राइवेट) लिमिटेड (पुस्तक विभाग), इलाहाबाद-३।

सुमित्रानंदन पंत

● ●

उद्बोध

स्वर विहंगिनी,
फैला मुक्ताभ पंख
प्राणों में फूंक शंख
उठती तुम ऊर्ध्व वेग
गगन रंगिणी !

मन के कर क्षितिज पार
खोल हृदय-स्वर्ग द्वार,
बरसाती सुख निर्झर
रस तरंगिणी !

भेद बुद्धि-सूक्ष्म व्योम,
पान कर अजस्र सोम,
गाती आनंद मत्त,
अयि असंगिनी !

बेध चंद्र, बेध सूर्य,
घोषित कर सत्य तूर्य,
हरती जड़ दृष्टि भेद
स्वप्न भंगिनी !

तम की केंचुल उतार
चूम दीप्त सहस्रार,
नाभि विवर में जगती
शक्ति उरगिनी !

●

१७, स्टेनली रोड, इलाहाबाद।

स्नेहमयी चौधरी

●

एक मनःस्थिति

बार-बार अपनी ही कविताओं को
पढ़ने की इच्छा करता हुआ मन
किसी दूसरे के बढ़े हुए हाथ की
तलाश में घूमता है,
अजब स्थिति है :
बदराया हुआ आसमान
न बरसता है, न खुलता।
सारा शहर—
बंद खिड़कियों वाला
एक कमरा हो गया है,
आड़ी-तिरछी रेखाएँ
बनाता हुआ धुआँ
जब बादलों की एक और परत बन जाता है—
मैं अपने बूढ़े पिता को पत्र लिखने लगती हूँ
जिसमें भाई, बहनों और सफ़ेद बालों वाली माँ
की कुशल-क्षेम के प्रति उत्सुकता है।
मेरे सामने :
पौधों को स्थानांतरित करने की
प्रक्रिया में माली
हर रंग, हर आकार के फूलों को
पास-पास रख चुका है।
जाने किस अभाव में
ओस-भीगी घास
जिस पर मैं बैठी हूँ
और गीली लगने लगी है।
हालाँकि
झर-झर कर
पीपल की सूखी पत्तियाँ
एकत्र हो चुकी हैं,
मेरे पीछे आ कर।

●

—सी ३।५ माडल टाउन,
दिल्ली-९।

रामधारी सिंह दिनकर

●

मृत्यु का गीत

(लारेंस के आधार पर)

मृत्यु के गीत गाओ, अरे गाओ!
अगर स्वर समर्थ है;
क्योंकि मृत्यु के गायन के बिना
जीवन के गीत का न अर्थ है।

मृत्यु के गीत मरने के गीत नहीं हैं,
गीत हैं वे सबसे लंबे सफ़र के!
उस अनजाने देश के गायन
जहाँ आदमी को जाना पड़ता है मर के।

दुनिया से जाने के समय
आत्मा क्या छोड़ती, क्या लेती है?
जिसे सब मृत्यु कहते हैं,
वह उसे कैसी दिखायी देती है?

परतों पर परतें अंधकार की!
और आत्मा उनके भीतर प्रवेश करती है।
प्याज के छिलकों के समान
अँधेरे पर अँधेरा है,
मरने पर भी सृष्टि का अर्थ आसानी से नहीं खुलता
सत्य को छिपाये हुए
तिमिर का घेरों पर घेरा है।

सभी परतों के पार,
अंधकार के नीचे,
अतल में वह जगह है,
जहाँ विस्मृति विराजती है,
पूरी निःशब्दता के बीच
शांति राजती है!

यहीं पहुँच कर आत्मा
पूर्णतः एकांत होती है।
अशब्द मौन के पास
जाने पर शांत होती है।

अंधकार की परतों का गान करो,
जहाँ एकांत का मूल बिंदु हैं, उसे खोओ।
विस्मृति के गाओ गान,
जहाँ प्राणों को शांति मिलती है।
उस गहराई का करो संधान,
जहाँ अपशब्दता की कली मिलती है।

●

उपकुलपति,
भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर।

अमृता भारती

●

संसरण

संगीत—
एक स्वर-लहरी
मन-प्राण से दूर
अंतर्देह में पुरती चली गयी :
चर्म-शिराओं में
रक्त-मांस में
अस्थियों में
कोई गुजरती आहट थी :
शायद कोई नागिन
किसी अंतर्वनी के प्रांचल में
झुक आये झाड़
फूल-पत्तों से
अपनी रेशम पीठ दुलराती चली गयी :
सारे वन-अंतर में
नीली सरसराहट थी।
स्वर-लहरी जाने कब रुक गयी
वन्या नागिन भी
किसी पेड़ के कोटर में
घुस कर बैठ गयी।
चुप...चुप...चुप...
एक गूँज निःस्वन गहराती जा रही...।

●

—लवली हाउस,
सांताक्रूज (पूरब), बंबई-५५।

कुँवर नारायण

कहानी

संदिग्ध चालें

उसने मानो हमेशा पास ही रखी एक बात को उठा कर मुझे दिखाते हुए कहा, "देखिए जनाब, बात यह है कि..."

'कि' पर वह रुका, और रुका रहा। एक अरसे बाद जब वह लौटा तब तक माहौल बदल चुका था, और मैं वहाँ नहीं था। मुझे ढूँढ़ते हुए जो साहब मेरे घर आये, निश्चय ही वो साहब भी वही साहब न थे जिन्हें ढूँढ़ता हुआ मैं उनके घर गया था। अतः इस बार बातचीत का सिलसिला गरज़ की सही तरफ़ से शुरू हुआ और मुझे यह नहीं लगा कि मैं किसी कमबख़्त से भीख माँग रहा हूँ।

"मैंने आपकी बात पर काफ़ी ग़ौर किया।"

"शुक्रिया।" मैंने उन्हें ग़ौर से देखते हुए, और बिना किसी तरह आभारी होते हुए कहा।

"आप मुझे ग़लत समझे।"

"समझा; मैं, आपको एक बार फिर से समझने की पूरी कोशिश के लिए तैयार हूँ..."

"मैं आपकी हर तरह से मदद करने के लिए तैयार हूँ।"

"मेरी मदद? मुझे किसी मदद की ज़रूरत नहीं।"

"मेरा मतलब उस मदद की मदद से है जो आप किसी की करना चाहते हैं..."

यों तो उस आदमी की सूरत ही पापियों की सी थी, लेकिन उस पर भी वे ऐंठी हुई मूँछें तो असह्य थीं। उनमें अनावश्यक अत्याचार का प्रतीक झलकता था। सारा चेहरा, लगता था, किसी बनावटी नाटक में खलनायक का पार्ट अदा करने के लिए ख़ास तौर पर रचा गया हो। मूँछों का ऐसा वाहियात प्रदर्शन देख कर उस आदमी की मनोवृत्ति पर तरस आता था। खेल की एक बात सोच कर मन ही मन हँसी भी आयी—इन मूँछों को अगर दोनों ओर से पकड़ कर ज़ोर से खींचा जाय तो क्या वे क्रिसमस के पटाखों की तरह बीच से दगेंगी और उनमें से एक छोटा-सा खिलौना निकलेगा? लेकिन मुझे उस नितांत अप्रासंगिक मनोविनोद को दबाना पड़ा क्योंकि उस तरह के आदमी उस तरह की मूँछें मेरी तरह के आदमियों के मनोविनोद के लिए नहीं रखते, डराने के लिए रखते हैं।

एक भारी रक़म का चेक देते हुए उस आदमी ने कहा, "अनाथालय खोलिये।"—और बिना मेरी, या किसी की ज़रा भी परवाह किये, स्वयं उसकी प्रबंधक समिति का अध्यक्ष बन गया।

पुस्तकालय 51056

कुछ लोग होते हैं जो कोई उपकार कर के उसे जीवन भर नहीं भूलते, और कभी न कभी उसका बदला अवश्य लेते हैं!

प्रबंधक समिति में कहीं से एक महिला का प्रवेश हुआ—अनाथों की देखभाल के लिए। अनाथों की ओर से मैंने विरोध प्रकट किया कि महिला अनावश्यक थी। महिला की ओर से अध्यक्ष ने राय दी कि मैं मूर्ख हूँ। जीत अध्यक्ष की हुई; अनाथों की ओर से मैं हार गया।

कुछ बातें बहुत आहिस्ता से कही जाती हैं लेकिन बहुत दूर तक सुनायी देती हैं। बहुत दूर पर एक और आदमी था जिसके मूँछें नहीं थीं, बड़े-बड़े दाँत थे। इतने बड़े-बड़े दाँत कि अगर वह चाहता तो पहले आदमी को मूँछों समेत किसी राक्षस की तरह खा जाता। लेकिन उसके पास दाँतों से भी ज़्यादा भयानक एक चीज़ थी जिसमें फँसा कर वह आदमियों को चाहे हमेशा यातना में रखे, चाहे मार डाल सकता था। एक बहुत ही पेचीदा पिंजड़ेनुमा गोरखधंधा मुझे दिखाया उसने, जिसमें तमाम तोते बंद थे। पूछा, "जानते हो यह क्या है?"

"पिंजड़ा।"

"पिंजड़े में?"

"तोते।"

"तोतों में?"

"जान।"

"किसकी?"

मैं चुप रहा। एक तोते को हाथ में ले कर बोला, "उसी आदमी की। दिखाऊँ कुछ करामात तुमको?" और यह कह कर उस आदमी ने बड़ी ही अभ्यस्त निर्दयता से तोते की एक टाँग मरोड़ना शुरू किया। इतना करना था कि तोते की दर्दनाक आवाज़ के साथ वही मूँछों वाला आदमी चिल्लाता-लँगड़ाता वहाँ उपस्थित हुआ, "दुहाई है सरकार की...हमारे माई बाप... आप हमारे अफ़सर हैं...दया हो मालिक...मेरी जान बचाइये... मर जाऊँगा...रक्षा कीजिए... हाय हाय..."

"देखा!" और हँसते हुए उसने तोते की टाँग छोड़ दी। बस, वह आदमी भी ठीक हो कर भला-चंगा अपने घर लौट गया, "मेरे पास ये हज़ारों तोते हैं। जिसकी टाँग कहो दफ़्तर-बैठे तोड़ दूँ, आँख फोड़ दूँ, मूँछें नोच लूँ, जान ले लूँ..."

मैं मान गया कि यह तोते वाला आदमी उस पैसे वाले मूँछों वाले से भी ज़्यादा ताक़तवर है—यह भी अंदाज़ लगते देर न लगी कि शायद उससे ज़्यादा ख़तरनाक भी।

संयोग या कुयोग की बात, जिस समय तोते वाला एक दिन मूँछों वाले के कमरे में सहसा घुसा तो उसने पाया कि समिति के अध्यक्ष और प्रबंधिका के बीच जिस परंपरा का निर्वाह होना

चाहिए वह नहीं हो रहा था—कुछ और हो रहा था। अतः उसने तुरत मूँछों वाले को अपने चमाचम जूते के 'टो' पर रखा और बड़ी बारीक़ी से उसे गेंद की तरह समिति के कमरे से बाहर उछाल दिया। ख़ाली जगह पर वह न केवल ख़ुद बैठ गया, बल्कि बग़ल में उस महिला को भी बैठा लिया।

एक नये संबंध का सूत्रपात हुआ। मैं अनाथों का-सा मुँह ले कर रह गया।

मूँछों वाले ने एक दिन मुझे बुलाया। बोला, "पैसे वापस करो।"

मैंने उस पर इस सचाई का असर डालना चाहा कि वह भी इन्सान है, और इस नाते उसे इन्सानियत की कुछ सेवा निःस्वार्थ भाव से करना चाहिए। लेकिन वह असंदिग्ध नकारांत पुलिंग में बोला, "मैं कुछ नहीं कर सकता।"

"तो" हार कर मुझे कहना पड़ा, "पैसे जा कर तोते वाले से माँगो।" इस पर वह बहुत बिगड़ा। बार-बार अपनी मूँछों से मुझे डराते हुए बोला, "मैंने पैसे तुम्हें दिये थे, तुम्हीं से लूँगा। तोते वाले से क्या मतलब ? सीधे से वापस नहीं करोगे तो टेढ़े से वापस लूँगा। छोड़ूँगा हरगिज़ नहीं, इतना समझ लो। तुम्हारी ही वजह से मेरी इतनी बेइज़्ज़ती हुई : वरना मुझे इन सब झगड़ों से मतलब क्या था !" और उसने चलते समय फिर मुझे अपनी मूँछों से डराया।

मैंने सब बात तोते वाले से कह दी। वह चुप रहा। मेरे भी चुप रहने पर, वह बोला, "तुम जानो, तुम्हारा काम . . . ." मेरा सिर घूम गया। उसकी बहुत मिन्नत की कि ज़रा उसके तोते की टाँग ऐंठ दे, लेकिन उसने मेरी एक न मानी। बोला कि उसके हाथों में तोतों की टाँगें इसलिए नहीं रखी गयीं हैं कि उन्हें जब चाहे तब ऐंठता रहे। सरकारी तोते हैं, कहीं कोई मर-मरा गया तो अलग सवाल-जवाब की नौबत आ जायगी।

उधर मूँछों वाला एक दिन सड़क पर मिल गया। मेरे खुले गले के कोट को बंद गले का कोट बनाते हुए मनहूस लहज़े में बोला, "पैसे जल्द वापस करो, वरना" एक गहरी साँस भर कर, "यह कालर इतना कस दूँगा कि आँखें निकल कर बटनों की जगह आ जायेंगी।" बेहूदा ! उस दिन तो पिये हुए था, लेकिन एक दिन जब बिना पिये हुए भी उसने यही बात दोहरायी—और वाक़ई कालर इतना कसा कि खाँसी आ गयी, तब मेरी आँखें सचमुच ज़रा फैलीं।

तोते वाला भी अपनी जगह पर दृढ़ था। किसी भी तरह मदद करने को तैयार होना तो दूर, उल्टे एक दिन मुझे ही धमका कर बोला, "अबकी फिर कुछ कहा तो तुम्हारे तोते की टाँग खतरे में पड़ जायगी . . ."

मूँछों वाले से कुछ वक़्त और माँगा। वक़्त मिला—बीत भी गया। फिर वही भयानक तक़ाज़ा। साक्षात यमराज का सामना। उठते-बैठते, सोते-जागते, हमेशा एक मनहूस काली छाया दिल को जकड़े हुए। भूख, प्यास, नींद, सब ग़ायब। ज़िंदगी बेस्वाद। रास्ता चलते डर

कि कहीं किसी मोड़ पर उस डरावनी चीज़ का सामना न हो जाय। उसका ख़्याल आते ही कोट का कालर मानो अपने आप उठ कर गला दबाने लगता, आँखों की जड़ों में पीड़ा होने लगती। उसे कई बार समझाने की कोशिश की कि रुपया दान दिया था, उधार नहीं। पुण्य-कार्य में...

"पुण्य कार्य ! शर्म नहीं आती पुण्य को बदनाम करते ?"

"लेकिन मैं क्या करूँ इसमें..."

"मेरा रुपया मुझे तुरत वापस। मैं बेवकूफ़ बनने के लिए हरगिज़ तैयार नहीं। ऐश के लिए रुपया नहीं दिया था..." वह बुरी तरह भाषा को तोड़-मरोड़ कर बदसूरत कर रहा था।

हर तरफ़ से निराश हो कर आखिर औरत की शरण ली—औरत की शरण क्या ली अपने को हर तरह दयनीय कर लिया। औरत मुझे अपनी शरण में पा कर बहुत खुश हुई। कुछ और निकट आने पर मैंने पाया कि वह औरत से स्त्री हो गयी थी। एक दिन बोली, "ये दोनों जानवर मेरे वश में हैं: इन्हें जब चाहूँ नष्ट कर दूं।" और उसने अपने घर के आँगन में बँधे दोनों जानवरों की ओर इशारा किया। "दिखाऊँ तमाशा ?" और इसके पहले कि मैं उसे अपने 'चाहने' पर थोड़ा नियंत्रण रख सोचने-समझने के लिए प्रोत्साहित कर पाता उसने अपने 'चाहने' को एक पूर्ण-विकसित दुर्घटना का रूप दे दिया; यानी, तोते वाले को मूँछों वाले पर छोड़ दिया, जो मूँछों वाले को मेरे देखते-देखते ही सफ़ाचट कर गया ! मैं अंदर ही अंदर दहल तो गया, लेकिन ऊपर से औरतीय ताक़त की भरपूर दाद दी जो आदमी की कमज़ोरी पर हमेशा से विजयी होती चली आयी है।

"लीजिये—आपकी सारी मुश्किल हल।"

"घर जाऊँ ?"

"ऐसी जल्दी क्या है ? ज़रा बैठिए तो—"

"नहीं, अब आज्ञा दीजिये..."

"बैठिए !"

मैं बैठ गया, दिल समेत। उनकी आज्ञा थी। जब-जब चलने को कहता वे बैठा देतीं। ऐसे ही कुछ दिनों तक होता रहा। और एक दिन, आख़िर उन्होंने मुझे भी ले जा कर अपने आँगन के उस खूंटे में बाँध दिया जिसे मूंछों वाला ख़ाली कर गया था। तोते वाला मुझे रोज़ तरेरता। ताड़ से गिरे तो खजूर में अटकें : मूंछों वाले से जान बची तो तोते वाला। तय था कि किसी दिन यदि औरत की निगाह बदली तो अपनी खैर नहीं। अतः हर तरह से औरत को ख़ुश रखने की कोशिश। जब तोते वाले से बहुत डर लगता तो स्त्री के आँचल में मुंह छिपा लेता; वह अपनी बाहों भर कर मुझे अभय कर देती। एक दिन मेरे ओठों को चूमते हुए बोली, "तुम डरा मत करो। ये सब तो जानवर हैं : तुम इन्सान हो...."

"इसीलिए तो डरता हूँ।"

"मैं अपने प्राण दे कर भी तुम्हारी रक्षा करूँगी। जीवन में एक ही तो इन्सान मिला है प्यार करने को, उसे नष्ट नहीं होने दूँगी।"

"अगर मैं इन्सान हूँ तो मुझे जानवरों की तरह बाँध कर क्यों रखा है?"

"तुम्हें अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहती। न जाने किस जानवर का तुम शिकार हो जाओ।"

"तोते वाले को क्यों बाँध रखा है?"

"ताकि वह तुम्हें नष्ट न कर दे।"

मैं उस स्त्री को ध्यान से देख रहा हूँ, जो धीरे-धीरे एक अत्यंत भली और सुंदर लड़की में बदलती जा रही है, और जिससे प्यार किया जा सकता है। वह कितनी वीरता से चरित्रहीन थी जो इन्सान से ले कर जानवर तक को प्यार दे सकती थी—या प्यार का धोखा दे सकती थी?

उसे मैं एक नाम देता हूँ—जो नाम मेरी समझ में उससे पहले और किसी स्त्री का नहीं था। वह हँसती है, "बहुत प्यारा नाम है यह। हर भाग्यशालिनी स्त्री का यही नाम होना चाहिये।"

उसके खुले केश, अधमुंदी आँखें। पूर्णतः मेरी वह : फिर भी, न जाने क्यों, मन उसके सामने निःसंकोच नहीं हो पाता, केवल कृतज्ञ हो कर रह जाता है। उसका यह रूप आईने का मुहताज नहीं, न समय का, क्योंकि वह दोनों से मुक्त आत्मा का उदार सौंदर्य है जो अँधेरे की घनी विकृत तहों को फाड़ सहसा तारों की तरह जगमगा उठा था। उस क्षण वह असीम प्यार दे सकने वाली कोई दुर्लभ शक्ति थी। उसके शरीर पर दाग़ हैं : मैं उन्हें गुलाबों पर गिरी ओस से धो डालना चाहता हूँ। दाग़ नहीं छूटते। वह मेरे परेशान माथे को चूम लेती है—ये दाग़ इस शरीर का अंग बन चुके हैं : बिना इस शरीर को ही बदले इन दाग़ों से छुटकारा नहीं। तुम उनकी ओर मत देखो, केवल मेरी आँखों में देखो जहाँ केवल तुम हो, केवल उत्सव है : जहाँ दूसरे नहीं हैं।

तोते वाले से आखिर नहीं रहा गया। एक दिन रस्सी तोड़ डाली और मेरी ओर झपटा। स्त्री बीच में आ गयी—उसने मुझे ढकेल कर कमरे से बाहर कर दिया और कमरा अंदर से बंद कर लिया—तोते वाला पागलों की तरह चिल्ला रहा था। एकाएक भयानक ख़ामोशी छा गयी। मैं किसी स्वप्न के बाहर था और एक बंद दरवाज़ा पीट रहा था। लोग जमा होने लगे थे। दरवाज़ा तोड़ा गया। स्त्री फ़र्श पर लहूलुहान पड़ी थी : किसी जानवर ने उसके कोमल शरीर पर जगह-जगह अपने दाँत और पंजे धँसा दिये थे। लोगों ने जानवर को पकड़ कर मार डाला।

—विष्णु कुटी,
महानगर, लखनऊ।

शिवकुमार मिश्र

समसामयिक परिवेश और आस्था की समस्या

अरसा पहले अर्धवार्षिक 'हंस' के जागरूक संपादकों ने आस्था के प्रश्न को ले कर एक परिसंवाद का आयोजन किया था। प्रश्न उठाया गया था कि **"कुंठाओं और कटुताओं की घुटन में, पुरानी मान्यताओं के ध्वंसावशेष के बीच खड़ा हुआ आज का साहित्यकार किसके सहारे, किसके लिए, लिख रहा है ?"** और भी कुछ प्रश्न थे और इन प्रश्नों पर कुछ चुने हुए लोगों के विचार आमंत्रित किये गये थे। पुरानी तथा नयी पीढ़ी के जिन भारतीय साहित्यकारों के मंतव्य इस संदर्भ में सामने आये थे, उनमें संपादक-द्वय श्री अमृतराय तथा श्री बालकृष्ण राव के अतिरिक्त अन्य नाम इस प्रकार हैं—शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, गोपाल हाल्दार, प्रकाशचंद्र गुप्त, नामवर सिंह, महादेवी वर्मा, सुमित्रानंदन पंत, हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा राहुल सांकृत्यायन। यह लेखमाला एकबारगी ही आयोजित नहीं कर दी गयी थी, वस्तुतः उस समय भारतीय लेखकों, विशेषतः हिंदी लेखकों और वह भी नयी पीढ़ी के रचनाकारों, के मध्य तत्कालीन परिवेश तथा साहित्य-सृजन के संदर्भ में आस्था के प्रश्न को ले कर बड़ी ज़ोरदार चर्चाएँ हो रही थीं, सृजन की सारी समस्या लग रहा था कि इस एक बिंदु पर आ कर टिक गयी हो, जैसे बिना इस समस्या के समाधान के आगामी सृजन की भूमिका ही न बाँधी जा सकती हो। अवसर की उपयुक्तता को देख कर लेखमाला के माध्यम से समस्या को प्रथमतः विचारवान लेखकों के समक्ष इस उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया था कि शायद उनके विचारों से समस्या का सही रूप सामने आ सके, उसके प्रसार का पता लग सके, कुछ ऐसे निष्कर्ष निकल सकें जो नयी पीढ़ी की, उसकी साहित्य-सर्जना में, मदद कर सकें—कम से कम उसके मानसिक तनाव को एक हद तक दूर करने में सहायक हों। लेखमाला के अंतर्गत कतिपय लेखकों ने विस्तारपूर्वक इस प्रश्न पर अपने विचार सामने रखे, कुछ ने सूत्र रूप में कतिपय महत्वपूर्ण बातों की चर्चा की। एक दृष्टि से लेखमाला काफ़ी सफल रही। प्रश्न के कई कोण सामने उभरे, अनेक राहों से समस्या पर चोट करने की कोशिश की गयी; फलतः कुछ तात्विक बातें भी सामने आयीं। यहाँ मैं उक्त चर्चा के विस्तार में नहीं जाना चाहता, जाने-अनजाने इस समस्या को झेलने वाले नये-पुराने प्रत्येक जागरूक लेखक ने—वर्तमान परिवेश में भी जो साहित्य-सृजन से विरत नहीं हैं—उसे देखा होगा और उस पर अपनी राय क़ायम की होगी। कम से कम मैं यह मान कर चलता हूँ कि उसे सबने देखा ही होगा। जहाँ तक मेरा

विचार है, लेखमाला के अंतर्गत लिखने वाले प्रायः प्रत्येक लेखक ने प्रश्न को अपेक्षित गंभीरता देते हुए—यह मानते हुए कि आज के दमघोट परिवेश में समस्या किसी न किसी रूप में, कहीं न कहीं, मौजूद अवश्य है—इस तथ्य पर ही बल दिया था कि उसका रूप ऐसा नहीं है जो हमारे कला-सृजन का मूल में ही गला घोट दे। आवश्यकता व्यापक परिपार्श्व में, खुली आँखों से, मस्तिष्क के पूरे फैलाव के साथ, उसे देखने और उससे निबटने की है, और ऐसी स्थिति में समस्याग्रस्त भारतीय लेखक तथा हिंदी-लेखक यह पायेंगे कि दोष परिवेश का उतना नहीं है जितना उसे देखने वाली दृष्टि का है। परिवेश में यदि अनास्था को पनपाने और पुष्ट करने वाले सैकड़ों कारण तथा तत्व हैं तो हज़ारों ऐसे कारण भी हैं जो इन सभी समूची अनास्थामूलक परिस्थितियों को अतिक्रांत करते हुए आस्था की सही और सच्ची भूमिका तक भी हमें पहुँचा सकते हैं। कुल मिला कर, अनास्था को सिर झुका कर झेलने से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न आस्था के उन कणों को बटोरने और आत्मसात करने का है जो हमारे चारों तरफ़ बिखरे पड़े हैं। दोष हमारा है जो हम उनकी तरफ़ न देख कर सहज ही उस ओर देखने लगते हैं जिधर या तो किन्हीं कारणों से हमारी रुचि है या बलात हमारी आँखें उठ जाती हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने लेख का अंत इन शब्दों से किया था : '**दूसरों का दोष दिखाने की अपेक्षा अपने को निर्दोष और सक्रिय बनाना सदा अच्छा होता है।**' बड़े ही स्फूर्तिदायक तथा प्रेरणाप्रद शब्दों में अपने निष्कर्षों को आस्था के साथ सामने रखने वाले डॉ० रामविलास शर्मा के ये वाक्य थे :

> **'कुंठाओं की घुटन ?**
> **कालोऽह्यंयनिरवधिर्विपुला च पृथ्वी। घुटन की गुंजाइश कहाँ ?'**

फिर हिंदी-पाठक अत्यंत उदार हैं। साहित्यकारों की अपेक्षा वे साहित्य का अधिक सम्मान करते हैं।

> **'किसके लिए लिख रहे हो ?**
> **आज के उपेक्षितों और कल के अपेक्षितों के लिए ?**
> **किसके सहारे लिख रहे हो ?**
> **क़र्ज़ की मै पीने वालों के सहारे, हृदय में लांछना-ईंधन से आग जलाने वालों के सहारे ?—**
> **'भरोसे एक राम कै' सुख से पाँव पसार कर सोने वालों के सहारे ?**
> **शोक को श्लोक का रूप देने वालों के सहारे ?'**

इन वाक्यों का तथा इन्हीं के समान प्रखर तथा तेजस्वी अन्य बहुत से लेखकों के वाक्यों का हिंदी की नयी पीढ़ी के यंत्रणाग्रस्त सर्जकों पर क्या प्रभाव पड़ा, यह तो पता नहीं—आस्था आज भी, लगता है कि प्रश्न ही बनी हुई है। विचार उस पर आज भी उतनी ही सरगर्मी से हो रहा है, परिसंवाद आज भी आयोजित हो रहे हैं, सृजन आज भी समस्याग्रस्त है। लघुमानव तथा भीतर से टूटने-उखड़ने की बात आज भले ही उतने ज़ोर से न की जा रही हो, प्रकारांतर से ये सारी बातें हो आज भी रही हैं; कहीं न जायें तो सृजन में प्रतिबिंबित हो कर तो सामने आ ही रही हैं। अन्यथा क्या कारण है कि उक्त लेखमाला में व्यक्त किये गये विचार, प्रगतिशील आंदोलन के समय की चेतना, 'रूपाभ', 'हंस' जैसे पत्रों में किसी समय लिखे गये संपादकीय लेख तथा टिप्पणियाँ,

प्रेमचंद-निराला-प्रसाद आदि का साहित्य-सृजन एक ओर, तथा परिवेश से आक्रांत, स्वतः अपने से भी विच्छिन्न, मध्यवर्गीय और निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति-मानस के अकेलेपन, छटपटाहट, ऊब, उदासी, विक्षोभ तथा अनास्था को ही आकर्षक शैली में प्रस्तुत करने वाली कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास तथा नाटक दूसरी ओर ज्यों के त्यों हैं ? और दूसरी ओर की इन चीज़ों को ही जीवंत तथा श्रेष्ठ कलाकृतियों के रूप में, आधुनिक बोध को उसकी समूची गहराई तथा प्रसार में समेटने वाले कला-सृजन के रूप में विज्ञापित किया जा रहा है। लगता है कि श्रेष्ठ कला-मूल्यों तथा आधुनिक बोध के नाम पर आज वही सिक्का उतना ही चलने योग्य समझा जा रहा है जिसकी रंगत जितनी उतरी हो, कला-कृति के रूप में जो जितना ही मध्यवर्गीय सीमाओं में जकड़ा हो, जिसमें जितना पीड़ा, विवशता, ऊब, दर्द, उदासी तथा अकेलेपन को उभारा गया हो, जिसका सर्जक जितना ही अधिक भीतर से टूटा हो, जितना ही अधिक मानसिक तनाव के बीच से गुज़र रहा हो। ऊब, विवशता, एकाकीपन, 'फ़्रस्ट्रेशन', भाँति-भाँति की ग्रंथियाँ आज की कला तथा साहित्य-समीक्षा में श्रेष्ठ कला तथा सच्चे आधुनिक बोध के पर्याय बनते जा रहे हैं और बड़े-बड़े नामधारी नयी पीढ़ी के जागरूक समीक्षक दत्तचित्त इन्हीं कला-मूल्यों तथा आधुनिक बोध की इन्हीं धारणाओं को लिये आज दिन पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी ही कृतियों तथा कृतिकारों को बढ़िया से बढ़िया प्रमाण-पत्र बाँट रहे हैं। ऐसी स्थिति में सिवा यह समझने के कि या तो आस्था की वे सारी बातें जो 'हंस' की लेखमाला तथा अन्य माध्यमों से पिछले अर्से में सामने आती रही हैं—नयी पीढ़ी के इन रचनाकारों तथा समीक्षकों के लिए सारहीन साबित हुई; वे ग़लत, परिवेश के यथार्थ से कटी हुई, महज़ हवाई थीं या फिर आज के रचयिता तथा उसके समीक्षकों की ही दृष्टि साफ़ नहीं हैं, और कहा ही क्या जा सकता है ? नयी पीढ़ी के उभरते हुए रचनाकार इन नये समीक्षा-मूल्यों तथा आधुनिक बोध की इस नयी कसौटी के प्रति इतने आकृष्ट प्रतीत होते हैं या किसी प्रभावशाली समीक्षक से प्रमाणपत्र-प्राप्ति की लालसा के कारण आकृष्ट होने के लिए विवश हो जाते हैं कि शुरू से ही उनका सृजन उसी साँचे पर ढलने लगता है जो आज की स्थिति में उन्हें पत्र-पत्रिकाओं तथा प्रतिष्ठित लेखकों के बीच स्थान दिला सकता है। उनकी असली चिंतना और हो सकती है, उनके विचार और हो सकते हैं, परंतु लिखना उन्हें वही पड़ता है जिसका आज चलन है, जिसे लिख कर ही वे आधुनिकता का प्रमाणपत्र पा सकते हैं। वे उस ज़िंदगी को वस्तुतः भले ही न जीते हों पर कृति से उसे 'जिये' बिना—अधिकांशतः आरोपित किये बिना—वे उदीयमान, उभरते हुए, नये 'हस्ताक्षर' बन ही नहीं सकते। आधुनिक सृजन की सबसे बड़ी ट्रैजेडी मेरे विचार से यही है कि आज के नये लेखक को विवश हो कर एक ही ज़िंदगी में अनेक प्रकार की ज़िंदगियाँ जीने का ढोंग करना पड़ रहा है—सिर्फ़ इसलिए कि नक़ली ज़िंदगी को सामने लाये बिना उसके सृजन का कोई अर्थ ही न समझा जायगा, वह उपेक्षित ही रह जायगा। तात्कालिक चर्चा के लोभ के दबाव से अपने समूचे सृजन, समूची चिंताधारा को एक अनावश्यक और ग़लत मोड़ दे देना, अपने वर्चस को इस कारण क्षीण तथा यंत्रणाग्रस्त बना कर सामने रखना कि वही खरे सिक्के के रूप में चले, बहुत से नये सृजन की ट्रैजेडी नहीं तो और क्या है ? अनेक नये रचनाकारों ने व्यक्तिगत रूप से इसे मंज़ूर भी किया है—सार्वजनिक रूप में भले ही वे यह न कहें।

प्रश्न उठता है कि क्या सचमुच आज के परिवेश में आस्था की चर्चा हवाई चर्चा है, क्या सचमुच आज के परिवेश में आस्था नाम की कोई चीज़ नहीं है--'हंस' की लेखमाला में भाग लेने वाले लेखकों ने यथार्थ से कट कर कोरी हवाई बातों से नयी पीढ़ी के लेखकों को भटकाना चाहा था ? इस लेखमाला को ले कर कुछ नये लेखकों ने एक प्रश्न भी उठाया था, कि उसमें एक विशिष्ट विचारधारा के लेखकों का दृष्टिकोण ही सामने आया है--उन्होंने समस्या को अपनी दृष्टि से देखा है। यह बात एक हद तक सही है यद्यपि रामविलास, शिवदान सिंह, नामवर सिंह, अमृतराय जैसे लेखकों के अतिरिक्त उसमें बालकृष्ण राव, हजारीप्रसाद द्विवेदी, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी जैसे लेखकों के विचार भी थे, जिन्हें कम से कम किसी विशिष्ट विचारधारा का पक्षधर नहीं माना जा सकता। परंतु यदि हम मान भी लें कि आस्था के प्रश्न पर की गयी उस बहस में केवल एक पक्ष का ही मंतव्य सामने आया, तब भी यह सवाल उठता है कि क्या आस्था का प्रश्न दृष्टिकोणों का प्रश्न है, जिसका संबंध वर्गों तथा पक्षों से है ? एक ही परिवेश में किसी की दृष्टि आस्था देख सकती है, किसी की नहीं ? विवाद का बिंदु वस्तुतः यही है, और यह सही भी है। परिवेश वही है, वास्तविकता वही है, यथार्थ वही है, एक है जिसकी दृष्टि उसी के बीच से आस्था के कणों को बटोर कर सबके समक्ष रख देती है, यद्यपि इस प्रक्रिया में वह दूसरे पक्ष को ओझल नहीं होने देती वरन उसी के सिर पर आस्था को प्रतिष्ठित करती है; दूसरा है जिसकी दृष्टि उसके बीच से अनास्था को चुनती है, मानसिक यंत्रणा तथा तन और मन को तोड़ देने वाले उपकरणों को ही देखती है और उन्हीं को सारी समग्रता में फैला देती है। दूसरा पक्ष या तो उसे दिखायी नहीं पड़ता या दिखायी पड़ता भी है तो वह उसे एक कोने में फेंक देती है--कारण जो भी हो। आस्था की जितनी भी चर्चा आधुनिक संदर्भ में हो रही है, उसे दृष्टिकोण-जन्य भिन्नता के इसी परिपार्श्व में रख कर देखना चाहिए।

अनास्था का वरण करने वाले, आज के परिवेश में आस्था को एक नक़ली तथा खोटा सिक्का समझने वाले कतिपय नये रचनाकार परिवेश की भयावहता से इतने आक्रांत हैं कि उनके अनुसार तृतीय महायुद्ध के संभावित संकट को झेलने वाले वर्तमान में आस्था आये तो कहाँ से, उसकी बात की भी जाय तो कैसे ? मूल्यों तथा मर्यादाओं का, मानव-व्यक्तित्व तथा विवेक का इतना गहरा संकट तथा इतनी कठिन मार उनके मत से पहले किसी भी युग पर न पड़ी थी। उनका कहना है कि इस युग में मानवीय संबंध इतने उलझ गये हैं, व्यक्ति इतना टूट गया है, उसकी आंतरिकता इतनी क्षत-विक्षत हो गयी है कि आशा तथा आस्था के स्वर उसके लिए अजनबी बन गये हैं। यदि वह कलाकार है तो परिवेश की इन असंगतियों तथा विवशताओं के बीच उसकी कला की यही सार्थकता है कि वह ईमानदारी के साथ उसकी भीतरी आवाज़ को स्वर दे। यह क्या कम है कि इतने संकटों से घिर कर भी आज कलाकार जीवित है--अपनी कला को जीवित बनाये है ? आस्था को खोटा सिक्का कहने वालों की ये बातें ऊपर से बड़ी प्रभावशाली और सामान्य पाठक तथा नये रचनाकार को सहज ही अपनी ओर मोड़ लेने वाली दिखायी पड़ती हैं। परंतु प्रश्न किया जा सकता है कि परिवेश के जिस यथार्थ का चित्र इन लोगों के माध्यम से सामने आ रहा है, और जिसकी ओट में आस्था को झूठे सिक्के के रूप में सामने रखा जा रहा है, क्या वही आत्यंतिक सत्य है ?

इसके अतिरिक्त सत्य और कुछ नहीं, और कहीं नहीं है ? तृतीय महायुद्ध का संभावित संकट अपनी जगह स्थित है, पर क्या द्वितीय महायुद्ध से ले कर अब तक युद्ध-विरोधी, शांति-प्रेमी विश्व की तमाम जनता एकजुट नहीं हुई है ? युद्ध-विरोधी अभियानों में गति नहीं आयी है ? शांति-आंदोलनों की आवाज़ प्रखर नहीं हुई है ? मानवता का अधिकांश इस बात के लिए कृतसंकल्प नहीं हो गया है कि युद्ध नहीं होगा, वह युद्ध नहीं होने देगा ? द्वितीय महायुद्ध की लपटों में सीधे ही जलने वाले यूरोप में ही क्या यह सब घटित नहीं हो रहा है ? भारत जैसे देशों पर तो युद्ध की आँच ही लगी थी, पर क्या भारत में इस प्रकार के वातावरण का, शांति की ऊँची उठने वाली आवाज़ का, सर्वथा अभाव है ? युद्ध की आग में जल कर भी क्या समूचा यूरोप फिर से नयी आकृति में नहीं ढल गया ? युद्ध-विरोधी अभियान के समर्थन में एकजुट हो कर आगे आने वाली यूरोप की जनता क्या आस्था को एक झूठे सिक्के के रूप में साबित कर रही है ? यह नया सृजन क्या आस्था के बिना ही संभव हो सका है ? परिवेश के भीतर ही यह जो सब घटित हो रहा है, क्या उसमें आस्था के कण नहीं हैं ? और क्या यह सत्य नहीं है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद ही अफ़्रीका तथा एशिया के सदियों से परतंत्र अनेक देशों ने साम्राज्यवादी बेड़ियों को तोड़ कर, उपनिवेशवाद को गत की वस्तु बना कर एक नये चरण का, एक नये, प्रशस्त, भरे-पूरे जीवन का अध्याय खोला है ? अफ़्रीका के परतंत्र राष्ट्र बारी-बारी से अपने बंधनों को काट कर फेंकते जा रहे हैं––और यह सब उसी परिवेश में घटित हो रहा है जिसके लिए अनास्था के दावेदारों का कहना है कि उसमें आस्था केवल एक झूठा सिक्का है ! क्या इन देशों की जनता द्वारा छेड़ा गया मुक्ति-अभियान, इस अभियान में दी गयी लाखों की बलि, और इस बलि के मूल में छिपा उनका उत्साह––सब कुछ झूठा है ? तृतीय महायुद्ध की आग में तो झुलस कर मरना ही है, अतः क्या ज़रूरत है उस मुक्ति-अभियान की, परतंत्र जन्मे और परतंत्र ही मृत्यु को प्राप्त हों––क्या हर्ज है ? वह कौन-सी चीज़ है जो इस विचारणा को पीछे ठेलती हुई जागृत, दीप्त, मुक्ति-अभियानों के रूप में सामने आयी––इसे वे ही बतायें जिनके लिए आज आस्था बेमानी तथा अमहत्वपूर्ण है। यदि आज आस्था केवल एक झूठा सिक्का है तो क्या एशिया और अफ़्रीका के उन राष्ट्रों के सम्मुख, जो अभी स्वतंत्र हुए ही हैं, कोई नया जीवन नहीं है ? परतंत्रता के वातावरण में जीना और अनास्था के वातावरण में अपने को निःशेष कर देना ही उनकी नियति है ? अमरीका तथा अफ़्रीका में रंगभेद के विरुद्ध जो ज़बर्दस्त अभियान आज चल रहा है वह क्या सचमुच कोई अर्थ नहीं रखता ? इस प्रकार की बात तो वही कर सकते हैं, जिन्होंने परिवेश को पूरी समग्रता में न देख कर उसके यथार्थ को मात्र अपनी दृष्टि की सीमा में ही बाँध कर देखा है। इस प्रकार उनकी दृष्टि ने यदि परिवेश के उस रूप को ही देखा जो अनास्था, शंका तथा अकर्मण्यता को ही जन्म देता है, तो दोष किसका है ? परिवेश का या उसे देखने और ग्रहण करने वाली दृष्टि का ? लूकाच का यह कहना ग़लत नहीं है कि आज के परिवेश में जो निराश ही होना चाहते हैं वे मज़े में निराश हो सकते हैं, उनकी निराशा को बल देने वाले बहुत से तत्व मौजूद हैं—पर उनके अलावा भी बहुत कुछ है जिसे कुछ लोग देख कर भी नहीं देखना चाहते।

बहुत पहले परिवेश की कुछ ऐसी ही भयावहता से आक्रांत हो कर बच्चन और नरेंद्र शर्मा जैसे कवियों ने निराशा और अनास्था से भरी कविताओं की रचना की थी। एक ने 'जग बदलेगा

किंतु न जीवन', 'संघर्ष से टूटा हुआ, दुर्भाग्य से लूटा हुआ, कितना अकेला आज मैं'––जैसे गीत लिखते हुए संसार की जय बोली थी, तो दूसरे ने अपने को 'क्षयग्रस्त' तथा 'मन की दुर्बलताओं का कवि' घोषित किया था। पर अपने आगामी काव्य-सृजन में वे कम से कम इतना समझ गये थे कि अपनी दयनीय स्थिति के दोषी वे स्वयं थे। नरेंद्र शर्मा ने कुछ पहले और बच्चन ने कुछ बाद में यह बात समझ ली थी––तभी 'एकांत संगीत' की अपनी एक रचना में बच्चन ने साहस के साथ कहा था :

'तू एकाकी तो गुनहगार,
तू अपने में ही रहा लीन, बस इसीलिए तू दृष्टिहीन,
अपने से बाहर निकल देख, है विश्व खड़ा बाँहें पसार ?

ऐसी स्थिति में परिवेश की भयावहता के कारण उत्पन्न होने वाली मानसिक विवशता को केवल आज की बताना भी कहाँ तक सच है ? भयावहता पहले कम न थी––माना कि वह आज अधिक जटिल तथा सूक्ष्म हो गयी है, मानवीय संबंध भी जटिलतर हो उठे हैं––परंतु उसी समय के एक कवि ने गुनहगारी को अपने ऊपर ओढ़ कर यह भी स्पष्ट कर दिया था कि दोषी कौन है ? उसी समय, सन १९३६ में, इस समूची भयावहता को रौंदती हुई किसी प्रेमचंद की यह आवाज़ भी गूँजी थी :

'हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर केवल वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो––जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।'

क्या अनास्था के दावेदार साहस के साथ कह सकते हैं कि उनकी यंत्रणाएँ––भले ही वे मानसिक ही क्यों न हों––प्रेमचंद की तकलीफ़ों से भी अधिक हैं ? क्या उन्होंने भी अपने जीवन में ग़रीबी के वही कष्ट देखे हैं जिन्हें बचपन से ही प्रेमचंद ने झेला था ? क्या प्रेमचंद उस मानसिक तनाव की ज़िंदगी नहीं जी रहे थे जिसे जीने का ये दावा करते हैं ? ऐसी कौन सी चीज़ थी जिसने बावजूद इस सबके प्रेमचंद की लेखनी से 'गोदान' को जन्म दिलाया ? वह प्रेमचंद की आस्था थी जो उन विपरीत परिस्थितियों में भी उनके साथ रही, उसे खोजने उन्हें कहीं जाना नहीं पड़ा। आस्था की यह पूँजी उन्हें भारतीय साहित्य की उस गौरवपूर्ण परंपरा से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई थी जिसने 'कालोऽह्ययंनिरवधिर्विपुला च पृथ्वी' कहने वाले किसी भवभूति को कभी जन्म दिया था। उन्होंने साहस के साथ इसे सहेजा और अपने कथानायकों को, पात्रों को बाँटा––उसे आगे की समस्त नयी पीढ़ी के लिए बिखरा दिया कि वह उसे समेटे और उसी शक्ति तथा आस्था से युक्त हो जिससे जुड़ कर ही राष्ट्रीय आंदोलन की भयानक पस्ती के दिनों में भी उनके सूरदास ने ये वाक्य कहे थे :

111056

'हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो। हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे। और एक न एक दिन हमारी जीत होगी, अवश्य होगी।'

प्रेमचंद ही क्यों, निराला का सारा जीवन-संघर्ष भी तो आस्था की इसी भूमि से झेला जा कर आज की प्रेरणा तथा कल के इतिहास की वस्तु बन सका है। आर्थिक विषमताओं के अग्नि-कुंड में होम हो जाने वाली अपनी एकमात्र पुत्री के शोक में विह्वल एक पिता के ये उद्‌गार एक ओर जहाँ इन पंक्तियों को सामने लाते हैं :

'दुख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही'

वहाँ उसे यह कहने की शक्ति भी तो देते हैं कि **'यह नहीं हार मेरी, भास्वर यह रत्नहार लोकोत्तर वर।'** इन पंक्तियों के पीछे निहित आस्था की ज्वलंत लौ को क्या हाथ से ढक कर मद्धिम किया जा सकता है? समसामयिक परिवेश की सारी प्रताड़ना सहते हुए भी क्या आज के नागार्जुन जैसे लेखकों की सक्रियता में कोई कमी हुई है? उनके व्यंग्यास्त्रों की प्रखरता क्या आज भी लक्ष्य को भीतर तक नहीं बेध देती? नागार्जुन तो नागार्जुन, रांगेय राघव और मत्यु से भेंट करते-करते भी न जाने कितने हमदर्दों को प्रकाश में आने का मौक़ा देने वाले मुक्तिबोध का जीवन क्या आस्था की उसी परंपरा की एक मज़बूत कड़ी नहीं है जिसे प्रेमचंद और निराला ने जिया था? मुक्तिबोध भी समझौता कर सकते थे, सरकारी नौकरी पा सकते थे, अपने तथा अपने परिवार के भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था कर चुकने के उपरांत आराम से पीड़ा तथा दर्द—मानसिक तनाव तथा अकेलेपन—के गीत गा सकते थे। पर कोई चीज़ थी जिसने उन्हें यंत्रणाएँ भोगने की शक्ति तो प्रदान की मगर उनकी बान, उनकी सिद्धांत-निष्ठा पर आँच न आने दी। यह आस्था थी जिसे मुक्तिबोध तो जीवन भर पकड़े रहे परंतु उन्हीं के बहुत से हमदर्द जिसे झूठे और नक़ली सिक्के के रूप में प्रचारित और प्रसारित कर रहे हैं।

प्रेमचंद, निराला, रांगेय राघव, मुक्तिबोध का जीवन-इतिहास, नागार्जुन तथा उन जैसे हिंदी के नये-पुराने तमाम लेखकों द्वारा झेले जाने वाले संघर्ष, हिंदी साहित्य की आस्था से भरी-पूरी गौरवशाली परंपरा, ब्रिटिश साम्राज्यवाद को जड़ से खोद कर फेंक देने वाली भारतीय जनता की निष्ठा, संघर्षों में कभी न टूटने का उसका संकल्प, समाजवाद की सही और सच्ची तसवीर के लिए बढ़ते हुए उसके चरण—आस्था को प्रश्न-चिन्ह के रूप में नयी पीढ़ी के समक्ष नहीं प्रस्तुत करते, उसका उत्तर देते हैं। इस परंपरा से तादात्म्य स्थापित कर के ही, श्री बालकृष्ण राव के अनुसार, आज के लेखक उसके उस अंश का प्रतिनिधित्व कर सकेंगे जो इसीलिए उसका एकमात्र सही और सच्चा अंश है कि वह **'स्वीकार करता है कि पुरानी मान्यताएँ टूट चुकी हैं, पर उसका विश्वास है कि नयी मान्यताएँ बन रही हैं, बनेंगी। वह किसी कटु सत्य से इन्कार नहीं करता पर विश्वास करता है कि विकासशील मानव-बुद्धि और उन्नतिशील मानव-सभ्यता**

टूटी-फूटी मान्यताओं के खँडहर में ही नहीं रहेगी, खँडहर साफ़ किये जायँगे और नयी इमारतें बनायी जायँगी।'

हमें आस्था की खोज नहीं करनी है––वह हमारे पास और हमारे बीच ही है––उसे देखने वाली आँखें और उसकी आवाज़ सुनने वाले कान चाहिए।

–– हिंदी विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर।

दुर्घटना

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

● ●

एक अदृश्य इमारत
मेरे ऊपर गिर पड़ी है
जो 'नहीं है' उसके बोझ से
मैं दब गया हूँ।

एक अदृश्य नदी
मुझ पर फैल गयी है
जो 'नहीं होगा' उसकी धार में
मैं बह रहा हूँ।

एक अदृश्य सड़क
मेरे नीचे से निकल गयी है
जो 'नहीं था' उसकी चपेट से
मैं कुचल गया हूँ।

●

द्वारा श्री 'अज्ञेय',
१/२३, सत्य मार्ग, चाणक्यपुरी,
डी० नयी दिल्ली–११।

वाङ्मय परिमर्दनम्

••

केशवचंद्र वर्मा

कब तक, आख़िर कब तक ?

साहित्य में विरोधी दल की स्थापना और उसकी नेतागिरी उस समय तक बड़ी रोचक तथा आकर्षक सिद्ध होती है जब तक विरोधी दल को शासक वर्ग में घुसने के लिए वांछनीय परिस्थितियाँ—जैसे उम्र, पद, पदवी, कम हँसने की आदत तथा स्थानीय रंग, अपनी चरम अवस्था को प्राप्त नहीं हो जातीं ! इसीलिए 'एंग्री यंग मैन' जैसी शब्दावली, जिसे कुछ दिनों तक लोग 'साइनबोर्ड' की तरह लगाये रहते हैं, समय की पहचान होते ही गाली की तरह लगने लगती है। इस 'समय-की-पहचान' से साक्षात्कार होते ही विरोधी दल के नेता को ऐसा भासता है कि उसने जीवन भर 'नये की खोज' के नाम पर 'तृणोन्मूलन' का ही कार्य किया है; वह साहित्य की प्रमुख तथा प्रवहमान धारा से कट कर किनारे से सिवार की तरह चिपका रह कर शंख और घोंघे बटोरता रहा है; वह केवल 'घोंघों' के उस सत्य का पक्षधर हो कर रह गया है जिसे उसके अलावा कोई नहीं जानना चाहता और इसीलिए पचासा पार कर जाने पर भी वह 'युगप्रवर्तक' नहीं बल्कि 'उत्पाती लौंडों' में ही गिना जा रहा है। यही वह काल है जब 'आत्मा का दर्द' अपनी पूरी तेज़ी से ज़ोर मारता है।

हिंदी के चुटियाधारी वातावरण में यह प्रक्रिया अनंत काल से गुपचुप किंतु सर्वस्वीकृत रूप से चली आ रही है। विरोधी दल को मारने और नीचे ढकेलने के लिए वह 'स्वराज्य' के ज़माने से एक बड़े पैने अस्त्र का इस्तेमाल करता रहा है जो अब तक भोथरा नहीं पड़ा है। यह अस्त्र एक लेबिल के रूप में विख्यात है जिस पर मोटे शब्दों में लिखा हुआ है—

'यह और इसके साथी घृणित पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति से प्रभावित हैं !'

यह बड़ा चिपकउवा लेबिल रहा है। अकेले जितना गोंद इसमें रहा है वह आज भारतीय डाक-टिकटों में भी नहीं दीखता। इसके चिपकाते ही कुछ विशेष नतीजे हाथ आते हैं जैसे :

जिस पर चिपकाया गया

(अ) वह पुनीत भारतीय संस्कृति का विरोधी है।
(ब) वह अंग्रेज़ों का पिट्ठू है।
(द) वह नक़लची है।

(स) वह भरोसा करने योग्य नहीं है। (उसे बहू-बेटियों से भी दूर रखिए।)
(क) वह धर्म-निंदक है। 'सुंदर सुंदर बेद-पुरान' नहीं मानता! आदि।

जिसने चिपकाया

(अ) वही धर्म-ध्वज धारी है (कि उसने इनको पकड़ा।)
(ब) उसके तन-मन पर खादी की छाप है।
(द) उसी के लिखे-पढ़े से देश का कल्याण होगा। (माताएँ-बहनें निकट आयें।)
(स) इसलिए उसका साहित्य 'कोर्स' के उपयुक्त है।

यह हथियार इस्तेमाल से और भी पैना होता गया और ज्यों ही साहित्य के शासक वर्ग ने नये भेड़ियाधसान को उठते हुए देखा कि उसने अकेले इसी एक लेबिल से उनको चारों-ख़ाने-चित्त की स्थिति में छोड़ दिया। बच्चों के एक खेल 'कोड़ामार' में बने हुए चोर को तब तक पिटना पड़ता है जब तक वह उसी 'टेकनीक' से दूसरा चोर निकाल कर उसे पीटने का अधिकार न पा जाय। सो यह भारतीय खेल--कोड़ामार, भारतीय संस्कृति-गर्भित इस चुटियाधारी वातावरण में अनंत काल से व्यवस्थित रूप से चलता चला आ रहा है। ब्रजभाषा को हटा कर 'ऊजड़ ग्राम' जैसी रचनाएँ करने वाले खड़ी बोली के कर्णधारों ने इस लेबिल को सबसे पहले उपहारस्वरूप पाया। पर ज़माना अंग्रेज़ों का था। कोट-पतलून पहन कर भी हिंदी की पुस्तकों में अपनी फ़ोटो छपाने का वे दुराग्रह करते रहे और छपवा कर माने। कुछ ही समय उनको यह बार झेलना पड़ा क्योंकि तब तक 'एंग्री यंग मैन' का 'साइन बोर्ड' लेने के लिए छायावादी मैदान में उतर चुके थे। इसलिए मौक़ा पाते ही उन्होंने यह लेबिल छायावादियों पर चिपकवा दिया। छायावादी अपनी गदका-फरी भाँजते रहे—किसी ने तुलसी को सँपेरा देखा, तो किसी ने रवींद्रनाथ की जैजैकार की। जब तक उन्हें अपनी गद्दीनशीनी के कुछ भी आसार नहीं दिखलायी पड़े तब तक वे 'एंग्री यंग मैन' की तरह लंबी-लंबी भूमिकाएँ लिखते रहे और हवा तक से गाली-गलौज करते रहे। मगर जैसे ही उनको अपने मठों का भविष्य दिखायी देने लगा तैसे ही उन्होंने अपने को उसी संस्कृति-गर्भित चुटियाधारी वातावरण में तिरोहित कर दिया और इस लेबिल को प्रगतिवादियों पर चिपका कर चैन की साँस ली। प्रगतिवादी इस लेबिल को झेलने में इस कारण असमर्थ रहे क्योंकि भारतीय राजनीति उन्हें गद्दीनशीनी नहीं दे सकती थी। अतः बेबसी में उन्होंने कविता लिखना ही बंद कर दिया और यह लेबिल तब नयी कविता वालों पर चिपकवा दिया गया। अब इन छायावादी महंतों ने चौगिर्दा शंकराचार्यों की तरह संस्कृति के पुनरुत्थान का ठेका ले लिया और काव्य के सत्य को हिरण्यपात्रों से ढँक कर 'घृणित पाश्चात्य साहित्य' से बचाना शुरू कर दिया। चुटिया-धारी सत्य की रक्षा के लिए वह संसद की मेंबरी, राजनीतिक भोज, विभिन्न कमेटियों, सलाह-कार समितियों तथा शिष्टमंडलों में अपनी सेवाएँ अर्पित करने को बाध्य हो गया। ज़माने की गर्दिश के साथ अब नयी कविता वाले इस लेबिल को विधवा के गर्भ की तरह ढोने लगे। उसके नेता विरोधी दल का नाटक सम्हालते हुए कभी गरम-गरम भाषण देते रहे, कभी 'वाक आउट' करते रहे, कभी राज्याश्रय के बहिष्कार का नारा लगाते रहे पर लेबिल जो चिपका था, वह चिपका

ही रहा। साहित्य के महंत सिर्फ़ मुस्कराते रहे—कमेटियों में भत्ता बनाते रहे, अच्छी-अच्छी सलाहें देते रहे और महीने की पहली तारीख का सुख उठाते रहे।

'आत्मा का दर्द' जब बहुत तेज़ उठने लगता है तो फिर इस तरह की मुस्कराहट नहीं सही जाती। कैलेंडर से साहित्य आँकने वालों का कहना है कि नयी कविता के नेताओं ने भी अब समय की पहचान कर ली है, अतः वे साहित्य के शासक वर्ग से 'उत्पाती लौंडों' के प्रति किया जाने वाला व्यवहार बर्दाश्त नहीं कर पा रहे हैं। केवल एक पंक्ति उनके इस दर्द को मुखरित करती है—'कब तक ? आखिर कब तक ?' इसीलिए अब वे हर नयी बनी कमेटी पर 'हाय' करते हैं और अपनी उस बुद्धि पर तरस खाते हैं जब उन्होंने विरोध करने का ठेका लिया था। शायद इसीलिए पुरानी-नयी कविता के एक नेता ने घोषित कर दिया है कि वही एक अकेला है जो परंपरा से लगा हुआ है, बाक़ी सब भारतीयता से कटे हुए लोग हैं। वे सब उसकी अनुकृति भी करते हैं और उसकी पीठ पर पैर धर कर चलते आ रहे हैं और, साथ ही, उसे मुँह भर-भर कर गाली दे रहे हैं। लेबिल छुड़ाने की इस कोशिश को नये (या कहूँ एंग्री यंग मैन) उतने अचरज से नहीं देख रहे हैं जितने पुराने महंत—क्योंकि वे इतनी जल्दी एक और नया महंत लेने को तैयार नहीं है। (एक तो बहुत जल्दी यक़ीन भी नहीं करना चाहिए फिर दूसरे, जगह भी खाली नहीं है !) पर हर आकांक्षी महंत समय रहते अपनी ठंढी हाय को किसी भत्तेदार कमेटी की ऐसी मेंबरी में बदल डालना चाहता है जो न केवल उसके लिखे-पढ़े को 'अकादमियत' दे बल्कि अभिनंदनों की उस शृंखला में डाल दे जो 'सहज-साहित्यिक' बनाती है।

●

कारख़ाना : अनुवाद का

जाने क्यों, मैं अपनी बेकारी की समस्या को सदा 'माता भारती की गोद भरने' के चक्कर से ही हमेशा हल करना चाहता रहा हूँ। इस बुद्धिमानी के फलस्वरूप मुझे अक्सर अपनी सामर्थ्य को स्वयं चुनौतियाँ देनी पड़ी हैं और फिर उस स्तर की निराशा भी हत्थे नहीं लगी जो मुझे काव्य रचने के लिए ही उत्साहित करती। कहानियों का चमका हुआ बाज़ार देख कर उस पर कई हाथ आजमाये लेकिन पुरानी कहानी, नयी कहानी और अब सचेतन कहानी के आपसी धंधफंद में ऐसा उलझ गया कि जिसको 'क्लिक' करना कहते हैं—बस वही नहीं हो पाया। इधर मेरा मन कुछ 'बिज़नेस' के फेर में भी पड़ा हुआ था। कहा भी गया है कि 'ब्यौपारे बसति लक्ष्मी !' साहित्य और व्यापार की इस दुविधा में पड़े-पड़े जब सहसा मेरे मन में एक गतिरोध जैसी चीज़ पैदा होने लगी तब अपने एक साहित्य-प्रेमी व्यापारी मित्र से इसकी चर्चा मुझे उचित जान पड़ी।

मित्र के बारे में यह मैं बहुत दिनों से जानता था कि साहित्य-प्रेम उनका धंधा है। करते क्या हैं, यह जानने की न तो ज़रूरत ही पड़ी और न इच्छा ही हुई। मैंने उनसे चर्चा चलायी तो बड़े सहज श्रोता की तरह सुनते रहे। उनकी दृष्टि और धैर्य से लगा कि उन्हें मेरी बुद्धि और सामर्थ्य पर विश्वास है। मुझसे धीरे से बोले, "भई, तुम एक अनुवाद का कारख़ाना क्यों नहीं खोल लेते हो ?"

मैं उनकी बात समझा नहीं। सिर्फ़ उनका मुँह ताकता रहा। उन्होंने मेरे ज्ञान के बंद कपाट खोलने शुरू कर दिये, "मेरा मुँह टुकुर-टुकुर मत देखिए। इस तरह का धंधा करने से आपकी दोनों समस्याएँ सुलझ जायँगी। पहली तो यह कि आप माता भारती की गोद भरते चले जायँगे और दूसरी यह कि धीरे-धीरे आपका 'बिज़नेस' वाला 'डिपाट' भी ठीक से चलता रहेगा।"

उनके शब्द मैं समझ गया लेकिन अर्थ फिर भी नहीं समझा, "साहब ! आपके कह देने भर से तो हो नहीं जायगा। अनुवाद के लिए कुछ योग्यता भी तो चाहिए। फिर अकेले एक मैं कब तक इस धंधे को चलाऊँगा ? और फिर. . . ."

उन्होंने जिस दृष्टि से मुझे देखा उससे मैं कुछ सकपका उठा। एकदम बोला, "और सुनिए. . . .आप इसको कारख़ाना क्यों कहते हैं ? . . .कारख़ाना तो. . . ."

"बहस की कोई ज़रूरत नहीं है। मैं कल तुम्हें एक ऐसे कारखाने में ले चलूँगा। आँख से देख लेना। मन पड़े तो तुम भी यह काम करना नहीं तो. . . . .।"

दूसरे दिन वे अपने वादे के हिसाब से ठीक समय पर आये। सड़क से सीधे लगी हुई सीढ़ियों पर चढ़ा कर उन्होंने मुझे एक बड़े हॉलनुमा कमरे में पहुँचा दिया। उसी एक बड़े कमरे को लकड़ी की दीवारों से कई भागों में बाँट दिया गया था। मेरे मित्र एक चतुर 'गाइड' की तरह मुझे उस कमरे में घुमाने के लिए ले चले और मैं अजायबघर देखने वाले बच्चे की सहज जिज्ञासा लिए उनके पीछे-पीछे बढ़ने लगा।

काठ की दिवारों से घिरा जो पहला हाता था उसमें एक लंबी मेज़ के चारों तरफ़ दस आदमी बैठे थे। किनारे बैठा एक आदमी कुछ मोटी किताबों के पन्ने फाड़-फाड़ कर हर आदमी को बाँट रहा था। दूसरे आदमी उन पन्नों को पत्थर के टुकड़ों से दबा-दबा कर रख रहे थे और दम साध कर काग़ज़ पर लिख रहे थे। सभी व्यक्तियों की लिखने की रफ़्तार एक-सी थी। लिखे हुए काग़ज़ को हर दो मिनट में एक चपरासी आ कर बटोरता और आल्पीन से नत्थी कर के दूसरे दरवाज़े से निकल जाता था।

दूसरे कटघरे की मेज़ पर सिर्फ़ पाँच आदमी थे। इस कटघरे के बाहर ही बोर्ड लगा था, 'संशोधन-मंडल'। चपरासी कागज़ ला कर रखता था और उधर वे तड़ातड़ संशोधन के निशान मार कर उन्हें बाहर जाने वाले डिब्बे में डालते जा रहे थे। काग़ज़ के पन्ने धीरे-धीरे गड्डी का रूप धारण कर रहे थे। तभी मेरे मित्र मुझे अगले कटघरे में ले गये। इसमें सिर्फ़ तीन ही व्यक्ति थे। मित्र ने बताया कि यह 'टिप्पणी-समिति' है। 'संशोधन-मंडल' के कटघरे से निकली हुई गड्डी पर यह समिति फल और सितारों के चिन्ह् बना कर पहले ही से टाइप की हुई रखी टिप्पणियों

की स्लिपों, चिटों और पुर्जियों को होशियार दफ़्तरियों की तरह चिपकाती जा रही थी। अगले ख़ाने में नमूने या 'सैंपुल' तैयार करने का काम चालू था। इधर-उधर के कटघरों से आये हुए पन्नों को साफ़ और अच्छे काग़ज़ों पर टाइप कर के उसे एक 'नमूने' के पैकेट में तैयार कर देना—यह इस ख़ाने में बैठे हुए लोगों का काम था। मैं खड़ा देख रहा था और उधर वे 'नमूने के पैकेट' तैयार कर के 'डिस्पैच' के लिए फेंक रहे थे।

मेरा कुतूहल बढ़ता जा रहा था। चतुर गाइड की तरह मेरी जिज्ञासा बढ़ाते हुए मेरे मित्र मुझे सब समझा रहे थे। अगले कटघरे में 'नमूने के पैकेट' आ-आ कर एकत्र हो रहे थे। छोटी-छोटी मेज़ों और बहु ख़ानेदार आल्मारियों से लग कर पाँच आदमी हर पैकेट के साथ 'मंज़ूरी के लिए सिफ़ारिशी चिट्ठियाँ' लगाने का काम कर रहे थे। कौन सा पैकेट कहाँ जा रहा है और उस पर कैसी या किसकी सिफ़ारिशी चिट्ठी की आवश्यकता है, इसका निर्णय करना विशेष काम था। अतः यह कटघरा 'विशेषज्ञ-मंडल' के नाम से घोषित था। पैकेट देखते ही फ़ौरन आल्मारी से संदर्भ-कार्ड निकालना, चिट्ठी का मसविदा फ़ाइल से निकालना, दस्तख़त मिलाना, फ़िट करना, हस्ताक्षर मारना, और नये पैकेट को उसी घाट लगाने के लिए तत्काल उठाना—यह सब काम यंत्र-चालित ढंग से संपन्न हो रहा था।

अगला अजूबा 'शोध-कमीशन' था। इस वातावरण में दफ़्तर की महक थी। कटघरे का अद्धा दरवाज़ा, गॉदरेज की मेज़ें, शीशे के कटे हुए बड़े-बड़े टुकड़ों वाली दराज़ें, उनके बीच से झाँकती हुई मोटी-मोटी किताबें, लेजर बुक की तरह की चीज़ें और फ़ाइलें और उन सब पर अपना आधिपत्य घोषित करते हुए टेरेलीन की बुशशर्ट और मोटे फ़्रेम के चश्मेवाले दो जीवधारी! मित्र ने धीमे-धीमे, बिना उनके काम में बाधा पहुँचाये मझे बताया, "यह इस कारख़ाने की बड़ी महत्वपूर्ण इकाई है। इसका काम ही है अनवाद का काम निकालना। उधर जो तुम फ़ाइलें देख रहे हो उनमें सरकारी और ग़ैरसरकारी अनुवाद-समितियों के नाम और काम की जानकारी है। उधर जो दूसरी तरफ़ हैं, उनमें विभिन्न दूतावासों से आये हुए कामों, पुस्तकों तथा परिचय के संदर्भ दिये हुए हैं। किस जगह से अच्छे से अच्छा काम ऊँचे से ऊँचे रेट पर मिल सकता है—यह बात इस कारख़ाने के लिए यही कमीशन तै करता है। जो काम चिट्ठी-पत्री से नहीं हो पाता, उसे दौरा कर के पूरा किया जाता है। यदि कोई समिति या दूतावास किसी व्यक्ति विशेष का नाम अनुवादक के रूप में देना चाहता है, तो उसके लिए क्या 'रेट' लिया जायगा, यह भी यही कमीशन तै करता है। एक बार यह सब तै हो गया तो फिर वह सब अपने आप होता चला जाता है जो अभी तुम देख चुके हो।"

इसके बाद सिर्फ़ एक ही कटघरा शेष था। मेरे मित्र ने मुझे उसके भीतर नहीं जाने दिया। लेकिन मैंने उसमें भी झाँक लिया। इसमें सिर्फ़ एक ही व्यक्ति था। कमरे के बाहर लाल बत्ती जल रही थी। मित्र ने बताया कि यह 'गुप्त समिति' है। मेरी सहज जिज्ञासा पर उन्होंने मुस्करा कर कहा, "यह तो बहुत बड़ा काम करती है। इसका मुख्य काम है—अस्वीकृत अनुवादों को फिर से पास कराना।"

"कैसे?" मैंने पूछा।

"कारख़ाने के नियमों के अनुसार मैं इसे नहीं बता सकता। इस 'बिज़नेस' में आओगे तो खुद यह सब पता चल जायगा। यह सारी बातें इस तरह बतायी नहीं जा सकतीं।...आप चाहें तो इस कारख़ाने के मालिक से बात कर लीजिएगा। उसकी कोठी आप सामने देख रहे हैं।" वह मुस्करा रहे थे।

उनका मुस्कराना वाजिब था। कोठी उन्हीं की थी। उनके गोरखधंधे को देख कर मैं बहुत चकित था। अपने निठल्लेपन और उस कोठी के बीच एक तालमेल बिठाने की योजना बना रहा हूँ--समस्या सिर्फ़ लघु कुटीर उद्योग और भारी उद्योग के बीच के चुनाव की है।

--६५, टैगोर टाउन, इलाहाबाद।

बहु प्रतीक्षित 'आधार' के सचेतन कहानी अंक में

आनंद प्रकाश जैन, कमल जोशी, कुलभूषण, जगदीश चतुर्वेदी, धर्मेंद्र गुप्त, बलराज पंडित, मधुकर सिंह, मनहर चौहान, ममता अग्रवाल, महीपसिंह, योगेश गुप्त, रामकुमार भ्रमर, वेद राही, श्याम परमार, शक्तिपाल केवल, शकुंतला शक्ल, सुखबीर, सुदर्शन चोपड़ा, सुरेंद्र कुमार मलहोत्रा, हृदयेश और हिमांशु जोशी

की कहानियाँ

उपेंद्रनाथ अश्क, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डॉ० प्रभाकर माचवे, राजीव सक्सेना, वीरेंद्र गुप्त और डॉ० महीपसिंह

के आलोचनात्मक लेख

डा० श्याम परमार द्वारा लिया हुआ जैनेंद्र कुमार

का इंटरव्यू

श्री जगदीश चतुर्वेदी द्वारा संयोजित

सचेतन कहानी--एक परिचर्चा

डॉ० महीपसिंह द्वारा इस विशिष्ट अंक

का संपादन

नवंबर '६४ में प्रकाश्य, पृष्ठ २५०, मूल्य रु० २.५०

प्राप्ति स्थान

हिंदी भवन, ३७० रानीमंडी, इलाहाबाद-३

बदरीनाथ कपूर

शब्दों की पुनरुक्तियाँ और अर्थ-भेद

कुछ अवसरों पर भाषा विशेष की स्वतंत्र प्रकृति के दर्शन होते हैं। भाषा की प्रकृति से अभिप्राय वस्तुतः उन रचनागत तत्वों के समाहार से होता है जो किसी भाषा के वाक्यों, उपवाक्यों, वाक्यांशों, शब्दों आदि की गठन से संबद्ध होते हैं। शब्दों के पुनरुक्त प्रयोग भी हिंदी भाषा की स्वतंत्र प्रकृति की ही एक विशिष्ट रचनागत विशेषता है।

हमारे यहाँ सर्वनामों, संज्ञाओं, विशेषणों, क्रिया-विशेषणों, क्रियाओं और अव्ययों अर्थात व्याकरणगत सभी शब्द-भेदों में पुनरुक्त शब्दों का व्यवहार होता है; जैसे—

सर्वनामों की पुनरुक्तियाँ :

कोई कोई यह बात जानता है।
उसने **क्या क्या** नहीं कहा।

संज्ञाओं की पुनरुक्तियाँ :

घर घर के ऐसे ही क़िस्से हैं।
बात बात में वह नाराज़ हो गया।

विशेषणों की पुनरुक्तियाँ :

वह संतरे **चार चार** आने बेच रहा था।
छोटे छोटे दाँतों की हँसी कितनी प्यारी थी।

क्रिया-विशेषणों की पुनरुक्तियाँ :

गाड़ी **धीरे धीरे** चल रही थी।
पानी **ज़ोर ज़ोर** से बरस रहा था।

क्रियाओं की पुनरुक्तियाँ :

घबराइए नहीं, **कहिए कहिए**।
आइए आइए, ज़रा बैठिए तो।

अव्ययों की पुनरुक्तियाँ :

कहीं कहीं चर्चा होती रही।
....मुझे तुम से प्यार **नहीं नहीं**।

साहित्य में, विशेषतः पद्य साहित्य में, तो पुनरुक्त शब्दों द्वारा विशेष चमत्कार और सौंदर्य की सृष्टि होने लगती है। निम्न दो शेरों को ज़रा देखिए तो—

थमते थमते थमेंगे आँसू
रोना है कुछ हँसी नहीं है

उन आँखों का आलम **गुलाबी गुलाबी**
मेरे दिल का आलम **शराबी शराबी**

हिंदी कविता में पुनरुक्त शब्दों का व्यवहार होता है परंतु यदा-कदा ही। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं—

करत करत अभ्यास ते जड़मति होत सुजान

गरज गरज कर बादल आये
ठंडा ठंडा पानी लाये

हरि हरि पुकारती **हरी हरी** लतान में

हम **हँसते हँसते** जायेंगे
हम **नाच नाच** कर गायेंगे

हिंदी में प्रयुक्त होने वाले पुनरुक्त शब्दों की सूचियाँ बनाने का प्रयास अभी नहीं हो सका है, फिर भी यह मानने में ज़रा भी संकोच नहीं है कि ऐसे शब्दों की संख्या असंख्य है।

रचना-भेद के अनुसार पुनरुक्त शब्द चार प्रकार के होते हैं। पहला भेद सामान्य है, जिसमें एक शब्द की ठीक उसी रूप में पुनरावृत्ति होती है; जैसे—**ख़ुशी ख़ुशी, गुलाबी गलाबी, शराबी शराबी, घर घर** आदि। लिंग, वचन के अनुसार और कभी-कभी आशय की भिन्नता के कारण इनमें रूपगत अंतर भी आ जाता है; जैसे—**अच्छा अच्छा, अच्छी अच्छी, अच्छे अच्छे** आदि। दूसरे भेद में हम ऐसे पुनरुक्त शब्दों को रख सकते हैं जिनके साथ परसर्ग आदि का प्रयोग होता है, जैसे—**बात बात में, खेल खेल में, सोच सोच कर** आदि। तीसरे भेद में वे पुनरुक्त शब्द आयँगे जिनमें से एक में कुछ विकार होता है; जैसे—**रातों रात, दिनों दिन, कानों कान, हाथों हाथ, देखा देखी** आदि। और चौथे भेद में वे पुनरुक्त शब्द रखे जायेंगे जो नित्य संबंधी होते हैं;

जैसे—**क्या . . . क्या** (क्या दिन क्या रात), **या . . . या** (या करो या मरो), **चाहे . . . चाहे** (चाहे यहाँ रहो चाहे वहाँ रहो) आदि।

अर्थ-भेद के विचार से हम पुनरुक्त शब्दों के कई विभाग कर सकते हैं। कहीं अर्थ-विस्तार दिखायी पड़ता है तो कहीं अर्थ-संकोच। कहीं एक विशेषता दिखायी पड़ती है तो कहीं दूसरी। पुनरुक्त शब्दों की प्रयोगगत अर्थ-छटाओं के जो दर्शन होते हैं वे इस प्रकार हैं—

१. पुनर्कथन के लिए—बार बार, पुनः पुनः।

'**करत करत** अभ्यास ते जड़मति होत सुजान' में '**करत करत**' से अभिप्राय 'बार बार करने' से ही है। दोहे के उक्त चरण का अर्थ होगा—बार बार अभ्यास करने से जड़मति भी सुजान हो जाता है। '**रटते रटते**' याद हो जायगा' में भी '**रटते रटते**' से अभिप्राय 'बार बार रटने' से है। 'वह **कह कह** कर हार गया पर वह माना नहीं' का आशय है कि उसने तो बार बार उससे कहा परंतु वह माना नहीं। '**हरि हरि** पुकारती. . . .' का अर्थ है—बार बार हरि कह कर पुकारती।

२. निरंतरता सूचित करने के लिए—निरंतर, बराबर।

यदि कोई कहे कि 'मैं **पढ़ते पढ़ते** थक गया' तो इसका आशय होगा—मैं निरंतर (काफ़ी देर तक) पढ़ता रहा इसलिए थक गया। 'उसकी दलीलें **सुनते सुनते** मेरे कान पक गये' का अभिप्राय है—वह बराबर (काफ़ी देर तक) एक पर एक दलीलें देता चला गया जिससे मेरे कान पक गये। इसी प्रकार के कुछ और प्रयोग देखें—

(क) **बैठे बैठे** मेरा मन ऊबने लगा था।
(ख) **हँसते हँसते** वह लोट-पोट हो गया।
(ग) पौधा **दिनों दिन** बढ़ता जा रहा है।

३. समानता या अनुरूपता सूचित करने के लिए—बहुत कुछ वैसा ही।

'उसकी साड़ी का रंग नीला था' और 'उसकी साड़ी का रंग **नीला नीला था**' इन दोनों वाक्यों के अर्थों में अंतर है। पहले वाक्य का अर्थ है—वह साड़ी नीले रंग की थी, किसी और या दूसरे रंग की नहीं। दूसरे वाक्य का अर्थ है—साड़ी का रंग क़रीब-क़रीब या बहुत-कुछ नीले रंग जैसा था। 'उन आँखों का आलम (संसार) **गुलाबी गुलाबी**' से शायर का अभिप्राय यह नहीं है कि उन आँखों की रंगत गुलाबी है, बल्कि आशय यह है कि उन आँखों की रंगत गुलाब के रंग जैसी, उससे बहुत-कुछ मिलती-जुलती अथवा बहुत-कुछ वैसी ही या उस तक पहुँचती हुई सी है। 'मेरे दिल का आलम **शराबी शराबी**' में आलम के शराबी होने का भाव नहीं है बल्कि शराबी-सा होने का भाव है।

४. ज़ोर देने के लिए—अवश्य, बिल्कुल।

कुछ अवसरों पर पुनरुक्त शब्दों का प्रयोग केवल ज़ोर देने के लिए होता है; जैसे—

(क) **हाँ हाँ** मैंने वह बात कही थी।

(ख) . . . .मुझे तुमसे प्यार **नहीं नहीं**।

वाक्य (क) का आशय है कि मैंने वह बात कही थी और अवश्य कही थी। वाक्य (ख) का आशय है कि मुझे तुम से प्यार नहीं है और बिल्कुल नहीं है। '**थमते थमते** थमेंगे आँसू' में '**थमते थमते**' से अभिप्राय है—बिल्कुल थमते। '**आइए, आइए**', '**बैठिए**, बैठिए', '**जा जा**', '**भाग भाग**', 'उठ उठ' आदि क्रियापदों का प्रयोग भी किसी को कोई क्रिया विशेष अवश्य करने की प्रेरणा देने के लिए होता है।

५. वर्ग, समूह आदि के विचार से—हर, हर एक या सब।

'वह **घर घर** जायगा'—इस वाक्य का अर्थ है कि वह हर घर में या जितने घर हैं उन सब में जायगा। '**बात बात** में वह दोष निकालता है' में '**बात बात**' से अभिप्राय हर बात से ही है। '**चार चार** आने हर चीज़ मिलती है'—इस वाक्य को हम इस रूप में भी कह सकते हैं—हर माल मिलेगा चार आने। अर्थात हर चीज़ का मूल्य चार आने है। '**बच्चे बच्चे** ने यह बात सुनी है' से आशय है कि हर बच्चे ने अर्थात सब बच्चों ने यह बात सुनी है।

'**मीठा मीठा** गप्प और **कड़वा कड़वा** थू'—इस लोकोक्ति की व्याख्या इस प्रकार की जाती है—हर मीठी चीज़ को खा जाना और हर कड़वी चीज़ को थूक देना।

इसी प्रकार '**पचीस पचीस** लड़कों के दल बनाये जायँ' से भी अभिप्राय यही है कि हर पचीस लड़कों का दल बनाया जाय अथवा जो दल बनाया जाय उसमें पचीस लड़के रखे जायँ।

६. अधिकता सूचित करने के लिए—बहुत, खूब।

जब हम कहते हैं, 'वह **सवेरे सवेरे** हमारे यहाँ आ पहुँचा' तो हमारा अभिप्राय 'बहुत सवेरे' से होता है। '**बूँद बूँद** से तालाब भर जाता है' से आशय है कि एक-एक बूँद कर के अर्थात बहुत-सी बूँदों से तालाब भर जाता है। 'वह **खुशी खुशी** घर गया' में '**खुशी खुशी**' से तात्पर्य बहुत खुशी से और 'वह **सोच सोच** कर उत्तर देता था' में '**सोच सोच**' से अभिप्राय बहुत सोच कर से है।

७ अल्पता सूचित करने के लिए—कुछ, कम या कुछ-कुछ।

निम्नलिखित तीन वाक्यों को देखें—

(क) आपको यह पुस्तक **कहीं कहीं** दिखायी पड़ेगी।

(ख) वह **कभी कभी** सिनेमा चला जाता है।

(ग) ऐसी विशेषता **किसी किसी** में ही होती है।

वाक्य (क) में **'कहीं कहीं'** से अभिप्राय 'कुछ स्थानों से', वाक्य (ख) में **'कभी कभी'** से अभिप्राय 'कुछ अवसरों पर' और वाक्य (ग) में **'किसी किसी'** से अभिप्राय 'कुछ लोगों से' है। **'कोई कोई** कहता है' से आशय होगा कुछ लोग कहते हैं। इसी प्रकार **'दो दो** हाथ हो जायँ' और 'उन लोगों में **दो दो** चोटें हुईं' वाक्यों मे क्रमशः 'मारपीट' और 'कहासुनी' में उसके थोड़ेपन की ही ओर संकेत है। **'घड़ी घड़ी'** में भी थोड़ी-थोड़ी देर वाला अर्थ है।

८. चयन, विशेषता, विभिन्नता आदि सूचित करने के लिए।

'अच्छे अच्छे फूल तोड़ो' में चुनाव की ओर संकेत है। **' नामी नामी** पहलवान आये हैं' से अभिप्राय--यशस्वी पहलवान आये हैं। **'देश देश** के लोग आयँगे' से अभिप्राय—विभिन्न देशों से लोग आयँगे। 'दुकानदार ने **सुंदर संदर** कपड़े दिखाये' से आशय है कि उसके पास जो तरह-तरह के सुंदर कपड़े थे वे उसने दिखलाये।

९. क्रिया आरंभ करने के समय या क्रिया के भोग-काल में--बीच में, दौरान में।

'उसने **चलते चलते** कहा' इस वाक्य के दो आशय हो सकते हैं। एक तो यह कि उसने उस समय कहा जब उसने चलना आरंभ किया था, और दूसरा यह कि उसने उस समय कहा जब कि वह चल रहा था। 'वह **कहते कहते** रुक गया' से तात्पर्य है कि वह कहना आरंभ ही करने लगा था कि रुक गया। परंतु 'मशीन **चलते चलते** रुक गयी' से अभिप्राय है कि मशीन चल रही थी कि बीच ही में रुक गयी।

'बातों बातों में' और **'बात बात में'** जो अंतर है वह स्पष्ट है। **'बातों बातों में'** का अर्थ है—वातचीत के दौरान में; जैसे—उसने **बातों बातों में** मुझसे सौ रुपये ऐंठ लिये। और **'बात बात में'** का अर्थ है—हर बात में; जैसे—**बात बात में** हुज्जत करने की उसकी पुरानी आदत है।

१०. क्षेत्र के परिसीमन या संकेंद्रण के विचार से—क्षेत्र के बाहर नहीं, भर, सिर्फ़।

'वह **रातों रात** सारा माल उठा ले गया' से आशय है कि वह रात के क्षेत्र में ही अर्थात सिर्फ़ रात भर में सारा माल उठा ले गया और दिन में उसे माल उठाने की नौबत ही नहीं आयी। **'दिनों दिन में'** 'रातों रात' की भाँति 'सिर्फ़ दिन में' या 'दिन भर में' अर्थ नहीं है बल्कि 'बराबर अनेक दिनों तक' वाला अर्थ है; जैसे—उसकी दिनों दिन उन्नति हुई।

११. संचरण के विचार से--के द्वारा, से होते हुए।

'कानों कान ख़बर यहाँ भी पहुँची' इस वाक्य के दो आशय हैं। एक तो यह कि ख़बर एक कान से दूसरे, दूसरे से तीसरे और इसी प्रकार होते हुए हमारे यहाँ भी पहुँची है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि ख़बर कान के क्षेत्र से हमारे पास आयी अर्थात हमने उसे पढ़ा नहीं, सुना भर है। 'पुस्तक हाथों हाथ बिकेगी' में भी 'हाथों हाथ' से अभिप्राय 'हाथों से होते हुए' ही है।

'हाथों हाथ' का लाक्षणिक अर्थ भी है—बहुत जल्दी। **'आँखों ही आँखों में** इशारा हो गया' में **'आँखों ही आँखों में'** से 'दोनों आँखों के द्वारा' इशारा हुआ यह अर्थ भी निकलता है और एक अर्थ यह भी निकलता है कि परस्पर दोनों ने एक दूसरे को इशारा किया।

१२. पारस्परिकता सूचित करने के लिए--परस्पर, आपस में, एक दूसरे का।

निम्न उदाहरणों से यह अर्थ स्पष्ट होता है—

(क) **भाई भाई** के झगड़े में नहीं पड़ना चाहिए।
(ख) **बहन बहन** के लिए जान दे सकती है।
(ग) **दिल दिल** की गवाही देता है।
(घ) **औरत औरत** की बात थी।

१३. अभिज्ञान के लिए—वही।

निश्चयपूर्वक यह बतलाने के लिए कि यह वही है पुनरुक्त शब्दों का प्रयोग होता है; जैसे—

(क) **आदमी आदमी** ही है।
(ख) **राजा राजा** ही ठहरा।
(ग) **चोर चोर** ही निकला।
(घ) **खेल खेल** समझ कर खेलना चाहिए।

पुनरुक्त शब्दों के लाक्षणिक अर्थ भी होते हैं। **'हाथों हाथ'** का अर्थ 'जल्दी' होता है, यह हम ऊपर देख चुके हैं। इसी प्रकार 'राम राम' का अर्थ अभिवादन होता है; जैसे—'उसने अपने पत्र में सबको **राम राम** लिखा है'। यह काफ़ी विस्तत विषय है जिस पर स्वतंत्र रूप से ही लिखना ठीक रहेगा।

यमक शब्दालंकार के अंतर्गत भी शब्दों की पुनरावृत्ति होती है। वहाँ वस्तुतः दोनों स्वतंत्र शब्द होते हैं इसलिए इस लेख में उन पर विचार नहीं किया गया। नित्यसंबंधी पुनरुक्त शब्द वस्तुतः सामान्य अर्थ के ही द्योतक होते हैं।

पुनरुक्त शब्द भी हमारी भाषा की मूल्यवान संपत्ति हैं। इसीलिए इनकी रक्षा के उद्देश्य से इनका संकलन शीघ्र होना ही चाहिए।

—शब्दलोक,
४७, लाजपतनगर,
वाराणसी - २।

रमेश उपाध्याय

कहानी

आत्मीयता के छंद

इस द्विधापूर्ण जीवन में मुझे एक क्षण को भी स्वच्छंदता का आभास नहीं होता। निरंतर जैसे एक लिफ़्ट में ऊपर जाना और नीचे आना रहता है। निश्चल खड़े हैं और तेज़ी से ऊपर चढ़ते जा रहे हैं या एकदम साँस रोके नीचे उतर रहे हैं और यह चढ़ना-उतरना हमारे वश की बात नहीं है। साइकिल चलाते हुए जब किसी भयंकर दुर्घटना से बच जाता हूँ तब लगता है कि अभी-अभी जो आँखें एक पल के लिए मिचीं थीं, वे भय के कारण नहीं, मृत्यु के प्रयत्न में असफलता के कारण। जीवन को इकहरी रस्सी पर लटकाये ऊपर के लक्ष्य और नीचे के पतन के बीच झुलाना शायद ठीक नहीं है। या तो चढ़ कर ऊपर ही पहुँचो, या कूद पड़ो। निराधार रहने से तो अतल में डूब जाना ही अच्छा।

असफल प्रयत्नों से मिले सतत आक्रोश में हर चीज़ को तोड़-फोड़ डालने की ऐसी धुन समायी रहती है कि ज़िंदगी के स्टेज पर चलते नाटक के सारे पर्दे फाड़ने की इच्छा होती है; सारे सेट्स तोड़ कर एक ऐसी आँधी चलाने की इच्छा होती है कि सब-कुछ उड़ जाय, किंतु हर बार मेरे प्रयत्न उस नाटक के अंश बन कर रह जाते हैं। सारी तोड़-फोड़, मेरा विकराल और पगलाया-सा रूप देख कर वाहवाही में दर्शकों की तालियाँ गड़गड़ा उठती हैं और मेरे उद्धत-उच्छृंखल व्यवहारों में दुनिया जाने कहाँ से एक तारतम्य खोज लेती है कि सब-कुछ किया-कराया चौपट हो जाता है।

कई बार सोचा है कि इस सबको देख कर क्रुद्ध भीड़ मुझ पर प्रहार करने उठे और एक ऐसा बवंडर खड़ा हो जाय कि मेरे अस्तित्व के सारे अणु-परमाणु तक शून्य में समा जायें। किंतु ऐसा होता नहीं है।

होता नहीं है, क्योंकि स्टेज से हटते ही और नेपथ्य में पहुँचते ही कई बाँहें मुझे सम्हाल लेती हैं। एक ऊष्मा, एक कोमल स्पर्श का सुख, एक आस्था की किरण, एक प्यार का संबोधन, एक आत्मीयता का छंद मेरी ओर बढ़ाने वाले कई हाथ आतुर हो उठते हैं और मैं भूल जाता हूँ कि मैं नाटक में भूमिका करने के लिए नहीं, नाटक समाप्त करने के लिए आया हूँ। थोड़ी ही देर बाद मुझे सजा-सँवार कर सेट पर भेज दिया जाता है और मैं वही घिसे-पिटे सस्ते संवाद दोहराने

लगता हूँ जो सदियों से लोगों को मूर्ख बनाते आ रहे हैं और भुलावा देते आ रहे हैं। और जब दोबारा तोड़-फोड़ का जुनून सवार होता है, तब तक मौत जैसा कोई सर्द हाथ मुझे 'विंग' में खींच लेता है; और नाटक का पर्दा अंतिम बार गिर जाता है।

दूसरा ही साल लगा है लेकिन लगता है कि किशोरी क्लब का जन्म हुए कई वर्ष बीत गये हैं। कितने ही परिचित-अपरिचित चेहरे आ-आ कर चले गये हैं और अपने प्रस्थान के पीछे एक-एक कहानी, या एक-एक गीत, या गीत का एक-एक टुकड़ा छोड़ गये हैं। क्लब का यह हॉल कितनी रंगरेलियाँ मना चुका है, इसका हिसाब नहीं है; इन दीवारों के बीच कितने प्रणय-प्रसंग, कितने मूर्खतापूर्ण व्यवहार और कितनी बेहूदी हरकतें हुई हैं, इसका भी हिसाब नहीं है। और इस हॉल के ख़ालीपन में अपनी किसी पेंटिंग से उलझते हुए मैं कितनी बार अपने अकेलेपन पर रोया हूँ, इसका भी हिसाब नहीं है। मुझे इन सजी हुई दीवारों, कला-वस्तुओं, फ़र्नीचर और पेंटिंगों में से एक अजीब-सी गंध आती है और वह गंध नीचे बाज़ार में उतर जाने पर भी, बड़ी से बड़ी भीड़ में खो जाने पर भी, मेरा पीछा नहीं छोड़ती है। हर घड़ी इस गंध की उकताहट से मेरा मन भरा रहता है और मैं बार-बार एक ही प्रश्न पूछा करता हूँ—मैं कहाँ चला जाऊँ, जहाँ यह उदासी की गंध मुझे छोड़ दे?

क्लब खोलने के तीन-चार महीने बाद ही मैं इस उकताहट से घबरा कर शहर छोड़ गया था। ललिता को चाभियाँ सौंप कर मैंने कहा था, "मेरा कोई भरोसा नहीं, कब लौटूँ; शायद न भी लौटूँ; तुम चाहो तो क्लब चलाना, नहीं, बंद कर देना।"

"आख़िर हुआ क्या है?" ललिता ने पूछा था।

"होना क्या है, कुछ होने पर ही कहीं भागने की इच्छा नहीं होती, कुछ न होने पर जो खीझ हो रही है, इसलिए जा रहा हूँ।"

"मैं अकेली क्या-क्या करूँगी?"

"तो मत करना।"

"तुम नहीं रुक सकते? . . . .नहीं रुक सकते तो मुझे भी साथ ले चलो।"

"रह नहीं सकोगी।"

"रह लूँगी।"

लेकिन यह कहते समय ललिता हमेशा ही जीवन के आर्थिक पहलू को भूल जाती है। या फिर, यह भी हो सकता है कि मेरे साथ रह लेने में उसे आर्थिक पहलू ही अधिक स्पष्ट दीखता है। वह नाचेगी और मैं चित्र बनाऊँगा। कला उसे हर जगह रुपये के रूप में दिखायी देती है। शायद इसीलिए. . . .शायद इसीलिए मेरा मन हुआ था कि मैं क्लब बंद कर दूँ और क्लब की इस उदास गंध से दूर कहीं जा कर साँस लूँ जहाँ नक़ली मुस्कराहटें, अश्लील चेष्टाएँ और मूर्खतापूर्ण व्यवहार न होते हों।

ललिता को साथ ले जाने का आश्वासन दे कर भी दूसरे दिन चुपचाप चला गया था।

हरिद्वार, ऋषिकेश, कनखल, देहरादून के आसपास भटकता रहा था और दो महीने में ही जेब का सारा पैसा ख़त्म कर, ललिता से किराया मँगा कर लौट आया था। अपनी बेवकूफ़ी पर दूसरों के साथ स्वयं भी हँसा था और आज भी हँसता हूँ। किंतु मैं क्यों गया था और क्यों लौट आया—इस 'क्यों' के बीच का अंतराल जब भी देखा है, एक उदास, ख़ालीपन और अकेलेपन की गंध से भरा हुआ पाया है। और मुझे आश्चर्य होता है कि मुझ पर हँसने वाले लोग उस गंध को पहचानते क्यों नहीं हैं!

शायद इसलिए नहीं पहचानते हैं कि वे इसी गंध में जन्मे और जी रहे हैं। उन्हें फूलों की हँसी और ख़ुशी की सुगंध का आभास तक नहीं है।

सब चेहरे बनावटी! सब मुस्कानें नक़ली। चाभी से चलने वाले खिलौने सड़कों पर छोड़ दिये गये हैं जो एक निश्चित दूरी नाप कर लौट आते हैं और फिर से चाभी भरवा कर निकल पड़ते हैं। टकराहटें। विध्वंस। चाभी के खिलौने आपस में टकराते हैं और एक बहुत बड़ा खिलौना 'न्यूज़ प्रिंट' पर हज़ारों टन स्याही उगल देता है।

ललिता दीक्षित—मिस लिली—जैसे एक साकार कुंठा!

एक-डेढ़ साल पहले मिली थी। वासुदेव बाबू एक नाटक खेलने वाले थे। उनकी नाटक कंपनी पिछले पाँच सालों से घाटा उठा रही है किंतु उनका दावा अब भी है कि वे शहर के सिनेमाघरों में ताला लगवा देंगे। मौक़े का फ़ायदा उठाना जानते हैं सो झटपट एक नाटक चीनी आक्रमण पर तैयार कर लिया। मुझे बुलाया और बोले, "आर्टिस्ट, सेट्स ऐसे हों कि फ़िल्मों को मात कर दें!" मैं जी-जान से हिमालय के पहाड़ी सेट बनाने में लग गया। वासुदेव थियेटर की इमारत बहुत बड़ी है। शायद इस इमारत के बल पर ही यह कंपनी चल रही है। नीचे हॉल, बुकिंग ऑफ़िस, रेस्तराँ, किराये पर उठायी हुई दूकानें और ऊपर के कमरों में कुछ किरायेदार रहते हैं, और कुछ थियेटर के काम आते हैं। ऊपर के ही एक कमरे में मुझे काम करने को कहा गया था। दूसरे कमरे में उन दिनों रिहर्सल होता था।

जिस दिन बर्फ़ीले पहाड़ों का सेट पूरा हुआ था और मैं कुछ दूर खड़ा हो कर उसे देख रहा था, ललिता पैरों में घुँघरू बाँधे हुए आयी थी। बोली, "कलाकार, तुमने हमारी कल्पना साकार कर दी, माँगो क्या माँगते हो!"

"तुम्हारा एक नृत्य नर्तकी, और एक चषक मदिरा!"

अचानक "जियो, जियो" का उल्लसित स्वर लिये वासुदेव बाबू दरावाज़े से निकल पड़े और मुझे बाँहों में भर कर बोले, "आर्टिस्ट, वाक़ई तुम आर्स्टिस्ट हो। हमने इतने शो किये, इतना निर्देशन किया, तुम्हारे जैसा अदाकार नहीं देखा। मैं कितना बड़ा गधा हूँ कि तुम्हें चित्रकार ही समझता रहा, इस बार मैं तुम्हें हीरो बनाना चाहता हूँ। मंजूर?"

"देखिये, बात यह है.........."

"बात-वात कुछ नहीं, बोलो मंजूर!"

"जैसी आपकी इच्छा।"

"शाब्बाश!" कुछ रुक कर बोले, "तुम दोनों यहीं रहना मैं अभी आता हूँ।"

उनके जाने पर ललिता घुँघरू बजाती सारे कमरे में घूम-घूम कर सेट का निरीक्षण करती रही थी और उसके मुँह से प्रशंसा सुन कर मैं विभोर होता रहा था। वासुदेव बाबू ने आ कर जैसे हमें चौंका दिया। इतने नौकर-चाकर होते हुए भी, वे स्वयं ही ट्रे उठाये चले आ रहे थे। काँच की सुराही और प्याले! ललिता के पास जा कर बोले, "लिली, अपना संवाद दोहराओ तो।" फिर मेरी ओर देख कर, "तुम भी।"

संवाद दोहराये गये। नर्तकी ने जाम भरा और मुझे थमा दिया। छूम-छनन से कमरा गूँज उठा और वासुदेव बाबू जैसे उन्मत्त हो गये।

उस दिन से ललिता के साहचर्य में ज़िंदगी शुरू हुई और कुछ दिन बाद जब 'हिमालय' की धूम दूर-दूर तक मच गयी, ललिता का प्रस्ताव आया, "क्यों न हम अपनी निजी नाटय-संस्था खोल लें!"

कला, कला और केवल कला!

लेकिन किशोरी क्लब खुलने के बाद ललिता की वह आत्मीयता जाने कहाँ चली गयी जो 'हिमालय' के सेट पर उसे बेसुध कर देती थी और मैं भूल जाता था कि मैं नाटक में नायक का पार्ट भर कर रहा हूँ। जाने कहाँ से आर्थिक लाभ-हानि के मुखौटे ले आयी ललिता, और किशोरी क्लब की दीवारें एक अजीब-सी उदासी की गंध देने लगीं।

पैसा, पैसा और केवल पैसा ही जैसे एकमात्र लक्ष्य रह गया है। और कहीं कुछ नहीं है। मैं इस सब से मुक्त होना चाहता हूँ किंतु ललिता की आँखें मुझे बाँधे रखती हैं और वासुदेव बाबू के शब्द कानों में गूँजते रहते हैं, "हम भी देखेंगे, कैसे मुक़ाबला करते हो! वासुदेव से टक्कर लेना मज़ाक नहीं है।"

—द्वारा, 'लहर',
पो० बा० ८२, अजमेर (राज०)।

गोपीकृष्ण गोपेश

●

अमियो, मुझे माफ़ करो

जी हाँ हैं,
मुझमें बड़ी कमियाँ हैं. . .

आमों के पेड़ों में
अनगिनती अमियाँ हैं——
नीचे तक झूल-झूल
जैसे बुलाती हैं,
हवा के बहाने से
आवाज़ें लगाती हैं——
और, सत्य यह भी है
एक युग वह भी था
जब मैं महज़ बच्चा था. . .
दुनिया के तौर नहीं
बिल्कुल समझता था,
अंतर से कच्चा था——
जो भी आया, किया,
जो भी भाया, लिया,
चल दिया, उठाया पाठशाला का बस्ता,
कभी नहीं सोचा
माल पड़ा बहुत मँहगा
या कि पड़ा बहुत सस्ता !
और, उस ज़माने में
काँजीहौद वाली सड़क के
पेड़ों से मेरी बड़ी छनती थी,
बेरों से, महुओं से,
जामुन और अमियों से
मेरी बहुत बनती थी——
अँवरे की बाँछें मुझे पा कर
खिल जाती थीं——
जामुन और अमियाँ
राह चलते मिल जाती थीं——
और, नहीं मिलतीं
तो उछल कर, उचक कर
शाख़ें हिला देता था——
गिरतीं थीं अमियाँ
ज्यों झर-झर-झर. . .
झर-झर-झर——
कि चाहो तो खाओ
और चाहो तो ले जाओ
झोली में भर-भर !

किंतु, आज
बारह नहीं,
बयालीस पत्थरों को पार कर
आकर बसा हूँ मैं,
अपनी सीमाओं में
बिल्कुल ही कसा हूँ मैं——
कोई जो मन में
अनजाना रहता है——
अकसर ही कानों में
बार-बार कहता है——
उधर की सड़क पर
पढ़े-लिखे नहीं चलते——
बचकानी चाहों में
युवा नहीं पलते——
अपनी अलमस्ती को

उम्र को सहेज दो--
काँजीहौद गायों
और भैंसों को भेज दो ! --
नहीं तो
कहेंगे लोग--कैसा दीवाना है !
अमियों को तोड़तोड़ खाना
भला खाना है !

दोपहर कभी की हुई
उठ कर नहा लो तुम . . .
पैंट और बुशशर्ट
अपनी बदल डालो तुम . . .
और, फिर ढूँढ़ो जो आसपास हाट हो--
लाओ ख़रीद
अगर अमियों की चाट हो !

तो मेरी अमियो,
दिन ढल गया इतना--
मैं भी तो आख़िर
बदल गया इतना--
मुझको तो डर है
कहीं उड़े नहीं खिल्ली--
क़स्बा हुआ शहर
और
शहर हुआ दिल्ली !

तो मेरी अमियो,
तुम अपना दिल साफ़ करो--
मेरी कमज़ोरी को समझो,
मुझे माफ़ करो !

●

४६०, अतरसुइया, इलाहाबाद।

माध्यम
के
लेखकों से विनम्र निवेदन
है कि

● अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण हम अस्वीकृत रचनाओं की सूचना नहीं दे पाते।

● स्वीकृत रचनाओं की सूचना रचना-प्राप्ति के एक पखवारे के भीतर दे देने का यत्न करते हैं।

● रचनाओं की अस्वीकृति-सूचना या वापसी के लिए टिकट-लगा लिफाफा अवश्य भेजें।

सहवर्ती साहित्य

पंजाबी

रवींद्र कालिया

पंजाबी साहित्य : एक विहंगम दृष्टि

भारतीय लिपियों की जननी अशोककालीन ब्राह्मी लिपि ही पंजाबी (गुरुमुखी) की जननी मानी जाती है। गुरुमुखी का अर्थ है—गुरु के मुख से उच्चरित वाणी। डा० ग्रियर्सन का कथन है कि 'पंजाबी प्रायः गुरुमुखी लिपि में लिखी जाती है। कभी-कभी भ्रमवश उसी बोली को भी गुरुमुखी कह दिया जाता है।'

मुग़ल राज्य की स्थापना के बाद पंजाब एक संगठित इकाई बन गया था। १५२६ ई० से एक ओर नये शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना हुई और दूसरी ओर गुरु नानक ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा से इस युग का संचालन किया। इससे पूर्व के युग को अनेक नामों से अभिहित किया गया है, जैसे : पूर्व नानक काल, नाथ योगी काल, बाबा फ़रीद युग आदि। इस युग में गद्य का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता, तथापि बाबा फ़रीद के मौखिक वचन तथा चौरंगीनाथ के बारे में उपलब्ध सामग्री से गद्य के अस्तव्यस्त तथा प्रारंभिक रूप का आभास अवश्य मिलता है। इस युग की मुख्य भाषा केंद्रीय पंजाबी और मुल्तानी थी जिसमें फ़ारसी, अरबी, तुर्की आदि के शब्दों का प्रयोग उदारतापूर्वक किया जाता था। प्राकृत, संस्कृत आदि के छंदों के अतिरिक्त फ़ारसी के छंदों का प्रयोग भी किया जाने लगा था। इस यग के नाथपंथी प्रमुख रचनाकारों में योगी गोरखनाथ, चरपटनाथ, गोपीनाथ तथा वीर रस के कवियों और क़िस्सा लेखकों में पुष्प, मसऊद, मुल्ला दाऊद तथा फुटकर कवियों में ख़ुसरो आदि के नाम प्रमुख हैं।

गुरु नानक देव से ले कर आधुनिक युग के प्रारंभ तक पंजाबी में तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं जिन्हें क्रमशः गुरुवाणी, सूफ़ी-काव्य-परंपरा और क़िस्सा-काव्य-परंपरा के अंतर्गत रखा जा सकता है।

मुग़ल काल का समग्र पंजाबी साहित्य का 'स्वर्ण युग' माना जाता है। इस युग की साहित्यिक उपलब्धि गुरुवाणी, भक्तवाणी, सूफ़ी साहित्य और क़िस्सा साहित्य के रूप में स्वीकृत है। गुरुवाणी में भौतिक तथा मानसिक परतंत्रता के प्रति सामाजिक चेतना का आलोक, प्रचलित

रूढ़ियों पर आघात, समाज के आध्यात्मिक पक्ष का प्रतिनिधित्व, कण-कण में परमात्मा की अनुभूति, लोक-जीवन की प्रांजल झाँकी तथा अनुभव की सचाई और तीव्रता स्पष्ट परिलक्षित होती है। इस युग की साहित्यिक प्रतिभाओं––गुरु नानक, गुरु अर्जुन देव, गुरु गोविंद सिंह, भाई गुरु दास आदि––ने विषय की दृष्टि से बौद्धिक पक्ष का प्रतिपादन किया और छंद की दृष्टि से रूपक शैली को अपनाया।

सूफ़ी कवियों में शाह हुसैन, सुल्तान बाहु, हाशिम, बुल्लेशाह आदि के नाम प्रमुख हैं। इन्हें हिंदी के सूफ़ी कवियों के समानांतर रखा जा सकता है क्योंकि इन दोनों भाषाओं के कवियों का उद्देश्य एक ही है। यद्यपि इन कवियों ने सूफ़ी मत के प्रतिष्ठापन में, मनुष्य के आचरण को नैतिक धरातल प्रदान करने में, अत्याचार के प्रति मानसिक निर्भीकता की भावनाओं को जन्म देने में अपनी साहित्यिक प्रतिभा का चमत्कार दिखाया परंतु त्याग, पलायन, रहस्यवाद की अयथार्थ और असंतुलित तीव्रता इनकी रचनाओं को गुरु-साहिबों की सहज-स्वाभाविक प्रवृत्ति सै अलग कर देती है। सूफ़ी कवियों की विशिष्टता इस बात में भी परिलक्षित होती है कि उन्होंने पंजाब के आचार-विचार, रहन-सहन, लोक-जीवन, लोक-भाषा आदि को आत्मसात किया और भारतीय भक्ति के प्रति आग्रह भी दिखाया। विदेशी प्रीत-कथाओं के स्थान पर 'हीर रांझा', 'सस्सी पुन्नू' आदि पंजाबी प्रीत-कथाओं को प्रश्रय दे कर इन कवियों ने पंजाबी लोक-जीवन से अपना निकट का संबंध स्थापित किया।

कविता में रचित प्रेम-कथाएँ 'क़िस्सा' कहलाती हैं। पंजाबी की इस क़िस्सा-काव्य-परंपरा में दामोदर, पीलू, हाफ़िज़ बरख़ुरदार, अहमद, मुकबल, वारिसशाह आदि के नाम प्रमुख हैं। इन कवियों ने प्रायः प्रेमेतर किसी विषय को अपने काव्य का आधार नहीं बनाया। इस क़िस्सा-काव्य के प्रतिनिधि कवि वारिसशाह ने सामाजिक रीतियों, धर्म और आचरण से ले कर दैनंदिन जीवन के मार्मिक और व्यावहारिक प्रसंगों की कलात्मक अभिव्यक्ति की है। विरह-वर्णन की दृष्टि से वारिस को किसी भी महाकवि के समकक्ष रखा जा सकता है। यही कारण है कि वारिसशाह की 'हीर' पंजाब के लोक-जीवन का एक अविभाज्य अंग बन चुकी है और उसके स्वर पंजाब के घर-आँगन में सुने जा सकते हैं। वस्तुतः वारिस पंजाब के लोक-जीवन का प्रतिनिधि कवि है।

सिक्ख साम्राज्य के कवियों में हाशिम, क़ादिरयार, अहमदयार, इमामबख़्श आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। हाशिम ने 'सस्सी पुन्नू', 'शीरीं फ़रहाद' तथा 'सोहणी महिवाल', क़ादिरयार ने 'पूर्ण भक्त', अहमदयार ने 'हीर रांझा', 'यूसुफ़ जुलैखा', 'लैला मजनू', 'चंदरबदन', 'गुलबदन', आदि की रचना से क़िस्सा-काव्य-परंपरा में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

आधुनिक पंजाबी काव्य-धारा के प्रथम कवि भाई वीर सिंह ने जहाँ एक ओर क़ादर के रहस्यमय वर्णन को ग्रहण किया वहीं दूसरी ओर हिंदी के छायावादी कवियों के समानांतर प्रकृति का कोमल-कांत-पदावलि में रोमांटिक वर्णन किया। उनकी आध्यात्मिक दष्टि पर सिख इतिहास की गहरी छाप है। पंजाबी भाषा के परिष्कार में उनका वही स्थान है जो हिंदी में पंत जी का। भाषा-परिष्कार के अतिरिक्त 'बैंत' का त्याग कर उन्होंने नवीन छंदों को ग्रहण किया, नूतन बिंब-विधान की सृष्टि की तथा प्रतीक-योजना के सफल प्रयोग किये। इस युग के दूसरे

कवि प्रो० पूर्ण सिंह बौद्धमत, वेदांत तथा सिख धर्म से प्रभावित रहे हैं। उनकी आध्यात्मिक दृष्टि अद्वैतवाद के अधिक निकट है। ग्राम-जीवन का सजीव तथा सांगोपांग वर्णन उनकी निजी विशेषता है। लाक्षणिक भाषा प्रयोगों का आरंभ भी उन्हीं से हुआ माना जाता है। धनीराम चात्रिक तथा कृपा सागर इस काव्य-धारा के दो अन्य प्रसिद्ध कवि हैं।

स्वच्छंदतावादी तथा प्रगतिवादी काव्य-धारा के प्रमुख कवियों में मोहन सिंह तथा अमृता प्रीतम का विष्टि स्थान है। अतृप्त प्रेम, स्वेच्छाचारिता तथा शृंगार-भावना इन कवियों की प्रमुख विशेषता है। इन कवियों ने लोक भाषा का संस्कार किया तथा कलात्मक अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया। यही कारण है कि ये कवि पंजाब के लोकप्रिय कवि रहे हैं। इस काव्य-धारा के अन्य प्रमुख कवियों में बावा बलवंत, प्रीतम सिंह सफ़ीर, संतोख सिंह धीर, गुरुचरण रामपुरी, तख़्त सिंह, दीवान सिंह कालेपानी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इधर कुछ वर्षों से पंजाबी में प्रयोगवाद, नयी कविता, आधुनिक भावबोध आदि को ले कर भी काफी बहस हुई है। नये कवियों की एक नितांत नयी पीढ़ी आधुनिक जीवन की जटिलताओं, प्राविधिक और यांत्रिक युग की विसंगतियों और अकेलापन, कुंठा, निराशा, अवसाद आदि प्रवृत्तियों तथा वैज्ञानिक युग की विचक्षणता तथा भाषा-शैली के प्रति नया आग्रह लिये हुए सामने आयी है। इन कवियों में जसवंत सिंह नेकी, जगतार, तारा सिंह, सति कुमार, स्वर्ण, कृष्ण अशांत, अजायब कमल, हरनाम, रविंदर रवि, जसवीर आहलूवालिया, सुखपाल, सुखवीर आदि प्रमुख हैं। इन कवियों और स्वच्छंदतावादी कवियों के बीच डॉ० हरिभजन सिंह, मीशा, देवेंद्र सत्यार्थी तथा शिव कुमार बटालवी आदि सेतु-स्वरूप हैं, जिनकी कविताओं में आधुनिकता के प्रति आग्रह तो है परंतु जिनकी भाषा-शैली तथा पहुँच स्वच्छंदतावादी कवियों के अधिक निकट है।

आधुनिक युग में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के बाद गद्य का प्रचार भी बढ़ा। उन्यपास, कहानी, रेखाचित्र, समीक्षा आदि गद्य की अन्य विधाओं पर भी पंजाबी लेखकों का ध्यान गया। पंजाब के जन-जीवन में लोक-कथाओं का विशेष महत्व रहा है। 'हीर रांझा', 'सोहनी महिवाल', 'सस्सी पुन्नू', 'मिर्ज़ा साहिबां' आदि प्रीति-कथाओं की एक जीवंत परंपरा पंजाब में उपलब्ध है। परंतु समस्त भारतीय भाषाओं की भाँति पंजाबी में भी कथा साहित्य का विकास पश्चिम के प्रभाव-स्वरूप ही हुआ है। प्रारंभ की रचनाओं में यह प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होता।

भाई वीर सिंह, भाई मोहन सिंह तथा चरण सिंह शहीद आदि कथाकारों का उद्देश्य धार्मिक पुनरुत्थान था। भाई वीर सिंह के उपन्यास—'सुंदरी', 'विजय सिंह', 'सतवंत'—संघर्षशील सिख इतिहास से संबंधित हैं तथा उनकी प्रारंभिक कहानियाँ किसी ऐतिहासिक घटना का इतिवृत्तात्मक विवरण प्रस्तुत करती हैं। मोहन सिंह वैद्य के प्रमुख उपन्यासों के नाम हैं—'वकील दी क़िस्मत', 'इक सिख घराना', 'सुभाग कौर', 'दंपति कौर'। वैद्य जी सुधारवादी उपन्यासकार थे। इनकी कहानियों का गठन निबंध के अधिक निकट था। चरण सिंह शहीद ने ऐतिहासिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार के उपन्यास लिखे।

पंजाबी के उपन्यास सम्राट नानक सिंह का कथा-साहित्य पंजाबी साहित्य में एक युगांतरकारी परिवर्तन प्रस्तुत करता है। उन्होंने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की भाँति सिख इतिहास,

सिख धर्म तथा सिख संप्रदाय से ही प्रेरणा ग्रहण नहीं की बल्कि उनका अनुभव-क्षेत्र अधिक व्यापक था। उन्होंने निम्न मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन को अपनी रचनाओं का विषय बनाया। वह न तो नैतिक दृष्टि का त्याग कर पाये हैं और न मनोवैज्ञानिक जीवन-दृष्टि का परिपालन। दलित, पीड़ित तथा शोषित वर्ग के प्रति वह सदैव सहानुभूतिपूर्ण रहे हैं। 'पवित्तर पापी', 'चिट्टा लहू', 'अधखिड़या गुलाब', 'जीवन संग्राम' आदि उनके प्रमुख उपन्यास हैं। उनके अधिकांश उपन्यास दुखांत हैं तथा उनका स्वर सुधारवादी ही रहा है। उनकी कहानियाँ भी प्रायः सांप्रदायिक एकता, छुआछूत की समस्या, विधवा विवाह, बाल विवाह, अनमेल विवाह आदि पर आधारित हैं।

उत्तर नानक सिंह युग के उपन्यासकारों में सुरेंद्र सिंह नरूला, जसवंत सिंह कँवल, महेंद्र सिंह सरना, नरेंद्रपाल सिंह, अमृता प्रीतम, संतोख सिंह धीर आदि प्रमुख हैं। नरूला के उपन्यासों पर मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। यही कारण है कि उनके अधिकांश उपन्यास वर्ग-संघर्ष पर आधारित हैं। पंजाब के ग्रामीण जीवन का अत्यंत मार्मिक, जीवंत तथा प्रामाणिक चित्रण उपन्यासकार जसवंत सिंह कँवल के उपन्यासों में परिलक्षित होता है। यही कारण है कि उनकी दृष्टि अधिक यथार्थोन्मुखी रही है। सरना के उपन्यासों में मानव-मन के विभिन्न स्तरों का मनोवैज्ञानिक चित्रण उपलब्ध होता है। ऐतिहासिक उपन्यासकारों में नरेंद्रपाल सिंह, त्रिलोक तथा हरनाम दास सहराई प्रसिद्ध हैं। इनमें से नरेंद्रपाल की दृष्टि अधिक व्यापक तथा अधिक वैज्ञानिक है।

अमृता प्रीतम के उपन्यासों का मुख्य विषय प्रेम है। प्रेम के विभिन्न पक्षों के उद्घाटन में वे अद्वितीय हैं। 'डा० देव', 'बंद दरवाज़ा' तथा 'इक सवाल' आदि उनके उपन्यास ख़ूब लोकप्रिय हुए हैं। आधुनिक गद्य का रूप सँवारने में गुरुबख़्श सिंह का योगदान भी महत्वपूर्ण है। 'कुँआरी माँ' उनका लोकप्रिय उपन्यास है। उनकी दृष्टि भी सुधारवादी रही है और मार्क्सवाद का प्रभाव भी उन्होंने ग्रहण किया है। संतोख सिंह धीर का नया उपन्यास 'शराबी' पंजाबी उपन्यास की संभावनाओं का द्योतक है।

सैंकड़ों वर्षों तक पंजाब युद्ध-भूमि रहा है। इसके प्रभावस्वरूप वीर और श्रृंगार रस की सहज अभिव्यक्ति पंजाबी साहित्य में हुई है। श्रृंगार और सौंदर्य की एक झलक गुरुबख़्श सिंह की 'प्रीत कहानियाँ' में देखी जा सकती है।

आधुनिक पंजाबी कहानी के संस्कार में संत सिंह सेखों, करतार सिंह दुग्गल तथा कुलवंत सिंह विर्क का योगदान महत्वपूर्ण है। इनकी कहानियों में जहाँ एक ओर विषय की परिपक्वता दृष्टिगोचर होती है वहीं दूसरी ओर वर्ग-संघर्ष का चित्रण तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और भाषा-शैली के परिष्कार के प्रति विशेष आग्रह भी देखा जा सकता है। जसवंत सिंह कँवल, संतोख सिंह धीर तथा सुजान सिंह की कहानियों में पंजाब की धरती का विशद चित्रण है जो आंचलिक कथा के रूप में विकसित हो रहा है। अमर सिंह, सुरजीत सिंह सेठी, प्रभजोत कौर, जसवंत सिंह विरदी आदि की कहानियाँ नगर-जीवन पर आधारित हैं तथा अमृता प्रीतम नारी की पारिवारिक-सामाजिक स्थिति का भावुकतापूर्ण चित्रण करती हैं। नये कथाकारों में संधु, भोगल,

खन्नवी, गुरदयाल तथा अजित कौर की कहानियों में आधुनिक जीवन की जटिलताओं, विसंगतियों तथा यंत्रणाओं के प्रति विशेष आग्रह देखा जा सकता है।

आधुनिक आलोचना का प्रादुर्भाव इतिहास-लेखन से प्रारंभ हुआ माना जाता है। इस कोटि के आलोचकों में डॉ० मोहन सिंह, प्रिंसिपल तेजा सिंह, डॉ० दर्दी, डॉ० कोहली तथा हरवंस सिंह हैं। पंजाबी साहित्य का ऐतिहासिक मूल्यांकन प्रस्तुत करने में इन समालोचकों का महत्वपूर्ण योग है। संतसिंह सेखों की आलोचना का आधार वैज्ञानिक है और प्रगतिवादी आलोचकों में उनका विशिष्ट स्थान है। उन्होंने साहित्य की समस्त विधाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया। सेखों की बौद्धिक समीक्षा-प्रणाली के विपरीत तेजा सिंह की समीक्षा-पद्धति प्रभाववादी है और उन्हें हृदयवादी समीक्षक कहा जा सकता है। किशन सिंह की समीक्षा भावना और बुद्धि का सामंजस्य प्रस्तुत करती है। पंजाबी के नये आलोचकों में कृपाल सिंह कसेल, अतर सिंह, जसबीर आहलूवालिया तथा शांति देव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जसबीर तथा शांति देव ने नयी कविता तथा नये साहित्य की समस्याओं और आवश्यकताओं पर विशेष बल दिया है। हिंदी के नये कवियों की भाँति पंजाबी के नये कवि भी आलोचना-क्षेत्र में उतर रहे हैं और कवि की सामाजिक तथा सृजनात्मक समस्याओं के प्रति अधिक जागरूक हैं।

—५०५५, संत नगर, करोल बाग़,
नयी दिल्ली - ५।

तारा सिंह

●

पंगु लेखनी

खिड़की खोल दो
कमरे में दुर्गंध भरी है
अपने अनिश्चित, शेष कर्मों की !
लेखनी पुत्र
नितांत पंगु है
मनुष्य के सम्मुख !
फेंक दो यह अमिट
हस्ताक्षर
प्रशंसा कर के
आवरण लिपियों की !

जसबीर सिंह आहलूवालिया

●

मेरा दुखांत

मैं भी हिस्सेदार था
सागर-मंथन की क्रिया में
अपने हिस्से की नियामत
के बदले में
मैं शौक़-शौक़ में
सारा जहर पी गया !
किंतु
मैं विषपायी नहीं था
कि जहर को सह सकूँ !
रक्त के अंदर
रचे हुए
इस जहर की भी चेतना है—
जिंदगी के सौंदर्य की
भी चेतना है—
और यही है मेरा दुखांत !
जीवन के सौंदर्य का प्रतीक बन कर
जब कभी तुम आयी हो
तुम्हें छूना चाहा है
(प्यार से भर कर)
पर मुझे अपना हाथ
भस्मासुर का हाथ लगा है !
और आत्म विरोधी भावनाओं ने
मुझे घेरा है !
इस रेशे-रेशे में जमे जहर का अंत कहीं मिले
या जीवन के इस सौंदर्य के लिए
शेष रहे न कोई भी सम्मान !
आज तू इतनी सुंदर लग रही है
कि यह मेरा दुखांत है !

सति कुमार

●

सूर्यांकित आकाश

अपनी
तनी हुई शिराओं में
बँधे हुए रक्त को
काँटों सा बिंधने दिया।
हाथ और अँगुलियों की
छटपटाहट को
निश्चित आकाश तक उठने दिया।
सूर्यांकित आकाश में
आँखें गड़ाये
अपने नगर-घरों की
दीवारों की
छोटी-बड़ी छायाओं में
अस्त होता हुआ
मैं
बढ़ता गया अहर्निश
अपनी शिराओं
छटपटाहट
और
आँखों को
संमोहित किए हुए।

●

—अनुवादक : रवींद्र कालिया

कुलवंत सिंह विर्क

कहानी

अजनबी

मैं दफ़्तर में बैठा था। समाचारपत्र में काम करने वाले मेरे एक मित्र ने दरवाज़ा खोला। दरवाज़ा खोल कर वह वहीं खड़ा हो गया।

"आ जाओ !" मैंने कहा और साथ ही सिर हिला कर अंदर आने का संकेत भी किया।

वह इस तरह का मित्र था जिसके संग सारे शरीर के साथ बातें की जाती हैं।

वह मुस्कराया और फिर स्वयं आगे से हट कर उसने एक और व्यक्ति को अंदर भेज दिया। वह कोई विदेशी था और बड़ा मिलनसार दिखायी देता था। वह मेरी तरफ़ इस प्रकार बढ़ा जैसे कोई कई वर्षों के बाद अपने बड़े भाई को मिल रहा हो।

"ये रूस के सूचना अधिकारी हैं।" मेरे मित्र ने कहा और वे दोनों बैठ गये।

'सूचना अधिकारी' सुन कर मुझे आश्चर्य हुआ। बाहर के देश का सूचना अधिकारी एक प्रकार से उस देश का वकील होता है। पर वकालत करने की अभी उस आगंतुक की आयु नहीं थी। उसकी तो अभी मस्ती की वय थी।

उसने कहा, "हम दिल्ली से अमृतसर जा रहे थे। बाक़ी लोग तो आगे चले गये, मैंने सोचा कि कुछ देर जालंधर ठहर जाऊँ।" वह बहुत रुक-रुक कर अंग्रेज़ी बोल रहा था। एक-एक शब्द से कई-कई अर्थों का काम चलाता था।

"बहुत अच्छा किया।" मैंने कुछ कहने के लिए कहा। पर मैं सोच रहा था कि समाचारपत्रों का आकर्षण रखने वाले बहुत देखे हैं। वे और ही तरह के होते हैं। मेरे पास बैठे हुए भी उनका ध्यान दफ़्तरों में ही होता है। पर इस युवक का ध्यान तो मेरी ओर है तथा मुझे आकर्षित कर रहा है।

वह कुर्सी पर बैठा मेरी ओर देख कर मुस्करा रहा था। थोड़ी देर बाद उसने कहा, "चलो बाहर चलें।"

"बाहर कहाँ ?" मैंने पूछा।

"कहीं भी !" उसने झिझक कर कहा।

मैंने सोचा कि उसके संग घूमने में बड़ा आनंद आयगा। हम दफ़्तर से उठ कर बाहर सड़क पर आ गये। एक आवारा कुत्ते की ओर देख कर उसने कहा, "मैं इस कुत्ते की तरह हूँ।"

"क्यों ?" मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा था।

"जो इसके मन में है, यह नहीं कह सकता; जो मेरे दिल में है, मैं नहीं कह सकता।" उसको भाषा की कठिनाई हो रही थी और हमें तो रूसी का एक शब्द भी नहीं आता था।

वह मुझे और भी प्यारा लगने लगा। हमसे मिल कर और हमारे नगर की सड़कों पर चल कर उसके मन में कई बातें उठ रही थीं जो वह हमें बताना चाहता था। परंतु किसी साझी भाषा के अभाव में बता नहीं पा रहा था।

हम चलते गये। सड़क पर सदा की भाँति लोग आ-जा रहे थे। दो व्यक्तियों का इकट्ठे किसी चीज़ को देखना भी एक तरह का वार्तालाप ही होता है।

एक समाचारपत्र का दफ़्तर सड़क पर ही था। उसके मैनेजर ने उसे सड़क पर जाते देख लिया और उसके पीछे एक व्यक्ति को भेजा।

"इस समय नहीं। उनसे कहो, मैं फिर मिलूंगा।" उसने टाल दिया।

मुझे उसकी इस बात से बड़ा आनंद आया। अपने रंगीन समय के लिए उसे हमारा साथ पसंद था।

चलते-चलते उसने पूछा, "हम कहाँ जा रहे हैं?" मैंने कहा, "पता नहीं, बस यों ही घूम रहे हैं।"

"मैं यह सोचता हूँ कि मुझे अमृतसर चले जाना चाहिए। मेरी यात्रा के काग़ज़ मेरे साथियों के पास हैं। होटल में परदेसियों का फ़ार्म भरने में बड़ी मुश्किल हो रही है। होटल वाले बहुत परेशान हैं।"

हम दोनों को इन बातों के बारे में कुछ पता नहीं था। हमें तो यह भी पता नहीं था कि होटल में विदेशियों को कोई फ़ार्म भरना पड़ता है। इसलिए हम उसे कोई परामर्श नहीं दे सकते थे। काग़ज़ों का विचार आते ही उसने बुरा-सा चेहरा बना लिया था।

"चलो होटल में चल कर देखते हैं, वे क्या कहते हैं। और तो कोई बात नहीं। मैंने अपने साथियों से तो कह दिया था कि मैं रात को ही आऊँगा। रात होने में अभी देर है।" उसने फिर विचार बदला।

हम होटल की ओर मुड़े। कमरे का बैरा हाथ में एक फ़ार्म पकड़े जैसे उसी की प्रतीक्षा में खड़ा था। उसने बैरे को देख कर सिर हिलाया, यह कहते हुए कि अभी भर देता हूँ।

बैरा मुझे जानता था। उसको अपनी बात समझाना मुश्किल जान कर वह मुझसे कहने लगा, "जिस समय देश के बाहर का कोई व्यक्ति होटल में आता है तो उससे यह फ़ार्म भरवा कर हमें सी० आई० डी० के दफ़्तर भिजवाना होता है। पर यह महाशय भर कर ही नहीं देते। हमें तकलीफ़ हो रही है।"

"कोई बात नहीं। इन्हें अभी चले जाना है और ये फ़ार्म भर कर ही जायेंगे।" मैंने उसका हौसला बंधाया।

"अगर अभी कोई आ गया तो हमारे लिए संकट खड़ा हो जायगा।" बैरे ने डरते हुए कहा।

"कोई बात नहीं। मैं यहीं हूँ।" यह कह कर मैं कमरे में चला गया जहाँ मेरे साथी पहले से ही बैठे थे।

"आपने कभी 'वोदका' पी है?" रूसी ने पूछा। मैंने कहा, "नहीं।"

"मेरे पास एक बोतल है।" हमारे न . .न करने के बावजूद उसने बैरे को बुलाया और बोला, "तीन सोडे की बोतलें और तीन गिलास।"

'वोदका' का स्वाद नया था। बहुत बातचीत किये बिना ही हम दो-दो पेग पी गये। फिर पता नहीं उसने क्या बात की, मुझे इतने ज़ोर की हंसी आयी कि मेरे हाथ में पकड़ी सोडे की बोतल फ़र्श पर गिर कर टूट गयी।

शोर सुन कर बैरा तुरंत अंदर आ गया और शक की दृष्टि से इधर-उधर देखने लगा। बोतल बम की तरह फटी थी।

"कोई बात नहीं, सोडे की बोतल टूटी है।" मैंने बैरे से कहा। बैरा लौट गया।

"बोतल के शीशे अब कौन उठायेगा?" रूसी युवक ने पूछा। "क्यों? बैरा!"

"हमारे देश में तो ख़ुद ही उठाने पड़ते हैं। आपका देश बहुत अच्छा है।" उसने लिहाज़ दिखाते हुए कहा।

"हाँ।" मैंने उसकी बात स्वीकार की।

"बस, केवल रिक्शे में चढ़ना मुझे कठिन लगता है, बाक़ी तो यहाँ सब ठीक है।" उसने फिर कहा।

"चलो यहाँ से निकलें।" उसने मुझे 'वोदका' ख़त्म करते हुए देख कर कहा।

"अमृतसर जाना है?" तीसरे साथी ने पूछा।

"नहीं, अमृतसर तो मुझे रात को जाना है। पर यहाँ मुझे बैरे के फ़ार्म से डर लग रहा है। मैं स्वतंत्रता अनुभव नहीं करता।"

"मेरे घर चलिए।" मैंने सुझाव दिया।

बाहर बैरा फ़ार्म लिये खड़ा था, जो होटल में आने वाले प्रत्येक विदेशी को भरना पड़ता है। हर देश में ऐसे ही होता है। अपने काग़ज़ पास न होने की वजह से वह फ़ार्म पर लिखे समस्त प्रश्नों के उत्तर नहीं दे सकता था, परंतु यह काम समाप्त तो करना ही था। उसने अपना नाम लिख कर नीचे 'सोवियत दूतावास का कर्मचारी' लिख दिया। एक परेशानी दूर हुई।

हमारे घर का फाटक पार करते ही उसने वृक्षों की ओर संकेत कर के पूछा, "यह क्या है?"

"आम!"

"अच्छा! अजीब बात है, मैंने कभी आम का पेड़ ही नहीं देखा था। न ही मुझे यह ध्यान था कि मैंने अभी तक यह वृक्ष नहीं देखा।" उसने आम के पेड़ की ओर इस तरह देखा जैसे अभी उसका चित्र बनायेगा।

"इसमें तो फल भी लगे हैं।" उसने प्रसन्न हो कर कहा।

"हाँ, आजकल आम पके हुए हैं।"

"कब तोड़ोगे ?'

"पके हुए आम तो अभी तोड़े जा सकते हैं।" मैंने आमों की ओर देखते हुए कहा।

"कैसे ?" उसने ऊँचाई नापते हुए पूछा।

मैंने एक टहनी को पकड़ कर हिलाया। दो-तीन पके हुए आम नीचे आ गिरे। उसे यह खेल भला लग रहा था। उसने भाग कर आम उठा लिये।

"ये पके हुए हैं ?" उसने मुझे आम दिखाते हुए पूछा।

दशहरी आमों का रंग ऊपर से हरा था। मैंने देखा, आम पके हुए थे। उसने फिर ऊपर देखा। मीठे आमों के गुच्छे लटक रहे थे।

"यह कितना स्वादिष्ट है।" उसने आम चखते हुए कहा और पत्तों में से झाँक रहे आमों को देखता रहा। फिर मैंने दूसरे पेड़ों से आम तोड़े जो दूसरी क़िस्म के थे। वह उनका मुक़ाबला करता रहा। हमने उसे और फल भी दिखाये——संतरे, माल्टे, केले इत्यादि जो अभी छोटे-छोटे थे और अपनी टहनियों से चिपके हुए थे। वह बड़े कौतुक से यह सब-कुछ देख रहा था। पास ही मोतिया का पौधा था, जिसमें सुंदर खिली, अधखिली कलियाँ महक रही थीं। वह पौधे के पास ही बैठ गया और बहुत देर तक एकटक उसकी ओर देखता रहा।

फिर उसने मिर्चों की क्यारी की ओर इंगित करके पूछा, "यह क्या है ?"

"मिर्चें ! जो लाल हैं, वे पक चुकी हैं।"

"मैंने इतना शोख़ लाल रंग कभी नहीं देखा। आपके यहाँ के चित्रकार इसके चित्र नहीं बनाते ?"

"बनाते होंगे। मुझे मालूम नहीं।"

"यह अद्‌भुत रंग है।" उसने कहा। हमने भी ध्यानपूर्वक देखा। मिर्चों का रंग वास्तव में बहुत आकर्षक था।

मिर्चों की ओर देखते-देखते वह चुप हो गया। फिर हमने पाया कि वह मिर्चों की ओर भी ऐसे ही अनमने भाव से देख रहा था। उसका मन कहीं और था।

"क्या बात है ?" मैंने पूछा।

"एक बात है।"

"बताने वाली नहीं ?'

"नहीं, बताने वाली है। वास्तव में बताये बग़ैर रह ही नहीं सकता। मुझे याद आ रहा है. . .।"

"कोई लड़की होगी।"

"यह बूझना कोई मुश्किल नहीं होता। मेरी मँगेतर है।"

"रूस में है या दिल्ली में ?"

"रूस में।"

"इस समय क्यों याद आ गयी।

"क्यों याद आयी ? . . .आम देख कर; पकी हुई लाल मिर्चों का रंग देख कर; मोतिये

की कलियाँ देख कर। मेरा मन करता है कि वह मेरे साथ होती; मैं उसे भी यह सब-कुछ दिखाता। वह भी यही स्पंदन महसूस करती जो मैं कर रहा हूँ।"

"तुम यह सब उसे वहाँ नहीं दिखा सकते ?"

"नहीं, ये चीज़ें मैंने अपने देश में नहीं देखीं। बताने पर बात नहीं बनती। मेरा मन करता है कि ये स्पंदन वह भी मेरे साथ यहाँ महसूस करती।"

हम दोनों चुप रहे। उसके भावों को पूरी तरह अपना सकना हमारे लिए असंभव था। उसका चेहरा बता रहा था कि उसका सारा ध्यान अपने उसी भाव में केंद्रित है। वह खिंचा जा रहा था। भावुकता के आवेश में वह फिर बोला, "वस्तुतः मैं इस समय त्रिकोण के एक सिरे पर बैठा हूँ। दूसरे सिरे पर वह लड़की है और तीसरे सिरे पर ये सुंदर चीज़ें। ऐसा लगता है कि जब तक वह लड़की इन चीज़ों को देख नहीं लेगी, त्रिकोण पूरा नहीं होगा. . . ."

"तुम तो यहाँ भाषण देने लगे। अगर आख़िरी बस निकल गयी तो अमृतसर किस तरह जाओगे ? कागज़ तुम्हारे पास हैं नहीं।" मैंने उसे चेतावनी दी और हम जल्दी-जल्दी घर से निकल कर अड्डे की ओर चल पड़े।

—अनुवादक : रवींद्र कालिया

सृजनात्मक गद्य का त्रैमासिक प्रकाशन

विधा

जनवरी ६५ में प्रकाश्य प्रवेशांक का पूर्वाभास

विधा-विविधा : डायरी : मोहन राकेश। पत्र : कृष्णा सोबती। संस्मरण : इलाचन्द्र जोशी। रिपोर्ताज : फणीश्वरनाथ रेणु। ललित लेख : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। उपन्यास-अंश : अमृतलाल नागर।

कथा-विविधा : विदेशी कहानी : अलबर्टो मोराविया। भारतीय कहानी : सन्दीप चट्टोपाध्याय। वैज्ञानिक कहानी : डा० प्रभाकर माचवे। रहस्य-कथा : प्रकाश पण्डित। जादू-कहानी : अजित कृष्ण बसु।

कथा-विधा : लेखिकाओं की क़लम से : उषा प्रियम्वदा। रजनी पनिकर। ममता अग्रवाल। कौशल्या अश्क। मीरा महादेवन। शान्ता सिनहा।

कथा-विधा : कथाकारों की क़लम से : राजेन्द्र यादव। अमरकान्त। कमलेश्वर। रवीन्द्र कालिया। अवध नारायण सिंह। राजकमल चौधरी। पृथ्वीनाथ शास्त्री। राजेन्द्र अवस्थी।

धारावाहिक कथा-कृति : कालेज स्ट्रीट के पागल मसीहा : शरद देवड़ा का नवीनतम लघु उपन्यास – चार अंकों में समाप्य।

विशेष लेख : अमरीकी बीटनिक कथाकार : अमरीका से हिन्दी लेखिका सोमा वीरा द्वारा प्रस्तुत।

स्थायी मंच : पढ़ने की मेज़ से : कथा-साहित्य के संदर्भ में आज की हिंदी कहानी पर डा० देवीशंकर अवस्थी के महत्वपूर्ण विचार। कहानी जो रोज़ मर जाती है : ठाकुर प्रसाद सिंह। नयी कहानी की उपलब्धियाँ : व्यक्तित्व दुष्यंतकुमार द्वारा; कृतित्व धनंजय वर्मा द्वारा। कसौटी पर : स्तरीय पुस्तक-समीक्षाएँ।

पृष्ठ संख्या २०० **मूल्य २०० पैसे एक प्रति** **वार्षिक ८०० पैसे**

सम्पर्क-सूत्र : शरद देवड़ा ० विधा-कार्यालय, ० ४१ ए, ताराचन्द दत्त स्ट्रीट, ० कलकत्ता-१

टेलीफ़ोन : ३४-३३०८

विविधा

वासुदेवशरण अग्रवाल

वैदिक मधुविद्या

ऋग्वेद में मधुविद्या का विस्तार है। प्राण, अमृत या द्युलोक की संज्ञा मधु है।

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारत् (ऋ० ४।५८।१)

इसमें कहा गया है कि यह विश्व एक मधुमान ऊर्मि या लहर है जो आरंभिक-पारमेष्ठ्य सोम या ऋत समुद्र से उत्पन्न हुई है। उस सोम का सर्वोत्तम प्रतीक मधु है। ब्राह्मणों में कहा है कि यह लोक दधि का रूप है, अंतरिक्ष घृत का, और द्युलोक मधु का।

दधि हैवास्य लोकस्य रूपं घृतमन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य (शतपथ ७:५।१।३)

सीधी भाषा में कहा जाय तो दधि, घृत, मधु तीनों लोकों के ही प्रतीक हैं। जीवात्मा को मध्वद् सुपर्ण कहा गया है (ऋ० १।१६४।२२)। वहाँ मधु का अर्थ प्राण भी है।

प्राणो वै मधु। (शतपथ १४।१।३।३)

वस्तुतः प्राण ही सबसे बड़ी मिठास है।

रसो वै मधु। (शतपथ ६।४।३।२)

उसे ही अन्यत्र आनंद कहा है। यह सूक्ष्म रूप से सृष्टि में सर्वत्र विद्यमान है। यही जीवन का स्रोत है। इसका विस्तृत विवेचन छांदोग्य उपनिषद् ३।१–११ में है। वहाँ सूर्य को देवमधु कहा गया है

असौ वा आदित्यो देवमधु। (छा० उ० ३।१)

देवता अमर होते हैं। उन्हें भी अमृत आयु के लिए मधु या प्राण चाहिए। यह आदित्य उनके लिए शहद का छत्ता है। इसे सर्वदेवत्य कहा है। यह सूर्य भौतिक नहीं है, यह तो वस्तुतः ब्रह्म का ही ज्योतिर्मय प्रतीक है।

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः। (यजु० २।३।४८)

इस सूर्य की सूत्र-रेखाएँ कोटि-कोटि अन्न-सूत्र हैं। वे ही अपनी ज्योति और ताप से प्राण-

केंद्रों का तपन करते हुए उनमें मधु उत्पन्न करते हैं। इन मधु-विंदुओं का संचय पुष्पों में होता है। इस पुष्प को ही रेत कहते हैं। यह प्रकृति की मधुविद्या प्रत्येक स्त्री-पुरुष में समय पर मूर्त होती है। इसके लिए ऋतु या काल-चक्र का परिवर्तन चाहिए। जब यह ऋतुकाल व्यतीत हो जाता है, तो मधु का समय भी व्यतीत हो जाता है। जैसे शहद के छत्ते में मधु-कोष और मधु-नाड़ियाँ होती हैं, वैसे ही प्रत्येक प्राण-केंद्र में भी हैं। शहद के छत्ते के लिए अपूप शब्द है। वह मीठा पुआ है, और इस दृष्टि से प्राण-संयुक्त शरीर अपूप है; जिसके अधिष्ठाता प्राणापान रूप दो अश्विनी हैं। इंद्र को यह मधुविद्या विदित थी। इसके दो संकेत हैं। एक तो इंद्र सूर्य की ही संज्ञा है; दूसरे शतपथ ६।१।१।१ के अनुसार मध्य प्राण की संज्ञा इंद्र है। जब तक शरीर में मध्य प्राण की सत्ता है तब तक उसे रहने के लिए मधु चाहिए। इंद्र ने अश्विनीकुमारों को मधुविद्या का उपदेश दिया था।

प्राणापान ही इंद्र के दो अश्व या अश्विनी कुमार हैं। प्राणापान के द्वारा ही हम अमृत या मधु को चाहते हैं। प्राण का भी एक नाम 'दध्यङ अथर्वा' था जो मधुविद्या के रहस्य को जानता था। छांदोग्य के अनुसार त्रैविद्या और मधुविद्या का घनिष्ठ संबंध माना जाता था। वस्तुतः चारों वेदों के चतुर्भुजी स्वस्तिक की शक्ति से ही सूर्य की रश्मियाँ मधु तैयार करती हैं। यह एक रहस्यात्मक वाक्य है किंतु इसका अर्थ जान लेना चाहिए।

ऋक्, यजु, साम——ये तीन वेद गति और अग्नि के प्रतीक हैं। तीनों वेदों को ब्रह्म और अथर्व को सुब्रह्म कहा गया है (गोपथ १।१।१)। मधु के बिना न विश्व का जन्म हो सकता है न उसकी स्थिति। सब भोज्य पदार्थों में मधु विद्यमान है और सूर्य की रश्मियाँ ही उसे अपने ताप से उत्पन्न करती हैं। उस मधु को हम जिह्वा से चाट कर उसकी सूक्ष्म मिठास का अनुभव करते हैं। वही स्वाद है। ऋग्वेद में उसे मधुमान, रसवान और स्वादिष्ट सोम कहा है (ऋ० ६।४७।१)।

इस प्रकार मधुविद्या ऋग्वेद की ही एक विशिष्ट विद्या थी। सामवेद में इसका विकास हुआ और वहाँ से छांदोग्य उपनिषद् में आयी वस्तुतः छंदोविद्या ही मधुविद्या के रूप में प्रकट होती है।

——काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी - ५।

किशोरीदास वाजपेयी

आर्य-द्रविड़ संघर्ष की काल्पनिक आग

विदेशी तथा भारतीय सभी इतिहासकारों ने लिखा है कि अति प्राचीन काल में यह देश द्रविड़ों से आवाद था। वाद में आर्य जन यहाँ आये, जो आगे चल कर 'देव' कहलाये। ईरान के आर्य 'असुर' (अर्थात सुरा न पीने वाले) तथा लंका के आर्य 'राक्षस' (यानी रक्षा करने वाले) कहलाते थे। 'देव' शब्द का धातुमूलक अर्थ है (१) क्रीड़ा करने वाला और (२) विजिगीषु (विजयेच्छु)। जो क्रीड़ा-कल्लोल में मस्त, वही 'विजिगीषु'!

देवासुर संग्राम

उस समय आर्यों के दोनों वर्गों में दीर्घ काल तक संघर्ष-संग्राम चला, जो 'देवासुर-संग्राम' के नाम से प्रसिद्ध है। इस संग्राम में असुर तेज़ पड़ते थे; देव दुर्बल वर्णित हुए हैं। कहते हैं, असुरों के गुरु शुक्राचार्य को 'संजीवनी विद्या' आती थी, और वे मुर्दों में भी जान डाल देते थे। असुरों के तेज़ पड़ने का यह भी एक बड़ा कारण था। यह 'संजीवनी विद्या' और कुछ नहीं, प्रचंड राष्ट्रीय कविता ही थी। शुक्र को 'कवि' रूप में आज तक सब जानते हैं। शुक्र का एक पर्याय ही 'कवि' बन गया है। वाणी में बड़ी शक्ति है। कवि मुर्दों में भी जान डाल सकता है और चिड़ियों को बाज़ बना सकता है। गुरु गोविंद सिंह भी कवि थे और उन्होंने अपनी कविता की शक्ति को समझ कर प्रतिज्ञा की थी—**'जो चिड़ियों को बाज बनाऊँ, तो गुरु गोविंद सिंह कहाऊँ।'** उन्होंने वैसा किया। ग़रीब और निरीह किसानों को 'सिंह' बना दिया। छत्रपति शिवाजी को कविवर भूषण से बहुत बल मिला था। परंतु महाराणा प्रताप सिंह को कोई वैसा कवि प्राप्त न था। इसी तरह देवासुर-संग्राम के अवसर पर देवों को वैसा कोई कवि प्राप्त न था।

ख़ैर, वह संग्राम संसार का प्रथम महासंग्राम है। वेदों में उस संग्राम की चर्चा है और पुराणों में भी है। परंतु देव-द्रविड़ संग्राम में क्या प्रमाण है?

न वेदों में ऐसी कोई चर्चा है और न प्राचीनतम द्रविड़ (तमिल) साहित्य में ही! वेद में 'द्रविड़' या 'तमिल' शब्द ही नहीं आया है! परंतु उस समय द्रविड़ जन दक्षिण में समुद्र-तट पर आवाद थे और ख़ूब समृद्ध थे। वे समुद्री व्यापारी थे; दूर-दूर तक आयात-निर्यात करते थे। लक्ष्मी सदा समुद्र से ही पैदा होती है। अति समृद्धि के कारण ही आगे चल कर उस प्रदेश को आर्य जन 'द्रविण प्रदेश' कहने लगे—लक्ष्मी की भूमि। यह 'द्रविण' शब्द ही आगे चल कर 'द्रविड़' हो गया; ऐसा जान पड़ता है। परंतु यह बहुत आगे की वात है। वैदिक युग में उन समुद्री व्यापारियों को देव लोग 'निषाद' कहते थे; क्योंकि उनके जहाज़ संसार भर में प्रसिद्ध थे।

देव और द्रविड़ 'सह-अस्तित्व' के सिद्धांत पर मज़े से रहते थे। देवों में वर्ण-व्यवस्था थी; द्रविड़ों में नहीं। द्रविड़ सब 'एक' थे और हैं। ब्राह्मण कुछ इधर से उधर गये, जिनके अगुआ अगस्त्य ऋषि थे। दुर्लंध्य विंध्याटवी पार कर के इधर से उधर पहुँच कर बस जाना जीवट का कार्य था। अगस्त्य ने तमिल भाषा का प्रथम व्याकरण बनाया और चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा दी। दक्षिण में आयुर्वेद का 'अगस्त्य संप्रदाय' आज भी प्रसिद्ध है। उधर की समृद्धि इधर आती थी। यानी परस्पर सहयोग था।

निषादों का सहयोग माँगा गया

जब असुरों से बहुत परेशानी हुई, तब एक ऋषि ने महासंगठन की बात सोची और कहा कि हम 'पंचजन' मिल कर असुरों को परास्त करें। 'पंचजनाः' शब्द का ऋग्वेद में अस्तित्व उसी समय की हमारी राष्ट्रीय एकता का सूचक है। न देव; न निषाद; न चातुर्वर्ण्य के पृथक अवयव; सब मिल कर 'पंचजनाः'। इस 'पंचजनाः' शब्द की व्याख्या में यास्क ने ('निरुक्त' में) लिखा है—**'चत्वारो वर्णाः, पंचयो निषादः'** यानी आर्यों (या देवों) के चारों वर्ण और (पाँचवें) निषाद; मिल कर 'पंचजनाः'।

यह 'निषाद' शब्द चातुर्वर्ण्य के अंतर्गत देव-निषादों के लिए नहीं है। उनका समावेश तो 'चातुर्वर्ण्य' में हो ही गया ! दूसरे, इन निषादों की ऐसी स्थिति भी न थी कि उस तरह विशेष रूप से (पृथक) अस्तित्व माना जाता।

स्पष्ट है कि असुरों के आक्रमण से देवों की ही तरह द्रविड़ों को भी ख़तरा था, और इसीलिए मिल कर—एक हो कर—जूझने का आह्वान ! नहले पर दहला और दहले की जान बेगम-बादशाह के हाथ में। बादशाह को एक ही पत्ता मारता है, जिसे 'एका' कहते हैं। (भूल से 'एका' को 'इक्का' कर दिया है लोगों ने)।

निश्चय ही 'पंचजनाः' विजयी हुए—'भारतीय जन' विजयी हुए और तभी से 'पंच' को 'परमेश्वर' कहने लगे। 'पंच परमेश्वर' सब कुछ कर सकता है। पंचजनों की परिषद 'पंचायत'। यदि देव-द्रविड़ संघर्ष-संग्राम कभी हुआ होता, तो उस महासमर में ऋषि द्रविड़ों को साथ लेने को कैसे राज़ी होता ?

वेद के 'बेकनाट' और 'पणि' शब्द

इतिहासकारों ने 'बेकनाट' और 'पणि' शब्दों का अर्थ द्रविड़परक किया है, जो ग़लत है। यास्क ने लिखा है—**'बेकनाटाः कुसीदजीविनः'** सूदख़ोर **'बेकनाट'** हैं और 'पणि' हैं व्यापार करने वाले। 'पणि' शब्द ही आगे 'वणिक्' हो गया; यह भी यास्क ने लिखा है। एक ऋचा में ऋषि इंद्र (राजा) से कहता है कि इन बेकनाटों से और पणियों से हमारी रक्षा करो। ऐसा जान पड़ता है कि आज की ही तरह उस समय भी पणियों ('पणन', यानी क्रय-विक्रय करने वाले वर्ग) से जनता परेशान थी और इसीलिए इंद्र से वैसी प्रार्थना की गयी।

इतिहासकारों ने 'बेकनाट' तथा 'पणि' शब्दों का अर्थ 'द्रविड़' कर के यह समझाया है

कि 'द्रविड़' लोग देवों (यानी आर्यों) पर हमला करते थे और उनसे त्राण पाने के लिए इंद्र से प्रार्थना की गयी है ! क्या आर्यों में 'बेकनाट' (सूदख़ोर) और 'पणि' (क्रय-विक्रय करने वाले) थे ही नहीं ? तब फिर इन शब्दों का 'द्रविड़' अर्थ कैसे कर लिया गया ?

'शिश्नदेवाः' द्रविड़ नहीं हैं

ऋग्वेद में आये हुए 'शिश्नदेवाः' पद को भी इन इतिहासकारों ने द्रविड़परक बता दिया है ! ऋषि कहता है कि 'शिश्नदेवाः' हमारे यज्ञ को भ्रष्ट न करने पायें। इतिहासकारों ने 'शिश्न-देवाः' का अर्थ 'लिंगपूजकाः' कर के लिखा है कि 'शिवलिंग' की उपासना-पूजा द्रविड़ लोग करते थे। इधर के लोगों ने उन्हीं से सीखी। यह बतला कर वे (इतिहासकार) कहते हैं कि **'द्रविड़ लोग दक्षिण से आ कर इधर के (आर्यों के) यज्ञों को विध्वंस करते थे और उन्हीं के उपद्रवों से रक्षा करने की प्रार्थना ऋषि ने की है।'** मतलब यह कि आर्यों से परास्त हो जाने पर द्रविड़ लोग 'गुरिल्ला-युद्ध' करने लगे थे !

इन इतिहासकारों को कैसे समझाया जाय कि 'शिवलिंग' के लिए केवल 'लिंग' शब्द तो व्यवहार में आता है—आया है; परंतु उसके लिए 'शिश्न' शब्द का प्रयोग कोई नहीं करता; न कभी किसी ने किया ही है ! यदि ये इतिहासकार भूल से कहीं किसी के सामने शिवलिंग को 'शिश्न' कह दें, तो मार पड़ने लगे !

वस्तुतः उस मंत्र में 'शिश्नदेवाः' का अर्थ है—**'शिश्नपरायणाः देवाः।'** ऐसे (विलासी) देव यज्ञ में सम्मिलित हों, तो भ्रष्टता आयगी ही—यज्ञ भ्रष्ट होगा ही ! इसीलिए उन्हें यज्ञ से दूर रहने-रखने की बात है। एक तो आर्य जन 'देव' (क्रीड़ा-परायण) हो ही गये थे, फिर उनसे भी आगे 'शिश्नदेवाः'; नीम-चढ़ा करेला ! देवों में कुछ दूरदर्शी भी थे, जो 'ऋषि' कहलाते थे। ये लोग 'यज्ञ' का आयोजन करते थे। 'यज्' धातु से 'यज्ञ', 'याग' शब्द बने हैं, जिनका अर्थ है किसी विशेष उद्देश्य से इकट्ठे हो कर विचार-विमर्श करना—**'यज्ञः संगतिकरणम्'।** आज-कल 'सम्मेलन' जैसे शब्द उस अर्थ में चलते हैं। वैसे यज्ञों में 'शिश्नदेवाः' पहुँच कर गड़बड़ ही करते होंगे।

आगे चल कर 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग एक दूसरे अर्थ में होने लगा—धधकती आग में मेध्य-अमेध्य चीजें फेंक कर जलाना और ख़ूब सोमपान तथा सुरापान करना। राजपुरोहितों ने ग्रंथ लिखे, जिनमें ऐसे यज्ञों का विधि-विधान विस्तार से है। उसी का फल आगे सामने आया कि शक, हूण, मुसलमान और अंग्रेज़ आदि न जाने कितने जन हमें लातें लगाते देश में घुस आये और हमारे सिर पर बैठ कर राज करते रहे !

शब्दों का अर्थ बराबर बदलता रहा है। गंगा और यमुना का 'संगतिकरण' (संगम) 'प्रयाग'। साधारण संगम यह नहीं है; इसलिए 'प्र' उपसर्ग साथ में—प्रकृष्ट संगम। आगे चल कर 'याग' का 'संगतिकरण' अर्थ उड़ गया और 'प्रयाग' का अर्थ यह किया जाने लगा—जहाँ (प्र) बड़े-बड़े 'याग' हुए हों ! बड़े-बड़े याग तो बड़ी राजधानियों में होते थे; 'प्रयाग' वैसी जगह नहीं। अयोध्या आदि में वैसे बड़े यागों का उल्लेख है।

'प्रयाग' का असली अर्थ जब उड़ गया, तब उसके लिए नया शब्द 'संगम' चला। वस्तुतः 'प्रयाग' और 'संगम' एकार्थक शब्द हैं।

'प्रयाग' की ही तरह 'त्रिवेणी' शब्द भी ग़लत अर्थ में चला। 'वेणी' का अर्थ 'नदी' समझा जाने लगा और तीन नदियों का संगम 'त्रिवेणी' समझा जाने लाग। वाल्मीकि और कालिदास ने केवल दो नदियों का संगम बतलाया है—गंगा और यमुना का मिलन। दो नदियों के मेल से तीन वेणियाँ (प्रवाह)! एक प्रवाह गंगा का, दूसरा यमुना का और तीसरा दोनों का सम्मिलित। यों तीन वेणियों का समाहार 'त्रिवेणी'। 'वेणी' का 'नदी' अर्थ समझा जाने लगा, तब सोचा गया कि तीसरी नदी कहाँ गयी! सुन रखा था कि 'सरस्वती' नदी लुप्त हो गयी है; इसलिए कह चले कि तीसरी नदी 'सरस्वती' लुप्त हो गयी है। बेचारी 'सरस्वती' कभी इधर आयी ही नहीं; वह तो दिल्ली से उधर ही रही और लुप्त हो गयी। पर 'लुप्त हो गयी' ले लिया और 'त्रिवेणी' से उसे जोड़ दिया।

वर्ण-व्यवस्था में विकृति

आर्यों में वर्ण-व्यवस्था थी; जब कि अन्यत्र वैसा न था। जो तलवार चमका दे, वही शासन भी करता था; यह बात सर्वत्र थी। आर्यों ने कार्य-विभाजन किया। शत्रु से लोहा लेने का काम क्षत्रिय का—भुजबल का—और प्रजा का शिक्षण-शासन करना दूसरों का काम। इन्हें 'ब्राह्मण' कहते थे। 'ब्रह्म' ज्ञान और 'ब्राह्मण'—विद्वान नागरिक। धन की ओर जाने वाले 'पणि' (वणिक) और शेष सब 'शूद्र'। उस समय 'शूद्र' गिरे हुए नहीं समझे जाते थे। आर्यों के 'निषाद' ही यातायात तथा आयात-निर्यात जलयानों से करते थे। दूसरा कोई यह काम न करता था—न कर सकता था। किसी-किसी निषाद के यहाँ हज़ारों जलयान थे। ऐसे ही एक निषादराज ने वनयात्रा के समय राम जी की सेवा की थी।

परंतु भारत के आर्यों की वर्ण-व्यवस्था शिथिल पड़ गयी थी। जिनका काम यद्ध करना था, वे ही शासन भी करने लगे। एक तरह का फ़ौजी शासन! इस प्रकार पुश्तैनी शासक बन बैठे। कुछ ब्राह्मणों को 'मंत्री' और 'पुरोहित' बना कर गुलाम बना लिया गया और कुछ को 'वेद' पढ़ने-पढ़ाने का काम सौंप कर छुट्टी ली।

जब दिमाग़ का काम बाहुओं ने सम्हाल लिया, तब 'बेकनाट' बढ़ेंगे ही। शासक मदांध हो गये और बार-बार हारे। तब 'पंचजनाः' की सृष्टि हुई। परंतु वह फ़ौजी शासन तो जम ही चुका था। 'बेकनाट पणि' बेनकेल होते गये। बहुत गड़बड़ी फैली। यह सब प्रसंगतः उल्लेख हुआ। मुख्य रूप से कहना यह है कि देव-द्रविड़-संघर्ष (या समर) की कहानी मनगढ़ंत है। मुझे कोई प्रमाण नहीं मिला, जिससे इतिहासकारों का वह कथन प्रमाणित हो।

'माध्यम' के द्वारा मैं विद्वानों को, इस विषय में, विचार करने के लिए आमंत्रित करता हूँ। आर्य यहाँ के मूल निवासी हैं, या द्रविड़ और आर्य कहीं से आये, या द्रविड़; ये बातें आगे की हैं और प्रसंगतः इनकी भी चर्चा हो ही जायगी। परंतु पहले इस विषय पर चर्चा हो लेनी चाहिए

कि आर्यों (देवों) का द्रविड़ों के साथ कभी वह संघर्ष हुआ भी कि नहीं, जिसे इतिहासकारों ने 'युद्ध' का नाम दिया है।

यह ठीक है कि आर्यों से द्रविड़ों का मूल भिन्न है; परंतु भिन्न होते हुए भी ये एक हो गये। रामानुज ब्राह्मण थे, जिन्होंने द्रविड़ 'आलवार' संतों का मत ले कर संस्कृत के द्वारा संपूर्ण भारत में फैलाया।

इतिहासकारों की उस कल्पित आग से आज सचमुच लोग झुलस रहे हैं। उसका इलाज है सही स्थिति प्रकट करना।

—कनखल (हरिद्वार)।

रामनारायण उपाध्याय

मेले जहाँ आदमी के मन का मैल धुल जाता है

जेठ और आषाढ़ की दुपहरी में तपने के बाद वर्षा की बूँदों का स्पर्श पा कर जिस तरह धरती की गोद में पड़े अनाज के दाने अंकुरित हो कर लहलहाने के लिए मचल उठते हैं, उसी तरह अपने-अपने घरों-गाँवों में घिरे मनुष्य का मन, मेले-त्योहारों की तिथि पा कर वहाँ जाने के लिए ललक उठता है। कोई अपनी टूटी गाड़ी में फटी सतरंजी बिछाता है, कोई अपनी बूढ़ी घोड़ी को लाल लगाम से सजाता है, कोई इसकी गाड़ी और उसके बैल माँगता है, तो कोई चार-छः मित्रों की टोली बना कर दूर के पक्के रास्तों का मोह छोड़ टेढ़ी-तिरछी पगडंडी पर अपने मज़बूत क़दम जमाते हुए बढ़ता ही आता है—आगे, और आगे की ओर। मेले-त्योहारों में यदि स्त्री-बच्चों का साथ न हो तो ऐसा लगता है जैसे बिना फूल के वृक्ष हों। छोटे-छोटे बच्चे जब दो पैसे के गुब्बारे को हवा में उड़ाते हैं तब मनुष्य का मन भी दुनियादारी के बंधनों को तोड़ कर आकाश के ओर-छोर नापने को ललक उठता है। छोटे बच्चे जब बड़े-बूढ़ों की अँगुली पकड़ कर मेले की सैर को निकलते हैं तब ऐसा लगता है मानो बड़प्पन स्वयं बचपन की अँगुली पकड़ कर गौरवान्वित हो उठा है। मेले-ठेले की भीड़ में जब किसी बच्चे की अँगुली छूट जाती है तो बड़प्पन स्वयं बचपन की अँगुली को पकड़ने के लिए व्यग्र हो उठता है। वह क्षण कितना सुखदायी होता है जब बच्चे

को खोजने के लिए उठी हुई आँखें, अपनी पत्नी की आँखों से जा टकराती हैं और जब दोनों की पलकें झुकती हैं तब अपने बीच में नन्हें बच्चे को पा कर हर एक का मन एक दूसरे से पहले उसे उठा लेने को मचल उठता है। यात्रियों की टोली जब दल के दल बना कर एक दूकान से दूसरी दूकान के सामने से गुज़रती है तब समझ में नहीं आता है कि वे मेला देखने आये हैं या मेला स्वयं उन्हें देख रहा है।

मेले में ख़रीदना गौण होता है, देखना प्रमुख। यहाँ चीज़ों की ख़रीद-फ़रोख़्त नहीं होती वरन मनुष्य के मन का मैल धुल जाता है। जहाँ ख़रीद-फ़रोख़्त होती है वहाँ बाज़ार हो सकता है, मेला नहीं। मेला तो बिना किसी उद्देश्य के सैर पर निकलने की एक जगह है। दुनिया में भाव-ताव तो बहुत किये, यहाँ तो बिना भाव के ठगाने में सुख का अनुभव होता है। मनुष्य यहाँ जेब में जितने भी पैसे ले कर आता है, उसमें से कुछ तो वह खेल-खिलौनों में ख़र्च कर देता है, कुछ से खाना-पीना होता है और शेष नाटक-तमाशों में फूँक दिये जाते हैं। कहीं कोई परिचित मिल गया तो राह चलते ही रामराम कर ली जाती है, कोई घनिष्ठ मित्र मिल गया तो किसी होटल में बैठ कर चाय-नाश्ते के साथ मन की दो बातें कर ली जाती हैं और यदि राह चलते किसी से परिचय हो गया तो दूर के रिश्तेदारों तक ख़ुश-ख़बरी के समाचार पहुँचा दिये जाते हैं। यहाँ एक आदमी से जब दूसरा मिलता है तो कामकाज की नहीं, हँसी-मज़ाक की गप्प हाँकता है। बड़ों का बड़प्पन भी यहाँ चक्करदार झूले पर झूलता नज़र आता है और गद्दी से नीचे न उतरने वाले भी यहाँ नंगी धरती पर दरी बिछा कर साग-पूड़ी खाने में सुख का अनुभव करते हैं। यहाँ रास्ता पूछ कर घूमने नहीं निकला जाता वरन आदमी जिस ओर भी निकल जाता है, वही उसके घूमने का ठौर बन जाता है। हवा में उड़ने वाले ख़ाली पन्नों की तरह दिन भर इधर से उधर भटकने के बाद साँझ पड़े यात्री का मन अनायास ही अपने पड़ाव की ओर खिंच आता है और तब कोई अपनी गाड़ी के नीचे बिस्तर लगा कर, तो कोई खुले मैदान में अपनी चादर तान कर तब तक सोता है जब तक दूसरे दिन सबेरे सारंगी पर गोपीचंद भरथरी की गाथा गाने वाला नाथ उसे उठा कर उसमें अपने घर लौटने की याद न जगा दे।

—साहित्य कुटीर,
ब्राह्मणपुरी, खंडवा (म० प्र०।

गोष्ठी प्रसंग

हिंदी फ़िल्मों में बौद्धिक चेतना का समावेश

चेतन आनंद के यहाँ उस दिन कुल तीन लोग थे—चेतन ख़ुद, अन्हसिर्क अमर और भारती—डॉ० धर्मवीर भारती। शैक के बाहर गरजते-बरसते पानी की बौछारें समुद्र की लहरों की आवाज़ से मेल-मुलाक़ात कर रही थीं, और अंदर इन तीनों के दिल-दिमाग़ आपस में उलझ रहे थे—हिंदी फ़िल्मों में बौद्धिक चेतना का समावेश आख़िर किस दिन शुरू होगा? आज उसकी राह के रोड़े क्या हैं और कल सचमुच लोग अगर उस दिशा में सचेष्ट और क्रियाशील हों, तो उन्हें कितनी सफलता मिल पायगी भला?

चेतन ने भारती से कहा था—व्यावहारिक संबंध चाहे न हो दोनों के बीच, लेकिन मैं समझता हूँ कि फ़िल्मों के इस पतन में उन पत्र-पत्रिकाओं का भी ख़ासा बड़ा योगदान है जो समझती भले ही अपने को फ़िल्म संसार की पथप्रदर्शिका हों, लेकिन वस्तुतः जो उस उद्योग के हाथों एक खिलौना बन कर ही रह गयी हैं। उन मैगज़ीनों और अख़बारों को देखते हैं न आप, जो हज़ारों की संख्या में छपते हैं, लाखों पाठक-पाठिकाओं द्वारा पढ़े जाते हैं और फिर करोड़ों का दिमाग़ दूषित होता है उनसे? . . .और ऐसी हालत में क्या सचमुच आप यह समझते हैं कि उनका सुधार हुए बिना हिंदी फ़िल्मों का सुधार संभव है?

भारती से यह सीधा सवाल था चेतन का—तीर की तरह सीधा। क्योंकि शुरू में इन पत्र-पत्रिकाओं का चाहे जितना बड़ा उद्देश्य रहता हो—और अक्सर ऐसा देखा गया है कि जब भी कोई नयी पत्रिका निकली, प्रारंभ में हमेशा उसने अपने को संयत और सुस्थिर रखने का प्रयत्न किया—लेकिन महीना छः महीना बीतते-बीतते उसका संपादक भी फ़िल्मी चक्रव्यूह में इस तरह फँस कर रह जाता है कि फिर चाहने पर भी वहाँ से उसकी मुक्ति संभव नहीं हो पाती। इसमें दोष किसका है आख़िर—फ़िल्म जगत का, या उन पत्रकारों का जो अपने को फ़िल्मी दुनिया का मसीहा समझ कर पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं?

भारती के लिए, इस सवाल का, उस तेज़ी के साथ जवाब देना संभव नहीं था जिस तेज़ी के साथ वह उनके सामने रखा गया था। यों भी देर में ही उत्तेजित होते हैं वे—और इस अवसर पर तो किंचित संयम की अपेक्षा भी थी उन्हें। इसी से उन्होंने चेतन की इस बात के पहले चरण को स्वीकार भी कर लिया। बोले—मैं स्वयं भी, कई बार, इस कूटनीति का शिकार होते-होते बच गया हूँ। इसी से, शायद, इस चक्रव्यूह से मेरा ख़ासा परिचय भी है। लेकिन सवाल तो यह है कि उससे मुक्ति कैसे मिल सकेगी हमें? पत्रकारों, संपादकों की ईमानदारी ही पर्याप्त होगी क्या उस दिशा में क़दम बढ़ाने के लिए?

हो सकता है, ऐसा हो पाये किसी दिन। और जिस दिन ऐसा हुआ, वह निश्चय ही याद रखने वाला दिन होगा। हिंदी फ़िल्में और फ़िल्मों के हिंदुस्तानी पत्र, दोनों समान स्तर पर खड़े हैं आज। फीता ले कर नाप डालिए, कहीं किसी भी स्थल पर किंचित फ़रक नहीं दिख सकेगा आपको। पूरी तरह पलने-पनपने के पहले ही, लगता है, भारतीय फ़िल्मों की मानसिक-बौद्धिक चेतना का गला घोंट दिया गया हो जैसे। और फ़िल्मी पत्रों में तो उस चेतना का समावेश भी कभी हो पाया हो, ऐसा नहीं मालूम होता।

--इसका मात्र कारण यह है कि फ़िल्मी-पत्रकारिता का समारंभ जिन व्यक्तियों के द्वारा संपन्न हुआ था, वे ख़ुद अपने विश्वास के प्रति ईमानदार नहीं थे।--आँखों को हल्का सा बंद कर, अपनी कुर्सी पर लेटते हुए चेतन ने कहा था--इसी कारण आज भी फ़िल्मी-पत्रकारिता के नाम से जो बौनी-कुबड़ी चीज़ हमें दिखलायी पड़ती है, उसमें जान नहीं है--लगता है जैसे उसका शव ही भूत का रूप धारण कर आगे बढ़ता चला जा रहा हो। और जब तक ऐसी हालत है, हमारी फ़िल्मों का किंचित भी मार्गदर्शन नहीं हो सकता।

चेतन की इस धारणा में बल था. इसी से भारती जी ने उसे अपनी सहमति प्रदान की। बोले--आप की बात ग़लत नहीं, और जहाँ तक मेरा अपना सवाल है, मैंने हमेशा यह कोशिश की है कि फ़िल्मी-पत्रकारिता को एक जागरूक दिशागति मिल सके। . . .

--वैसे विदेशी पत्रकारिता के साथ यह बात लागू क्यों नहीं हो पाती ?--बीच में ही बात काटते हुए अन्हसिर्क अमर पूछ बैठे थे--वहाँ भी रद्दी फ़िल्मों का निर्माण होता है, वहाँ भी अधिकांश फ़िल्म-कथानकों के पार्श्व में स्टंटबाज़ी और मारधाड़ का बाहुल्य रहता है। लेकिन तब भी वहाँ की पत्र-पत्रिकाएँ अपने को दूषित होने से बचा पायी हैं और वहाँ के समीक्षक फ़िल्मों की झूठी तारीफ़ कर दर्शकों की जेब कटवाने का धंधा नहीं करते।

भारती जी बोले--इसकी वजह शायद यह है कि सिनेमा के पहले स्टेज की परंपरा उन देशों में पूरी तरह विकसित थी, और फ़िल्मी-पत्रकारिता के क्षेत्र में वहाँ जो लोग आये भी वे स्टेज के माध्यम से अपने आदर्श व्यवहार में पहले ही पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर चुके थे। उनकी उस गहरी नींव के कारण उनकी ईमानदारी भी अपनी जगह पर स्थिर रह सकी, और बाद में जिस दूषित वातावरण से उनका साक्षात्कार होना था, उसके प्रभाव से वे बच सके।

चेतन भारती जी की इस बात से सहमत थे। हिंदी फ़िल्म-संसार का सबसे बड़ा दुर्भाग्य ही यह है शायद कि देश की अनेकानेक दूसरी विधाओं की तरह उसे भी पक्की नींव नहीं मिल पायी कभी, और हमेशा बालू की ज़मीनं पर उसके महल बनते-बिगड़ते रहे। यही उससे संबंधित सबसे दुःखद प्रसंग भी है--और यही शायद एक अकेली आशा-किरण भी, क्योंकि जिस घर की नींव ही नहीं बन पायी हो अब तक, उसका निर्माण तो किसी भी तरह किया जा सकता है !

--ऐसी हालत में कम से कम यह उम्मीद की जा सकती है कि लोग चाहें तो स्थिति में सुधार किया जा सकता है।--भारती ने कहा।

--बेशक !--चेतन बोले थे--सुधार ही नहीं, पूरी तरह से रूप-परिवर्तन हो सकता है उसका। लेकिन परेशानी तो यह है कि फ़िल्मों की तरह फ़िल्मी-पत्रकारिता में भी ऊपर से नीचे

तक ऐसे ही लोगों का बाहुल्य है जो अपने काम का ककहरा भी नहीं जानते, और इस तरह के लोग अपने धंधे के अगुआ बन कर उस क्षेत्र के नवागंतुकों का मार्गदर्शन करने की कोशिश जब करेंगे—आप ही सोचिए, क्या स्थिति हो जायगी तब ?

सबने हामी भरी थी। अन्हसिर्क अमर ने कहा था इस पर——दूसरी चीज़ों की तो बात ही जाने दीजिए, फ़िल्म-समीक्षाओं का क्या हाल है आजकल ? कोई भी पत्र उठा कर पलट जाइए—अधकचरी क़लम, अधकचरे मन-मस्तिष्क की ही उपज दिखायी देगी उनके माध्यम से आपको। टेकनीक, कलात्मक विकास-विस्तार, अंतर्बाह्य भावों के उतार-चढ़ाव का प्रारंभिक ज्ञान भी जिस समीक्षक को नहीं है, वह किसी कृति के संबंध में कितनी ईमानदारी के साथ अपने मंतव्य रख सकेगा भला ? आज की अधिकांश फ़िल्म-समीक्षाओं में यह अधकचरापन नहीं होता क्या ?

तभी भारती ने अपने कुछ अनुभव सुनाये। बोले——पत्रकारिता जब मैंने शुरू ही की थी, तब की बात है। अन्यान्य पत्रों की तरह मेरे पत्र में भी एक फ़िल्म-स्तंभ था——और नियमित रूप से उसका प्रकाशन भी होता था। संयोग की बात कि शुरू में उसके अंतर्गत जो भी फ़िल्म-समीक्षाएँ गयीं, उनसे संबंधित फ़िल्मों को मैं ख़ुद नहीं देख पाया था। इसीलिए उसके झूठ-सच की परीक्षा भी मेरे लिए मुमकिन नहीं हो सकी। बाद में, एक दिन अचानक ही मेरी मेज़ पर जिस फ़िल्म की समीक्षा रखी मिली, उस फ़िल्म को मैं बीती रात ही देख चुका था। कूड़ा फ़िल्म, निरर्थक कथावस्तु, निर्जीव अभिनय——लेकिन समीक्षा पढ़ कर लगा जैसे उस दशक की सर्वश्रेष्ठ फ़िल्म हो वह। प्रेस में कापी जाने का अंतिम दिन होने के बावजूद उस समीक्षा को मैंने रोक लिया——लेकिन आश्चर्य होगा आपको यह सुन कर कि पंद्रह मिनट बाद ही अपने कार्यालय-व्यवस्थापक का टेलिफ़ोन मुझे मिला जिसमें आग्रहपूर्वक उन्होंने मुझसे यह निवेदन किया था कि उस समीक्षा को मैं छप जाने दूँ। यह स्थिति मेरे लिए बिलकुल अनजानी थी, लेकिन तब भी अपने मंतव्य पर मैं दृढ़ रहा, और वह समीक्षा छापे के अक्षरों में नहीं आ पायी। उसके बाद जहाँ जहाँ भी मैं गया, इस बात का सदा ध्यान रखा कि कम से कम मेरे पत्र में इस तरह की आधारभूत ईमानदारी का हनन न हो।

फ़िल्म का नाम दुहराने की ज़रूरत नहीं थी, इसीलिए अन्हसिर्क अमर ने कहा—उसके निर्माता ने तो उसके विज्ञापन पर पानी की तरह रुपया बहाया था। शायद ही कोई अख़बार बचा हो ऐसा, जिसने हिंदुस्तान की सर्वश्रेष्ठ फ़िल्म होने का फ़तवा न दिया हो उसे——और पढ़ने वालों पर उसका भरपूर असर भी हुआ। शुरू में हफ़्तों सिनेमा हाल ख़ाली रखने के बावजूद बाद में जब वह चलना शुरू हुई तो वह चली ही नहीं, पूरी तरह दौड़ी। और उसका प्रत्यक्ष फल यह हुआ कि करोड़ों रुपये की धनराशि उसके निर्माता की तिजोरियों में बग़ैर किसी रुकावट के पहुँच गयी। और आज वह निर्माता उससे भी ज़्यादा कूड़ा, उससे भी ज़्यादा निरर्थक और उससे भी ज़्यादा निर्जीव फ़िल्म बनाने की ज़ोरदार तैयारियाँ कर रहा है।

चेतन जी बोले——इस दुर्वस्था का मूलभूत कारण तो इसी जगह पर छिपा हुआ है। प्रचार के माध्यम से रद्दी से रद्दी चीज़ भी आज हवा में राकेट की तरह उड़ायी जा सकती है, और लोग उसे विश्व का महान आविष्कार मानेंगे। अच्छी फ़िल्मों के ठीक तरह न पनपने के संदर्भ में भी यही कारण निहित है——क्योंकि जो आदमी अच्छी फ़िल्में बनाने की कोशिश करता है वह ख़ुद भी

मूलतः अच्छा होता है, और इसीलिए दूसरे लोगों की मानसिक-बौद्धिक ईमानदारी के प्रति उसकी आस्था भी होती है। उस आस्था के रहते हुए निरर्थक प्रचार-भावना में उसका विश्वास नहीं जम पाता—और फलतः उसकी रीढ़ ही टूट कर रह जाती है फ़िल्मों के इस संसार में।

—लेकिन इस भ्रमपूर्ण वस्तुस्थिति से बचने के रास्ते क्या हैं आख़िर?—अन्हसिर्क अमर ने प्रश्न किया।

इस बार भारती जी बोले—यह तभी संभव हो सकता है जब फ़िल्म और पत्रकारिता दोनों क्षेत्रों के मूर्द्धन्य कलाकृती एकमत हो कर यह निर्णय करें कि उद्योग को सही रास्ता दिखाने की दिशा में दोनों की समान ज़िम्मेदारियाँ हैं, और एक साथ मिल कर ही उन्हें उस दूषित मनोवृत्ति के ख़िलाफ़ जेहाद बोलना है जो ख़तरे की घंटी बजाये बिना ही अपने काम में चेष्टारत है।

—चेष्टारत है, और ईमानदारी के साथ!—चेतन जी ने कहा—इन रद्दी फ़िल्मों के निर्माता और किसी चीज़ के प्रति भले ही ईमानदार न हों, लेकिन अपने काम के प्रति ज़रूर ईमानदार रहे हैं वे हमेशा से। वे रद्दी चीज़ें बनाते हैं, और ताल ठोक कर इस बात की घोषणा करते हैं कि उनका उद्देश्य मात्र पैसा बनाना है—और पैसा प्रचार के माध्यम से आता है। . . .वैसे दुख तब होता है जब बौद्धिक रूप से जाग्रत निर्माता-निर्देशक भी पैसों की इस चकाचौंध से मोहित हो कर अपनी अच्छी-भली कहानियों में फ़िल्मी सामग्री का समावेश करना शुरू कर देते हैं—और आप लोग उस बात को आसानी से सह भी लेते हैं, शायद इसलिए कि भूतकाल में—आज से एक दो-तीन-चार साल पहले, उसने सचमुच ईमानदारी के साथ अपनी पहली फ़िल्म के रूप में कोई नयी चीज़ देने का प्रयत्न किया था। भूतकाल की उस पूँजी को आख़िर आज के दिन उसे भुनाने का क्या अधिकार है—आज, जब वह ख़ुद उस पूँजी के प्रति ग़द्दार हो गया है!

भारती ने स्वयं इस बात पर चिंता व्यक्त की थी। उन्होंने कहा था—अच्छा हो, अगर ख़ुद फ़िल्म-संसार से संबंधित बौद्धिक तबक़े के लोग इस दिशा में आगे बढ़ें—खुल कर, स्पष्ट रूप से, अपने और अपने साथियों के कार्यकलापों की समीक्षा-परीक्षा करने में वे हिचकें नहीं। फ़िल्मी 'टेकनीक' से सर्वथा अनभिज्ञ संपादक वर्ग तैयार माल की ठोकपीट जरूर कर सकता है—लेकिन कच्चे माल की जाँच-पड़ताल तो फ़िल्म से संबंधित आदमी के लिए ही संभव है। क्यों नहीं वे ख़ुद हम लोगों का हाथ बँटाते इस अभियान में?

चेतन भारती के इस प्रस्ताव से पूरी तरह सहमत थे। बोले—यह तभी संभव है, जब हम लोग ख़ुद पूरी ईमानदारी के साथ आपस में मिलें-भेंटें, बहस और वार्तालाप करें। लेकिन बंबई जैसे इस व्यस्त शहर में नियमित रूप से इस काम के लिए वक़्त निकालना कब तक संभव हो पायगा?

शायद हमेशा—अगर पूरी आंतरिक आस्था के साथ हम लोग उस दिशा में बढ़ना चाहेंगे तो. . .

—प्रभा पारमिता,

द्वारा, न्यूज़ फ़ीचर्स आफ़ इंडिया, लखनऊ - १।

अवध नारायण मुद्गल

बंबई की डायरी : दूसरा पृष्ठ

● ●

क्षणों का विघटन

५ अगस्त, १९६४

हज़ारों ज़िंदगियों के बीच एक ऐसी ज़िंदगी है जो जी नहीं जाती, सिर्फ़ दिखायी जाती और हज़ारों आदमियों के बीच एक ऐसा आदमी है जो बोलता नहीं, सिर्फ़ इशारे करता है औ उन इशारों पर उस 'सिर्फ़ दिखायी जाने वाली' ज़िंदगी में हरकत पैदा हो जाती है। एक ठहराव, जो कुछ क्षणों के लिए आता है, बिखर जाता है या एक क्षण, जो कुछ ठहरावों के लिए अपना होना (शायद) महसूस करता है, टूट जाता है। मुझे हर बिखराव और टूटने के बीच एक 'रेडक्रॉस की गाड़ी खड़ी नज़र आती है और विश्वास-सा होता है कि हमारी ज़िंदगियाँ अभी सुरक्षित हैं।

यह 'विश्वास-सा होना' मुझे बंबई जाने पर ही महसूस हुआ है और ख़ास कर उस समय, जब मैं सड़क पार कर पाने के लिए सड़क के बीचोबीच खड़े सिपाही के इशारे की प्रतीक्षा करता खड़ा होता हूँ। मैं देखना चाहता हूँ—सिपाही के इशारे; एक 'रेडक्रॉस' की गाड़ी लेकिन दिखायी देता है—आफ़िस में रखा 'मस्टर', जिसे चपरासी उठा कर ले जाने ही वाला है और जिस पर मैंने अभी अपनी उपस्थिति के हस्ताक्षर नहीं किये हैं। मेरे आसपास जिंदगियों में हरकत होती है, ठहराव बिखरता है, एक क्षण टूटता है, 'रेडक्रॉस' और इशारे उभरने का आभास भर देते है और मैं सड़क पार कर जाता हूँ।

रोज़ 'लिफ़्ट' लेने के लिए बाहर बरसाती तक 'क्यू' लगा रहता है। परिचितों में बेमतलब 'हेलो', धक्के दे कर निकाल बाहर की गयी मुस्कान और मन में लगी गालियों की महफ़िल के बीच से उठ कर आयी हुई 'गुड मार्निंग' का आदान-प्रदान होता है, इस आदान-प्रदान में मैं भी शरीक रहता हूँ और जानता हूँ कि यह सब खोये हुए धुएँ की हल्की-सी गंध भर है, जो ख़ुद भी सिर्फ़ खो जाने के लिए ही है। 'लिफ्ट' आती है, चली जाती है। 'क्यू' छोटा होता जाता है लेकिन समाप्त नहीं होता। यदि दो ही आदमी होते हैं तो भी 'क्यू मैनर' में खड़े रहते हैं—आगे-पीछे।

●

लंच...लंच...लंच! लगता है, खाने से अलग एक निहायत मज़ाकिया क़िस्म की चीज़ है—लंच, जो आफ़िस की 'केन्टीन' या, नज़दीक ही, वी॰ टी॰ स्टेशन की रेलवे 'केन्टीन'

में सिर्फ़ 'क्यू' लगाने पर ही मिलती है। कुछ लोग लंच के लिए घर या होटलों से 'टिफ़िन' मँगाते हैं और वे 'टिफ़िन' 'क्यू' में खड़े हो कर वफ़ादार गुलामों की तरह अपने मालिकों की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

मैं 'लिफ़्ट' पर एक 'क्यू' से गुज़रता हुआ लंच के लिए निकलता हूँ। फिर वही 'रेडक्रॉस' की गाड़ी—सिपाही के इशारे। सड़क पार करनी है। मेरे बग़ल में मेरे एक मित्र हैं जो कुछ कह रहे हैं, लेकिन क्या ? मैं ध्यान नहीं दे पा रहा हूँ। मेरे मित्र के सामने, थोड़ा दायें हट कर, एक लड़की खड़ी है जिसने अपनी कमर बुरी तरह कस रखी है। लगता है, यदि थोड़ा-सा कसाव कम हो जाय तो शायद वह खिसक कर सड़क पर गिर पड़े। मित्र की निगाहें लड़की की कमर पर कस गयी हैं जैसे वह अंदाज़ रहे हों कि किधर से बाहें डाली जायें। उस लड़की के बग़ल में एक महिला खड़ी हैं, जिनकी उम्र १६ और ४० के बीच में कहीं भी 'फ़िट' की जा सकती है। मैं महिला को देखने लगा हूँ। मित्र एक उड़ती नज़र उन महिला पर डाल कर मुझसे कह रहे हैं, "अमाँ, गिरना ही है तो सड़क पर गिरो, गढ्ढे में क्या कूदते हो ? . . ." दो क्षण रुक कर फिर कहने लगते हैं, "भाई, यहाँ लड़कियों की जवानी गर्मी की दोपहर की तरह जल्दी शुरू हो जाती है और देर तक बनी रहती है और लू का एहसास तो दिन ढले और पहर रात गये तक होता रहता है।"

इशारा मिल गया है। ठहराव बिखरने लगा है। सड़क की चौड़ाई समाप्त करती हुई भीड़ किनारे से किनारे तक की यात्रा पूरी करने के लिए दौड़ पड़ी है। न जाने क्यों, मुझे भीड़ का अस्तित्व, सब-कुछ भूल जाने, अकेलापन अनुभव करने और सन्नाटे के ठहर जाने का अस्तित्व लगता है।

मित्र के सामने वाली लड़की गिरते-गिरते सम्हल गयी है। उसका चेहरा बिगड़ गया है जैसे छींक आते-आते रुक गयी हो। मेरे मित्र की आँखों में शरारत और सहानुभूति के कुछ ऐसे भाव उभर आये हैं जैसे कहना चाहते हों—'चलिये, आपको डॉक्टर के पास ले चलूँ।'

रेलवे 'कैफ़िटेरिया' में काफ़ी के शौक़ीनों का 'क्यू' लगा है जिसकी दुम बाहर बरामदे में हिल रही है। दूसरी ओर 'केन्टीन' में एक भीड़ लंच ले रही है। हम, दो ख़ाली होने वाली सीटों के इंतज़ार में खड़े हैं और मन ही मन दोहरा रहे हैं—'अमाँ उठो, दूसरों को भी बैठने दो . . . न जाने कहाँ के मरभुखे आ जुटे हैं. . .।'

एक मेज़ पर बैठे चार व्यक्ति (शायद वे एक दूसरे के परिचित या मित्र हैं) खाना खा चुके हैं, बैरे को 'बिल' का पैसा भी दे चुके हैं और जानते हैं कि शेष पैसे भी बैरे को ही 'टिप्' में दे देंगे लेकिन फिर भी बैठे हैं, सिर्फ़ इसलिए कि बैरा आये, वे इशारे में ही उससे पैसे रखे रहने के लिए कहें, वह उन्हें सलाम ठोंके और तब, वे भाई राजेंद्र यादव की नाप से भी कम, सिर्फ़ आधा इंच मुस्कान होठों पर सिकोड़ कर चारों ओर नज़र दौड़ाते हुए उठें।

●

"क्यों, आज उठने का इरादा नहीं है क्या ?" मेरे मित्र कह रहे हैं।

"पाँच बज गये। समझ लो, कंपनी ओवरटाइम नहीं देगी....दिन भर तो आफ़िस में मरते ही हो, अब थोड़ी देर जी भी लो।" दूसरे मित्र भी आ गये।

"गुप्ता जी, काम काफ़ी पड़ा है....।"

"अमाँ छोड़ो भी...बढ़ाओ दूकान, चलो, 'न्यू एंपायर' में एक-एक काफ़ी हो जाय और फिर फूटा जाय।"

ज़िंदगी का अर्थ पाँच बजे के बाद आफ़िस के बाहर खड़ा मिलता है और वह भी एक कप काफ़ी के रूप में। काफ़ी के बाद 'फूटना' ज़िंदगी में शरीक नहीं है। हाँ, एक चीज़ और है, जं ज़िंदगी में शरीक है और जिसे हम मुँह में पानी भर आने जैसी स्थिति में महसूस करते हैं और व है—मोहन, वशीकरण, उच्चाटन मंत्रों के सम्मिलित आकार और सज्जा वाली लड़कियों क बग़ल से गुज़रना। कुछ लड़कियाँ बग़ल से गुज़रीं तो लगा जैसे चिकन, मटन, कीमा, कबा की सुगंधित भाप उड़ाती प्लेटें सामने आ गयी हैं, और एक मित्र कहने लगे—

"अरे भाई जल्दी चलो, भूख लगी है।"

"हम अँधेरे के संस्कारों में पले हुए लोग रोशनी के अभ्यस्त नहीं हैं इसलिए यदि हां भूख भी लगती है तो भी अँधेरा ही याद आता है।" मेरे दूसरे मित्र, जो अभी तक ख़ामोश चल रहे थे, अचानक बोल उठे।

हम 'कैपिटल' सिनेमा हाल के सामने से गुज़र रहे हैं। 'बुकिंग विंडो' से 'फ़ुटपाथ' तक टिकट लेने वालों का 'क्यू' लगा है। अंदर बरामदे में कुछ लड़कियाँ 'क्यू मैनर' में ही एक-एक कर 'वेयिंग मशीन' पर अपना वज़न ले रही हैं। कौवे जैसी शक्ल बनाये कुछ मनचले छोकरे उनके आसपास मँडरा रहे हैं और काँव-काँव सी फ़ब्तियाँ कस कर (एक या आधा इंच के नहीं पूरे अठारह इंच के) बेमतलब क़हक़हे लगा रहे हैं।

एक लड़का हमारे पास आ कर कह रहा है, "सेठ टिकट माँगता ? एक रुपया पचहत्तर पैसे वाला अढ़ाई रुपया में।" हम उसकी ओर ध्यान दिये बिना काफ़ी की तलाश में आगे निकल आये हैं और वह शायद नये 'सेठ' की तलाश में भीड़ में खो गया है।

एकाएक बरसात आ गयी है। हम 'रेन कोट' पहनें-पहनें और लोग छाते खोल कर सिर पर तानें, तब तक सब बुरी तरह भीग गये और जब 'रेन कोट' पहन कर या छाते तान कर अपने को सुरक्षित अनुभव किया, बरसात एकदम बंद। लगा, सड़क पार करते-करते अचानक रुके रहने का इशारा हो गया है।

"टैरलीन बहुत जल्दी सूखती है। बंबई के लिए टैरलीन से उम्दा और कोई कपड़ा नहीं।" एक मित्र कह रहे हैं।

'न्यू एंपायर' रेस्तराँ आ गया है और हम पाँच बजे के बाद ज़िंदगी का अर्थ रखने वाली ज़िंदगी जीने जा रहे हैं।

●

होटल तक जाने के लिए 'बस' का इंतज़ार है। मित्र जा चुके हैं। हर पाँच मिनट पर

एक 'बस' सामने से गुज़रती है लेकिन वह या तो भरी आती ही है इसलिए रुकती नहीं और रुकती भी है तो एक सवारी, दो सवारी या दो ऊपर दो नीचे, चिल्ला कर चल देती है। 'क्यू' बहुत धीरे सरक रहा है। यदि सरकने की यही रफ़्तार रही तो शायद एक घंटे में भी नंबर नहीं आयगा—मैं सोच रहा हूँ और आसपास क्रीम, पाउडर और पसीने की मिली-जुली गंध अनुभव कर रहा हूँ।

हीरो-हीरोइनों का 'ट्रेड मार्क' लगाये मर्द, औरतें आ-जा रही हैं। कुछ 'क्यू' की लंबाई भी बढ़ा रहे हैं। सड़क पर चलने वालों में आदमी कम और कारें, टैक्सियाँ अधिक हैं।

अपने आप में ही खोया हुआ शोर है, जिसके हम अभ्यस्त हो गये हैं। चारों ओर चीख़-पुकारें हैं, जिनकी किसी तेज़ छुरे से हत्या कर दी गयी है। 'क्यू' में खड़े हो कर लोग बातें कम करते हैं, देखते, सोचते और महसूस अधिक करते हैं। लोग सिर्फ़ किनारों को महत्व देते हैं, बीच को नहीं। घर से आफ़िस, आफ़िस से घर। रास्ते में क्या घटना-दुर्घटना होती है, वह क्या करते-धरते हैं, इससे जैसे उन्हें कोई मतलब ही नहीं होता। जो कुछ भी होता है वह 'चाहिये' की सीमा में बँध कर स्वचालित-सा होता रहता है।

सहसा मुझे हल्का-सा धक्का महसूस होता है। पीछे एक अपरिचित महिला खड़ी मुस्करा रही हैं। यह भी १६ से ४० के बीच में 'फ़िट' हो सकने वाली लगती हैं। उन्होंने पीछे से हल्का-सा धक्का देते हुए मेरे कान के पास मुँह ला कर धीमे से शायद कहा है—"कहीं घूमने चलियेगा?" मेरे कान गर्म हो गये हैं। याद आ रहा है—डाक्टर को 'ब्लड प्रेशर' दिखाना है।

पीठ पर फिर धक्का महसूस होता है। मैं फिर मुड़ कर देखता हूँ—वही मुस्कान और मुझे फिर याद आता है—अरे, आज मुझे 'एंटी मलेरिया' के दफ़्तर जाना था।

मैं 'क्यू' से बाहर हो जाता हूँ और महिला की ओर क्रोध से देखता हूँ। वह कई तरह से मुँह बनाती हैं, जैसे कह रही हों—'आज बरसात होने से सड़क पर बन गये गड्ढों में थोड़ा-सा तो पानी भर ही गया है फिर भी यह हज़रत यहाँ तक चले आये, लानत है।'

मुझमें और खड़े रहने की सामर्थ्य नहीं। टैक्सी ले कर चल देता हूँ।

●

खाने के लिए मेरा नंबर बीसवाँ था। एक घंटे की प्रतीक्षा के बाद खाना आया है और मैं अभी-अभी खा कर कमरे की खिड़की के पास खड़ा हुआ हूँ। खिड़की के बाहर एक ऊँची इमारत है, जिसकी छत पर मेरी जेब से भी छोटी पट्टी-सा आसमान टँगा है। उस पट्टी पर तीन-चार तारे टँके हैं जो एक 'क्यू' में खड़े-से लगते हैं।

मेरे बग़ल के कमरे में रहने वाले मित्र आ कर कुर्सी पर बैठ गये हैं और कह रहे हैं—"आपने कभी भंग पी है?"

"क्यों, भंग कैसे याद आ गयी?"

"कुछ नहीं, ऐसे ही।.....हाँ, भंग की एक ख़ासियत है कि उसे पी कर आप उदासी अनुभव करें तो उदास, ख़ुशी अनुभव करें तो ख़ुश। मतलब यह कि आप रोयेंगे तो बेमतलब अकेले ही रोते जायेंगे, और यदि हँसेंगे तो यों ही बेमतलब अकेले ही हँसते जायेंगे।...बस,

तो भाई साहव, आप बंबई को भंग का नशा समझ लीजिये। यहाँ आ कर जो उदास रहता है, वह हमेशा उदास ही बना रहता है और ख़ुश रहने वाला ख़ुश।"

उन्होंने मुखमुद्रा कुछ ऐसी बना रखी है जैसे भंग ही पी ली हो। मुझे हँसी आ गयी और बोला, "देखिये कितना तो ख़ुश हूँ, अभी-अभी खाने के 'क्यू' से निकला हूँ।"

"ओह, तो हुज़ूर 'क्यू' से परेशान थे, तो जनाव समझ लीजिये कि यहाँ लगाने के नाम पर सिर्फ़ दो ही चीज़ें हर काम के लिए लगती हैं––पैसा और 'क्यू'।" हम दोनों हँसने लगे। वह फिर बोले, "भाई जान, यहाँ आधी जिंदगी 'क्यू' में खड़े-खड़े गुज़र जाती है। आधी की आधी भाग-दौड़ में। शेष की आधी काम करने में; शेष सोने और 'क्यू' के सपने देखने में, और मज़ा यह कि सपने भी आते हैं तो 'क्यू' लगा कर। कभी लगता है कि हम सिर्फ़ 'क्यू' लगाने के लिए ही ज़िंदा हैं, कभी लगता है––नहीं, नहीं, हम जिंदा रहने के लिए ही 'क्यू' लगाये हुए हैं और कभी तो ऐसा भी लगने लगता है कि हमें मरने के लिए भी शायद 'क्यू' लगाना पड़ेगा।" वह ज़ोर से हँसने लगे, और फिर कुर्सी से उठते हुए बोले, "ख़ैर, छोड़ो इन बातों को। अच्छा, 'गुड नाइट'।"

"गुड नाइट।"

मित्र चले गये हैं और मैं सोच रहा हूँ––सचमुच, हज़ारों ज़िंदगियों के बीच एक ऐसी ज़िंदगी है जो जी नहीं जाती, सिर्फ़ दिखायी जाती है और जिसके होने का विश्वास क्षणों के विघटन के सहारे होता है और वह है मेरी ज़िंदगी, बंबई की ज़िंदगी, वह ज़िंदगी जो 'क्यू' में खड़े-खड़े गुज़र जाती है और गुज़रने का एहसास तक नहीं होने देती।

––द्वारा, 'सारिका',
टाइम्स आफ़ इंडिया, बंबई-१।

युगप्रभात
सचित्र हिंदी पाक्षिक

अहिंदीभाषी केरल राज्य से प्रकाशित होने वाले युगप्रभात में हिंदी-अहिंदीभाषी लेखकों द्वारा हिंदी में लिखित-अनूदित श्रेष्ठ कहानियाँ, एकांकी, धारावाहिक उपन्यास, निबंध, समालोचनाएँ आदि प्रकाशित किये जा रहे हैं। दक्षिण के विकासमान प्रगतिशील साहित्यों के परिचायक के रूप में युगप्रभात जनप्रिय होता जा रहा है।

वार्षिक चंदा – छह रुपया

●●

मैनेजर 'युगप्रभात'
कालिकट, केरल

प्रतिक्रिया-पुनर्विचार

एक प्रश्न : समसामयिक आलोचना

ठंडे दिमाग़ से यदि वस्तुस्थिति पर विचार किया जाय तो यह स्वीकार करने में शायद हिचकिचाहट नहीं होगी कि इन दिनों नये की उपलब्धि कम और नये के नाम पर विकृति को प्रश्रय अधिक दिया गया है और दिया जा रहा है।

आलोचकों ने 'नयी कविता', 'नयी कहानी' और अन्य आधुनिक विधाओं में अभिव्यक्त होने वाले आधुनिक मन को जब 'आधुनिक' कह कर पुकारा, उसी समय 'नयी समीक्षा' का जन्म हुआ। नयी कविता एक आंदोलन के रूप में आयी और आंदोलन के ही स्तर पर आज की नयी कहानी को भी लाने का प्रयास जारी है, पर 'नयी समीक्षा' का नारा उस रूप में नहीं उठ सका और इसके लिए नये समीक्षकों का मन काफ़ी बेचैन और दुखी था।

सन १९५७ के प्रयाग साहित्यकार सम्मेलन में नये रचनाकारों ने पुराने ख़ेमे के आलोचकों की समीक्षा-पद्धति को अपनी कृतियों के मूल्यांकन के लिए अनुपयोगी और अव्यवहार्य बताया और साथ ही नयी समीक्षा की माँग की।

जिस समय नयी समीक्षा की यह बात उठी थी, उस समय हिंदी में नामवर और देवीशंकर अवस्थी जैसे नये समीक्षक उपस्थित थे किंतु मात्र इन्हीं से संतुष्ट न हो सकने वाले नये रचनाकारों ने पूरी आलोचना-पद्धति को ही परिवर्तित और विकसित करने की माँग की थी।

यह माँग उचित थी या अनुचित, इस पर कोई निश्चित मत दिये बिना ही आगे बढ़ कर सोचता हूँ कि बाहरी दबाव से पुराने संस्कार को बदलना सहज और संभव नहीं है। और यदि कहीं बदलने की चेष्टा की गयी तो उससे हित की अपेक्षा अहित होने की ही अधिक संभावना रहती है; पुरानी बोतल में नयी शराब वाली स्थिति। उदाहरण के लिए नयी कहानी के समर्थन में चंद्रगुप्त विद्यालंकार की टिप्पणियाँ या श्री विजयेंद्र स्नातक द्वारा नयी कविता को दी गयी प्रशंसाएँ सामने रखी जा सकती हैं।

जहाँ तक मैं जान सका हूँ, नयी समीक्षा ने किसी रचना की रचना-प्रक्रिया को समझने पर अधिक ज़ोर देने की बात पिछले दिनों उठायी है। किसी कलाकृति का मूल्यांकन करते समय 'समीक्षक' को उन प्रक्रियाओं से गहरा तादात्म्य स्थापित करना चाहिए, जिनसे हो कर कुछ कलाकारों को उस कृति को जन्म देते समय गुज़रना पड़ा है। बात तो यहाँ तक कही गयी है कि समी-

क्षक को, लेखक की तरह ही, पूरी रचना-प्रक्रिया के सुख-दुख को भोगते हुए, उससे गुज़रना चाहिए और फिर उस रचना का मूल्यांकन उसके विभिन्न संदर्भों में करना चाहिए। सिर्फ़ ऊपर से आरोपित होने वाले नैतिक, सामाजिक या अन्य बाह्य उपकरणों के आलोक में ही रचना को देखने का प्रयास रचना के सही मूल्यांकन से हटने का प्रयास हो सकता है।

मोटे तौर पर समीक्षा में 'रचना-प्रक्रिया' की बात करने का अर्थ यह था कि नैतिकताबद्ध विशुद्धतावादी आलोचना तथा मार्क्सवादी प्रकृतिवादी आलोचना के नाम पर दिये गये स्वेच्छाचारी 'फ़तवों' से कृतियों का उद्धार किया जाय और उन्हें उनकी कलागत ऊँचाइयों में देखने का संदर्भ खोजा जाय।

रचना-प्रक्रिया की यह खोज व्यक्ति के मन, समाज, परिवेश, सभी भूमियों से सबद्ध थी, इनमें कोई भी एक न तो प्रमुख था, न तो गौण। बात समग्रता की थी। मानवीय व्यापार के प्रतिफलन में नैतिक, सामाजिक, वैयक्तिक, सभी भूमियों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हाथ रहता है। रचनाकार की ग्रहणशीलता की उर्वरता की खोज करते हुए नया आलोचक रचना-प्रक्रिया से साक्षात्कार करता है और फिर उस रचना के आंतरिक व्यक्तित्व का उद्घाटन करता है, यही रचना-प्रक्रिया के सिद्धांत पर आधारित समीक्षा की नवीनतम पद्धति है। किंतु जब 'माध्यम' के तीसरे अंक में अशोक वाजपेयी की ये पंक्तियाँ पढ़ता हूँ : **'एक तो साहित्य को--कम से कम कविता को--देखने, पहचानने और परखने में अन्य हर क्षेत्र द्वारा दी गयी दृष्टि से सहायता लेते हुए प्राथमिक और अंतिम रूप से साहित्यिक आधारों का ही आश्रय लेना चाहिए'**--तो जानने की यह सहज इच्छा होती है कि उनके इस कथन का आशय क्या है। किसी कलाकृति का मूल्यांकन एक सर्वथा निरपेक्ष और स्वतंत्र वस्तु के रूप में होना चाहिए, इसमें समाजशास्त्र, नैतिकता, आचार अथवा ऐतिहासिक परंपरा आदि आधारों को बीच में नहीं लाना चाहिए, शायद ऐसा उनका मत नहीं है, क्योंकि वे अन्य क्षेत्रों द्वारा दी गयी दृष्टि की सहायता लेने की भी बात करते हैं--फिर उनके कथन का क्या तात्पर्य है, समझ में नहीं आता। जब किसी रचना को समझने के लिए अन्य क्षेत्रों की दृष्टि भी ज़रूरी हो सकती है, तो उन्हें छोड़ कर 'स्वतंत्र मूल्यांकन' की बात कैसे उठती है, समझ में नहीं आता।

या तो अशोक वाजपेयी को वाइल्ड की तरह स्पष्ट रूप से यह कहना चाहिए कि: **'कृति अगर सुनिर्मित, सुशिल्पित है तो वह अच्छी है, अन्यथा बुरी। जीवन के मानदंडों से उसका मूल्यांकन नहीं हो सकता।'** या रॉबर्ट ब्रिजेज़ की तरह निःसंकोच स्वीकार करना चाहिए कि **'कला एक मानवीय व्यापार है, अतएव स्पष्ट ही वह मानव--निरपेक्ष हो कर नहीं की जा सकती। कोई भी कलाकृति उसी अनुपात में प्रशंसनीय अथवा निंदनीय समझी जायगी जिस अनुपात में उसका प्रभाव मानवता के लिए कल्याणकर अथवा अनिष्टकर होगा।'**

अशोक वाजपेयी का कथन जब मैं पढ़ता हूँ कि : **'यह नहीं है कि कविता का मनोवैज्ञानिक या सामाजिक या नैतिक आधार नहीं होता, पर इन आधारों की परीक्षा या खोज का महत्व या उपयोगिता उस कविता को समझने भर के लिए है, उसे मूल्यांकन का आधार बनाना ग़लत है',** तो मुझे इलियट का यह कथन याद आता है कि : **'कोई कृति साहित्य है या नहीं, इसका फ़ैसला**

तो साहित्यिक मानदंडों से ही होता है किंतु साहित्य की उच्चतम कृतियों की पहचान केवल साहित्यिक मानदंडों से ही नहीं की जा सकती।'

साहित्य जीवन है, किंतु जीवन की ऊपरी राजनीति नहीं है। भीतर का स्वर, उसका अंतर्द्वंद्व, अपरिलक्षित जीवन-ऊष्मा—ये साहित्य के आंतरिक अवयव हैं और रचनाकार की 'अद्वितीयता और महानता' का मूल्यांकन इनके आधार पर ही करना होगा, मात्र साहित्यिक मानदंडों से हमारा काम नहीं चलेगा।

—उदयभान मिश्र,
संपादकीय विभाग (हिंदी), प्रकाशन-विभाग,
पुराना सचिवालय, दिल्ली-६।

'उन्नीसवीं शताब्दी की गद्य भाषा' में तिथि संबंधी भ्रांतियां

अक्टूबर के 'माध्यम' में श्री विजयकुमार शुक्ल का 'उन्नीसवीं शताब्दी की गद्य भाषा' शीर्षक लेख पढ़ कर और उसमें दी हुई तिथियों और सूचनाओं की अशुद्धियाँ देख कर बहुत खेद और क्षोभ हुआ। 'माध्यम' सम्मेलन का प्रकाशन है और उसमें भी ऐसी भ्रामक अशुद्धियाँ मिलती हैं तब खेद होना स्वाभाविक है। विशेष विस्तार में न जा कर मैं केवल कुछ अशुद्धियों का ही उल्लेख करूँगा, जिससे सामान्य पाठक को मतिभ्रम और भ्रांति न हो।

(१) **'श्री सदल मिश्र (सन १८६८ के लगभग से १८४८ के लगभग) ने नासिकेतोपाख्यान लिखा।'—'माध्यम'**
यह ग़लत है।

स्वयं सदल मिश्र लिखते हैं—**'अब संवत १८६० में नासिकेतोपाख्यान को कि, जिसमें चंद्रावती की कथा कही है, देववाणी से कोई-कोई समझ नहीं सकता, इसलिए खड़ी बोली में किया।' (देखिए सदल मिश्र ग्रंथावली पृ० ५)**

पुस्तक का नाम **'चंद्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान'** है **'नासिकेतोपाख्यान'** नहीं, जैसा अनेक लेखक मानते हैं।

इस पुस्तक में सदल मिश्र का **'१७६७-६८ में अनुमानतः जन्म'** बताया गया है। मृत्यु १८४७-४८ के बीच हुई।

क्या १७६८ के स्थान पर १८६८ मुद्रण-दोष के कारण है?

(२) **'राजा राममोहन राय (सन १८३३-९० ई०)'—'माध्यम'**
यह स्पष्टतः अशुद्ध है। सन १८३३ में तो उनकी मृत्यु हुई।

(३) 'इतिहास तिमिर नाशक (सन १८२६, भाग १, भूमिका)'—'माध्यम'

राजा शिवप्रसाद का काल १८२३-१८९५ ई० है। तब क्या इसकी रचना २ वर्ष की अवस्था में हुई थी?

इतिहास तिमिर नाशक १८६८-७३ के बीच निकला था।

(४) 'सन १८०३ में फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई, प्रथम प्राचार्य डॉ० गिलक्रिस्ट थे'—'माध्यम'

'मार्किस वेलेज़ली ने श्रीरंगपट्टन की विजय के प्रथम वार्षिकोत्सव, ४ मई सन १८०० ई० के दिन कलकत्ते में फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की' (आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिक **पृ० ३०३, वार्ष्णेय)** डॉ० गिलक्रिस्ट को १८ अगस्त १८०० के पत्रानुसार हिंदुस्तानी भाष के प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्त किया गया था। वे फ़ोर्ट विलियम कालेज के प्राचार्य नहीं थे।

विषय के प्रतिपादन में भी दोष है। पर इसकी समीक्षा मैं यहाँ नहीं कर रहा हूँ। य लेख हिंदी के आधुनिक इतिहास पर है अतः तिथियों की अशुद्धि अक्षम्य है।

—मुरलीधर श्रीवास्तव
उप प्राचार्य, राजेंद्र कालेज, छपरा

'सुबह होने तक'

'**मा**ध्यम' का नया अंक देखा। हाँ, सुरेश सिनहा की कहानी 'सुबह होने तक' पढ़ कर आपको राजेंद्र यादव की कहानी 'बिरादरी बाहर' की याद दिलाना चाहता हूँ ('किनारे से किनारे तक' में संग्रहीत)।

—रमेश उपाध्याय
१४०१, लक्ष्मीबाई नगर, नयी दिल्ली - ३

● ●

'**मा**ध्यम' के नवंबर अंक में श्री सुरेश सिनहा की एक कहानी 'सुबह होने तक' प्रकाशित हुई है। इस कहानी में तथा श्री राजेंद्र यादव की कहानी 'बिरादरी बाहर' में बड़ी समानता है। यादव की कहानी पहले धर्मयुग के कहानी अंक में निकली थी फिर उनके संग्रह 'किनारे से किनारे' तक में भी प्रकाशित हुई थी। दोनों कहानियों के कथानक ही नहीं, दृष्टिकोण तक में समानता है।

—गंगाप्रसाद मिश्र,
प्रधानाचार्य, गवर्नमेंट इंटर कालेज,
सुल्तानपुर

राजेंद्र यादव ने अपनी कहानी में, जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, प्रेम विवाह को ले कर दो पीढ़ियों का संघर्ष चित्रित किया है। इसके विपरीत मेरी कहानी में अनमेल विवाह, फलस्वरूप वैवाहिक जीवन की असफलता और तलाक़ की समस्या को ले कर पीढ़ियों का संघर्ष चित्रित किया गया है। दोनों कहानियों की मूल समस्याएँ नितांत भिन्न हैं। यदि कहीं साम्य है तो यही कि नयी पीढ़ी के सामने पुरानी पीढ़ी को झुकना पड़ा है और नवीन मान्यताएँ, प्रगतिशील दृष्टिकोण एवं नवोन्मेष की भावना को स्वीकारना पड़ा है। और जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह साम्य पीढ़ियों का संघर्ष ले कर लिखी गयी आज की किसी भी कहानी में देखा जा सकता है क्योंकि इस सारे रूप-विधान को बदलने और परिवर्तनशीलता के व्यापक परिपेक्ष्य में प्रगतिशील मानदंडों को उभारने तथा स्वीकारने की अकुलाहट एवं बेबसी नयी पीढ़ी के प्रत्येक कथाकार में है। उनके सोचने-समझने का स्तर भी समान-स्तरीय है क्योंकि वे एक ही युग की देन हैं और समान स्थितियों एवं वातावरण में साँस ले रहे हैं। हम सभी ने किसी काल्पनिक ज़िंदगी से अपने पात्रों या स्थितियों को ले कर उन्हें गढ़ा नहीं है अपितु अपनी जिये जाने वाली ज़िंदगी से ही उठा कर उन्हें ज्यों-का-त्यों, बिना मुलम्मा चढ़ाये यथार्थ परिवेश में प्रस्तुत किया है। यही बात बलवंत सिंह की 'अपरिचित' उषा प्रियंवदा की 'वापसी', कमलेश्वर की 'देवा की माँ' तथा राजेंद्र सिंह बेदी की 'कोखजली' के संबंध में भी कही जा सकती है। मैं इन दोनों पाठकों से विनम्र निवेदन करूँगा कि वे आज की नयी पीढ़ी के कथाकार की मूल भावना, उसकी जीवन-संवेदना एवं नये उभरने वाले मानवतावाद की परख करें, शैली या शिल्प की समानता या असमानता का मूल्यांकन न करें। उस दृष्टि से उन्हें निराशा ही होगी क्योंकि नित नये शिल्पविधान के अन्वेषण के प्रति वह किंचितमात्र भी आग्रहशील नहीं हैं। उसने केवल कलात्मक मूल्यों का तिरस्कार कर, मानव-मूल्यों को प्रतिष्ठित कर, अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने का प्रयत्न किया है।

—सुरेश सिनहा,
'कल्पना', १६, पुरुषोत्तम नगर,
हिम्मतगंज, इलाहाबाद–३।

वातायन

मासिक प्रकाशन

● सृजनात्मक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का सबल माध्यम ● नयी पीढ़ी के सहयोग का मूर्त रूप ● साहित्य की सभी विधाओं का संगम !

७० पैसे : एक प्रति—८ रुपये : वार्षिक

●

५, डागा बिल्डिंग, बीकानेर

विवेचना

भारतभूषण अग्रवाल

हम विषपायी जनम के

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का काव्य-संकलन। भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी। प्रथम संस्करण १९६४। मूल्य : १६.००।

कुछ दिनों पहले की बात है, एक अनुसंधित्सु ने मुझ एक प्रबंध दिखाया था——बँगला पर हिंदी का प्रभाव। क्योंकि मुझे बँगला का थोड़ा-बहुत ज्ञान है, इसलिए मैंने बड़ी रुचि और उत्सुकता से उसे देखा। और मैं यह देख कर दंग रह गया कि जिन तथ्यों से हम सामान्यत: हिंदी पर बँगला का प्रभाव सिद्ध करते हैं, उक्त विद्वान ने उन्हीं से बँगला पर हिंदी का प्रभाव सिद्ध कर दिया था। ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव में ऐसा ही विपर्यय घटता है। और 'हम विषपायी जनम के' पढ़ कर मेरे मन में सबसे पहले यही भाव उठा कि यदि कोई अहिंदीभाषी अनुसंधित्सु इसकी विवेचना करने बैठे तो संभव है वह नवीन के काव्य पर भगवतीचरण वर्मा से ले कर शिवमंगल सिंह 'सुमन' तक के काव्य का प्रभाव सिद्ध करने में सफल हो जाय; क्योंकि 'हम विषपायी जनम के' सन १९६४ का प्रकाशन है जबकि ये कवि अपनी मूल्यवान रचनाएँ न जाने कब की प्रकाशित कर चुके हैं। अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनके द्वारा यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि नवीन की क़लम से निकली पंक्तियाँ मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, सियारामशरण गप्त, नरेंद्र शर्मा, गिरिजाकुमार माथुर और ('इत्यलम्' तक के) अज्ञेय की पंक्तियाँ होने का भ्रम उत्पन्न करती हैं। यों ऐसी भी पंक्तियाँ मिल जाती हैं जो प्रसाद, निराला, पंत या महादेवी की पंक्तियाँ मालूम पड़ें, पर उनकी संख्या अत्यंत सीमित है। और सन १९६४ का प्रकाशन होने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से विरहित कोई अनसंधित्सु यदि नवीन को इन सब कवियों से प्रभावित मान बैठे तो, कम से कम मुझे तो कोई आश्चर्य न होगा।

क्या मेरे इस कथन से यह करुण अंत:स्वर स्पष्ट नहीं हो सका है कि यह हिंदी का दुर्भाग्य

है कि नवीन का प्रतिनिधि काव्य-संकलन इतनी देर से प्रकाशित हो सका ? नवीन तो हमारे बीच से इस बीच उठ ही गये हैं, हिंदी कविता के तेवर भी अब इतने बदल चुके हैं कि इस संग्रह का सही मूल्यांकन करना सिद्ध समीक्षा-शास्त्री के ही बस की बात रह गयी है।

जहाँ तक मैं जानता हूँ, नवीन अभी तक किसी भी विश्वविद्यालय के हिंदी पाठ्यक्रम में समाविष्ट नहीं हैं, और ऐसी दशा में इस अभूतपूर्व काव्य-संग्रह के दूसरे संस्करण की भी कोई आशा नहीं की जा सकती। यदि इनमें से अनेक रचनाएँ तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं और कवि-सम्मेलनीय मंच के माध्यम से प्रचारित हुई होतीं तो सचमुच जिनको नवीन के वर्चस्व ने प्रभावित किया, हम उन्हीं से नवीन को प्रभावित मानने की भूल कर बैठते।

इतने विभिन्न और विविध कवियों की रचनाओं से मिलती-जुलती रचनाएँ कितनी विविध होंगी, यह सहज ही समझा जा सकता है। प्रकाशक ने कवि की इच्छा का आदर कर उन्हें छह पृथक खंडों में विभाजित कर के इस वैविध्य को प्रत्यक्ष कर दिया है; यहाँ तक कि प्रत्येक खंड का एक-एक उपशीर्षक भी दिया गया है जिससे तत्वतः यह संकलन छह पृथक संकलनों का संग्रह बन गया है। यदि हम यह भी स्मरण कर लें कि नवीन ने ब्रजभाषा में भी काव्य-प्रयोग किये थे और 'ऊर्मिला' नामक महाकाव्य की भी रचना की थी—तो उनकी सर्जना का वैविध्य रेखांकित हो जाता है। जैसे यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि नवीन के कुछ ग़ज़ल-प्रयोग भी इस संकलन में मौजूद हैं। इस विविधता की चर्चा मैंने यहाँ जानबूझ कर ही की है क्योंकि एक तो उनकी रचनाओं का अधिकांश अप्रकाशित ही रह जाने के कारण और दूसरे तत्कालीन हिंदी आलोचना की एक विशिष्ट प्रवृत्ति के कारण नवीन के काव्य की यह विविधता अनदेखी रह गयी है। परतंत्र समाज की सहज प्रतिक्रिया के रूप में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हिंदी समीक्षक व्यक्ति-कलाकार की उपेक्षा कर के समूहगत उपलब्धि पर ज़ोर देता आया है। वह कवियों अथवा रचनाओं का अध्ययन गौण मानता रहा है और काव्य-धारा अथवा काव्य-प्रवृत्ति का अध्ययन महत्वपूर्ण। इसके दो रोचक परिणाम निकले हैं। पहला परिणाम तो यह कि भारतेंदु से ले कर अज्ञेय तक—किसी भी साहित्यकार के संबंध में कोई संतोषजनक पुस्तक उपलब्ध नहीं है, और दूसरा परिणाम यह कि व्यक्तित्व की विविधता से संपन्न कृतिकारों को किसी एक विशिष्ट धारा में 'फ़िट' न होने के कारण उपेक्षा का भागी बनना पड़ा है। फिर नवीन जैसे कृतिकार के संबंध में तो पूछना ही क्या, क्योंकि उनके साथ एक और अड़चन यह लगी हुई थी कि उनकी अधिकांश रचनाएँ अप्रकाशित थीं।

इसी समीक्षा-स्थिति का यह भी अनुषंग रहा है कि ऐसी रचनाएँ अधिक चर्चित और समादत होती रहीं जिनका विषय समाज या समूह रहा; जिन रचनाओं का केंद्र व्यक्ति-मन था वे अपेक्षया टाली जाती रहीं। यही कारण है कि हम नवीन की चर्चा अधिकतर उस तथा-कथित राष्ट्रीय काव्य-धारा की एक लहर के रूप में करते-सुनते आये हैं जिसे मोटे रूप में मैथिलीशरण गुप्त से ले कर सोहनलाल द्विवेदी तक विस्तृत माना गया है। यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल रही है कि छायावाद, जो स्पष्टतः व्यक्ति-मन पर केंद्रित था, एक धारा के रूप में ही देखा-परखा गया और 'तार सप्तक' के बेचारे संपादक कहते ही रह गये कि उसमें संग्रहीत सात कवियों के साढ़े सात

व्यक्तित्व हैं, आलोचकों ने उसे प्रयोगवादी धारा का रूप दे कर ही चैन लिया। मुक्तिबोध ने अचानक ही इन आलोचकों के लिए कैसी कठिन समस्या खड़ी कर दी है, यह हम प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं। पर हम 'हम विषपायी जनम के' की विविधता को अनदेखी नहीं कर सकते। नवीन ने राष्ट्रीय जागरण को अपने काव्य में प्रतिध्वनित किया, इसमें क्या संदेह है। उन्होंने राष्ट्रीय उद्‌बोधन की रचनाएँ लिखीं, युवकों को और देशवासियों को ललकारा, ग़रीबी और भुखमरी पर आँसू भी बरसाये और आक्रोश भी प्रकट किया——यह सब सच है। पर यह अंश-सत्य है, मात्र खंड-सत्य है।

कुछ समीक्षात्मक-परिचयात्मक ग्रंथों में यह भी दर्ज मिलता है कि नवीन स्वच्छंद प्रेम और मस्ती के कवि थे। ऐसा अंकित करने पर भी उन्हें राष्ट्रीय काव्य-धारा के ही कटहरे में रख गया है। पहली स्थिति से यह स्थिति श्रेयस्कर है, इसलिए अभिनंदनीय है। कवि के निधन पर श्रद्धांजलि-स्वरूप पत्र-पत्रिकाओं ने जो विशेषांक प्रकाशित किये उनमें यह भी देखने-पढ़ने को मिला कि नवीन का चिंतन और दर्शन से भी थोड़ा-बहुत लगाव था। यह स्थिति तो और भी आशाजनक है। पर फिर भी जिसने 'हम विषपायी जनम के' पढ़ी है उसे संतोष नहीं मिल सकता।

क्योंकि वैविध्य देख सकना या स्वीकार कर लेना ज़रूरी तो है पर काफ़ी नहीं है, हमें यदि नवीन को कवि-रूप में समझना और ग्रहण करना है तो इस वैविध्य में उपलब्ध उस एक सूत्र को भी खोजना और पाना पड़ेगा जो उनका व्यक्तित्व है। और तब हम देखेंगे कि यह वैविध्य एक केंद्र में सिमट आया है, और नवीन किसी धारा की लहर न हो कर एक जीवंत-स्वतंत्र व्यक्ति बन उठे हैं जैसा कि उन-जैसे 'मर्दाने' को होना चाहिए, जैसे कि निराला और मुक्तिबोध थे।

वैसे किसी के भी व्यक्तित्व को एक वाक्य में बाँधना कठिन होता है पर यदि मैं नवीन के व्यक्तित्व को एक वाक्य में रखना चाहूँ तो कहूँगा कि वे असाधारण परिस्थितियों से घिरे एक साधारण मानव थे। इस वाक्य में जो ख़तरा निहित है उसके प्रति मैं सचेत हूँ, और यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि साधारण मानव का अर्थ साधारण कवि नहीं है, पर उनके इस प्रतिनिधि काव्य-संग्रह को आद्योपांत पढ़ते-पढ़ते हर बार मेरे मन में यही भाव उभर-उभर कर आया है कि वे साधारण थे, साधारण बने रहना चाहते थे, और उनकी विकलता का सबसे बड़ा, और कदाचित एक मात्र स्रोत यह था कि जिन परिस्थितियों में वे जी रहे थे वे बड़े ही विचित्र रूप से असाधारण थीं। साधारण और असाधारण के इस अनिवार्य टकराव ने ही वे संघर्ष पैदा किये जिनसे वे आजीवन जूझे और जिन्होंने उनके मन को उन चरम स्थितियों में विभक्त रेखा जो अक्सर परस्पर विरोधी बन जाती हैं, और जब नहीं बनतीं तो मिल कर इतनी भारी हो जाती हैं कि मन टूटने लगता है। परस्पर विरोधी भावनाओं के पाटों में मन के टूटने की यह स्थिति नवीन की अधिकांश कविताओं का मूल आधार है, यद्यपि वह सर्वत्र एक समान प्रकट नहीं है। उनकी अंतिम कविताएँ अवश्य इस स्थिति से कुछ भिन्न आधार पर हैं, पर वह भेद परिस्थिति की विषमता को कम नहीं करता, केवल विरोधी दबावों की ही अनुपस्थिति व्यक्त करता है। जो हो, नवीन का कवि-व्यक्तित्व

प्रारंभ से ले कर प्रौढ़ावस्था तक इन्हीं विरोधी परिस्थितियों के झूले में झूलता रहा। और क्योंकि नवीन साधारण कामनाओं के धनी थे इसलिए उन्होंने बड़ी ही ईमानदारी से अपनी प्रतिक्रियाएँ अपनी कविताओं में व्यक्त की हैं। यदि वे असाधारण होते तो उनकी प्रतिक्रियाओं का स्वरूप दूसरा होता, और उनमें से बहुतेरी तो उनकी कविताओं का विषय भी न बनतीं, जैसा कि उनके समकालीन अन्य अनेक कवियों की रचनाएँ सिद्ध करती हैं। इस दृष्टि से नवीन स्वच्छंदतावादी छायावादी अन्य कवियों की अपेक्षा हमें आज के अधिक अपने लगते हैं, उनकी कमज़ोरियाँ हमें बड़ी स्वाभाविक लगती हैं, और उनका ओज हमें चकाचौंध नहीं करता।

साधारण और असाधारण की यह टकराहट कितने विचित्र रूप धारण करती है, नवीन के काव्य में इसका अध्ययन बड़ा ही रोचक है। साधारण ग्रामीण परिवेश में पला-बढ़ा एक साधारण किशोर जब परिस्थितिवश कानपुर जैसे जनसंकुल नगर में गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे विख्यात व्यक्ति का आश्रय और सख्य पा जाता है तो किशोर मन में भावों की ऐसी घुमड़न मच उठती है कि बस! अपने परिचित परिवेश से उखड़ कर वह प्रवासी तो हो ही गया है, वयःसंधि का सहज सम्मोहन उसे प्रणय की गलियों में घुमाता है, और परिस्थिति से प्राप्त देश की पुकार उसे जेल तक पहुँचा देती है। और यह सब होता है उस वेचारे व्यक्ति के साथ जो अनगिनती लोगों की भाँति साधारण ढंग से जीवन बिताना चाहता है। नवीन बार-बार इस वैषम्य की चर्चा करते हैं, कभी उसे विवशता बना कर, कभी चुनौती के रूप में। सब तो नहीं, पर कुछ महत्वपूर्ण उल्लेख यहाँ देख लेना उपयोगी होगा।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फैज़ाबाद, में सन १९३२ में लिखी गयी एक कविता का यह अंश देखिए—

हम संक्रांति काल के प्राणी बदा नहीं सुख भोग
हमें क्या पता क्या होता है स्निग्ध सुखद संयोग?
हम बिछोह के पले, ख़ूब जानें हैं पूर्ण वियोग
घर उजाड़ कर जेल बसाने का है हमको रोग

और यह कविता श्रावणी पर लिखी गयी, और राखी के त्योहार के साधारण सुख की याद में! जेल में ही नहीं, 'गणेश कुटीर' में बैठे भी वे यही कहते हैं—

हम अलख निरंजन के वंशज निज मनोरथों के हम हंता
अपना सब कुछ देने से ही है सार्थकता इन प्राणों की

यह संकल्प कितना प्रबल लगता है पर इसके साथ इस परास्त भाव का मिलान कीजिए—

ढचर-ढचर करती जाती है मेरी टूटी गाड़ी
जर्जर हुई आज मेरी सब नस-नस नाड़ी-नाड़ी
दौड़े चले जा रहे हैं सब अपने-अपने रथ पे
भागाभाग मची है स्पर्धा-मिश्रित जीवन पथ पे
इस जग-मग में आन फँसा हूँ मैं भी एक अनाड़ी

यह 'आन फँसे' का भाव आज के 'आउटसाइडर' भाव का ही पुरखा है। नवीन की काव्य-कृतियों में वह सर्वत्र विद्यमान मिलता है। प्रणय-जगत में भी वे इससे नहीं उबर पाते और कर्म-जगत में भी। दोनों को भी नहीं अपना पाते, दोनों में से एक को भी नहीं, और दोनों को छोड़ते भी नहीं बनता। संक्रांति काल की यह बेचैनी 'तार सप्तक' में नेमिचंद्र जैन तक की कविताओं में मिलती है। और मुझे लगता है कि यही बेचैनी वह तत्व है जिसे नवीन ने विष की संज्ञा दी है। **'हम विषपायी जनम के सहें अबोल-कुबोल'** और **'हम संक्रांति काल के प्राणी बदा नहीं सुख-भोग'** दोनों समानार्थक पंक्तियाँ हैं।

ऊपर जो उद्धरण मैंने दिया है उसकी एक पंक्ति पर मैं फिर आपका ध्यान दिलाना चाहत हूँ: **'दौड़े चले जा रहे हैं सब अपने-अपने रथ पे।'** यहाँ **'अपने-अपने रथ पे'** पद को मैं रेखांकित करना चाहता हूँ। निःसंबल नवीन का मन कितना ही बड़ा महारथी रहा हो, रथ उनके पास न था। यदि अपने सहज परिवेश से उत्पाटित हो कर वे **'आन फँसे'** न होते तो रथ का अभाव तो होता पर उसकी खटक न होती। पर जिस स्थल पर वे आ पहुँचे थे वहाँ औरों के रथ देख-देख कर यह खटक न होना ही आश्चर्य की बात होती, और उस अभाव को पी कर पचा जाना असाधारणत की अपेक्षा रखती थी। इसलिए नवीन को अभाव भी रहा, उसकी खटक भी रही और वे उसे पचा भी न सके। और यह भी नहीं कि उनका मन किसी एक विशिष्ट रथ के लिए लालायित रहा हो। उनकी रचनाएँ प्रमाण हैं कि जब-जब उन्हें कोई सुंदर रथ दिखायी पड़ा, उन्हें अपना अभाव याद आया और घाव हरा हो गया। जीवन की संध्या में जब वे अपना रथ पाने में समर्थ हुए तब भी उन्हें परितोष न प्राप्त हो सका, यह एक और पेंचदार बात है।

नवीन इच्छा ही करते रहे, इच्छा-पूर्ति नहीं कर पाये। इसका कारण ठीक उसी परिस्थिति में निहित था जिसने इस इच्छा को जन्म दिया था। यदि इच्छा में अनन्यता होती तो परिस्थिति विशेष कुछ नहीं कर सकती थी। पर यह हम देख ही चुके हैं कि उसमें अनन्यता नहीं थी। इसीलिए उसके प्रति उनकी लगन निर्द्वंद्व भी न थी। फलतः संशय और द्वंद्व नवीन का आजीवन पीछा करते रहे।

मैं इस संशय और द्वंद्व को नवीन के काव्य का केंद्र मानता हूँ, और इसीलिए उन्हें प्रसाद, पंत या महादेवी, अथवा माखनलाल, सियारामशरण या सुभद्राकुमारी चौहान का आत्मीय न मान कर भगवती चरण वर्मा, बच्चन और दिनकर का आत्मीय मानता हूँ। (निराला की बात मैंने जानबूझ कर छोड़ दी है)। इस छोटे से निष्कर्ष को फैलाने पर बड़े विचित्र परिणाम हाथ आते हैं। पहला तो यह कि नवीन न द्रष्टा हैं न नेता, वे मध्यमवर्गीय मानव-मन के प्रतिनिधि हैं जो सुख और शांति की खोज कर रहा है, सौंदर्य-लोक की नहीं। दूसरा यह कि समसामयिक काव्य में उपलब्ध भाव-राशि के अनेक पूर्व-संकेत और अधूरे रूप नवीन में मिल जाते हैं। तीसरे यह कि नवीन की कविता कला न हो कर उनके जीवन की बड़ी ईमानदार प्रतिलिपि है। उनकी यह ईमानदारी, जिसे उन्होंने काव्य का मूल गुण भी माना है, उन्हें कल्पना पर निर्भर

रहने वाले समकालीन कवियों से दूर कर के आज के अनुभूति-निर्भर कवियों के निकट ले आती हैं।

अनुभूति का ईमानदार कथन या चित्रण––यही नवीन की सृजन-प्रक्रिया है। फलतः हमें उनकी रचनाओं में, विशेषतः प्रारंभ से मध्य वय तक ही रचनाओं में, एक कसे-झनझनाते तार की विकलता प्रतिध्वनित मिलती है। यह कसाव अभाव का है और यह झनझनाहट परिस्थितियों की चोट है। उनकी एक-एक पंक्ति में हम उनकी नसों का तनाव पढ़ सकते हैं। यों, कुछ रचनाएँ ऐसी भी मिल जाती हैं जिनमें यह तनाव नहीं है, समर्पण है या आश्वस्ति है। पर ये रचनाएँ अधिक नहीं हैं। और जिसका समस्त कृतित्व ही विरोधी तत्वों पर आधारित हो, वह इसकी भी चिंता क्यों करे! इस संशय और द्वंद्व को और उससे उत्पन्न तनाव को एक और तथ्य में देखा जा सकता है। नवीन की अधिकांश कविताओं की रचना या तो जेल में हुई है या रेल में। दोनों ही तनाव की स्थितियाँ हैं। और कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं जो या तो रात को दो-ढाई बजे लिखी गयी हैं, या किसी मेहमान के घर खाना खाते-खाते लिखी गयी हैं। यह उनकी ईमानदारी का ही छोटा-मोटा प्रमाण है कि यह सूचना पाठक को अनायास ही मिल जाती है।

यहाँ नवीन के काव्य में उस तत्व पर भी विचार करना उपयुक्त होगा जिसे हम उनकी मस्ती, उनका फक्कड़पन कहते आये हैं। क्या मस्त व्यक्ति संयम और कर्तव्याकर्तव्य की उधेड़-बुन में पड़ता है? क्या फक्कड़ व्यक्ति 'अपने रथ' की और 'चिरसंगी' की माँग करता है? नवीन दोनों ही करते हैं। इसीलिए मेरा निवेदन है कि नवीन की मस्ती मस्ती नहीं है, वह तनाव की ही स्थिति है। इसी तरह, वे कितना ही कहते रहें कि हम तो 'रमते जोगी' हैं, 'अनिकेतन' हैं, पर यह भी स्वीकार की नहीं, तनाव की ही स्थिति है। जिन कविताओं में यह मस्ती और अवधूत का-सा फक्कड़पन मिलता है, उनमें भी यह तनाव ध्यान देते ही पकड़ में आ जाता है।

पहले मस्ती को लें। मस्ती का परम प्रमाण है नशा, शराब, बेहोशी। इस चरम प्रतीक को अपनाना ही एक तरह से मस्ती की काट कर देना है, क्योंकि शराब की मस्ती सच्ची मस्ती नहीं होती, तनाव की स्थिति से बच निकलने का प्रयास होता है। नवीन भी अपनी इन मदिर रचनाओं के माध्यम से तनाव की स्थिति से बच निकलना चाहते हैं, पर शराब और कविता का अंतर बना ही रह जाता है। उन्हें उतनी देर भी बचाव नहीं मिलता जितनी देर शायद शराब दे देती है। यदि एक बार वे कहते हैं:

'कूज़े दो कूज़े में बुझने वाली मेरी प्यास नहीं
बार-बार 'ला-ला' कहने का समय नहीं, अभ्यास नहीं
अरे बहा दे अविरल धारा बूँद - बूँद का कौन सहारा?
मन भर जाय हिया उतरावे डूबे जग सारा का सारा
ऐसी गहरी, ऐसी लहराती ढलवा दे गुल्लाला
साक़ी, अब कैसा विलंब? ढरका दे अंगूरी हाला

स्पष्ट है कि अभाव-ग्रस्त जग को डुबोने के लिए वे गुल्लाला की माँग करते हैं, पर क्योंकि गुल्लाला जग को डुबो नहीं पाती इसलिए वे दूसरी ही साँस में कहते हैं कि **'भर-भर प्याले यौवन-मदिरा के देना अब बंद करो'** क्योंकि **'स्वामी, नैतिकता की डोरी जल जायेगी'**, और इसी लिए **'मेरी साँसें कर लो अपने श्री-चरणों में तुम विजया'**। यह लीजिए, मदिरा पियेंगे, सारे जग को डुबोयेंगे, पर नैतिकता की डोरी न जलने देंगे। तनाव से बचने के लिए जो रास्ता अपनाया था वहाँ भी तनाव पैदा हो गया। असल में वे 'नयी सृष्टि' करना चाहते हैं, सो भी 'रानी के मधु-प्यालों' से और 'नैतिकता की डोरी' में बँधे रह कर—और इसे हम नवीन की मस्ती बखानते आये हैं! इनसे तो अच्छे बच्चन ही हैं जिन्होंने नवीन जैसा अग्रज पा कर हालावाद के प्रवर्तन का सेहरा उन्हीं को पहना दिया है।

अब आइए, ज़रा उनका फक्कड़पन देख लिया जाय। जो 'अनिकेतन' है, 'विरथ' है, वह तो जन्मजात फक्कड़ है। उसे उसका ढोल पीटने की भी जरूरत नहीं। ठीक वैसे ही जैसे मस्त आदमी को गुल्लाला की क्या ज़रूरत। और उनकी कविताएँ इसका भी भेद सहज ही हमारे आगे प्रकट कर देती हैं। वे फक्कड़ हैं, पर फक्कड़ बने रहना नहीं चाहते। बार-बार अपनी निःसंगता को, अपनी 'रमते राम'-ता को छोड़ कर संग और 'निकेत' खोजने लगते हैं। पर परिस्थितियों के कारण विवश हैं। प्रमाणस्वरूप कुछ पंक्तियाँ देखिए——

इस अनादिमय, इस अनंतमय समय-वारि में ओ दयिते
कुछ तो साथ निभा दो, कब से बैठा हूँ हिय-हारा में

अथवा

सुकुमार, पधार खिलो टुक तो इस दीन गरीबिन के अँगना
हँस दो, कस दो रस की रसरी, खनका दो अजी कर के कँगना

पर नवीन झट पैंतरा बदल देते हैं——

कुछ ऐसा ही-सा विधान है मेरे इस लघु जीवन का
कि बस नहीं मिलने का मुझको चिरसंगी मेरे मन का
तुम हो! ओ भोली, पगली हो, बंधुर मेरा पंथ बड़ा
बड़ा कठिन है, सजनि, निभाना किसी मस्त प्रेमी जन का

और यह वही 'सजनि' है जिसकी एक झलक पाने को वे अपने जीवन की चरम सफलता मानते हैं। असल में न वे फक्कड़ जोगी हैं, न मस्त प्रेमी। वे संशय-ग्रस्त प्राणी हैं—संक्रांतिकाल के प्राणी जो द्विधा में जीते-जीते कलियुग को भी द्वापर कहना चाहते हैं। और इसीलिए उन्होंने अपनी समस्या का एक निजी हल निकाला है—**'होने दो हौले-हौले इस दग्ध हृदय में दाह'**।

हाँ, इस 'हृदय में दाह' को—इस अचिर स्थिति—को ही वे चिरस्थायी बना लेते हैं। वे कहते तो हैं कि **'हम परित्याग के आदी हैं'** पर परित्याग करते नहीं। वे यह भी कहते हैं कि 'तन-

मन से तुमको प्यार किया' पर मौक़ा आने पर न तन देते हैं न मन——बस हृदय के दाह को ही गले से लगाये रहते हैं।

नवीन की प्रणय-कविताओं में उत्कट लालसा और दूरी का जो संमिश्रण मिलता है वह इसी संशय-ग्रस्त मन की उपज है। उनकी रचनाओं में मिलन के चित्र अत्यंत विरल हैं पर दर्शन और श्रवण के चित्र पग-पग पर मिल जाते हैं। नूपुरों की जितनी झुनझुनाहट नवीन की कविता में है उतनी बाक़ी सारे हिंदी साहित्य में नहीं है।

जेल और रेल का जीवन, और हृदय में हौला-हौला दाह —— ये दोनों टकरा कर नवीन के लिए एक और समस्या खड़ी कर देते हैं जो नितांत उनकी अपनी है। यह समस्या है पाप और पुण्य की, संयम और असंयम की। प्रेम को भला पाप कब-किसने कहा है? प्रेम में संयम कब-किसने चाहा है? पर नवीन के प्रेम का स्वरूप ही ऐसा है कि ये दोनों ही प्रश्न भूत की तरह उनके सामने आ खड़े होते हैं। कभी तो वे कहते हैं——

जोग-छेम की प्रेय-श्रेय की मुझे नहीं परवाह
इतना जानूँ कि प्रेम में नहीं पाप नादान

पर दूसरी ही साँस में कह उठते हैं——

कैसे दिखलाऊँ कि पड़े हैं मेरे हिय में भी छाले
तुम्हें चाहता हूँ कितना, यह कैसे जतलाऊँ बाले
किंतु चाह का दाह मात्र ही इस जीवन का लक्ष्य नहीं
कर्तव्याकर्तव्य-तत्व के पड़े हुए हैं हम पाले!

नवीन के मन का यह संशय, यह द्विधा ही वह तलवार है जिसके कारण उन्हें अपने पथ को 'असिधारा पथ' कहना पड़ा।

इस 'असिधारा पथ' की तलवार दोधारी तलवार है। उसकी एक धार उनका प्रणय है तो दूसरी धार है उनका स्वदेश-प्रेम। नवीन जैसा सर्वहारा देश-प्रेम का व्रत पा कर निहाल ही हुआ होगा। स्वतंत्रता के उस संग्राम में बड़ी निष्ठा, बड़ी लगन से भाग लिया; और उनके इस व्रत की साक्षी हैं उनकी **'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ', 'आज खड्ग की धार कुंठिता औ' ख़ाली तूणीर हुआ'** और **'सिरजन की ललकारों'** आदि रचनाएँ। हिंदी के समीक्षकों ने कवि नवीन के इसी रूप को उजागर किया है, पर इन तथाकथित राष्ट्रीय रचनाओं में भी विद्यमान भावुक नवीन के मानवीय संशय को देखना-दिखाना उन्होंने पसंद नहीं किया। पर उसको अनदेखा कर के हम नवीन के सच्चे और संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ न्याय नहीं कर सकते।

देखिए बलि-पथ पर चलता सैनिक अपने मन से क्या कह रहा है——

निकला था तू जब कि जूझने धारण कर सैनिक का बाना
जब कि बज उठा था रण-धौंसा जब गूँजा था युद्ध-तराना
तब क्या तुझसे कहा गया था कि हैं सुमन ही तेरे मग में
क्या तुझको यह ज्ञात नहीं था कि हैं शूल अगणित मारग में ?
तब क्यों दिखलायी दे तेरे मुख पर आज त्रास की छाया
भावी दर्शनशील दृगों में तेरे क्यों नैराश्य समाया ?

पर 'क्यों' कोई जादू-मंत्र नहीं है जो उच्चारित करते ही उड़ जयगा। यह नैराश नवीन की परिस्थिति में अवश्यंभावी है। उसका बीज उस महाप्रसिद्ध गीत में ही छिपा था, हम तब केवल ध्यान नहीं दिया था। कवि ने 'उथल-पुथल मचाने' के साथ-साथ यह भी कहा था— **'दिल को मसल-मसल मेंहदी रचवा आया हूँ मैं, यह देखो।'**

पर दिल को मसल कर मेंहदी रचवाना उनसे हो नहीं सका——साधारण मानव से हो भ नहीं सकता। जब तक वे उत्तेजना में रहते हैं, तनाव की स्थिति में रहते हैं, तब तक तो 'महाना की भट्ठी' से कहते रहते हैं——**'जल उठ, जल उठ, अरी भभक उठ'**, पर जब उत्तेजना के क्षण बीत जाते हैं तब अपनी असफलता का चिंतन करने लगते हैं——**'माया मिली न जन-वैभव की, मिले न राम लोकसुख के !'** और दुख मनाते हैं कि यह परवश-तन, यह परवश मन। इन्हीं क्षणों में वे चिंतन-प्रधान रचनाएँ उपजती हैं जो एक ओर समस्त सृष्टि के विकास और इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयास करती हैं, और दूसरी ओर वे रचनाएँ जिनमें परमतत्व और मृत्यु संबंधी रहस्यों का गायन है। पर इन सब के पीछे मूल स्वर नवीन के उस धड़कते मानवीय मन का ही है जो पीछे की ओर देखता है तो कृत को अकृत करना चाहता है, और आगे की ओर देखता है तो——

अब कहाँ जाऊँ ? कुछ तुम्हीं तो बता दो अरे !
जाऊँ कहाँ अब इस तीसरे पहर में !
ऐसा लगता है मानो जीवन कटा है यों ही
गलियों में कूचों में औ सँकरी डगर में

तीसरे पहर के इस आश्रय में ही नवीन के जीवन की चरम करुणा छिपी हुई है—एक अत्यंत मानवीय स्थिति जो संशय के विष से भी अधिक विषैली हो गयी।

सन १९४५ में जेल से छूटने के बाद 'हम विषपायी जनम के' के अनसार नवीन ने आश्चर्यजनक रूप से कम कविताएँ लिखीं। इसके कारणों का अगर अनुमान करने बैठें तो मुझे लगता है कि नवीन के काव्य की मूल प्रेरणा——संशय और द्विधा——की परिस्थिति में परिवर्तन ही इसका कारण है। नवीन भीतर से थक गये थे, ऊपर से एक ओर देश आज़ाद हो रहा था इसलिए जेल जाने का अब प्रश्न न था, और वह व्यक्ति जिसे उन्होंने 'रानी', 'सजनी', 'ठकुरानी', 'मालिक' और 'स्वामी' कह कर संबोधित किया था—उनके जीवन से दूर हो चुका था। फलतः वह तनाव

अब अनुपस्थित था जिसमें छोटी-से-छोटी गति भी उनके तार झनझना देती। इसके बाद उनकी जो रचनाएँ बड़ी प्रबलता से हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं वे सब सन १९५५ की रचनाएँ हैं जो कदाचित उनकी अंतिम रचनाएँ हैं; जो पहली बार इस संग्रह में प्रकाशित हुई हैं, और जो उनके तीसरे पहर के आश्रय से संबंधित हैं।

दो विषम परिस्थितियों से उत्पन्न तनाव के कारण ही नवीन 'यात्री' या 'पथिक' बने थे—न 'जोगी' बन सके, न 'सनिकेत'। अब तनाव समाप्त हुआ तो उनमें से एक बन जायें—उनके पास इतना ही विकल्प था। हम सब साधारण प्राणी हैं, इसलिए इसका सहज समर्थन कर सकते हैं कि वे 'सनिकेत' बने। पर जिसे आश्रय और निकेत माना, जिसे शरणस्थल समझा वह शूल निकला; उनका जीवन 'अहि-आलिंगित' हो गया। दाद दीजिए नवीन की मर्दानगी और ईमानदारी की जो अपनी यंत्रणा को वे इन शब्दों में रख गये हैं—

ले लिया ईश की कृपा समझ जो कुछ मैंने
वह विषफल और विषोदक ही निकला भाई

और जो नवीन बार बार पूछते रहे—**'क्या मैं कर सकता हूँ कृत को अकृत'**, उन्हें अब पता लग गया है कि यह संभव नहीं है। पर फिर भी उन्होंने जूझना नहीं छोड़ा। जूझना उनका स्वभाव था, वह उन्हें सहज था। इसे हम पराजय का भाव भी समझ सकते हैं, और चाहें तो नवीन के मानवीय मन की आशा-भावना—

यों शूल-युक्त, यों अहि-आलिंगित है जीवन
पर, सुमन, सुधा का है स्वभाव मेरा निश्चय
निश्चय ही होंगे कंटक परिणत सुमनों में
बरसेगा अमृत और होगा अहि-विष का क्षय!

आख़िर इसी आशा पर तो वे आजीवन विष का पान करते रहे थे।

—आई / २२, जंगपुरा एक्सटेंशन,
नयी दिल्ली-४।

गोष्ठी-प्रसंग

'विवेचना' में 'हम विषपायी जनम के'

'विवेचना' की मासिक गोष्ठी गत २२ नवंबर, १९६४ को एनीबेसेंट हॉल में श्री बालकृष्ण राव की अध्यक्षता में हुई। श्री भारतभूषण अग्रवाल ने स्वर्गीय कवि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के कविता-संग्रह 'हम विषपायी जनम के' की समीक्षा प्रस्तुत की।

उनके प्रवर्तन के बाद विचार-विमर्श में भाग लिया सर्वश्री भगवतीचरण वर्मा, सुमित्रानंदन पंत, डॉक्टर जगदीश गुप्त, डॉक्टर रामस्वरूप चतुर्वेदी, विश्वंभर 'मानव', डॉक्टर रघुवंश, गिरिराज किशोर और बालकृष्ण राव ने।

श्री भगवतीचरण वर्मा ने भारतभूषण अग्रवाल के लेख द्वारा प्रत्यक्षीकृत 'नवीन' जी के व्यक्तित्व के प्रति अपना वैमत्य व्यक्त किया और कहा—हमारा नवीन जी का अत्यंत निकट का परिचय रहा है; मेरा उनका साथ सन १९१८ से था। स्वर्गीय गणेश शंकर विद्यार्थी के संपर्क में आने के बाद उन्होंने कविता-लेखन आरंभ किया। नवीन जी प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। लेकिन कविता के साथ-साथ वे राजनीति की मरीचिका की ओर अग्रसर होते गये। 'प्रताप' उन दिनों विद्रोह का केंद्र था। और इन परिस्थितियों का प्रभाव नवीन जी पर ख़ूब पड़ा। जहाँ तक उनकी मस्ती का सवाल है, इस संबंध में यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि पंडित विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' का समुदाय मस्ती का गढ़ था। यह मस्ती नवीन जी के जीवन में वहीं से आयी। बाद में साहित्य की अपेक्षा नवीन जी के जीवन में राजनीति अधिक महत्वपूर्ण हो गयी। हम जानते हैं कि जेल का जीवन तनाव की मनःस्थितियों से भरा होता है। और इसीलिए उनकी कविताओं में तनाव है। लेकिन जेल से बाहर की ज़िंदगी में वे सदैव मस्त और फक्कड़ थे। तनाव की कविताएँ इसीलिए बदले या बदलते हुए 'मूड' की कविताएँ हैं। वे जिस वर्ग से आये थे, वह उपेक्षित था, इसीलिए उस निम्न मध्यवर्ग की कुंठाएँ भी उनमें थीं। वे प्रारंभ में उमर ख़ैयाम से बहुत प्रभावित थे और अनातोले फ़्रांस की 'थाया' की प्रशंसा किया करते थे। हालावाद की शुरुआत उन्हीं से हुई। उनके स्वभाव में सदैव एक प्रकार की उग्रता रही। नवीन जी की कविताओं में प्रेम और राजनीति—दो स्वर प्रधान हैं। आलोचकों ने छायावाद-काल को बहुत सावधानी से नहीं जाँचा-परखा है। छायावाद के अतिरिक्त उसी के समानांतर एक राष्ट्रवाद भी पनप रहा था, जिसके अगुआ थे नवीन जी। उसी प्रभाव में मैं भी था। बल्कि नवीन जी मेरे साथी और गुरु भी थे। मैं राजनीति में न जा सका। नवीन जी को भी नहीं जाना चाहिए था। नवीन जी अपनी रचनाओं के प्रति सदैव उदासीन रहते थे और यही कारण है कि उन्होंने कभी उसके प्रकाशन की चिंता नहीं की। सन १९४५ के बाद उनकी कविताओं की प्रवृत्ति में परिवर्तन हुआ। आज़ादी के बाद हर आदमी अपने त्याग का प्रतिफल चाहता था। किंतु नवीन जी को उनके बलिदान, त्याग और प्रतिभा की तुलना में जो कुछ मिला, वह बहुत कम मिला।

श्री सुमित्रानंदन पंत ने श्री अग्रवाल की नवीन की कविता के प्रति व्यक्त दृष्टि से सहमति प्रकट करते हुए नवीन जी की प्राणवत्ता तथा ओजस्विता स्वीकार की। उनकी कविता को उन्होंने मात्र 'अभिव्यक्ति' की संज्ञा दी, 'सर्जना' नहीं। उनका व्यक्तित्व झंझावात के समान शक्तिशाली था। साथ ही उनके भीतर बड़े उदात्त भाव थे। किंतु अपने व्यक्तिगत 'सेल्फ़' से उन्हें जूझना पड़ता था। साधारण या असाधारण तो मनुष्य होता ही है। किंतु नवीन जी को कवि बनाया उनके प्राण-तत्व ने। लेकिन संतुलन न होने से वे सौंदर्य के स्रष्टा न हो सके। वे ईमानदार थे। शिल्प और कला का अभाव इससे ढँक जाता है। वे छायावाद-युग के ही कवि हैं। राष्ट्रवाद छायावाद का ही अंग है; क्योंकि नवीन में रोमांटिक तत्व वैसे ही मिलता है, जैसे

छायावादियों में मिलता है। प्रणय की भावनाओं ने उन्हें बहुत झकझोरा। शायद वे राजनीति में भाग न लेते, उनकी शक्ति का उदात्तीकरण इस प्रकार न होता, तो वे न जाने क्या हो जाते। नवीन जी भूखे नहीं थे और उनकी आकांक्षाएँ ऐसी नहीं हैं कि पूरी नहीं हुईं। किंतु उनका प्राण-तत्व हर बार उन्हें असंतुष्ट छोड़ जाता था। यही उनकी शक्ति थी।

डॉक्टर जगदीश गुप्त ने भारतभूषण जी की समीक्षा में अपनी दृष्टि से कुछ शेष रह गयीं बातों का उल्लेख करते हुए कहा––नवीन जी की आध्यात्मिक ढंग की बहुत-सी कविताएँ हैं। भारतभषण जी के अनुसार ऐसा नवीन जी के संशयग्रस्त होने के कारण ही है। मैं समझता हूँ, ऐसा नहीं है। जब मैं 'क्वासि' की समीक्षा कर रहा था, मुझे इससे भिन्न अनुभव हुआ था। वस्तुतः यह दिशा संशय और द्वंद्व से भिन्न या इनसे अतिरिक्त, बल्कि छायावादियों से अधिक सचेत, स्थिति है, क्योंकि वे वैदिक, औपनिषदिक और कबीर की शब्दावली का भी निर्द्वंद्व प्रयोग करते हैं। इस प्रकार की शब्दावली के प्रयोग से स्पष्ट है, यह मात्र 'एस्केप' (पलायन) नहीं है। साफ़ लगता है, वे संपादित अनुभवों की सापेक्षता में सहारा ले कर कुछ कहना चाहते हैं। उनके शब्द-प्रयोग की तुलना में छायावादियों के इस प्रकार के शब्द अपरिभाषित ही हैं।

दूसरी बात यह है कि नवीन जी में निराला की तरह राग-तत्व बहुत प्रबल रहा है। इसी तरह उनमें तन्मयता की स्थिति सदैव रही है। जब तक उनकी अतिशय रागात्मकता की व्याख्या नहीं की जायगी, उनके व्यक्तित्व का एक अमिट अंग अस्पष्ट ही रहेगा।

पंत जी से नवीन जी के असंतुलन के प्रति सहमति प्रकट करते हुए उन्होंने श्री अग्रवाल की यह स्थापना स्वीकार की कि नवीन जी में विविधता है, किंतु असंगठन के सत्य को उन्होंने ज़ोर दे कर स्वीकार किया। इस बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—गुण और त्रुटि के माध्यम से इसे समझा जा सकता है। जैसे उनके ब्रजभाषा-काव्य में वह कला-चेतना नहीं थी, जो कि उस समय अनिवार्य थी। और प्रकाशन के संबंध में, उनकी दृष्टि में, स्वयं नवीन जी भी दोषी थे, क्योंकि उन्होंने इस सिलसिले में लापरवाही बरती।

डॉक्टर रामस्वरूप चतुर्वेदी ने श्री अग्रवाल के लेख के संदर्भ में कहा कि इस प्रकार पहले कभी नवीन जी के व्यक्तित्व को आकलित नहीं किया गया। लेकिन उनके विषय में एक कठिनाई तब भी शेष रह जाती है। श्री भारतभूषण अग्रवाल ने नवीन जी के व्यक्तित्व से जो अपेक्षाएँ की हैं, वैसी अपेक्षाएँ न की जायँ, तो उचित होगा। मुझे लगता है कि वे महत्वशाली कवि नहीं हैं प्रिय (फ़ेवरिट) भले रहे हों। 'महत्वशाली कवि' जब मैं कहता हूँ, तो मेरा अर्थ उस कवि से होता है, जो विविध घात-प्रतिघात को अपनी प्रखर प्रतिभा से संघटित कर कुछ इस प्रकार प्रस्तुत कर देता है कि वह नये अर्थ में आयामित हो जाता है। उनके शब्दों का भाव कुछ ऐसा ही था। प्रिय या लोकप्रिय बृहत्तर अर्थ में महत्वशाली का पर्याय हो सकता है, किंतु मेरा अर्थ व्यक्तिगत स्तर पर प्रिय कवि से है, और वह निश्चय ही बृहत्तर संदर्भ में कोई अर्थ नहीं रहता। ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसे कवि का महत्व प्रायः नहीं हुआ करता।

डॉक्टर रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा कि भारतभूषण जी के लेख में एक चीज़ रह जाती है। वह यह है कि नवीन के समूचे काव्य में शिव का औघड़ रूप रह-रह कर झलक जाता है, लौट-

लौट कर आ जाता है। श्रृंगार का आध्यात्मीकरण, वाघंबर, चिमटा, अहि आदि शब्द इसीलि उनके काव्य में अपने उसी अर्थ-संदर्भ सहित बार-बार प्रयुक्त हुए हैं। नवीन के काव्य में शिव के सभी तत्व मिलते हैं, किंतु भगवती बाबू ने जैसा कि अभी उनके संदर्भ में विजया की बात कही, उनके काव्य में नहीं मिलती। (हँसी) विजया के स्थान पर शराब का प्रयोग बार-बार मिलता है। शायद तनाव की स्थिति इसी कारण है। (पुनः हँसी) यहीं हम पाते हैं कि शिव के पौराणिक रूप को नवीन जी पुनर्प्रतिष्ठित कर के एक नया संदर्भ दे देते हैं।

श्री विश्वंभर 'मानव' ने नवीन जी के अतीत को निजी स्तर पर स्पष्ट करते हुए कहा—सन १९३४ में जब मैं कानपुर में पढ़ता था, उनसे मिला था। उन दिनों द्विवेदीकालीन औ छायावादी कविताएँ एक साथ धाराप्रवाह प्रचलित थीं। उस समय भी विद्यार्थी नवीन जी कोमल भावनाओं और ओज से भरी कविताओं की माँग करते थे। उस समय भी उनमें कोम अनुभूति तथा ओज दो तत्व थे। तीसरा तत्व—मस्ती—भी उसी समय स्पष्ट हो चला था। बा में अवश्य अंतर आया—जैसे 'विशाल भारत' में प्रकाशित लंबी कविता, जिसमें उन्होंने देश-का में मानव की यात्रा और चेतना के इतिहास का वर्णन किया है। 'उर्मिला' भी उन्होंने १९३४ ही लिख ली थी; खेद है कि उसका प्रकाशन १९५७ में हुआ।

अपने स्थान पर नवीन जी बहुत बड़े थे। फिर भी छायावादी जिस तीव्रता से कीर्ति पताका फहरा सके थे, वह उनके और अन्यों के लिए फिर संभव न हो सका। जो प्रसिद्ध हुए भी उन्होंने अपने रास्ते मोड़ दिये। भगवती बाबू जैसे लोगों ने गद्य का पथ अपनाया। अज्ञेय जी सबसे बड़ी बुद्धिमानी की कि छायावादी शब्दावली का सर्वथा परित्याग कर वे प्रयोगों क ओर मुड़ गये। डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने इसी प्रकार नाटक का क्षेत्र चुन लिया। नवीन जी उस भाषा को नहीं अपनाया, जिसे छायावाद ने पल्लवित किया। उन्होंने ग्रामीण तद्भव शब्द के उपयोग के साथ-साथ 'मम', 'रहूँ हूँ' जैसे पुराने और ग़लत शब्दों का भी प्रयोग किया।

डॉक्टर रघुवंश ने प्रवर्तक की ओर संकेत करते हुए कहा—उन्होंने 'संशय' और 'तनाव द्वारा नवीन जी को समझने की कोशिश की है। किंतु हमारे लिए 'संशय' का संदर्भ दूसरा है क्या नवीन जी के लिए 'संशय' का प्रयोग आवश्यक है? क्योंकि अंततः वे रोमांटिक कवि थे जिसके लिए संशय से ज़्यादा उचित संघर्ष होता है।

कथाशील श्री गिरिराज किशोर ने सहमे हुए स्वरों में नवीन की कविताओं की उपमा कई दीपकों की सम्मिलित लौ से दी, जिसके सहारे नवीन जी कई रास्तों की ओर मुड़े हैं। उनकी कविताओं में एक प्रकार का असंतुलन है, जैसे हीरे को कूट कर बिखेर दिया गया हो। उनके काव्य में 'नोबुल फ़ायर' का-सा चमत्कार है। चमक और उग्र व्यक्तित्व उनकी विशेषताएँ हैं।

श्री बालकृष्ण राव ने कुछ न कह पाने की विनम्र विवशता का उद्घाटन करते हुए कहा—मेरा-उनका परिचय पुराना तो नहीं था, किंतु उनके जीवन के अंतिम वर्षों में जब निकटता आयी तब वह निकटता कई रूपों में गहराती गयी। मैं श्री अग्रवाल से पूर्णतया सहमति प्रकट करता हूँ कि उनमें संशय—पूर्ण संशय, ज़बर्दस्त संशय—था। उनके अंतिम वर्षों में यह संशय रह-रह कर लौटता है। अपनी बातचीत में, मंदिरों और देवताओं के संबंध में यह संशय अक्सर व्यक्त होता था।

इस संशय को हम उनकी कविता से भले न जान सकें, लेकिन उन्हें जान कर यह संशय अवश्यमेव पाते हैं। वे एक ओर शुद्ध उच्चारण पर बल देते थे, दूसरी ओर उनकी भाषा इतनी अनगढ़ थी! यह विरोध क्यों? भगवती बाबू और पंत जी के अनुसार उनका राजनीति में पड़ना ठीक नहीं था। मैं समझता हूँ, राजनीति में पड़ना बुरा नहीं है; दलगत राजनीति में पड़ना बुरा है। और वे दलगत राजनीति में पड़े। लेकिन एक दल में वे अँट नहीं सकते थे।

उनकी कविता बिना छने हुए पानी (अनफ़िल्टर्ड वाटर) की भाँति है, जिसमें मरे हुए मेढक, सड़ी हुई पत्तियाँ, कूड़ा-कचरा सभी कुछ पूरी गतिमयता से चला आता है। ऐसी सहज, अनगढ़ कविता भी उनकी पूरी अनुभूति को पचा नहीं पाती। मूलतः वे जुआड़ी थे : आशावादी! उनमें पुंसत्व और आशावादिता एक जुआड़ी की तरह थी। उनमें उद्दाम वेग, अतः दायित्वहीनता थी। इसका उन्हें बोध भी था। इसीलिए करुणा का, वेदना का स्वर उनमें अंततः प्रमुख है। छायावाद के संदर्भ में जो बातें आती हैं उनमें श्री राव की दृष्टि में नवीन जी बँध नहीं पाते। वे रोमांटिक हैं पर उनमें परंपरा के प्रति श्रद्धा है।

श्री राव ने डॉक्टर जगदीश गुप्त द्वारा उल्लिखित उनके सस्वर कविता-पाठ के संदर्भ में कहा——पढ़ते समय नवीन जी अपने आप को खो देते थे। यह प्रवृत्ति ही नहीं, (किंचित दबे स्वर में) चेष्टा भी थी। भगवती बाबू ने जिस पुस्तक के लिखने की चर्चा की है, चूँकि उसका संबंध नवीन जी से है, अतएव वे अपने दायित्व के अनुसार अवश्य पूरा करें।

अंत में उन्होंने श्री भारतभूषण अग्रवाल के लेख में डूब कर किये गये विश्लेषण की प्रशंसा की और श्री अग्रवाल ने पुनः समाधान की दृष्टि से बोलते हुए अपने लेख की इतनी स्वीकृति पर किंचित आश्चर्य और पूर्ण आभार प्रकट किया। उन्होंने बताया——यह निबंध वस्तुतः एक आत्मान्वेषण है। संशय का जो रूप उस समय हो सकता था, वही नवीन जी में मिलता है। एक कवि के रूप में मैं स्वयं अपने में नवीन जी से साम्य पाता हूँ। वे काव्य के बदलते परिवेश से भी प्रभावित होते रहे, जिसकी चर्चा शेष है। जैसे उन्होंने टकसाली छायावादी कविताएँ भी लिखीं, जिन्हें हम-आप कभी नहीं लिख सकते; क्योंकि वे बेकार हैं। वे ओज के नहीं, हमारे निकट के कवि थे। कविता उनका गंतव्य भी नहीं थी।

प्रस्तुत गोष्ठी में शांति और विचारोत्तेजना तथा सुरुचि का वातावरण रहा और शमशेर जी तथा श्री नरेश मेहता जिज्ञासु युवक की-सी मुद्रा में गंभीर और खोये-खोये से मौन रहे। श्री अश्क इस गोष्ठी में अनुपस्थित रहे। संस्मरणों के माध्यम से आत्म-रति के स्थान पर अवकाश (गैप) को भरने का प्रयत्न किया गया।

मृत्यु के कारण हिंदी का हर लेखक जो स्वर्गीय से स्वर्गिक होता जा रहा है, कम से कम उसके प्रति गलदश्रु, कुरुचिशील एवं 'दया धर्म को मूल' वाला दृष्टिकोण 'विवेचना' में नहीं मिला। बल्कि बाहर जितना चंद्रोदय था, उतना ही भीतर शांत समीक्षण के प्रति उज्वल दृष्टिकोण भी था। शायद नवीन जी के प्रति आज के साहित्यकार की यही भाव-पद्धति उचित भी थी।

—विवेचक

समीक्षा

●

गीत और नयी कविता के द्वंद्व के बीच दो गीतकार

●●

मेंहदी और महावर

उमाकांत मालवीय के गीतों का संग्रह। साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद। प्रथम संस्करण १९६३। मूल्य : ३.५०।

●

गीत भी अगीत भी

नीरज के गीतों का संग्रह। राजपाल ऐंड संस, दिल्ली। प्रथम संस्करण १९६३। मूल्य : २.००।

गीत विधा की दृष्टि से मध्यकालीन है। उसका स्वरूप बदल देना संभव है, किंतु उसकी अंतःप्रकृति बदलना असंभव है। संपूर्ण मध्यकाल का केंद्र भावना थी। भावना का जितना विकास संभव था, हो चुका। जब 'हो चुका' कह रहा हूँ, तो काल-दृष्टि से तर्कतः यह तो सिद्ध ही है कि कहा जाय, विकास की स्थिति वर्तमान में भी है। किंतु यहाँ विकास की दृष्टि से एक नयी कड़ी शुरू हो जाती है और वह कड़ी है बुद्धि की। इस बौद्धिक युग में—एक्सरे और माइक्रस्कोप के युग में—भावना, हृदय और भावुकता या तो निरर्थक हो गये हैं या समाप्त। कम से कम उनकी मूल्यवत्ता गौण तो हुई कही ही जा सकती है।

और जो गौण है, उसे प्रमुख मान लेना कलाकार का सत्य नहीं हुआ करता। ज़िद हो सकती है। पिछलग्गूपन हो सकता है।

गीत के हिमायती कदाचित रवींद्र का नाम लें, लेकिन अंतिम दिनों में वे गीति-विधान को छोड़ कर नये स्थापत्य की ओर मुड़ गये थे। यूँ महादेवी वर्मा जैसी गीति-कारयित्री के लि आज के युग को 'गीति-प्रधान' कह देना संगत लगे, किंतु जो संपदा आज हमें सर्वत्र उपलब्ध है वह इस संगति के विरोध का अच्युत प्रमाण है और वे भी मानती हैं कि **'आज हम ऐ बौद्धिक युग में से जा रहे हैं, जो हृदय को मांसल यंत्र और उसकी कथा को वैज्ञानिक आविष्कारों की पद्धति मात्र समझता है, फलतः गीत की स्थिति कठिन से कठिनतर होती जा रही है।'**

आदिम रूप में विशुद्ध काव्य शायद गीत रहा हो। विशुद्ध काव्य जब था, तब था। लेकिन आज भी हम गीत के रूप में विशुद्ध काव्य की कल्पना करें, कम से कम संभव नहीं प्रतीत होता। दोमेनिकी कादोरेसी ने एक स्थान पर लिखा है : **"यदि विशुद्ध काव्य हमें जीवन ही से पृथक करता है तो उस काव्य को विशुद्ध रखने की आवश्यकता ही क्या है।**

हो सकता है, कोई नोबेल पुरस्कार-विजेता गीतकार का हवाला दे और कहे कि उसने विशुद्ध काव्य की रक्षा की, वैज्ञानिक युग को हृदय के स्तर पर प्रेषणीय सिद्ध कर दिखाया और इस बौद्धिक परिणति की भी उसे ज़रूरत नहीं पड़ी। लेकिन बात दरअस्ल यह नहीं है। उसने मध्यकालीन भक्ति का सहारा लिया और अतीतजीवी हो कर नये युग को देखने की भरपूर

कोशिश की। जो दृष्टि प्रागार्य युग के द्रष्टा की थी, वह भी उसमें नहीं मिलेगी। आश्चर्य, शिशुवत जिज्ञासा और पलायन उसमें कदाचित सौंदर्य का उद्घाटन करता हुआ मिल जाय, किंतु नये युग की ऊर्जा फ़िलहाल उसमें नहीं मिलेगी। क्योंकि **'परवर्ती युगों में भी बहुत समय तक बीते हुए युग की अवशिष्ट कविता होती जाती है।...पर यह सब आज की कविता नहीं है, भले ही आज लिखी जा रही हो।'**

अवशिष्ट कविता अवशिष्ट जीवन का प्रतीक होती है। अतएव अवशिष्ट कविता का कवि अग्रिम नहीं बन पाता और अग्रिम बनना ही कलाकार की नियति है। अवशिष्ट के प्रति आकर्षण उसे अनुकृतिकार तो बना सकता है, कलाकार नहीं बनने दे सकता।

गिरिजाकुमार माथुर ने सामाजिक धरातल पर इस सिलसिले में विचार व्यक्त करते हुए कलागत माध्यम और शैलियों को **'सामाजिक प्रक्रिया का अवशेष'** माना है। 'अवशेष' शब्द पर उन्हें आपत्ति न हो, पर मुझे है। क्योंकि कलागत माध्यम यदि 'अवशेष' है तो वह नया नहीं है। वह 'सामाजिक प्रक्रिया का गत्यात्मक अनुभावन' या ऐसा कुछ और भले ही हो सकता है। शायद माथुर जी ऐतिहासिक दृष्टि से चले आते माध्यमों के लिए ही 'अवशेष' शब्द का उपयोग करना चाहते हैं, उसे अन्य दृष्टि से देखना भी उचित नहीं है। इसी दृष्टि से वे मानते हैं : **'सामाजिक स्थिति जैसे-जैसे परिवर्तित होती रहती है तथा चेतनाएँ बदलती हैं, उसी के साथ कलाओं के माध्यम, शैली, प्रकार, छंद आदि सहगामी-विचरण-प्रक्रिया के सिद्धांत से बदलते और स्वरूप पाते जाते हैं। जब सामाजिक स्थिति और उसके निकाय परिवर्तन तथा संक्रमण से गुज़रते हैं, तब कला-माध्यम भी टूटने लगते हैं, उनका स्वरूप बिखर जाता है।'**

माध्यमों का बदलना तभी संभव होता है, जब समाज बदल जाता है। लेकिन एक माध्यम ऐसा भी हो सकता है, जो बदले हुए समाज के कारण हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त हो जाय। श्री रमेश कुंतल मेघ ने अपने एक लेख में अधिकांश समाज के 'वस्तु-तत्व' के 'लिरिकल' होने से इनकार किया है। उनकी दृष्टि में **'गीत के लिए उपयुक्त संवेदना-क्षण'** रह ही नहीं गया है।

'वे इस बदली हुई विषय-वस्तु के अनुरूप छंदोबद्ध या परंपरागत अभिव्यंजनों-प्रयोजनों में बँध नहीं पाते।' इस तर्क के बाद रमेश कुंतल मेघ ने गीतों के आंदोलन के लिए सिर्फ़ ज़िद के लिए तर्क दिये हैं और चालू स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। लेकिन बात सच है कि बदली हुई स्थिति को ही समझा जाय। भावोच्छ्वास के स्थान पर चिंतनोच्छ्वास का कोई मूल्य नहीं हो सकता, क्योंकि अगत्या उच्छ्वास तेज़ी से बदलते हुए आदमी के लिए वही पुराना लेंस दे सकता है जहाँ मोड़ की कोई संभावना ही नहीं है।

इस पुराने लेंस की निरर्थकता की ओर लक्ष्मीकांत वर्मा ने बहुत पहले संकेत किया था। उनकी दृष्टि में **'जो कला केवल भावप्रधान है या भावुकता से ओतप्रोत है, वह जड़ है, उसमें प्रेरणा नहीं है, इसलिए...निपट भावुकता कला-क्षेत्र में सदैव आपत्तियों को जन्म देती है। आज का नया भावबोध इस सत्य को स्वीकार करता है कि केवल कोरी भावुकता आज के मनुष्य को संतुष्ट नहीं कर सकती, क्योंकि सारी मानव-जाति की मानसिक स्थिति कैशोर अवस्था की भावुकता के चरण लाँघ चुकी है।'** चाहें तो

आल्डस हक्सले ने जहाँ आदि काल से ले कर आज तक के युग को जन्म से ले कर वयस्क होने तक के रूपक से व्यक्त करने की कोशिश की है, मिला कर और प्रमाणित कर सकते हैं।

चक्रनेमिक्रमानुसार आज हमारे लिए कुरूप भी सौंदर्य की दृष्टि से मूल्यवान हो गया है। उस कुरूप को, भदेस को, भोंड़े को क्या अत्यंत संगीतमय, पुष्कल रूप से प्रांजल गीतों में बाँधा जा सकता है? क्रिस्टोफ़र कॉडवेल ने जब कुरूप को सौंदर्य के लिए मूल्य माना था, तो निश्चय ही उसके सामने कला के नये रूप ही थे, पुराने नहीं। इसी प्रकार बहुत पहले जब अरस्तू ने आदर्श कला में उदारतावश अनुभूति के साथ-साथ तर्क पर बल दिया था, तब उसके सामने गीत जैसी पुरातन कला-पद्धति नहीं थी। उसने तभी उसकी हत्या कर दी थी।

और एज़रा पाउंड ने 'द स्पिरिट ऑफ़ रोमांस' में एक सच्चे कवि की पहचान बतायी : **'दि ट्रू पोएट इज़ मोस्ट ईज़िली डिस्टिंग्विश्ड फ़्रॉम दि फ़ाल्स ह्वेन ही ट्रस्ट्स हिमसेल्फ़ टु दि सिंप्लेस्ट एक्स्प्रेशन ऐंड ह्वेन ही राइट्स विदाउट ऐड्जेक्टिव्ज़।'**

'कला की कुछ समस्याएँ' नामक लेख में ओमप्रकाश दीपक ने आधुनिक पश्चिमी कला को मूलतः संवेदना की कला कहा है। **'लेकिन उसकी प्रक्रिया उलटी है। उसका प्रस्थान-बिंदु सौंदर्य नहीं, सौंदर्य का अभाव है, जो संज्ञान-जगत के प्रभुत्व ने उत्पन्न किया है।'** ऐसा वे मानते हैं। 'सौंदर्य का अभाव' से उनका तात्पर्य जो भी हो, लेकिन इतना तो हरेक के लिए स्पष्ट है कि सौंदर्य का अभाव या असुंदर 'संज्ञान-जगत के प्रभुत्व' के होने या न होने पर भी सुंदर की सृष्टि कर सकता है। अभाव से भाव की उत्पत्ति दार्शनिक तौर पर भी मान्य है। इस सौंदर्य के अभाव और संज्ञान-जगत की प्रभुता ने पश्चिम को ही नहीं, सभी दिशाओं को झिंझोड़ा है। गीतकार को भी। लेकिन चूँकि सौंदर्य के अभाव से फ़िलहाल गीत को कोई नया मोड़ मिल ही नहीं सकता, सौंदर्य-सृष्टि गीत में अभाव से भाव की ओर संभव ही नहीं है, फिर संज्ञान-जगत के प्रभुत्व ने अपने समांतर नये कला-रूपों को जन्म दे दिया है, इसलिए गीत की स्थिति प्रगीत-स्तर पर भी दयनीय हो गयी है।

कोमल संगीत शायद गीत का प्रतीक है। यथार्थ को गीत द्वारा नहीं पकड़ा जा सकता है, क्योंकि गीत एक दिव्य लोक में हमें बुद्धि की सारी बत्तियाँ बुझा कर प्रतिष्ठित करता है। लोहे-लक्कड़ का भदेस बाजा, डीज़ल इंजन की चीख़ उसके विपरीत पड़ते हैं। धड़ाका, भों-भों, पों-पों, बिना गले की तेज़ बर्दाश्त न होने वाली आवाज़ें गीत के लिए मारक ही अधिक हैं। हो सकता है, गीत में कर्कश संगीत हो, लेकिन यह बाह्य रूप ही हो सकता है। अंतर उसका कोमल ही होगा। जहाँ अंतर्बाह्य सर्वत्र कर्कश हो, वहाँ गीत की स्थिति केवल चिंतनीय ही कही जा सकती है।

एक गोष्ठी में मत व्यक्त करते हुए विपिन अग्रवाल ने कहा था : **"आज गीत की वही स्थिति है, जो कमरे में--ख़ाली कमरे में--कुर्सी के होने की स्थिति की।"** जब हम 'ख़ाली कमरा' कह रहे हैं, तो वहाँ कुर्सी की स्थिति संभव ही नहीं है। जब हम संपूर्ण भावुकता का प्रत्याख्यान कर रहे हैं, तब गीत की स्थिति हो ही नहीं सकती। क्योंकि आज के युग के जैकब का प्रणय-दान कुरूपा लीह से ही हुआ है, सुंदरी रैशेल से नहीं। कुरूप को गीत कैसे समाहित कर सकता है?

लेकिन जो मानते हैं कि आज का जीवन ही कई विरोधी तत्वों के एकत्र निवास की कहानी है, उनके लिए गीत चिंतनीय नहीं हो सकता, विचारणीय शायद हो। ऐसे लोगों के विविध विचार हैं और उन पर एक सरसरी दृष्टि डाल लेना अप्रासंगिक नहीं होगा। इसलिए भी गीतकारों की ओर से गीत को लेकर बहुत दुहाई दी गयी है, यहाँ तक कि कुछ नये कवियों ने भी उसकी शव-परीक्षा कर के उसे अमर घोषित किया है।

श्री गिरिजाकुमार माथुर, जिन्होंने कई स्तरों पर समझौतावादी तरीक़े से भाषा का संस्कार किया है, नये शब्दों का आविष्कार किया है, शब्दों की रूढ़ियों को समाप्त कर उन्हें नये परिप्रेक्ष्य दिये हैं और अर्थ-संकोच एवं अर्थ-विस्तार की भाषावैज्ञानिक पद्धतियों से लाभ भी उठाया है, गीतों के हिमायती या शौक़ीन होने के नाते फ़रमाते हैं : **'खंड-बिंबों की अनेक छंद-मुक्त रचनाएँ जो भावना के विस्तार में न जा कर सांकेतिक रूप से अनुभूति के एक बिंब को व्यक्त करती हैं, नये गीत-काव्य की कोटि में ही आती हैं।'** क्या भाव-तत्व की सांकेतिकता से गीत ही संभव है? शायद नहीं। हाइकू कविता है, गीत नहीं। अनुभूति का एक बिंब 'लेद' में भी होता है, टप्पे में भी होता है। ज़रूरी नहीं है कि वह गीत ही हो। शायद इसी भूल-भुलैया में माथुर जी भविष्य में 'पंक्तिगीत' लिखे जाने का भी उद्घोष कर देते हैं। लेकिन पंक्ति-गीत और पंक्ति-कविता में वही अंतर होगा, जो 'सामाजिक प्रक्रिया के अवशेष' और 'सामाजिक प्रक्रिया के गत्यात्मक अनुभावन' में। स्थिति यह है कि वे गीत के स्वरूप को अभी तक 'पैस्टोरल' और पनघटी मानते हैं। और अब **'गीत को उसके वर्तमान जड़वादी घेरे से निकाल कर ताज़े, मुक्त वातावरण में लाने की'** सर्वाधिक आवश्यकता पर बल देते हैं। **'कल्पनाजन्य भावभूमि, रूढ़िगत तापहीन निर्वैयक्तिक भाषा, सतही संवेदना और मर्म के सूक्ष्म स्तरों तक जाने वाली दृष्टि'** की उन्हें तलाश है। 'निवयक्तिक भाषा' यदि 'तापहीन' है तो क्या गीत जैसी रंगोंभरी छविमय वस्तु की कल्पना भी की जा सकती है? और 'कल्पनाजन्य भावभूमि' के लिए 'तापहीन निर्वैयक्तिक भाषा' मारक नहीं सिद्ध होगी? हाँ 'मर्म के सूक्ष्म स्तरों तक जाने वाली दृष्टि' संभव है, लेकिन इस 'अवशेष' से नहीं। माथुर जी गीत को यंत्राभिमुखी हो कर आधुनिक बनाना चाहते हैं। प्रश्न है, यंत्राभिमुखता गीत को कहाँ ले जायगी? शायद गीत के मर्सिये की ओर या नयी कविता की ओर। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

अज्ञेय ने 'आत्मनेपद' में भावनाप्रधान कविता के छोटी होने पर बल दिया है। अन्यथा वह अपने भावों का 'पैराफ़्रेज़' होने लगती है। इस दृष्टि से वे हाइकू जैसी कविताओं का पक्ष तो लेते हैं, लेकिन गीत को अस्वीकार देते हैं। क्योंकि उसमें 'पैराफ़्रेज़' होने की संभावनाएँ ज़्यादा हैं। अनुभूति वहाँ 'क्रिस्टल' न हो कर तरल हो जाती है। और जब 'त्वरित माध्यम' पर माथुर जी स्वयं बल देते हैं, तब अज्ञेय का कथन 'त्वरित माध्यम' के ज़्यादा निकट पड़ता है, बनिस्बत माथुर के। यही नहीं, माथुर जी कविता में प्रत्येक शब्द को सार्थक 'इकाई' मानते हैं। यहाँ तक कि वर्ण को भी। तब गीत की तरलता को भी वे समाप्त कर, हाइकू जैसी कविताओं के पक्षधर स्वयं हो जाते हैं।

श्री शंभूनाथ सिंह, जो काफ़ी समय तक एक धराऊँ गीतकार के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं, समसामयिक स्थिति के प्रति एक निर्णय लेते हैं।

वह निर्णय भी इतनी जल्दी में कि उनके सारे विचार भावुकता से पूर्ण लगते हैं। वे आधुनिक काव्य-जगत में दो ऐसे दलों की कल्पना करते हैं, जिनमें से एक केवल गीत लिखता है, दूसरा नयी कविता। लेकिन नयी कविताकार भी **'गीत-कवियों की लोकप्रियता और अपनी अलोकप्रियता या अबोध्यता को देख कर कभी-कभी स्वयं नियमित छंदों में या गीत के रूप में नयी अभिव्यंजना-पद्धति अपना कर काव्य-रचना करते हैं।'** इस संबंध में अशोक वाजपेयी का एक उद्धरण उत्तर के लिए पर्याप्त होगा : **'हमारे यहाँ हर चीज़ के बारे में आंदोलन या प्रवृत्ति की भाषा में सोचने की कुछ ऐसी आदत पड़ गयी है कि कवि की अद्वितीयता की बात या तो भूल ही जाते हैं या नज़र-अंदाज़ कर जाते हैं। नयी कविता पर अब तक जो लिखा गया है, उसका अधिकांश कवियों को इस या उस प्रवृत्ति के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करता रहा है—जैसे किसी का नया कवि होना एक मूल्य-निर्णायक तथ्य भी हो।'** इतने से यदि असंतोष बना रहे तो इतना और दुहरा दूँ कि वे नये कवि जो गीत रचते हैं, अपने उतने अंश में 'सामाजिक प्रक्रिया के अवशेष' रहे हैं।

फिर शंभूनाथ जी गीत को जातीय जीवन का अंग मानते हुए कविता के कुछ भाग को प्रत्येक युग में समाज के सुख-दुख के क्षणों में गाये जाने योग्य होने पर बल देते हैं। साथ ही वे नये कवियों के प्रति उदार होते हुए जातीय जीवन से संलग्न रह कर जीवनी-शक्ति प्राप्त करते रहने के लिए गेयता पर बल देते हैं। शायद शंभूनाथ जी नहीं जानते कि स्थापत्य, चित्र और अन्य कलाएँ भी नयी कविता का अंग हो चुकी हैं। जातीय जीवन का विकास आज संगीत से अधिक अन्य शास्त्रों में हो रहा है। और संगीत के विकसित होते रूपों से शायद गीतकारों का कोई परिचय भी नहीं है। शंभूनाथ जी सैफ़ो के गीतों का हवाला देते हैं। लेकिन आधुनिक संदर्भ में उसके हवाला देने का मतलब क्या है? सैफ़ो का युग क्या इतना गतिमान है कि उसकी गति अद्यतन काल तक संभव है? वे रॉबर्ट कांक्वेस्ट के संपादन में सौ नये कवियों के संकलन 'न्यू लाइन्स' का भी उल्लेख करते हैं, जिसमें शब्द-संगीत भी है। उन्होंने स्वयं 'भी' पर बल दे दिया है, इसलिए यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि 'न्यू लाइन्स' के कवि संगीत के कारण नहीं, अपितु अन्य बहुविध कारणों से संकलित किये गये हैं। उन्हें मालूम न हो तो वे ध्यान दें कि 'न्यू राइटिंग' का प्रकाशन एक बड़े उद्देश्य से किया गया था, जिसमें **'चमड़े का काम करने वाले, प्लास्टर करने वाले, बंदरगाह के खलासी, नाविक, लकड़हारे तथा दर्जीगीरी का काम सीखने वाले'** अपने-अपने अनुभव ले कर साहित्य में अवतरित हुए थे। 'न्यू लाइन्स' के पीछे भी इसी प्रकार दूसरे और बड़े उद्देश्य थे। एलिज़ाबेथ जेनिंग्ज़ की कविता में यदि शब्द और संगीत का सामंजस्य मिलता है, तो उससे कविता की विषय-वस्तु पर ही प्रकाश पड़ता है, गीत के उज्वल भविष्य का पता नहीं लगता।

केदारनाथ सिंह को गीत के प्रति आशा तो है, लेकिन अब वे लिखते नहीं; क्योंकि गीत उन्हें रूढ़ माध्यम प्रतीत होता है। उनके अनुसार गीत की **'प्रथम पंक्ति सिर्फ़ एक उठान के तौर पर होती है और शेष कविता यह आवश्यक नहीं कि उसकी अनुगूँज के सहारे विकसित हो।'** केदारनाथ सिंह गीत के शिल्प के प्रति अधिक जागरूक हैं। माथुर जी की तरह वे 'पंक्तिगीत' की संभावना पर बल न दे

कर उसकी वस्तु की आलोचना करते हैं। उनकी ईमानदारी इतनी ही है। लेकिन आगे वे साहित्यिक गीतों का आदर्श केवल लोकगीतों के भीतर ही पाते हैं। उन्होंने अतीत में रवींद्र को यह आदर्श प्राप्त करते देखा भी है। अजब है कि उन्हें नयी कविता में तो ऐसे सहारों की ज़रूरत नहीं महसूस होती, किंतु गीत में होती है। शायद केदारनाथ सिंह की आशा भी ज़िद का ही एक प्रकार है और कुछ नहीं।

कम से कम त्रिलोचन के विचार इस बारे में स्पष्ट हैं। विद्रोह की व्यंजना के लिए वे दूसरे माध्यमों की ज़रूरत समझते हैं। क्योंकि गीत उस दृष्टि से कुछ निर्बल पड़ते हैं। उनमें दम नहीं है।

जगदीश गुप्त पूरी स्थिति को अपनी अन्वेषणात्मक उदार दृष्टि से देखने की कोशिश करते हैं। वे गीतों की लोकप्रियता का कारण इतिहास का परीक्षण करते हुए यूँ स्पष्ट करते हैं: **"रागात्मकता, प्रेम और हृदय का उपासना का संस्कार (भक्तिरेव गरीयसी, योगश्च भोगश्च करस्थ एव) शताब्दियों तक इतना गहराता रहा है कि धीरे-धीरे वह भारतीय मानस का अंग बन गयी है तथा रह-रह कर जाग उठती है।'** शताब्दियों तक गहराते जाना एक महत्वपूर्ण तर्क है। निश्चय ही। लेकिन वह अंततः 'सामाजिक प्रक्रिया का अवशेष' है, यह तो सिद्ध होता ही है। इसलिए लोकप्रियता के आधार पर गीत का परीक्षण कोई माने नहीं रखता, कम से कम उसकी संभावना के बारे में। और मुक्तिबोध की अविरोधी दृष्टि का तो ख़ैर कोई मतलब होता ही नहीं, यदि अपने निबंध में जगदीश जी ने न भी काटने की कोशिश की होती, तब भी।

इधर गीत को प्रतीकार्थ रूप में लिया जाने लगा है। उसकी संगति ओम प्रभाकर द्वारा संपादित 'कविता १९६४' में समझ में तो आती है, लेकिन इस प्रतीकार्थ में भी गीत के प्रति मोह तो है ही।

'अनुभूति की वैयक्तिकता, आत्मलीनता, रागात्मक गहनता, मनःस्थिति की तरलता एवं भाव की प्रवहमानता के अतिरिक्त किसी अंतर्गत भाव-केंद्र के प्रति समर्पित होते हुए, रोमांटिक उन्मुक्तता' यदि गीत के प्रतीकार्थ में भी हैं, 'गेयता की मुद्रा' के स्थान पर आंतरिक लय है, तो वह 'नवगीत' भले ही हो, उससे उसके पुरानेपन में तो संदेह नहीं ही किया जा सकता। 'नवगीत' आंदोलन को लेकर इधर काफ़ी शोर जो मचा है, उसका कारण केवल गीत के साथ 'नया' विशेषण लगा देने का लोभ मात्र ही है। 'नवगीत' वैसे कुछ वैसा ही अर्थ देता है, जैसे नया चर्च, नयी साइकिल या नयी स्मृति। हो सकता है, इससे पुराने दुशाले पर नये डोरे का रफ़ू हो जाय कि रफ़ू ही दीखे, दुशाला नहीं। गीतकारों के इस पूर्वग्रह से एक प्रकार की अराजकता और विकृति आती है, तो आये। कोई क्या कर सकता है? यदि कोई 'बाबूज़ ऑफ़ नैनजोर' की परंपरा ही निभाये तो कोई दया ही तो कर सकता है, 'अन्यथा स्वातंत्र्य इति'।

यह सब धोखा है। कब तक चलेगा, नहीं कहा जा सकता। श्रीकांत वर्मा के शब्दों में यह धोखा है: **'जनता का साहित्य, जनता तक पहुँचाने वाली कविता।'** गीत की दृष्टि से हम मान लें, वे कवि जो बुलाये जाते हैं भीड़ में। **'भीड़ की उपस्थिति अपने को गीतकार कहने वाले व्यक्ति में अनजाने ही एक झूठा आत्मविश्वास पैदा करती है। यह आत्मविश्वास नहीं**

है, आत्मवंचना है। आत्मवंचना से भी अधिक केवल मनोरंजन के उद्देश्य से जुटने वाली उस भीड़ के कानों को धोखा है जो इससे भी बेहतर मनोरंजन का अवसर पाते ही कविता के नाम पर मोहक धुनों से गूँज रहे पंडाल से उठ कर दूसरी ओर चली जाती है। केवल मनोरंजन के लिए लिखे जाने वाले साहित्य की अंतिम परिणति सिनेमा है। हिंदी गीत और सिनेमा के बीच का फ़ासला अधिक नहीं है।'

इस उद्धरण से हमें इतना फ़ायदा हुआ हुआ कि हम गीत की संपूर्ण परिधि को एक बार खिंचा हुआ दिखा सके। इसके आगे कहने की स्थिति ही नहीं रह जाती, क्योंकि श्रीकांत वर्मा ने बहुत सधे ढंग से सारी बात कह दी है। यूँ श्रीकांत वर्मा की बात का समर्थन स्वयं गीतकारों की वे पंक्तियाँ भी करती हैं जहाँ वे आश्वस्त नहीं हैं, भयातुर है या गीतों की समाप्ति से घबरा रहे हैं।

●

अब हमें यह मान कर चलना ही होगा कि जो भी हो, जो गीत हैं, उनमें क्या कुछ है, जिससे हमें कुछ मिल सकता है। गीतकार की ईमानदारी यह है कि वह नये यथार्थ से संसक्त भी है और गीत भी लिखता है, जब कि स्थिति यह है कि गीत हमें एक दिव्य लोक में ले जाता है, वह भी हमारी चेतना की सभी बत्तियाँ बुझा कर। गीत का कार्य केवल इतना है कि वह हमें एक दिव्य लोक में ले जा कर मुक्त छोड़ दे। अब इस पृष्ठभूमि में हम नवोदित गीतकार उमाकांत मालवीय और प्रसिद्ध लोकप्रिय गीतकार नीरज को लें।

उमाकांत अपनी संपूर्ण गीति-संपदा को **'हलके-फुलके पुलकित क्षणों'** से संबद्ध मानते हैं। स्पष्ट है कि वे भी क्षण की पुलकमान हलकी-फुलकी मनोभूमि को ही गीत की स्थिति स्वीकार रहे हैं। लेकिन उनके व्यक्तित्व को देखते हुए यह कहना असंगत लगता है। उनका हलका-फुलका क्षण भीतर से बहुत गंभीर क्षण भी है; यह बात दूसरी है कि गीत में गंभीर न रह कर हलकेपन से घिर जाता है। लेकिन सदैव ऐसा होता हो, ऐसा नहीं है। कभी-कभी वह गंभीर क्षण अपनी पूरी अखंडता के साथ व्यक्त हो जाता है। यह उनकी विनम्रता हो सकती है कि वे अपने गीतों को हलके-फुलके क्षणों के चित्र-रूप में स्वीकारें। क्योंकि आगे वे स्वयं स्वीकार करते हैं: **'संगृहीत गीत मात्र छंद, भाव और शब्दों के मेले नहीं, मेरी ही उम्र की छोटी-बड़ी इकाइयाँ हैं।'** बहुत थोड़े में वे यहाँ यह भी संकेत दे देते हैं कि कुछ गीतकार अवश्य ऐसे हैं, जो छंद, भाव और शब्दों के मेले लगाते हैं, एक दिन उनके खेमे उखड़ जाते हैं सरकस का खेल समाप्त हो जाता है और वे निरीह हो जाते हैं। उमाकांत उनमें नहीं हैं। उनका अनुभव के तंतुओं से बुना हुआ अतिशय समृद्ध जीवन है, उसका एक-एक क्षण महत्वपूर्ण है, जिसे वे गीत की धरती पर उतार लेना चाहते हैं। इसीलिए अपने गीतों को उम्र की इकाई कहना कम से कम उनकी भाषा में उचित लगता है। लेकिन अनजाने ही वे अपने गीतों को 'रिकार्ड' की संज्ञा दे देते हैं, तब उनकी उस जागरूकता का भी पता चलने लगता है, जहाँ वे आधुनिक माध्यमों के प्रति सचेत हैं और संघर्ष कर रहे हैं। शायद कुछ लोग 'रिकार्ड' का दूसरा अर्थ लगायें, शायद स्वयं उमाकांत भी, किंतु उनके गीतों के परिपार्श्व में पहला ही अर्थ संगत लगता है—कम से कम उनकी कभी-कभी प्रकाशित होती नयी कविता को देख कर।

उमाकांत की यदि थोड़ी डूब कर परीक्षा की जाय तो पता चलता है कि उनके भीतर एक पूर्वग्रह है कि जो नहीं है, उसका चित्र श्रेयस्कर है। जैसे जीवन के स्तर पर वे संघर्ष कर रहे हैं तो संघर्ष या दुख उनका विषय नहीं होना चाहिए। अपने निजी एकांत के लिए उसका जो भी मूल्य हो, लेकिन पाठक के लिए वह मूल्यहीन ही है। इसीलिए वे दर्द को अपने भीतर दफ़न कर पाठक तक केवल आह्लाद के, पुलक के गीत ही ले जा पाते हैं। इसका नैतिक मूल्य हो सकता है, पर इससे इतना तो सिद्ध ही है कि उमाकांत संपूर्ण जीवन के गायक नहीं हैं। वे अभाव के उद्‌गाता हैं या फिर जीवन में जितना नशा है, जवानी है, उसके ही गायक हैं। यही पूर्वग्रह उन्हें आधुनिक युग से उछाल कर उत्तर छायावाद के निकट खड़ा कर देता है, जहाँ साही जी के अनुसार उत्तर छायावादी छायावाद की संपूर्ण जीवन-दृष्टि को उलट पाने में असमर्थ था और केवल जवानी को नयी यथार्थ आवेशशीलता से ध्वनित कर पाता था। लेकिन जो सीमा उससे बनी, उस सीमा के शिकार बच्चन से ले कर उमाकांत तक हुए, इसमें संदेह नहीं।

उमाकांत वस्तुतः आधुनिक युग में रहते हुए भी दो कालों को समांतर जीने की कोशिश करते हैं। एक ओर उन्हें उत्तर छायावादी मुग्ध करता रहता है, क्योंकि उसके संस्कार उमाकांत में पूरी छविमयता के साथ हैं। दूसरी ओर उनमें नये युग की जटिलता, यंत्र-सभ्यता, बिना गले की आवाज़ों का दुर्दम घटाटोप उन्हें एक क्रुद्ध युवक की-सी स्थिति में ला देता है और तब वे नयी कविता का पल्ला पकड़ते हैं। लेकिन यह क्रिया कभी-कभी ही होती है, इसलिए वे अक्सर इसमें असफल हो जाते हैं। इसका एक कारण उनकी भावुकताप्रधान मनोवृत्ति भी है, जहाँ सारी सुरुचि मध्यकालीन है। कम से कम उत्तर छायावाद की आधार-शिला तो मध्यकालीन थी ही। और उमाकांत उसकी अंतिम कड़ी हैं।

उमाकांत इस द्वंद्व के पूरी तौर से शिकार भी होते, तो स्थिति भिन्न होती। वे वस्तुतः समझौता कर लेते हैं और सारे अनुभव-जगत को इसीलिए खंडों में बाँट देते हैं। यह तो समझ में आता है कि कभी-कभी आदमी स्वास्थ्य के लिए संघर्षों से पलायन कर जाय और दिव्य लोक में जीने लगे। लेकिन जो हमारे लिए दिव्य लोक——गीतों का लोक——है, वही उमाकांत का अंतर्जगत है। और इसीलिए संघर्षों के प्रति सचेत होते हुए भी वे संघर्षों के कवि नहीं हैं। वे वामन हो कर भी प्रांशुलभ्य फलों की ओर उद्‌बाहु बने रहते हैं। फल-प्राप्ति नहीं होती। यह पूरा नाटक युगांत के बावजूद रूमानियत का ही असर छोड़ता है।

यह सच है कि गीत उमाकांत के लिए आकार मात्र नहीं है। उनके गीतों में एक प्रकार की तन्मय समग्रता मिलती है। हर गीत उनकी भाव-लब्धि है। तुकों की बारीक़ियाँ अनुभूति से जुड़ी हुई हैं। एक-एक शब्द, वर्ण अनुभूति के मर्म को पकड़ने में सक्षम है। एक अर्थ में उमाकांत को नवगीत-आंदोलन का पहला राही कहा जा सकता है। क्योंकि गीत के प्रतीकार्थ से भी वे सहमत हैं और बंधन को विवशता नहीं मानते। क्योंकि **'कविता वह चीनी लड़की नहीं है, जिसके पैरों में लोहे या काठ का जूता पहनाना ज़रूरी हो।'**

वे भाषा के प्रति एक दृष्टिकोण रखते हैं। वे नहीं चाहते कि लोकभाषा के प्रयोग से ग्राह्य-अग्राह्य का विवेक खो दिया जाय, लिबलिबाहट

या चिपचिपाहट का आधिक्य हो। वे यह भी नहीं चाहते कि शेरों की अनुकृति पेश की जाय और न ही वे किसी संध्या भाषा पर विश्वास करते हैं, जिससे केवल ख़ामख़याली पैदा होती है, असर कुछ भी नहीं होता। विषय की दृष्टि से वे शृंगाराधिक्य और प्रणय-निवेदन के प्रति भी बहुत तटस्थ हैं। इन सारे स्वस्थ दृष्टिकोणों की प्रशंसा न कर के हम उनकी गीत-संपदा पर उतर आयें, तो दृष्टि और दृश्य, दोनों स्पष्ट हो जायँगे।

उमाकांत बच्चन की सरलता से उतने प्रभावित नहीं हैं, जितना निराला के सशक्त माधुर्य से। इसीलिए उनमें जब प्रकृति के उपादान अलंकार के, व्यंजना के स्तर पर भी आते हैं, तो वे अपने पूरे माधुर्य, छविमयता और शक्ति-संपन्नता के साथ आते हैं। इस दृष्टि से उनके संग्रह 'मेंहदी और महावर' का पहला ही गीत द्रष्टव्य है:

हरसिंगार महके।
शिथिल हुई संयमी लगामें,
मन-तुरंग बहके।
गंध बनी निर्बंध अप्सरा
सम्मोहन मूर्छित।
प्रिय पथ पर नव कुसुम बिछाती
डोल रही सस्मित।
परस गयी ऐसी बयार तन,
सुधि-अँगार दहके।

यह भाव-संपन्नता रूपकीय भाषा से रस निचोड़ती हुई उमाकांत में सर्वत्र मिलती है।

लेकिन उमाकांत के विषय सीमित हैं। उनकी सीमित विषयों के प्रति आसक्ति जहाँ उनके गीतों को सशक्त बनाती है, वहीं उन्हें तकियाकलाम की ओर भी ले जाती है। वे अपने को प्रणय के विभिन्न स्तरों पर भले प्रस्तुत कर लें, सूक्ष्म भाव-दीप जला लें, लेकिन शब्दों के आवर्तन चिल्ला-चिल्ला कर उनकी सीमा का उद्घोष कर देते हैं। श्रीराम तिवारी ने 'कल्पना' में 'मेंहदी और महावर' की बहुत चलताऊ समीक्षा अवश्य की थी, लेकिन जिन शब्दों का आवर्तन हुआ है, उनसे इस कमी का एहसास तो होता ही है। इन लोकभाषा या प्रचलित रूपों से आये शब्दों के प्रति उमाकांत का अनजाने ही आकर्षण चित्य भी है और उससे कितनी हानि है, इसका उन्हें पता तक नहीं।

इन तकियाकलामों को गिनाना व्यर्थ ही होगा। उनका उल्लेख श्रीराम तिवारी ने किया भी है।

इस प्रसंग को अवांतर न माना जाय, क्योंकि विषय के साथ वस्तु का बहुत बड़ा संबंध है और उसे अलग नहीं किया जा सकता।

उमाकांत के विषय क्या हैं? प्रणय के विविध आकर्षक प्रसंग। वे आकर्षक न भी हों तो उनकी उद्भावना इतनी उत्कृष्ट है कि वे आकर्षक हो उठते हैं। जैसे:

"पल्लू की कोर दाब दाँत के तले,
कनखी ने किये बहुत वायदे भले।"

"साँवले दिन
साँवली रातें।
तुम नहीं तो कुछ नहीं भाते।"

"गीत कनखी के,
ज्यों दिये घी के।

अधर तक आते,
पर बिछल जाते।
स्मिति-सने नीके।"

प्रथम चित्र और अंतिम चित्र में ऊपर से लगता है, एक ही चित्र है। किंतु दोनों की उद्भावना में अंतर स्पष्ट है। एक में पल्लू लज्जा को आवरण दे कर भाव को गहराई देता है, तो दूसरे में पूरा व्यक्तित्व ही एक विशिष्ट भाव-मुद्रा में अकथित माधुर्य बन जाता है। दोनों में 'कनखी' के प्रयोग का अंतर भी देखा जा सकता है। पहले चित्र में उलाहना के विविध संकेत व्यंजित हैं। दूसरे में कनखियों से फूटा पड़ता समर्पित एकांत संपूर्ण स्त्री-सुलभ भावसंपन्नता का अद्वितीय आकलन प्रस्तुत हो गया है। इसीलिए भाव स्वयं गीत की तरह द्रष्टव्य हो गया है और चूंकि वह शब्दों में नहीं बँधता, इसीलिए 'घी' से उत्प्रेक्षित कर बिछल जाने की अंतिम सीमा तक उसे प्रस्फुटित करने का साहस किया गया है।

बीच का उद्धरण भी देखने में बहुत पुराना लगता है, लेकिन अनुभूति की तीव्रता ने भाषा को कुछ नयापन दे कर पंक्ति को नया बना दिया है। वस्तुतः उमाकांत बादलों के कवि हैं। बादलों के प्रति उनकी तन्मयता पूरे संग्रह में विविध स्तरों पर देखी जा सकती है :

"फालसई घिरे बादल,
ज्यों किसी लड़कोर का
काजल लगा-सा मलिन आँचल।"

"बादल, जो शाम से घिरा,
पानी कल रात भर गिरा"

"बरसे।
घन बरसे
दूर वधू वर से।"

"शोर हुआ है बदली छायी,
पर यह तो उनकी परछाईं।"

"बादल जो बरस गये।
रिमझिम के तरल करों से,
मन को परस गये।
सौदामिनि से उघरे
अंग-अंग दरस गये।"

बादल के चित्र कभी उत्प्रेक्षा, कभी रूपक, कभी चित्र-रूप में नवीन उद्घाटन के साथ जितने भी आये हैं, उनके पीछे कोमल संवेदना है, कठोर या शक्तिसंवलित 'निराला' की-सी उत्तेजना नहीं मिलती; यद्यपि हम देख चुके हैं कि गीतों के शिल्प के पीछे उमाकांत 'निराला' के काफ़ी निकट हैं।

इसी प्रकार शरद के चित्रों की भी स्थिति है। उन्हें नये ढंग से प्रेषित करने का प्रयत्न किया गया है:

"हल्दी लगी हथेली जैसा
चाँद उगा पूनम का,
और अचानक जी भर आया
परदेसी प्रियतम का।"

"उजले से चंदा की गोद में विभावरी,
प्रियतम पर रीझ गयी लजवंती साँवरी।"

"रासरची पूनम,
दूर-दूर तुम-हम।"

लेकिन शरद के चित्रों में न अधिक वैविध्य है, न अधिक आकर्षण। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के भी प्रसंग हैं—जैसे फागुन, कोहबर, होली तथा कतिपय सूक्ष्म अनुभवों से संबंधित चित्र। उनमें उमाकांत अनुभूति को अधिक से अधिक घनीभूत बनाने में सफल हुए हैं।

उनके गीतों के भाषा की दृष्टि से कई रूप हैं। एक रूप है जहाँ वे सरल, सधी हुई भाषा का सुंदर प्रयोग करते हैं। कभी-कभी ऐसे प्रयोगों में उनकी पंक्तियाँ भावों की सघनता एवं संक्षिप्ति के कारण इतनी छोटी हो जाती हैं कि ऊपर से यह भी भ्रम होता है कि ये गीत हैं या हाइकू और गीत के बीच की कोई चीज़ या सिर्फ़ हाइकू :

"गीत बटोही,
स्वर आरोही।
थमे।
लोचन पनघट,
नटवर नटखट।
रमे।"

"उम्र सोलह की,
चटख कर महकी।"

दूसरा रूप वह है जहाँ संस्कृतगर्भित शब्दावली का प्रयोग अनायास मिलता है; ऐसे प्रयोग जहाँ भी हुए हैं, भावों में विकृति आ गयी है। अच्छा यही है कि यह शैली किसी भी गीत में बीच-बीच में आयी है। पूरा गीत जहाँ नष्ट होना चाहिए था, वहाँ कुछ पंक्तियाँ ही प्रभाव नष्ट कर पाती हैं :

"जयी मन्मथ!
सृष्टि की संभावना-क्रम,
प्रणय की प्रस्तावना नम
हर सृजन के दर्द दुखते—
मोद के अथ।"

आदि पंक्तियाँ इस शब्द-बाहुल्य के निष्फल उपयोग के लिए साक्ष्य हैं। इस तरह भाषा के दुरुपयोग की अनजाने ही प्रवृत्ति है उमाकांत के पूरे संग्रह में। तीसरी स्थिति है, जहाँ वे 'समाजिक प्रक्रिया के अवशेष' यानी चले आते शब्दों का दुरुपयोग करते हैं, जो तकियाकलाम तक बन जाते हैं और उनमें भाषा के पिछड़ेपन, भदेसपन का भी आभास मिलता है :

"जिनकी साँसों में 'पुरवइया',
जिनकी आँखें ताल 'तलइया'।"

"भँवरों का बजता है 'घुनघुना'।"

"खीझ उठी बिरहिन 'झुँझलाय के'।"

इस प्रकार का ही नहीं, भाषा का एक द्विधा-विभक्त रूप भी है, जहाँ गीत की एकान्विति भी नष्ट होती है :

"धवल हास में सहज निमज्जन,
विष्णुपदी में कलुष विसर्जन,
इतना ही कर पाया केवल।"

इसी गीत में आगे की भाषा देखिए :

"क्षुधित शुष्क मुख क्षीर धुला रे,
मैं तो तुनकमिज़ाज रहा ही,
पर तुम वत्सल।"

भाषा का यह दुहरा रूप यदि उमाकांत में न पाया जाता, वे संस्कृत शब्दावली से भरसक बचने की कोशिश करते, तकियाकलामों का न प्रयोग करते, तो उनके पास यह सीमा न होती, जो आज है। फिर भी एक गीतकार के रूप में वे बेजोड़ हैं, इसमें संदेह नहीं। उनका अंतिम गीत :

> **"सिर झुका ज्यों छाँव के**
> **नीचे खिली हो धूप**
> **साँस में ज्यों भिन गये हों,**
> **अगरु, चंदन, धूप।"**

इस बात का प्रमाण है।

दूसरे कवि नीरज के विषय में कुछ भी कहने से पहले इतना संकेत देना ज़रूरी है कि गीतकारों के दो प्रकार हैं। एक वे हैं जो शुद्ध कलाकार के स्तर पर गीत लिखते हैं और वही उनकी आस्था का कारण भी होता है। दूसरे वे हैं जो कमाने के लिए लिखते हैं। पहले प्रकार के लोगों में शंभूनाथ सिंह, केदारनाथ सिंह, ठाकुरप्रसाद सिंह, वीरेंद्र मिश्र, अजित पुष्कल, गिरिजाकुमार माथुर, ओमप्रभाकर, रवींद्र भ्रमर, रामदरश मिश्र, ब्रजराज तिवारी आदि हैं। दूसरे वे हैं जो कवि-सम्मेलन के मंच को चलाते हैं, फ़िल्मी गाने लिखते हैं और लोकप्रिय कवि हो कर सुरुचि को गँदला बनाते हैं, फ़िल्म को सतही बनाते हैं और जनता को धोखा देते हैं। इनकी कविता में दूसरों के भाव, दूसरों की पंक्तियाँ भरी पड़ी रहती हैं। श्रीराम तिवारी को विदित होना चाहिए कि उमाकांत पहली कोटि के रचनाकार हैं और नीरज दूसरी कोटि के। दोनों की एक साथ चर्चा कर के श्रीराम तिवारी ने जहाँ नीरज को परंपरित छिछली गीत-धारा का अगुआ कहा है, वहीं उमाकांत को सतही स्तर पर ग्रहण कर के अपनी समीक्षण क्षमता पर भी प्रश्न-चिह्न लगा दिया है।

नीरज से कौन अपरिचित होगा! और नीरज के प्रति ईर्ष्यालु, उनकी नक़ल कर पैसे कमाने वाले कवियों की संख्या बताना भी व्यर्थ है; वे अनंत हैं। शायद उनके सभी पाठक ही वैसे कवि हों, तो ताज्जुब नहीं। नीरज के श्रोताओं की ही संख्या इतनी है कि नीरज अक्सर मंच-तोड़ कवि-सम्मेलनों के जन्मदाता मान लिये जाते हैं। यह अजब व्यंग्य है कि जहाँ नीरज होते हैं, वहाँ सभापति की भी स्थिति अतिशय दयनीय हो जाती है। वहाँ गड्ड-मड्ड जनता की सब कुछ तोड़ देने वाली भीड़ में मंच इतना ऊँचा उठ जाता है कि नीरज ही माइक सम्हालते हैं, नीरज ही कवि-सम्मेलन चलाते हैं और नीरज ही शायद कविता-पाठ भी करते हैं। इतनी लोकप्रियता शायद बच्चन को भी नहीं मिली। इसीलिए नीरज कवि नहीं हैं, लोकप्रियता के शिकार मात्र हैं। उनकी स्थिति फूहड़, कुरुचिपूर्ण समाज में है, जहाँ फ़िल्म से आगे जीवन कुछ नहीं है। अतः नीरज का कुल योगदान इतना है कि वे कुरुचि को, ह्रास को बढ़ावा देने में पूर्णतः सफल हैं।

लेकिन नीरज प्रारंभ में ऐसे नहीं थे। उनमें कविजनोचित व्यक्तित्व था, प्रतिभा थी, मौलिकता थी। प्रकाशचंद्र गुप्त के अनुसार उनमें **'संगीत-माधुरी, भाव-लालित्य और जागरूक सामाजिक चेतना'** थी। और वे शायद सुमधुर कंठ के बल पर और हाँ, कर्णसुखद, परंपरा से चले आते पिटे-पिटाये शब्दों के प्रयोग के बल पर जनता के अपने कवि हो गये। उसके बाद उनकी स्थिति भिन्न हो गयी। वे

केवल अर्थकामी और यशःकामी हो गये। काव्य एक नशे की तरह जो चढ़ा, तो उतरता ही चला गया। वे 'शॉर्ट कट' अपनाने लगे। अरविंद के अनुवादों को छोड़ कर वे उर्दू की शेरो-शायरी की नक़ल मारने लगे। मीर और मजाज़ और अनेक उर्दू कवियों के बीच-बीच में अनुवाद कर उन्होंने अपना स्वर निर्मित किया। मजाज़ के यहाँ जो चाँद 'बेवा का शबाब' था, नीरज के ग़लत अनुवाद में 'विधवा का आँसू' बन कर रह गया। वे चोर कवि हो कर भी यदि यशःकाय अर्थपुरुष बने रहे, तो जनता की रुचि को क्या कहा जाय!

धीरे-धीरे उनमें प्रणय की जगह भक्ति के भी दर्शन होने लगे। वे दर्शन—टुच्चे क़िस्म का मध्यकालीन दर्शन—भी बघारने लगे। उनका स्वरूप इतना व्यक्तित्वहीन हो गया कि वे एक साथ भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल की सभी धाराओं से एक प्रकार की बोरियत की सृष्टि करने लगे। हिंदी गीत का यह रूप होना था, शायद कोई नहीं जानता था।

उनके अंतिम गीत-संग्रह 'गीत भी अगीत भी' में इस प्रकार की बोरियत के पृष्ठ-पृष्ठ पर प्रमाण मिलेंगे। एक ओर वे मीराँ की तरह तन्मय हैं, दूसरी ओर कबीर की तरह झुँझला रहे हैं, निरासक्त हो रहे हैं। एक ओर वे रीति-कवि की तरह रीति-बद्धता की सृष्टि कर रहे हैं, तो दूसरी ओर प्रयोगवादी कवि की प्रयोगशीलता के प्रति ललचा रहे हैं, जो उनका अगीत बन कर रह जाता है। हर ढंग की कविता का अंततः ह्रास होता है। उस ह्रास को यदि देखना हो, तो नीरज का अंतिम संग्रह 'गीत भी अगीत भी' निश्चय ही ध्यातव्य है। इसके अतिरिक्त उसकी कोई उपयोगिता नहीं।

किस तरह विषय बँध कर कूपजल हो जाता है, किस तरह भाषा बदबू पैदा करने लगती हैं, अलंकार बासी और जूठे पड़ जाते हैं, व्यंजनाएँ समाप्त हो जाती हैं, यहाँ तक कि हर चीज़ मरी हुई रुढ़ि बन कर रह जाती है, यही इस कविता संग्रह में देखा जा सकता है।

जिन्हें उदाहरण चाहिए, वे निम्न पंक्तियों को देख कर स्वयं सोच सकते हैं :

"मेरा कुर्ता सिला दुखों ने
बदनामी ने काज निकाले"

"तुमने क्या छू दिया, बन गयी
महाकाव्य गीली चौपाई।"

"मधुपुर के घनश्याम अगर कुछ पूछें
हाल दुखी गोकुल का,
उनसे कहना पथिक कि अब तक
उनकी याद हमें आती है।"

"माँ! मत हो नाराज कि मैंने खुद
ही मैली की न चुनरिया!"

"साधो! हम चौसर की गोटी"

"खिड़की खुली,
सावन का पहला झोंका आया,
दो-चार बूँदें साथ लाया;
तन सिहरा,
मन बिखरा,

कमरा सुवास में नहा गया;
पर न जाने क्यों—

आँखों में आँसू एक आ गया।
खिड़की खुली..."

हमने जो भी उदाहरण दिये हैं, चुन कर, भरसक अच्छी पंक्तियाँ चुन कर दी हैं। लेकिन इनमें जो चर्वितचर्वण किया गया है, वह किस हद तक सह्य है, यह अशोच्य ही है। एक स्थान पर तो इस निरीह कवि ने अलंकार के फेर में ग़ज़ब ही ढा दिया है :

"दूध सी साड़ी पहन तुम
सामने ऐसी खड़ी हो,
जिल्द में साकेत की
कामायनी जैसे मढ़ी हो"

इसमें आखिर बकवास कहाँ है ?

यूँ नीरज की गीत-कारयित्री क्षमता से प्रकाशचंद्र गुप्त बहुत प्रभावित हैं और कुछ गीत इतने लंबे हैं कि उन्हें या तो कविता कहा जा सकता है या शुद्ध गद्य। वैसे स्थिति भिन्न है। वे कविता भी नहीं, गद्य भी नहीं। यहाँ तक कि भगवतीचरण वर्मा के 'मुग़लों ने सल्तनत बख़्श दी' के गप्पी नायक की गप्प भी नहीं। वे प्रलाप मात्र हैं। निरर्थक प्रलाप। यह निरर्थक प्रलाप अंतरीप की तरह उनके छोटे गीतों में भी घुसता चला गया है।

नीरज ने उर्दू रुबाइयात के प्रभाव में कुछ मुक्तक भी छपा लेने का दंभ किया है। उनमें कुछ जो अच्छे हैं, वे फ़िराक़ की भोंडी नक़लें हैं या चोरी। जो अच्छे ही नहीं हैं, उनका क्या कहना! और अंत में परवर्ती बच्चन की लोकधुनों से प्रभावित गीतों की तरह का एक हुमक पर गाया जाने वाला गीत भी दे कर संपूर्णता का रिकार्ड बजाया गया है।

वर्ड्स्वर्थ को ब्राउनिंग ने जिस तरह फटकारा था, मुट्ठी भर चाँदी के लिए साथ छोड़ने पर, रिबन के एक टुकड़े के लिए कविता से संन्यास लेने पर—वह हमें याद है, लेकिन जो कवि स्वयं स्वीकार करता हो : **'यश की बनी अनुचरी प्रतिभा, बिकी अर्थ के हाथ भावना'**, उससे हमें कोई शिकायत नहीं, कोई गिला नहीं।

—श्रीराम वर्मा,
१७ महाजनी टोला,
इलाहाबाद।

राष्ट्र के नवनिर्माण और सुरक्षाकार्य
तथा
अपने उज्ज्वल भविष्य के लिए

ख़र्चों में कमी करके अपनी बचत का पैसा
राष्ट्रीय बचत योजना की निम्नलिखित मदों में लगाइए

- १२ वर्षीय राष्ट्रीय रक्षा पत्र
- १० वर्षीय रक्षा जमा पत्र
- १५ वर्षीय वार्षिकी पत्र
- बढ़ने वाली सावधिक जमा योजना
- डाकघर बचत बैंक

बचत के धन पर आयकर रहित अच्छा ब्याज मिलता है। पूर्ण विवरण के लिए कृपया ज़िला संगठनकर्ता, राष्ट्रीय बचत से संपर्क करें।

●

सूचना निदेशालय, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रसारित

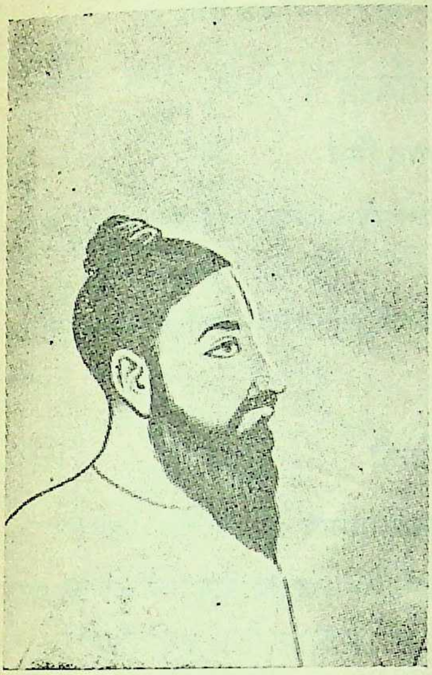

मानस-मयूख

●●

(त्रैमासिक शोध-पत्रिका)

ठाकुरदास सुरेका चैरिटी .फंड द्वारा प्रकाशित इस पत्रिका के उद्देश्य हैं :—

१. तुलसी-साहित्य का अध्ययन, अन्वेषण और उसके विविध अंगों का विवेचन।
२. संत साहित्य का मनन और विश्लेषण।
३. निगम, आगम और पुराण में कथित मानव-धर्म का उद्घाटन।
४. विश्व-वाङ्मय के सर्वनिष्ठ तत्वों का संकलन और मूल्यांकन।

प्रकाशन का समय--मार्च, जून, सितंबर तथा दिसंबर।

मूल्य--प्रति अंक २), वार्षिक ८) तथा आजीवन सदस्यता शुल्क २५१)

कृपया विशेष जानकारी के लिए लिखें--

संपादकीय कार्यालय :

संपादक
मानस-मयूख
श्री सत्यनारायण तुलसी मानक मंदिर
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी (उ० प्र०)

व्यवस्थापकीय कार्यालय :

मंत्री
ठाकुरदास सुरेका चैरिटी .फंड
१७२ जे० एन० मुखर्जी रोड
सलकिया, हावड़ा

प्राचीन दुर्लभ ग्रंथों की प्रकाशन-योजना के अंतर्गत प्रकाशित तीन ग्रंथ

कुतुबन कृत मृगावती

संपादक : डॉ० शिवगोपाल मिश्र

● इस ग्रंथ की पाँच दुर्लभ हस्तलिखित पांडुलिपियों की खोज कर संपादक ने पाठानुशीलन, संपादन, विवेचन, विश्लेषण किया है।

● षट्भाषा अर्थात मिश्रित भाषा में लिखित मृगावती का संपादन अत्यंत प्रामाणिक और अधिकारपूर्ण है।

मूल्य : ६.००

रसखान रत्नावली

संपादक : डॉ० भवानी शंकर याज्ञिक

● कई वर्षों की छानबीन और प्रयास से रसखान की लुप्तप्राय कविताओं का यह संग्रह तैयार किया गया है।

● जिस स्थान से जो छंद प्राप्त हुआ है उस स्थान का नाम भी अंकित कर छंद की प्रामाणिकता सिद्ध की गयी है।

● अप्रकाशित सामग्री का सचयन कर तथा उपलब्ध इतिवृत्तों से लोकप्रिय कवि रसखान के जीवन और कृतित्व से सम्बद्ध तथ्यों का उद्घाटन अधिकारपूर्वक किया गया है।

मूल्य : ५.००

प्रागन कृत भँवरगीत

संपादक : हरिमोहन मालवीय

● वैज्ञानिक पाठ संपादन-पद्धति पर छह प्राचीन पांडुलिपियों के सहारे इसका पाठ निर्धारित किया गया है।

● प्रागन कवि के संबंध में प्रथम बार आलोचनात्मक परिचय इस पुस्तक के माध्यम से मिलता है।

● प्राचीन दुर्लभ ग्रंथों की प्रकाशन-परंपरा की इस नवीन कड़ी के संपादन पर भाषाशास्त्रविदों तक ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

मूल्य : १.५०

●●

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

साइंटिफ़िक इंपोर्टर्स

५०-ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद

●

स्कूल-कालेजों की प्रयोगशालाओं
के और हर प्रकार के वैज्ञानिक
उपकरणों का
विश्वस्त प्राप्ति-केंद्र

●

**प्रयोगशालाओं के शीशे के पात्रों
बी० डी० एच० तथा मर्क रासायनिकों,
उपकरणों तथा अन्य सामग्रियों के
उत्तर प्रदेश के सबसे
बड़े स्टाकिस्ट**

हिंदी नवलेखन की सशक्त मासिकी

लहर

जुलाई १९५७ से नियमित
हिंदी पाठकों के समक्ष
कहानियों, कविताओं के अतिरिक्त
समसामयिक घटनाओं-समस्याओं पर
विचारयुक्त सामग्री प्रस्तुत करती रही है।

●

जिसके विशेषांक
स्थायी महत्व के रहे हैं।

●

एक प्रति : ५० पैसे। वार्षिक : छह रु०।

सम्पादक : प्रकाश जैन

महात्मा गांधी मार्ग, पो० बा० ८२, अजमेर।

सफ़ेद दाग़

सतत प्रयत्न एवम अत्यधिक परिश्रम के बाद तैयार की गई हमारी परीक्षित दवा से हज़ारों रोगियों ने रोगमुक्त हो कर प्रशंसा-पत्र भेजे हैं। यदि इस रोग से पीड़ित हों तो आज ही दवा मँगाने के लिए लिखें। प्रचारार्थ १०,००० रोगियों को दवा मुफ्त देने का प्रबंध किया गया है।

●

आयुर्वेद सेवाश्रम (एच)
पोस्ट—कतरी सराय (गया)

फील (हाथी) पाँव

हमारी आयुर्वेदिक दवा के सेवन से बिना चीर-फाड़ तथा बिना इंजेक्शन के यह रोग अच्छा हो जाता है। यदि रोग से पीड़ित हों तो आज ही दवा मँगा लें। प्रचारार्थ १००० रोगियों को आधी कीमत पर ही दवा दी जायेगी। विवरण पत्रिका मुफ्त मँगायें।

●

बनर्जी फार्मेसी (एच)
पोस्ट—कतरी सराय (गया)

• मराल •

जनवरी १९६५ में प्रकाश्य बंगला नवलेखन विशेषांक

- 'राम पाठक की डायरी' में 'रेणु' द्वारा 'हंग्री जेनरेशन' के कवियों और लेखकों का प्रोफ़िल।
- 'नयी पीढ़ी के विशिष्ट कथाकार' में छह कथाकारों की कथा-गोष्ठी।
- भग्न प्रतीक और फैंटसी के सहारे लिखा गया दीपक मजुमदार का नाटक।
- बँगला के तेरह नव कवियों का एक कवि सम्मेलन।
- बँगला कविता संबंधी डा० नामवर सिंह का लेख, विमल कर द्वारा इस दशक के कहानीकार और उनकी प्रवृत्तियों का परिचय और रमेश बक्षी के 'पर्सनल इंप्रेशन'।
- कवि सुनील गंगोपाध्याय को 'नागफनी के रेगिस्तान में नींद' लेते देखिए।
- सांप्रतिक बंगला कविता : कटघरे में। एक दिलचस्प पत्राचार, केतकी कुशारी बनाम 'कृतिवास'।
- सन्दीपन चट्टोपाध्याय आधुनिक कविता की प्रवृत्ति पर प्रकाश डाल रहे हैं।

मूल्य ५० पैसे – वार्षिक ५ रुपये

इस अंक का सम्पादन : कंचन कुमार • राजकमल चौधरी

कार्यालय : डी-५३।९०-डी, नारायण नगर, वाराणसी-१

महिलोपयोगी उत्कृष्ट मासिक

शृङ्गार

●

प्रबंध सम्पादक : देवेंद्र अग्रवाल
संपादिका : लावण्य प्रभा

महिलाओं के इंटरव्यू, उत्कृष्ट कहानियाँ, विचारपूर्ण लेख, नयी कविताएँ, सुंदर गीत, महिलोपयोगी सामग्री, पुस्तक-समीक्षा तथा अनेक स्थायी स्तम्भ

●●

१३।३७, शक्तिनगर,
दिल्ली-६
फ़ोन : २२७३००

मूल्य :
वार्षिक : ५ रु०
मासिक : ५० पै०

●●

३१ दिसंबर १९६४ तक ग्राहक बनने पर १२ के बजाय १५ अंक भेंट किये जायेंगे।

साहित्य-सन्देश

●●

साहित्य सन्देश हिन्दी साहित्य का अलोचनात्मक प्रधान मासिक पत्र है, जो २५ वर्षों से बराबर प्रकाशित हो रहा है। इसका वार्षिक शुल्क ५) रुपये मात्र है। इसकी विगत १३ वर्षों की कुछ सजिल्द फ़ाइलें उपलब्ध हैं जिनकी क़ीमत ६) प्रति फ़ाइल है। हिन्दी का ठोस ज्ञान प्राप्त करने के लिए ५) मनी-आर्डर भेज कर वार्षिक ग्राहक बनें।

●●

साहित्य सन्देश कार्यालय, आगरा

हिंदी ही क्यों ? **अंग्रेज़ी क्यों नहीं ?**

साहित्यवाचस्पति डॉ० सेठ गोविंददास की अमूल्य कृति

हिंदी-भाषा-आंदोलन

संकलनकर्त्ता

श्री लक्ष्मीचंद

- इस ग्रंथ में हिंदी-भाषा-आंदोलन के यशस्वी कर्णधार सेठ गोविंददास जी के भाषणों का प्रामाणिक संकलन है।
- इस ग्रंथ में हिंदी भाषा और साहित्य के विषय में सेठ जी के विचारों तथा दृष्टिकोणों का उल्लेखनीय समावेश है।
- इस ग्रंथ में राष्ट्रभाषा और राजभाषा जैसी जटिल समस्याओं के रचनात्मक सुझाव तथा समाधान सुगम शैली में प्रस्तुत किये गये हैं।

●

मूल्य : ९ रुपया

●

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

राष्ट्रभाषा का सर्वोत्कृष्ट प्रामाणिक कोश

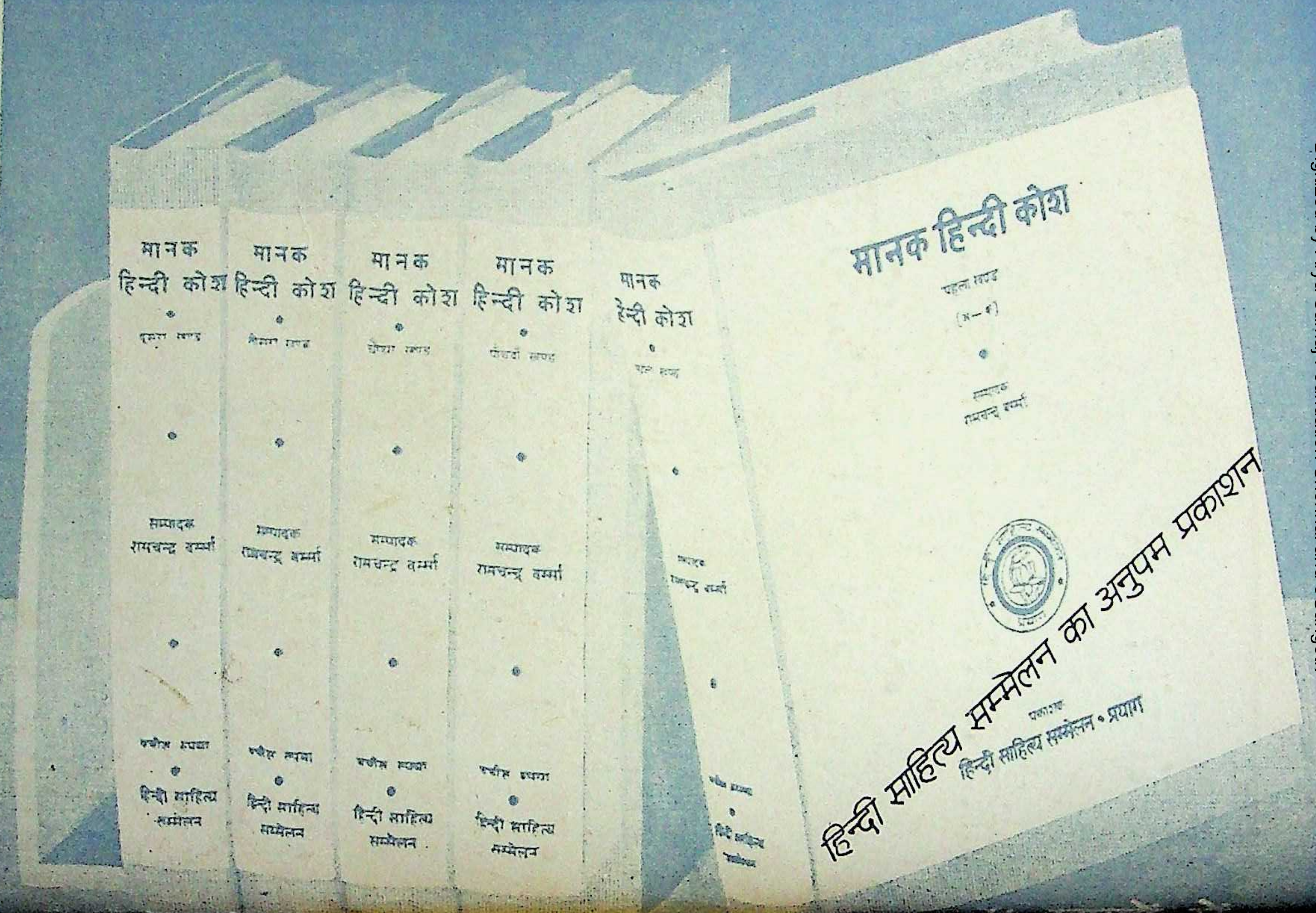
मानक हिन्दी कोश
पहला खण्ड
सम्पादक
रामचन्द्र वर्म्मा
प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग
हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अनुपम प्रकाशन

प्रथम तीन खण्ड प्रकाशित

आकार

डिमाई चार पेजी

शब्द संख्या

प्रथम खण्ड – २१९४८
द्वितीय खण्ड – २११२७
तृतीय खण्ड – २३६५३

पृष्ठ संख्या

प्रथम खण्ड – ६१८
द्वितीय खण्ड – ५९९
तृतीय खण्ड – ६७०

●

प्रति खण्ड का मूल्य पचीस रुपये

●

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

माध्यम

वर्ष २ : अंक ३
जुलाई १९६५

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

[illegible]
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

भारत सरकार की ओर से भेंट

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

वर्ष २ : अंक ३
जुलाई १९६५

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैंकुंठनाथ मेहरोत्रा
श्रीराम वर्मा

संपादकीय पता
पोस्ट बाक्स नं० ९०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

लेख

आधुनिकता और हिंदी कहानी ५ इंद्रनाथ मदान
कहानी से अकहानी, फिर कहानी ९ मन्मथनाथ गुप्त
अकहानी नहीं होगी १७ ओम प्रभाकर
नयी कहानियाँ और कथानक का ह्रास २१ मानिकचंद जायसवाल
महा मानव-समुद्र यह देश ७० रवींद्रनाथ त्यागी

कविता

असिद्ध की व्यथा ३ गिरिजाकुमार माथुर

पत्र तथा कहानियाँ

मुक्तिबोध के पत्र ३७ श्रीकांत वर्मा
वापसी २४ शैलेश मटियानी
टूटे हुए जोड़े ३३ गोपाल उपाध्याय

सहवर्ती साहित्य

गुजराती साहित्यकार :

धूमकेतु ५५ मोहनलाल भट्ट

माध्यम

अंक १६ में :

- डॉ० सम्पूर्णानन्द का निबंध: 'साहित्य की आलोचना'
- शिवमंगल सिंह 'सुमन' की कविता तथा अमृता भारती द्वारा अनूदित जार्ज सेफ़रिस की दो कविताएँ
- बलवंत सिंह : 'गूर्जियफ़ : एक परिचय'
- अवधनारायण मुद्गल की 'बंबई की डायरी'
- 'सहवर्ती साहित्य' के अंतर्गत तेलुगु की चुनी हुई सामग्री
- डॉ० शंभुनाथ सिंह द्वारा नरेंद्र शर्मा के काव्य-संग्रह 'प्यासा निर्झर' की विवेचना
- तीन विशिष्ट गोष्ठी-प्रसंग

यात्री (कहानी) ५९ धूमकेतु
राजपूतनी (कहानी) ६२ धूमकेतु

विवेचना

निर्मल वर्मा की कथा-कृतियाँ ७४ शिवप्रसाद सिंह
'विवेचना' : गोष्ठी-प्रसंग ८७ विवेचक
'विवेचना' : एक पत्राचार ९१

हिंदी जगत

आंध्र प्रदेश हिंदी लेखक-संघ १०२
हिंदी प्रदेश की सरकारें और अंग्रेज़ी १०२
सीमांत : भारतीय कविता विशेषांक १०४ सात्यकि
पत्र-प्रतिक्रियाएँ १०५

* * *

आवरण-सज्जा : दीनानाथ सरोदे

गिरिजाकुमार माथुर

●

असिद्ध की व्यथा

रजिस्ट्रार
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

नदियाँ, दो-दो अपार
बहतीं विपरीत छोर
कब तक मैं दोनों धाराओं में साथ बहूँ
ओ मेरे सूत्रधार!

नौकाएं दो भारी
अलग दिशाओं जातीं
कब तक मैं दोनों को एक साथ खेता रहूँ—
एक देह की पतवार—

दो-दो दरवाज़े हैं
अलग-अलग क्षितिजों में
कब तक मैं दोनों की देहरियाँ लाँघा करूँ
ओ असिद्ध,
        एक साथ

छोटी सी मेरी कथा
छोटा सा घटना-क्रम
हवा के भँवर-सा पलव्यापी यह इतिहास
टूटे हुए असंबद्ध टुकड़ों में बाँट दिया
तुमने
ओ अदृश्य, विरोधाभास!

        अधभोगे
        अधडूबे

रहे सभी कथा-खंड
दूरी से छू कर ही निकल गयीं घटनाएँ
भीतर बहुत सूखा रहा
हुआ नहीं सराबोर
देह भी न भीगी कभी इस प्रकार
कि साँसें न समाँ पायें

क्यों सारी दुनिया की
मनचीती बातें सभी
लगती रहीं मलीन
क्यों मन की दूर तहों में बैठा रहा, अडिग
ऊसर एक उदासीन
हँसने का नाट्य किया
ख़ुशियों का रूप धरा
कोरी आदत को सचाई माना मैंने
मेरे अनबींधे, बुझे
आसक्तिहीन प्यार!
एक ओर तर्क है
एक ओर संस्कार
दोनों तूफ़ानों का
दुहरा है अंधकार
किसको मैं छोड़ूँ
किसको स्वीकार करूँ
ओ मेरी आत्मा में ठहरे हुए इंतज़ार!

● ●

केंद्र-निदेशक,
आकाशवाणी, जालंधर।

कहानी-चर्चा

● ●

इंद्रनाथ मदान

●

आधुनिकता और हिंदी कहानी

आज आधुनिकता एक चुनौती के रूप में सामने है। इसके स्वरूप को पहचानने और इससे जूझने के लिए अधिक प्रयास होने लगे हैं। पहले इसे प्रयोगशील तथा नयी कविता में खोजा गया है और अब इसे आज की कहानी में आँका जा रहा है। इसका मूल कारण शायद वैज्ञानिक दृष्टि का विकास है और यह दृष्टि किसी सत्य को उसके अंतिम या चरम रूप में स्वीकार करने से परहेज़ करती है, किसी खंड सत्य को चिरंतन या शाश्वत सत्य मानने से इनकार करती है। और 'शायद' शब्द का प्रयोग भी इसी दृष्टि का परिणाम है। इसलिए आधुनिकता को किसी परिभाषा में बाँधना मेरे लिए कठिन है। इससे आधुनिकता की निरंतरता में गतिरोध की संभावना है। यदि इसे किसी परिभाषा में बाँधा जाता है तो आधुनिकता के आधुनिकवाद में परिणत होने का भय है; एक नारी के नर में बदल जाने की शंका है। इसलिए आधुनिकता को एक प्रक्रिया के रूप में आँकना ही संगत जान पड़ता है। यह प्रक्रिया प्रश्न-चिह्न की है, न कि विराम-चिह्न की। और जब भी किसी प्रश्न का निश्चित उत्तर दिया गया है, किसी समस्या का स्थायी समाधान प्रस्तुत किया गया है तब आधुनिकता को आधुनिकवाद में परिणत किया गया है; एक मूल्य के रूप में स्वीकारा गया है। डॉ० धर्मवीर भारती ने आधुनिक बोध को 'संकट-बोध' माना है; डॉ० रघुवंश ने इसे 'असंपृक्त यथार्थ दृष्टि' के रूप में आँका है; डॉ० नामवर सिंह कभी इसे एक प्रक्रिया के रूप में तो कभी एक मूल्य के रूप में खोज निकालते हैं; अज्ञेय इसे 'सापेक्षवाद' में आँकते हैं। केदारनाथ अग्रवाल ने आधुनिकता को 'खंडित मानव-मन की खंडित मनोदशा की खंडित अभिव्यक्ति' बताया है। इस तरह खंडित पर बल दे कर आधुनिक बोध का मूल्यांकन किया है। अभिव्यक्ति यदि अभिव्यक्ति है तो वह 'खंडित' किस तरह हो सकती है? जब भी आधुनिकता को किसी परिभाषा में जकड़ने का प्रयास किया गया है तब उसमें यांत्रिकता का समावेश हुआ है।

आधुनिकता के फलस्वरूप आज स्थिति भी गति हो रही है, जो पकड़ में नहीं आ रही है। यह एक जीवन-दर्शन न हो कर एक जीवन-दृष्टि है, जिसमें विसंगतियों की संभावना हुआ करती है। आज हिंदी कहानी तथा साहित्य की अन्य विधाओं में आधुनिकता को अधिक आँका जाने लगा है। इससे प्रेरित हो कर जीवन तथा जगत का चित्रण तथा मूल्यांकन होने लगा है। आधुनिकता की चुनौती का एक परिणाम शायद यह निकला है कि हर 'वाद' अपने को नया कहने के लिए बाधित हो रहा है—जैसे नव-यथार्थवाद, नव-स्वच्छंदतावाद, नव-भौतिकवाद, नव-मार्क्सवाद आदि। रहस्यवाद के पहले भी नव शब्द को जोड़ा गया है। इसी तरह कविता भी नयी है और कहानी भी नयी होने का दावा कर रही है। आलोचना के लिए भी नयी शब्दावली की रचना होने लगी है। पुराने मान गिर रहे हैं, प्रतिमान टूट रहे हैं। पैसा एक बार नया हो कर फिर पैसा हो गया है; लेकिन सड़कों पर अभी तक मील तथा किलोमीटर के पत्थर एक-दूसरे के विरोध में खड़े हैं। इनमें अभी तक सह-अस्तित्व की स्थिति है। इसके अतिरिक्त, आधुनिकता या आधुनिक संवेदना को विभिन्न धरातलों पर आत्मसात करने का प्रयास हो रहा है। इसलिए एक कहानीकार का आधुनिक बोध दूसरे कहानीकार की आधुनिक संवेदना से थोड़ा भिन्न है, एक कवि की आधुनिक संचेतना दूसरे कवि की आधुनिक संवेदना से थोड़ी अलग है। एक कवि की प्रक्रिया दूसरे की प्रक्रिया के समान किस तरह हो सकती है, एक का परिवेश दूसरे के परिवेश से किस तरह समता रख सकता है! गिरिजाकुमार माथुर की आधुनिकता में नव-स्वच्छंदतावादी जीवन-दृष्टि है। इसी तरह निर्मल वर्मा की कहानी में भी प्रायः इसी जीवन-दृष्टि का आभास मिलता है। मोहन राकेश तथा कमलेश्वर की कहानी-कला में यथार्थवादी जीवन-दृष्टि का नया स्वर है। यशपाल ने आधुनिकता की चुनौती को वैचारिक स्तर पर स्वीकारने का प्रयास किया है। इस तरह आधुनिकता कहानीकार या कवि के लिए नहीं, हर संवेदनशील व्यक्ति के लिए एक चुनौती है, जो विचार के नये धरातलों, भाव की नयी भूमियों, जीवन के नये संदर्भों आदि की खोज तथा इनकी अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करती है। मुझे लगता है कि इसका सूत्रपात आज से बहुत पहले हो चुका था। प्रेमचंद की 'कफ़न' और 'पूस की रात' में भी इसकी स्पष्ट झलक है, अज्ञेय के 'तार सप्तक' में भी यह उपलब्ध है। इसकी अभिव्यक्ति भले ही यशपाल ने वैचारिक धरातल पर की हो या अज्ञेय ने प्रयोग पर बल दे कर। निराला के व्यंग्य-काव्य के मूल में भी आधुनिक बोध की प्रेरणा है। परंतु इसका महत्व आज शायद इसलिए बढ़ रहा है कि देश की स्वतंत्रता के बाद भारतीय जीवन में आधुनिकता का संचार अधिक तेजी से होने लगा है। इसकी अनुभूति को पश्चिम का संवेदनशील व्यक्ति पहले से पा रहा है। इसलिए भारतीय स्थिति पाश्चात्य स्थिति से थोड़ी भिन्न है। पाश्चात्य आधुनिकता के आधार पर हिंदी कहानी में आधुनिकता को परखना इसे मूल्य के रूप में स्वीकारना होगा। सार्त्र या काफ़्का के आधुनिक बोध के आधार पर निर्मल वर्मा, उषा प्रियंवदा, राकेश, कमलेश्वर, मन्नू या ज्ञानरंजन की कहानी-कला में आधुनिक संवेदना को आँकना असंगत होगा। लेकिन हिंदी के कुछ कहानीकार आधुनिकता को केवल बौद्धिक स्तर पर आत्मसात करने के बाद इस दौड़ में खरगोश बनने का परिचय दे रहे हैं। लेकिन कछुआ भी, जो अपनी राह को जानता है, अपनी चाल से चल रहा है। इसलिए ख़रगोशों पर अभारतीयता का आरोप लगाया

जाता है। इसके बारे में यह कहा जाता है कि इन्होंने आधुनिकता से केवल परिचित होने का आभास दिया है, मित्र होने का नहीं। इस संबंध में निश्चित, या अंतिम मत देना मेरे लिए इसलिए संभव नहीं है कि निर्मल वर्मा या उषा प्रियंवदा ने क्रमशः 'लंदन की एक रात' तथा 'मछलियाँ' में अभारतीय परिवेश के आधार पर भी आधुनिकता से मित्र होने का परिचय दिया है और कृष्ण बलदेव वैद, श्रीकांत वर्मा तथा रामकुमार ने क्रमशः इसे 'बीच का दरवाज़ा', 'झाड़ी' तथा 'एक चेहरा' की कहानियों में सहज रूप से आत्मसात किया हुआ है। रेणु ने आंचलिकता के परिवेश में नव-स्वच्छंदता के धरातल पर आधुनिकता को अभिव्यक्ति दी है। इस तरह आधुनिकता की चुनौती से जूझने के विविध प्रयास तथा विभिन्न धरातल हैं। इनमें किसी एक को आधुनिकता का ठेकेदार बनाना इसे एक मूल्य के रूप में स्वीकार करना होगा। और आधुनिकता एक मूल्य न हो कर एक प्रक्रिया है, जिसके मूल में वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि है जो समसामयिक जीवन को उसकी गति के रूप में ग्रहण करती है; प्रश्न-चिह्न को उसकी निरंतरता के रूप में आत्मसात करती है। इसलिए इसमें विसंगतियों की संभावना है; परस्पर विरोध की स्थिति है।

मुझे लगता है कि हिंदी कहानी में आधुनिकता की इस चुनौती को दो परस्पर-विरोधी दिशाओं में स्वीकार किया गया है और किया जा रहा है। इन दो दिशाओं का आभास प्रेमचंद की 'कफ़न' और अज्ञेय की 'रोज़' में मिल जाता है। प्रेमचंद की कहानी में आधुनिक बोध समष्टि-चिंतन, समष्टि-यथार्थ, समष्टि-सत्य की जीवन-दृष्टि से प्रेरित है और अज्ञेय की कहानी में आधुनिक संवेदना व्यष्टि-चिंतन, व्यष्टि-यथार्थ, व्यष्टि-सत्य से अनुप्राणित होने का परिचय देता है। व्यष्टि तथा समष्टि की दृष्टि से आधुनिकता को जब आत्मसात किया जाता है तब एक में दूसरे का नितांत अभाव भी नहीं होता है। इसके बाद आज की हिंदी कहानी में आधुनिकता को जब व्यष्टि तथा समष्टि के धरातलों पर अभिव्यक्त किया गया है तब आज के कहानीकार इन दो दिशाओं में अपनी-अपनी पगडंडी पकड़ रहे हैं। यदि श्रीकांत वर्मा ने अपनी पगडंडी को 'झाड़ी' में पकड़ा है तो निर्मल वर्मा ने इसे 'जलती झाड़ी' में प्रशस्त किया है। मोहन राकेश तथा कमलेश्वर ने आधुनिकता को नव-स्वच्छंदतावाद तथा नव-यथार्थवाद दोनों रूपों में आत्मसात किया है। इसे स्पष्ट करने के लिए मोहन राकेश की 'अपरिचित' तथा 'मलबे का मालिक' द्रष्टव्य है। इसी तरह, कमलेश्वर की कहानी 'जो लिखा नहीं जाता' में आधुनिक संचेतना व्यष्टि-सत्य के धरातल पर व्यक्त हुई है। राजेंद्र यादव आधुनिकता की चुनौती को प्रायः शिल्प के माध्यम से पकड़ने का परिचय दे रहे हैं। रवींद्र कालिया जैसे कहानीकार अपना नाता अकहानी से गाँठ कर आधुनिकता को आत्मसात करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसका आभास इनकी 'एक दिन' और 'त्रास' नामक कहानियों में मिलता है। इसी तरह, 'सचेतन' कहानीकार आधुनिकता की चुनौती को स्वीकारने का दावा 'नयी कहानी' की प्रतिक्रिया के रूप में कर रहे हैं। इनके अनुसार 'नयी कहानी' इसलिए 'अचेतन' है कि इसमें आधुनिक बोध का अभाव है। इस धारणा को 'आधार' के 'सचेतन कहानी विशेषांक' में पुष्ट करने का प्रयास किया गया है।

इस तरह, आधुनिकता प्रश्न-चिह्न की एक प्रक्रिया है जिसकी निरंतरता को प्रेमचंद से ले कर आज तक दो परस्पर-विरोधी धरातलों पर हिंदी के कहानीकारों ने पकड़ने का प्रयास किया

है। यह प्रयास कहानीकारों तक सीमित न हो कर कविता में भी उपलब्ध होता है। एक धरातल का संबंध व्यष्टि-सत्य, व्यष्टि-यथार्थ, व्यक्ति-हित की जीवन-दृष्टि से है और दूसरे का समष्टि-सत्य, समष्टि-यथार्थ, समष्टि-मंगल से। अभी तक इनमें सह-अस्तित्व की स्थिति मिलती है। लेकिन कभी-कभी इन जीवन-दृष्टियों में पारस्परिक विरोध शांत होने का भी आभास मिल जाता है। इस बात को थोड़ा स्पष्ट करने के लिए कुछ ही उदाहरण दिये जा सकते हैं और अनेक छोड़ने ही पड़ते हैं। 'कफ़न' और 'रोज़' के उदाहरण दिये जा चुके हैं। पहली कहानी में आधुनिकता समष्टि-सत्य के संदर्भ में आत्मसात है और दूसरी में व्यष्टि-सत्य के धरातल पर। उषा प्रियंवदा की 'ज़िंदगी और गुलाब के फूल', मन्नू भंडारी की 'यही सच है', राकेश की 'मिस पाल', कमलेश्वर की 'नीली झील', निर्मल वर्मा की 'परिंदे', रेणु की 'तीसरी क़सम', राजेंद्र यादव की 'टूटना', रामकुमार की 'सेलर', ज्ञानरंजन की 'फ़ेंस के इधर और उधर', दूधनाथ सिंह की 'रक्तपात', कृष्णा सोबती की 'मित्रो मरजानी' आदि कहानियों में आधुनिकता की अभिव्यक्ति व्यष्टि-सत्य के संदर्भ में हुई है और यशपाल की 'परदा', अमरकांत की 'ज़िंदगी और जोंक', भारती की 'गुलकी बन्नो', रांगेय राघव की 'गदल', राकेश की 'मलबे का मालिक', भीष्म साहनी की 'सिफ़ारिशी चिट्ठी', शेखर जोशी की 'बदबू', मार्कण्डेय की 'दाना-भूसा' आदि कहानियों में आधुनिक संवेदना को समष्टि-सत्य के धरातल पर पकड़ा गया है। इस कहानी-सूची में विस्तार तथा संकोच की भी संभावना है। वह इसलिए कि समष्टि तथा व्यष्टि की जीवन-दृष्टि इतना महत्व नहीं रखती जितनी कहानी की संश्लिष्टता। यह संभव है कि किसी कहानी में इसका अभाव हो।

इस तरह हिंदी कहानी आधुनिकता की चुनौती को अलग-अलग धरातलों पर आत्मसात करने का परिचय दे रही है। कहानी में 'कलात्मक रचाव' का होना साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्व रखता है, इसका एक संश्लिष्ट 'रचना' होना अधिक मूल्य रखता है। 'रचना' शब्द भी ऐन ठीक नहीं लग रहा है। इसका आशय शास्त्रीय रचना नहीं, रचना का अभाव भी रचना का रूप हो सकता है। प्रेमचंद से ही शास्त्रीय रचना के नियम टूटने लगे थे; नख-शिख की दृष्टि से चुस्त एवं दुरुस्त कहानी आधुनिकता की चुनौती को स्वीकारने में अक्षम सिद्ध होने लगी थी। अगर मैंने किसी कहानी को पसंद या नापसंद करने का साहस किया है तो इस तरह राय देने से मैंने आत्मनिष्ठ होने का परिचय दिया है। और शायद हर पाठक इस तरह आत्मनिष्ठ होने का परिचय देता है। डॉ० नामवर सिंह जब 'लंदन की रात' में ही आधुनिकता की अभिव्यक्ति पाते हैं तब वह आधुनिक संवेदना को एक प्रक्रिया के रूप में नहीं एक मूल्य के रूप में आँकने का परिचय देते हैं। मुझे तो अज्ञेय की 'रोज़', देवेन गुप्त की 'अजनबी समय की गति' रवींद्र कालिया की 'त्रास' और ज्ञानरंजन की 'शेष होते हुए' में भी आधुनिकता की अभिव्यक्ति नज़र आती है। मैंने तो केवल कहानी की राह से गुज़रने का प्रयास किया है—एक अध्यापक की दृष्टि से नहीं एक शिष्य की दृष्टि से, जिसके संस्कार अभी रूढ़ नहीं हुए हैं, जिसके पास कला के शाश्वत नियम भी नहीं हैं। वे क्या हैं, वे सब तरह के हैं। मेरे लिए हर कहानी, हर कृति यदि वह अनुकृति नहीं है, अपने-अपने कला-नियमों को लिए हुए है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य नगेंद्र लालित्य एवं सौंदर्यशास्त्र के शाश्वत सिद्धांतों एवं तत्वों पर आलोक डालने के अधिकारी हैं। इसी प्रकार डॉ० नामवर सिंह, मोहन

राकेश तथा कमलेश्वर, आधुनिकता को दिशा देने की शक्ति से संपन्न हैं। मेरे पास तो कहानी या कला की संतोषजनक परिभाषा भी नहीं है। इस तरह समस्या मेरी है, समाधान आपका; प्रश्न-चिह्न मेरा है, विराम-चिह्न आप का। आधुनिकता की चुनौती को हर संवेदनशील व्यक्ति अपने परिवेश में स्वीकार रहा है; हर कहानीकार अपने संदर्भ में आधुनिक संवेदना को व्यक्त कर रहा है। और उसकी राह से गुज़र कर ही उसे पहचाना तथा जाना जा सकता है।

—३१ सी, सेक्टर १८ बी,
चंडीगढ़ - १।

मन्मथनाथ गुप्त

कहानी से अकहानी, फिर कहानी

इस समय हिंदी में कहानियों पर जितनी आलोचनाएँ हो रही हैं, उतनी किसी और विषय या विधा पर नहीं हो रही हैं। यह युग कहानियों और हलके-फुलके गीतों का युग है, क्योंकि थका-माँदा आदमी जब काम से लौट कर आता है तब कुछ मनोरंजन चाहता है। फिर भी कहानी पर जितनी आलोचनाएँ आये दिन प्रकाशित हो रही हैं, उन पर वही कहावत चरितार्थ होती है कि 'बारह हाथ की ककड़ी तेरह हाथ का बिया'। अभी तक किसी विश्वविद्यालय ने इस पर शोध नहीं किया है, और आँकड़े इकट्ठे नहीं किये हैं, पर यह निर्विवाद है कि जितनी कहानियाँ लिखी जा रही हैं उनसे अधिक कहानियों पर आलोचना लिखी जा रही है।

इलियट ने इस प्रकार की समीक्षा के विषय में कुछ मजेदार बातें लिखी हैं जो यों हैं—**विद्वत्ता के, चाहे जितने भी विनम्र रूप से हो, कुछ अधिकार होते हैं। हम मान लेते हैं कि हम जानते हैं कि कैसे इनका इस्तेमाल किया जाय और कैसे इनकी अवहेलना की जाय। समीक्षा संबंधी ग्रंथों और लेखों से यह स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि लोग कलाकृतियों के अध्ययन की जगह कलाकृतियों की आलोचना पढ़ने की अस्वस्थ मनोवृत्ति के शिकार हो जायँ; और ऐसा होते देखा भी गया है। समीक्षा का उद्देश्य रुचि को शिक्षित या परिष्कृत करना है, न कि बने-बनाये मतों को जन्म देना। पर तथ्य रुचि को भ्रष्ट नहीं कर सकता; अधिक से अधिक यह किसी एक रुचि को, जैसे इतिहास, पुरातत्व या जीवनी की रुचि को इस भ्रांति में संतुष्ट कर सकता है कि यह दूसरे की**

मदद कर रहा है। असली भ्रष्ट करने वाले लोग वे हैं जो बने-बनाये मत या कल्पना पेश करते रहते हैं। इस संबंध में मज़े की बात यह है कि महाकवि गेटे और कोलरिज भी निर्दोष नहीं हैं। क्योंकि कोलरिज का हैमलेट क्या है, क्या इसे, जहाँ तक तथ्य प्राप्त थे, एक ईमानदार खोज कहा जा सकता है या यह महज़ आलोचक कोलरिज को ही एक आकर्षक पोशाक में पेश करता है?

किसी भी विषय पर आलोचना का उद्देश्य मत का या रुचि का परिष्करण होना चाहिए, जिससे कृति पर नये कोण से रोशनी पड़े, ताकि पाठक को उसके अंदर पैठ प्राप्त हो। पर किसी भी हालत में ककड़ी से बिया बड़ा नहीं हो सकता, कम से कम प्रकृति में ऐसा न तो होता है और न संभव है। इस प्रकार, कहानियों से कहीं अधिक मात्रा में आलोचनाओं का लिखा जाना एक अप्राकृतिक और अस्वस्थ परिस्थिति है। अधिक आलोचनाएँ लिखी जा रही हैं, यह अस्वस्थ है, पर इससे भी अस्वस्थ यह है कि कलाकृति के बजाय वे अधिक पढ़ी जा रही हैं। इन आलोचनाओं का उद्देश्य अक्सर अपने गुट का विज्ञापन होता है और इसमें पूरी राजनीति चल रही है। सबसे पहली बात, जिसकी ओर किसी भी निष्पक्ष पाठक की दृष्टि जायगी, यह है कि कुछ लोग परस्पर प्रशंसा की एक शृंखला बनाये हुए हैं, जिसमें इस प्रकार से सारा खेल रचा जाता है कि गुट का एक आदमी दूसरे की जितनी प्रशंसा करता है, वह अगले दौर में सूद दर सूद, बल्कि बच्चों-कच्चों सहित, उसके पास लौट आता है। और इस प्रकार बड़े सूक्ष्म (इतना सूक्ष्म नहीं कि देखने पर दिखायी न पड़े) ढंग से नये बुत तैयार किये जाते हैं और उन पर इस तरह से प्रलेप लगाये जाते हैं कि असली बुत की कोरें प्रलेपों की बदौलत कट-पिट कर एक रूप ले लेती हैं और जो धूप-दीप-नैवेद्य और स्तोत्र उसकी तरफ़ आते रहते हैं, उनसे एक 'मिथ' और भ्रांति का संसार बनता जाता है।

परस्पर प्रशंसा के अतिरिक्त, राजनीति की तरह, दूसरे गुट को कमज़ोर करने, उसमें से हाशिये पर खड़े लोगों को बहका कर अपने में मिलाने आदि का कार्यक्रम चलता रहता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि यह सब बड़े-बड़े साहित्यिक सिद्धांतों के धुएँदार पर्दे की आड़ में या उनके लिए जिहाद के रूप में किया जाता है। आख़िर राजनीति में भी तो ऐसा ही होता है——जब सत्य और अहिंसा जैसे ऊँचे सिद्धांतों के झंडे के नीचे वर्षों तक ऐसे लोग पनपते हैं जो बाद को, 'दास कमीशनों' की बदौलत ही सही, बिल्कुल लचर साबित होते हैं——तब इस युग में साहित्यिक सिद्धांतों को तोड़-मरोड़ कर स्वार्थ-सिद्धि की जा सकेगी, इसमें कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। अजीब बात यह है कि जो लोग मुँह से साहित्य पर राजनीति के हमले को रोकने और उससे लोहा लेने का दावा करते हुए नहीं थकते, वे ही आज साहित्य को राजनीति बनाने और उसके बाद उसे दुहने के देशव्यापी कार्यक्रम में लगे हुए हैं।

कहानी बहुत अच्छी विधा है; वह आज के जीवन का एक अभिन्न अंग है। इसी प्रकार आलोचना भी एक बहुत ही वांछनीय साहित्यिक विधा है, पर जैसा पहले बताया गया कि कहानी मुख्य है, न कि आलोचना, यानी यह परिस्थिति अकल्पनीय है कि कहानी कम लिखी जाय और उस पर आलोचना अधिक से अधिक हो। पर इस समय हिंदी में कुछ ऐसा ही हो रहा है और यह इस कारण हो रहा है कि कुछ लोगों को इस प्रकार की अप्राकृतिक उफान की लहरों पर चढ़ कर आगे आने का मौक़ा मिल जाता है। परस्पर प्रशंसा, आत्मविज्ञापन, गुटबंदी आदि से

दब कर कहानी का रूप क्षीण और क्षयग्रस्त होता जा रहा है। पाठक बेचारा इस भीड़, भड़भड़ और भगदड़ में कहीं का भी नहीं रह गया है। यदि वह कुछ मीन-मेख निकालता है तो उसके सीने पर यह पिस्तौल तान दी जाती है कि तुम्हारी 'सेंसिबिलिटी' पुरानी है, तुम अपनी समझ को ठीक करो, तुम दक़ियानूस और मांधाता के ज़माने में सड़ रहे हो, जब कि यह ज़माना है अमुक-अमुक का। अमुक-अमुक का नाम गिनाते समय परस्पर प्रशंसा के सूक्ष्म नियमों के अनुसार अपने अलावा बाक़ी अपने सारे लोगों का नाम गिनाया जाता है। इस प्रकार एक तरफ़ कहानी पर जो आलोचनाएँ लिखी जा रही हैं, वे राजनीति के धोबीपाट आदि पेंचों के साथ-साथ दूकानदारी के सारे हथकंडों को अपना रही हैं—मेरी दूकान में ऐसी चीज़ें मिलती हैं जिन्हें हाथ से नहीं छुआ गया है, जो केवल मन से ही छुई गयी हैं; उसकी दूकान में माल बासी है। यदि इस पर पाठक यह कहे कि भाई, शराब, चावल आदि कई चीज़ें पुरानी ही अच्छी होती हैं, तो उससे कहा जाता है कि तुम्हारी अनुभूतियाँ बाबा आदम के ज़माने की हैं, इत्यादि इत्यादि।

आलोचना जब राजनीति और दूकानदारी का रूप ले ले और उसका उद्देश्य यह हो जाय कि अधिक से अधिक पैसा और पारिश्रमिक अपने गुट को ही मिले और अपना माल अधिक से अधिक बिके, तब निश्चय ही यह बहुत चिंता का विषय हो सकता है। राजनीति में ऊँचे-ऊँचे सिद्धांतों के नाम पर और बड़े-बड़े बुतों को सामने रख कर नीच से नीच कार्य हो रहे हैं। दूकानदारी में भी यह सब चलता ही है, पर साहित्य में जब इन्हीं बातों का बोलबाला हो जाय तब वह बहुत ख़तरे का कारण बन सकता है। कहानीकार के लिए ख़तरा नहीं, बशर्ते कि वह एक गुट में शरीक हो, पर निर्दलीय कहानीकार तथा साधक के लिए ख़तरा हो सकता है और स्वयं साहित्य के लिए बहुत बड़ा ख़तरा पैदा हो सकता है—हो सकता है नहीं, हो चुका है। पाठक स्वयं तो बोलता नहीं, पर उसके लिए यह स्थिति वांछनीय नहीं हो सकती। इसका थोड़ा परिचय हमें पुस्तकों की बिक्री के आँकड़ों से प्राप्त होता है।

इस संबंध में यह द्रष्टव्य है कि किसी भी भारतीय भाषा में इस प्रकार की तू-तू, मैं-मैं नहीं चल रही है। अवश्य इसके लिए यह कहा जा सकता है कि हिंदी का कथा-साहित्य आगे बढ़ा हुआ है, इसलिए यह प्रसव-वेदना और रक्तपात चल रहा है, इसीलिए यह गड़बड़ है क्योंकि एक नये सितारे का उदय हो रहा है। पर क्या यह बात सच है? भारतीय भाषाओं को छोड़ दिया जाय तो भी यही दिखायी पड़ेगा कि कहीं भी कथा से अधिक कथा पर लिखाई हो रही है; बल्कि ध्यान से देखने पर यह पता लगेगा कि जो बमचख़ यहाँ जारी है, वह बहुत पहले ही दूसरे साहित्यों में हो चुकी है और अब वहाँ शांति है।

यह स्वाभाविक है कि नदी की तरह साहित्य कभी एक ही जलराशि को ले कर अपना कारोबार नहीं चला सकता। समय-समय पर उसमें नयी नदियों का आ कर मिल जाना, उफान आना और नये टापुओं का उदय होना, उसकी गति-रेखा का परिवर्तन होना स्वाभाविक है, और इसी के साथ नयी आलोचना का उदय होना भी स्वाभाविक है। फिर भी नयी आलोचना कभी नये साहित्य का स्थान नहीं ले सकती। आलोचना एक प्रकार का व्याकरण है और मातृभाषा में

ही ऐसा हो सकता है कि व्याकरण का पठन-पाठन और रचना इतनी अधिक हो जाय कि साहित्य उसकी बाढ़ में डूब जाय।

फिर, यदि आलोचना किसी मसरफ़ की होती, यानी उसमें कोई नया सिद्धांत या नया दृष्टिकोण सामने आता, तो उससे कुछ लाभ हो सकता था, पर यहाँ तो केवल यही चल रहा है—'मेरे हमदम मेरे दोस्त'; ऊँटों की शादी में गदहों का वह पंचम स्वर में आलाप कि गदहे ऊँट के रूप की प्रशंसा करते हैं और ऊँट गदहे के कंठ को सराहते हैं। मैं नाम लेने से बचना चाहता हूँ, पर आज यह हालत है कि बहुत से नये लोगों ने अपने नाम जितनी बार छापे के हरफ़ों में दूसरों की क़लम से और अपनी क़लम से देखे होंगे, उतनी बार प्रेमचंद ने सारे जीवन-काल में नहीं देखा होगा। अभी-अभी किसी ने, शायद डॉ० प्रभाकर माचवे ने, लिखा था कि भगवतीचरण वर्मा पर हिंदी में कोई पुस्तक नहीं है जब कि वह हिंदी के एक श्रेष्ठ उपन्यासकार और 'चित्रलेखा' के लेखक हैं, जिसकी लगभग एक लाख प्रतियाँ बिक चुकी हैं।

इस प्रकार परस्पर प्रशंसा की यह चक्की बहुत महीन पीस-कात रही है और उसमें लाभांश भी अच्छे आ रहे हैं। सब कुछ ठीक है। चोरबाजारी में बहुत से लोग लाखों का वारा-न्यारा कर रहे हैं, उसमें कोई बड़ी बात नहीं है, पर परेशानी तो इस बात से है कि सामयिक रूप से ही सही, बहुत से लोग पथ-भ्रष्ट हो रहे हैं और खोटे सिक्के को सही मान कर चल रहे हैं। अवश्य, जैसा कि अब्राहम लिंकन ने कहा था—**यह संभव है कि कुछ व्यक्तियों को हमेशा के लिए धोखे में रखा जाय, यह भी संभव है कि कुछ समय के लिए सारे लोगों को धोखे में रखा जाय, पर यह संभव नहीं है कि सारे लोगों को सारा समय धोखे में रखा जाय।** पर्दाफ़ाश तो होगा ही और सत्य की किरण छिटकेगी ही, पर जब तक यह धींगामस्ती चल रही है, तब तक गत्यवरोध तो रहेगा ही, तब तक बहुत से मुसाफ़िर ग़लत रास्ते पर चले जायेंगे।

जैसा मैं बार-बार कह चुका हूँ, कालिदास का वह कथन ही सत्य है कि सारी पुरानी बातें अच्छी नहीं हैं, और न सारी नयी बातें ही अच्छी हैं। नया तो आयगा ही, उसे कोई रोक नहीं सकता, पर नया वाक़ई नया है, यह भी जाँच लेना पड़ेगा। कहीं ऐसा तो नहीं कि नये के नाम पर जो कुछ चालू है उसकी आड़ में मार खायी हुई और हार खायी हुई विचारधाराओं की वृद्धा वेश्याएं प्लास्टिक सर्जरी की बदौलत शूर्पणखा की तरह आगे आने की कोशिश कर रही हैं। जहाँ तक नये साहित्य में भाषा-शैली, यहाँ तक कि कथावस्तु और कथ्य संबंधी नये प्रयोग हो रहे हैं, हुए हैं वे तो बराबर होते रहे हैं—बल्कि प्रत्येक रचयिता अपने पूर्ववर्तियों से इसी की बदौलत अलग होता है, पर जब नये के अंदर से अति पुरातन शैतान बोलता है, तब ख़तरा पैदा होता है।

आधारभूत रूप से, अवश्य यह अति सरलीकरण है। कला के संबंध में दो मतवाद रहे हैं। एक का कहना रहा है—कला कला के लिए है। दूसरा कहता है—कला जीवन के लिए है। इन दोनों के बीच हज़ारों प्रकार की खिचड़ियाँ पक सकती हैं और सैकड़ों डेढ़ ईंट की मस्जिदें तैयार हो सकती हैं। यह भी सही है कि जिन उपमाओं की कोरें इतनी घिस-पिट गयीं कि उनमें प्रेषणीयता का दम नहीं रहा, उन्हें बंगाल की खाड़ी में डुबो कर नयी उपमाएँ खोजी जायेंगी, भाषा के तरकश में नये-नये तीर—कुछ अमृत से बुझे हुए और कुछ ज़हर से बुझे हुए—भरे

जायँगे, शैली भी ऐसी नयी होगी कि मालूम तो हो कि कुछ पढ़ रहे हैं। जहाँ तक इन प्रयोगों और प्रयासों का संबंध है, वे अवश्य ही अभिनंदनीय हैं और उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है। पर इस संबंध में यह दावा करना या यह धारणा उत्पन्न करने की चेष्टा करना कि ऐसा केवल हिंदी में ही हो रहा है, कहीं नहीं हुआ। यह केवल अहंमन्यता और अंततोगत्वा हीनताबोध का परिचायक है।

यूरोपीय साहित्य में यह सब तमाशा बहुत पहले हो चुका है और वहाँ जॉयस ऐसा व्यक्ति और प्रूस्त जैसी प्रतिभा का जन्म हो चुका है और उनके कारण जो उफान आया था, उसका ख़ात्मा भी हो चुका है। यह कोई भी नहीं कहता कि ख़ात्मे का अर्थ यह है कि उसका असर जा चुका है। जब नदी अपने-आप में समा नहीं पाती और किनारे के पायलों को तोड़ कर दोनों पाटों पर नग्न तांडव करती है तब वह अपने पीछे जो पोली मिट्टी छोड़ जाती है, उसके संबंध में यह तो नहीं कह सकते कि वह कुछ नहीं है। वह खाद है और उसका महत्व और कोई न जाने, किनारे पर रहने वाला किसान जानता है; जानता है तभी वह हर साल बाढ़ की मार खाने पर भी दुधारू गाय की लात अच्छी जान कर कान डाले नदी के किनारे ही पड़ा रहता है।

वर्जीनिया वुल्फ़ और जॉयस ने भाषा और शैली संबंधी जो प्रयोग किये, वे बहुत ही रोचक और दिलचस्प थे। कहा गया कि मैटर कुछ नहीं है, चरित्र का अंकन एक ऐसा भद्दा कार्य है, जैसे किसी बहुत सुरुचिपूर्ण डिनर के दौरान, जो मोमबत्तियों की रोशनी में चालू हो, कोई भुना चना निकाल कर खाने लगे। कथाकार द्वारा दी गयी टिप्पणी भी जहालत मानी गयी, यद्यपि बालजक, ताल्स्ताय, मोंपासाँ आदि पुराने गुरु लोग इसके बहुत आदी थे। चेतना-प्रवाह का सिद्धांत अपनाया गया। कहा गया कि एक मनुष्य बिल्कुल सरल रेखा में नहीं सोचता, बीच में कितनी ही भँवरें और विषयांतर होते रहते हैं। कई जगह पुराना विचार रक्त-प्रवाह में 'कोलेस्ट्रोल' की तरह प्रवाह को रोकता है और गाँठें पड़ जाती हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि जॉयस आदि ने जो प्रयोग किये, वे बहुत कुछ सार्थक रहे, पर इस संबंध में यह भी देखने की बात है कि अपने-अपने युग में सभी महान लेखक भाषा और शैली में नवयुग के प्रवर्तक हुए हैं। कई बार तो लेखक को भाषा का कुआँ खोद कर तब पानी पीना पड़ता है। शेक्सपियर ने अपने युग में बहुत सी नयी बातें चलायीं। अब तो खोज यह बता रही है कि जॉयस और वुल्फ़ के पहले डॉरोथी रिचर्डसन ने दोनों के लिए रास्ता खोल दिया था पर डॉरोथी रिचर्डसन ऊँची कलाकार नहीं थी। जैसे ईसा के लिए जान दि बैप्टिस्ट ने रास्ता तैयार किया था, उसी तरह से डॉरोथी ने रास्ता तैयार किया। रास्ता तो तैयार करना ही पड़ता है; बिना रास्ता तैयार किये नये क़िस्म की गाड़ी उस पर नहीं चल सकती। बैलगाड़ी की कच्ची सड़क पर लारियाँ और बसें नहीं चल सकतीं। किसी भी परिवहन-विशेषज्ञ से पूछिए तो वह मार्ग-निर्माण के इस द्वंद्ववाद के संबंध में अपने जान या अनजान में बतायगा। अंतर्गत वस्तु एक तरफ़ और शैली तथा भाषा दूसरी तरफ़ एक दूसरे से उसी प्रकार बँधी हुई हैं, जिस प्रकार व्यक्ति और उसकी परछाईं। दोनों केवल तभी अलग हो सकते हैं जब व्यक्ति व्यक्ति न रहे, बल्कि प्रेत हो जाय।

भाषा और शैली को अंतर्गत वस्तु से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। प्रयोग केवल भाषा और शैली संबंधी नहीं होते बल्कि प्रयोग सभी क्षेत्रों में चालू रहते हैं, पर कुछ ऐसा हुआ कि मोटे तौर पर यूरोपीय साहित्य में १९१५ से १९४५ तक जो प्रयोग हुए वे भाषा और शैली संबंधी ही हुए; यानी उसके अलावा जो प्रयोग हुए उन पर लोगों का ध्यान उतना नहीं गया। यह पता लगाया गया है कि चेतना-प्रवाह या 'सेंसिबिलिटी' वाले उपन्यास का प्रारंभ फ़्रांस में दूजारदाँ से हुआ, जिसका पहला ऐसा उपन्यास १८८७ में प्रकाशित हुआ। डॉरोथी रिचर्डसन इसके बाद आयी। उसका उपन्यास 'प्वायेन्टेड रूफ़्स' यानी 'नोकदार छतें' १९१५ में प्रकाशित हुआ। यह एक माला की प्रथम पुस्तक थी जो 'मिरियम माला' कहलायी। मिरियम एक यात्री है, जिसकी चेतना में सारा उपन्यास घटित होता है। 'यूलिसिस' १९२८ में प्रकाशित हुआ।

इन प्रयोगों से अंग्रेज़ी साहित्य को लाभ पहुँचा, फिर भी, जैसा सभी मानते हैं, जॉयस और वुल्फ़ का विशेष अनुसरण नहीं हुआ; यानी जो अनुसरण हुआ वह सफल नहीं हो सका। साथ-साथ नयी आलोचना भी आयी थी, पर उसके बावजूद जॉयस और वुल्फ़ की वंशावली नहीं चली; पर जैसा मैं बता चुका हूँ, यह कहना ग़लत होगा कि उनका असर नहीं पड़ा। असर पड़ा, और भारत की अन्य भाषाओं तथा हिंदी नवलेखन पर अब चल कर लगभग एक दशक से इनका असर दिखायी पड़ रहा है। उस असर पर हम बाद को आयेंगे, पर जो कुछ भी हो, जॉयस आदि के बाद उपन्यास फिर बहुत-कुछ पुराने ढर्रे पर लौट गया, यद्यपि प्रतिकहानी और अकहानी, प्रति-उपन्यास और अ-उपन्यास की तलवार उसके सिर पर लटकी रही। लोक अनुकरण-कारियों से और अपने व्याकरण और अपनी शैली में लिखने वालों से, जिनकी रचनाओं की बहुत कुछ हालत ऐसी हो गयी थी कि वे ख़ुद ही लिखें और ख़ुद ही समझें––जैसे आधुनिक कला में है, इतने ऊब गये कि उन्होंने उपन्यास और कहानी पढ़ना ही छोड़ दिया और यदि खोजी विद्वानों का विश्वास किया जाय तो अब पढ़े-लिखे सुसंस्कृत लोग खुले आम यह डींग मारने लगे कि हम तो कहानी और उपन्यास पढ़ते ही नहीं, हम तो इतिहास और जीवनी पढ़ते हैं।

कलाकार और साहित्यकार अपने को चाहे जितना महत्व दें, पर एक वह भी व्यक्ति है जिसका नाम है पाठक। पाठक को साथ ले जा कर लेखक कुछ भी कर सकता है, उसके रास्ते में कोई बाधक नहीं हो सकता। पर यदि लेखक ने पाठक को मझधार में छोड़ दिया तो वह देखेगा कि असल में उसने अपने को ही मझधार में छोड़ा है, पाठक तो सूखी ज़मीन पर पहुँच गया है और वहाँ से डूबते हुए कलाकार या साहित्यकार को मुस्कराता हुआ, या गालियाँ देता हुआ—जैसी भी उसकी प्रवृत्ति हो, देख रहा है। पाठक को भूल जाना साहित्यकार के लिए कभी लाभदायक नहीं हो सकता। पाठक हाथ छोड़ेगा तो प्रकाशक हाथ छोड़ेगा, क्योंकि प्रकाशक कोई प्रयोग करने के लिए बावला नहीं होता, उसे तो प्रयोग वहीं तक प्रिय और उपादेय लगते हैं जहाँ तक उससे मुनाफ़े की रक़म में चार चाँद लगें। अवश्य, बुद्धिमान प्रकाशक एक हद तक घाटा भी उठा सकता है बशर्ते कि बाद को घाटा सूद दर सूद लौट आये। इसलिए हमें आश्चर्य नहीं है

कि सुसंस्कृत पाठकों ने प्रयोगवादी, बल्कि कहना चाहिए अहंवादी नवलेखन को प्रोत्साहन नहीं दिया और 'थ्रिलरों', इतिहास और जीवनियों से आँख लड़ाने लगे।

अभी तक कला के क्षेत्र में कथित आधुनिकता यानी 'नान रिप्रज़ेन्टेशनल' कला चालू है, पर उपन्यास-कहानी में उसका अंत हो गया, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उपन्यास और कहानी चित्रकला से कहीं अधिक रोजमर्रा की हैं इसलिए उसमें सनक-भरे प्रयोगों का पहले अकृतकार्य हो जाना बिल्कुल वैसा ही है जैसा होना चाहिए था। इस क्षेत्र में उपभोक्ता उतने दिनों तक स्वप्न के राशन पर पलने के लिए तैयार नहीं था। यहाँ इतना ही बता कर कला के प्रसंग को समाप्त कर दिया जाय कि फिर से न केवल समाजवादी क्षेत्रों में बल्कि सारे सभ्य जगत में किसी न किसी रूप में 'फ़िगरेटिव' यानी पहचान में आने वाली कला का पुनरुत्थान हो रहा है। कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में यह पुनरुत्थान या पुनरावर्तन पहले हुआ। ऐसा इस कारण हुआ कि विधा का तक़ाज़ा ऐसा ही था और इस विधा में धाँधली का सिक्का तभी तक चल सकता था, जब तक उसके साथ महान प्रतिभा का हस्ताक्षर संयुक्त हो, यानी दूसरे शब्दों में, धाँधली जब धांधली न रह जाय। कई प्रयोग ऐसे होते हैं जिन्हें केवल महान प्रतिभा ही चमका सकती है।

मैंने पुनरुत्थान और पुनरावर्तन शब्दों का प्रयोग किया पर इससे यह समझने की ज़रूरत नहीं है कि साहित्य और इस क्षेत्र में कहानी और उपन्यास वहीं लौट गये जहाँ वे वुल्फ़, जॉयस और प्रूस्त आदि के पहले थे। नहीं, ऐसा कभी नहीं होता। इस बीच टेम्स से ले कर गंगा तक बहुत पानी बह चुका था। बहुत सी खादें मिल चुकी थीं, जो नयी और उत्तेजक थीं। इसलिए अब जो पौधा सामने आया या आ रहा है, वह पहले की तरह नहीं है; उससे भिन्न है, क्योंकि उसने बीच की चीज़ों को पचाया है और उससे पुष्ट हो कर अपनी जड़ें नीचे की ओर और शाखाएँ न जाने कहाँ-कहाँ फेंकी हैं। ऊपर बतायी बातों के बाद जब हम हिंदी के क्षेत्र में लौटते हैं तब यहाँ विचित्र परिस्थितियों का सामना होता है। बातें वही हैं, प्रयोग भी वही हैं; नारे और झंडे कुछ भिन्न इसलिए हैं कि छिपाना है कि यह अनुकरण या जूठन है। साहित्य में अनुकरण कोई बहुत बुरी बात नहीं है, विशेषकर जब कि अब संसार दिन-ब-दिन संकुचित होता जा रहा है। पहले लखनऊ से एक लहर दिल्ली पहुँचने में जितने दिन लगते थे, अब उतने समय में सारे संसार की परिक्रमा हो सकती है। इसलिए इस संबंध में भारतीयता का नारा दे कर दामन बचाने की चेष्टा व्यर्थ है। इसलिए हम उस संबंध में कुछ नहीं कहना चाहेंगे। प्रयोग हो रहे हैं और पहले भी मैं बराबर मान चुका हूँ और मानता रहूँगा कि इन प्रयोगों से हिंदी भाषा की प्रेषणीयता में बहुत वृद्धि हुई और उससे वह कच्चा माल तैयार हुआ जिसमें महान प्रतिभा का जन्म हो सकता है। इसके लिए नवलेखन की, जिसमें हम नयी कविता को भी गिनेंगे, जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

पर जब-जब इस प्रशंसा के सींग पर चढ़ कर यह दावा किया जाता है कि हमीं अंतिम पैग़ंबर हैं, हमारे बाद कुछ नहीं होने का और हमारे पहले जो कुछ हुआ वह तो ख़ैर कूड़ा ही था, तभी हमें राजनीति और दूकानदारी के हथकंडे दिखायी देते हैं। अब तक यह भी दावा था कि यह तो पीढ़ियों की लड़ाई है और नयी पीढ़ी स्वाभाविक रूप से पुरानी पीढ़ी से अधिक क्रांतिकारी है। दूसरे शब्दों में यह कहा गया कि जो लोग पहले कथा-साहित्य के क्षेत्र में काम कर रहे थे,

वे ग़लत और गुमराह थे, प्रतिक्रियावादी थे, इत्यादि-इत्यादि। यह तर्क कुछ दिनों तक बहुत अच्छा चला, क्योंकि सचमुच एक तरफ़ एक वय-वर्ग के लोग थे और दूसरी तरफ़ दूसरी वय-वर्ग के। जब तक यह परिस्थिति रही तब तक तर्क ठीक चला, पर इधर 'सचेतन' नाम से कुछ अपेक्षाकृत नयी उम्र के लोगों के सामने आने से उन तर्कों का पेंदा निकल गया।

कुछ भी हो, यद्यपि हमारे यहाँ नयी कहानी—यहाँ तक कि अकहानी , के प्रतिपादक दिखायी पड़े थे और उन्होंने वे सब तर्क और स्वराघात चुरा लिये थे, जो पाश्चात्य में नवलेखन के सिलसिले में दिये गये, पर जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है, नयी कहानी वालों ने क़तई अकहानी आदि मतवाद को नहीं अपनाया—सिवाय उन उदाहरणों के, जब वे कहानी बनाने में असमर्थ रहे और यह ज़बर्दस्ती करते रहे कि उनका जना हुआ भ्रूण या गर्भ-स्राव प्राणी मान लिया जाय। मुझे तो ताज्जुब होता है कि कथा-दशक या और इस सिलसिले में नयी कहानी के जो नमूने सामने आये हैं, उनमें कथानक की प्रचुरता है, चरित्र भी हैं, अक्सर चरम परिणति भी होती है। इस प्रकार से जो सिद्धांत प्रतिपादित हुआ और जिस पर बमचख मचायी गयी, उसका अनुसरण नहीं हुआ। कथनी और करनी के बीच इस फटाव पर हँस कर हम आगे बढ़ जा सकते हैं, पर उससे परिस्थिति का ठीक मूल्यांकन नहीं हो पायगा। क्या कारण है कि प्रतिपादन कुछ और होता रहा है और कार्यान्वियन किसी और तरीक़े से होता रहा? इसका कारण यह है कि जिन परिस्थितियों में पाश्चात्य में अकहानी का नारा उठा, वे परिस्थितियाँ यहाँ अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं। वे बाद को उत्पन्न होंगी। होंगी ही, ऐसी कोई बात नहीं, क्योंकि कई बार सामाजिक स्थितियों को लाँघ कर अगली स्थिति में पहुँचा जा सकता है। ख़ैर, उस बात को यहाँ छोड़ दिया जाय। हमने चुराना शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है कि परिस्थिति उत्पन्न नहीं हुई और नारे बुलंद कर दिये गये; परिस्थिति उत्पन्न नहीं हुई और दूसरी परिस्थितियों से उत्पन्न नारे यहाँ की परिस्थितियों पर थोप दिये गये। यह ऐसे ही हुआ जैसे रामनामी के साथ टाई बाँध दी जाय। इसका एक जाज्वल्यमान प्रमाण यह है कि नयी कहानी के वे लेखक जो विदेश जाने का सौभाग्य प्राप्त कर चुके हैं, अक्सर अपनी कहानियों में उसी की जुगाली करते हैं, या बंबई और दिल्ली के मानचित्र पर ज़बर्दस्ती पेरिस और न्यूयार्क का मानचित्र छाप देते हैं।

इससे इनकार नहीं है कि नयी कहानी-आन्दोलन तथा उससे संपृक्त प्रयोगों से भाषा और शैली संबंधी कुछ उपलब्धियाँ सामने आयी हैं, पर अंतर्गत वस्तु को केवल व्यक्ति की कुंठाओं और मनोभावों तक सीमित रखने के अपने ख़तरे हैं। कुछ पाठकों का तो यहाँ तक कहना है कि यदि चारों तरफ़ अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार, कुंठा और निराशा है भी तो मनुष्य साहित्य, नाटक, सिनेमा आदि में उससे भाग जाना चाहता है। ऐसी पलायनवादी मनोवृत्ति की सराहना नहीं की जा सकती, पर आशा की किरण न हो तो अँधेरा बहुत ही कष्टकर हो जाता है। ज़बर्दस्ती काल्पनिक आशा की किरण लाने की ज़रूरत नहीं है। क्या यह सच नहीं है कि इतिहास की सारी ख़ुराफ़ातों और मनुष्य की आत्मा को ग़ुलाम बनाने के षड्यंत्रों के बावजूद मनुष्य बराबर प्रगति करता गया है; उसकी ज़ंज़ीरें टूटती गयी हैं?

सचेतन का नारा, जहाँ तक मैं देख रहा हूँ, उन्हें धीरे-धीरे सही चिंतन की ओर ले जा रहा है। व्यक्ति समाज का एक अंग है, वह उससे मुक्त नहीं हो सकता। यदि समाज में कोई कमी है तो उसे सुधारना पड़ेगा और बराबर सुधारते जाना पड़ेगा, जैसा मकान में होता है। वक़्त की ज़रूरत के अनुसार उसमें नयी खिड़कियाँ भी खोली जाती हैं, और कभी-कभी मकान को तोड़ कर उसकी जगह संभव है कि मकान बनाया ही न जाय, सड़क ही बना दी जाय, पर मकान से जो लोग निकलेंगे, वे कहीं रहेंगे तो सही। सचेतन-आंदोलन तभी सफल हो सकता है जब वह इस तथ्य को अपना ले कि कला का आख़िर कोई उद्देश्य है, जैसा वह अपनाता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। कलाकारों और साहित्यकारों को तगड़ी मानवता की सृष्टि करनी है। भारत को ऐसे फ़्रांसीसियों का देश नहीं बनाना है, जो हर लड़ाई में आक्रमणकारी के सामने घुटने टेक दें। हमें तो एक तगड़ा और स्वस्थ राष्ट्र बनाना है। पर उस प्रकार का भी तगड़ा नहीं जैसा हिटलरी राष्ट्र था। साहित्य के संदर्भ में ऐसी मान्यताओं और मूल्यों की सार्थकता इस कारण है कि साहित्य स्वयं कोई अलग विधा नहीं है; वह संपूर्ण मानव की एक विशेष अभिव्यक्ति है।

जब पाश्चात्य में ही लोग कुंठावाद से उकता चुके हैं और कुंठावाद में बहने के कारण स्वस्थ लोग कथा-साहित्य से ऊब चुके हैं, तब क्या यह आशा करना दुराशा मात्र होगी कि हमारे यहाँ भी साहित्यकार समय की गति को पहचान कर और सारे अनुभवों को समेट कर आगे की ओर बढ़ें ?

--१९०, खैबर पास हास्टल, दिल्ली-६।

ओम प्रभाकर

●

अकहानी नहीं होगी

'क्या कहानी की नियति अकहानी होगी ?'

मुझे इस प्रश्न में एक आधिभौतिक चिंता-सी झाँकती लगती है।

ऐसा लगता है कि घर की बड़ी-बूढ़ी मृत्यु-शय्या पर लेटी है, बल्कि ज़मीन पर ले ली गयी है और परिवार के बेटा-बेटी, बहू-पतोहू, नाती-पोते उसे चारों तरफ़ से घेरे हैं। वह मरणासन्न स्थिति में पूछ रही है, 'क्या मैं मर जाऊँगी ?' बच्चे सकते में चुप हैं। गृहस्थी की चाभियों का गुच्छा पल्लू के खूँट में बाँधने वाली बड़ी बहू का मन हो रहा है कि कह दे--नहीं अम्मा जी, आप मरेंगी नहीं। सब ठीक होगा।

क्या वह मरणासन्न बुढ़िया आज की हिंदी कहानी ही तो नहीं है ? और यह संगोष्ठियों, सम्मेलनों, परिचर्चाओं की भीड़ वही मरते समय की घर-बार की भीड़ तो नहीं है––जहाँ आज के कहानी-परिवार के बेटा-बेटी, बहू-पतोहू, नाती-पोते उस मरणासन्ना की खटिया के चारों तरफ़ घिरे हुए हैं ? मुझे तो ऐसा भी लगता है कि यहाँ गृहस्थी की चाभियों का गुच्छा पल्लू के खूँट में बाँधने वाली बड़ी बहू या बहुएँ भी उपस्थित हैं। यह और बात है कि वह या वे किसी कोने-अँतरे में गड़े धन की लालच में यह भले न कहें कि––नहीं अम्मा जी, आप मरेंगी नहीं। सब ठीक होगा ! क्योंकि यदि सब ठीक हो गया तो वह ज़मींदोज़ ख़ज़ाना उसे या उन्हें नहीं मिल सकेगा।

और यदि यह मरणासन्न बुढ़िया वाली बात आज की कहानी पर सटीक नहीं उतरती तो फिर इस प्रकार के भविष्य-गर्भित, एक प्रकार से आधिभौतिक प्रश्न को प्रस्तुत करना कहाँ तक मुनासिब है कि कहानी की नियति क्या अकहानी होगी ?

कहीं ऐसा तो नहीं है कि सांप्रतिक हिंदी कहानी में चल रही दचका-पटकी, उठा-पटक और खींचतान (नागरिक पाठक मेरे इन भदेस शब्दों को न पढ़ने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र हैं) के कारण प्रश्नकर्ता या कर्ताओं के मन में कहानी के अकहानी हो जाने की चिंता या भय हो ? फिर भी, इस तमाम संघर्ष के बावजूद मुझे यह प्रश्न मूलतः भ्रमपूर्ण और निराशावादी लगता है, और इच्छा होती है कि प्रश्नकर्ता से मैं भी एक प्रश्न पूछूँ––क्या आपके मनुष्य की नियति मिट्टी होगी ? उत्तर यदि 'हाँ' आता है तब तो बहस ही बेकार है, और यदि 'नहीं' आता है तो बात आगे बढ़ायी जा सकती है कि मनुष्य की नियति मिट्टी और कहानी की नियति अकहानी क्यों नहीं होगी ?

मैं समझता हूँ कि यह 'क्यों' ही वह शब्द है जिसने कृष्ण से गीता कहलवा ली। बहरहाल मैं यह कहना चाहूँगा कि कहानी की नियति अकहानी नहीं होगी। क्यों ?

क्योंकि, जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ कि प्रथमतः तो यह प्रश्न ही निर्मूल है (मेरी दृष्टि में) कि कहानी की नियति अकहानी होगी। प्रश्न यदि होना ही था तो यों कि क्या आज की कहानी अकहानी है ? किसी समसामयिक वस्तु या विषय के बारे में इस प्रकार का भविष्यवादी प्रश्न करना उस वस्तु या विषय को अपनी दृष्टि-परिधि से हटा कर बीरबल की हँड़िया की तरह बाँस से बाँध कर अधर में लटका देना है, जहाँ से उसकी खिचड़ी के चावल-दाल-पानी का ठीक-ठीक जायज़ा नहीं लिया जा सकता। इस 'क्यों' का उत्तर इस प्रकार के आधिभौतिक प्रश्नों के उत्तर में नहीं दिया जा सकता।

यह सच है कि आज की कहानी में––रचना नहीं––केवल चर्चा के स्तर पर जो घमासान (रचनाएँ आज भी केवल दो ही प्रकार की हो रही हैं––अच्छी कहानी और बुरी कहानी) मचा हुआ है, उसे देख कर किसी तटस्थ व्यक्ति के मन में किसी भी प्रकार का भय या चिंता उत्पन्न हो सकती है। मगर यह भी सच है कि कहानी या कविता ही नहीं, बल्कि हर रचना अपने जन्म और विकास के समय इस प्रकार के घमासान की बायस होती ही है।

आज की कहानी का यह घमासान या संघर्ष उसकी शक्तिमत्ता, जीवंतता, सतत रचनाशीलता और विकास का ही द्योतक है। आज वह जिस तीव्र गति से विकासशील है और जिस

त्वरा से पाठकों, समीक्षकों तथा अन्य विधाओं के रचनाकारों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर रही है, वैसा उसने अपने इतिहास में पहले कभी नहीं किया है। यह संघर्ष ही इस बात का प्रमाण है कि कहीं न कहीं नयी ज़मीनें टूट रही हैं, नये स्तंभ और कलश और कँगूरे बन रहे हैं; धीरे-धीरे एक पूरा भवन बन रहा है। मेरी मान्यता है कि नयी कहानी अभी पूर्णतः स्थापित नहीं हुई है। यदि वैसा होता तो यह संघर्ष न होता, जैसा कि नयी कविता के साथ आज नहीं है। भवन चूँकि अभी पूर्णतः बना नहीं है, काम चल रहा है, लिहाज़ा ठोकने-पीटने, चिल्लाने-पुकारने की विभिन्न आवाज़ों का सुनायी देना स्वाभाविक तो है ही, अनिवार्य भी है।

इस बात में भी कम से कम मुझे तो कोई एतराज़ नहीं कि इस बनते हुए भवन को आप और आपके अन्य सहयोगी 'नयी कहानी' के नाम से अभिहित करते हैं। और यह स्वीकार करने में भी मुझे कोई संकोच नहीं कि स्वातंत्र्योत्तर समयावधि की कहानियाँ विषय, वस्तु और शिल्प-विधि की दृष्टि से कहीं न कहीं और कुछ न कुछ (बल्कि पूरी तौर से) अपनी पूर्ववर्ती कथाओं से भिन्न हैं—जैसा कि उनको होना ही था——अतः वे 'नयी' हैं। आज हमारे पास इस प्रकार की इतनी कथा-कृतियाँ तो हैं ही कि उनकी भिन्नताओं और विशिष्टताओं की अभ्यर्थना उन्हें 'नयी' कह कर हम कर सकें।

एक बात और, कि नयी कहानी का यह जो भवन निर्मित हो रहा है उसकी नींव——सगर्व स्वीकार करना चाहिए कि——हमें खुदी हुई ही नहीं बल्कि उस स्थिति तक 'तैयार' मिली है, जहाँ से हमने दीवारें उठाना शुरू किया है। और जो भी व्यक्ति नयी कहानी को ले कर पूर्णतः और ईमानदारी से सोचता है उसे यह कहने और स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं होगी कि यह नींव खोदने और उसे 'तैयार' करने का काम पूर्ववर्तियों में केवल अज्ञेय और यशपाल की कहानियों ने ही किया है। अज्ञेय की, जीवन में हो कर तटस्थ हो जाने की विषय-कथाएँ और यशपाल की, जीवन में जीवन के प्रति सजग-सचेत हो कर जीने की वस्तु-कथाएँ मात्र ही ऐसी कहानियाँ हैं जिन पर आज की कहानी का भवन निर्मित हो रहा है।

उस युग के तीसरे महत्वपूर्ण कहानीकार जैनेंद्र हैं। लेकिन आज की कहानी के सौभाग्य या दुर्भाग्य (?) से जैनेंद्र के कथा-कृतित्व की छाया उस पर नहीं है। बांगालिक भावुकता, साहित्य—बल्कि जीवन के——आदि, मध्य और अंत में आध्यात्मिकता की अनिवार्यता और शैली की विलक्षणता——एक हद तक कृत्रिमता——जैनेंद्र के कहानी-लेखन की ऐसी विशिष्टताएँ रही हैं जिन्होंने उन्हें 'घेरे से बाहर' नहीं आने दिया, और जिनके चलते आज के कथा-सर्जन के लिए वे एक प्रकार से अनिवार्य हो कर रह गये। उनकी वे विशिष्टताएँ या विलक्षणताएँ, स्पष्ट ही है कि, आज के जीवन में कहीं नहीं हैं अतः उससे उद्भूत साहित्य में भी वे क्यों हों ? अस्तु, आज के कहानी-लेखन का अत्यल्पांश भी जैनेंद्र के कहानी-लेखन से जुड़ा हुआ नहीं है—नहीं होना चाहिए।

तब फिर अज्ञेय और यशपाल जैसे प्रवर्तक कथाकारों के सर्जनाधार से जुड़ी हुई यह नयी कहानी किसी ऐसी स्थिति को प्राप्त होना चाहती है, जहाँ पहुँच कर वह कहानी भी न रहे, यह कहना एक गहरी निराशा और तीव्र असमर्थता-बोध का ही द्योतक है।

स्वतंत्रता के पश्चात हमारे समक्ष भारतीय जीवन जिस एक नये पहलू से ही प्रकाशित हो उठा है, और जो यह नया पहलू अपने तमाम अपरिचय और नवीनता के साथ हमारे विगत जीवन से हीं अनुस्यूत है, कहीं से भी कटा हुआ नहीं है, आज की कहानी में जिस पूर्ण और सफल रूप से उद्घाटित हुआ है, उसे देखते हुए इस प्रकार की शंका या भय प्रदर्शित करना कि कहानी कहानी नहीं रहेगी; बड़ी ही निर्मूल बात है। ऐसा केवल वे ही लोग कह सकते हैं या केवल उन्हें ही कहना चाहिए जो यह मानते हों या किन्हीं भीतरी-बाहरी कारणों से यह मानने को मजबूर हों कि हज़ारों वर्षों से मनुष्य और जीवित कहलाते आये हुए हम अब मनुष्य या जीवित नहीं रहे हैं, या कल अमनुष्य या अजीवित हो जायेंगे।

आज के कथाकारों और उनकी रचनाओं की सूची दिये बिना और उनकी कहानियों का विश्लेषण किये बिना (जो स्थानाभाव के कारण यहाँ संभव भी नहीं है) मैं उन तमाम सजग और समझदार कथा-पाठकों से यह पूछना चाहूँगा कि आज जो कहानियाँ लिखी जा रही हैं उन्हें पढ़ कर, समझ कर और अपने जीवन में महसूस कर लेने के बाद भी यह कहना कहाँ तक मुनासिब है कि आज की कहानी अकहानी हो जायगी ? यह एक नितांत तटस्थ और विनम्र प्रश्न है——लेखकों से——लेखक-आलोचकों से नहीं——बल्कि सजग-सचेत पाठकों से कि आज की कहानियाँ हमें हमारे सहज जीवन से काट कर, उठा कर क्या किसी ऐसे लोक में ले जाती हैं जहाँ जीवन नहीं रह जाता, या अजीवन हो जाता है ?

मैं समझता हूँ, ऐसा नहीं है। कहानी, यदि कहानी है तो, सदा ही जीवन की है, जीवन में है और जीवन के प्रति है। नहीं तो वह कहानी नहीं है——क़िस्सा छबीली भटियारिन है या गप्प है साढ़े तीन यारों की। और आज की कहानी, जो न क़िस्सा है न गप्प, केवल कहानी है और जीवन से इतनी अधिक जुड़ी हुई है कि उसी का पर्याय हो गयी है।

और जीवन और मनुष्य, जो पिछले हज़ारों वर्षों की मेहनत का शाहकार है, जब तक जीवन और मनुष्य बना रहेगा, और जब तक (लाज़िमी तौर पर) कहानी उसी की, उसी के प्रति रहेगी, तब तक उसका 'अँधेरे की चीख़' हो जाना असंभव है और अकहानी हो जाना तो नितांत असंभव !

——कानमल की कोठी, शिवपुरी (म० प्र०)।

'मध्य प्रदेश कहानीकार-सम्मेलन' में पठित निबंध

मानिकचंद जायसवाल

●

नयी कहानियाँ और कथानक का ह्रास

हिंदी कहानियों का इतिहास बहुत प्राचीन नहीं है। वे सर्वथा आधुनिक युग की देन हैं। पश्चिमी चेतना के संस्पर्श और साहित्य के प्रभाव के कारण ही इस नवीन साहित्यिक विधा का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था। तब से आज तक हिंदी कहानियों ने विकास की एक संतोषप्रद यात्रा तय की है, और आज जिस मंजिल की तरफ़ वह उन्मुख है, उस संबंध में आशाएँ अधिक हैं; यद्यपि उसके प्रति विवाद की भी कम गुंजाइश नहीं है। हिंदी कहानी की शक्ति और सीमाएँ प्रारंभ से ही जिस प्रकार त्वरित गति से परिवर्तित हुई हैं, वह एक अप्रत्याशित बात थी। कहानी की यदि शास्त्रीय परिभाषा हम स्वीकार करें तो सुगठित कथानक, उदात्त पात्र तथा चरित्र-चित्रण, एक-एक पंक्ति में अंतर्निहित जीवन-सत्य, व्यापक मानवीय जीवन-दर्शन तथा संक्षिप्त कथोपकथन वाली कहानी ही सच्चे अर्थों में कहानी कहलायगी। यह शास्त्रीय परंपरा कमोबेश सन १९५० तक की कहानियों में अपने पूर्ण सौष्ठव के साथ प्राप्त होती है। पर उसके पश्चात कहानी की परिवर्तित धारा में इस शास्त्रीय परंपरा को रूढ़ समझा जाने लगा, और उसका पूर्ण तिरस्कार किया गया। विकास के इस नवीन दौर में सबसे अधिक आघात कथानक की स्थिति को पहुँचा। यों तो कहानी में कथानक का ह्रास पिछले दौर में जैनेंद्र और अज्ञेय की भी कहानियों में मिलता है, पर उस रूप में नहीं, जैसा आज की नयी कहानियों में।

यों तो आज भी नयी कहानियों में सुगठित कथानक वाली कहानियाँ लिखी जाती हैं, पर अधिकांशतः इनमें कथानक का ह्रास ही परिलक्षित होता है। कथानक की अपेक्षा लेखकों का मन किसी छोटे से विचार-विंदु, जीवन-सत्य या यथार्थ मानवीय जीवन के एक अंग को मनःस्थिति विशेष पर पड़ने वाली क्रिया-प्रक्रिया के माध्यम से प्रस्तुत करने में आज अधिक उत्सुक है। इसका प्रत्यक्ष परिणाम तो यह हुआ है कि कहानी स्थूल की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हो गयी है, पर उसका संबंध जीवन की यथार्थता से कटने नहीं पाया है, और न कथानक के ह्रास ने कहानियों में व्याप्त लेखकों की सामाजिक जवाबदेही की भावना पर ही आघात पहुँचाया है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि पिछले दौर में जैनेंद्र और अज्ञेय की जिन कहानियों में कथानक का ह्रास लक्षित होता है, उनमें भी स्थूलता की अपेक्षा सूक्ष्मता ही प्राप्त होती है। पर उनमें मनःस्थिति का चित्रण इस स्तर तक पहुँच गया है, जो समाज से कटा और जीवन की यथार्थता से असंपृक्त प्रतीत होता है।

आज की नयी कहानियों में कथानक का यह ह्रास कई स्तरों पर लक्षित होता है। मात्र एक मनःस्थिति को चित्रित करने के लिए जिन कहानियों का ताना-बाना संगुंफित किया जाता है,

उनमें कुशल शिल्प के माध्यम से शब्दों की सांकेतिकता इस प्रकार प्रतिध्वनित होती है कि एक व्यापक जीवन-परिवेश का चित्र पाठकों की चेतना में तैर जाने के बावजूद भी कथानक की उपलब्धि कुछ नहीं होती। एक चरित्र को ले कर उसके चरित्र-चित्रण के लिए कथानक की अवहेलना करने की प्रवृत्ति नयी नहीं है। इसे प्रेमचंद ने भी अपनी अंतिम कुछ कहानियों में प्रयुक्त किया था। बाद के दौर में भी चरित्र-प्रधान कहानियाँ लिखी गयीं। इस नये दौर में चरित्रों को ले कर कहानियाँ लिखी अवश्य गयी हैं, पर उनकी संख्या अधिक नहीं है। नयी कहानियों में प्रारंभ के कहानीकारों की तुलना में अपेक्षाकृत नये कहानीकारों ने कथानक के ह्रास को अधिक महत्व दिया है। उन्होंने नूतन शिल्प-प्रयोग कर मानवीय चिंतन का मनोवैज्ञानिक यथार्थ से पूर्ण आभास देने और विचारोत्तेजक प्रलाप (रैंबलिंग) के लिए भी अनेक कहानियाँ लिखी हैं। इन लेखकों ने दुहरा कार्य करने का प्रयास किया है। मानवीय व्यक्तित्व के दोनों पहलुओं को सांकेतिक ढंग से व्यापक सामाजिक परिवेश के परिप्रेक्ष में स्पष्ट करने तथा उन्हें यथार्थ अभिव्यक्ति देने के प्रयत्न में उन्होंने जो कहानियाँ लिखी हैं वे कथानक के ह्रास की नवीनतम स्थिति का आभास देती हैं। इन नये कहानीकारों में विजय चौहान, मनहर चौहान, सुरेश सिनहा, धर्मेंद्र गुप्त और गिरिराज किशोर प्रमुख हैं। इन सभी की कहानियों में कथानक के ह्रास की नवीनतम स्थिति प्राप्त होती है।

कथानक के ह्रास की इस स्थिति का प्रभाव नयी कहानियों पर अनेक ढंग से पड़ा है। ये कहानियाँ या तो सांकेतिक अथवा व्यंजना रूप में मिलती हैं, या कथा-सूत्र का स्पष्टीकरण चरमोत्कर्ष पर होता है। कथा-सूत्र प्रायः विशृंखलित रूप में प्राप्त होते हैं जिनकी कड़ियाँ पाठकों को स्वयं जोड़नी पड़ती हैं और उन्हें समझने के लिए अधिक विशदता तथा गहराई की आवश्यकता पड़ती है। उन्हें कहानी के विकास के साथ अपनी कल्पना-शक्ति का प्रचुर मात्रा में प्रयोग करना पड़ता है। इसीलिए आज की नयी कहानियों में बौद्धिकता का आग्रह अधिक वढ़ा है और जटिलता का समावेश हुआ है। ये कहानियाँ प्रायः वहीं समाप्त हो जाती हैं जहाँ से कथानक का वास्तविक प्रारंभ होना चाहिए। इस प्रकार आज की कहानी उस बिंदु पर अपने पाठकों से इस बात की माँग, साथ ही अपेक्षा भी करती है कि पात्रों की मनःस्थितियों, चरित्रों तथा प्रमुख प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए, दिये गये संकेतों तथा सूत्रों के परिप्रेक्ष में, वे सारे कथानक की स्वयमेव कल्पना कर लें। कहानी की दुरूहता का यह एक प्रमुख कारण है। कथानक के ह्रास का प्रभाव एक और ढंग से यह पड़ा है कि अधिकांश नयी कहानियाँ चिंतनशील प्रतीत होती हैं। उनके पात्रों में वह कर्मठता या सक्रियता नहीं प्राप्त होती, जो पहले की कहानियों में एक सामान्य विशेषता थी। ये पात्र या तो कॉफ़ी-हाउसों में बैठे चिंतन-मग्न रहते हैं, या कहीं एकांत में अपनी चिंतनशीलता की ध्वनि देते हैं। इसी प्रवृत्ति वाले पात्रों के कारण नयी कहानियों में इतना बिखराव है; क्योंकि चिंतन बौद्धिकता से संबंधित है और बौद्धिकता का संपर्क चेतना के कोमल रेशों से जुड़ा हुआ है। चेतना की हलचलें स्वयं सुनियोजित नहीं हैं, और उन्हीं की यथार्थ प्रतिकृति होने के कारण ये नयी कहानियाँ भी सुनियोजित नहीं हैं।

कथानक के ह्रास के मूल कारणों को खोज निकालने में कोई कठिनाई नहीं होगी। आज का मानवीय जीवन निरंतर जटिल तथा रहस्यमय होता जा रहा है। मानवीय प्रवृत्तियाँ अब उतनी

सरल और स्पष्ट नहीं रह गयी हैं, जितनी पहले थीं। स्वार्थ, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, आर्थिक विषमताओं तथा सामाजिक असमानता के कारण नयी पीढ़ी में जिस कुंठा, निराशा और निष्फलता का जन्म हुआ है, उसने नये मानव को अत्यंत गूढ़ और अस्पष्ट बना दिया है। आज की कहानियों में इन्हीं गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है तथा मानव के ऊपर लगे हुए तरह-तरह के मुखौटों का स्पष्टीकरण होता है। हम जिस संकट-काल में आज जी रहे हैं, वह स्वयं ही जटिल से जटिलतर होता जा रहा है। इस 'क्राइसिस' ने मानव को पूर्णतया झकझोर ही नहीं दिया है, वरन उसे एक प्रकार से तोड़ भी दिया है। टूट कर बनने की प्रक्रिया विषम होती है। आज का मानव अपने अस्तित्व की रक्षा में जिस प्रकार संलग्न है, उसके रास्ते आसान नहीं हैं। बौद्धिकता अधिक है; जटिलता और गूढ़ता अधिक है। अतः जो कहानियाँ आज लिखी जा रही हैं उनमें कथानक का ह्रास होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि चेतना में कोई सुनियोजित कथानक निर्मित ही नहीं होता। वहाँ से केवल चिंतनशीलता की ही अभिव्यक्ति हो सकती है। वहाँ कथानक 'फ़िट' भी किया जा सकता है, जैसा पिछले दौर की अधिकांश कहानियों में मिलता है, पर आज का कहानीकार 'फ़िट' करने की स्थिति से बचना चाहता है। उसका आग्रह स्वाभाविकता और यथार्थता के प्रति अधिक है।

कई बार प्रश्न उठाये गये हैं कि कथानक का ह्रास पूर्णतया दुराग्रह है और इससे कहानी का प्राण-तत्व नष्ट होता है, क्योंकि कहानियों में कथानक की स्थिति रीढ़ की हड्डी की भाँति होती है। परंतु इसका यदि सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो सत्य इसके सर्वथा विपरीत होगा। सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति से ओतप्रोत, सामाजिक यथार्थ से परिपूर्ण, सजग सामाजिक चेतना से अभिभूत विरा मानवीय चेतना को व्यापक परिवेश में नवीन आयामों से संबद्ध कर नये मानव-मूल्यों की स्थापना से युक्त ये कहानियाँ कथानक से वंचित होते हुए भी पिछले दिनों लोकप्रिय हुई हैं, जो इस बात क स्पष्ट संकेत है कि रसग्राही पाठकों ने इन कहानियों को रसशून्य नहीं पाया है। रस-बोध के शास्त्रीय स्तर कदाचित इन कहानियों में न प्राप्त हों, और कहानी-रस का भी वैसा संचार न हो जैसा पिछले दौर की कहानियों में होता रहा है, लेकिन इतना तो स्पष्ट है ही कि कथानक के ह्रास को आज अपूर्व शिल्प-कौशल, मानवीय संवेदना और भावबोध के नवीन स्तरों के स्वाभाविक आकलन में कहानी को परिपूर्ण ही नहीं किया है वरन नयी कहानियों को निश्चित रूप से एक अभिनव और विकसित दिशा प्रदान की है। यह बात राजेंद्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है', कमलेश्वर की 'खोयी हुई दिशाएँ', निर्मल वर्मा की 'परिंदे', अमरकांत की 'दोपहर का भोजन', मनहर चौहान की 'घरघुसरा', सुरेश सिनहा की 'नीली धुंध के आरपार' तथा उषा प्रियंवदा की 'वापसी' आदि कहानियों से स्पष्ट की जा सकती है।

—५६४ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद – ३।

शैलेश मटियानी

कहानी

वापसी

जिस कमरे में धरमबीर मास्टर सोये हुए थे उसकी एकमात्र खिड़की ठीक पूरब में ही खुलती थी। सवेरे के उजाले की पहली किरण मुँह पर फैली तो खिड़की की तरफ़ सोयी हुई सतवंती मास्टरनी थोड़ी सी ऊँ-आँ करने के बाद, फिर धरमबीर मास्टर की पीठ से मुँह लगा कर सो गयी। मगर धरमबीर मास्टर को फिर नींद नहीं आयी। संतो मास्टरनी के, नींद की खुमारी में चिकने पत्थर पर सरकते हुए चिपचिपे घोंघों-जैसे होठों को अपनी पीठ पर महसूस करते ही, धरमबीर मास्टर की आँखों से नींद का रहा-सहा बोझ भी परे उतर गया। पूरी आँखें खोल कर, एक बार, उन्होंने अपनी छाती से लग कर सोये केशो को ग़ौर से देखा और फिर, एकाएक पूरे सात वर्षों के बाद मिला हुआ यह गृहस्थी का सुख एक हिचकी की तरह उनके अंदर से उमड़ा और सुबह के उजाले की पहली-पहली लहर की तरह उनके होटों पर फैल गया। इस अनुभूति से उनका मन एकदम गद्‌गद हो आया कि संतो मास्टरनी आज भी पीठ से होंठ लगा-लगा कर ठीक वैसे ही सो गयी है, जैसे केशो के होने से भी पहले से सो जाया करती थी। केशो को धरमबीर मास्टर दो वर्षों का छोड़ गये थे और संतो मास्टरनी तब तेईस की थी। सात वर्ष ही केशो को छोड़े हुए हैं और सात वर्ष ही संतो मास्टरनी को भी, मगर केशो छाती से लग कर सोने के बावजूद कुछ अलग हट कर सोया हुआ सा लगता है, क्योंकि उसका चेहरा धरमबीर मास्टर की छाती से कुछ फ़ासले पर है। संतो मास्टरनी है कि उनकी पीठ पर ऐसे होंठ टिकाये-टिकाये सो गयी है, जैसे कोई छोटी सी बच्ची अपनी माँ के स्तन को मुँह में लिये लिये सो गयी हो। सोचते-सोचते धरमबीर मास्टर के होठों पर फिर हलकी सी हँसी छलक आयी। उन्होंने पहले अपने बायें हाथ से संतो मास्टरनी के सिर के बालों को सहलाया और फिर एक लंबी साँस ले कर अपनी पीठ को फुला लिया। पीठ पर और ज़्यादा गहराई तक उतरते हुए संतो मास्टरनी के होठों के स्पर्श ने उनकी तीन दिनों की अनवरत यात्रा की थकान को एकदम दूर कर दिया।

परसों रात की देहरा एक्सप्रेस से धरमबीर मास्टर बंबई से रवाना हुए थे और मथु से कासगंज होते हुए बरेली पहुँचे थे। संयोग की बात थी कि मोहकमपुर क़स्बे में मंगल की पेंठ लगी हुई थी और उनके गाँव देवीपुरवा के लोग भी वहाँ आये हुए थे। सरपंच नगी चौधरी ने धरमबीर मास्टर को देखते ही एकदम आवेशपूर्वक बाँहों में बाँध लिया था और काफ़ी

देर तक झकझोरने के बाद फिर ऐसे माथा चूम लिया, जैसे उनका अपना ही बेटा सात वर्षों के बाद परदेस से लौटा हो। कुछ ही क्षणों में गाँव के पेंठ आये हुए सारे ही लोग धरमबीर मास्टर को घेर कर खड़े हो गये थे। लोगों के साथ आये हुए छोटे बच्चे-बच्चियों की कौतूहलपूर्ण आँखें भी धरमबीर मास्टर की ओर फैल गयी थीं।...और धरमबीर मास्टर अपने गाँव वालों की आत्मीयता से गद्गद हो कर रो पड़े थे।

सरपंच नगीना चौधरी ने कह दिया था कि अब साथ ही साथ गाँव लौट चलेंगे और संतो मास्टरनी को एकदम चौंका देंगे। उन्होंने मास्टर जी का बिस्तरा और संदूक, अटैची वग़ैरह सारा सामान अपने ताँगे पर रखवा लिया था––"परतापे, अपने मास्टर दद्दा को तू ही ताँगे पर लिये चलियो, बेटे!....हरे राम, हरे राम! ईश्वर बड़ा दयावान होता है। बेचारी संतो मास्टरनी की आँखों के आँसू उसने आखिर पोंछ ही लिये।"

आज से सात वर्ष पूर्व जो मास्टर धरमबीर को देबीपुरवा छोड़ कर परदेश निकल जाना पड़ा था उसके मूल में सिर्फ़ यही कारण था कि अपने प्रपितामह देबी चौधरी के नाम पर उछाली गयी अपमान की ईंट को वे अपनी छाती पर झेल नहीं पाये थे। उनके पिता रूपा चौधरी के लिये हुए क़र्ज़ के सिलसिले में पड़ोस के गाँव के बंता साहू ने संतो मास्टरनी के ज़ेवर उतरवा लेने पर भी जाते-जाते एकदम धिक्कारते हुए कह दिया था––"हम तो देबी चौधरी के नाम पर रक़म देते रहे, धरमबीर मास्टर! हमें यह पता नहीं था कि लगातार अड़तीस सालों तक हमारी रक़म हज़म करते रहने के बाद, तुम अपने बाप के क़र्ज़े के नाम पर चार छल्ले चाँदी के उतार कर देते हुए भी ऐसे आँखें तरेरोगे, जैसे क़र्ज़ा तुम्हारे बाप ने नहीं बल्कि मेरे बाप ने ले रखा हो।"

बंता साहू की याद आते ही धरमबीर मास्टर की आँखें चारों ओर घूम गयी थीं––कहीं पेंठ में बंता साहू भी न आये हों! हथचक्की के चाक जितना चौड़ा उनका पग्गड़ काफ़ी दूर से ही उनके होने की सूचना दे देता है। हालाँकि कल बंता साहू से आँखें मिल जाने पर भी ग्लानि से झुका लेने या क़र्ज़ चुकाने की अपनी असमर्थता के कारण चोट खाये हुए साँप की तरह आँखें तरेरने की कोई स्थिति सामने नहीं थी। बंता साहू के सात हज़ार रुपयों में से लगभग पौने चार हज़ार धरमबीर मास्टर घर रवाना होने से पहले तक ही भेज चुके थे और बाक़ी बची हुई चुकाने लायक़ पूरी पूँजी अपने साथ लेते आये थे। पिछले सात साल से उन्होंने मनीआर्डर द्वारा रुपया भेजना बंद कर दिया था, ताकि एक काफ़ी बड़ी रक़म एकमुश्त बंता साहू के मुँह पर अपनी उसी संतो मास्टरनी के सामने फेंक दें, जिसके ज़ेवर उतरवाने के बाद भी बंता साहू उनकी स्वाभिमानी आत्मा को बिच्छू की तरह डंक मार गया था। लगातार चार वर्षों से थोड़े-थोड़े कर के डाकख़ाने में जमा किये हुए ढाई हज़ार रुपये धरमबीर मास्टर ने आने के एक ही सप्ताह पहले निकाले थे और बंता साहू को चुकानी रक़म अलग कर के, शेष में से संतो मास्टरनी के लिए ज़ेवर और कपड़े ख़रीद लिये थे––कानों के 'टॉप्स', हाथों की दो-दो चूड़ियाँ और एक दो तोले की ज़ंजीर, सोने की और चाँदी की बहुत ही ख़ूबसूरत पायजेबें। ज़ेवर के अलावा एक पूरे अस्सी रुपये की ख़ूबसूरत साड़ी और उसी मेल का ब्लाउज़।... ख़रीदते समय ही धरमबीर मास्टर ने यह सोच लिया था कि घर पहुँचते ही बंता साहू को जवाब

भिजवा देंगे कि अपने रुपये ले जायँ। और जिस समय रुपये लेने आयें बंता साहू, उनकी पहली नज़र संतो मास्टरनी पर पड़ते ही चुँधिया जाय।

मगर कल पैंठ में धरमबीर मास्टर बंता साहू की उपस्थिति नहीं चाह रहे थे। उन्हें लग रहा था कि लगातार सात वर्षों तक परदेश रह कर लौटने के वाद भी उनके और बंता साहू के बीच क़र्ज़दार और साहूकार का पुराना रिश्ता अभी टूटा नहीं है। हाँ, पूरी रक़म वहीं से चुका देने के बाद लौटे होते, तो स्थिति दूसरी होती। मगर एक तो बंता साहू के मुँह पर रुपये देने की तृष्णा थी, दूसरे, रुपयों के बदले में बंता साहू के पास रेहन पड़ी हुई ज़मीन-हवेली के छुटकारे का भी सवाल था। . . .और ज्योंही अपना पुश्तैनी मकान क़रीब आता दिखायी दिया था, खेतों की प्यास एकाएक आँखों से उतर गयी थी––इन सात वर्षों में संतो मास्टरनी कितना बदल गयी होगी? केशो कितना बड़ा हो गया होगा? संतो मास्टरनी तो पहचान लेगी, मगर केशो तो नहीं ही पहचान पायेगा। धरमबीर मास्टर ताँगे पर रखी अपनी अटैंची को हाथ से सहलाने लगे थे, जैसे उसके अंदर रखे केशो के लिए लाये हुए 'रेडीमेड' कपड़ों तक उनकी अँगुलियाँ पहुँच रही हों। ऐसा करने में, उन्हें यह याद आते ही हँसी भी आयी थी कि केशो के लिए कपड़े खरीदते समय पहले वे दो वर्ष के बच्चे के लिए कह बैठे थे।

एक ज़ोर के झटके के साथ ताँगा ठीक मास्टर जी की ही देहरी पर रुका था। ताँगे के अपने दरवाज़े पर रुकने की आवाज़ सुनते ही, ढिबरी हाथ में उठाये, संतो मास्टरनी बाहर चली आयी थी और एकाएक उसकी आँखों में ख़ुशी चमक उठी थी––"आ गये पैंठ से?"

धरमबीर मास्टर को लगा था कि संतो मास्टरनी नहीं बोली है बल्कि अटैंची में रखा पायजेबों का जोड़ा मकान की ऊँची देहरी पर से ताँगे में ठीक उनके कानों के पास गिर पड़ा है। जितने उल्लास के साथ संतो मास्टरनी ने उनको संबोधित किया था, उससे धरमबीर मास्टर की आँखों में एकाएक नमी आ गयी थी। पूरे सात वर्षों के विछोह के बाद भी संतो मास्टरनी को उन्हें पहचानने में एक क्षण भी नहीं लगा था।

उस समय तो नहीं, मगर अंदर पहुँचते ही धरमबीर मास्टर यह सोचने लगे थे कि संतो मास्टरनी को एकदम आकस्मिक रूप से चौंकाने और सुख पहुँचाने के विचार से ही तो उन्होंने पिछले तीन महीनों से घर को कोई पत्र नहीं डाला था। इसी बीच नगीना चौधरी की तरफ़ से भी पत्र पहुँचा था कि उनकी ओर से पत्र न आने से संतो मास्टरनी चिंतित हैं और रोती रहती हैं। धरमबीर मास्टर को नगीना चौधरी का पत्र रवाना होने से दो दिन पहले ही मिला था और उन्होंने सोच लिया था कि चिट्ठी के उत्तर से पहले तो वे ख़ुद ही पहुँच जायँगे।

संतो मस्टरानी की ख़ुशी से काँपती आवेशपूर्ण आवाज़ की बारीकी से धरमबीर मास्टर को ऐसा लगा था, जैसे लू से झुलसे हुए किसी आदमी के कानों में एकाएक कहीं से बर्फ़ीली हवा का झोंका चला आये।

अपनी भावुकता को संयत करते हुए धरमबीर मास्टर ताँगे से उतर पड़े थे तो संतो मास्टरनी एकदम चौंक कर दो क़दम पीछे हट गयी थी। धरमबीर मास्टर को यह सोचते

सोचते फिर हँसी आने को हो गयी थी कि कहीं ऐसा संतो मास्टरनी ने इसलिए तो नहीं किया कि सात वर्षों के बिछोह को वे सम्हाल न पायें और ताँगे वाले परतापसिंह की उपस्थिति में ही उसे बाँहों में भर लें।

कल रात पति के बाँहों में भर लेने के भय से, एकदम शरमा कर, हिरनी की तरह चौंकती हुई पीछे हट जाने वाली संतो मास्टरनी ने इस समय उनके कंधों पर यों बाहें डाली हुई हैं, जैसे लगातार सात वर्षों से यों ही पड़ी हुई हों। पीठ पर यों होठ टिकाये हुए हैं, जैसे पिछले सात वर्षों में कभी भी पीठ पर से हटाये ही न हों।

धरमबीर मास्टर इस बार खुद शरमा गये। उन्हें लगा कि उनकी बारीक सूती बनियान का उतना हिस्सा संतो मास्टरनी के होठों की ऊष्मा से जल कर ख़ाली हो आया है, जितने में संतो मास्टरनी के होठ ठोस-चिकने पत्थर पर रेंगते हुए घोंघों की तरह सुगबुगा रहे हैं। उन्होंने हौले से संतो मास्टरनी की बाँहों को अपने कंधों पर से उतार दिया और केशो को अपनी दायीं बाँह पर से उतारते हुए, उठ खड़े हुए। कल साँझ गाँव और खेतों को भर आँख देखने की जो लालसा अतृप्त ही रह गयी थी, संतो मास्टरनी को यों पूर्ण तृप्ति के साथ गहरी नींद में डूबी हुई देख कर, वह फिर तेज़ी से आँखों में भर आयी थी। धरमबीर मास्टर ने बारी-बारी से पहले संतो मास्टरनी और फिर केशो को हौले से प्यार किया और फिर कुरता-धोती पहनने लगे। देहरी के बाहर आ कर उन्होंने रात से भर कर रखा हुआ लोटा उठाया और पूरब वाले खेतों की ओर चल पड़े--जैसे कोई आंतरिक संस्कार ही उन्हें सीधे उसी खेत तक खींच ले गया, जहाँ वे सात वर्ष पहले दिशा निबटने जाया करते थे।....मगर तब तक उजाला भरपूर फैल चुका था और धरमबीर मास्टर यह देख कर एकाएक भौंचक रह गये कि उनके बंजर छोड़े हुए खेत में एक छोटा सा किंतु ख़ूबसूरत एकमंज़िला मकान बना हुआ है और बाहर एक खंभे से तख़्ती ठुकी हुई है--'पंचायतघर ग्राम देवीपुरवा।'

धरमबीर मास्टर कुछ क्षणों को लोटा हाथ में ही लिये रह गये और इन्हीं कुछ क्षणों में दुबारा उनका अतीत आँखों में उभर आया। उन्हें याद था कि यह खेत तो उन्होंने या उनके पिता रूपा चौधरी ने बंता साहू को भी गिरवी नहीं रखा था, तो क्या संतो मास्टरनी ने अपनी मर्ज़ी से बेच दिया या ज़बर्दस्ती गाँव वालों ने क़ब्ज़ा जमा लिया है?

यों धरमबीर मास्टर एकदम शांत और उदार स्वभाव वाले थे, मगर इस प्रश्न ने उन्हें कहीं अंदर ही अंदर बहुत उत्तेजित कर दिया कि उनके परदेश रहने में उनके खेत पर ज़बर्दस्ती क़ब्ज़ा कर लिया गया। उन्हें लगा कि सिर्फ़ उस खेत के चारों ओर की झरबेरियों की ही जड़ें नहीं, बल्कि धरमबीर मास्टर की आत्मा की गहराइयों में फैली हुई वंशगत स्वाभिमान की जड़ें भी उखाड़ दी गयी हैं। एक अपने वंश और पूर्वजों की मर्यादा का प्रश्न ही तो था जिससे, निर्वासित हो कर, धरमबीर मास्टर सात वर्ष तक परदेश की धूल फाँकते रहे थे। पूर्वजों की ज़मीन कहीं हमेशा-हमेशा के लिए बंता साहू की न हो जाय, पूर्वजों की रखी हुई नींव वाली पुरानी हवेली कहीं बंता साहू के क़ब्ज़े में न चली जाय और गाँव वालों के सामने ही कहीं उन्हें अपने पैतृक मकान और खेतों को छोड़ कर न जाना पड़े—इन्हीं सारी आशंकाओं से पीड़ित हो कर ही

तो धरमबीर मास्टर ने जवान पत्नी के आकर्षण और दुधमुँहे बच्चे की ममता को लगातार सात वर्षों तक अपने ही सीने में दबाये रखा।

और सारे प्रश्नों में धरमबीर मास्टर उदार थे, मगर पुरखों की धरती का अहं उनके संस्कार में भी पूर्वजों की तरह जड़ें जमाये बैठा हुआ था। उनके पिता रूपा चौधरी ने अपनी दयानतदारी और फ़िज़ूलख़र्ची तथा मुक़दमेबाज़ियों के चलते आधी से ज़्यादा ज़मीन रेहन ज़रूर रख दी थी, मगर उनके रहते तो बंता साहू की यह हिम्मत भी नहीं हुई थी कि अपने पाँवों से रेहन रखे हुए खेतों को काटता हुआ, आये-जाये भी। धरमबीर मास्टर अपने पिता की एकमात्र संतान होने के बावजूद, स्वभाव से बहुत ही सहिष्णु और लड़ाई-झगड़े से दूर रहने वाले थे। इसीलिए बंता साहू के पिता रमंता साहू और ख़ुद बंता साहू के तगादे भी लगातार पैंतीस वर्षों से सिर्फ़ चिट्ठी-पत्री से आते रहे, मगर रूपा चौधरी के मरते ही बंता साहू घर पर आ कर मकान-ज़मीन ख़ाली करने या क़र्ज़ चुका देने के तगादे करने लगे थे।

उन दिनों धरमबीर मास्टर शौक़िया तौर पर गाँव वालों के बच्चों को पढ़ा दिया करते थे। ख़ुद हाईस्कूल पढ़े हुए थे, पत्नी सतवंती भी सातवीं तक पढ़ी-लिखी थी। सारे गाँव में बड़े-बूढ़ों में भी 'मास्टर साहब, मास्टर साहब' ही उन्हें कहा जाता था और संतो मास्टरनी के लिए 'मास्टरनी जी'। धरमबीर मास्टर चाहते तो ज़मीन और मकान बेच कर बंता साहू का ऋण उतार सकते थे, या जैसे रूपा चौधरी टालते आये थे, ऐसे ही, तीस-पैंतीस बरस वे भी टाल सकते थे, मगर यह मास्टर जी होना उन्हें लड़ैत बनने से रोकता रहा। बेग़ैरत बन कर या बेइज़्ज़ती करा कर गाँव में रहने की अपेक्षा उन्हें आत्महत्या कर लेना यादा पसंद था। अपने इस आत्माभिमान के चलते उन्होंने पिछले सात वर्षों में दिन-रात कठोर परिश्रम कर के इतना रुपया जमा किया था कि बंता साहू के मुँह पर फेंक सकें। बंबई से रवाना होने के पहले ही उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि अब स्थायी रूप से गाँव में ही रहेंगे। इसीलिए खेतों के प्रति मोह और भी ज़्यादा गहरा हो आया था।

धरमबीर मास्टर का मन अशांत हो आया था। उन्होंने लोटे का पानी यों ही खेत में उलटा कर दिया और गीली मिट्टी से उसे माँजते हुए घर की ओर लौट पड़े। संतो मास्टरनी तब तक उठ चुकी थी और पानी-साबुन उसने तैयार रखा था। तो संतो मास्टरनी अभी तक नहीं भूली है कि मास्टर साहब हमेशा साबुन से ही हाथ धोते थे? भरपूर उजाले में धरमबीर मास्टर ने संतो मास्टरनी को एक बार फिर बड़ी खुली-खुली आँखों से देखा। उन्हें याद आया कि घर पहुँचने से पहले वे यही सोचते आये थे कि उनके वियोग और चिंताओं के कारण संतो मास्टरनी बहुत दुबली हो आयी होगी। मगर संतो मास्टरनी तो आज भी आँखों में अँटती ही नहीं है। उम्र के साथ देह भी और ज़्यादा भर आयी है और लगता है, पुतलियों में तो सिर्फ़ उसका चेहरा भर अँट पाता है और शेष सारी देह पुतलियों के चारों ओर फैल जाती है—बेर की झाड़ियों की तरह।

धरमबीर मास्टर ने एक झटके के साथ अपने सिर को हिलाया और आँखें नीची कर के लोटा धोने में लग गये। हाथ-मुँह धो कर अंदर पहुँचते ही उन्होंने संतो मास्टरनी से

पूछना चाहा कि पूरब वाले खेत पर किन लोगों ने क़ब्ज़ा कर लिया। जब क़ब्ज़ा किया गया तब संतो मास्टरनी ने उन्हें सूचित क्यों नहीं किया? क्योंकि पंचायत-घर को देखते तो चार-पाँच साल पुरानी बात लगती थी।

मगर फिर धरमबीर मास्टर चाय पी कर, केशो को साथ में लिये, सीधे नगीना चौधरी के घर की ओर बढ़ गये। रस्मी बातों के बीच ही धरमबीर मास्टर ने पूछ लिया—"क्यों ताऊ? हमारे पूरब वाले खेत पर क़ब्ज़ा जमा कर, उसमें पंचायत-घर किसने बना लिया?"

प्रश्न पूछते-पूछते ही धरमबीर मास्टर का स्वर अपने-आप उत्तेजित हो आया और नगीना चौधरी की ओर से जवाब मिलने से पहले ही, उन्होंने फिर कहना शुरू किया—"सारे गाँव में क्या एक हमारा ही खेत रह गया था? या कि यों समझ लिया कि धरमबीर मास्टर तो अब घर लौटने से रहा और संतो मास्टरनी हो चुकी लावारिस...यों बिना पूछे-ताछे तो बेसहारों की ज़मीन पर ही क़ब्ज़े किये जाते हैं!"

नगीना चौधरी ने उतने उग्र स्वर में बोलते कभी भी नहीं सुना था धरमबीर मास्टर को और वह भी सात वर्षों के बाद घर पहुँचते ही, दूसरे ही दिन! बोले—"मास्टर साहब, इतनी बड़ी बात क्यों मुँह से निकालते हो भला? खेत पर ज़ोर-ज़बर्दस्ती से क़ब्ज़ा करने का सवाल ही कोई नहीं है। और जहाँ तक संतो मास्टरनी के लावारिस होने का सवाल है, जैसे मैं तुमको अपने बेटों की जगह मानता हूँ, वैसे ही संतो मास्टरनी भी मेरे लिए अपने ही घर की बहू है!.. पंचायत-घर संतो बहू से इजाज़त ले कर ही बनाया गया है।"

नगीना चौधरी के उत्तर से धरमबीर मास्टर कुछ खिसिया गये। उन्हें लगा कि उन्हें घर पर संतो मास्टरनी से पूछ लेने के बाद ही औरों से कुछ कहना चाहिए था। संतो मास्टरनी के प्रति उनको अचानक रोष हो आया कि इतनी बड़ी बात के लिए भी उनसे पूछा तक नहीं, लिखा तक नहीं। जिस संतो मास्टरनी ने कभी एक लोटा छाछ तक बिना उनसे पूछे नहीं दी, वही पूरा खेत उठा कर चुपचाप दे दे, इसके पीछे उन्हें अपनी बहुत बड़ी अवज्ञा लगी और वे आवेश में उठ खड़े हुए।

नगीना चौधरी ने, संभवतः, अनुमान लगा लिया कि मास्टर जी रुष्ट हो गये हैं। उन्होंने उन्हें कंधों से पकड़ कर बिठा लिया—"नाराज़ तो नहीं हो गये, मास्टर साहब? यों मैं भी जानता हूँ कि अपनी ज़मीन पर क़ब्ज़ा जमा लेने वालों के लिए एक ठाकुर की छाती का ख़ून कैसे उबल आता है, मगर आपके खेत पर गाँव वालों ने ज़ोर-ज़बर्दस्ती से क़ब्ज़ा नहीं जमाया है, पंचायत-घर के लिए माँग कर ली थी। संतो मास्टरनी ने यों कह के ज़मीन दे दी थी कि 'हमारे मास्टर जी ऐसे भले कारज के लिए कभी मना नहीं करेंगे।' और अगर संतो मास्टरनी कहेंगी तो पंचायत-घर गिरवा कर खेत ज्यों का त्यों लौटवा देने का ज़िम्मा मेरा रहा, मगर तुमको नाराज़ नहीं होने दूँगा।...सात बरसों के बाद तुम लौटे हो मास्टर, तो जैसे तुम्हारे ही साथ मैंने रूपा चौधरी को भी लौटता हुआ देखा है।" कहते-कहते नगीना चौधरी की आँखें छलक आयीं।

धरमबीर मास्टर और भी खिसिया गये और बोले—"मैं संतो से पूछे बिना ही चला आया था। अगर उसने खेत दिया है तो मेरे ही दिये के बराबर है, ताऊ।"

नगीना चौधरी ने ख़ुशी के मारे धरमबीर को बाँहों में भर लिया—"संतो बहू तो पहले ही कहती थी कि 'खेत का सार्वजनिक इस्तेमाल होगा तो हमारे मास्टर जी को ख़ुशी ही होगी।'. . .और बेटे केशो रे, तूने अपने बाबू को देखते ही पहचान लिया था न ?"

संतो मास्टरनी से पूछने पर नगीना चौधरी की बात सच्ची निकलने के बावजूद धरमबीर मास्टर के मन से इस बात का मलाल नहीं गया था कि खेत के सिलसिले में उनकी अवज्ञा की गयी। नगीना चौधरी की यह बात भी उन्हें खटकती रही कि 'संतो मास्टरनी कहेगी, तो पंचायत-घर गिरवा देगें।'. . .अगर उस समय नगीना चौधरी ने 'मास्टर जी, तुम कहोगे तो पंचायत-घर गिरवा कर खेत लौटवा देंगे।' कहा होता तो किसी हद तक उनके आहत अहं की तुष्टि अवश्य हो जाती, ऐसा धरमबीर मास्टर को निरंतर लगता रहा। दो-चार, दस-पांच दिनों तक नहीं, बल्कि पिछले महीने तक यह कचोट बनी रही थी।. . .मगर अब कहीं इससे बड़ी कचोट महसूस होने लग गयी है। नौकरी छोड़ कर घर लौटने पर स्थायी रूप से गाँव रहने का स्वप्न आँखों में था, इसीलिए खेतों का मोह कचोटता था। अब फिर से बंबई वापस लौट जाने की बात कहीं अंदर ही अंदर जड़ पकड़ने लगी है, तो खेतों से भी आँखें समेट लेने की स्थिति सामने आ गयी है।

घर आये हुए अब ग्यारह महीने हो गये हैं।

आज सुबह भी उजाला ठीक वैसे ही फूटा था, जैसे ग्यारह महीने पहले की सुबह फूटा था—और सिर्फ़ धरमबीर मास्टर की आँखों में नहीं, बल्कि पीठ पर भी फैल गया था। थोड़ी सी ऊँ-आँ करने के बाद संतो मास्टरनी आज भी ठीक वैसे ही होठों को उनकी पीठ पर टिकाये सो गयी है, जैसे ठोस चिकने पत्थर पर घोंघे रेंग रहे हों। आज भी धरमबीर मास्टर को अपनी सूती बनियान का उतना हिस्सा जल कर राख हो गया सा लगता है, जितने में संतो मास्टरनी के होठों का स्पर्श गहराई तक उतरता जा रहा है। केशो आज अलबत्ता अलग सोया हुआ है। संतो मास्टरनी से भी उन्होंने कह दिया था कि केशो के साथ सो जाय और ख़ुद अपना बिस्तरा पूरब वाली खिड़की से सटा कर लगा लिया था। मगर आधी रात तक निरंतर अपनी आत्मा को अपने ही हाथों धुनते-धुनते, थक कर सो गये थे, तो बाद में नींद टूटने पर संतो मास्टरनी को अपने ही बिस्तरे पर पाया था। संभव था कि यदि रात सोते समय ही संतो मास्टरनी उनके बिस्तरे पर आ गयी होती तो धरमबीर मास्टर उसे धक्का दे कर भी अपने से दूर ही हटा देते।. . .मगर आधी रात तक जितना कुछ उन्होंने सोचा है, उससे उनका मन फिर सहिष्णु और उदार हो आया है।. . .पूरब वाली खिड़की से सट कर सोते समय ध्यान नहीं रहा था कि यह पूरब वाला खेत भी उसी तरफ़ पड़ता है, जिसके चारों ओर कभी बेर की झाड़ियाँ उगी हुई थीं और बीच में पंचायत-घर नहीं था।

धरमबीर मास्टर ने गाँव पहुँचने वाली रात संतो मास्टरनी के होठों के पीठ पर टिक आने पर एक लंबी साँस खींच कर अपने पेट को अंदर की ओर समेट कर, पीठ को ऊँचा कर लिया था।. . .और संतो मास्टरनी के होठों की ऊष्मा ठोस-चिकने पत्थर पर रेंगते घोंघों की तरह गहराई तक उतरती चली गयी थी। आज़ की सुबह—कल या परसों

ही तक गाँव छोड़ कर बंबई वापस लौट जाने का निर्णय कर चुकने की सुबह—धरमबीर मास्टर ने एक लंबी साँस खींच कर, अपने पेट को बाहर की ओर फुला लिया. . .और उन्हें लगा कि संतो मास्टरनी के होंठ तो उनकी पीठ पर से फिसल गये हैं, मगर कुछ ऐसी चिपचिपी चीज़ उनकी पीठ पर छूट गयी है, जैसी घोंघों के रेंगने पर पत्थर पर छूट जाती है। कहीं संतो मास्टरनी, उनके मन के सारे द्वंद्वों को भाँप कर, रो न रही हो! धरमबीर मास्टर को ऐसा लगा जैसे उन्होंने अपनी पीठ न हटा ली हो, बल्कि किसी दुधमुँही बच्ची के मुँह से उसकी माँ का स्तन बाहर निकाल लिया हो! . . .आह, इसी ममता के चलते तो आज वे इस दारुण स्थिति में आ फँसे हैं! बंबई में रहते हुए हमेशा यही लगता रहा था धरमबीर मास्टर को कि ज़िंदगी कोठों पर जा कर नहीं, संतो मास्टरनी के साथ ही काटी जा सकती है। . . .मगर आज धरमबीर मास्टर को यही लग रहा है कि वह ज़िंदगी मर चुकी है, जिसे संतो मास्टरनी के साथ जिया जा सकता था। अब तो सिर्फ़ वह देह शेष रह गयी है, जिसे संतो मास्टरनी के साथ रखने की अपेक्षा दूर रहने से कम मनस्ताप मिलेगा।

कल साँझ तक तो उनकी स्थिति यह थी कि पंचायत-घर से चुपचाप निकल कर घर लौटती हुई संतो मास्टरनी की गर्दन ही उड़ा देने का निश्चय उन्होंने कर लिया था। फिर. . . उनका इरादा था कि परताप चौधरी का सिर भी काट कर सीधे नगीना चौधरी के हाथों में थमा दें कि 'ताऊ, ठाकुर की छाती का ख़ून सिर्फ़ ज़मीन पर क़ब्ज़ा जमा लेने वालों के लिए ही नहीं खौलता, बल्कि जोरू पर क़ब्ज़ा जमाने वाले के लिए भी उबल आता है!'

मगर उनकी भावुक और उदार आत्मा सिर्फ़ चुपचाप आँसू बहा कर रह गयी थी, कि 'मास्टर, अपनी जिस प्रतिष्ठा और पत्नी के चरित्र के प्रति आस्था पर चोट पड़ने से तू इतना बौखला उठा है, वह तो संतो मास्टरनी और परताप चौधरी की हत्या कर देने पर भी वापस नहीं लौटेगी, बल्कि और ज़्यादा मिट्टी में मिल जायगी!' इसीलिए कल रात उन्होंने संतो मास्टरनी की दी हुई रोटियाँ भी चुपचाप खा ली थीं। संतो मास्टरनी की आँखों में झाँकने पर उन्होंने उस चमक को एकदम बुझा हुआ पाया था, जो उस हर औरत की आँखों में थरथराती रहती है, जो ताँगे के पीछे बैठे हुए अपने पति को नहीं देख पाती; सिर्फ़ ताँगे के आगे बैठे हुए परताप चौधरी को देख पाती है और एकदम बर्फ़ीली हवा जैसी सनसनाती आवाज़ में पूछ बैठती है—"आ गये पैंठ से?"

और संतो मास्टरनी ने कुछ ही दिन पहले एकदम शरमाते हुए बताया था कि अब वह फिर से माँ बनने जा रही है। . . .और धरमबीर मास्टर ने पिछले दिनों ऐसी बातें भी सुनी हैं कि पिछले साल संतो मास्टरनी ग्राम-सेविका बनी थी तो उसका एक बी० डी० ओ० से भी नाजायज़ संबंध हो गया था। . . .और यह भी कि पिछले सात वर्षों में गाँव-पार के नाले-जंगलों में दो-तीन भ्रूण पाये गये थे। . . .और धरमबीर मास्टर घर लौटते ही कहना चाहते थे कि 'संतो मास्टरनी, जिस रात ताँगे में बैठ कर सात वर्षों के बाद गाँव पहुँचा था, मुझे पता नहीं था कि तुम्हारी आँखों ने पहले परताप चौधरी को देख कर तुमसे वैसी ख़ुशी से थरथराती

हुई आवाज़ लगवायी थी और मुझे देखते ही तुम्हें एकदम आशंकित हिरनी की तरह पीछे हटा लिया था!'

धरमवीर मास्टर यह भी कहना चाहते थे कि नगीना ताऊ ने झूठ नहीं कहा था कि 'संतो मास्टरनी को तो मैं अपनी ही बहू समझता हूँ।'...इतना ही नहीं, धरमवीर मास्टर यह भी कहना चाहते थे कि 'संतो मास्टरनी, जब नगीना ताऊ ने बताया था कि पूरब वाला खेत तुमने सारे गाँव के सार्वजनिक उपयोग के लिए दे रखा है, उस समय मुझे यह पता नहीं था कि सिर्फ़ खेत ही नहीं, बल्कि तुमने ख़ुद अपने को भी गाँव वालों के सार्वजनिक उपयोग के लिए...'

मगर संतो मास्टरनी की एकदम झुकी हुई आँखों को देख कर उन्हें लगा था कि वे जो कुछ भी संतो मास्टरनी से कहना चाहते थे, कह चुके हैं और संतो मास्टरनी सुन चुकी है। आधी रात तक उन्हें नींद नहीं आयी थी। आँखों में पिछले सात वर्ष बीतते रहे थे। संतो मास्टरनी गाँव में अकेली छूटी हुई है और वे अकेले बंबई महानगरी में। संतो मास्टरनी के हाथों की रोटियाँ नहीं हैं, धरमबीर मास्टर होटलों में चले जाते हैं। संतो मास्टरनी की देह नहीं है, घोंघों की तरह रेंगते हुए होंठ नहीं हैं और धरमबीर मास्टर कोठों पर चले जाते हैं।... और संतो मास्टरनी के पास धरमबीर मास्टर नहीं हैं, संतो मास्टरनी परताप चौधरी के पीछे-पीछे खाली पड़े पंचायत-घर में चली जाती है। और...

धरमबीर मास्टर उठ कर खड़े हो गये। पीठ-पीछे आ कर सोयी हुई संतो मास्टरनी को उन्होंने अथाह भावुकता और ममता के साथ देखा। उनकी आँखों में आँसू छलक आये। एक क्षण को उन्हें लगा कि उन्होंने संतो मास्टरनी को नहीं, बल्कि लगातार सात वर्षों तक संतो मास्टरनी को छोड़े रखने और ख़ुद ज़रूरत पड़ने पर कोठों पर चले जाने वाले धरमबीर मास्टर को ही क्षमा किया है।

शांत चित्त से उन्होंने खूँटी पर से कुरता उतारा और उसे पहनने के बाद अपने शेष कपड़ों के साथ केशो के कपड़े भी संदूक में रखते चले गये। बिस्तरा बाँधने की प्रतीक्षा उन्हें संतो मास्टरनी के उठ जाने तक करनी पड़ी। संतो मास्टरनी उठी और धरमबीर मास्टर को बिस्तरा लपेटते देखा तो बोल कुछ भी नहीं पायी—सिर्फ़ फटी-फटी आँखों से घूरती चली गयी।

हल्के से मुस्कराते हुए धरमबीर बोले—"संतो, मैं आज ही बंबई वापस लौट जाना चाहता हूँ। मैंने तुम्हें आज तक बताया नहीं, मगर मैं दरअसल वहाँ से घर सिर्फ़ दस महीनों की छुट्टी ले कर आया था, हमेशा-हमेशा के लिए नहीं। दूसरे, मैं केशो को भी साथ ले जा रहा हूँ ताकि इसे वहाँ कालेज में ऊँची शिक्षा दिलायी जा सके। तुम...तुम ऐसा करना, संतो, हमारे रास्ते के लिए कुछ पराँठे....'

लाख प्रयत्न करने पर भी, रुलाई उमड़ आने से, धरमबीर मास्टर अपने वाक्य को पूरा नहीं कर पाये।

—जी-६९१, श्रीनिवासपुरी,
नयी दिल्ली-१४

गोपाल उपाध्याय

कहानी

टूटे हुए जोड़े

आज तुम फिर याद आयी हो, मधु !

घर के सामने के नीम की पत्तियाँ एक-एक कर झड़ गयी हैं और ठूँठ की तरह वह गुमसुम खड़ा है। द्वार-बँधा तोता आजकल कुछ नहीं बोलता। अपने पंखों में ही अपना ठून डाले चुप रहता है। उसकी इस उदासी ने मुझे बेहद परेशान कर दिया है। हाथ पर ख़ाली फ़्रेम लिये मैं बाज़ार में खड़ा हूँ। न जाने कितनी ही रंगीन तस्वीरें मेरे सामने से गुज़र जा रही हैं—मगर मैं मौन खड़ा ही रहता हूँ। रंगीन तस्वीरें मुझे देखती हैं, मुँह फेर कर चली जाती हैं; मेरे हाथ पर ख़ाली फ़्रेम रह जाता है। अक्सर ऐसा होता है। तब मैं तुम्हें फिर याद करता हूँ, मधु ! वर्षांत, बहुत याद करने लगता हूँ। यह याद करना मेरी मजबूरी है या शायद मेरी कमज़ोरी !

वर्षांत में एक बार गाँव गया था। धान के गीले खेतों पर कुछ किसान वधुएँ धान रोप रही थीं। उनके पाँव गीली मिट्टी पर जहाँ पड़ते वहाँ पर एक गहरी-सी छाप अंकित हो जाती थी और फिर धीरे-धीरे आस-पास का पानी उन गहरी छापों को भर देता था। सिर्फ़ उन पद-छापों को देख कर किसी आये हुए के लौट जाने की बात मन में आती थी—शायद मेरे मन में भी तुम्हारे आ कर लौट जाने की पद-छाप बहुत गहरी है; शायद मेरे आँसुओं का जल निरंतर उन गहरी छापों को भरने में सफल हो-हो कर रह जाता है। अब मैं वर्षांत के दिनों कभी गाँव नहीं जाता हूँ—गर्मियों में जाता हूँ। उन दिनों धान के खेतों पर कोई पद-छाप नहीं दिखायी देती। मुझे लगता है पद-छापें हैं अवश्य पर ताप के तेज ने उन्हें सुखा कर ढक दिया है। मैं फिर तुम्हें याद करने लगता हूँ।

याद करना अच्छा लगता है; बुरा भी। तुम्हारी याद से मुझे बड़ी पीड़ा होती है, मधु ! इसीलिए इन यादों को भुला देना चाहता हूँ। यादें भुलायी नहीं जातीं। जाने ऐसा क्यों होता है ? मेरे घर के पिछवाड़े के कहार ने नयी-नयी शादी की है। जिस दिन दुलहन घर आयी उसके हाथों को शायद चूड़ियों से भर दिया गया था। जब भी बाथरूम की खिड़की में खड़ा होता हूँ अक्सर उसकी चूड़ियों की मीठी खनक सुनता हूँ। चूड़ियों की इस खनक की तरह मेरे अंदर कोई याद खनकने लगती है। शायद तुम्हारी याद ! मैं बार-बार बाथरूम की खिड़की पर खड़ा हो जाता हूँ। चाहता हूँ कि नयी कहारिन की चूड़ियाँ खनकें। चूड़ियाँ ख़नकती हैं। मैं फिर तुम्हें याद करता हूँ।

शायद मैं तुम्हें अब भूल भी न पाऊँ। जब भी मैं किसी जोड़े को देखता हूँ, अंदर ही अंदर कट कर रह जाता हूँ। कभी-कभी मैं किसी को कुछ देना चाहता हूँ, सब कुछ देना चाहता हूँ—वह

ही नहीं जो मेरे पास है, वह भी जो आने वाली शताब्दियों में मेरे पास होगा—किंतु होंठ काट कर रह जाता हूँ—किसे दूँ, किसे दूँ ? मैं अपने आप से पूछता हूँ—प्रश्न को बार-बार दुहराता हूँ—तब मैं तुम्हें याद करता हूँ। जब जोड़े मेरे अगल-बग़ल से गुज़रते हैं तब मैं अपने को समेट लेता हूँ; जब जोड़े मेरे सामने बैठ कर 'मटन चाप' खाने लगते हैं तब मैं अपने होंठ भींच लेता हूँ; जब जोड़े हाथ में हाथ डाले सुनसान सड़कों पर घूमते हैं तब मैं अपना हाथ और ऊपर खींच लेता हूँ।

तुमने कितनी ही बार कहा था मधु, मुझे अपनी सेहत का ज़रा भी ध्यान नहीं रहता। समय से मैं खाता नहीं, समय से मैं सो कर उठता नहीं, समय से मेरा कोई काम नहीं होता। मैं समय को बाँध ही नहीं पाता। अब तो समय ने मुझे बाँध लिया है। अब तो मैं समय के पीछे-पीछे चलने लगा हूँ। तुम तो मधु, अक्सर मुझे झिड़कती थीं कि मैं किसी से प्यार नहीं करता—अपने से भी नहीं, तुमसे भी नहीं, युग से भी नहीं। पर अब तो मैं सबको प्यार करना चाहता हूँ; अब मुझे शायद कोई प्यार नहीं करता। मैं सबके पीछे भाग कर प्यार करना चाहता हूँ, पर सब मुझसे दूर-दूर भाग जाते हैं। मैं फिर तुम्हें याद करता हूँ।

मुझे वह संध्या कभी नहीं भूलती, मधु ! जब हम और तुम बगीचे के बीच से होते हुए, रेल की पटरी के पार उस टीले पर जा कर बैठ गये थे, जहाँ से बबूल का घना जंगल शुरू हो जाता है। तुमने मुझसे पूछा था, 'कमल ! क्या सौंदर्य-बोध के बिना तुम्हारा लेखन कोई अर्थ दे सकेगा ?' प्रश्न मेरे आगे जाल की तरह तन गया था। संध्या घनी हो गयी थी। पीछे से कोई मालगाड़ी आ कर तेज़ी से निकल गयी। मैंने बार-बार तुम्हारे मुख को देखा, अपने शरीर को देखा। अँधेरा घना होने लगा था, मैं चुप ही रहा। शायद तुम्हें मेरा उत्तर मिल गया था। तुमने प्रश्न दुहराया नहीं बल्कि एक और नया प्रश्न पूछ दिया था, नितांत अस्वाभाविक, 'अगर, कमल ! मैं एक दिन तुम्हारी बाँहों में दम तोड़ दूँ तो क्या . . .।' मैंने तुम्हारे अधरों को अपनी हथेली से ढक दिया था। मरने की कल्पना तुम्हें अच्छी लगती थी। मेरे लेखन में सौंदर्य-बोध का तुम्हारी मृत्यु से कोई संबंध हो सकता है ? मैं आज भी इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने में लगा हूँ। शायद मिल जाय; शायद नहीं भी।

तेज़ लू से नगर तप गया था। मुझे वह दुपहर याद है। हम-तुम आम की छाँह में नगर से बाहर, मैदान की दूब पर लेटे हुए थे। तुम्हारे वक्ष पर सिर धर कर मैं दूर नीले आकाश में उड़ते एक अकेले पंछी को देर तक देखता रहा था। फिर मैं उस दृश्य को नहीं देख सका था और मैंने आँखें मूँद ली थीं। तुमने मेरे शिथिल अधरों को हल्के से चूम कर कहा था, 'पंछी के अकेले जीवन से घबड़ा गये न ?' मैं कुछ कहना चाह रहा था पर कुछ भी न कह सका—पंछी का भरी दुहपरी में एकाकी उड़ना मुझे बुरा लगा था। 'एकाकी जीवन सबसे अधिक करुण है न, कमल ?' तुम्हीं ने फिर कहा था, 'अगर मैं भी तुमसे छूट जाऊँ और तुम ऐसे ही अकेले . . .' मैंने कस कर तुम्हें एक थप्पड़ मार दिया था और तुम खिलखिला कर हँस पड़ी थीं। एकाकी जीवन सबसे अधिक करुण है—शायद आज मेरे पास इसका उत्तर है, मन में इस उत्तर के लिए एक निश्चित भाव है, किंतु शब्द ? इसे व्यक्त करने के लिए शायद मेरे पास शब्द आज नहीं हैं, हो सकता है तब रहे हों।

सुबह-सुबह तुम्हें ढूँढ़ते हुए मैं कुम्हारों की वस्ती से गुज़र रहा था। चाक पर एक मिट्टी का घड़ा बनता देख मैं देर तक वहीं खड़ा रह गया। एक के बाद एक और अनेक घड़े वन गये। कुम्हार घड़ों की लंबी क़तार देख कर मन में वहुत ख़ुश लग रहा था। चाक घूमता है; घड़े बनते हैं। जाने ऐसा क्यों होता है; कच्चे घड़े वना कर कुम्हार की ख़ुशी का क्या अर्थ हो सकता है? मिट्टी के घड़े, आज बने कल टूट गये। कुम्हार की ख़ुशी से मैं उदास हो गया; उदास हो कर घर लौट आया। तबसे उस बस्ती की तरफ़ जाना मैंने छोड़ दिया है। तुमने बार-बार इसका कारण भी मुझसे पूछा पर मेरे पास इसका एक निश्चित उत्तर होने पर भी मैं तुम्हें कुछ नहीं बता पाया था; और अगर मुझसे आज भी कोई पूछे तो भी शायद न बता पाऊँ।

तुम्हारी आदत थी मधु! अक्सर तुम मुझसे तर्क में उलझ जाती थीं। गोपा को छोड़ कर गौतम का चला जाना, उर्मिला से लक्ष्मण का चौदह वर्षों तक दूर रहना तुम्हारी दृष्टि में पुरुषों का नारी के प्रति अनुत्तरदायित्व और अन्याय था। मैं तब तुम्हारी बात से सहमत नहीं होता था। अपनी बात मनवाने के लिए मेरे पास बहुत सारे तर्क थे। तुम मान भी जाती थीं। किंतु आज मैं समझौते की राह पर हूँ। भगवान गौतम पर अब मुझे ग़ुस्सा आता है। भरे यौवन में गोपा को अकेली छोड़ कर उन्होंने पुरुष की स्वार्थलिप्सा का ही उदघाटन किया था। लक्ष्मण उर्मिला से अलग हो कर भाई के साथ वन-वन भटकने लगे और वह बेचारी यौवन की आकांक्षाओं की लाश को छाती से लगाये उनकी प्रतीक्षा करती रही। जब वह लौटे होंगे तब लक्ष्मण और उर्मिला दोनों, यौवन से पार, शायद बुढ़ापे के पास रहे होंगे। सोच कर बड़ा बुरा महसूस होता है—मैं उदास हो जाता हूँ।

जब-जब कोई जवान जोड़ा टूट जाता है तब-तब मेरा मन बहुत भारी हो उठता है। दो वर्ष पूर्व चीन से युद्ध करते हुए मेरे ही मुहल्ले के एक चौबीस वर्षीय लेफ़्टीनेंट के मरने की ख़बर उसके घर आयी। नौ महीने पहले उसकी शादी हुई थी। मैंने इस जोड़े को देखा था। पत्नी बहुत सुंदर थी; उम्र रही होगी बीस की। उसकी सुहाग की पहली चूड़ियाँ शायद टूट भी न पायी हों और जोड़ा टूट गया। मेरा कोई विशेष परिचय उनसे न था पर न जाने क्यों मैं दिन भर रोता रहा, रात भर जागता रहा। उस लड़की पर मुझे बहुत दया आयी। मेजर धन सिंह और जोगिंदर सिंह के जोड़े टूटने पर भी मेरा यही हाल हुआ। ऐसे में मैं अपना रोना नहीं रोक पाता हूँ। मुझे बहुत सदमा पहुँचा मधु! जब पढ़ा कि मिसेज़ कैनेडी की बाँहों में कैनेडी ने दम तोड़ा। मिसेज़ कैनेडी ने कैनेडी के लहूलुहान सिर को छाती से लगा कर चीख़ते हुए कहा था, 'नहीं, ऐसा नहीं! हाँ, ऐसा नहीं होना चाहिए था। फिर ऐसा क्यों हो जाता है? मिसेज़ कैनेडी की स्थिति को मैं नहीं भुला पा रहा हूँ। मैं आज कई दिनों से बार-बार इसी कारण रो रहा हूँ। यह जोड़े अक्सर क्यों टूट जाते हैं? ये इतने कच्चे घड़े क्यों बनाये जाते हैं? सब एक साथ ही टूटें तो क्या बुरा होगा?

मेरे द्वार पिंजड़े में लटका तोते का जोड़ा कुछ दिनों से अलग-अलग हो गया है। गाँव से किरन आयी थी। बार-बार ना-ना कहने पर भी एक तोता अपने साथ ले गयी और एक मेरे पास छोड़ गयी। तब से यह तोता बहुत उदास रहता है। मैंने उसको लिख दिया है कि वह तोता वापस ले आये। फिर यह तोता उदास क्यों रहेगा?

शायद अगले ही महीने घर के सामने का यह नीम हरी-हरी पत्तियों से फिर लद जायगा; फिर यह ठूँठ-सा क्यों दिखेगा ? किंतु मैं कैसे भूलता कि कैनेडी ने मिसेज़ कैनेडी की बाँहों में दम तोड़ा था। मधु ! मैं देर तक तुम्हारी पथरायी आँखों को चूमता रहा था। उस संध्या तुमने कितनी ठीक कल्पना की थी।

अब मैं वर्षांत में गाँव कभी नहीं जाऊँगा। फिर भी, मैं तुम्हारी याद को क्या भुला सकूँगा ! शायद ऐसा अब नहीं हो सकता। याद को भुलाना शायद मेरे लिए जीवन जीने की तरह ही कठिन है। मैं चुप हूँ, गुमसुम खड़ा हूँ, मधु ! और तुम मुझे बार-बार याद आ रही हो।

—१०८।३६ तालाब गँगनी सुकुल, लखनऊ।

○○

भारतीय ज्ञानपीठ-द्वारा प्रवर्तित

ज्ञानपीठ पत्रिका

लेखन-प्रकाशन की अधुनातन दिशा-प्रवृत्ति
और उपलब्धि-परिचायिनी
मासिकी

●

'ज्ञानपीठ पत्रिका' हिन्दी में अपने प्रकार का प्रथम प्रयास है, और कदाचित् अन्य भारतीय भाषाओं को देखते हुए भी; जिसका प्रयत्न एक ऐसा अध्ययन प्रस्तुत करने का है जो लेखक-प्रकाशन-विक्रेता-पाठक चारों के 'अक्षर-जगत्' की गतिविधि, नयी प्रवृत्तियों, समस्याओं एवं समाधान और विकास-उन्नति की दिशा-भूमिका का सम्यक् परिचय दे, तथा परस्पर विचारों के आदान-प्रदान का पथ प्रशस्त कर सके।

●

सम्पादक

लक्ष्मीचन्द्र जैन : : जगदीश

●

मूल्य वार्षिक ६.०० : ००.५५, पैसे प्रति

सम्पादकीय कार्यालय

भारतीय ज्ञानपीठ, ९ अलीपुर पार्क प्लेस,
कलकत्ता - २७

वितरण कार्यालय

भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५

मुक्तिबोध के पत्र

• •

मुक्तिबोध के पत्र उनके साहित्य और जीवन दोनों का अंग हैं। पिछले १२ वर्षों में उन्होंने मुझे जो पत्र लिखे थे उनमें से कुछ (१९५६-६४) चुने हुए पत्र यहाँ प्रस्तुत हैं।

उनके पत्र उनकी मनोदशाओं, विचारों, प्रतिक्रियाओं और चरित्र का ही परिचय नहीं देते बल्कि एक प्रकार से उनकी जीवन-कथा ही कहते हैं। गत आठ वर्षों में कितने स्तरों पर उनका संघर्ष चलता रहा और अपनी आसन्न मृत्यु का आभास भी उन्हें धीरे-धीरे किस तरह होता रहा, इसकी एक झलक इन पत्रों से मिल सकती है।——श्रीकांत वर्मा

• •

(१)

नागपुर,
अक्टूबर या नवंबर, १९५६

प्यारे भाई,

आपका पत्र मिला। खूब खुशी हुई। ऐसी ही चिट्ठियों से बहुत बल मिलता है। मैं जानता हूँ आपको मेरी गहरी चिंता है। इतना स्नेह पा कर मैं अभेद्य हो जाता हूँ। लड़ाई लड़ लूंगा। ज़रा अच्छे ढंग से लड़ूं, यही इच्छा है। इसीलिए अपमानजनक शर्तों पर भोपाल जाना उचित न समझा। दिल्ली आना बिल्कुल असंभव है। 'नया खून' भूत सरीखा पीछे पड़ गया है। समय का अभाव है।

अब 'विद्रोही' भी भोपाल चले। वैसे, नागपुर से उकताने की मुझे फ़ुरसत ही नहीं मिलती। ज़िंदगी हाथ धो कर पीछे पड़ गयी है। यदि ज़रा अवकाश, ज़रा फ़ुरसत, ज़रा छुट्टी मिले तो चेहरे का रंग ही बदल जाये। कुछ पढ़ना-लिखना नहीं हो पाता। सब चीजें स्वप्नवंत हो रही हैं। नरेश एक मीठी याद बन कर रह गये हैं; उन्हें चिट्ठी लिख देता हूँ इसलिए कि वे मेरी बहुत

चिंता करते हैं। किंतु यह हार्दिक और मनोवैज्ञानिक संबंध हुआ। सब दोस्तों से अपने ऐसे ही संबंध हैं। दोस्तों में 'बड़ा आदमी' कोई नहीं। बड़ों की चाटुकारिता होती नहीं, उनके लिए मेहनत ही की जाती है। किंतु इस मेहनत ने अब तक कोई मुआवज़ा नहीं दिया।

अब घिघियाने की मेरी उम्र भी नहीं रही। सिर्फ़ एक ही महत्वाकांक्षा है। लेक्चरी मिल जाय, ज़रा अच्छे ढंग की। मारा-मारा न फिरूँ।

वैसे मैं नागपुर एकदम छोड़ूँ कैसे! बाल-बच्चेदार आदमी होने के अलावा मेरे माता-पिता भी हैं और मुख्यत: क़र्ज़ लदा है। इस क़र्ज़ को अदा कैसे करूँ--इसी की धुन में रहता हूँ। पठानों से क़र्ज़ लेते-लेते जब हिंदुओं से लेने लगा तो पाया कि वे पठानों से भी बुरे होते हैं। बड़े पाजी। कुछ न पूछो। रेडियो की नौकरी की लगभग एक चौथाई रक़म ब्याज में जाती थी। अभी मैंने सिर्फ़ सौ रुपये चुकाये हैं। कुछ ही महीनों में और दूँगा। आगे चल कर मैं इन लोगों पर उपन्यास अवश्य लिखूँगा।

वैसे चिंता की कोई बात नहीं। मैं यहाँ उदास नहीं हूँ। चूँकि आपने बड़ी व्यक्तिगत बात की, इसीलिए मैं इतनी बातें कह गया तैश में। नहीं तो कहने की कोई बात ही नहीं थी। आख़िर यह भी तो निजी मामला है और निजी लोगों को ही कहा जाता है, जिसका उद्देश्य भी तो सिर्फ़ जी हलका करना है।

मैं आपकी परिस्थिति जानता हूँ। बड़ा अच्छा किया जो बिलासपुर से खिसके। आप ज़रूर यशस्वी और कीर्तिवान होंगे (क़र्ज़ के संबंध में किसी पहचान वाले या मित्र को कहने की क़तई ज़रूरत नहीं है। इसका किसी को पता न चलना चाहिए।)

आपका,
ग० मा० मुक्तिबोध

(२)

नागपुर,
१९-१२-५६

भाई मेरे,

आपकी चिट्ठी और तार मिले। जेब बिलकुल खाली है। आना असंभव है। नौकरी नयी है। काम डाल कर कैसे आया जाय, समझ में नहीं आता।

आज तारीख़ उन्नीस है; यदि कल शाम तक कुछ रुपये जुटा सका तो देखूँगा। वादा कैसे करूँ?

सस्नेह,

आपका,
ग० मा० मुक्तिबोध

(३)

नागपुर,
२८-२-५७

भाई मेरे,

आपका पत्र मिला था। एक लंबी बीमारी के बाद उठा हूँ। लेकिन उन्हीं दिनों घर-बाहर सक्रिय भी रहा। माता-पिता यहाँ आ गये हैं। आपके शहर (पैसों के लिए ही) गया था। मज़ा आया। एक-दो दिन ठीक, फिर बिस्तर। ऐसा क्रम चल रहा है।

लेक्चररशिप की खोज है। आगे ख़ुदा हाफ़िज़। अपने बारे में लिखें। इन दिनों कैसा क्या चल रहा है ? कुछ 'नया ख़ून' पर भी मेहर फ़रमायें।

पत्र का उत्तर अवश्य देंगे, ऐसी आशा है।

स्नेहाधीन,
ग० मा० मु०

(४)

नागपुर,
५-४-५७

भाई श्रीकांत,

आप आ रहे हैं, यह सुन कर बड़ी ख़ुशी हुई। मैं राह देख रहा हूँ। कम से कम यहाँ दो-एक रोज़ का मुक़ाम ज़रूर कीजिए। ऐसा प्रोग्राम बना कर चलिए। 'योजना', 'आजकल' वग़ैरह में मैं लिखने की सोच रहा हूँ।

शेष मिलने पर,

सस्नेह,
ग० मा० मु०

(५)

नागपुर,
२३-७-५७

भाई मेरे,

आपका पत्र मुझे यथासमय मिल गया था। आपने 'वसुधा' के लिए और किन-किन को लिखा है? मैंने दिल्ली वाली सर्विस के लिए आवेदन-पत्र भेजा था, लेकिन कोई जवाब नहीं

आया है। जबलपुर के डी० एन० जैन कॉलेज के लिए भी दरख़्वास्त दी है। इधर पूरा घर इन्फ़्लुएंज़ा से पीड़ित रहा। मैं कहीं और जगह से फ़्लू ले आया और फलतः सभी उसकी गिरफ़्त में आ गये।

आप मुझे (१) जयशंकर प्रसाद वाली किताब, (२) 'मानव' वाली पुस्तक, (३) 'काव्य-धारा' भेजने वाले थे। अब तक आपने भेजी नहीं। मैंने अपनी दरख़्वास्तों में उनका उल्लेख किया है। इसलिए, उनकी ख़ास ज़रूरत है। मेरी 'कामायनी' वाली पुस्तक तो आपके पास सुरक्षित है न!

आपके रेडियो कवि-सम्मेलन के बारे में 'टाइम्स आफ़ इंडिया' में पढ़ा था, जिसमें आपका भी उल्लेख था। बड़ी ख़ुशी हुई।

आपका अपना,
ग० मा० मुक्तिबोध

(६)

नागपुर
९-१०-५७

भाई श्रीकांत,

आपको पत्र लिखे एक ज़माना हो गया। आत्मग्लानि का एक लंबा युग बीता। अब मन से कुछ ठीक हूँ। हलकी सी प्रसन्नता (अकारण ही) मन में है। 'वसुधा' में आपका कॉल अच्छा चल रहा है। बीच में मैं अकोला गया था। रामकृष्ण से मुलाक़ात हुई थी।

भाई, कृपा कर के 'कामायनी' वाली मेरी पुस्तक मेरे पास भेज दें। इंटरव्यू के लिए वह आवश्यक है। इधर मेरी कुछ कविताएँ इलाहाबाद ए० आई० आर० से 'ब्राडकास्ट' हुई थीं।

पत्र का उत्तर अवश्य दें। मैं तुरंत जवाब दूँगा। अच्छे हो न? लिखाई कैसी चल रही है?

सस्नेह
ग० मा० मु

(७)

नागपुर
३-२-५८

भाई मेरे,

आपका पत्र यथासमय मिल गया था। मेरा जनवरी महीना बहुत ही बुरा कटा। कई मुसीबतों में फँस गया था, यहाँ तक कि आराम तक का समय नहीं मिला था। अभी भी हाल

लगभग वैसी ही है। इसलिए, अब तक मैं कोई चीज़ सोच नहीं पाया, कोई बात देख नहीं पाया और किसी बात में रुचि नहीं रही।

'नया ख़ून' की नौकरी रात को डेढ़-डेढ़ दो-दो बजाती है। शरीर में शक्ति का अभाव है। जब तक यह नौकरी छोड़ नहीं पाता, तब तक हालत ऐसी ही रहने वाली है। स्वास्थ्य एकदम चौपट है और बड़ी-बड़ी फ़िक्रें लग गयी हैं।

'नया ख़ून' में आपकी पुस्तक की आलोचना बराबर हो जायगी। अगर वह पुस्तक मुझे समर्पित न की गयी होती तो आलोचना कभी की हो गयी होती। क्या आपने अपनी कविता-पुस्तक की एक प्रति रामकृष्ण को भेज दी है?

कहने की आवश्यकता नहीं कि न केवल मुझे आपकी कविताएँ पसंद हैं वरन उनमें एक 'मिलिटेंट क्वालिटी' है। मैं नहीं समझता कि इस 'मिलिटेंट क्वालिटी' को छोड़ देना चाहिए, सौंदर्य और सौष्ठव के नाम पर। आशा है आप भी इस क्वालिटी' के महत्व को नहीं भुलायेंगे।

वैसे लिखने की मेरी महत्वाकांक्षा बहुत है। मन में बहुतेरी बातें लगातार उठती रहती हैं। लेकिन, अभी तक कुछ नहीं कर सका हूँ।

इतनी जल्दी तो मैं अपनी कविताएँ आपके पास नहीं भेज सकूँगा। कम से कम मुझे पंद्रह दिन का अवकाश चाहिए। नरेश जी को सस्नेह प्रणाम कहें। शायद मैं इस महीने में उनकी आलोचना कर लूँगा।

बाक़ी सब कुशल है। अपने हालचाल लिखें।

आपका,
ग० मा० मुक्तिबोध

(८)

नागपुर,
१-४-५८

प्रिय श्रीकांत,

आपके सभी पत्र मुझे यथासमय मिल गये थे। 'एप्लीकेशन फ़ार्म' भी।

आपने कोई अन्य नौकरी तजवीज़ की है या नहीं? इस ओर ध्यान देना बहुत ज़रूरी है। लोग पहले अपने जीवन में स्थायित्व प्राप्त करते हैं, फिर मैदान में कूदते हैं। हम लोग इसके विपरीत काम करते हैं।

इधर जैसा कि आपको मालूम है, मैं काफ़ी उलझनों में रहा। पिछले दो-तीन महीनों में सिर उठाने की फ़ुरसत नहीं मिली। साहित्य बैठे-ठालों का काम है। फ़ुरसत की मेहनत है।

'वसुधा' के लिए डायरी भी नहीं लिख सका, न ज़रूरी पत्रों का उत्तर दे सका। नौकरी में भी झगड़े होने लगे, आदि-आदि। यहाँ तक अस्त-व्यस्तता बढ़ी है कि सबसे छोटे बच्चे से बड़ा दिवाकर मेयो अस्पताल में गत पंद्रह दिनों से पड़ा हुआ है।

हम लोग घरबारी आदमी हैं और हमारी सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा यही है कि सब लोग कुशल से रहें। इसी योगक्षेम के संघर्ष में रहने के कारण हमें अर्थ-प्राप्ति के लिए, फ़ुरसत का समय बेच देना पड़ता है। फिर साहित्य के लिए कौन सा वक़्त रहा?

'वसुधा' में आपकी पुस्तक की आलोचना निकली है। शायद आपको उसमें की बहुत सी बातें पसंद न आयी हों। लेकिन कुल मिला कर वह अच्छी थी, ऐसा मेरा ख़्याल है। 'हिंदुस्तान टाइम्स' में निर्मल वर्मा का भी स्केच देखा। अच्छा लगा।

इधर, राजनाँदगाँव में मैं 'लेक्चरर' होने की कोशिश कर रहा हूँ। ख़्याल है कि जुलाई तक मैं वहाँ नियुक्त हो जाऊँगा। यदि ऐसा हुआ, जैसी की आशा है कि वह अवश्य होगा, तो मुझे काफ़ी समय मिलेगा। इस नौकरी में तो फ़ुरसत मिलने की नहीं। वहाँ अर्थ-अर्जन तो विशेष नहीं है, लेकिन मेरे अपने काम के लिए वक़्त मिला करेगा।

'कामायनी' की आलोचना वाली मेरी लिखी पुस्तक आपके पास है। बनारस से पत्र आया है कि उन्हें प्रकाशक मिल गया है, जो वह पुस्तक छापने के लिए बिलकुल तैयार है। कृपया आप उस पुस्तक को लौटती डाक से रजिस्टर्ड डाक से भेज दें।

आपका,
ग० मा० मुक्तिबोध

---

(९)

नागपुर,
१२-५-५८

भाई मेरे,

यह सुन कर दुख हुआ कि आप भी बीमार रहे। अब तबियत कैसी है? इधर हमारे घर में भी एक न एक दुखदायी बात खड़ी हुई है। दिवाकर मेयो अस्पताल था, वापिस आया, फिर बदस्तूर पहुंच गया है।

आप अवश्य इधर आइए। मिले बग़ैर दिल्ली नहीं जाइए। मई के अंतिम सप्ताह में यहाँ आपका इंतज़ार रहेगा। आप दो-एक रोज़ मेरे यहाँ ठहरेंगे।

मैं आपके पुराने पते पर पत्र लिख रहा हूँ। आशा है पहुँच जायगा। पत्र का उत्तर अवश्य दें।

आपका,
ग० मा० मुक्तिबोध

(१०)

नागपुर,
२-६-५८

भाई मेरे,

आशा है आप सकुशल दिल्ली पहुँच गये होंगे। इधर, राजनाँदगाँव की एक सूचना के अनुसार इंटरव्यू की तारीख़ १० जून है। इसका मतलब यह है कि अगर आप मुझे मेरे बारे में छपे कटिंग्स और प्रभाकर माचवे द्वारा लिखा गया लेख तथा ऐसी ही अन्य सामग्री भिजवा दें तो बड़ी कृपा होगी।

इसकी तत्काल आवश्यकता है। वह सामग्री जितनी अधिक भिजवा सकें उतना ही मेरा केस मज़बूत होगा। नौकरी का मामला है, इसलिए ज़ोर दे कर कह रहा हूँ कि कृपया जल्दी कीजिए।

आपका सस्नेह,
ग० मा० मुक्तिबोध

---

(११)

नागपुर,
१४-८-५८

श्रीकांत भाई,

लेख मैंने कल यहाँ से रवाना किया। मुझे कई बार 'रिकास्ट' करना पड़ा। तब उसकी 'शेप' बनी। लेख को वैसे ही टरका देना मैंने उचित नहीं समझा। इसी काम में देर हो गयी। पता नहीं आपको निश्चित समय में पहुँचेगा या नहीं।

मैं यहाँ से कल राजनाँदगाँव जा रहा हूँ। सितंबर के पहले हफ़्ते में परिवार को वहाँ ले जाऊँगा। तब कहीं सुस्थिर हो सकूँगा। आपने बड़ा अच्छा किया कि शमशेर वाला मेरा पुराना लेख जल्दी भेज दिया। यदि उसके पूर्व मिल जाता तो काम पहले ही शुरू हो जाता।

राजनाँदगाँव में सुस्थिर होने के लिए काफ़ी समय लगेगा। बहुत महँगा शहर है। हर चीज़ की दिक़्क़त है। मकान अभी तक मिला नहीं है।

अपने हाल लिखना। प्रयास करने से 'कृति' अवश्य अच्छी निकलेगी।

सस्नेह,
ग० मा० मुक्तिबोध

(१२)

राजनाँदगाँव,
१७-२-५१

बंधुवर,

इस बात का क्या 'एक्स्प्लेनेशन' हो कि मैं आज तक आपके पत्र का उत्तर न दे सका। यदि मेरी प्रतिज्ञा में आपको विश्वास हो सके तो मैं यह कहना चाहूँगा कि अब मैं यथासाध्य आपके पत्रों को लंबे अरसे तक अनुत्तरित नहीं रखूँगा।

आपका लेख मुझे पसंद आया। राजनीतिक स्वर, जो मेरे काव्य में प्रच्छन्न रूप से विराजमान रहता है, आपने पहचाना। यह स्वर, वस्तुतः एक महत्वपूर्ण किंतु गोपन विशेषता है जो मेरे काव्य को रूप देती रही है। कभी-कभी सोचता हूँ कि मैं स्वयं अपनी कविताओं की व्याख्या करूँ। इस स्वर की ओर ध्यान खींच कर आपने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

भाषा के संबंध में भी जो आपने लिखा, वह युक्तियुक्त ही है, साथ ही मैं यह सोचता हूँ कि पत्र द्वारा क्यों न सही, आप मेरी कविता की कमज़ोरियों को भी स्पष्ट करें, जिससे कि मुझे सहायता मिल सके। रस्मी तौर पर, मैं यह नहीं कह रहा हूँ।

दूसरे, मैं यह चाहता हूँ कि वस्तुतः मुझे सहायता हो। यह मैं जानता हूँ कि स्वयं आलोचना की भी सीमाएँ क्या होती हैं। किंतु जब आलोचना हितैषियों की ओर से होती है, तब उसमें नये-नये रत्न प्राप्त होते हैं।

मैं हाल ही में इलाहाबाद गया था। आशा थी कि आपसे और नरेश से भेंट होगी। नरेश आये नहीं। बड़ी निराशा हुई। आपको शायद बुलाया नहीं गया था। शमशेर, श्रीराम वर्मा, मलयज से भेंट हुई। 'नयी कविता' का ताज़ा अंक आपने देखा होगा। अपनी प्रतिक्रियाएँ लिखें।

'कृति' मेरी अपनी पत्रिका है। इसलिए, उस पर सहज स्नेह होना स्वाभाविक ही है। उसमें कविताओं का चयन बहुत अच्छा रहता है। लेखों की संख्या अधिक चाहिए—विशेषकर उन लेखों की जिनका संबंध नये प्रश्नों से है। स्तंभ बहुत अच्छे रहते हैं।

बोरिस पैस्तरनैक पर अगर आपने 'अदीब' का लेख छापा तो दूसरे पक्ष से भी लिखवाया जाना चाहिए था। कभी-कभी आप लोग राजनीतिक प्रश्न भी छेड़ देते हैं। मैं तो इस पक्ष में हूँ कि राजनीति साहित्य से अलग नहीं की जा सकती। किंतु, यदि आप भी यह मानते हैं तो मुझे खुशी है। ऐसी स्थिति में मैं यह सोचता हूँ कि 'कृति' को प्रगतिशील राजनीतिक दृष्टि अपनानी चाहिए।

'कृति' के संबंध में कोई काम फ़ौरन भेज दिया कीजिए। मेरे पत्र की राह मत देखा कीजिए। वैसे, मैंने इन दिनों काफ़ी काम किया है—पिछले छह महीनों में।

मैं यहाँ स्वस्थ हूँ। माता-पिता मेरे पास आ गये हैं। ज़िम्मेदारियाँ बढ़ गयी हैं। पढ़े कमाने के चक्कर में हूँ। 'हैक वर्क' में बहुत समय चला जाता है।

अगर आप, किसी ढंग से, कुछ दिनों के लिए रुपये दिलवाने वाले काम की तजवीज़ करके दिल्ली बुलवा सकें तो मैं गर्मी की छुट्टियाँ आप ही लोगों के पास गुज़ारा करूँगा। बहुत कुछ जानना चाहता हूँ। बहुत कुछ सीखना चाहता हूँ।

आप इधर कब आ रहे हैं?

आपका ही,
ग० मा० मुक्तिबोध

(१३)

राजनाँदगाँव,
१८-१०-५९

बंधुवर,

बहुत दुख हुआ। आपने अपनी नौकरी के बारे में कुछ भी नहीं लिखा है। इधर बहुत से कॉलेज खुल रहे हैं। और भी खुलेंगे। यदि अच्छा हो और ध्यान दे सको तो मैं सूचित करता रहूँगा। इस समस्या की ओर मैं अपने अन्य साथियों का भी ध्यान दिलाऊँगा, बशर्ते कि आप तैयार हों। ज़िंदगी के बारे में कुछ ख़ास फ़ैसले हो जाना जरूरी हैं। उन्हें कर लो।

लगभग डेढ़ महीने से मैं अस्वस्थ रहा। गर्दन के आसपास की ग्लैंड्स फूल गयी थीं। विकृत हो गया था। बुख़ार का दौर था ही। अब कुछ अच्छा हूँ। चेहरा अभी भी बिगड़ा हुआ है। कुछ समय और लगेगा, अच्छा होने में।

इसी बीच, आपके पत्र आये, अन्य मित्रों के भी। क्या जवाब देता।

आप 'कृति' निकाल रहे हैं। वह कब तक चल सकेगी? क्या एकाध साल और चल सकेगी? या क्या? 'कृति' के संबंध में अधिक सूचित करें। मान कर चलिए कि मैं 'कृति' के लिए कुछ न कुछ भेजता रहूँगा हर माह, विशेष कर अब।

एक कविता भेज रहा हूँ। यूँ कहिए कि वह एक गद्यात्मक अंतर्कथा है। पता नहीं पसंद आयगी या नहीं। बहुत संकोच होता है। इसीलिए मैं कविता भेज नहीं पाता। लेखक का अपनी वस्तु पर प्रेम रहता ही है। आगे आप जानें।

हाँ, एक बात और। इस कविता की कोई प्रतिलिपि मेरे पास नहीं है। 'फ़ेयर' करने में वह लगातार संशोधित होती गयी। अगर इसकी एक और कापी अपने लिए बनाऊँगा तो और देर लग जायगी। इसलिए वैसी ही भेज रहा हूँ। यदि पसंद न आये तो लौटा देना।

पिछले एक डेढ़-वर्ष में, मैंने चार लंबी-लंबी कविताएँ लिखी हैं। वही मेरी उपलब्धि है। उनसे गुँथा होने के कारण मैं कोई अन्य कार्य नहीं कर सका। उनके मारे सब छूट गया था। असल में वे जीवन की उलझनों के समग्र चित्र हैं। आपने अपनी आलोचनाओं में जो बातें कही

थीं, उनका भी मैंने ध्यान रखा है। अब, आगे चल कर शायद मैं कोई कविता नहीं लिखूंगा, कविता न लिखने का प्रयत्न करूँगा। इसमें बहुत समय जाता है।

कविता' फ़ेयर' करने में देर लग गयी। बड़ा वाहियात काम है, पर बहुत आवश्यक है उसे करना।

आपका सस्नेह,
ग० मा० मुक्तिबोध

(१४)

राजनाँदगाँव,
५-११-५९

भाई श्रीकांत,

मैंने आपको एक पत्र लिखा था और कविता भी भेजी थी। कोई उत्तर नहीं आया। मुझ आपके पत्र की प्रतीक्षा रहती है। यदि कविता पसंद न आये तो दूसरी भेज दूं। उसे आप वापस कर दें।

इधर कुछ दिनों से मैं बहुत अस्वस्थ रहा। 'ग्लैंड्स' फिर बढ़ गयी थीं। अब कुछ अच्छा हूँ, कॉलेज जा रहा हूँ।

उत्तर की प्रतीक्षा में,

आपका ही,
ग० मा० मु०

(१५)

राजनाँदगाँव,
१९-२-६०

बंधुवर,

आज कविता 'रजिस्टर्ड लेटर' द्वारा आपके पते पर भेज दी गयी है। उसके पीछे मैं लगभग डेढ महीने से मेहनत कर रहा था। पता नहीं कैसी है। पता नहीं मेरा स्वभाव कैसा है जो कविता के प्रथम आदिम रूप से संतुष्ट नहीं हो पाता। डरते-डरते उसे भेजा है। कविता प्राप्त होने के बाद पत्र अवश्य लिखिएगा।

आपने काव्य-सौंदर्य के संबंध में लिखा। प्रत्येक प्रकार का काव्य-सौंदर्य 'रोमांटिसिज़्म' नहीं होता। 'रोमांटिसिज़्म' भिन्न-भिन्न लेखकों के हाथ में पड़ कर भिन्न-भिन्न हो जाता है। प्रत्येक

प्रकार का 'रोमांटिसिज़्म' वांछनीय भी नहीं है। प्रश्न 'रोमांटिसिज़्म' का नहीं है। प्रश्न है एक विशेष सौंदर्याभिरुचि की तानाशाहियत का, अर्थात उन 'सेन्सर्स' का, जो उस सौंदर्याभिरुचि ने एक खास काट की काव्य-रचना के लिए लागू किये हैं। प्रश्न उस सौंदर्याभिरुचि के औचित्य-अनौचित्य का नहीं, उसके द्वारा लागू किये गये कुछ 'सेन्सर्स' का है।

मुझे भय है—और मेरा अनुभव भी है कि ये 'सेन्सर्स' केवल रूप-शिल्प के क्षेत्र में ही लागू नहीं किये जा रहे हैं, परंतु तत्व के क्षेत्र में भी सक्रिय हो रहे हैं। किन्हीं तत्वों को निष्कासित, निर्वाधित, परिवर्तित, संशोधित किया जा रहा है। विषय पृथक है। यहाँ उसका पूर्ण उल्लेख भी नहीं हो सकता।

नयी कविता में न केवल गीतात्मकता है, वरन नये-नये कवियों ने 'गीत' के 'फ़ार्म' को भी उठाया है। वात्स्यायन जी ने, गिरिजाकुमार माथुर आदि ने सुंदर गीत भी लिखे हैं। गीत 'ऐज़ ए फ़ार्म' को उठा देना उचित नहीं। किसी 'लिटरेरी फ़ार्म' को 'डिस्ट्राय' करने से वह 'डिस्ट्राय' होगा भी नहीं। जो गीत आज प्रचलित हैं, उनका मूल्य अत्यल्प है। उसमें नये 'कंटेंट' की आवश्यकता है। ख़ैर, ये सब बहस-तलब बातें हैं।

पुनश्च :
२१-२-६०

अब तक आपके पास मेरी कविता पहुँच गयी होगी। लंबी है। पता नहीं, आपको कैसी लगे।

इधर मैं तारीख़ २७ को एक सम्मेलन के लिए भोपाल जा रहा हूँ। वहाँ से उज्जैन जाने का विचार है। तारीख़ पाँच तक यहाँ लौट आऊँगा।

पत्र का उत्तर दीजिएगा। प्रसन्न तो क्या होंगे, स्वस्थ तो हैं न?

आपका,
ग० मा० मु०

(१६)

राजनाँदगाँव,
९-५-६०

बंधुवर,

आपके पास मैं श्री विनोदकुमार शुक्ल की कविताएँ प्रकाशनार्थ भेज रहा हूँ। उनकी कविताएँ मुझे पसंद हैं। लेकिन चूँकि मैं दैनंदिन प्रकाशित होने वाली काव्य-धाराओं से पूर्णतः परिचित नहीं रहता, इसलिए चाहता हूँ कि आप उन्हें 'स्क्रुटिनाइज़' कर लें, कहीं उनमें उधार ली हुई गूँजे और अनायास आगमित छायाएँ तो नहीं हैं!

मेरे ख़्याल में श्री विनोदकुमार मेधावी तरुण हैं और उनमें विशेष काव्य-प्रतिभा है। फ़िर भी, हीरे को गढ़ना होगा, चोटें ज़रूरी हैं। इसीलिए, मैं आपसे एक बार पढ़वा लेना चाहता हूँ।

यदि पसंद आयीं तो आप अवश्य प्रकाशित कीजिए। पत्र लिखियेगा। मुझे भी और एक चिट्ठी उन्हें भी।

पुनश्च :

यह पत्र मैं उन्हें बता चुका हूँ।

आपका,
ग० मा० मुक्तिबोध

(१७)

राजनाँदगाँव,
५-६-६०

बंधुवर,

आपके दोनों पत्र प्राप्त हुए। मैं इन दिनों कुछ अधिक व्यस्त था, इसलिए पत्र का उत्तर नहीं दे सका। मैं पंत जी पर लिख रहा हूँ। तारीख़ आठ या नौ तक यहाँ से लेख रवाना कर दूँगा।

मैं कुछ दिनों बाद निबंध या डायरी लिखने का इरादा छोड़ दूँगा, अपने 'कमिटमेंट्स' पूरे करने पर। बहुत सारे काम करने हैं।

आपका अपना,
ग० मा० मु०

(१८)

राजनाँदगाँव,
१६-६-६०

बंधुवर,

आज ही पंत जी पर अपना लेख समाप्त किया। देर तो हो ही गयी। यदि इसे न दे सको तो वापस कर देना, इसलिए कि मुझे उसकी शीघ्र ही आवश्यकता पड़ेगी।

आज पंद्रह दिनों से उसी के चक्कर में था। कई बार लिखा गया। मैं अपने को ही काटता रहता हूँ। इतना समय लगने पर वह पूरा हो सका। भयानक कष्ट होता है। पंत जी या पंत जी के भक्त शायद ही ख़ुश हों। न उन्हें ख़ुश करने के लिए, न उन्हें नाराज़ करने के लिए मैंने उसे लिखा। मुझे आप लंबी अवधि दिया करें, यानी कि पाँच-छह दिनों के अंदर लेख लिखा जाना मुश्किल है।

मैं अपने कुछ 'कमिटमेंट्स' पूरा किया चाहता हूँ। फिर मैं कुछ दिनों के लिए लेख लिखना स्थगित करना चाहता हूँ।

मैं यहाँ अकेला हूँ। आपकी चिट्ठी प्राप्त होने से तबियत हरी-भरी रहती है। इसीलिए पत्र आप अवश्य दिया करें।

इधर, हरिशंकर जी परसाई के अनुरोध या प्रभाव के फलस्वरूप कहिए, मैंने कामायनी वाली पुस्तक संशोधित और परिवर्तित कर डाली है। जबलपुर के उत्साही प्रकाशक, जो काफ़ी होशियार और मुस्तैद कहे जाते हैं, उनसे वचनबद्ध हो गया हूँ। पुस्तक भेज दी गयी है प्रकाशनार्थ। प्रकाशन बुरा नहीं होगा, अच्छा होगा। बाक़ी ईश्वर की इच्छा।

आलोचनात्मक लेख जो मैं आगे लिखूँगा, वे अधिकतर 'स्टडीज़' ही होंगी।

मैं एक बात और कहना चाहता हूँ। आशा है आप बुरा नहीं मानेंगे। 'कृति' पर आपके संपादकत्व की छाप है। उस छाप का स्वयं ही अनादर न कीजिए। 'नवीन' जी की जो कविताएँ आपने छापीं उनमें 'प्रूफ़' की एक सौ एक ग़लतियाँ हैं। कविताओं का उनका संकलन अच्छा था, लेकिन 'प्रूफ़' की भूलों के कारण, सब मामला चौपट हो गया। इस सबकी बदनामी आपके सिर है। कुशल संपादक होना अच्छी बात होती है। वे कविताएँ अशुद्ध इसलिए थीं कि संपादक ने प्रूफ़ क़तई देखे नहीं थे, या छापेवालों ने आदेशों का पालन नहीं किया था। 'कृति' का स्तर और बढ़ना चाहिए—सब दृष्टियों से। लेख नहीं मिलते, इसलिए फ़ालतू चीज़ें न जायें।

यह मैं जानता हूँ कि आपके सामने मुसीबतें तरह-तरह की दस्तबस्ता हाज़िर होती हैं और रोज़ सुबह पूछती हैं कि कहिए, क्या ख़ातिर की जाय, क्या सेवा की जाय। लेकिन चूँकि आपने ही उन्हें अपने तक आने की इजाज़त दी है, इसलिए अब आप ही उनसे सेवा लीजिए। इन मुसीबतों में से एक मुसीबत है स्वयं 'कृति'।

इधर मैं अच्छा हूँ।

'कल्पना' में मेरी कविता छपी; आपने देखी होगी। यहाँ अकेला होने से मुझे तरह-तरह की आशंकाएँ घेरती हैं। मेरे लिखने के बारे में—कविता के बारे में विशेषतः, सुझाव अवश्य दीजिए। आप कविता-संकलन भेजने वाले थे?

आपका अपना,
ग० मा० मुक्तिबोध

(१९)

राजनाँदगाँव,
१२-११-६०

वंधुवर,

क्षमा करें। यह नयी कविता है—बिलकुल ताज़ी। इसी के मोह में पहले भेज नहीं सका। और अब देर हो गयी। फिर भी, आपने उल्टी डाक से भेजने को कहा, सो आज शनिवार को दो बजे इसे रवाना कर रहा हूँ।

अगर हो सके तो उसे विशेषांक में न दे कर, अगले अंक के लिए रख दीजिये।

कृपया प्रूफ़ की भूलें न हों, भले ही कुछ हो। मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार कीजिए और बुरा न मानिए।

मेरा ख़्याल है आपको यह कविता पसंद आयगी।

पूरे पत्र का उत्तर आज शाम को दूँगा।

आपका अपना,
ग० मा० मुक्तिबोध

---

(२०)

राजनाँदगाँव,
१८-४-६१

प्रिय श्रीकांत,

आपका पत्र मिला। लेकिन मैं एकदम कुछ नहीं कर सकता था, लिखने में समय लग ही जाता है। अनेकानेक कारण थे।

'कृति' के नये अंतःस्वरूप के संबंध में आपने जो सोचा है, वह उचित ही है। यही होना चाहिए था, बहुत पहले से। नयी कविता में प्रगतिशील तत्व क्या हैं, तथा आगे उसकी दिशा कौन सी होनी चाहिए—इतना ही क्षेत्र 'कृति' का नहीं होना चाहिए। आप तो जानते ही हैं कि तत्संबंध में क्या करना होगा। मेरा अपना ख़्याल है कि उसे अधिकाधिक प्रगतिशील बनाया जाना चाहिए।

पत्र-पत्रिकाओं में बहुत 'कंपिटीशन' है, इसीलिए सामग्री की श्रेष्ठता अत्यंत आवश्यक है। और तत्संबंध में अत्यंत सावधानी रखनी होगी।

इधर मेरे एक मित्र ने अमरीकी साहित्य का अध्ययन शुरू किया है। उनका अध्ययन विधिवत है। मैंने उनसे अनुरोध किया है कि वे 'लेफ़्टिस्ट टेंडेंसी इन अमेरिकन पोएट्री' नामक विषय पर एक परिचयात्मक लेख लिखें। उनका लेख अंग्रेज़ी में होगा, मैं उसका अनुवाद करूँगा।

मेरी स्वयं इच्छा है कि अमरीकी साहित्य की विशाल संघर्षमयी प्रगतिशील परंपरा का बोध करवाया जाय।

अभी वे मित्र छुट्टियों में मसूरी जा रहे हैं। वहाँ से लौटते ही मैं उनसे ऐसे ही विषयों पर लिखने का आग्रह करूँगा। अपना मत लिखें।

मैं बुकपोस्ट से अपनी कविता भेज रहा हूँ और यह निवेदन कर रहा हूँ कि उसमें मुद्रण-दोष न हो।

आपका अपना,
ग० मा० मु०

रजिस्टर
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

(२१)

राजनाँदगाँव,
८-५-६१

प्रिय श्रीकांत,

दस-पंद्रह रोज़ पहले मैंने अपनी एक लंबी कविता 'कृति' के लिए आपके पते पर भेजी थी। चूँकि आपकी ओर से तत्संबंध में कोई सूचना नहीं मिली, इसलिए चिंता में पड़ गया हूँ।

विस्तार से सब बात समझा कर लिखें। 'कृति' बंद नहीं होनी चाहिए। तुरंत लिखें।

आपका,
ग० मा० मु०

(२२)

राजनाँदगाँव,
१९-८-६१

भाई श्रीकांत,

आपका पत्र पा कर संतोष हुआ। प्रसन्नता हुई। सोच ही रहा था कि आपको चिट्ठी लिखूं। इतने में आपका पत्र आ गया।

आज तक मैंने आपसे कोई व्यक्तिगत प्रार्थना नहीं की है। लेकिन अब करने जा रहा हूँ। वह यह कि मेरे ख़्याल से (आप क्षमा करेंगे) नरेश मेहता द्वारा की गयी 'कृति' की सेवा का आदरपूर्वक विशेष उल्लेख प्रस्तुत अंक में अवश्य होना चाहिए।

आपके-उनके बीच एकदम क्या हो गया, मैं नहीं जानता, न मुझे किसी ने बताया। लेकिन ऐसा कुछ किया जाय जिससे व्यक्तिगत संबंध न टूटें और शालीनता तथा शिष्टता के स्तर

पर (कम से कम) मृदु भाव बना रहे। वे आपके भी अत्यंत निकट रहे, मेरे भी। ऐसी स्थिति में, मुझे यह सोच कर दुख होता है कि मेरे दो आत्मीयों में वेबनाव पैदा हो गया।

जो हो, वह होने वाला था। लेकिन, यदि नरेश जी की 'कृति' संबंधी सेवाओं का विशेष उल्लेख स्पष्टतापूर्वक हो गया तो कम से कम यह तो रहेगा कि आपके उनके बीच कोई वेबनाव नहीं है, दूरी भले ही रहे। शील और सद्भाव का भी यही तकाज़ा है।

आपको अपना जान कर यह लिखा है, यदि आप मेरे न होते तो शायद कभी न लिखता। आशा है मेरी बात सुनेंगे।

आपका ही,
ग० मा० मु०

---

(२३)

राजनाँदगांव,
१४-११-६३

प्रिय श्रीकांत भाई,

बहुत पहले आपकी चिट्ठी आयी थी। 'कल्पना' में आपका लेख भी ध्यान से पढ़ गया। हृदय के बहुत तीव्र आवेग से आपने उसे लिखा था। उसी के इर्द-गिर्द 'लहर' के विश्व-काव्य वाले अंक में आपकी कविता पढ़ी।

तब से आपके बारे में सोचता ही रहा। वह कविता निःसंदेह पढ़ने वाले में भी दर्द पैदा करती थी। इसीलिए सोचना पड़ा। शायद ही ऐसी दर्द वाली कविता मैंने हिंदी में पढ़ी हो। अगर सिर्फ़ दर्द ही दर्द होता तो शायद सोचने को मजबूर न होना पड़ता। उसमें एक भयानक निराशा थी। यह बात ज़रूरत से ज्यादा चुभी कि मूर्ख सोचते हैं कि हमारा कोई देश है, हमारा तो कोई देश नहीं। मैंने इसका अर्थ यही लिया कि एक विशेष मनःस्थिति में यह बात कही गयी है। और उस मनःस्थिति के संदर्भ से ही वह बोलती है।

उस कविता को पढ़ कर आपकी ज़िंदगी का ख़्याल आना स्वाभाविक था।

छत्तीसगढ़ का यह मेरा प्यारा कवि क्या का क्या हो गया (आपके जीवन के संबंध में चिंता सताने लगी)! उस छत्तीसगढ़ में जहाँ मुझे मेरे प्यारे छोटे-छोटे लोग मिले, जिन्होंने मुझे बाँहों में समेट लिया और बड़े भी मिले जिन्होंने मुझे सम्मान और सत्कार प्रदान कर के, संकटों से बचाया।

मैं उन्हीं सबके कारण—आप सबके कारण—हाँ, आपके कारण मनुष्यता में विश्वास खो नहीं पाता—मैं सैद्धांतिक बात नहीं बता रहा हूँ। उस छत्तीसगढ़ का मैं ऋणी हूँ जिसने मुझे और मेरे बाल-बच्चों को शांतिपूर्वक जीने का क्षेत्र दिया। उस छत्तीसगढ़ की भूमि ने जो अत्यंत प्रतिभाशाली पुत्र पैदा किया, वह दिल्ली जा कर इतना अधिक विपदग्रस्त हो गया कि दुख होता है।

अपना रोना नहीं रोऊँगा। तीव्रतम मनुष्य-निर्मित निराशात्मक परिस्थितियों में रहने वाले मुझ जैसे के हार्दिक अंधकार की जो आखें हैं वे उस कविता के दर्द को पहचानती हैं, लेकिन नहीं चाहतीं कि ऐसी हालत में आप रहें।

इस तरह देखा जाय तो वह कविता का अंत प्रभावोत्पादक है। उसका विन्यास, उसका गठन, उसकी काव्य-रचना एकदम निराली! मैं तो दंग रह गया।

'लहर' के ताज़े अंक में दूसरी कविता भी देखी। उसमें भी वही बात है, फ़र्क़ यह है कि उसमें 'सिनिसिज़्म' अधिक है और सघनता पहले वाली कविता जैसी नहीं है। फिर भी, एकदम बेजोड़ और निराले ढंग की कविता है वह।

यानी कि एक हालत चल रही है, जारी है, एक जीवन-दशा, एक मनोदशा, एक मनोधारा।

आशा है अपने बारे में आप कभी लिखेंगे और मेरी किसी बात का बुरा न मानेंगे।

आपका ही,
ग० मा० मुक्तिबोध

---

(२४)

राजनाँदगाँव,
७-२-६४

प्रिय श्रीकांत,

आपका पिछला पत्र अत्यंत महत्वपूर्ण था कि सोचता था फ़ुरसत से उसका उत्तर दूँ। इसी बीच एक असामान्य दुर्घटना हो गयी। मेरे शरीर के बायें हिस्से को पक्षाघात का शिकार होना पड़ा। बिस्तर से नीचे उतरना मुश्किल है। डॉक्टर ने एकदम पूरे विश्राम की सलाह दी है। सिर्फ़ उसके 'इंजेक्शन्स' पर जी रहा हूँ। लगभग महीने भर के बाद ठीक हो जाऊँगा, ऐसा उसका कहना है।

जीने और काम करने की आशा नहीं छोड़ी है। पुरानी आदतें वैसी ही बनी हुई हैं। उसने बीड़ी न पीने को कहा है, लेकिन अपनी संकल्प-शक्ति को धूम्रपान के आगे निर्बल पा रहा हूँ। फिर भी प्रयत्न तो करना ही होगा।

आपका पत्र अत्यंत महत्वपूर्ण था। मुझे पक्का विश्वास है कि आप अपने अनुभवों को तटस्थ भाव से शब्द-बद्ध करेंगे तो साधारण जनों के जीवन को आप मूर्तिमान कर डालेंगे। आपसे मिलने की बड़ी तबियत है। कल्पना में मैं आपके घर आ भी जाता हूँ लेकिन, कल्पना वास्तविकता का स्थान नहीं ले सकती।

आपका ही,
ग० मा० मुक्तिबोध

(२५)

राजनाँदगाँव
२०-२-६४

प्रिय श्रीकांत भाई,

आपके पत्र के उत्तर के लिए कहाँ से शब्द खोजूँ। केवल इतना ही कह सकता हूँ कि आपके प्रेम को प्राप्त करने की वास्तविक पात्रता यदि मुझमें उत्पन्न हो सके तो मैं अपने को धन्य समझूंगा। हम अपने समय से निपटने के लिए समर्थ हैं—यह स्फूर्तिमय आशावाद मेरे लिए विशेष रूप से हृदय-स्पर्शी है जब कि मेरी संघर्ष करने की शक्ति बराबर घटती जा रही है।

केवल आप लोगों की मानसिक छवियाँ देख कर प्रेरणा इकट्ठा करने का प्रयास करता हूँ और चाहता हूँ कि अपने जीवन के शेष काल को अधिकाधिक सार्थक बना सकूँ। केवल इतना ही कह सकने की स्थिति में हूँ।

इन दिनों स्थानीय 'क्रिश्चियन फेलोशिप हॉस्पिटल' के एक डॉक्टर से इलाज करवा रहा हूँ। उसका कहना है कि एक महीने के भीतर मैं अच्छा हो जाऊँगा।

बिलासपुर के रामबाबू सोनथलिया ने मेरे पास सवा सौ रुपये भिजवाये हैं। संभवत: यह आपकी प्रेरणा से है। कृतज्ञ हूँ।

आपसे, आप लोगों से पैसों को आखिर क्यों न स्वीकृत करूँगा। केवल इसी बात का ध्यान रखिएगा कि मेरी बीमारी की विज्ञापना न हो, करुणा-भाव उत्पन्न करने के लिए ताकि एक लेखक की सहायता हो। ऐसा न करना भाई, जिसमें मेरी स्थिति, जो वस्तुतः दयनीय है, करुणाजनक भी हो उठे।

मैं अपने रोग के नाम से कोई चंदा नहीं चाहता। वैसे, दिल्ली वालों से जो भी सहायता मिलेगी, मैं अवश्य स्वीकार करूँगा। आख़िर उस मदद की ज़रूरत तो है ही।

आपका
ग० मा० मुक्तिबोध

—९४, नार्थ एवेन्यू
नयी दिल्ली।

सहवर्ती साहित्य

●

गुजराती

मोहनलाल भट्ट

गुजराती साहित्यकार : धूमकेतु

जब अखबारों में देखा कि गुजराती भाषा के प्रसिद्ध कहानी-लेखक तथा उपन्यासकार श्री धूमकेतु—गौरीशंकर गोवर्द्धनराम जोशी का ७३ वर्ष की उम्र में ता० ११ मार्च को देहांत हो गया तो हृदय को आघात सा लगा। पुरानी पीढ़ी के साहित्यकार एक के बाद एक चले जा रहे हैं! यह विचार तो था ही, पर उसके साथ यह भी एक मन को लगने वाली बात थी कि दो-एक माह ही हुए, अहमदाबाद में मेरी और उनकी मुलाक़ात रास्ता चलते हुई थी और रास्ते पर खड़े-खड़े ही हम दोनों कुछ देर तक बातें करते रहे थे। मुख्य चर्चा उनके स्वास्थ्य के संबंध में थी। उनकी बात से ही मुझे यह जानकारी मिली कि उन पर कुछ महीने पहले हृदय-रोग का आक्रमण हुआ था, पर वे अब ठीक होते जा रहे हैं और घूमने-फिरने लगे हैं। मैंने उनसे अपना स्वास्थ्य सम्हालने के लिए कहा क्योंकि अब यदि उन पर दुबारा हृदय रोग का आक्रमण हुआ तो उसका परिणाम खतरनाक हो सकता था। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया था कि वे अब अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखेंगे। परंतु मेरी इस मुलाक़ात के बाद दो-एक महीने में ही वे हारनिया रोग से इस संसार को छोड़ कर चले जायँगे, इसकी मैं उस समय कल्पना भी नहीं कर सकता था।

अहमदाबाद के पालडी विभाग में नूतन सोसायटी में मेरा निवास है और श्री धूमकेतु का अपना मकान सौराष्ट्र सोसायटी में है, जो नूतन सोसायटी के ठीक पीछे पड़ोस में ही है। इस कारण जब मैं अहमदाबाद जाता था, उनसे अनायास ही मिलना हो जाता था। मैं हिंदी प्रचार का काम करता हूँ इसलिए हमारी बातचीत भी इसी विषय को ले कर होती रहती थी। आखिरी बार जब हम मिले तब उन्होंने अपनी रचनाओं के हिंदी अनुवाद के प्रकाशन के संबंध में ही बड़ी देर तक बातें की थीं। उनकी अपनी रचनाओं के अनुवाद के लिए एक अच्छा अनुवादक मिल गया है इसकी जानकारी उन्होंने मुझे दी, और उनकी रचनाओं के अनुवाद का कार्य अब ठीक ढंग से चल रहा है, इस पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की। फिर हिंदी-प्रचार की

समस्याओं के संबंध में भी थोड़ी बातें हुईं। हिंदी-प्रचार के कार्य में उनकी सदा सहानुभूति रही है। गुजरात प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति के वे उपप्रमुख भी रहे हैं और जब-जब गुजरात समिति को उनके सहयोग की आवश्यकता पड़ी, उन्होंने ख़ुशी से उसकी सहायता की। हिंदी के विद्वान या लेखक जब भी अहमदाबाद जाते, समिति की ओर से गुजराती साहित्यकारों तथा कलाकारों की गोष्ठी आयोजित की जाती थी, और हिंदी के साहित्यकारों का गुजराती साहित्यकारों से परिचय कराया जाता था। ऐसी गोष्ठियों में गुजरात के प्रसिद्ध कलाकार श्री धूमकेतु तथा श्री रविशंकर रावल बड़ी तत्परता तथा उत्सुकता से भाग लेते थे।

गुजराती साहित्य तो श्री धूमकेतु का अत्यंत ऋणी है क्योंकि उन्होंने उसे समृद्ध बनाने में बहुत बड़ा योग दिया है। लगभग २०० से अधिक पुस्तकों का सर्जन उनके द्वारा हुआ है। साहित्य की एक नहीं, अनेक विधाओं और प्रकारों की सृष्टि में उन्होंने महत्वपूर्ण योग दिया है। प्रारंभिक अवस्था में सभी को थोड़ा-बहुत कविता करने का शौक़ होता है; उन्होंने भी आरंभ में कविता लिखी थी। परंतु तुरंत ही अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए जो उनका स्वाभाविक माध्यम बन सकती थी उस सुंदर भाववाही गद्य-शैली को उन्होंने अपना लिया। गद्य-विधाओं में उन्होंने क्या नहीं लिखा! उपन्यास, इतिहास-कथा, कहानियाँ, निबंध, चिंतन-ग्रंथ, प्रवास-वर्णन, जीवन-कथा आदि सभी विधाओं में बड़ी सफल रचनाएँ श्री धूमकेतु ने गुजराती साहित्य को दी हैं। परंतु इन विधाओं में भी सबसे बड़ी सिद्धि उन्हें कहानी लिखने में प्राप्त हुई है। गुजराती में कहानी-कला के वे सिद्धहस्त आचार्य ही माने जाते हैं। गुजराती में कहानी-लेखकों की कमी नहीं। बड़े सफल, पारदर्शी कहानीकार गुजराती को मिले हैं। आचार्य रामनारायण वि० पाठक 'द्विरेफ' से ले कर नये साहित्यकारों में सुरेश जोशी तक गुजराती को ऐसे सिद्धहस्त कहानीकार प्राप्त हुए हैं, जिन पर गुजराती साहित्य गौरव अनुभव कर सकता है। परंतु धूमकेतु का स्थान अपना एक निराला स्थान रहा है। आधुनिक कहानी-कला के विकास में उनका जो योग है, उसकी तुलना किसी भी अन्य लेखक से नहीं की जा सकती। गुजराती में कहानियों का आज जो रूप है उसका प्रारंभ उन्होंने ही किया और अंत तक उसे युग के अनुरूप विकासशील आकार-प्रकार देते हुए उसे वर्तमान कलामय रूप देने में वे पूर्ण सफल हुए। इस क्षेत्र में अंत तक धूमकेतु एकमेव अद्वितीय बने रहे।

धूमकेतु की कहानियों के बारे में यही कहा जा सकता है कि उनकी कहानियाँ उनके जीवन की पृष्ठभूमि में उनकी अपनी अनुभूति पर आधारित हैं और उन्होंने अपने जीवन-दर्शन के प्रकाश में उन्हें ऐसा निखरा हुआ कला-रूप दिया है कि देखते ही बनता है। आदर्शवाद तथा वास्तविकता का समन्वय उनकी कहानियों का विषय है। धूमकेतु में मर्मगामी निरीक्षण-शक्ति है, भावनाशीलता है और उसके साथ अध्ययन-वृत्ति भी है। उन्होंने इन शक्तियों का गुजराती साहित्य को समृद्ध करने में प्रचुर उपयोग किया है।

श्री धूमकेतु आजीवन शिक्षक रहे। शिक्षा भी उन्होंने 'ट्यूशन' करते-करते पायी। साहित्य-सर्जन का काम भी उन्होंने कालेज-जीवन से ही शुरू किया। वे बाल्यकाल से ही प्रकृति-सौंदर्य के प्रेमी थे। सौराष्ट्र के अपने गाँव 'बिलखा' में उन्होंने सृष्टि-सौंदर्य के निरीक्षण तथा

उसका सुखोपभोग करने की जो आदत डाली थी उसका लाभ उन्हें बड़े होने पर मिला। अहमदाबाद के धनपति श्री चिनुभाई तथा श्री अंबालाल साराभाई जैसों के यहाँ बालकों के शिक्षक होने के कारण उन्हें नीलगिरि, मसूरी, दार्जिलिंग, कश्मीर आदि स्थानों में जाते रहने तथा वहाँ के सृष्टि-सौंदर्य को जी भर देखने, आत्मसात करने तथा उसका रसास्वादन करने का अच्छा मौक़ा मिला। मेरा उनसे प्रथम परिचय तब हुआ, जब वे श्री अंबालाल साराभाई के यहाँ थे। तब से हमारा परिचय बढ़ता ही गया और मैं यह अनुभव करता रहा कि श्री धूमकेतु में कैसी उदार दृष्टि है, कितनी हृदय की विशालता है और अपने रसास्वादन अथवा रसानुभूतियों को पाठकों तक पहुँचाने की कितनी तीव्र आकांक्षा है। यही कारण है कि वे इतने विपुल साहित्य के स्रष्टा बन सके हैं।

गुजराती के प्रसिद्ध साहित्यिक तथा आलोचक श्री विष्णुप्रसाद त्रिवेदी ने श्री धूमकेतु के संबंध में कहा है कि 'उच्च मानवता अन्य सब सिद्धियों की अपेक्षा उच्चतर संपदा है और धूमकेतु की कला-सिद्धि की विशेषता ही यह है कि इस संपदा को वे सचेतन रूप से हृदय में उतार सके—ठीक उसी प्रकार जैसे अवकाश में प्रकाश उतर कर भर जाता है या भूमि पर वर्षा की बूंदों की अटूट लड़ियाँ बरसती हैं।'

धूमकेतु का लक्ष्य सदा उच्च मानवता रहा है परंतु उसकी कल्पना में उन्होंने ग़रीब, दुखी तथा सामान्य मानव में निहित मानवता को कभी भुलाया नहीं। उनकी 'डाकिया' कहानी, जिसने उन्हें गुजराती साहित्य में अमर प्रतिष्ठा दी है, एक ऐसी ही कहानी है जिसमें डाकिया जैसे सामान्य मानव में निहित मानवता को उन्होंने कलात्मक ढंग से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। गुजराती में ही नहीं, अन्य भाषाओं के साहित्य में भी बहुत कम ऐसी सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित मानवता संबंधी सूक्ष्म भावना को अंकित कर लिखी गयी कहानियाँ मिलेंगी।

जीवन में अनेक चित्र, विचित्र घटनाएँ देखने को मिलती हैं। कभी-कभी तो ऐसी घटनाएँ भी देखने में आती हैं कि उनके सच होने के संबंध में विश्वास करना कठिन होता है, लेकिन वे होती सच हैं। धूमकेतु जैसा सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति-सम्पन्न लेखक, जो हर स्थान पर मानवता की शोध में रहता है, ऐसे प्रसंगों का अपनी कहानियों में उपयोग न करे, यह कैसे संभव हो सकता है! मुझे स्मरण नहीं, किस घटना या प्रसंग की यह बात है परंतु उन्होंने एक चर्चा में कहा था कि उनकी कहानियों की कुछ घटनाओं या प्रसंगों के संबंध में वैसा कभी हो सकता है? ऐसी शंकाएँ उठायी जा रही हैं। मैं और सब बातें तो स्वीकार कर सकता हूँ किंतु घटना की वास्तविकता के संबंध में किसी प्रकार की शंका को स्वीकार नहीं कर सकता। इस संबंध में तो मैं अपने अनुभव को ही ठीक समझूँगा।

अपने कहानी-संग्रहों का नाम उन्होंने 'तणखा' रखा है और इस नाम से उनकी कहानियों के चार संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इन कहानियों में वैविध्य है, नये-नये प्रयोग भी हैं और सबसे बड़ी बात, समाज के निम्न स्तरों में, दारिद्र्य तथा अभावों की दुनिया में जीने वाले मनुष्यों में भी कितनी मानवता छिपी हुई है, इसका उनका अपना अनुभव भी है। 'तणखा' का अर्थ 'स्फुलिंग'—

अग्नि-स्फुलिंग है। मानवता की प्रभा के स्फुलिंग उनकी कहानियों में बिखरे हुए हैं इसलिए इन कहानी-संग्रहों का 'तणखा' नाम सार्थक है।

उपन्यास भी उन्होंने कम नहीं लिखे। वे अधिकांशतः ऐतिहासिक उपन्यासों के रचयिता हैं। गुजरात के प्राचीन चौलुक्य वंश तथा प्राचीन गुप्त साम्राज्य के प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित राजाओं के ऐतिहासिक काल को उन्होंने अपने उपन्यासों में अंकित करने का प्रयत्न किया है। एक-दो उपन्यास में हो नहीं, माला के रूप में दर्जनों उपन्यास लिख कर उन प्राचीन युगों के वातावरण तथा व्यक्तियों को पाठकों के मानस-चक्षु के समक्ष अवतरित करने का उनका प्रयत्न रहा है। चौलुक्य ग्रंथावलि में १६ पुस्तकें और गुप्त युग की ग्रंथावलियों में १४ पुस्तकें—उपन्यास रूप में उन्होंने दी हैं। और ये सब उपन्यास स्वतंत्र रूप से पढ़े जा सकते हैं। रसभंग नहीं होता; किसी भी उपन्यास को उठा कर पढ़िए, आरंभ से अंत तक पढ़े बिना पाठक शायद ही उसे छोड़ सके, इतनी संश्लिष्ट रचना इन उपन्यासों की है।

गुजराती के अत्यंत सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार श्री मुंशी के उपन्यासों के साथ उनके उपन्यासों की तुलना करने की आवश्यकता नहीं। मुंशी साहित्य-क्षेत्र में धूमकेतु से पहले, जाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में प्रकाशित हुए। धूमकेतु बाद में आये। श्री जोशी जी ने अपना उपनाम धूमकेतु क्यों रखा यह समझना कठिन है। धूमकेतु की तरह साहित्यिक क्षेत्र में एक तहलका मचा कर अस्त हो जाने वाले साहित्यकार वे नहीं हैं। उज्वल ज्योति के रूप में एक सा प्रकाश देने वाले नक्षत्र की तरह ही उनका गुजराती साहित्य में प्रकाश रहा है। मुंशी ने गुजरात की 'अस्मिता' को जाग्रत किया, महत्वाकांक्षी पात्रों द्वारा युवकों में महत्वाकांक्षा जगायी। प्राचीन गुजरात में जो तेज-बल था, उसकी अपने ऐतिहासिक उपन्यासों द्वारा एक झलक दिखा कर गुजरात को अपने तेज-बल का अनुभव कराया। भाषा में भी एक नया ओज, नयी प्रभा लाने में वे सफल हुए। गुजराती भाषा का वर्तमान सरल, सादा परंतु ओजस्वी तथा चरम भाववाही रूप गाँधी जी के प्रभाव के कारण बना है परंतु उससे पहले श्री मुंशी ने जो भाषा लिखी थी, वह भी सरल, ओजपूर्ण, भाववाही भाषा थी। यही कारण है कि साहित्य के इस युग को गाँधी-मुंशी युग का नाम दिया गया है। इस युग के साहित्य में, जैसा ऊपर कहा गया है, श्री धूमकेतु का विशिष्ट प्रकार का विपुल योग रहा है।

धूमकेतु की भाषा पर सौराष्ट्र में बोली जाने वाली गुजराती शैली का असर तो है ही, उसके साथ ही उन्होंने सौराष्ट्र की बलशाली भूमि में आकार ग्रहण करने वाले अनेक देशज शब्दों का व्यवहार कर गुजराती भाषा को समृद्ध बनाने में भी बड़ी सहायता की है। मुंशी की तरह अपने ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र-चित्रण में उन्होंने इतिहास को भुलाया नहीं है, फिर भी वे अत्यंत प्राणवान हैं; शौर्य, तेज, संस्कृति, कुशल राजनीति आदि सद्गुणों के प्रतीक हैं। यह नहीं कि उनमें कोई दुर्बलता नहीं है। मानव-सहज दुर्बलताएँ उनमें भी हैं इसलिए वे हमें अपने लगते हैं और प्यारे भी लगते हैं।

श्री धूमकेतु ने आजीवन साहित्य-सेवा की। गुजरात ने उनको प्रतिष्ठा दी, प्रेम दिया और उनका गौरव भी बढ़ाया। आज गुजरात के अपने कहानीकार, उपन्यासकार तथा नाटककारों

की कमी नहीं है। नये युग के अनुरूप साहित्य भी, गद्य-पद्य दोनों विधाओं का, विपुल परिमाण में प्रकाशित होता जा रहा है। श्री मुंशी तथा श्री धूमकेतु अभी भी गुजरात में बहुत पढ़े जाते हैं और वे अभी कुछ साल तो पुराने नहीं होंगे। संभव है कुछ लोगों की दृष्टि में उनका युग बीत गया हो, परंतु अधिकांश लोग ऐसा नहीं मानते। हमारी दृष्टि में तो श्री धूमकेतु का साहित्य नये गुजरात को बनाने में बहुत सहायक हुआ है और अब आगे भी कुछ वर्ष उसका प्रभाव बना रहेगा। श्री धूमकेतु तो अपना कार्य पूरा करके गये हैं; उनका जीवन सफल हुआ है। उनके अपने आदर्शानुसार उनका साहित्य अभी कुछ समय तक गुजरात की नयी पीढ़ी के जीवन को बनाने में, मनुष्य-मनुष्य के पारस्परिक संबंध का सच्चा अर्थ खोज निकालने में, समय-समयानुसार जीवन-मूल्यों का मूल्यांकन करने में, धर्म तथा संस्कृति द्वारा अपेक्षित नवसर्जन के लिए, समाज की प्रगति के लिए तथा विश्वव्यापी प्रेम तथा भाई-चारे की भावना को जाग्रत करने की प्रेरणा देता रहेगा।

सचिव, प्रथम शासन निकाय,
हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

धूमकेतु की दो कहानियाँ

● ●

यात्री

अस्त होते सूर्य की किरणों में सुवर्ण-प्रासाद जगमगा रहा था। उसकी रंगीन काँच की खिड़कियों में से पड़ता चित्र-विचित्र प्रकाश संगमरमरी फ़र्श पर इंद्रधनुष के रंगों की सृष्टि कर रहा था। सर्वत्र शांति व्याप्त थी। इसी समय एक अपरिचित यात्री ने प्रासाद का फाटक खोल भीतर प्रवेश किया।

उसके सामने लाल मिट्टी-बिछा लंबा मार्ग था जिसके दोनों ओर कलापूर्ण ढंग से कटी मेंहदी की ऊँची बाड़ थी। मार्ग में कोई नहीं था; कहीं कोई नहीं था। वहाँ सर्वत्र ऐसी निर्जनता तथा शांति व्याप्त थी, जैसी लक्ष्मी के चले जाने के पश्चात किसी बड़े महल में दिखायी देती है। हर प्रकार से उपेक्षित सा जान पड़ता था वह स्थल। और जिस शांति के कारण ही मन

में अशांति उत्पन्न होती है, वैसी ही विचित्र और कुतूहल उत्पन्न करने वाली शांति वहाँ व्याप्त थी।

अपरिचित यात्री अपनी लकड़ी के सहारे आगे बढ़ा और अंतिम द्वार के निकट पहुँच क्षण भर के लिए रुक गया।

मुख्य द्वार देख कर उसने जो अनुमान लगाया था, प्रासाद उससे कहीं अधिक भव्य था। प्रासाद की सीढ़ियों के दोनों ओर इंद्रधनुष के रंग-से संगमरमर की बारीक नक़्क़ाशीदार जालियाँ जड़ी थीं। स्थान-स्थान पर श्वेत पत्थर के कुंभ में रंग-बिरंगे फूलों के गुच्छे लटक रहे थे। एक स्थान पर सुर्ख़ लाल रंग के पत्थर को तराश कर बनायी हुई पहरेदार की शांत प्रतिमा खड़ी थी, और मुख्य द्वार के निकट संगमरमर की एक सुंदर प्रतिमा थी, जिसका अप्रतिम जीवंत सौंदर्य पूरे प्रासाद को रम्य तथा आकर्षक बना रहा था।

अपरिचित यात्री सीढ़ियों के निकट खड़ा कुछ समय तक यही सब देखता रहा। वह वहाँ खड़ा था, पर किसी ने उससे नहीं कहा कि आइए! किसी ने नहीं पूछा कि कैसे आये? किसी ने नहीं कहा कि वापस लौट जाओ! और न किसी ने यही पूछा कि यहाँ क्यों खड़े हो?

यात्री मुग्ध भाव से सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। अस्वस्थता के कारण वह लकड़ी का सहारा लिये था। फिर भी उस सुंदर स्थल को देख उसमें इतनी शक्ति आ गयी थी कि वह एक ही साँस में ऊपर जा पहुँचा और एक सुसज्जित कमरे के आगे पहुँच कर रुक गया। कमरे के बीचोबीच लाल चंदन की एक चौकी रखी थी जिस पर रेशमी आसन बिछा था। फ़र्श पर तारांकित रजनी-सी सच्चे मोतियों से जड़ी विशाल जाजम बिछी थी। जाजम के चारों कोनों पर रुपहली-सुनहली बुनायी से रतिनाथ की मनोहर छवि चित्रित की गयी थी। ऊपर छत पर सुनहले जल-प्रवाह में स्नान करती अप्सराओं के चित्र बने हुए थे।

यात्री ने देखा कि वहाँ अपार समृद्धि थी, अद्‌भुत सौंदर्य था, अनुपम कला थी, शांति थी, पर यह सब जिसके कारण जीवित लगते हैं, वह मनुष्य वहाँ नहीं था। यात्री को लगा कि जो वह देख रहा है वह माया है, झूठ है; पर सच दीख रहा है।

इसी समय सामने का द्वार खुला और एक व्यक्ति ने चुपचाप उस विशाल कक्ष में प्रवेश किया। वह अधेड़ उम्र का था पर उसका शरीर शक्तिवान और रूप रसिक दीख रहा था। उसके मुख पर तेज था पर, साथ ही, न समझा जा सके ऐसा विषाद भी छाया हुआ था। उसे देखते ही यात्री को लगा कि यह एक ऐसी जीवात्मा है जो सुखी भी है और नहीं भी है, और जिस रूप में वह व्यक्ति दीख रहा है, उससे सर्वथा भिन्न है।

नवागंतुक ने मुख से बोले बिना केवल संकेत से यात्री को भीतर आने का निमंत्रण दिया।

यात्री भीतर गया। वह सुंदर आसन पर बैठा ही था कि तुरंत ही ऊपर से सुगंधित पवन बहने लगा; चारों ओर से गुलाबजल की फुहारें छूटने लगीं। नवागंतुक (प्रासाद का स्वामी) उसके सम्मुख ही बैठा था। दोनों क्षण भर एक दूसरे से बोल न सके। यात्री तो इस समृद्धि से भौंचक्का हो गया था, इस कारण नहीं बोल पा रहा था, और प्रासाद का स्वामी इसलिए कि कहीं पहले बोलने से उसका गौरव न घट जाय!

"क्या यहाँ कभी कोई भी नहीं आता ?" यात्री ने पूछा।

निःश्वास छोड़ प्रासाद के स्वामी ने उत्तर दिया, "आते तो बहुत हैं, पर रहता कोई नहीं।"

"आप यहीं रहते हैं ?"

"हाँ।"

"मैं यहाँ रह सकता हूँ, बस एक रात ? आपके नौकर कहाँ हैं ? क्या आप अकेले हैं ?"

प्रासाद के स्वामी ने अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही एक बटन दबाया। एक ओर का द्वार खुला और तुरंत एक व्यक्ति ने प्रवेश किया। उसकी चाल सीधी थी। वह नपे-तुले पाँव उठा रहा था। मुँह उसका तेजहीन था; मृत मनुष्य के मुख जैसा शांत। निकट पहुँच जब उसने झुक कर यात्री को प्रणाम किया, तो वह चौंका। उसके सम्मुख एक यंत्र-मानव खड़ा था।

"यह कौन है; मनुष्य या यंत्र ?"

संक्षिप्त पर, गूढ़ उत्तर मिला, "यहाँ दोनों एक समान हैं।"

"मतलब ? मैं कुछ समझा नहीं।"

"इस स्थान को अति संपन्नता का रोग है। मैं इस रोग का वारिस हूँ। मैं चाहूँ तो भी किसी मनुष्य को स्पर्श नहीं कर सकता। यह यंत्र-मानव मेरा काम करता है, बस इतना ही मेरा इससे संबंध है। मैं एकाकी हूँ।"

क्षण भर दोनों मौन रहे। यात्री मुग्ध था और प्रासाद का स्वामी शांति चाह रहा था। क्षण भर बाद प्रासाद का स्वामी बोला, "यह स्थान आपको किसने बताया ?"

"किसी ने भी नहीं। मैंने देखा, और मुझे पसंद आ गया।"

"पर यह स्थान किसी को पसंद नहीं आता। ख़ुद मुझे ही यह पसंद नहीं। आप भी, जब इसका इतिहास जान लेंगे, इसे पसंद नहीं करेंगे. . .इस स्थान में मैं अकेला पिछले बारह वर्षों से रह रहा हूँ। यहाँ समृद्धि की सीमा नहीं, यहाँ किसी वस्तु की कमी नहीं। किसी भी बात में यह स्थान स्वर्ग से कम नहीं। किंतु यह स्थल शापित है. . ."

"शापित ?"

"इसे अति संपन्नता का शाप है, जिसमें सुख का प्रत्येक साधन है, फिर भी सुख नहीं है जिसमें समस्त वस्तुओं की जीवन-शक्ति लक्ष्मी के स्पर्श से नष्ट हो जाती है। यहाँ सब कुछ प्राप्य है; नहीं है, तो केवल मनुष्य का स्पर्श। एक ही यंत्र-मानव का साथ यदि आपको स्वीकार हो तो यह समस्त समृद्धि आपकी है। क्या आप इसे स्वीकार करेंगे ?"

क्षण भर मौन रह वह पुनः बोला, "मुझे यह स्थल इसी तरह मिला है। और मैं भी इसी तरह उस आदमी को यह स्थल सौंप कर मुक्त हो सकता हूँ, जो उपर्युक्त शर्त क़बूल कर ले। अपरिचित यात्री, क्या आप तैयार हैं ?"

एक शब्द भी बोले बिना यात्री उठा और दुखभरी हँसी हँस कर उसने प्रणाम किया।

"क्यों, जा रहे हैं ? . . .यदि आप समृद्धि की खोज में हैं तो इससे अधिक समृद्धि आपको कहीं और नहीं मिलेगी। पैसे की शक्ति से ऊँचे से ऊँचे स्थान पर रहने की इच्छा हो तो यह स्थल

हिमालय से भी ऊँचा है। एकाकी, किसी से न कुछ लेना, न देना। बस, अपनी समृद्धि में ही तल्लीन रहो। क्यों, क्या बुरा है?"

किंतु यात्री ने उसकी बात अनसुनी कर जल्दी से क़दम बढ़ाये और दरवाज़े से बाहर निकल कर ही रुका। फिर दयार्द्र नेत्रों से प्रासाद के स्वामी की ओर देख कर बोला, "भाई, आपके इस एकाकी, सुसमृद्ध जीवन से मैं दुखित हूँ। पर आपका जीवन अपना लूँ, इतनी मुझमें शक्ति नहीं है। मैं समृद्धि की खोज में नहीं हूँ; ऊँची से ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त करने की भी मेरी इच्छा नहीं है। मैं तो केवल मानव-महासागर में दिखते असंख्य जल-बिंदुओं में व्याप्त मानवता की खोज में हूँ।" और इतना कह कर, बिना एक बार पीछे देखे, वह प्रासाद से बाहर निकल गया।

उसे जाता देख प्रासाद का स्वामी शून्य हँसी हँसा। उसके हास्य में जीवित मृत्यु की छाया थी। "कोई नहीं रहता"—मन ही मन बड़बड़ाते, धीमे क़दमों से वापस अपने एकांतवास में खो गया। और उस गढ़ शांति में उसकी पदचाप देर तक भयंकर उदासीनता की प्रतिध्वनि करती रही।

—अनु० : राजगोपाल माथुर,
३३५, तोपदड़ा, अजमेर (राजस्थान)।

राजपूतनी

वर्षा ऋतु में रूपेण नदी ज्यादा भयंकर हो जाती है। जो कोई भी उसे पार करना चाहता है, वह भँवर के चक्कर में पड़ कर कुछ क्षणों में ही अदृश्य हो जाता है। ऐसे ही एक समय रूपेण में बाढ़ आयी हुई थी। खेतों में पानी ही पानी नज़र आता था। नदी-नाले टूट गये थे और मेघ आकाश और पृथ्वी को एक करने के लिए उन्मत्त थे। ठीक उसी समय एक राजपूत अपनी घोड़ी पर सवार वहाँ से निकला।

उसने अपनी घोड़ी पानी में डाल दी। घोड़ी ख़ूब पानीदार और बढ़िया नस्ल की थी। मगर पानी का बहाव बहुत तेज़ था। सवार और घोड़ी कुछ देर में ही एक भँवर में फँस गये।

राजपूत की सारी मेहनत बेकार साबित हुई और कुछ देर में ही वह रूपेण के अंक में समा गया।

इस राजपूत की मृत्यु के बाद वह सुंदर मार्ग उजाड़ हो गया और यात्री कठिनाइयाँ झेल कर लंबा रास्ता पसंद करने लगे।

चारों ओर के देहातों में यह बात फैल गयी कि इस मार्ग से हो कर कोई मुसाफ़िर सही-सलामत नहीं जा सकता है। अतः इस रम्य मार्ग को छोड़ सब वीरान मार्ग से जाने लगे और यह मार्ग धीरे-धीरे उजाड़ बनता गया।

एक दिन एक चारण, दोपहर की धूप में, पास के गाँव में जाने के लिए इस भयंकर रास्ते से हो कर निकला। गाँव में जा कर वह मार्ग पूछने लगा तो कुछ लोगों ने बिनमाँगी सलाह दी, "भाई! इस रास्ते से हो कर जाना ठीक नहीं क्योंकि इस रास्ते से जाने वाले का सिर धड़ पर नहीं टिका रह पाता।"

"क्यों, ऐसा क्या है वहाँ?"

"पाँच बरस पहले की बात है। रूपेण ने एक राजपूत की भेंट ली थी; तभी से यह रास्ता उजाड़ हो गया है। राजपूत नदी पार कर के अपने ससुर के यहाँ अपनी पत्नी को देखने जा रहा था, पर बीचोबीच डूब गया। तभी से इस मार्ग से गुज़रने वाला कोई ज़िंदा नहीं बचता।"

"देख लेंगे।"—यह कह कर चारण ने घोड़ी को एड़ लगायी। लोग मृत्यु के मुख की ओर दौड़ते मर्ख को देख कर हँसे। चारण ने अपना मार्ग पकड़ा।

शाम होती जा रही थी। पशु-पक्षी आराम करने के लिए अपने-अपने नीड़ों की ओर जा रहे थे। सामने, विस्तृत रूपेण रजत-सागर का दृश्य प्रस्तुत कर रही थी। एक ओर बरगद की शाखाएँ झूल रही थीं और दूसरी ओर शमी-वृक्ष का जंगल खड़ा था। घनघोर घटा छायी थी और कबूतर, तीतर तथा मोर कलरव कर रहे थे। चारण ऐसा सौंदर्य देख 'भले रूपेण! भले रूपेण!' कहता हुआ आगे बढ़ता जा रहा था। बरगद के बिलकुल समीप आ कर उसने जो दृश्य देखा, उसे अपनी आँखों पर ही विश्वास न हुआ।

बरगद के नीचे, कोई तीस-चालीस तेजस्वी राजपूतों की एक सभा जमी हुई थी। सुंदर दरियों पर मोटी और चौड़ी गद्दियाँ बिछी थीं। बीचोबीच रेशमी ग़लीचे पर एक राजपूत बैठा था और सभा के आदमियों के साथ आनंद से बातें कर रहा था। बरगद के इर्द-गिर्द कच्छी और काठियावाड़ी जाति के घोड़े खड़े थे। सभा में रुपहला हुक़्क़ा घूम रहा था। एक ओर पकवान बन रहे थे, दूसरी ओर मिठाई के थाल भरे रखे थे। चारण पल भर आराम करने के लिए घोड़ी से नीचे उतरा और इस जलसे की ओर बढ़ा।

उसे अपनी ओर आता देख राजपूत सरदार ज़रा हँसा। उसने सभा की ओर एक अर्थभरी दृष्टि से देखा और तुरंत ही चारण की आवभगत करने के लिए पच्चीस-तीस आवाज़ें एक साथ गूँज उठीं—"आइए...आ...इ...ए। कहाँ से आ रहे हैं आप?"

चारण बैठा। पर सारी सभा में किसी के भी चेहरे पर उसने मानवीय तेज अनुभव नहीं किया। वह जवाब देते ज़रा हिचकिचाया, पर बरगद के नीचे हिनहिनाते घोड़े देख कर वह निश्चित हो कर सरदार के सामने बैठ गया। सभा में घूमता रुपहला हुक़्क़ा उसके सामने आया और उसने दो-चार कश लगाये। अच्छी तरह अफ़ीम की गोली चढ़ायी। फिर वह इस तरह बातें करने लगा, मानो स्वप्न-लोक में पहुँच गया हो।

"आप देविपुत्र हैं न?" उस राजपूत सरदार ने एकाएक बीच में पूछा, "एक सवाल का उत्तर दीजिएगा?"

चारण उसकी ओर देखता रहा।

"ऐसा है कि ईश्वर ने इतने दिन और इतनी ऋतुएँ गढ़ी हैं, पर एक ऋतु का आनंद दूसरी ऋतु में नहीं मिल पाता है। आप सबसे अच्छी ऋतु किसे मानते हैं ?"

मानो चारण बात समझ गया—"सरदार, ऋतुएँ तो सभी अच्छी हैं, परंतु दीनानाथ ने नर-नारियों के लिए जो जाड़े की ऋतु बनायी है—वह सबसे अच्छी है। बापू! भाँति-भाँति के पकवान खाइए और मीठी धूप से देह सेंकिए। समस्त जीवों के आनंद-मंगल के लिए ही दीनानाथ ने मानो जाड़े की ऋतु बनायी है।"

राजपूत चमकती आँखों से चारण की ओर देखने लगा।

"पर मानव मात्र को जीवन देने वाली वर्षा ऋतु को कैसे भूला जाय ?" उसने फिर से चारण से पूछा। चारण ने सिर हिला—"नहीं, बापू, नहीं। जहाँ-तहाँ मैला पानी बहे, पंक जमे, और बिजली चमके, मवेशी वह जायँ. . .आदमी भी ब. . .ह. . .जा. . .यँ. . .।"

सरदार और सख़्त हुआ। उसकी चमकती आँखों में गहरी वेदना और निराशा नज़र आने लगी। चारण ने देख कर भी अनदेखा करते हुए आगे कहा—"ऐसी वर्षा की ऋतु तो सिर्फ़ किसानों के लिए ही है। बापू, अच्छी ऋतु तो जाड़ा ही है। इसके बाद गर्मी की ऋतु आ सकती है। और वर्षा तो कोई ऋतु है ? यह तो ऋतु नहीं कुऋतु है. . ."

"कमाल किया आपने तो चारण! कमाल किया!" यह कहकर सरदार खड़ा हो गया। चलकर वह चारण के पास आया और उसका हाथ पकड़ कर उसे भी खड़ा किया—"देविपुत्र! मैं राजपूत हूँ. . .।" सरदार बोलने लगा। चारण ने विह्वलता से आजू-बाजू देखा। सभा ग़ायब थी। घोड़ों की हिनहिनाहट बंद थी। सिर्फ़ खुद और सरदार, दो ही जने बरगद के नीचे खड़े थे।

"और भयभीत नहीं होना. . ."

चारण हँसा—"मैं भयभीत होऊँगा ? बोलिए, कहिए सरदार। आपको मुझसे क्या कहना है ?"

सरदार के चेहरे पर आशा की किरणें थिरक उठीं। उसने अधिक ज़ोर से चारण का हाथ दबाया—"पाँच साल पहले ठीक वर्षा ऋतु में मैं राजपूतनी से मिलने निकला था। रूपेण में बाढ़ आ रही थी, और वह भँवर—" उसने वेदना से हाथ उठा कर भँवर की ओर अत्यंत दुखभरी नज़र डाली।

"भँवर में मैं डूब मरा और राजपूतनी से मिलने की इच्छा अंतर में ही रह गयी।" निराशा के पर्वत दाबने का प्रयत्न करता हुआ राजपूत पल भर शांत हो गया—"और देविपुत्र! दो आदमियों के वियोग-सी अधिक दुःखभरी बात और क्या हो सकती है ?"

"हाँ बापू, आप अपनी कहानी निश्चिंत मन से मुझे पूरी-पूरी सुना डालिए।"

"सात-सात जन्म के चक्कर मेरे ऊपर झूल रहे हैं। यदि तुम मेरा एक काम कर सको, तो यह अपगति की देह गति प्राप्त करे। तुम्हें यह तो मालूम ही होगा कि बिना देह की अकेली वासना, अग्नि की ज्वाला की तरह, आत्मा को भी जला कर ख़ाक कर देती है।"

"हाँ।"

“अब तुम रूपेण पार करके पश्चिम की ओर जाओ। दस मील की दूरी पर दाँतासर गाँव है। वहाँ मात्र कुंकुम से ही गढ़ी हो, वैसी मेरी राजपूतनी रहती है। यदि राजपूतनी यहाँ आकर मुझे एक बार अपना दर्शन दे जाय, तो मेरा जी शांत हो सके। तुम्हारे बिना यह काम और कौन कर सकता है?” सरदार की विनीत एवं दुखभरी आवाज़ बंद हुई कि तुरंत ही चारण ने जवाब दिया—“राजपूत, मेरा वचन है कि यदि मैं सच्चा देविपुत्र हूँगा, तो राजपूतनी को एक बार यहाँ अवश्य ले आऊँगा। पर यदि तू सच्चा राजपूत है, तो वचन दे कि इस राजमार्ग पर फिर कभी न आऊँगा।”

“वचन है, मेरा वचन! जाइए, फिर कभी मार्ग पर न आऊँगा। और चारण! मैं वर्षा ऋतु में मरा हूँ, इससे मुझे वर्षा ऋतु ज़हर-सी लगती है। मैं मुसाफ़िरों से कौन सी ऋतु अच्छी है, यह सवाल पूछता हूँ। अप्रत्याशित प्रश्न और भय से आदमी दूसरे-तीसरे दिन मर जाता है। मुसाफ़िर इस तरह मर जाते हैं, इसमें मेरा कोई दोष नहीं है, चारण।”

“अच्छा, तो आज से आठवें दिन राजपूतनी यहाँ आवेगी।”

चारण ने सिर हिलाया और घोड़े की रास पकड़ने के लिए पीछे देखा। पलटा, तो बरगद के पत्ते शब्द कर रहे थे, तीव्र वेदना प्रकट करने के लिए अकेला बरगद अपने पत्तों को आंदोलित कर रहा था।

राजपूत के बताये हुए मार्ग से हो कर चारण दाँतासर आया। वह उस राजपूत के ससुर के यहाँ गया और राजपूतनी से एकांत में मिला।

“राजपूतनी! देखिए, ज़रा पीछे क़दम न हटे, तो एक कठिन काम के लिए मैं यहाँ आया हूँ...।”

काठियानी की बोली ज़रा कटु सी लगती है, पर राजपूतनी की बोली तो उसके शरीर-सी मीठी थी। सुवर्ण-रेख-से दाँत दृष्टिगोचर होते हैं और कान में गठीले गहने शोभित हों—ऐसी राजपूतनी जब बोलती है, तो मानो अमृत झरता है। राजपूतनी ने जवाब दिया—“बोलिए, मुझसे आपको क्या काम रे?”

“बहन, जीते जी तो प्रेम मानव मात्र रखता है, पर यह तो मृत्यु के बाद का प्रेम है।”

राजपूतनी चमक उठी। चारण आगे क्या कहता है, उसे सुनने के लिए आतुर हो उठी।

“राजपूत को स्वर्ग सिधारे कितने बरस बीत गये?”

“पाँच साल।”

“पर बहन, सच ही कहना, मृत्यु के बाद राजपूत स्वप्न में भी कभी दिखायी दिये हैं, तुम्हें?”

“न, कभी नहीं। मानों जाने के बाद प्रीति ही भूल गये लगते हैं।”

“न बहन! सच्चा राजपूत सतियों को कैसे भूल सकता है! अब मैं तुमसे क्या कहूँ? भूला नहीं है, राजपूतनी तुझे वह भूला नहीं है और सुनो बहन! सच्ची राजपूतनी है न तू? भयमीत मत होना...।”

राजपूतनी और सख़्त हुई। चारण काँप उठे, इतनी दृढ़ता से वह बोली—"क्या आप मेरी परीक्षा कर रहे हैं? . . .क्या राजपूत ने भूत हो कर मेरा क्षेम-कुशल पुछवाया है?"

चारण हैरान रह गया। बोला—"राजपूतनी, तूने तो ग़ज़ब कर दिया, तुझे इस बात का कैसे पता चला?"

"पता कैसे चला? रणसंग्राम में न मरे, ऐसा राजपूत भूत ही बनता है। और ऐसे भूत को वासना सहित जड़-मूल से उखाड़ने के लिए ही मैं राजपूतनी होते हुए भी सती नहीं हुई हूं। बोलो, चारण! अब आगे क्या कहना है?"

"राजपूत तुझसे मिलने को आ रहा था, और रास्ते में रूपेण में डूब मरा। यह प्रेम क्या कम कहा जा सकता है?"

"न, न, प्रेम कम नहीं है?" राजपूतनी बोली––"और इससे ही रुपहला और सोने-मढ़ा-सा राजमार्ग राजपूत उजाड़ रहा है न, ठीक है?"

"ठीक बहन, तेरी बात ठीक है। पर मरे हुए के साथ क्या बैर हो सकता है? भूत के साथ हिम्मत किस काम की? राजपूत तो अपनी वासना की तृप्ति होते ही चला जायगा। लो सुनो, राजपूत की वासना है—तुझे देखने की। मुझे दो दिन पहले ही बरगद के नीचे मिला था। सफ़ेद दिन को, केसरी सिंह-सा, कचहरी जमा कर बैठा था। और देखो तो अनेक राजपूतों का दायरा बैठ गया था—मानो मृत्युलोक में फिर न जन्मे हों। और मृझसे वचन ले लिया है कि मुझे एक समय राजपूतनी का दर्शन कराओ। मैंने वचन दे दिया है और तुझे इस वचन को पूरा करना है। साथ-साथ मैंने भी राजपूत से वचन ले लिया है कि दर्शन के बाद कभी मार्ग पर नहीं दिखायी देगा।"

"वचन अवश्य पालूंगी, एक बार नहीं, हज़ार बार। पर मैं तो राजपूतनी हूँ। उन्होंने मुसाफ़िरो को मारा है, और मारने के बाद मानो त्रास दिखाया है। रूपेण के उस घनघोर बरगद को उजाड़ दिया है और सोना-सा राजमार्ग भी उजाड़ दिया है। ऐसा राजपूत मेरा पति हो, तो मैं ऐसे पति को मार डालूं। चलूंगी, मिलने अवश्य चलूंगी। पर चारण! उससे कह देना कि राजपूतनी आती है। तेग़ की धार से फिर शादी करने की हिम्मत उसे हो गयी है. . .।"

"राजपूतनी! उसके साथ तेग़ की धार से कैसे युद्ध हो सकता है? वह मनुष्य-देह थोड़ी है कि क़ब्ज़े में रहे। उड़ जायगी, मानों वायु की तरह चली जायगी। . . ." राजपूतनी यह सुन कर ज़रा अक्खड़ हो गयी, उसकी पतली देह-लता मानो नागिन की भाँति फन फैलाकर खड़ी हो गयी। मर्द का भी कलेजा काँप उठे, उतनी सख़्ती से वह बोली—"राजपूतनी के साथ बातें करता है या किसी और के साथ? . . ."

और जल्दी से दौड़ कर उसने कील पर से नागिन-सी तेग़ ली, नंगी करके म्यान एक ओर फेंक दी—"चलिए, देवपुत्र! आगे बढ़ो। आज उस मार्ग को निर्भय कर देना है।"

बिना बोले चारण आगे बढ़ा और पीछे महिषासुर के नाश के लिए निकली हुई रणचंडी की तरह राजपूतनी चली।

दोपहर के बारह बजे तक राजपूतनी और चारण बरगद के नीचे आ खड़े हुए। बरगद के पत्ते ऐसी ही भयंकरता से हिल कर रव कर रहे थे। निर्बल हृदय का आदमी तो वहाँ मृत्यु की भेंट हो जाय, ऐसी भयंकरता चारों ओर दूर तक फैली हुई थी। चारों ओर कोई मानव, पशु, पंछी दृष्टिगोचर नहीं होता था और ऐसी हृदयद्रावक भयंकरता में चारण और राजपूतनी दोनों ही बरगद के नीचे आ खड़े हुए।

"कहाँ है राजपूत ?" राजपूतनी बोली और इसकी आवाज़ से मानो काँप उठा हो, वैसे, बरगद ने अपने सारे पत्तों को हिला दिया।

"अभी दो पल में ही आये जाते हैं।" कुछ देर तक दोनों के मौन से जगह अधिक भयंकर होने लगी।

एकाएक एक घुड़सवार नज़र आया। राजपूत अपनी रौबीली घोड़ी लेकर चला आ रहा था।

चारण ने विह्वलता से राजपूतनी की ओर देखा। राजपूतनी के चेहरे पर भय का नामोनिशान तक न था। उसने अपनी तलवार ज़्यादा ज़ोर से पकड़ ली और चारण से कहा—"देखिए, मर्द हो न ?" कुछ देर में घुड़सवार बिलकुल नज़दीक आ गया। अट्ठाईस-उन्तीस वर्ष का रुपहला राजपूत नज़र आया।

"बस, यहीं आने दो।"

"देखिए, जोगमाया। वार मत करें।"

राजपूत नज़दीक आया। उसका रुपहला चेहरा दृष्टिगोचर हुआ। वह राजपूतनी की ओर देखता रहा और राजपूतनी उसकी ओर देखती रही।

"पहचानती हो या भूल गयीं ?"

"हाँ, हाँ", राजपूतनी ने जवाब दिया—"पहचानती क्यों नहीं। जिसने स्त्री से मिलने के लिए निर्दोष मुसाफ़िरों को मारा, राजमार्ग उजाड़ा और भिखारी की तरह चारण की याचना की और..."

"हैं, हैं, बहन !" चारण ने राजपूतनी को डाँटा। राजपूत निस्तेज हो गया, उसके हाथ से घोड़े की रास सरकने लगी। उसने अत्यंत दुखभरी नज़र से राजपूतनी की ओर देखा—"रा...ज...पू...त...नी।"

"मेरे गाँव के मेरे आश्रित आदमियों को मारा। इसका क्या जवाब है ?"

"मैंने ? मैंने नहीं मारे, राजपूतनी।"

"सच्चा राजपूत है, तो होशियार हो जा।"

चारण काँपने लगा। जैसे भयंकर बिजली गिरे, वैसे राजपूतनी के हाथ की तलवार चमक उठी और उसने अत्यंत ज़ोर से राजपूत के ऊपर तलवार का वार किया।

"यह क्या ग़ज़ब किया आपने।" कह कर चारण बीच में कूदा। पर राजपूत वहाँ नहीं था और राजपूतनी की तलवार का वार ख़ाली गया था। तलवार के वार से उड़ी हुई थोड़ी धूल ही दृष्टिगोचर हुई।

"अनिष्ट हो गया, बापू ?"

"हर्ज़ नहीं देविपुत्र ! तूने तो अपना वचन निभा दिया।" हवा में ख़ाली शब्द ही सुनायी दिये।

राजपूतनी ने जल्दी से पीछे देखा। राजपूत नदी की ओर अपना घोड़ा ले जा रहा था। राजपूतनी खुली तलवार ले कर उसके पीछे दौड़ी और उसे रोकने की कोशिश करता हुआ चारण भी उसके पीछे दौड़ा।

रूपेण का स्वच्छ नीर बहता चला जा रहा था। राजपूत घोड़े सहित रूपेण के तट पर जा पहुँचा। राजपूतनी भी पीछे चली।

"राजपूत हो तो खड़ा रह।" राजपूतनी ने आवाज़ दी। यह सुन कर राजपूत स्थिर हो गया।

राजपूतनी बिलकुल नज़दीक आयी। पर वहाँ कोई न था. . .मगर राजपूतनी का वस्त्र पानी में खिंचने लगा। राजपूतनी का घाघरा भीग गया था और उससे पानी चूने लगा। राजपूतनी ने नीचे देखा। वहाँ, पानी में अत्यंत वेदनाभरा, राजपूत का चेहरा, दो तृषित हाथों से घाघरे का पानी, विह्वलता से पी रहा था. . .घुटुक. . .घटक. . .घुटुक. . .।

राजपूतनी देखती रही। राजपूत ने उसकी ओर देखा। पर अहा ! कितनी वेदना! कैसा दुख ! कैसी निराशा ! कितनी तृष्णा ! राजपूतनी ने अत्यंत माया भरे शब्दों में पूछा—"राजपूत, यह क्या ?"

"बस, अब अति तृप्ति हो गयी। अब तलवार चलाओ, ख़ुशी से, राजपूतनी। इस दूसरी मृत्यु का और मज़ा आयेगा।"

राजपूतनी के हाथ की तलवार झुक गयी। उसने नीचे झुक कर राजपूत का हाथ पकड़ लिया। राजपूत ने एकदम अपना हाथ छुड़ा लिया। राजपूतनी ने फिर से हाथ पकड़ा—"अब कहाँ जाते हो ?"

राजपूत ने रूपेण में दूर नज़र फेंकी। एक जगह पर पानी गहरा था। वहाँ उसकी नज़र स्थिर हो गयी।

"अब तुम्हें नहीं जाने दूँगी।" राजपूतनी ने यह कह कर तलवार को पानी में फेंक दिया और राजपूत का दूसरा हाथ भी ज़ोर से पकड़ लिया।

मगर राजपूतनी के हाथ में तो पानी ही था। राजपूत का चेहरा नदी में थोड़ी दूर पर दिखायी दिया। राजपूतनी आगे बढ़ी। हाथ उठा कर राजपूतनी को आगे बढ़ने के लिए उत्तेजित करता राजपूत फिर थोड़ी दूर पर दिखायी दिया। राजपूतनी फिर आगे बढ़ी, पर राजपूत अभी दूर ही था।

चारण ने तट पर से आवाज़ें दीं—"राजपूतनी। लौट आइए। अब पानी गहरा है। वह तो उड़ गया है। आप लौट आइए।"

मुँह मटका कर राजपूतनी मिठास से बोली—"जाइए, जाइए, देविपुत्र! अब सुख-पूर्वक घर लौट जाइए। मुझे तो इस दुखी राजपूत का घर फिर से बसाना है...जा...इ...ए ए...ए...।"

—अनु० : ज्योति देसाई,
द्वारा, श्री रामचंद्र एन० देसाई,
खडकी स्ट्रीट, देलाड़वा (गुजरात),
(वाया सूरत, टी० वी० रेलवे)।

• अणिमा •

हज़ारों में से कुछ पत्रों के अंश

'अणिमा' का प्रवेशांक कल ही मिला और कल रात ही मैं कई घंटों तक उसे देखता रहा। पत्रिका खूब सुंदर निकली है? नवलेखन के युवक-युवतियाँ कमाल कर रहे हैं। तुम्हें बधाई कि इतने तेजस्वी लोग तुम पर मेहरबान हैं—**रामधारी सिंह दिनकर, भागलपुर** ● **'अणिमा'** आद्योपांत पढ़ गया हूँ। उषा प्रियम्वदा की 'टूटे हुए' शीर्षक कहानी अलस रसावेश में लिखी गयी एक लंबी 'अकहानी' है, लगता है जैसे जाड़े के दिनों की एक उदास दुपहरी में हरी घास पर लेटे-लेटे कल्पना के थके पंखों के सहारे अकहानी को धीरे-धीरे आगे बढ़ाया जा रहा हो। शिल्प में भीनी-भीनी मादकता है और शैली में मटमैले, हलके-से कुहरे से ढकी धूप की उदासी।...कुल मिला कर 'अणिमा' के इस अंक में काफ़ी ताज़ा और अछूती पठनीय सामग्री प्राप्त हुई।—**इलाचन्द्र जोशी, इलाहाबाद** ● सुरुचिपूर्ण प्रकाशन और दृष्टियुक्त सम्पादन के लिए बधाइयाँ। आशा है 'अणिमा' का सम्पादन तुम्हें ज्ञानोदय-काल से अधिक कीर्ति प्रदान करेगा।—**डॉ० नामवर सिंह, वाराणसी** ● इस सुंदर प्रकाशन के लिए आपको जितनी भी बधाई दी जाय, कम है। 'अणिमा' वास्तव में उस अभाव की पूर्ति करती है जो इतनी हिंदी कथा-पत्रिकाओं के प्रकाशन के बावजूद इस क्षेत्र में अभी तक बना ही हुआ था।...'अणिमा' की जिससे भी चर्चा हुई, उसने जी भर कर सराहना ही की। —**वैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा, इलाहाबाद** ● **'अणिमा'** ने कल रात की खामोशी में वस्ल की राहत दी है।...'अणिमा' आधुनिक हिंदी लेखन की एक विशिष्ट उपलब्धि है। अंक बेहद खूबसूरत है। बहुत-बहुत बधाई।—**राजकमल चौधरी, पटना** ● पत्रिका पढ़ कर सभी सैनिक साथी प्रसन्न हैं। मैं सबकी ओर से शुभकामनाएँ प्रेषित कर रहा हूँ।—**रामनरेश सिंह भदौरिया, मिलिटरी कैम्प, अहमदाबाद।**

● और अब, प्रथमांक की इस अभूतपूर्व सफलता के बाद 'अणिमा' का दूसरा अंक प्रकाशित हो गया है जो प्रवेशांक से भी एक क़दम आगे है। पृष्ठ वही २००। मूल्य एक प्रति २०० पैसे। वार्षिक ८०० पैसे। आजीवन १०१) रुपये। 'अणिमा' हर पुस्तकालय, स्कूल, कालेज और साहित्य-प्रेमी पाठक के लिए एक अनिवार्य पत्रिका है। ग्राहक बनने के लिए आज ही संपर्क करें:

अणिमा कार्यालय, ४१ ए, ताराचन्द दत्त स्ट्रीट, कलकत्ता—१
फ़ोन : ३४-३३०५, ३४-६४०४

रवींद्रनाथ त्यागी

हास्य-व्यंग्य

महा मानव-समुद्र यह देश

रवींद्रनाथ ठाकुर ने एक स्थान पर इस देश को मानव-समुद्र कहा है। यह बात उन्होंने लगभग ५० वर्ष पूर्व कही होगी; यदि वे आज जीवित होते तो निःसंदेह समुद्र के स्थान पर महासागर शब्द का सार्थक प्रयोग करते। पिछले वर्षों में जितनी मात्रा में हमारी जनसंख्या में वृद्धि हुई है उतनी किसी और वस्तु के उत्पादन में नहीं। विशेषज्ञों का कहना है कि यदि जनसंख्या में वृद्धि इसी दर पर चलती रही तो देश का भविष्य अंधकारपूर्ण है। इन दिनों तो सरकारी स्तर पर भी यह स्वीकार किया जाने लगा है कि हमारी सबसे बड़ी समस्याओं में जनसंख्या की समस्या सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

जनसंख्या की समस्या का क्रमवद्ध अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और इसके मूल कारणों पर भी मौलिक ढंग से विचार किया जाय। इस संदर्भ में देश और विदेश दोनों में सरकारी और ग़ैर-सरकारी ढंग पर काफ़ी विचार हो चुका है और कुछ ऐसे मत निश्चित हो गये हैं जो सर्वमान्य हैं। पहला मत तो यह है कि कम से कम जहाँ तक इस देश का प्रश्न है, जनसंख्या बढ़ने का प्रमुख कारण बच्चों का अधिक मात्रा में उत्पादन है। हमारे यहाँ यह धंधा घरेलू उद्योग-धंधों की तरह संगठित है और अभी तक इसके राष्ट्रीयकरण की माँग किसी भी राजनीतिक पार्टी द्वारा नहीं उठायी गयी है। इसके अतिरिक्त, यह भी निश्चित है कि जहाँ मृत्यु की प्रणालियाँ अनेक और विभिन्न प्रकार की हैं, बच्चों को पैदा करने के सिलसिले में केवल एक ही प्रणाली का प्रयोग किया जाता है, जो काफ़ी परंपरागत और दक़ियानूसी है। यह प्रणाली हमारे देश में कब से चली आ रही है, इस पर तो अभी शायद पर्याप्त खोज नहीं की गयी है, पर विशेषज्ञों का कहना है कि ईसा के जन्म से पूर्व ही यह प्रणाली हमारे यहाँ विकसित हो गयी थी। कुछ विद्वानों का तो मत यहाँ तक है कि अन्य देशों में भी यह प्रणाली हमारे यहाँ से ही पहुँची।

हमारे देश में बच्चे सभी मौसमों में पैदा होते हैं। आँधी-पानी, स्थानीय जलवायु इत्यादि भौगोलिक कारणों से इनकी फ़सल पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता दीखता। बच्चे आम तौर पर शादी के बाद होने शुरू होते हैं। पति या पत्नी में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर किसी-किसी स्थिति में बच्चे पैदा होने पर काफ़ी प्रभाव पड़ता देखा गया है। अमरीका जैसे तरक़्क़ीपसंद और प्रगतिशील देशों में शादी के बाद बच्चा पैदा होने तक की अवधि में भारी कमी की

गयी है पर हम अभी तक इस दिशा में भी और चीज़ों की तरह ही पिछड़े हुए हैं। हाँ, अलबत्ता बिना माता-पिता के संतान होने की परंपरा हमारे यहाँ अभी भी पायी जाती है। ऐसे बच्चे रेल के डिब्बों और महापालिका के शौचगृहों में अक्सर पाये जाते हैं। बाद में इनका क्या होता है, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता पर फिर भी समाजशास्त्रियों का मत है कि जो चोर, गिरहकट, बदमाश इत्यादि पाये जाते हैं और जिनके कारण समाज की कितनी ही आवश्यकताएँ पूरी होती हैं, वे इसी प्रकार के बच्चों में से बनते हैं। समाजशास्त्रियों का एक मत यह भी है कि बच्चे ग़रीब लोगों के यहाँ ज़्यादा पाये जाते हैं क्योंकि उनके पास मनोरंजन का और कोई साधन नहीं है। ख़ैर, चाहे अमीर हो या ग़रीब, बच्चे होते हर जगह बिना अपनी मर्ज़ी के हैं और इस कारण उनके जन्म की वर्तमान व्यवस्था सामंतवादी और प्रजातंत्र के सिद्धांतों के नितांत विपरीत है।

जैसा मैंने ऊपर बताया, जनसंख्या पर प्रभाव डालने वाली दूसरी महत्वपूर्ण वस्तु है मृत्यु की दर। जन्म की प्रणाली के विपरीत मृत्यु की प्रणालियाँ एक न हो कर अनेक और विभिन्न प्रकार की होती हैं। मोटे तौर पर यह भी कहा जा सकता है कि इस दिशा में प्रत्येक देश एक नयी प्रणाली का अनुसरण करता है जो उसकी सभ्यता तथा संस्कृति के अनुकूल होती है। अमरीका इत्यादि सभ्य तथा पाश्चात्य देशों में प्राय: जनता तेज़ चलती मोटरों के नीचे आ कर मरना पसंद करती है। हज़ारों-लाखों लोग कभी-कभी बंदूकों और बमों इत्यादि द्वारा सामूहिक निर्वाण की प्राप्ति कर पारस्परिक प्रेम और सौहार्द का अंतिम परिचय देते हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक ढंग से मरने पर जनता को कष्ट नहीं होता है और इसी कारण इस प्रकार के युद्धों का प्रबंध जनता स्वयं कर दे कर सरकार से कराती है। हमारे जैसे पिछड़े हुए देशों में अभी तक लोग भूख और बीमारियों की दक़ियानूसी प्रणालियों द्वारा काफ़ी दिनों तक तिल-तिल कष्ट उठा कर मरते हैं। इन्हीं कारणों से हमारे जैसे देशों को पिछड़ा हुआ भी कहा जाता है।

उपर्युक्त बातों से यह प्रकट हो जाता है कि जनसंख्या कम करने के दो ही प्रमुख साधन हैं : एक तो है परिवार-नियोजन और दूसरा है मृत्यु की दर में वृद्धि करना और उस दिशा में वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करना। जहाँ तक परिवार-नियोजन का प्रश्न है, इस पर मतभेद है। अभी तक किसी भी ऐसी निश्चित प्रणाली का आविष्कार नहीं हो पाया है जो कभी भी असफल न हो। यहाँ तक कि कभी-कभी पति-पत्नी के सालों एक दूसरे से अलग रहने पर भी संतान के उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि जैसा गीता में लिखा है—मनुष्य का अधिकार तो कर्मों पर है, न कि फल पर। हालाँकि, पशु-पक्षी और जानवर इस विषय में कुछ प्राकृतिक नियमों का पालन करते हैं और उनके बच्चे किसी विशेष मौसम में साल में एक या दो बार ही निश्चित संख्या में उत्पन्न होते हैं, पर क्योंकि मनुष्य जानवर से आगे है, वह अपने को इस प्रकार बाँध नहीं सकता। स्टुअर्ट मिल और लास्की के अनुसार सामाजिक तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता का प्रारंभ और अंत व्यक्तिगत स्वतंत्रता में ही निहित है। वैसे भी, संतान के लिए विवाह करने की परंपरा हमारे यहाँ बहुत पुरानी है। कालिदास के अनुसार इक्ष्वाकु वंश के राजा लोग केवल संतान के लिए ही विवाह करते थे। दशरथ ने इसी सिलसिले में तीन शादियाँ की थीं। महा-

भारत-काल में तो अधिक संतान होना शायद गौरवपूर्ण माना जाता था; अकेले धृतराष्ट्र के ही सौ पुत्र थे। पांडवों की लगातार हार का एक कारण यह भी रहा होगा कि वे संख्या में कम थे। यह भी निश्चित है कि यदि महाभारत में इतने लड़ने वाले न होते तो शायद इतना भयंकर संग्राम न होता और उस स्थिति में महाभारत जैसे विशाल महाकाव्य के स्थान पर वेदव्यास भी मैथ्यू आर्नल्ड के 'सोहराब और रुस्तम' जैसा खंडकाव्य ही लिख पाते।

कहने का यह अर्थ नहीं कि आज की आर्थिक स्थितियों में परिवार-नियोजन ग़ैर-ज़रूरी या एकदम अव्यावहारिक है। हाँ, अलबत्ता इस दिशा में प्रयत्न हमें बदलने होंगे। माल्थस के मूल सिद्धांतों से मुझे क़तई मतभेद नहीं, पर इस दिशा में क़दम हमें काफ़ी दूरदर्शिता के साथ उठाने होंगे। यह भी ध्यान में रखना होगा कि परिवार-नियोजन केवल पढ़े-लिखे या ऊँचे दर्जे के लोग ही न करें, क्योंकि उसका परिणाम यह होगा कि देश में पढ़े-लिखे, शालीन और संभ्रांत व्यक्ति और भी कम हो जायँगे और मूर्खों का संप्रदाय अधिक तरक़्क़ी करेगा। मेरी राय में सरकार को इस दिशा में दुतरफ़ा प्रयत्न करने होंगे। एक ओर तो वह अमीर लोगों पर बच्चा होने पर कर लगाये और दूसरी तरफ़ ग़रीब लोगों को बच्चा न होने पर इनाम या तक़ावी दे। अमीर लोगों के बच्चे कर लगने पर भी बराबर होते रहेंगे क्योंकि एक तो वे लोग कर देने में समर्थ हैं; दूसरे वे कर देने से हमेशा बच भी सकते हैं। उनके लिए एक तालिका निर्धारित की जा सकती है जिसमें बताया जाय कि विभिन्न आयु तथा व्यवसाय के लोगों को प्रति बच्चा कितना कर देना पड़ेगा। ग़रीब लोगों के लिए एक और तालिका निश्चित करनी पड़ेगी जिसमें यह स्वीकार किया जायगा कि इतने वर्षों में साधारण आयु और स्वास्थ्य के लोग कितने बच्चे पैदा कर सकते थे और वैसा न करने पर वे कितने इनाम के हक़दार हैं। इसके अतिरिक्त, ग़रीब लोगों के मनोरंजन के साधनों में भी विकास करना पड़ेगा। यह एकदम निश्चित है कि ग़रीब आदमी अपने ही बीवी-बच्चों से मनोरंजन करता है जब कि अमीर व्यक्ति अक्सर दूसरे के बीवी-बच्चों से। यदि अमीर लोग न हों तो विधवाश्रम, नारी-निकेतन, कन्या-पाठशाला, संगीतशाला और अनाथालय कैसे चलें और उनमें कौन दिलचस्पी ले?

परिवार-नियोजन के साथ-साथ मृत्यु की दर बढ़ाने पर भी हम लोगों को पूरा ध्यान देना पड़ेगा। सरकार की यह नीति ग़लत है कि एक ओर तो वह जनसंख्या घटाने की बात करती है और दूसरी ओर बीमारियाँ कम करने की भी कोशिश करती है। मृत्यु की दर किसी हद तक बढ़ाने में रेलवे का महकमा सरकार को थोड़ा-बहुत सहयोग देना चाहता था पर वहाँ भी दुर्घटना-जाँच-समिति के कारण उनके ईमानदार प्रयत्नों का समुचित स्वागत नहीं किया गया। गाँवों में पंचायत-राज आने से थोड़ी-बहुत मदद इस दिशा में मिली हैं, पर राष्ट्र की वर्तमान स्थिति में वह नाकाफ़ी है क्योंकि सरपंच वग़ैरह के चुनाव में चार-पाँच आदमियों से ज्यादा की जान कभी नहीं जाती। दंड-विधान से मृत्यु-दंड का हटाना शायद सही क़दम साबित हो और फिर शायद ग्रामीण जनता इस पवित्र आंदोलन में और भी सक्रिय सहयोग दे। पर फिर भी इस विषय में और भी ज़िम्मेदार क़दमों की अपेक्षा है। यह खेद की बात है कि इस बीसवीं शती में जहाँ और देश कहीं के कहीं पहुँच गये और जहाँ उन्होंने आणविक शक्ति का भी इस पुनीत कार्य में प्रयोग कर लि

वहाँ हम अपने पुराने घिसे-पिटे ढंग ही इस्तेमाल करते चले जा रहे हैं। देश की स्थिति इस समय ऐसी नहीं रह गयी है कि हम उसे गाँव के डॉक्टरों, बूढ़ी दाइयों और इक्की-दुक्की वारदातों पर ही छोड़ दें। इस दिशा में हम सभी को और अधिक स्वस्थ क़दम उठाने होंगे। देश के निवासियों का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि जीवन के मोह में देश की स्थिति को न भूलें। यदि देश इस समय त्याग और बलिदान माँगता है तो उन्हें देना चाहिए। ऊपर बतायी स्थिति को ध्यान में रखते हुए, सड़क पर आती बस के सामने से हटना कायरता ही कही जायगी।

यद्यपि मैं व्यक्तिगत रूप से परिवार-नियोजन तथा मृत्यु-दर में वृद्धि करने के पूरे पक्ष में हूँ पर फिर भी इस दिशा में अब तक जो उदासीनता बरती गयी है, उससे मैं असंतुष्ट नहीं हूँ ! यदि कहीं सरकार इन क़दमों को तीस साल पहले ही उठाने लगती तो लेखक (और पाठकों में से भी कुछ) इस दुनिया में न होते।

—सहायक वित्तीय परामर्शदाता,
वित्त मंत्रालय (प्रतिरक्षा),
सचिवालय, नयी दिल्ली।

●

महिलोपयोगी एकमात्र उत्कृष्ट मासिक

शृङ्गार

प्रबंध सम्पादक : देवेंद्र अग्रवाल

संपादिका : लावण्य प्रभा

- विचारपूर्ण व उपयोगी लेख
- महिलोपयोगी रुचिकर सामग्री
- रोचक मनोवैज्ञानिक कहानियाँ
- कविताएँ तथा सुंदर गीत
- महिलाओं के इंटरव्यू
- गृह-सज्जा, प्रसाधन-समस्याएं, विचार-मंच आदि अनेक रोचक स्थायी स्तम्भ

१३।३७, शक्तिनगर,
दिल्ली-७
फ़ोन : २२७३००

मूल्य : वार्षिक : ५ रु०
मासिक : ५० पै०

विवेचना

शिवप्रसाद सिंह

निर्मल वर्मा की कथाकृतियाँ

'जलती झाड़ी' और 'वे दिन'

निर्मल वर्मा की दो कथाकृतियाँ : (१) जलती झाड़ी। राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। सन १९६४। मूल्य : ४.००। (२) वे दिन। राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। सन १९६४। मूल्य : ५.५०।

निर्मल आधुनिक कथा-साहित्य का काफ़ी चर्चित नाम है। नये लेखकों में वे शायद अकेले लेखक हैं, जिन्हें समान रूप से कवि-कथाकारों और पाठकों की भी, प्रशंसा प्राप्त है। सन '६० के बाद की नव-'नयी कविता' के अनेक कवि अपने को निकटतम पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा कहानीकार निर्मल वर्मा के साथ जोड़ना उचित समझते हैं। उनकी दो कृतियाँ हमारे सामने हैं। उपन्यास 'वे दिन' और नया कहानी-संग्रह 'जलती झाड़ी'।

'जलती झाड़ी' संग्रह की दस कहानियों में क़रीब सात कहानियाँ भाव, वस्तु और परिवेश की दृष्टि से 'वे दिन' उपन्यास की खुरचन मालूम होती हैं। 'माया-दर्पण' और 'दहलीज', 'कुत्ते की मौत' इस घेरे से बाहर प्रतीत होती हैं।

निर्मल वर्मा का पूरा कथा-साहित्य स्मृति-सर्जन का साहित्य है, अर्थात उनकी अधिकांश कहानियाँ और उपन्यास भी, पिछले दिनों की स्मृतियों पर आधारित हैं। 'वे दिन' तो अब बीत गये हैं, पर एक आवाज़ पीछे छूट गयी है और दरवाज़े पर पड़ने वाली अनजान दस्तकें तक, 'मैं' (जो लेखक का ही एक भावात्मक समीकरण है) **को बेचैन कर देती हैं। उसका दिल धड़कने लगता है और उसके कानों में अधीर, आग्रहपूर्ण, आँसुओं से भीगी एक आवाज़ गूँज उठती है—'सच बताओ, क्या तुम बिल्कुल विश्वास नहीं करते?'** स्मृतियों का यह दंश लेखक की सर्जनात्मक

शक्ति का मूल प्रेरणा-स्रोत है। निर्मल ने अपने यात्रा-संस्मरण 'चीड़ों पर चाँदनी' की भूमिका में लिखा है—**अरसे के बाद अपने इन स्मृति-खंडों को दोबारा पढ़ते समय मुझे एक अजीब सा सूनापन अनुभव होता रहा है, कुछ वैसा ही रीता अनुभव, जब हम किसी जिंदा फड़फड़ाते पक्षी को क्षण भर पकड़ कर छोड़ देते हैं, उसकी देह हमसे अलग हो जाती है, लेकिन देर तक हथेलियों में उसकी धड़कन महसूस होती रहती है। एक दूरी का अभाव जो सफ़री सूटकेस पर विभिन्न देशों के लेब्लों पर लटका रहता है, उन्हें न रख पाने का मोह रह जाता है, न फेंक पाने की निर्ममता ही जुड़ पाती है।**

'सफ़री सूटकेस' से प्राप्त साहित्यिक तोहफ़ों पर भी अनेक देशों के लेब्ल लगे हैं। परिणामतः दस कहानियों में से क़रीब पाँच कहानियों और पूरे उपन्यास की कथाभूमि विदेशी है। **उन सूनी, कभी न ख़त्म होने वाली शामों में हम उन अनजाने देशों के बारे में सोचा करते थे, जो हमेशा दूसरों के लिए हैं, जहाँ हमारी पहुँच कभी नहीं होगी। तब कभी कल्पना भी नहीं की थी कि एक दिन अचानक अपने छोटे से कमरे, ग्रामोफोन, काग़ज़-पत्रों को छोड़ कर बरसों 'सात समुद्र पार' रहना होगा।** ('चीड़ों पर चाँदनी' की भूमिका) हिंदी पाठकों में से अधिकांश के लिए ऐसी यात्राएँ आज भी अकल्पनीय ही हैं। इसीलिए उनके लिए निर्मल के कथा-साहित्य में आकर्षण दोहरा मालूम होता है। यात्रा-वर्णन और कहानी का यहाँ एकत्र सम्मिलन ही है। दोनों ही पुस्तकों के फ़्लैप पर लेखक के बारे में लिखा है——**इस बीच वामपंथी विचारधाराओं से अधिक प्रभावित हुए। तीन वर्ष प्राग में रह कर आधुनिक चेक साहित्य पर शोध-कार्य। यूरोप के अन्य देशों की लंबी यात्राएँ, प्राग से आइसलैंड तक।** 'चीड़ों पर चाँदनी' यात्रा-वर्णन पढ़ने वाले पाठक निर्मल के व्यक्तित्व को काफ़ी स्पष्ट ढंग से समझ भी चुके हैं। एक सैलानी युवक का व्यक्तित्व जिसने ब्रेख़्त के उदास नगर को देखा है, रोती हुई मर्मेड के शहर में रातें गुज़ारी हैं, पेरिस का निष्प्राण जीवन (स्टिल लाइफ़) देखा है। ये यात्राएँ उन्होंने मात्र यात्री की तरह नहीं, बल्कि आधुनिक भावबोध से युक्त वामपंथी विचारधारा से प्रभावित एक सचेत साहित्यकार की तरह संपन्न की हैं। इसी कारण जब वे जर्मनी से गुज़रते हैं तो उनकी मानसिक आँखों के आगे एक मृत पीढ़ी का अतीत कौंधता है, और उन्हें लगता है कि **जो समय सबके लिए बीत गया है, वह उनके लिए अभी तक जीवित है प्रतीक्षारत, और जब तक उसे अन्य प्राणियों की तरह वे भोग नहीं लेते, वह 'उनसे' छूटेगा नहीं।** ('चीड़ों पर चाँदनी', पृ० ७) शीतयुद्ध, विसंयोधी शिविर और ब्रेख़्त जैसे लेखक का विरोधाभास, नाइट-क्लबों, चंडूख़ानों, शराबख़ानों, सिनेमा-हाउसों, गलियों, सड़कों में सर्वत्र-सर्वदा एक अनजाना 'भय' और 'आतंक' उनकी आत्मा में 'बनैले जानवर की तरह फुफकार' उठता है। टूरिस्ट बस के जर्मन मार्गदर्शक से वे उलझ पड़ते हैं और उसके अहमक़पने पर सोचते हैं—**कौन सी सीमा पर जाकर कम्युनिज्म का विरोध फ़ासिज्म का चेहरा अपना लेता है, मुझे नहीं मालूम।** ('चीड़ों पर चाँदनी', पृ० २१) उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय युवक-समारोहों में भाग लिया है और एलिस की आँखों में डैन्यूब का नीला रंग देखा है।

निर्मल वर्मा के इस व्यक्तित्व से परिचित होने के कारण जब मैंने 'वे दिन' उपन्यास के

फ़्लैप पर पढ़ा कि **हर पात्र का अपना अतीत है, जो योरप की युद्धोत्तर पीढ़ी की अभिशप्त छाया से जुड़ा है और उपन्यास के विभिन्न पात्रों को जोड़नेवाली एक रहस्यमय नियति भी है, जो छोटी से छोटी घटना को अर्थवत्ता प्रदान करती है**, तो मुझे सहज ही विश्वास हुआ कि युद्धोत्तर योरप के जीवन का एक सीधा संवेदनात्मक परिचय तो मिलेगा ही, साथ ही उस 'रहस्यमय नियति' के बारे में भी कुछ स्पष्ट अवबोध होगा, जिसका ज़िक्र निर्मल वर्मा की हर कहानी, यात्रा-वर्णन या रेखाचित्र में होता रहता है।

'वे दिन' का वाचक 'मैं' (जिसे कामू के शब्दों को उधार ले कर कह सकता हूँ कि निर्मल वर्मा हैं भी और नहीं भी हैं। हैं इसलिए कि वह उनके ख़ून-मांस का ही समीकरण है और नहीं हैं इसलिए कि वह कोई भी यूरोप-प्रवासी भारतीय हो सकता है), एक दिन टूरिस्ट एजेंसी में बुलाया जाता है, जहाँ उसका मुख्य अधिकारी उसे आस्ट्रिया से आये कुछ जर्मन यात्रियों के लिए, जो थोड़ी अंग्रेज़ी भी जानते हैं, एक दुभाषिये की आवश्यकता बता कर उसे यह काम सौंपना चाहता है। स्पष्ट ही इस हिंदुस्तानी विद्यार्थी को यह काम एक छोटी आर्थिक सहायता के रूप में वह देना चाहता है। कुछ अग्रिम पैसे भी मिलते हैं। **उस रात वह 'पेलिकान' में देर तक बैठा रहा। वोद्का पी।'** छात्रावास के चौकीदार पीटर को देर से आने की खीझ से बचने के लिए तीन क्राउन दिये। पीटर ने दो पत्र दिये, एक बहन का, जिसे देख कर उसकी उत्सुकता भर गयी। थानथुन, बर्मी छात्र जिसे टी० टी० कहा जाता है, फ्रांज़ पेटर, और उसकी 'लड़की' यानी 'गर्ल फ़्रेंड' मारिया——ये तीन पात्र और हैं, जो इस उपन्यास में गाहे-बेगाहे आते रहते हैं——मुख्य कथा होटल योरुपा की दूसरी मंज़िल क० न० ११, में अपने लघुवयस पुत्र मीता के साथ ठहरी रायना, रैमान और कथा-'वाचक' 'मैं' के साथ चलती रहती है। कथा कुल ढाई दिन की है। 'मैं' रायना को प्राग घुमाता है, वहाँ के सभी दर्शनीय स्थान और चीज़ें दिखलाता है। बीच-बीच में फ़ुर्सत पा कर वह अपने तीनों मित्रों की भी खोज-खबर भी लेता रहता है। **मारिया को अंग्रेज़ी नहीं आती थी, फ्रांज़ को चेक। मुझे और टी० टी० को जर्मन। और कभी-कभी हम जल्दी में बोलते हुए हड़बड़ा जाते थे कि किसके साथ हमें किस भाषा में बोलना चाहिए।** फ्रांज़ प्राग से बाहर जाने के लिए अनुवेश-पत्र चाहता है। फ्रांज़ जर्मन है। मारिया उसके साथ तभी जा सकती है, जब वह उसकी पत्नी हो। पर फ्रांज़ अनुवेश-पत्र के लिए नहीं, अपनी इच्छा और अवसर पर ही मारिया से विवाह कर सकता था। मारिया भी यह जानती है, फ्रांज़ और टी० टी० तथा 'मैं' भी। इसलिए कोई कुछ कर नहीं सकता।

रायना पहले भी प्राग आ चुकी है, पर सब कुछ भूल गयी है। उसे दो ही चीज़ें याद हैं कासल के पास का 'सेंट वाइट्स' और यहूदियों का पुराना क़ब्रिस्तान। सेंट वाइट्स इसलिए याद है कि रायना अपने पति जॉक के साथ वहाँ तक रुकी थी, जब वे 'गाथिक' स्थापत्य पर किताब लिख रहे थे। अब जॉक से उसका संबंध टूट चुका है। मीता को पति-पत्नी बाँट लेते हैं, कभी वह माँ के साथ रहता है, कभी बाप के साथ। रायना को कहीं बँध कर एक शहर में रहना पसंद नहीं। यहूदी क़ब्रिस्तान इसलिए याद है कि वह नाज़ी अत्याचारियों की हल्की याद दिला जाती है।

प्राग की गलियाँ, पतझड़ के दृश्य, क्रिसमस की ख़ुशी और इन सभी को लपेट लेने वाले दृश्यों के बीच एक ख़ूबसूरत सैलानी औरत की ज़िंदगी ज़ीने की अथक तमन्ना, कोन्याक, वोद्का,

शेरी, चियांती तथा वियर के दौर, नाच, रातें, शाम, कुहरा, चाँदनी और. . .'मैं'. . .कहता गया—**'मेरे होंठ इस बार उसके मुँह पर आये आधे वाक्य पर जम गये। उसका उठा मुँह निर्वाक सा उठा रहा, कुछ देर तक मैं साँस नहीं ले सका. . .मीता आता होगा।' उसने कहा।**

"मैं कुछ देर पहले रोमांटिक मूड में दूरस्थ नदी की आवाज़ का बखान कर रहा था, तो वह उसका मज़ाक उड़ा रही थी और अब जब ख़ुद बहुत प्यासी थी, तो उसने शरारत से मुस्कराते हुए कहा—**'सुनो वह वहाँ है, कौन? वह नदी, डार्क एंड डीप।'**

और फिर दूसरे दिन रात को रायना मीता को अकेला छोड़ कर जैसा वह अक्सर करती थी, 'मैं' के साथ छात्र.वास आयी। छात्रावास के उस कमरे में वह काफ़ी खुल सी गयी। उसने जाँक से अपने अलगाव का कारण बताया——**उसे लगता कि जाँक के साथ घर में रहना कान्सन्ट्रेशन कैंप में रहने की तरह है. . .इसलिए वह उससे बाहर आ गयी।**

और उस कमरे में उस रात दोनों ही सहसा अकेले हो गये थे। **अकेलापन जो दुख, पीड़ा और आँसुओं से बाहर है, जो सहज जीने के नंगे बनैले आतंक से जुड़ा है——जिसे कोई दूसरा व्यक्ति निचोड़ कर बहा नहीं सकता।**

उस अज्ञात ने मुझे आतंकित कर दिया, किन्तु कुछ देर के लिए, फिर वह भय मर गया और अंधेरे में उसकी जगह चमकते मोती की तरह उग आयी एक मर्मान्तक चाह। उसने हम दोनों को अपने में घसीट लिया।. . .और तब हमें लगा कि हम चाह से परे चले गये हैं, उसके पार जाकर एक दूसरे में लौट आये हैं, एक दूसरे के अलगाव को भेदते हुए, फिर मुझे कुछ सुनायी न दिया।. . . डूबने के पहले एक पल, स्मृति-सुख, पीड़ा, संयम जो हमने संग भोगा था, और जिसे आने वाले दिनों में अकेले भोगना था, सबको उतार कर हमने पलंग के पैताने रख दिया था, अपने-अपने कपड़ों के संग।

इन सभी आतंक और भय, और चाह के दृश्यों की पीठिका में एक प्रश्न भी उठा। रायना कहती है, "क्या तुम्हें बुरा लगा। यह शायद अनैतिक है, **मैं नहीं चाहती थी कि यह तुम्हारे साथ हो, तुम्हें पछतावा तो नहीं। मैं नहीं चाहती कि एक दूसरे को बाद में पछतावा हो। दैन इट इज मिजरी।"** उत्सुकतावश 'मैं' पूछता है कि **"क्या तुम्हारे संग अक्सर ऐसा होता है. . .दूसरे शहरों में?"** और वह निःसंकोच बोली, **"हाँ, होता है, मैं ज्यादा दिन अकेले नहीं रह सकती।"**

यह है 'वे दिन' की संक्षिप्त 'पिकनिक प्रेम-कथा', जो विशिष्ट स्थलों, विशिष्ट स्मृतियों और विशिष्ट स्थितियों के कारण सहज ही आकर्षक लगती है। इसे लेखक 'रोमन हॉलीडे' के मूड में काफ़ी रस ले कर धीरे-धीरे अनावृत करता गया है। पूरी कथा में, बीच-बीच में, युद्ध और विसंयोधी शिविर जैसे दो-एक शब्द बीजमंत्र की तरह ज़रूर आये हैं, पर पूरी कथा को युद्धोत्तर योरप की अभिशप्त पीढ़ी की छाया सें जोड़ने का कोई ठोस आधार कहीं दिखायी नहीं पड़ता। फ्रांज़, मारिया के चरित के भीतर भी युद्ध का आतंक और वैयक्तिक संबंधों को तोड़ने की उसकी निर्ममता अभिव्यक्त नहीं हो सकी है।

मैंने शुरू में कहा था कि 'जलती झाड़ी' संग्रह की कम से कम पाँच कहानियाँ भी इसी भावभूमि से संबद्ध हैं। मीता अपनी माँ की ज़िंदगी का जो भी अर्थ समझता रहा हो, इतना सधा हुआ वह

ज़रूर है कि उसकी इच्छाओं की पूर्ति में वह कहीं भी बाधक नहीं बनता। मीता का चरित्र जैसे 'अंतर' और 'पहाड़' कहानी की समस्या का ही विवश समाधान है। 'अंतर' कहानी के 'मैं' को **उसके साथ बाहर सोने की आदत पड़ गयी थी, होटल की जो बचत होती थी, उसे वे बियर पर ख़र्च कर देते थे।** शुरू में उसे 'डर' लगा था, और आज वह अस्पताल के प्रसव-कक्ष में पड़ी है। 'मैं' उससे मिलने जाता है, अपने डफल बैग में, आड़ू और अनानास के टिन, पनीर, सलामी, तथा लीपा सिगरेट के पैकेट भर कर। वह बड़ी ख़ुश थी, उसने उसका हाथ चादर के नीचे अपने पेट पर खींच कर कहा था, **"अब मुझे बड़ा हल्का सा लग रहा है, डॉक्टर ने कहा कि एक महीना पहले आ जाती तो इतनी कमज़ोरी नहीं होती। अब हम कभी भी जा सकते हैं, अब कोई झंझट नहीं।"** जाते वक़्त उसने 'मैं' को पकड़ कर उसका चेहरा अपने वक्षस्थल से लगा लिया था, पर वह चला गया तो उसने उसकी लायी चीज़ों को क़रीने से लपेटा और बाहर अँधेरे में फेंक दिया... 'पहाड़' कहानी के नव दम्पति बच्चे को ले कर सुहाग रात की स्मृतियों को ताज़ी करने पहाड़ आये हैं। पहाड़ के बारे में माता-पिता से अक्सर चर्चा सुन कर बच्चा जिज्ञासा करता रहता था कि क्या हम पहाड़ जायँगे। और वे पहाड़ आये। बच्चे को सोता देख जब पति ने पत्नी के कंधों पर हाथ रख दिया तो वह सिहर उठी और उदास हो कर बोली—**"हमें इसे यहाँ नहीं लाना था।"** कथा-वाचक को **सुखी दम्पति देखने में अच्छे लगते हैं और कहीं वे एक दूसरे को चाहते भी हों, तब तो चमत्कार ही लगता है।**

यह एक समस्या है और शायद बहुत महत्वपूर्ण भी है, पर इसका मुख्य कारण 'जलती झाड़ी' है, जहाँ उत्तरदायित्वहीन अपरिचित जोड़े मिलते हैं, और **एक धधकती सी गरमाहट झाड़ी के बाहर निकलती रहती है। बीच की हवा को छीलती, मंत्रमुग्ध साँप की तरह बल** खाती हुई। और एक आमंत्रण के वशीभूत हो कर जब अनाम नायक ख़ुद झाड़ी की ओर बढ़ता है तो ठहर जाता है सोचता हुआ कि— **ज़िंदगी में जवाबदेही का लहमा एकदम किस तरह आ जाता है, जब हम उसकी बहुत कम प्रतीक्षा कर रहे होते हैं।** उस रात 'मैं' ने आत्महत्या नहीं की, यद्यपि वह यदि कोशिश करता तो शायद कर सकता था। जवाबदेही की यह भावना, जो उसे आत्महत्या करने यानी पतन से रोकती है, वही भावना 'अंतर' कहानी और 'पहाड़' की समस्याओं का समाधान भी बन सकती थीं, जब कि समाधान मीता जैसे निरपराध शिशु पर माँ की ज़िंदगी में अवरोध न बनने की भारी जवाबदेही लाद कर उपस्थित किया गया है।

'वे दिन' उपन्यास के बारे में 'जवाबदेही' का प्रश्न उठाना लेखक के साथ अन्याय होगा। पूरा उपन्यास जैसे उस सैलानी औरत के साथ 'मैं' के शारीरिक संपर्क के उद्देश्य की पूर्ति के लिए नियोजित प्रतीत होता है। और यह सही है कि शारीरिक संपर्क की सुखद स्मृतियाँ भी टीस जगाती हैं, किंतु हर शहर में किसी भी व्यक्ति के साथ संबंध करने की इच्छुक रायना की जुदाई पर 'मैं' की कातरता के प्रति सहानुभूति का भाव काफ़ी सस्ता ही लगेगा। इस उपन्यास में सभी चरित्र चाहे वह 'मैं' हो, चाहे बर्मी विद्यार्थी टी॰ टी॰, चाहे जर्मन फ्रांज़ या फिर मीता और रायना, विदेशी हैं, प्राग की धरती से असंपृक्त, आरोपित। उस धरती से संपृक्त और उसके परिवेश से प्रसूत सिर्फ़ दो ही चरित्र हैं, छात्रावास का चौकीदार पीटर और मारिया। कहना न होगा कि दोनों

ही 'अप्रधान चरित्र' हैं किंतु सत्य यह है कि सिर्फ़ ये दो ही वास्तविक चरित्र प्रतीत होते हैं। बाक़ी चरित्र लेखक की आकांक्षाओं और प्रयोगों की कठपुतली जैसे हैं, जीवन के ठोस यथार्थ से कटे हुए। रायना और 'मैं' की मिथुन-लीला के उद्‌घाटन की अपेक्षा पीटर और मारिया के चरित्रों के विश्लेषण में युद्धोत्तर योरप की ज़िंदगी के सही बीज-विंदुओं की प्राप्ति की संभावना कहीं ज़्यादा थी।

वामपंथी विचारधारा से प्रभावित निर्मल वर्मा के 'परिंदे' संग्रह की प्रगतिशील प्रतिवद्ध आलोचक डॉ० नामवर सिंह ने समीक्षा करते हुए लिखा था--**निर्मल की अधिकांश कहानियाँ अतीत की स्मृति हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि तात्कालिक आवेग की भावुकता को कम करने के लिए ही निर्मल समय का इतना अंतराल दे देते हैं।** भावुकता के बारे में डॉ० नामवर सिंह इस दिलवस्तगी के वाद भी जैसे आश्वस्त न हुए और इसी कारण उन्होंने शंका की है : **चूंकि भावुक व्यक्ति किसी भी प्रभाव से भावुक हो सकते हैं, लेकिन इसका निर्णय कैसे हो कि भावुकता निर्मल की कहानियों में है या पाठकों में।** (कृति, अक्तूबर १९६०, पृ० ६०)। मेरा ख़्याल है कि यहाँ प्रश्न को बिल्कुल ग़लत कोण से उठाया गया है। भावुकता पाठक में होती है या लेखक में, इसके निर्णय का काम वैसा ही उलझा हुआ है, जैसे रसस्थिति के आधार का निर्णय कि वह सामाजिक में होती है या अभिनेता में अथवा लेखक में। निर्मल की कहानियों की विशेषताएँ वताते हुए नामवर सिंह ने लिखा है कि **निर्मल ने स्थूल यथार्थ की सीमा पार करने की कोशिश की है; उन्होंने तात्कालिक वर्तमान का अतिक्रमण किया है।**. . .शब्द की अभेद्य दीवार को लाँघ कर शब्द के पहले के 'मौन जगत' में प्रवेश करने का भी प्रयत्न किया है और वहाँ जा कर प्रत्यक्ष इंद्रियबोध के द्वारा वस्तुओं के मूल रूप को पकड़ने का साहस दिखाया है (वही, पृ० ६५–६६)। प्रश्न है कि क्या निर्मल ने सामाजिक संघर्ष, स्वतंत्रता, न्याय, उत्तरदायित्व, मूल्यों और मानवतावादी नियति से कतराने की कोशिश नहीं की है? क्या उनकी रचनाएँ वामपंथी विचारधाराओं के प्रति उनकी प्रतिवद्धता का मखौल नहीं उड़ातीं? क्या उन्होंने यथार्थ, वस्तु और वास्तविकता का अतिक्रमण नहीं किया है और वे ठोस से अमूर्त की दिशा में वह नहीं गये हैं?

यहीं पर मुझे गोर्की का एक लेख याद आता है, शीर्षक है 'वर्लें और दूसरे ह्रासशील लेखक।' उस लेख में क्षयिष्णु प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए गोर्की ने लिखा था--**इसी परिवेश में शराब से अर्धविक्षिप्त और अर्धरुग्ण अवस्था में उसने (वर्लें ने) सभ्य, कोमल और मृदु आवाज़ में अपनी अजीब प्रतीतियों को अभिव्यक्ति दी थी।. . .वे 'आइसिस' के मंदिर में, मृत्यु के द्वार पर प्रार्थना करते रहे ताकि वे अस्तित्व के शाश्वत विरोधाभासों और मृत्यु के अपने सामने खड़े होकर एक रहस्यवादी आतंक (मिस्टिकल टेरर) का अनुभव कर सकें। उनकी आत्मा में एक ऐसी 'चाह' थी जिसके कारण वे अँधेरे में ही घूर-घूर कर देखते रहे, कुछ टटोलते रहे, जिसके भीतर से बड़ा से बड़ा प्रतिभाशाली भी कोई ठोस और स्पष्ट सत्य कभी बाहर नहीं ला सकता। यह 'चाह' उनके भीतर जीवन की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती हैं और उस स्तर में प्रवेश करती हैं जो बुद्धि और तर्क के लिए पूर्णतः निषिद्ध होते हैं, ऐसे स्तर जो मात्र भावुक हृदय से ही समझे जा सकते हैं।** (लिटरेचर एंड लाइफ़, लंदन १९४६, पृ० ११०-१११) मौन जगत्, अँधेरा, चाह, अतिक्रमण, रहस्यवादी आतंक, भावुकता और बौद्धिकता? आश्चर्य है कि

निर्मल और वर्लें के बारे में नामवर सिंह और गोर्की के विश्लेषण में कितनी अद्भुत समानता है। वर्लें की इन प्रवृत्तियों के विश्लेषण के बाद गोर्की का निष्कर्ष था कि **यह तमाम स्नायु-दौर्बल्य से पीड़ित लिबलिबा, आत्मकेंद्रित साहित्य धीरे-धीरे अदृश्य रूप से जनता के रक्त में प्रविष्ट होता रहा, और समाज, इस बीमारी से जिसे उसकी संततियों (वर्लें और मेटरलिंक आदि ने) अपने भीतर पाला-पोसा था तब तक संक्रमित होता रहा, जब तक वह ज़हर अदृश्य ध्वंस की समूची शक्ति के साथ पूरी तरह जज्ब नहीं हो गया।** (पृ० ११०)।

यथार्थ और वामपंथी विचारधारा के प्रति किसे प्रामाणिक मानें, गोर्की को या नामवर सिंह को, इस पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि वामपंथी विचारधाराओं के प्रति प्रतिबद्धता का प्रश्न उठाना क्या ज़रूरी है? यह प्रश्न कई दृष्टियों से साहित्येतर कहा जा सकता है। मैं ख़ुद यह प्रश्न उठाने की हिमाक़त न करता, यदि निर्मल वर्मा ने 'प्रतिबद्धता' की बात न की होती। 'धर्मयुग' के 'कथादशक' में साहित्यकार के बहीखाते के अंतर्गत निर्मल वर्मा ने प्रतिबद्धता की घोषणा की, यही नहीं उन्होंने एक क़दम और आगे बढ़ कर कहा कि 'जिन साहित्यकारों के सामने कम्युनिज़्म और फ़ासिज़्म का कोई अर्थ नहीं होता, उनके लिए साहित्य का क्या अर्थ हो सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता।' उनका एक उद्धरण मैं पहले ही दे चुका हूँ जिसमें उन्होंने साम्यवाद के विरोध को अधिनायकवाद के समानांतर कहा है। स्पष्ट ही इस प्रकार की आस्था वाले सचेत लेखक से जीवन की प्रामाणिकता और वास्तविकता के ठोस आधार की माँग करना ज़्यादती नहीं है।

यह सही है कि राजनीति और साहित्य प्रतिबद्धता और सर्जन, विचार और कृति के बीच उनके स्पष्ट संबंधों को अलगाने वाली कोई सीधी रेखा खींच सकना बहुत कठिन होता है। और यदि एक ही लेखक में इस प्रकार का प्रत्यवाय दिखायी पड़े तो उसे साहित्य-निर्णय का आधार बना लेना बहुत ज़रूरी भी नहीं है। निर्मल वर्मा के कथा-साहित्य को, जो वह है, उसी के आधार पर मैं निर्णीत करने के पक्ष में हूँ, उस विचारधारा के आधार पर नहीं, जिसके प्रतिबद्धतानुकूल वह होना चाहिए। इसलिए, यदि मैं अप्रैल १९६५ के 'एनकाउंटर' में प्रकाशित 'लूकाच ऑन थॉमस मान' की समीक्षा के शीर्षक को थोड़ा बदल कर कहूँ कि **निर्मल के कथा-साहित्य का उपयुक्त शीर्षक होगा--"मुखौटा मार्क्सवादी और चेहरा एक रूमानी 'बाहरी आदमी'** (आउटसाइडर) **का"** तो, इसे वस्तु-स्थिति का सही अवबोध ही माना जाय, लेखक के प्रति उपेक्षा का भाव नहीं। क्योंकि मुखौटा के भीतर जो चेहरा है, वही सच्चा है, इसलिए ही प्रीतिकर भी।

मैं अपने इस कथन के प्रमाण के रूप में विवेच्य कहानियों और उपन्यास की एक भिन्न दृष्टि से व्याख्या करना चाहूँगा। स्मृतियों का मोह या पुनरावर्तन रूमानी लेखक की सबसे बड़ी प्रवृत्ति होती है। वह काल्पनिक भविष्य के प्रति उतना ही आग्रहशील होता है, जितना दूर या निकट के अतीत के प्रति। यह ध्यान रखना चाहिए कि रोमांटिसिज़्म मूलतः एक उन्नयनकारी प्रवृत्ति है। और उसके इस रूप का न तो मार्क्सवाद से विरोध है और न तो यथार्थवाद से ही। किंतु जब रोमांटिसिज़्म आउटसाइडर के दर्शन और 'अस्तित्ववाद' से समझौता करता है तो न केवल कभी-कभी एक बेढंगा रूप लेता है, बल्कि अक्सर विकृति की हद तक छूने लगता है। निर्मल वर्मा

के कथा-साहित्य के इस अनाम 'मैं' की सबसे बड़ी भूख है 'काम'। वह एक प्रकार से हेनरी बारबूस के 'ल'एनफ़र, उपन्यास के अनाम आउटसाइडर 'मैं' की तरह सिर्फ़ एक भावना से प्रेरित है औरत और शराब। बारबूस का अनाम नायक दरवाज़े के तालिका-छिद्र (की-होल) से नंगी औरत और संभोग के दृश्यों को देख कर स्नावयिक उत्तेजना का शिकार होता है। 'लवर्स', 'पराये शहर में', 'अंतर' आदि कहानियों के पीछे यही प्रवृत्ति है। 'जलती झाड़ी' इस प्रवृत्ति का प्रामाणिक दस्तावेज है, जहाँ झाड़ियों के भीतर 'काम' की 'ज्वाला' जलती है और उससे सिर्फ़ तीन गज़ दूर बैठा निर्मल का नायक मंत्रमुग्ध देखता रहता है। किंतु ये सभी चीजें उसे तृप्त या शांत नहीं करतीं। वह 'आउटसाइडर' इसलिए है कि कहीं भी चैन नहीं पाता। निरंतर मृगमरीचिका के पीछे दौड़ता रहता है। 'काम' के प्रति उसका रुझान एक चेतन व्यक्ति का रुझान है, इसी कारण वह हमेशा उसे 'नास्तिभाव' में डुबाता रहता है।

योरोपीय 'आउटसाइडर' से निर्मल वर्मा के 'आउटसाइडर' में एक बहुत बड़ा अंतर भी है। योरोपीय 'आउटसाइडर' 'भीतर' (इनसाइड) रह कर 'आउटसाइडर' बनता है; सच्चे आउटसाइडर की यही पहचान भी है, जब कि निर्मल वर्मा का 'आउटसाइडर' अभिधार्थक 'आउटसाइडर' है। कहने का अर्थ यह कि प्रवास में हर व्यक्ति अपने आप 'आउटसाइडर' हो जाता है, यह सहज स्वाभाविक है, परिस्थितिजन्य विवशता नहीं। यानी यहाँ पर 'आउटसाइडर' भी आरोपित है। 'पराये शहर में' अजनबी होना कोई ख़ास बात नहीं। लेखक ख़ुद कहता है—**अनजाने शहरों में कभी-कभी आत्मीयता की भूख कितनी उत्कट हो जाती है।** ('जलती झाड़ी', पृ० ८१) न तो इस अनाम 'मैं' को अपने देश से कोई लगाव है, न तो विदेश में वह खप पाता है। वह इंडिया' शब्द को सुन कर कहता है : **क्या कभी इसे पहचान पाऊँगा। इस जिंदगी में क्या कभी इस शब्द के मेरे लिए कोई मानी रहे हैं, ऐसे मानी जो भ्रमों और पूर्वाग्रहों से अलग सिर्फ़ मेरे लिए हों, जिन्हें मैंने खोजा हो. . .** ('जलती झाड़ी', पृ० ४९)।

'इंडिया' के लिए जब कोई मानी नहीं, जो अपना था, तो फिर योरप के लिए क्या मानी हो सकते हैं, जो पराया है। होटल के तंग सीलनभरे अकेले कमरे में वह जो योरप का अर्थ जोड़ पाया है—**'वह है टेरर—टेरर ऑफ़ एनलाइटेनमेंट'**। ('जलती झाड़ी', पृ० ५२)।

जो न देश के हैं, न विदेश के, वे अपने भी कहाँ हो पाते हैं। परिणामतः 'आउटसाइडर' की यह प्रवृत्ति उसे अपने शरीर से भी बाहर कर देती है—'वे दिन' का अनाम नायक अपनी नंगी देह को छू कर कहता है—**पहले क्षण कभी विश्वास नहीं होता कि यह मेरी ही देह है। मैं उन्हें छूता हूँ। मुझे तब अपनी ही छुवन अपनी देह से अलग जान पड़ती है, जैसे मेरी देह के कुछ अंग खुली रोशनी में दूसरे अंगों को प्यार कर रहे हैं, और मैं उनके बाहर महज एक दर्शक हूँ।** ('वे दिन', पृ० १४७)। यह अंश पढ़ते-पढ़ते अचानक मुझे लारेंस के 'सेवन पिलर्स ऑफ़ विज़डम' की ये पंक्तियाँ याद आती हैं—**और मैंने अपने को अलग हिस्सों में बँटा हुआ पाया। मेरा शरीर मुझसे अलग था और मेरी कुछ न सुनता था। मेरी विभक्त आत्माएँ कुछ कहती न थीं और मैं दृढ़ता से कुछ करने की स्थिति में न था।. . .** (पृ० ४६१)। अंतर यह ज़रूर है कि लारेंस का यह अनुभव वेदना की पराकाष्ठा में उत्पन्न हुआ था और 'वे दिन' के अनाम नायक में प्रेमिका से

मिलते जाते वक़्त। कहने का अर्थ सिर्फ़ इतना है कि शरीर से भी अलग हो कर 'आउटसाइडर' एक तटस्थ द्रष्टा बन जाता है। ऐसे प्रसंग देशी-विदेशी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में एकाधिक बार आये हैं।

इस प्रकार 'वे दिन' का अनाम भारतीय प्रवासी देश-विदेश, सबसे कट कर अंततः अपनी विचित्र धारणाओं की आत्मनिर्मित खोल में दुबक जाता है।

अब ज़रा हम इस 'आतंक' पर विचार करें। इस शब्द का प्रयोग गोर्की के उद्धरण में ऊपर आ चुका है। इसे उन्होंने 'मिस्टिकल टेरर' यानी' रहस्यवादी आतंक' कहा है और इसकी कदर्थना की है। निर्मल वर्मा ने 'आतंक' के साथ 'रहस्यवादी नियति' का प्रयोग किया है। यह 'आतंक' और 'नियति' पारिभाषिक शब्द के रूप में, ख़ास संदर्भों में, अस्तित्ववादी साहित्य में बार-बार प्रयुक्त हुए हैं। संकट, भय, आतंक, वेदना आदि का वहाँ एक ख़ास अभिप्राय होता है। वास्तविक अस्तित्व का उन्मीलन इन्हीं पर आधारित बताया गया है। द्वितीय विश्वयुद्ध की निर्ममता इन शब्दों को एक ख़ास अर्थ देती है। हेडगर, सार्त्र, काफ़्का और दास्तोवस्की के साहित्य में 'आतंक' शब्द अलग-अलग अभिप्रायों में प्रयुक्त हुए हैं।

अपने को नाना रूपों में छिपाने का प्रयत्न भय से प्रेरित होता है। हेडगर का कहना है कि--**भय या त्रास का सबसे बड़ा लक्षण यह है कि वह किसी भी वस्तु के साथ कार्य-कारण रूप में संबद्ध नहीं किया जा सकता। वह जितनी भी कोशिश की जाय, पकड़ में नहीं आता। हाथ से छूट जाता है।**

'वे दिन' का अनाम नायक कहता है--"**इट इज़ नथिंग। तुम बार-बार अपने से कहते हो कि लगता है, तुम डर गये हो, यह कुछ नहीं है। डर कभी इतना हास्यास्पद नहीं होता। होता नहीं। वह है, फिर नहीं है। जलती-बुझती बत्ती-सा।**" ('वे दिन', पृ० १६२) इसका ठीक से पकड़ में न आना ही रहस्यवादिता है।

भय या त्रास से आतंक या 'टेरर' भिन्न होता है। वार्दिएफ़ ने दोनों का अंतर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि **भय या त्रास अन्तःजगत के ख़तरे का द्योतक है, आतंक उग्र वेदना का संवेग है जो मनुष्य के अन्तर्बाह्य दोनों को झिझोड़ कर रख देता है।** दास्तोवस्की इसी आतंक का साहित्यकार था। 'वे दिन' उपन्यास में इस आतंक या भय का जिन स्थितियों में वर्णन किया गया है, उनका सही विश्लेषण उसकी वास्तविकता या अवास्तविकता को स्पष्ट कर सकता है।

उस अज्ञात ने मुझे आतंकित सा कर दिया। ('वे दिन', पृ० २०८)। क्या है यह अज्ञात? यह 'अज्ञात' का बोध रायना जैसी अपरिचित नारी के साथ प्रथम शारीरिक संपर्क के समय उत्पन्न हुआ। यह 'अज्ञात' काम से संबंधित है, जो बाद में मर कर 'चाह' में बदल गया था। 'लवर्स' कहानी में भी यह आकांक्षा और भय दिखायी पड़ते हैं--**उस शाम एक धुँधली सी आकांक्षा आयी थी और मैं डर गया था। लगता है, आज वह डर हम दोनों को है। गेंद की तरह कभी उसके पास जाता है, कभी मेरे पास। वह अपनी घबराहट को दबाने का प्रयत्न कर रही है, जिसे मैं नहीं देख रहा।** ('जलती झाड़ी', पृ० १५)। यह डर प्रेम की या काम की सफलता-असफलता से संबद्ध होने के कारण मानसिक प्रतीत होता है, आंतरिक या अशरीरी नहीं, जैसा वह काफ़्का में था। मैं काम से संबंधित ऐसे 'आतंक' को वास्तविक आतंक नहीं मान पाता। यदि इसे आतंक मा

लिया जायगा, तो रीतिकालीन साहित्य में वर्णित नवोढ़ा के प्रथम समागम के समय उत्पन्न घबराहट और भय को भी 'आतंक' कहने में संकोच नहीं होना चाहिए। सच तो यह है कि 'वे दिन' उपन्यास का सारा 'आतंक' किताबी आतंक है, वह हमें एक क्षण के लिए भी अपने असलीपन से आश्वस्त नहीं कर पाता। अगली कहानी 'सिर्फ़ अँधेरे में चीख़' बन कर रह जायगी, यह निर्मल ने कहा था। पता नहीं नयी कहानी को वे किस आतंक से जोड़ना चाहते हैं।

आतंक का वास्तविक रूप सिर्फ़ एक कहानी में मिलता है, और वह कुछ दूसरी तरह की त्रुटियों के बावजूद निर्मल वर्मा की सफल और श्रेष्ठ कृति कही जा सकती है। कहानी है 'लंदन की एक रात'। इस कहानी का 'आतंक' वाक़ई अदृश्य नियति से प्रेरित है, जहाँ अबोध निरपराध इंसान बलात् अपराधी बना दिया जाता है। यह व्यक्ति-व्यक्ति का आतंक हो कर भी समूची मानव-नियति का 'आतंक' बन जाता है। 'लंदन की एक रात' का आतंक सच्चा है, क्योंकि वह वर्ण-विद्वेष के अमानवीय रूप से जुड़ा हुआ है। यह जोड़ या संबंध अरूप है, कहीं इसकी चर्चा नहीं है, क्योंकि 'आतंक' कभी भी स्पष्ट कारणों से जोड़ा नहीं जा सकता। बावजूद इसके इस 'आतंक' में आत्मा और शरीर को झिंझोड़ देने की पूरी शक्ति है। यह अदृश्य आतंक पहली बार स्थूल रूप में सामने आया है।

मुझे कुछ याद नहीं, सच पूछो तो मुझे यह नहीं मालूम कि मैं स्वयं चिल्लाया था या कोई बाहर की चीख़ मुझे सहसा झिंझोड़ गयी थी। मुझे सिर्फ़ इतना भर लगा कि मेरी साँस, एक अंधे चिमगादड़ की तरह मेरी छाती की दीवार से टकराती हुई बेतहाशा फड़फड़ाने लगी थी। . . .और अब वह पहले जैसा आकारहीन नहीं था, वह डर। अब वह ठोस था और सीमित था, उतना ही बड़ा जितना मैं हूँ। हम दोनों अँधेरे में वहशी जानवरों की तरह साँसें ले रहे थे।
('जलती झाड़ी', पृ० १३४–३५)।

यहाँ पर त्रास साकार हो गया और उसी के साथ 'मैं' का अस्तित्व उन्मीलित हो उठा। भय का अस्तित्व कभी भी कहीं से आ कर कहीं जुड़ जाता है। **यह भय उतना ही बड़ा है जितना मैं हूँ।** यह भी अस्तित्ववादी मुहावरा है। सार्त्र ने लिखा है——**यदि कोई मुझसे पूछे कि यह क्या है तो मैं पूरी ईमानदारी के साथ कहूँगा कि यह कुछ नहीं, एक रिक्त रूपाकार है, जो बाहर से आकर पदार्थों में इस तरह जुड़ जाता है कि उनके आकार और गुण में कोई अन्तर नहीं आता।** (नासिया, एक्वेंतिन) अस्तित्व को सार्त्र ने अपरूप प्राणी (मान्स्टर) की तरह भाराक्रांत करने वाला बोध कहा है। निर्मल की कहानियों और उपन्यास में इसे बार-बार 'बनैला आतंक', 'भुतैला आतंक' कहा गया है।

अस्तित्ववाद से जुड़ा एक और प्रश्न रहा है, जिसकी उस साहित्य में बार-बार चर्चा होती रही है, वह प्रश्न है मृत्यु का। निर्मल ने भी मौत, आत्महत्या आदि पर विचार किया है। 'कुत्ते की मौत' कहानी इस प्रश्न की ओर संकेत करती है। मुझे प्रसन्नता है कि मौत के प्रश्न पर निर्मल कहीं भी विकृत नहीं दिखायी पड़ते। कारण उनके अंदर की ख़ुद की जिजीविषा हो सकती है। उन्हें अपनी ज़िंदगी से और सामान्य ज़िंदगी से भी मोह है, इसी कारण मौत के बारे में वे मानवीय संवेदना को झटक नहीं पाते। उन्होंने अपने यात्रा-वर्णन 'चीड़ों पर चाँदनी' की भूमिका में

लिखा है––**घोर निराशा और दैन्य के क्षणों में भी यह ख्याल कि मैं इस दुनिया में जीवित हूँ, हवा में साँस ले रहा हूँ, हमेशा एक मायावी चमत्कार** सा जान पड़ता है। ऐसे ही मायावी चमत्कार को देख कर 'कुत्ते की मौत' कहानी में डॉक्टर कहता है––**"बहुत कम लोग बच पाते हैं, आपके फ़ादर बहुत भाग्यशाली हैं, जो वापस लौट आये हैं।"** ('जलती झाड़ी', पृ० ६२)। निर्मल में ज़िंदगी के प्रति एक मोह है, जो सुंदर है। मुझे आश्चर्य इस बात पर ज़रूर है कि 'दैन्य' जिसे लेखक ने कभी सहज रूप से स्वीकार किया था, अब इन कहानियों और उपन्यास में कहीं भी उसे बेचैन नहीं करता। 'परिंदे' संग्रह में 'माया का मर्म' कहानी के नायक ने कहा था––**"मैंने पहली बार बेरोज़गारी के इस लंबे और उदास अर्से पर से दरिद्रता की राख को बिना दर्द के कुरेद दिया।"** लगता है, अब लेखक को यह राख कुरेदना पसंद नहीं, बल्कि प्रेम और पिकनिक में वह इस क़दर भूला है कि इस पर परत पर परत भी जमे तो उसे कोई परेशानी न होगी।

निर्मल वर्मा की कथा-कृतियाँ बहुत ताज़ी और नयी मानी जाती हैं। वे हैं भी। यह ताज़गी, नयापन या प्रभावात्मकता फिर किस चीज़ में है? मेरी दृष्टि में यह उनकी कथा-कृतियों की बनावट या टेक्सचर में है। निर्मल की कहानियाँ, उपन्यास भी एक कलात्मक बुनावट की चीज़ें हैं। यह बुनावट काफ़ी सादी, पर सचेत है। इसी बुनावट के कारण सभी प्रकार की स्थितियाँ, परिवेश, चरित्र और अनुभूतियाँ आपस में इस तरह समन्वित हो जाती हैं कि उनके भीतर कहीं भी बिलगाव दिखायी नहीं पड़ता। एक हल्की, किंतु भीगे-भीगे रंगों की घुलावट आवश्यकतानुसार सर्वत्र छा जाती है। इसमें कठोर-मृदु, नीरस-सरस सभी प्रसंग अपनी उचित सजीवता पा लेते हैं। यह कारीगरी गाढ़े रंगों की चित्रकारी की तरह नहीं, हल्की मरोड़ों से युक्त पेंसिल ड्राइंग की तरह है जिसमें सादगी है साथ ही आधुनिक ढंग की सुरुचिसंपन्न गरिमा भी। निर्मल ने 'चीड़ों पर चाँदनी' में आधुनिक चेक कथा-साहित्य की सबसे आकर्षक विशेषता के लिए एक शब्द का इस्तेमाल किया है 'एस्थेटिक ग्रेस'। मैं उनकी कलात्मक बुनावट के लिए भी इस शब्द को पसंद करूँगा।

आधुनिक बिंब और प्रतीकों का सांकेतिक प्रयोग भी इस बुनावट का एक महत्वपूर्ण अंग है। यद्यपि उनके प्रतीक-चयन में रूमानियत का मोह स्पष्ट परिलक्षित है। मक़बरे, सिमिट्री, गाथिक चर्च, उड़ते कबूतर, सीगल्स, गिरजे की घंटियाँ, क्रिसमस कार्ड्स, ट्रैफ़िक लाइट्स, भूरे टीले, भुतैले मकान, यहूदियों का सिनेगॉग, मैडोना, पुल, टावर, मीडोज़, टेरेस, बर्फ़, धूप आदि शब्द न केवल एक विदेशी वातावरण और उसमें निःसृत आधुनिकता का संकेत देते हैं, बल्कि अपनी मूकता में चरित्रों और उनकी मानसिक स्थितियों को भी अपनी उपस्थिति और अतीत से लिपटी गाथाओं के माध्यम से एक आवश्यक संजीदगी और गहराई प्रदान कर लाते हैं। परिवेश के चित्रण में निर्मल वर्मा को कमाल की कारीगरी हासिल है। जैसा मैंने पहले ही कहा कि यह चित्रण हल्के स्याह और कुहरीले रंगों का है, जो उनकी भाव-वस्तु और चरित्रों की मनःस्थिति के साथ ताल-मेल बैठा लेता है।

उनकी बुनावट की एक और विशेषता है, जो कभी-कभी 'चाल' (ट्रिक) लग सकती है, पर यह विशेषता बन जाती है, ख़ास तौर से कहानी की प्रभाव-वृद्धि में सहायक होने के कारण। यह विशेषता है समतल सपाट बुनावट में कहीं-कहीं अधखुली गाँठ लगा देने की। अनेक सूत्रों को एकत्र

करके एक ऐसी शिथिल गाँठ दे देना कि वह बिखरे सूत्रों को समेटती भी दिखे, पर अपेक्षाकृत अधिक जिज्ञासु पाठक उसे खोलने का प्रयत्न करते हुए पाये कि यहाँ तो अनेक सूत्र हैं और किसी को पकड़ कर किसी भी दिशा में जाया जा सकता है। पश्चिम में आधुनिक 'पहेली' श्रेणी की कहानियों की यह विशेषता होती है कि उनकी अनेक व्याख्याएँ की जा सकती हैं। चेक कथाकार काफ़्का इसके लिए प्रसिद्ध है। निर्मल की कहानियाँ इस श्रेणी में तो नहीं आतीं, पर वे 'पहेली'-कथाओं की इस विशेषता को शिथिल ढंग से ले आने का प्रयत्न ज़रूर करते हैं। परिणामतः कहानी में जगह-जगह अधखुली गाँठें या मरोड़ें उत्पन्न हो जाती हैं। एक उदाहरण लीजिए। 'अंतर' कहानी का ज़िक्र ऊपर आया है। अस्पताल के प्रसव-कक्ष में पड़ी उस औरत ने अनाम नायक को जाते वक़्त वक्ष से लगा लिया था फिर जब वह चला गया तो उसने उसकी सौग़ात उठा कर खिड़की से बाहर फेंक दी। तो क्या उसे वह अब भी प्रेम करती थी, नहीं तो, वक्ष से लगाया क्यों? क्या घृणा करती थी यदि नहीं तो, सौग़ात को बाहर क्यों फेंका? ऐसी ग्रंथियों के चक्कर में पाठक कभी-कभी खुद अपने प्रयत्न से वहाँ पहुँच जाता है, जो कथ्य से कहीं अधिक बारीक और महत्वपूर्ण होता है। यह कौशल कभी-कभी खीझ पैदा करने का कारण भी बनता है, पर इसकी महत संभावनाओं से इन्कार नहीं किया जा सकता।

अब हम संक्षेप में निर्मल की भाषा पर भी, विचार कर लें। निर्मल की भाषा सहज, सीधी और शक्तिशाली है। 'परिंदे' की समीक्षा में डॉ० नामवर सिंह ने कहा था--**ठेठ वाचक शब्द, विशेषणहीन संज्ञाएँ, उपमारहित पद, तथा स्वतंत्र वाक्य, अलग-अलग देखने पर हर शब्द मामूली, हर वाक्य साधारण, लेकिन पूरा प्रभाव ज़बर्दस्त। गद्य की रुखाई में भी वे स्थितियों के अनुरोध से कवित्वपूर्ण प्रभाव उत्पन्न कर ले जाते हैं।**

निर्मल की भाषा सीधी है, ठेठ है, पर वह सपाट नहीं है। निर्मल अपनी भाषा में कलाकारी सलवटें डालने के लिए दो पद्धतियों का प्रयोग करते हैं, एक कवित्वपूर्ण भाषा, दूसरी अंग्रेज़ी के विशिष्ट प्रयोगों का स्वीकरण। कवित्वपूर्ण भाषा में उपमा भी है, और विशेषण भी। और यदि मैं कहूँ कि निर्मल ने छायावाद के परिचित चेहरों वाले प्रयोगों को अनेकशः अपनाया है, तो बहुत से लोगों को आश्चर्य होगा। यह निबंध ऐसे भी बड़ा हो रहा है, पर मैं कुछ उदाहरण देने का मोह संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

सागर एक स्वप्न है--डबडबाता स्वप्न (ज० ज्ञा०, ४४), धूप के दीप (४६), समुद्र की अबाध, असीम गहनता के मानिंद रहस्यमय (४९), उद्भ्रांत छाया (५०), रहस्यमय शून्यता, निस्पंद आँखों का मौन, नीरव घड़ी, भुतैली छाया (५१), बेचैन सिसकी, सहमा सन्नाटा (५८), पूर्ण रहस्य की आतुर कातरता से भीगा क्षण (६४), रहस्यमय चमत्कार (६८), पतझर का हरा आलोक (६७), सोने के छल्लों से धूप के धब्बे, ख़ामोश हवा (६७), बादलों की सुरमई रेखा, पारदर्शी धूप, सुनहरी छाया (६८), पागल आवाज़ (७७), नीरव कोना (८०), जड़वत निस्तब्धता (८२), मंत्रमुग्ध मूर्च्छित (८४), धूमिल मीनारों के अधभूले स्वप्न (८७), असीम निर्भेद्य मौन, मंत्रमुग्ध साँप की तरह बलखाती हवा, निरीह कातरता (९०), आतुर विह्वल आँखें (९१), फुनगियों का हरापन सफ़ेद चाँदी में पिघलता हुआ (१००), लाल-भुरभुरे पत्तों की ओट

से भूला हुआ सपना झाँकता सा (१०१), स्मृति का उद्भ्रांत पाखी (१०२), मायावी क्षण (१०६), साँप की कुंडली-सा ठंढा आतंक (११८)। कुछ उदाहरण 'वे दिन' से भी लीजिए—

आतुर प्रतीक्षा (८), सफ़ेद स्वप्निल रुई के गालों-सी बूँदें (१२), अदृश्य गंध (२८), नीरव आलोक, म्लान ठंढापन (३७), पलकों की धूमिल छाया (४०), झुटपुटी-सी मुस्कराहट (४९), सफ़ेद सागर, नीला द्वीप (५६), आवारा आतंक, निस्पंद आलोक (६८), नींद के अंतिम सिरे से लटकी पहली स्मृति (९७), भीगा-भीगा उजला मन (१०४), नीरव आलोक, निर्वाक-सा सम्मोहन, स्तब्ध कोलाहल (११८), स्तब्ध ठिठकी धूमिल छायाएँ (१२७), नशीली झुरझुरी (१४७) आदि।

यही नहीं, पतझर के वर्णन, और पत्तों के हरे आलोक, जिसकी छाया में नीरव एकांत कोना खोजने की बात इन दो पुस्तकों में कई बार आयी है। यथा 'जलती झाड़ी', पृ० १६, ४८, ६३, ६६, ६९, ७९, ८०, पृष्ठों पर किसी न किसी कोने और पतझर में गिरते उदास पत्तों का बयान ज़रूर है। एकाधिक कहानियों में एक ही दृश्य की आवृत्ति का कारण क्या है? यह सब स्पष्ट ही रूमानी प्रवृत्ति की देन है। 'अल्मोड़े में वसंत' का पाठक हरा आलोक, वृक्षों के पीले कृश गात, पतझड़, रेशमी वायु आदि शब्दों को अच्छी तरह जानता है। यहाँ विशेषण भी है, और विशेषण-विपर्यय भी। उपमारहित पद इन्हें तो नहीं ही कहा जा सकता। 'लंदन की एक रात' कहानी में ऐसे प्रयोग अलवत्ता कम से कम हैं।

किन्तु जैसा मैंने कहा, यह भाषा की सलवट है, मूल भाषा नहीं। दूसरे तरह की सलवट अंग्रेज़ी शब्दों और विशिष्ट प्रयोगों के इस्तेमाल से लायी गयी है। अंग्रेज़ी के प्रयोग सिद्धांततः तो ग़लत हैं ही, कहीं-कहीं अनावश्यक शब्दों के प्रयोग के कारण भाषा लँगड़ी लगती है। एक ही तरह के विदेशी प्रभावापन्न भाषा के प्रयोग अभिव्यक्ति को काफ़ी एकरस भी बनाते हैं। निर्मल की भाषा के बारे में किसी भी पाठक की यह अपरिहार्य शिकायत हो सकती है।

अनेक स्थलों पर पात्रों के बीच कथोपकथन में वाचक ने प्रत्येक कथन के साथ मैंने कहा, उसने कहा, टी० टी० ने कहा, जैसे टुकड़ों की ऐसी फूहड़ आवृत्ति की है। (जैसे 'वे दिन', पृ० १५०-५१) कि सोचना पड़ता है कि प्रेमचंद की कुछ आरंभिक और उनके दूसरे समकालीन और पूर्ववर्तियों की अनेक रचनाओं में पात्रों का नाम दे कर आगे 'डैश' मार कर जो वार्तालाप देने की प्रणाली थी, वह क्या बुरी थी?

इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि निर्मल वर्मा की रचनाओं की मुख्य प्रवृत्ति रूमानी आउटसाइडर की है, यद्यपि उसे उन्होंने पश्चिमी जीवन से संपृक्त अभिव्यक्तियों के अनुकरण के बल पर काफ़ी आधुनिक बनाने का प्रयत्न भी किया है। उनकी कहानियों की कलात्मक बुनावट, मनःस्थितियों को व्यक्त करने की शक्ति, तथा भाषा और अभिव्यक्ति का सामर्थ्य उन्हें एक महत्वपूर्ण नये लेखक की भूमिका में खड़ा करता है।

—काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

‘विवेचना’ में निर्मल वर्मा की कथाकृतियाँ

दिनांक २३ मई ’६५ को एनी बेसेंट हॉल में ‘विवेचना’ की गोष्ठी हुई, जिसमें नये कथाकार निर्मल वर्मा के सद्यः प्रकाशित उपन्यास ‘वे दिन’ तथा कथा-संग्रह ‘जलती झाड़ी’ की समीक्षा डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने प्रस्तुत की।

परिचर्चा में भाग लेते हुए उपेंद्रनाथ अश्क ने कहा : मैंने निर्मल की कहानियाँ अवश्य पढ़ी हैं, लेकिन आलोचक की हैसियत से कुछ कह पाना मेरे लिए आसान नहीं है। ‘वे दिन’ में कुछ नया नहीं है। निर्मल जिस तरह की चीजें लिखते हैं वैसी उर्दू में लिखी जा चुकी हैं। मुहम्मद हसन अस्करी ने कभी इस तरह की तीन कहानियाँ लिखी थीं। निर्मल में चेकोस्लोवाकिया या और देशों की आधुनिकता है और हेमिंग्वे की शैली है। बहुत ही रूमानी होने के साथ ही प्रेम और काम उनकी विशेषताएँ हैं। अंग्रेज़ी के वाक्यों का हिंदी में प्रायः वे प्रयोग करते हैं। अंग्रेज़ी में जहाँ ‘तुम’ (यू) का प्रयोग होता है, वहाँ हिंदी में ‘हम’ का होता है। निर्मल हिंदी में भी ‘तुम’ का प्रयोग करते हैं। रामकुमार ने भी शराब का वर्णन किया है, पर वे भारतीय हैं। निर्मल वर्मा शराब के वर्णनों में भारतीय नहीं रह पाते। अज्ञेय ने ‘सकोगे’, ‘सकोगी’ जैसे शब्दों का प्रयोग किया है, वैसे ही निर्मल का रुख़ विदेशी शब्दों की ओर है।

अज्ञेय इधर-उधर से प्रभावित रहे, इसलिए वे निरंतर लिख नहीं पाये। यही स्थिति निर्मल वर्मा की लगती है। उनमें भी चौंकाने की प्रवृत्ति है। उनके उपन्यास में जिस प्रेम का अंकन है, वह युद्ध के कारण गहरा है, वह युद्ध के बाद की शांति के कारण मर जाता है। विभीषिका में जीना सबसे बड़ा सुख है। नये लेखकों में जीवन को तबाह करने की प्रवृत्ति है। यही कुल केंद्रीय कथा-वस्तु है। उन्होंने इस कथा-वस्तु को अच्छी तरह पिरोया है। अंत में ही इस प्रेम के मरने का अर्थ स्पष्ट हो पाता है। पढ़ते-पढ़ते ‘नदी के द्वीप’ की याद आती है। बस, इसमें स्थिति उलट दी गयी है।

अज्ञेय की गहरी छाप नरेश, सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय पर देखी जा सकती है। इस दृष्टि से निर्मल के नयेपन से पहले अज्ञेय और जैनेंद्र नये हैं। ‘लंदन की एक रात’ एक ही कहानी है, जिसे बहुत पहले की शैली में लिखने के बावजूद सफल और नयी कहा जा सकता है। उसका ‘आतंक’ (टेरर) द्रष्टव्य है। अकेलापन दूसरी वर्ण्य-वस्तु (थीम) है निर्मल की।

उमा राव ने बताया कि मैंने पाँच-छह महीने पहले ये कृतियाँ पढ़ी थीं। इसलिए अपनी प्रतिक्रिया मात्र व्यक्त कर सकती हूँ। मुझे शिवप्रसाद जी की 'बाहरी आदमी' (आउटसाइडर) का मुखौटा वाली बात बहुत रुची, क्योंकि यह प्रभाव पड़ता है। घूमे हुए भारतीय का मुखौटा या पाश्चात्य-प्रभावित भारतीय का मुखौटा भी वह नहीं है। शराब पीने के वर्णनों से चिढ़ होती है। वे हिंदी के लेखक होते हुए भी 'बाहरी आदमी' हैं। अंग्रेज़ी के वाक्यांशों का अनुवाद उनमें मिलता है।

'वे दिन' उपन्यास नहीं, एक लंबी कहानी है। उपन्यास के रूप में वह सफल नहीं है। शिवप्रसाद सिंह ने 'रोमन हॉलीडे' और 'इंटर्मेत्सो' का उदाहरण दिया। उनमें अंत 'विदा' में होता है। लेकिन 'वे दिन' के पात्रों की प्रेम-कथा भी विश्वसनीय नहीं है।

उनकी कहानियाँ अवश्य अच्छी लगीं। पर सभी कहानियाँ एक मनःस्थिति (मूड) की हैं। 'लवर्स', 'दहलीज' और 'अंतर' मेरी दृष्टि में 'जलती झाड़ी' की श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। 'लवर्स' में अंतःसंबंध को बड़ी बारीकी से व्यक्त किया गया है। एक अश्लील पत्रिका ख़रीद कर रोमांटिक होने की संपूर्ण प्रवृत्ति का ख़ात्मा 'लवर्स' की विशेषता है। 'अंतर' में थोड़े-थोड़े वाक्यांशों में जो संकेत हैं, वे मार्मिक हैं। एक कोमल, गहरी भावना है उसमें। पर उनकी कहानियों में समानुरूपता या तंत्र की समानुरूपता है। यदि यह स्थिति सदैव रही तो कभी वे चुक भी सकते हैं। निर्मल, जैसा शिवप्रसाद जी ने बताया है, वामपंथी हैं, पर अपनी रचना में व्यक्ति-केंद्रित हैं।

गिरिराज किशोर ने निर्मल के संबंध में प्रतिश्रुति के संदर्भ में व्यक्त शिवप्रसाद सिंह के मत से सहमति प्रकट की और कहा : इधर कुछ प्रगतिवादी आलोचकों ने ग़लत मूल्य देने की दृष्टि से निर्मल को प्रतिश्रुत घोषित किया था। 'वे दिन' रोमांटिक क्षणों के आधार पर रचित है। उसमें प्रेम नहीं, बल्कि सहभावना व्यक्त की गयी है। युद्ध की विभीषिका से त्रस्त एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे द्वारा दी हुई सहानुभूति व्यक्त की गयी है। एक विदेशी के प्रति आकर्षण है। यदि स्नेह के विकास में संघर्ष को चित्रित किया जाता तो अधिक अच्छा होता। निर्मल इसके प्रति सतर्क नहीं हैं। फिर भी यह अपनी तरह की कृति है। एक या दो पात्रों के अतिरिक्त सारे पात्र निर्जीव हैं। ऐसा उनकी कहानियों में भी है। उन कहानियों का प्रतिश्रुति से कोई संबंध नहीं। 'लवर्स' में दो दृष्टियों का चित्रण किया गया है। निर्मल की दृष्टि पैनी है, फिर भी विदेश में रहने वाले भारतीयों, विदेशियों के संघर्ष कहीं नहीं मिलते। उषा प्रियंवदा की कहानी 'मछलियाँ' में यह अवश्य है।

डॉ० महेशप्रसाद जायसवाल ने एक नयी समस्या का उल्लेख करते हुए कहा : हिंदी में लिखना स्वभावतः भारतीय पाठकों के लिए लिखना होता है। फिर भी बहुत ज़्यादा आग्रह कि भारतीय दृष्टि से लिखा जाय, ठीक नहीं। मानवीय दृष्टि से लिख पाना क्या अधिक सजगता नहीं है? और देशीपन तो आ ही जाता है। युद्धोत्तर स्थिति आधुनिकता के संदर्भ में भ्रांति है क्योंकि सब समाजों में युद्ध नहीं हुआ। फिर भी वहाँ कुछ विशेषताएँ हैं। मेरा कहना है कि युद्ध के बिना भी यह सब संभव है। निर्मल वर्मा के कथा-साहित्य में पाश्चात्य युवा वर्ग का चित्रण है।

भय और प्रत्यक्षीकरण उनमें है। इससे ज़्यादा हम नष्ट नहीं होंगे, यह भाव है। लेकिन यदि हम उस युवा वर्ग के साथ सचमुच समय बितायें, तो हम पायेंगे कि उनमें भी कुछ है, जो नष्ट नहीं हुआ है, न होने वाला है। यह भी भ्रम है कि युवा वर्ग ही प्रतिनिधि है। रूस में युद्ध हुआ, इंग्लैंड में उतना नहीं हुआ। पर जहाँ हुआ, वहाँ भी अब एक नया समाज बन गया है; बन रहा है। इसे हम भुला नहीं सकते।

घनश्याम पंकज ने साही जी का शमशेर के संबंध में उल्लेख करते हुए कहा : जिस तरह शमशेर ने एक ही कविता बार-बार लिखी है, निर्मल वर्मा ने भी उसी तरह एक ही कहानी बार-बार लिखी है। भय के प्रति उनकी दृष्टि भौंचक है। उनके साहित्य में रहस्यमयता की स्थिति है। शमशेर की ही तरह उनकी भाषा में ऐंद्रजालिकता है। वे कृशनचंदर की तरह औरत और शराब ले कर चलते हैं। इससे उनमें रूमानी आग्रह बराबर रहता है। भीड़ से अलग होना निर्मल की कोशिश भर है।

डॉ० सत्यव्रत सिन्हा ने कहा : निर्मल जी दरअस्ल कुछ दुर्दशा में हैं। अपनी रचना में वे वामपंथी नहीं दिखते। अस्तित्व-दर्शन की ओर उनका झुकाव दिखायी देता है। पर वे असफल हैं। प्रभाव नहीं पड़ता। मैं उनसे कुछ पा सका, ऐसा नहीं लगता।

श्रीराम वर्मा ने कहा: मुझे बार-बार यह लगा है कि चाहे देश—इस देश—के विषय में हो चाहे विदेश के विषय में हो, निर्मल वर्मा 'पिक्चर पोस्टकार्ड' पेश करते रहे हैं। जब कि स्थिति यह है कि आज फोटोग्राफी और चित्रकला उन्नत होते-होते बहुत दूर और स्वतंत्र होती गयी हैं।

जिस भाषा का प्रयोग वे करते हैं, अब बेकार साबित हो चुकी है।

आप लोगों ने अभी आतंक (टेरर) की बात की। मेरी दृष्टि में आतंक का अंकन बहुत कठिन है। इस देश में तो और भी। जहाँ तक मैं जानता हूँ आतंक का सही अंकन कविता में तो संभव हो सका है, किंतु कहानी में, उपन्यास में भी, आज तक नहीं हो पाया है। इसीलिए निर्मल वर्मा की स्थिति पूरी तौर पर 'बाहरी आदमी' की नहीं है। बल्कि विस्थापित की स्थिति भी नहीं। वस्तुतः निर्मल वर्मा की स्थिति गड्डमड्ड है।

अभी रोमान, प्रेम और यौन संबंधों की भी बात हुई। इन स्थितियों में भी कहीं न कहीं तनाव होता है। इस तनाव का बोध भी निर्मल वर्मा में नहीं होता। उनकी भाषा फूलों और पीपरमेंट की भाषा है। इसलिए वह भी वह बोध दे पाने में सर्वथा असमर्थ है। वे पाठक को पाठक नहीं, जिह्वा समझते हैं। ऐसा लगता है एक हवाई जहाज़ उड़ता चला गया, उड़ता चला गया, कि सभी शब्द मिटते गये, अर्थ खोते गये और एक पीपरमेंट ऊपर, ऊपर, ऊपर हवा में घुलता रह गया।

लक्ष्मीकांत वर्मा ने निर्मल वर्मा के दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए बताया कि उनका दृष्टिकोण 'विश्व-यार' (कास्मोपोलीट) का है, 'विश्व-बंधु' का नहीं। यूरोप को टटोलने की क्षमता उनमें नहीं है। उनकी तबीयत जहाँ रमती है, वहीं उनको अच्छा लगता है। यूरोप, जो कहीं न कहीं कोर में है, अंकित नहीं हो पाता। उनके संस्कारों का तालमेल भी बैठ नहीं पाता। यथार्थ

और प्रतिबद्धता के संबंध में केवल 'वामपंथ' कह देने से काम चलता नहीं। भारत के मध्य वर्ग का कोई व्यक्ति विदेश में जब जाता है तब उसके मन में जिज्ञासा और लालच स्वभावतः होती है। फलतः सब कुछ रोमांटिक हो जाता है। भाषा भी इसीलिए मिल नहीं पाती, न यथार्थ व्यक्त हो पाता है। श्रीराम वर्मा ने जैसे 'पीपरसेंट' का प्रयोग किया, निर्मल वर्मा नहीं कर पायेंगे। निर्मल वर्मा में रागात्मक मोह है, रागात्मक ऐश्वर्य नहीं। प्रश्न उठता है, अज्ञेय क्यों 'नदी के द्वीप' में प्रतिबद्ध नहीं हैं और निर्मल वर्मा भी क्यों नहीं? क्योंकि भाव-बोध में दोनों में कोई अंतर नहीं है। वैसे मुझे 'कुत्ते की मौत' कहानी बहुत अच्छी लगी।

अध्यक्ष बालकृष्ण राव ने अपना मत व्यक्त किया : निर्मल जिस दृष्टि को अपनाने की कोशिश करते हैं उसे अपना नहीं पाते। और जो उनकी दृष्टि थी वह भी रह नहीं पायी। शिवप्रसाद जी ने उनकी भाषा को 'सहज, सीधी' कहा। तो फिर उनके पास 'मुखौटा' कहां रहा?

अंग्रेज़ी का अनावश्यक प्रयोग पहले उनके लिए भले ही असहज रहा हो, अब सहज हो गया है।

निर्मल वर्मा के लेखन द्वारा प्रतिबद्धता स्पष्ट नहीं होती, तो फ़्लैप पर प्रतिबद्धता के होने के क्या माने होते हैं! देवताओं के चरणों की तरह निर्मल के पैर भी पृथ्वी पर नहीं हैं। इसलिए यथार्थ का ठोस संस्पर्श उनमें नहीं है। उनकी रूमानियत में भी प्राण की शक्ति नहीं है।

'अंतर' का अंत उन्होंने पहले की ही तरह किया है। शिल्प में जो चतुराई या कारीगरी है, वह ग्रीक नाट्यापह्नुति की याद दिलाती है। 'लवर्स' में भी ऐसा है। उनकी कहानियों में संवेदना है। उनकी भाषा गीतात्मक है। जैसा अश्क जी ने कहा, वे हेमिंग्वे की शैली से प्रभावित हैं। वे अपने 'मूड' के व्यूह को तोड़ कर यदि नहीं बढ़ते हैं, तो कोई नयी चीज़ नहीं दे पायेंगे।

प्रवर्तक डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा : मुझे कहीं भी वैमत्य नहीं दिखायी दिया। युद्ध के संकेत को निर्मल ने अपनी कृतियों की बुनावट में उठाया है—मैंने ऐसा लिखा भी है। रायना अपने पति से अलग हो कर जो घूमती है, कहा गया है कि वह युद्ध का परिणाम है। निर्मल की सबसे बड़ी देन होती कि वे रायना और उसके पति की अलग होने की स्थिति को चित्रित करते।

संयोजिका उमा राव के धन्यवाद-प्रकाश के बाद गोष्ठी समाप्त हुई। शायद पहली बार विचार-विमर्श में नये नाम जुड़े; विचारोत्तेजन का सुखद शांतिप्रद वातावरण रहा।

—विवेचक

'विवेचना' : एक पत्राचार

● ●

'विवेचना' गोष्ठी को लेकर इधर एक प्रकार का विवाद सा उठ गया है जिसे प्रकाश में लाना वर्तमान परिस्थिति में 'माध्यम' का अपने प्रति, हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्रति और उस गोष्ठी के प्रति जिससे वह संबद्ध है, एक अपरिहार्य कर्तव्य हो गया है। एक प्रकाशन संस्थान की प्रचार पत्रिका में 'विवेचना' गोष्ठी के विरुद्ध लगाये आरोप प्रकाशित किये गये पर उनका उत्तर दबा दिया गया। पत्रकारिता की मर्यादा की अवहेलना करके जो एकांगी चित्र हिंदी संसार के समक्ष रखने का प्रयास किया गया उसके कारण हमारे अनेक पाठकों ने आग्रह किया है कि 'माध्यम' वह संपूर्ण पत्राचार प्रकाशित करे। वैसे भी यह तो 'माध्यम' का कर्तव्य हो ही गया था। 'अभियुक्त' समीक्षकों को अपनी सफ़ाई देने का अवसर तो निश्चयपूर्वक मिलेगा, पर उसके सिवा अब इस विवाद को आगे बढ़ाने वाला कोई पत्र या लेख 'माध्यम' में प्रकाशित नहीं किया जायगा।——संपादक।

●

संयोजक का वक्तव्य

'विवेचना' की स्थापना २९ जनवरी, १९६४ को हुई थी और उसकी पहली गोष्ठी २३ फ़रवरी, १९६४ को इलाहाबाद के एनी बेसेंट मेमोरियल हॉल में हुई।

'विवेचना' का उद्देश्य साहित्य की महत्वपूर्ण उपलब्धियों के प्रति रुचि विकसित करना और उनके समुचित मूल्यांकन के लिए उपयुक्त धरातल प्रस्तुत करना है। पहली गोष्ठी में ही संयोजक ने अपने वक्तव्य में स्पष्ट कर दिया था कि 'विवेचना' की कल्पना किसी 'बुक-क्लब'

या 'बुक-सोसायटी' के रूप में नहीं की गयी है। 'विवेचना' प्रतिमास एक गोष्ठी का आयोजन करती है जिसमें किसी पूर्व-निश्चित साहित्यिक कृति पर किसी अधिकारी व्यक्ति द्वारा समीक्षात्मक निबंध प्रस्तुत किया जाता है और उस पर विचार-विमर्श होता है। अभी तक 'विवेचना' की १५ गोष्ठियाँ हुई हैं जिनका ब्योरा निम्नलिखित है :

गोष्ठी	समीक्ष्य ग्रंथ	लेखक	समीक्षक
१	चारु चंद्रलेख	श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी	डॉ० देवीशंकर अवस्थी
२	समय और हम	श्री जैनेंद्र कुमार	श्री हर्षनारायण
३	शमशेर की कविताएँ	श्री शमशेरबहादुर सिंह	श्री विजयदेवनारायण साही
४	यह पथ बंधु था	श्री नरेश मेहता	श्री नेमिचंद्र जैन
५	भाषा और समाज	डॉ० रामविलास शर्मा	डॉ० विद्यानिवास मिश्र
६	अपने-अपने अजनबी	श्री स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय'	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी
७	एक साहित्यिक की डायरी	श्री गजानन माधव मुक्तिबोध	डॉ० नामवर सिंह
८	शहर में घूमता आईना	श्री उपेंद्रनाथ 'अश्क'	डॉ० बच्चन सिंह
९	हम विषपायी जनम के	श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	श्री भारतभूषण अग्रवाल
१०	अँधेरे बंद कमरे	श्री मोहन राकेश	श्री इलाचंद्र जोशी
११	गोपिका	श्री सियारामशरण गुप्त	डॉ० व्रजेश्वर वर्मा
१२	अभिनव सोपान	डॉ० हरिवंश राय 'बच्चन'	श्री बालकृष्ण राव
१३	बूँद और समुद्र	श्री अमृतलाल नागर	डॉ० रघुवंश
१४	लोकायतन	श्री सुमित्रानंदन पंत	डॉ० सावित्री सिन्हा

और सद्य: आयोजित पंद्रहवीं गोष्ठी में डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने श्री निर्मल वर्मा की कथाकृतियों—'जलती झाड़ी' और 'वे दिन' की समीक्षा की।

इस प्रकार अब तक समीक्ष्य कृतियों में ७ उपन्यास और एक कहानी-संग्रह, पाँच काव्य-कृतियाँ और तीन पुस्तकें अन्य साहित्यिक विषयों की थीं। समीक्षकों में दस अन्य शहरों से आमंत्रित बंधु थे और पाँच स्थानीय।

इस गोष्ठी के अतिरिक्त 'विवेचना' ने १० अप्रैल, १९६५ को वार्षिक उत्सव के उपलक्ष में एक विशेष गोष्ठी का आयोजन किया था जिसमें 'हिंदी आलोचना की वर्तमान स्थिति' पर विचार हुआ। गोष्ठी में डॉ० रामदरश मिश्र ने निबंध पढ़ा और डॉ० देवराज ने अध्यक्षता की। डॉ० नामवर सिंह ने आमंत्रित अतिथि के रूप में गोष्ठी में भाग लिया। 'विवेचना' की गोष्ठियों में पठित निबंध और उन पर हुए विचार-विमर्श के गोष्ठी-प्रसंग नियमित रूप में 'माध्यम' पत्रिका में प्रकाशित होते रहे हैं।

'विवेचना' की रीति-नीति को ले कर जो आपत्तियाँ उठायी गयी हैं, उनमें एक बात यह भी कही गयी है कि 'हिंदी साहित्य को हर महीने ऐसे कुत्सित और हीन रूप में हिंदी-भाषियों, और उससे भी अधिक अहिंदी-भाषियों के आगे चित्रित किया जाना—और ऐसे समय में जब कि हिंदी-विरोधी लोग यों ही हिंदी साहित्य की हीनता का ढिंढोरा पीट रहे हों' हिंदी के लिए अनिष्टकारी हो सकता है। 'विवेचना' में जो समीक्षाएँ की जाती हैं वे हिंदी संसार के सामने आती रही हैं। इसलिए 'कुत्सित और हीन' आदि विशेषणों के प्रयोग का खंडन करना हम अनावश्यक समझते हैं। पर अहिंदी-भाषी अथवा हिंदी-भाषी क्षेत्रों में हिंदी की लोकप्रियता के प्रश्न को दृष्टि में रख कर, साहित्यिक कृतियों की समीक्षा करना 'विवेचना' की दृष्टि में सच्चे साहित्यिक मूल्यों की अवहेलना है; इसकी न कोई सार्थकता है, न हो सकती है। नीति की दृष्टि से भी इसमें हिंदी के अहित की ही आशंका हो सकती है, क्योंकि साहित्य और कृतिकार साहित्यिक मूल्यों की नींव पर खड़ा हो कर ही हिंदी-भाषी अथवा अहिंदी-भाषी क्षेत्रों में आदर पा सकता है। यदि इस नींव में साहित्येतर तत्व जोड़ दिये जायँ तो हमारी समस्त साहित्यिक उपलब्धियों के प्रति भावकों के मन में शंका जाग्रत होने की संभावना अधिक होगी, आदर-भाव उत्पन्न होने की कम। पर जो भी हो, 'विवेचना' का उद्देश्य किसी भी साहित्येतर नीति का स्वीकरण अथवा अस्वीकरण नहीं हो सकता। उसका उद्देश्य तो साहित्यिक मूल्यों के आधार पर कृतियों की स्पष्ट और समर्थ समीक्षा करना ही है। 'विवेचना' निर्भीक समीक्षा और मुक्त विचार-विमर्श को प्रोत्साहित करने और कलागत मानदंडों के प्रतिष्ठापन के लिए स्वस्थ वातावरण बनाने का प्रयास करती रही है—और करती रहेगी। जिन सात हस्ताक्षर-कर्ताओं ने 'विवेचना' से संबंध-विच्छेद का निश्चय किया है, उन्होंने हमारे पत्र के उत्तर में जो पत्र भेजा है, उसमें कोई भी नयी बात नहीं उठायी गयी है, वही बातें दोहरा दी गयी हैं, जिनका उत्तर हम अपने पत्र में पहले ही दे चुके थे। खेद का विषय है कि इस 'पत्राचार' को प्रकाशित करने—या कराने—के समय हमारे उत्तर को प्रकाश में लाया ही नहीं गया। हम तो यही समझते थे कि पत्रकारिता के नैतिक औचित्य की यह माँग होती है कि इस प्रकार के विवाद में केवल एक पक्ष की बात ही नहीं, दोनों पक्षों की बातें सामने

लायी जाती हैं—भले ही विवाद में पड़ने वाले एक पक्ष के लोग विपक्ष की बातें दबा देना चाहें।

विवेचना की ओर से
उमा राव
संयोजक

पत्राचार

संयोजक, 'विवेचना,'
इलाहाबाद।

महोदय,

हमें बड़ा दुख है कि वर्ष भर 'विवेचना' के सदस्य रहने व अन्य रूपों में उससे संबद्ध होने और उसकी रीति-नीति को पास से देखने और समझने के बाद हमें विवश हो कर उससे संबंध-विच्छेद करना पड़ रहा है। हम आपको विश्वास दिलाना चाहते हैं कि यह निश्चय हमारे लिए सरल नहीं रहा है और न उसके पीछे हमारा कोई तात्कालिक क्षोभ या आक्रोश है। बड़ी गंभीरता से पूरी स्थिति पर विचार करने और उसको सौहार्दपूर्ण ढंग से सुलझाने के अपने प्रयत्नों में निष्फल कर दिये जाने पर ही हम इस निश्चय पर पहुँचे हैं। हमें कोई भ्रम नहीं है कि हमारे संबंध-विच्छेद से 'विवेचना' का कुछ भी बिगड़ेगा, फिर भी हमने उससे अलग होने का निश्चय किया है, क्योंकि हमारा विवेक अब किसी प्रकार उन अनीतियों से सहयोग करने को प्रस्तुत नहीं है, जिनका हमको इस एक वर्ष के अपने अनुभव में बार-बार परिचय मिला है।

'विवेचना' की स्थापना के समय उसके प्रवर्तकों ने हमसे कहा था, और यही हमने समझा था कि इस गोष्ठी की स्थापना साहित्य-विवेचना के स्वस्थ मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए और उनके आलोक में हिंदी साहित्य की अधुनातन श्रेष्ठ उपलब्धियों के आकलन-विवेचन द्वारा सामान्य हिंदी-प्रेमियों की साहित्यिक रुचि को जगाने और परिष्कृत करने के उद्देश्य से की जा रही है। स्वभावतः यह घोषित उद्देश्य हमको हर प्रकार से अभिनंदनीय लगा और हमने सहर्ष 'विवेचना' के सदस्य बनना और उससे संबद्ध होना स्वीकार किया।

किंतु बड़े खेद के साथ हमको कहना पड़ता है कि कार्यतः हमने स्थिति इससे बहुत भिन्न ही नहीं, बिलकुल इसके विपरीत पायी। पहली गोष्ठी से ले कर अंतिम गोष्ठी तक का सारा अनुभव साक्षी है। उसके आधार पर हम निस्संशय कहना चाहते हैं कि बाह्यतः उसको जितना भी व्यापक रूप दिया गया हो, भीतर ही भीतर उसके नीति-निर्द्धारक सुचिंतित और संगठित रूप से 'विवेचना' को अपनी शक्ति भर उस दलगत, संकीर्ण, एकांगी और तथाकथित 'आधुनिकता'-वादी साहित्यिक दृष्टि के प्रचार और प्रसार का मंच बनाते रहे हैं जो मात्र व्यक्तिकुंठा के साहित्य को श्लाघनीय और स्वस्थ, मानवतावादी, जीवनधर्मी, समाजपरक साहित्य को नितांत तिरस्करणीय मानती है। समीक्षा के लिए पुस्तकों का चयन उनकी लोकप्रियता या महत्व को दृष्टि में रख कर

ही किया जाता रहा, पर उनके लिए समीक्षकों का चयन करते समय दृष्टि संभवतः उतनी अनाविल नहीं थी अन्यथा, केवल उदाहरण के लिए, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'चारु चंद्रलेख', श्री अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूँद और समुद्र', श्री हरिवंश राय 'बच्चन' के काव्य-संकलन 'अभिनव सोपान', श्री मोहन राकेश के उपन्यास 'अँधेरे बंद कमरे' और श्री रामविलास शर्मा की भाषाशास्त्र की पुस्तक 'भाषा और समाज' की ऐसी एकांगी, छिद्रान्वेषी, पूर्वग्रह से आक्रांत समीक्षाएँ 'विवेचना' में न पढ़ी जातीं, जिनसे स्पष्ट है कि उनका उद्देश्य समीक्ष्य कृतियों के प्रति न्याय करना नहीं, नीर-क्षीर-विवेक नहीं (जैसी कि स्वस्थ समीक्षा की परंपरा रही है) और सामान्य हिंदी-प्रेमियों की साहित्यिक रुचि को जगाना और परिष्कृत करना भी नहीं (जैसी कि 'विवेचना' की मूल प्रतिज्ञा थी) बल्कि उन कृतियों को निम्न कोटि की रचना सिद्ध करना मात्र रहा है।

इतना ही नहीं, समीक्षा-निबंध के उपरांत होने वाली गोष्ठी-चर्चा में दृष्टि की यही दलगत संकीर्णता, बहुत बार (भले गोष्ठी के प्रकाशित कार्य-विवरण में से उनको निकाल दिया जाता हो) प्रतिष्ठित लेखकों के प्रति कहे गये ऐसे अपशब्दों और फूहड़ कटाक्षों का रूप भी ले लेती है जिन्हें हम किसी भी साहित्यिक गोष्ठी के लिए घोरतर कलंक मानते हैं क्योंकि हमारा विश्वास है कि निर्भीक विवेचना और असंस्कृत आचरण एक ही वस्तु नहीं है। और इस प्रसंग में सबसे अधिक आश्चर्य तो हमें इस बात का है कि हिंदी की संवर्द्धना में लगी हुई हिंदी साहित्य सम्मेलन जैसी संस्था (जिससे 'विवेचना' 'माध्यम' के नाते संबद्ध है) के एक वरिष्ठ पदाधिकारी के सभापतित्व में भी गोष्ठी के भीतर इस प्रकार का अनाचार निरंकुश रूप से होने दिया जाता है।

ऐसी स्थिति में हम आपको सूचित करना चाहते हैं कि अब 'विवेचना' से किसी प्रकार का संबंध रखना हमारे लिए संभव न होगा।

अमृत राय, इलाचंद्र जोशी, विश्वम्भर मानव, प्रकाशचंद्र गुप्त,
गंगाप्रसाद पांडेय, केशवप्रसाद मिश्र, सुमित्रानंदन पंत।

●

'अमरावती',
९, टैगोर नगर,
इलाहाबाद।
२४ अप्रैल, १९६४

महोदय,

आपके और छह अन्य सज्जनों के हस्ताक्षरों सहित एक दिनांकरहित पत्र, जो संयोजक, 'विवेचना' इलाहाबाद को संबोधित था, मुझे २१ अप्रैल को मिला। उक्त पत्र में सातों हस्ताक्षरकर्ताओं की ओर से यह कहा गया था कि "अब 'विवेचना' से किसी प्रकार का संबंध रखना हमारे लिए संभव न होगा।" चूँकि उसी दिन सायंकाल विवेचना के प्रस्तावक सदस्यों की एक बैठक

होने जा रही थी, अतः मैंने उस वैठक में आप लोगों का पत्र प्रस्तुत कर दिया। पत्र पर विचार किया गया और यह निश्चय किया गया कि 'विवेचना' गोष्ठी की ओर से मैं यह उत्तर आप लोगों की सेवा में भेजूँ।

आपके पत्र के पहले पैरा में कहा गया है कि 'विवेचना' से संबंध-विच्छेद के निश्चय के पीछे कोई 'तात्कालिक क्षोभ या आक्रोश' नहीं है। इस संबंध में उपस्थित सदस्यों को श्री बालकृष्ण राव ने बताया कि ११–४–६५ को एनी बेसेंट हॉल में 'लोकायतन' संबंधी गोष्ठी शुरू होने के ठीक पहले उनकी श्री गंगाप्रसाद पांडेय से बातचीत हुई थी। श्री पांडेय ने प्रायः आधा घंटा पहले हुए चयन-समिति के चुनाव का उल्लेख करते हुए उस चुनाव से अपना घोर असंतोष ही नहीं प्रकट किया, यह भी कहा कि "अब हम लोग 'विवेचना' छोड़ देंगे—मैं, अमृत और जोशी जी।" श्री बालकृष्ण राव के इस ज्ञापन के बाद यह स्वीकार करना कुछ कठिन जान पड़ता है कि आप लोगों के इस संबंध-विच्छेद के निश्चय के पीछे सचमुच ही कोई तात्कालिक क्षोभ या आक्रोश नहीं था।

आप लोगों ने लिखा है कि 'बड़ी गंभीरता से पूरी स्थिति पर विचार करने और उसको सौहार्दपूर्ण ढंग से सुलझाने के अपने प्रयत्नों में निष्फल कर दिये जाने पर ही' आप संबंध-विच्छेद का निश्चय करने के लिए विवश हुए हैं। किस 'स्थिति' पर आप लोगों ने गंभीरतापूर्वक विचार किया यह तो स्पष्ट नहीं है। पर यह मान भी लें कि 'स्थिति' से आप लोगों का अभिप्राय 'विवेचना' की रीति-नीति से है तो भी यह तो बिल्कुल समझ में नहीं आया कि सौहार्दपूर्ण ढंग से सुलझाने के प्रयत्न क्या थे जो निष्फल किये गये।

सदस्यों को रीति-नीति विषयक एक ही प्रयत्न की जानकारी है और वह प्रयत्न श्री गंगाप्रसाद पांडेय का था। उन्होंने ४–५–६५ के अपने एक पत्र द्वारा चयन-समिति के पुनर्गठन का प्रस्ताव रक्खा था और ११–४–६५ को संस्थापक सदस्यों की बैठक में उसके लिए कुछ नाम प्रस्तावित किये थे। बाद में सर्व-सम्मति से यह निश्चय किया गया था कि श्री वाचस्पति पाठक और श्रीमती उमा राव चयन-समिति के लिए दो ऐसे सदस्यों को नामजद कर दें जो गत वर्ष उसमें नहीं थे। उन दोनों ने दो सदस्यों (डॉ० रघुवंश और श्री नरेश मेहता) को नामजद कर दिया और जैसा ऊपर कहा जा चुका है इस नामजदगी से श्री गंगाप्रसाद पांडेय ने अपना और सर्वश्री जोशी और अमृत राय का असंतोष प्रकट किया। उपस्थित सदस्यों में किसी को भी आप लोगों के द्वारा किये गये किसी दूसरे प्रयत्न की जानकारी नहीं है।

आपके पत्र के पहले पैरा के अंतिम वाक्य का एक अंश यह है कि आपका 'विवेक अब किसी प्रकार उन अनीतियों से सहयोग करने को प्रस्तुत नहीं है जिनका इस एक वर्ष के अनुभव में बार-बार परिचय मिला है।' यदि यह वाक्यांश तात्कालिक क्षोभ या आक्रोश का द्योतक नहीं है तो हम यह कहना चाहेंगे कि अशिष्ट हुए बिना भी बात स्पष्टता और दृढ़ता से कही जा सकती थी। 'अनीतियों' जैसे शब्दों का प्रयोग यदि जानबूझ कर अपमान करने के लिए नहीं किया गया तो जाने क्या सोच कर किया गया है। अचम्भे की बात यह है कि अपने ही कथनानुसार आप लोग साल भर अनीतियों के साथ सहयोग करते रहे और यह बात तब तक मन में ही रक्खे रहे जब तक चयन-समिति का पुनर्गठन नहीं हुआ। इस बीच न संस्थापक सदस्यों की किसी बैठक में, न पत्र भेज कर

ही आप लोगों ने 'अनीतियों' की रोक-थाम का कोई प्रयास किया। ज्ञातव्य यह है कि तेरहवीं गोष्ठी की समाप्ति पर ज्यों ही संयोजक ने ज्ञापित किया कि सदस्यों का एक वर्ष का चंदा समाप्त हो गया, त्यों ही आप में से एक (श्री विश्वम्भर मानव) ने अगले वर्ष का शुल्क दे कर 'अनीतियों' से एक वर्ष और सहयोग करने की व्यवस्था की थी। एक अन्य हस्ताक्षरकर्ता श्री गंगाप्रसाद पांडेय ने अपने ५-४-६५ के पत्र में जो विचार व्यक्त किये उनकी भी हम याद दिलाना चाहेंगे। उन्होंने लिखा था, "गत साल भर विवेचना के सुचारु संचालन तथा गोष्ठियों के उत्तमोत्तम प्रबंध के लिए मेरी हार्दिक बधाई और धन्यवाद स्वीकार करें।"

आपके पत्र का दूसरा पैरा स्पष्टतः 'विवेचना' गोष्ठी की स्थापना से पहले की बातों से संबद्ध है।

आपके पत्र के तीसरे पैरा का तीसरा वाक्य—कि 'विवेचना' गोष्ठी को उसके नीति-निर्धारक दलगत, संकीर्ण, एकांगी और तथाकथित 'आधुनिकता'-वादी-साहित्यिक दृष्टि के प्रचार और प्रसार का मंच बनाते रहे हैं जो मात्र व्यक्ति-कुंठा के साहित्य को श्लाघनीय और स्वस्थ, मानवतावादी, जीवनधर्मी, समाजपरक साहित्य को नितांत तिरस्करणीय मानती है—उस चिर-परिचित दलबंदी की भाषा का नमूना है जिस पर अब कुछ टिप्पणी करना व्यर्थ है।

हमारा यह दावा है कि इस एक वर्ष में 'विवेचना' ने न केवल संकीर्णता और गुटबंदी से अपने को दूर रखा है बल्कि आज की हिंदी आलोचना में वस्तुपरक दृष्टि और स्पष्ट कथन की स्वस्थ परंपरा को बल दिया है। 'विवेचना' में पढ़े गये निबंध और उसके गोष्ठी-प्रसंग गुप्त नहीं रखे गये, बराबर प्रकाशित होते रहे हैं। हिंदी जगत ही इसका निर्णायक है कि हमारा दावा सही है या आपका आरोप।

आपने समीक्षार्थ पुस्तकों के चयन को ठीक माना है, पर समीक्षकों के चयन को नहीं। अपने आरोपों के समर्थन में आपने सर्वश्री देवीशंकर अवस्थी, रघुवंश, बालकृष्ण राव, इलाचंद्र जोशी और विद्यानिवास मिश्र की समीक्षाओं को 'एकांगी', 'छिद्रान्वेषी', 'पूर्वग्रह से आक्रांत' बताया है और यह भी कहा है कि उन समीक्षकों का उद्देश्य 'कृतियों को निम्न कोटि की रचना सिद्ध करना मात्र रहा है, जिन समीक्षकों को आप लोगों ने अभियुक्त के कठघरे में खड़ा किया है वे आपके द्वारा लगाये गये अभियोग के उत्तर में क्या कहना चाहेंगे यह हम नहीं जानते, पर हम यह अवश्य कहना चाहेंगे, कि जो समीक्षक आपके मन की बात न कहे उसे बेईमान समझना रुग्ण मनोदशा और दूषित दृष्टि का परिचायक ही कहा जा सकता है। एक विलक्षण बात तो यह है कि श्री इलाचंद्र जोशी अभियोग लगाने वालों में भी हैं अभियुक्तों में भी। तात्कालिक क्षोभ या आक्रोश के कारण ऐसी असावधानी हो ही जाती है। इस संदर्भ में यह भी याद दिला दें कि जिन समीक्षकों पर आप लोगों ने एकांगी आदि होने का आरोप लगाया है उन्हीं अभियुक्तों में से एक (श्री बालकृष्ण राव) को आप में से एक (श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय) ने तटस्थ समीक्षा प्रस्तुत करने पर उसी गोष्ठी में बधाई दी थी।

आपकी इस स्थापना से हम पूर्णतया सहमत हैं कि निर्भीक विवेचना और असंस्कृत आचरण एक ही वस्तु नहीं है, जैसे आपके इसी पत्र के संदर्भ में हम ऊपर कह चुके हैं कि अशिष्ट

हुए बिना भी बात स्पष्टता और दृढ़ता से कही जा सकती थी। आपने प्रतिष्ठित लेखकों की बात उठा कर जो संकेत किया है—कि 'विवेचना' में चर्चित कुछ प्रतिष्ठित हैं कुछ नहीं, या लेखक प्रतिष्ठित हैं, समीक्षक नहीं—उससे हमारा घोर विरोध है। हमारी दृष्टि में हमारे सभी लेखक और समीक्षक बराबर हैं। इसके अलावा यह एक मोटी बात है कि यदि किसी सभा में कोई असंसदीय बात कही जाती है तो उसके विरुद्ध अध्यक्ष का ध्यान तुरंत आकृष्ट करना उपस्थित सभ्यों का कर्तव्य होता है। अध्यक्ष की व्यवस्था से असन्तोष प्रकट करने के भी तरीक़े हैं जिन्हें सभी लोग जानते हैं।

यहाँ सर्वथा अनावश्यक रूप से हिंदी साहित्य सम्मेलन का नाम घसीट कर यदि इसकी कोशिश की गयी है कि उस संस्था के अधिकारियों की कोपदृष्टि 'माध्यम' की ओर, और व्यक्तिगत रूप से श्री बालकृष्ण राव की ओर, आकृष्ट हो तो हम यही कह सकते हैं कि यह प्रयास अत्यंत अशोभन है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि ११–४–६५ को संस्थापक सदस्यों के समक्ष श्री गंगाप्रसाद पांडेय का वह पत्र पढ़ा गया था जिसमें उन्होंने वर्ष भर गोष्ठी के उत्तमोत्तम प्रबंध और सुचारु संचालन पर संयोजक और अध्यक्ष को बधाई दी थी।

अंत में इतना ही और कहना चाहेंगे कि हस्ताक्षरकर्ताओं में से केवल तीन (सर्वश्री गंगाप्रसाद पांडेय, इलाचंद्र जोशी और अमृत राय) 'विवेचना' के संस्थापक सदस्य हैं और दो (सर्वश्री विश्वम्भर मानव और प्रकाशचंद्र गुप्त) गोष्ठी-सदस्य हैं, सर्वश्री सुमित्रानंदन पंत और केशवप्रसाद मिश्र 'विवेचना' से सदस्य रूप में संबद्ध कभी नहीं हुए। अंतिम दोनों सज्जनों का संबंध-विच्छेद का निश्चय कोई व्यावहारिक अर्थ नहीं रखता।

पर हम यह कभी भी नहीं चाहते कि आप लोगों में से कोई भी 'विवेचना' से अलग हों क्योंकि जिन कारणों से आप लोगों ने अलग होने का निश्चय किया है, वे सभी निराधार हैं। हमें अत्यंत प्रसन्नता होगी यदि आप पुनर्विचार के फलस्वरूप 'विवेचना' को अपने सक्रिय सहयोग से लाभान्वित करते रहें।

विवेचना की ओर से,
उमा राव
संयोजक

सेवा में,
सर्वश्री गंगाप्रसाद पांडेय, इलाचंद्र जोशी तथा अमृत राय (संस्थापक सदस्य)
सर्वश्री प्रकाशचंद्र गुप्त, विश्वम्भर मानव (गोष्ठी-सदस्य)

●

संयोजक, 'विवेचना',
इलाहाबाद।

महोदय,

'विवेचना' से अपने संबंध-विच्छेद की सूचना देते हुए जो पत्र हमने आपको लिखा था उसके उत्तर में आपका २४ अप्रैल, १९६५ का पत्र मिला।

हमारे मन में कहीं एक क्षीण आशा थी कि 'विवेचना' की आपत्तिजनक रीति-नीति पर किंचित् निष्पक्षता और सद्भावना से पुनर्विचार करने की दिशा में हमारा पत्र आपके लिए एक निमित्त बन सकेगा, आपके पत्र से वह भी समाप्त हो गयी। हमें बड़ा खेद है कि उसमें हमको येनकेन-प्रकारेण आपके अपने पक्ष-समर्थन के आग्रह या दुराग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल सका।

'विवेचना' के विरुद्ध हमारा मूल अभियोग था और है कि उसके नीति-निर्द्धारक 'विवेचना' गोष्ठी को उस दलगत, संकीर्ण, एकांगी और तथाकथित 'आधुनिकता'-वादी साहित्यिक दृष्टि के प्रचार और प्रसार का मंच बनाते रहे हैं जो मात्र व्यक्ति-कुंठा के साहित्य को श्लाघनीय और स्वस्थ, मानवतावादी, जीवनधर्मी, समाजपरक साहित्य को नितांत तिरस्करणीय मानती है। हमारे इस अभियोग को आपने यह कह कर उड़ा देने का प्रयास किया है कि यह 'उस चिरपरिचित दलबंदी की भाषा का नमूना है जिस पर अब कुछ भी टिप्पणी करना व्यर्थ है।' हमें आश्चर्य है कि यह लिखते समय आपको इस बात का भी ध्यान नहीं रहा कि अपनी स्थिति की दुर्बलता को छिपाने का यह ढंग बहुत बासी और पुराना पड़ चुका है।

उसी प्रकार हमें इस बात का भी आश्चर्य है कि आपकी समझ में हमारी यह मोटी सी बात कैसे नहीं आयी कि हिंदी साहित्य सम्मेलन जैसी संस्था से संबद्ध एक गोष्ठी के लिए सम्मेलन की रीति-नीति या कम से कम उसकी मर्यादा का थोड़ा-बहुत ध्यान रखना आवश्यक है। हिंदी साहित्य सम्मेलन हिंदी की संवर्द्धना में लगी हुई एक सार्वजनिक संस्था है। उसी के पैसे से चलने वाली एक गोष्ठी में और उसी के साहित्यिक मुखपत्र के माध्यम से हिंदी साहित्य को हर महीने ऐसे कुत्सित और हीन रूप में हिंदी-भाषियों और उससे भी अधिक अहिंदी-भाषियों के आगे, चित्रित किया जाय—और ऐसे समय में जब कि हिंदी विरोधी लोग यों ही हिंदी साहित्य की हीनता का ढिंढोरा पीट रहे हों, इसमें आपको भले ही कोई अनौचित्य न दिखायी देता हो, हमें तो निश्चय ही दिखायी देता है, और अपने पत्र में हमने इसी की ओर संकेत किया था। ऐसा करते समय हमारा उद्देश्य सम्मेलन के अधिकारियों की कोपदृष्टि 'माध्यम' की ओर अथवा व्यक्तिगत रूप से श्री बालकृष्ण राव की ओर आकृष्ट करना नहीं, स्थिति के एक सहज सत्य की ओर ध्यान दिलाना मात्र है। यदि वह भी आपको अशोभन जान पड़ता है तो हम आपकी व्याख्या के अनुसार और आपके ही शब्दों में इसे आपकी 'रुग्ण मनोदशा और दूषित दृष्टि का परिचायक' समझने के लिए बाध्य हैं।

हमें प्रसन्नता है कि आपने एक संदर्भ में हिंदी जगत को निर्णायक मानने की बात कही है। हम आपके प्रस्ताव का हृदय से समर्थन करते हैं। अब यही उचित है कि हिंदी जगत के सामने सभी तथ्य रखे जायँ—गोष्ठी-प्रसंग में चलने वाले ये उच्छृंखल, कुरुचिपूर्ण कटाक्ष भी, जो 'माध्यम' में प्रकाशित विवरण में नहीं आने दिये जाते पर जिनके हमीं नहीं और भी बहुत से साक्षी हैं—और फिर देखा जाय कि हिंदी जगत इस पर अपना क्या निर्णय देता है।

ऐसी स्थिति में अब इस पत्राचार को नितांत अनुपयोगी जान कर हम यहीं समाप्त करते

हैं और आपको सूचित करना चाहते हैं कि 'विवेचना' से संबंध-विच्छेद कर लेने का हमारा निश्चय आपके पत्र से और भी दृढ़ हो गया है।

इलाहाबाद **अमृत राय, इलाचंद्र जोशी, विश्वम्भर मानव, प्रकाशचंद्र गुप्त,**
९–५–६५ **गंगाप्रसाद पांडेय, केशवप्रसाद मिश्र, सुमित्रानंदन पंत।**

●

हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग,
२६।२७–५–६५।

प्रिय महोदय,

सात शीर्षस्थ कृतिकारों और आलोचकों का 'विवेचना' के संबंध में वक्तव्य मैंने पढ़ा है। यह आपके 'प्रकाशन-समाचार' में प्रकाशित भी हुआ है। मैं आपके द्वारा अपनी बात इन सातों शीर्षस्थ कृतिकारों तथा आलोचकों के हृदय तक पहुँचाना चाहता हूँ और उनसे प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे अपने निर्णय पर पुनः विचार करें। आशा है आप इस पत्र को प्रकाशित करने का कष्ट करेंगे।

'विवेचना' के साथ हिंदी साहित्य सम्मेलन का थोड़ा संबंध जुड़ा हुआ है और उसकी ओर इन महानुभावों ने भी इशारा किया है। समीक्षा के क्षेत्र में एक स्वस्थ प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से सम्मेलन अपने से जो बन पड़ता है, सहायता कर रहा है। सम्मेलन साहित्यकारों की चलायी हुई 'विवेचना' जैसी संस्था की स्वतंत्रता पर किसी प्रकार का दबाव डालने का विचार भी नहीं करता। फिर भी जब मेरे कानों में कुछ चोटी के कृतिकारों के असंतुष्ट होने की बात आयी तो 'विवेचना' में किस स्तर पर समीक्षा-वार्ता होती है, यह स्वयं जा कर देखना मैंने उचित समझा। अतः संयोजक के मौखिक निमंत्रण पर मैं ता० २३।५।६५ की 'विवेचना' गोष्ठी में गया और अंत तक वहाँ समीक्षा-चर्चा सुनता रहा। वहाँ चर्चा में भाग लेने वाले खुल कर चर्चा करते हैं, अपने अभिप्राय स्पष्ट प्रस्तुत करते हैं। कृतियों के दोष और गुण दोनों दिखाये जाते हैं। जिस पुस्तक की समीक्षा होती है उसके पढ़ने पर अपने मन पर जो उसकी छाप पड़ी होती है उसे निर्भयतापूर्वक प्रस्तुत करते हैं। सब चर्चा सुन कर यही छाप मुझ पर पड़ी है।

मैं आपको तथा इन सातों महानुभावों को यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि अहिंदी प्रदेशों में जो लोग, हिंदी की पुस्तकें पढ़ते हैं वे स्वयं उनका मूल्यांकन करने में समर्थ होते हैं। जो यह कहते हैं कि हिंदी में कुछ नहीं है वे कभी हिंदी की पुस्तकें पढ़ते नहीं, यह मेरे अनुभव की बात है। परंतु जो हिंदी की पुस्तकें पढ़ते हैं वे कभी ऐसा नहीं कहते। राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति की परीक्षाओं के लिए पुस्तकों के चयन में मुझे यह अनुभव हुआ है कि हमारे शीर्षस्थ साहित्यकारों

की कृतियों की भी वे बहुत ही सूक्ष्म समालोचना करते हैं और उनकी त्रुटियाँ दिखाते हैं। इसलिए यह मानना कि हिंदी में प्रकाशित होने वाली कृतियों की प्रशंसा यहाँ की जायगी तो वे उससे प्रभावित होगें और त्रुटियाँ दिखाने से उससे विमुख हो जायँगे, उनकी विवेक-बुद्धि के प्रति बहुत बड़ा अन्याय होगा। बल्कि मैं तो यह कहूँगा कि अनुचित प्रशंसा से उनके उससे विमुख हो जाने की अधिक संभावना है, उचित त्रुटियाँ दिखाने से संभव है वे उसके प्रति आकर्षित भी हों।

'विवेचना' से त्यागपत्र दे कर इन महारथियों ने उचित नहीं किया है। वे प्रौढ़ साहित्यकार हैं, उनका बड़ा नाम है, और यदि उनकी दृष्टि में कोई नयी या पुरानी पीढ़ी के साहित्यकार विपथगामी हों तो उन्हें अपनी समझ से सही राह पर लाने की चेष्टा करना उनका काम है। साहित्य के क्षेत्र में मतभेद होता ही है, होता ही रहेगा। मतभेद से कटुता तो उत्पन्न न होनी चाहिए। सहिष्णुता की, अपने से भिन्न मत के प्रति आदर के भाव की, आवश्यकता तो रहनी ही चाहिए। महाविद्यालयों में आज के युगधर्म के अनुसार विद्यार्थी उद्दंडता दिखाते हैं, इसलिए क्या प्रौढ़ समाज-नेता उनका बहिष्कार करेंगे? इसलिए मैं तो इन महानुभावों से यही प्रार्थना करूँगा कि वे थोड़ी सहिष्णुता दिखायें और धैर्यपूर्वक अपना दृष्टिकोण समझाने का प्रयत्न करें। मेरी दृष्टि में यह उनका कर्तव्य है—समाज के प्रति, स्वस्थ साहित्य के निर्माण के प्रति, अपने साहित्यिक बंधुओं के प्रति भी।

भवदीय,
मोहनलाल भट्ट
सचिव

सेवा में,
संपादक,
'प्रकाशन-समाचार'
दिल्ली।

हिंदी जगत

आंध्र प्रदेश हिंदी लेखक-संघ

८ फ़रवरी, १९६५ को आंध्र प्रदेश हिंदी लेखक-संघ की स्थापना हुई थी। उक्त संघ का पंजीयन भी हो चुका है। ६, ७, ८ फ़रवरी, '६५ को आंध्र के हिंदी लेखकों का एक सम्मेलन हुआ था। संघ में पठित निबंधों का एक संकलन 'पद्माकर' नाम से प्रकाशित हो गया है, जिसमें कार्य-विवरण भी संलग्न है। १५ जून तक यह संकलन प्रस्तुत सम्मेलन के मंत्री श्री श्रीराम शर्मा द्वारा कृतिकारों एवं हिंदी-प्रेमियों के पास भेजने की आशा है।

संघ के अधिकारी अपनी कार्य-समिति की बैठक हैदराबाद में जून के अंतिम सप्ताह तक बुलाने के लिए प्रयत्नशील हैं। संघ की एक प्रकाशन-योजना भी है। संघ की कार्य-समिति की पहली बैठक में एक पत्रिका प्रकाशित करने का निश्चय हुआ। कुछ लोग त्रैमासिक और कुछ मासिक के पक्ष में थे। त्रैमासिक में ख़र्च के कम होने की और ठोस सामग्री दी जाने की संभावना है और मासिक में खर्च तो अधिक होगा; किंतु सामयिक प्रश्नों पर पुष्कल विचारणा सम्भव हो सकेगी। मासिक पत्रिका प्रदेशीय लेखकों को अधिक प्रोत्साहित करेगी। त्रैमासिक की बिक्री उचित ढंग से नहीं हो सकेगी। मासिक की बिक्री सम्भव होगी। पत्रिका के लिए फ़िलवक़्त तीन नाम सूचित हैं: वातायन, गौतमी, दक्षिणा। यदि कोई सज्जन कुछ नाम सुझा सकें, तो ठीक रहेगा।

प्रकाशन-कार्य दो भागों में विभाजित हो सकता है: १. तेलुगु की उत्कृष्ट रचनाओं का हिंदी में अनुवाद; २. आंध्र प्रदेशीय हिंदी लेखकों की मौलिक रचनाएँ। प्रस्तुत योजना के संदर्भ में १० जून तक अपने सुझाव योजना-प्रेमी कृपया भेज दें, संघ के मंत्री श्री श्रीराम शर्मा का यह निवेदन है।

हिंदी प्रदेश की सरकारें और अंग्रेज़ी

केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से श्री विजयराघव रेड्डी लिखते हैं:

दो-तीन हिंदीतर प्रदेशों के इने-गिने स्वार्थी लोगों ने गत कुछ मास पूर्व हिंदी विरोधी आंदोलन चला कर केंद्र सरकार पर यह दबाव डालने का सफल प्रयास किया कि अब कभी वह हिंदी का प्रयोग न करें। मैं इसे सफल प्रयास इसलिए कह रहा हूँ कि उस दिन के बाद से उसने हिंदी का लगभग परित्याग कर दिया, यही नहीं, उस दिन के बाद से वह छोटा-मोटा काम भी, जो वर्षों पहले से हिंदी में चलाया जाता था, वह अब अंग्रेज़ी में चलाया जाने लगा। इसके अतिरिक्त, अब नेहरू जी के आश्वासनों को क़ानूनी रूप देने की माँग पर विचार किया जा रहा है—

इस पर कभी भविष्य में निर्णय किया जायगा। लेकिन जब केंद्र सरकार ने एक प्रकार से हिंदी के प्रयोग करने से अपना हाथ खींच ही लिया, फिर समझ में नहीं आता, इन आश्वासनों को क़ानूनी रूप देने की आवश्यकता क्यों हो रही है। इस हिंदी विरोधी आंदोलन को इसलिए भी सफल कहना उचित जान पड़ता है कि इसका प्रभाव न केवल केंद्र सरकार पर, अपितु हिंदी प्रदेशों की सरकारों पर भी पड़ा। अगर नहीं पड़ा होता, तो २६ जनवरी के बाद भी इनके द्वारा अंग्रेज़ी का प्रयोग क्यों किया जा रहा है? जब स्थिति ऐसी है कि उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश और बिहार राज्य के कुछ ख्यातनामा हिंदी-प्रेमी आये दिन हिंदी के पक्ष को ले कर लेक्चर झाड़ रहे हैं—हिंदीतर प्रदेश के अंग्रेज़ी-प्रेमी लोगों की आलोचना करते हुए, उनको देश-द्रोही की उपाधियों से विभूषित करते हुए और केंद्र सरकार की ढुलमुल नीति की धज्जियाँ उड़ाते हुए। लेकिन मुझे खेद के साथ कहना पड़ रहा है ये महानुभाव अपने राज्य की स्थिति पर ध्यान नहीं दे रहे हैं।

यहाँ मैं उक्त तीनों हिंदी राज्यों के सभी विभागों की चर्चा न कर केवल उन विभागों की चर्चा करूँगा, जो प्रशासन में मुख्य स्थान रखते हैं, और जिनसे उस प्रदेश की जनता और उसके बीच के संपर्क की स्थिति जानी जा सकती है। ये विभाग हैं—सूचना-विभाग और जन-संपर्क-विभाग।

उत्तर प्रदेश के सूचना-विभाग के द्वारा 'त्रिपथगा' नामक साहित्यिक मासिक पत्रिका निकलती है। इस पत्रिका के लिए मैंने तेलुगु से अनूदित एक कहानी (वंशी-कुंज) भेजी है जो 'त्रिपथगा' के फ़रवरी, '६५ के अंक में छपी है। मई मास के प्रथम सप्ताह में उस अनुवाद का पारिश्रमिक मुझे धनादेश (मनी-ऑर्डर) के द्वारा प्राप्त हुआ। धनादेश में मेरा आगरा का पता और प्रेषक का पता बल्कि पर्णिका (कूपन) में दिया गया सारा विवरण अंग्रेज़ी में लिखा गया है। यह कैसी विडंबना है कि हिंदी प्रदेश में रहनेवाला एक हिंदीतर-भाषी एक हिंदी प्रदेश की सरकार की पत्रिका के लिए हिंदी सामग्री भेजे और उसका पारिश्रमिक उसे अंग्रेज़ी में मिले!

मध्य प्रदेश सरकार के सूचना-विभाग ग्वालियर द्वारा 'मध्य प्रदेश' नामक साप्ताहिक पत्रिका निकलती है जिसमें तमाम सरकारी विज्ञापन अंग्रेज़ी में भरे पड़े रहते हैं। जब मैंने वहाँ के निदेशक महोदय को पत्र लिख कर 'मध्य प्रदेश' में हिंदी में ही विज्ञापन निकालने का अनुरोध किया तब उनका उत्तर आया कि वे इस विषय पर विचार कर रहे हैं। इसके बाद न मुझे 'मध्य प्रदेश' देखने का अवसर मिला और न निदेशक महोदय से इस विषय पर किये गये निर्णय की कोई सूचना।

बिहार सरकार के जन-संपर्क-विभाग, राँची से प्रकाशित साप्ताहिक समाचार-पत्रिका 'आदिवासी' का मैं ग्राहक हूँ। इस पत्र में आदिम जाति-कल्याण से संबंधित लेख एवं समाचार होते हैं, जो उनके कल्याण में रुचि रखने वाले के लिए उपयोगी भी हैं। लेकिन इस पत्र में भी सरकारी विज्ञापन अंग्रेज़ी में निकलते हैं।

इन विज्ञापनों से यह भी स्पष्टतः प्रतीत होता है कि न केवल इन दोनों विभागों में अंग्रेज़ी का प्रयोग किया जाता है, अपितु उन सभी विभागों में भी जिनके विज्ञापन इन पत्रों में निकाले जाते हैं।

जब हिंदी प्रदेशों की सरकार की स्थिति इस प्रकार है तब यह अत्यंत रोचक विषय है कि आंध्र प्रदेश सरकार अपने जन-संपर्क विभाग द्वारा प्रकाशित होने वाली मासिक हिंदी पत्रिका 'आंध्र प्रदेश' के ग्राहकों एवं लेखकों से हिंदी में पत्र-व्यवहार करती है।

हिंदी प्रदेश के सरकारी यंत्र-संचालकों, विशेषकर उन ख्यातनामा हिंदी-प्रेमियों से, जो हिंदी की हिमायत करके नित्यप्रति व्याख्यान देते रहते हैं और जिनके हाथों में अपने प्रदेश की सरकारी कार्यों में से अंग्रेज़ी के बहिष्कार करने की क्षमता है, निवेदन करता हूँ कि वे शीघ्र अपनी राज्य-सरकार को ठीक कर लें; बाद को केंद्र को और अन्य राज्यों को अपने आप उनका अनुसरण करना पड़ेगा।

सीमांत : भारतीय कविता विशेषांक

हिंदी के नवोदित कवि (और बंबई के व्यवसायी) श्री श्रीराम चिरानियाँ के अनुरोध पर डॉ० रामदरश मिश्र ने उनकी अनियतकालीन पत्रिका 'सीमांत' के 'भारतीय कविता विशेषांक' का संपादन करना स्वीकार किया था। डॉ० मिश्र ने वर्ष भर के कठिन परिश्रम के उपरांत उक्त अंक सुसंपादित कर श्री चिरानियाँ को प्रेषित किया। प्रारंभ में एकाध पत्र आये कि वे उसे प्रकाशित कर रहे हैं किंतु गत चार-पाँच महीनों से संपादक के निरंतर लिखने के बावजूद श्री चिरानियाँ एकदम चुप हैं। डॉ० रामदरश का सहयोगी लेखकों से विनम्र निवेदन है कि वे पत्रिका के प्रति आश्वस्त नहीं हैं; कि श्री चिरानियाँ को पुनः-पुनः रचनाएँ लौटाने की सूचना देने के बाद भी प्रतिकूल स्थिति में हैं; कि अब उनके पास कोई उपाय शेष नहीं है। अतः लेखक मित्र अपनी उन रचनाओं का उपयोग अन्यत्र कर लें। डॉ० मिश्र इस असुविधा के प्रति खिन्न एवं क्षमाप्रार्थी हैं और लेखकों के प्रति पुनः-पुनः आभार व्यक्त करते हैं।

—सात्यकि

पत्र-प्रतिक्रियाएँ

● ●

हिंदी समीक्षा में उत्पन्न गतिरोध को दूर करने में 'विवेचना' का योगदान प्रशंसनीय है।

--विनयमोहन शर्मा, कुरुक्षेत्र।

'विवेचना' के अंतर्गत महत्वपूर्ण समीक्षाएँ प्रस्तुत हुई हैं। . . . 'विवेचना' हिंदी की निर्धन समीक्षा को संपन्न बना रही है।

--गंगाप्रसाद विमल, नयी दिल्ली।

'माध्यम', अप्रैल अंक में प्रकाशित 'विवेचना' में 'अभिनव सोपान' की काफ़ी हद तक तटस्थ आलोचना पढ़ी।

'आह' और 'वाह' की कविता का भेद कुछ विशेष नहीं लगा। इधर वैचारिकता बच्चन की कविताओं में बढ़ती जा रही है। शायद युग-धर्म जैसी चीज़ ही बन गयी है यह वैचारिकता! लेकिन इसको हीन या दूसरी कोटि की चीज़ मानने को मन नहीं करता।

बच्चन की शिकायत का आलोचकों की उपेक्षा के अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि बच्चन का साहित्य पाठ्यक्रमों में प्राय: नहीं है। यदि ऐसा होता तो गंभीर आलोचना का अवसर मिलता। वैसे कुछ जटिल, विवादास्पद, व्याख्यासापेक्ष उन्होंने लिखा भी नहीं।

--कृष्णचंद्र, मुजफ़्फ़रनगर।

'माध्यम' वर्ष भर देखने के बाद बधाई देना चाहता था। आज यह प्रसंग आ गया है। एक वर्ष में 'माध्यम' ने हिंदी साहित्य सम्मेलन एवं आपकी प्रतिष्ठा के अनुरूप रूप पकड़ा है, यह प्रसन्नता की बात है।

सहवर्ती साहित्य की योजना विशेष अच्छी है। यद्यपि इसमें पर्याप्त सुधार की अब भी गुंजाइश है तथापि 'अवंतिका' के बाद 'माध्यम' ही नियमित रूप से इस दिशा में प्रवृत्त हुआ है।

कई दशकों पहले स्व० प्रेमचंद जी का 'हंस' सच्चे रूप में अखिल भारतीय स्तर की पत्रिका बने, ऐसा प्रयास किया गया था। अनेक कारणों से इसमें सफलता न मिली। 'माध्यम' के द्वारा हिंदी साहित्य सम्मेलन इस अभाव की पूर्ति कर सकता है। 'विवेचना' की गोष्ठियों में भी हिंदीतर रचनाओं पर परिचर्चा आरम्भ हो, इसकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। भारत की तमाम भाषाओं की साहित्यिक प्रवृत्तियों का माध्यम आपके संपादन में निकलने वाली पत्रिका नहीं बनेगी, तो कौन बनेगी?

--जयेंद्र त्रिवेदी, भावनगर।

'माध्यम' का मई अंक प्रभावशाली है। ख़ासकर, दिगंबर झा, प्रेम कपूर, कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह की रचनाएँ। अश्क जी ने राजेंद्र यादव और अपने बारे में काफ़ी अच्छे ढंग से काफ़ी सही लिखा है।

--राजकमल चौधरी, पटना।

सामग्री-चयन और छपाई-सफ़ाई की दृष्टि से 'माध्यम' का नववर्षांक भी पूर्व मर्यादा एवं प्रतिष्ठा के अनुकूल है।

समीक्षा-स्तंभ के अंतर्गत लिखी गयी समीक्षक की पंक्तियाँ पढ़ कर मैं यह सोचने के लिए मजबर हो जाता हूँ कि समीक्षित पुस्तक का कवि (शलभ) कौन है! 'कादंबिनी'-गीत-प्रतियोगिता में पुरस्कृत मेरी रचना 'गीत और बाँसुरी' से मिलता-जुलता अपनी पुस्तक का नाम रखने वाले मेरे हमनाम को प्रकाशक अथवा समीक्षक नवगीत-कवियों की पंक्ति में अनजाने ही बिठाने का प्रयास कर रहे हैं।

--शलभ (श्रीराम सिंह), कलकत्ता।

हिंदी कहानी की अवरुद्ध वीथियों में
नये आयामों की खोज का प्रतीक
'आधार' का सचेतन कहानी विशेषांक

जिसमें—
डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, श्री राजीव सक्सेना, डा० प्रभाकर माचवे, श्री वीरेन्द्रकुमार गुप्त, डा० श्याम परमार और डा० महीप सिंह के सचेतन-प्रवृत्ति-मूलक लेख।
श्री जगदीश चतुर्वेदी और डा० श्याम परमार द्वारा श्री जैनेन्द्र कुमार से लिया हुआ हिंदी कहानी की अधुनातन प्रवृत्तियों पर एक अभिनव इंटरव्यू—
तथा
सर्वश्री आनंदप्रकाश जैन, कमल जोशी, कुलभूषण, जगदीश चतुर्वेदी, धर्मेन्द्र गुप्त, प्रियदर्शी प्रकाश, बलराज पंडित, मधुकर सिंह, ममता अग्रवाल, महीप सिंह, मनहर चौहान, योगेश गुप्त, रामकुमार भ्रमर, वेद राही, शक्तिपाल केवल, श्याम परमार, शकुन्तला शुक्ल, सुखबीर, हृदयेश और हिमांशु की सचेतन कहानियाँ हैं।

संपादक—डा० महीप सिंह
पृष्ठ—२५० से अधिक : मूल्य—२ रु०-५० पै० : रजिस्ट्री से—रु० ३-००

वितरक :
हिंदी भवन—३७०, रानी मंडी इलाहाबाद—३

ज्ञानोदय

आधुनिक भावबोध, कला-संचेतना और नवीनता का प्रतिनिधि मासिक

१७वें वर्ष का पहला अंक

जुलाई १९६५

●

- नये-नये और नये से नये हस्ताक्षर संभावनाओं वाले
- ताज़ी और नयी कहानियाँ, कविताएँ
- नयी पीढ़ी के लिए एक संपादकीय भी

- **कहानियाँ :** हिमांशु जोशी, रामनारायण शुक्ल, ममता अग्रवाल, प्रेम कपूर, शशि तिवारी, अवधनारायण सिंह, अतुल भारद्वाज, अमरेन्द्र अमर, ओम प्रभाकर, कमलजीत सिंह, दूधनाथ सिंह।

- **कविताएँ :** रणजीत, इन्द्रमणि, इन्दु जैन, रमेश गौड़, जगदीश नारायण श्रीवास्तव, पद्मधर त्रिपाठी, अमृता भारती, केवल गोस्वामी, नीलम सिंह, अवधनारायण मुद्‌गल, कान्ता, भगवत रावत, कुंकुम जोशी, अनामिका।

- **किसी एक की उलझन :** 'खुले और रोशन कमरे के सवाल'—सुधा अरोड़ा।

  'अँधेरे बंद कमरे और साझे की डोर'—मोहन राकेश।

●

मूल्य : एक रुपया : : वार्षिक दस रुपये

संपादक

लक्ष्मीचन्द्र जैन, रमेश बक्षी

संपादकीय कार्यालय

९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता - २७

श्री मध्य-भारत हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर
की

मासिक मुख-पत्रिका

वार्षिक मूल्य ५–०० एक संख्या–५० पै०

वीणा

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, मध्यप्रदेश, राजस्थान, विहार, उत्तर-प्रदेश और बड़ौदा की शिक्षा-संस्थाओं के लिए स्वीकृत।

जो पिछले ३८ वर्षों से नियमित रूप से प्रकाशित होकर हिन्दी साहित्य की अपूर्व सेवा कर रही है। भारत के प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में इसका उच्च स्थान है।

साहित्य के विभिन्न अंगों पर तथ्यपूर्ण एवं गंभीर प्रकाश डालनेवाले लेख तथा परीक्षोपयोगी विषयों पर आलोचनात्मक समीक्षाएँ प्रकाशित करना इसकी प्रमुख विशेषता है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा, मध्यमा एवं उत्तमा (रत्न) तथा बी. ए. और एम. ए. के छात्रों के लिए इसके निबंध अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

"वीणा" का भारत में सर्वत्र प्रचार है !

ज्ञान-वृद्धि के लिए वीणा अनुपम साधन है !

अवश्य देखिए !

समिति के कुछ प्रमुख प्रकाशन

मालवा में युगान्तर	४)	बेजामिन फ़्रैंकलिन	३)
हिन्दी के सामाजिक उपन्यास	१।।)	संसार की शासन-प्रणालियाँ	१।।=)
इन्द्रधनुष	१=)	त्याग का तीर्थ [कहानी-संग्रह]	१।।)
आत्म-परिणय [कहानी-संग्रह]	१।।।)	पन्द्रह अगस्त [एकांकी नाटक]	२)
जीवन-दीप [नाटक]	१।)	किसानों की आर्थिक उन्नति के उपाय	।।।-)।।।
पुष्पांजली	१=)	मालवी लोकगीत	३)

साहित्य मंत्री
श्री मध्य-भारत हिन्दी-साहित्य-समिति, तुकोगंज, इन्दौर-- (मध्य भारत)

यश की वृद्धि ज्ञान से होती है !

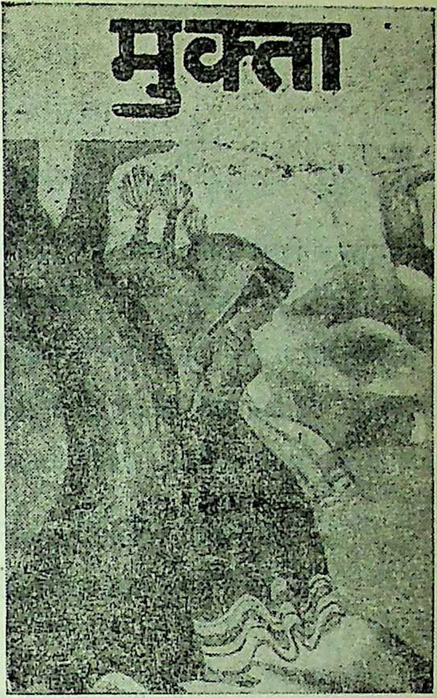

क्या आप
मुक्ता से
पूरी तरह परिचित हैं ?

मुक्ता के हर अंक में :

राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों का निर्भीक लेखाजोखा--जो हिंदी की किसी अन्य पत्रिका में आपको शायद ही मिले। दलबंदी एवं तथाकथित वादों को चुनौती देने वाला स्वस्थ साहित्य--जो आप का भरपूर मनोरंजन करेगा, प्रेरणा देगा और मानसिक स्तर ऊँचा उठायेगा। ज्ञानविज्ञान के नये-नये विषयों पर बिल्कुल नयी सामग्री---जो आप को आधुनिक बनाये रखने में सबसे अधिक योग देगी।

'सरिता' सामाजिक पुनर्निर्माण के क्षेत्र में सबसे आगे है, और उसकी पूरक 'मुक्ता' राजनीति, कला व ज्ञानविज्ञान के क्षेत्र में

आज ही नमूने की प्रति के लिए निम्न पते पर लिखिए :

मुक्ता • रानी झाँसी रोड • नयी दिल्ली

नटरंग

भारतीय रंगमंच का त्रैमासिक

संपादक : नेमिचंद्र जैन

प्रवेशांक में विष्णु प्रभाकर का तीन-अंकी नाटक 'देवी' तथा कपिला वात्स्यायन, आद्य रंगाचार्य, हबीब तनवीर, सत्यव्रत सिन्हा, लक्ष्मीनारायण लाल, मृणालिनी साराभाई, शांता गांधी द्वारा संस्कृत नाटक और आधुनिक रंगमंच पर परिसंवाद के साथ-साथ सत्यदेव दुबे, मोहन महर्षि, बिस्र्की, इब्राहिम अल्काज़ी, सुरेश अवस्थी, धर्मवीर भारती आदि के विचारपूर्ण लेख हैं। इसके अतिरिक्त पुस्तक-समीक्षा, टिप्पणियाँ और देश के दस-बारह केंद्रों का नाट्यवृत्त भी है।

जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्टूबर में प्रकाशित

एक अंक १·५० पैसे : विशेषांक ३·०० पैसे : वार्षिक ६ रु०

पता

३-एफ़, जंगपुरा एक्सटेंशन, नयी दिल्ली-१४।

●

युगप्रभात

सचित्र हिंदी पाक्षिक

अहिंदीभाषी केरल राज्य से प्रकाशित होने वाले 'युगप्रभात' में हिंदी-अहिंदीभाषी लेखकों द्वारा हिंदी में लिखित-अनूदित श्रेष्ठ कहानियाँ, एकांकी, धारावाहिक उपन्यास, निबंध, समालोचनाएँ आदि प्रकाशित किये जा रहे हैं। दक्षिण के विकासमान प्रगतिशील साहित्यों के परिचायक के रूप में 'युगप्रभात' जनप्रिय होता जा रहा है।

●

संपर्क : मैनेजर 'युगप्रभात', कालिकट (केरल) ● वार्षिक शुल्क : छह रुपया

राष्ट्रभारती

१: इसमें लब्धप्रतिष्ठ विद्वान साहित्यकारों के ज्ञानपोषक और मनोरंजक अच्छे-अच्छे लेख, कविताएँ, कहानियाँ, एकांकी, रेखाचित्र, शब्दचित्र आदि रचनाएँ रहती हैं।

२: इसमें संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, मैथिली, उर्दू, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं की तथा अंग्रेज़ी, रूसी आदि विदेशी भाषाओं की उत्कृष्ट रचनाओं के सुंदर हिंदी अनुवाद भी रहते हैं।

वार्षिक मूल्य : ६) ● छमाही : ३·५० रु०

नमूने की प्रति के लिए : ६२ पैसे मात्र

रियायत : समिति के प्रमाणित प्रचारकों, हिंदी शिक्षकों, कोविद, रा० भा० रत्न, आचार्य, विशारद और साहित्यरत्न के विद्यार्थियों, केन्द्र-व्यवस्थापकों तथा सभी सार्वजनिक पुस्तकालयों, वाचनालयों और स्कूल-कालेजों के लिए केवल ५ रु० वार्षिक चंदा रखा गया है। अतः वे ५ रु० मात्र मनीआर्डर से भेजें।

पता : श्री व्यवस्थापक, 'राष्ट्रभारती', हिंदीनगर, वर्धा (महाराष्ट्र राज्य)

हिंदी नवलेखन की सशक्त मासिकी

लहर

जुलाई १९५७ से

नियमित हिंदी पाठकों के समक्ष कहानियों, कविताओं के
अतिरिक्त
समसामयिक घटनाओं-समस्याओं पर विचार-युक्त सामग्री
प्रस्तुत करती रही है।

●

जिसके विशेषांक
स्थायी महत्व के रहे हैं।

●

एक प्रति : ५० पैसे। वार्षिक : छह रु० मात्र।

सम्पादक : प्रकाश जैन

महात्मा गांधी मार्ग, पो० बा० ८२, अजमेर।

अभिनव विचारों का साहित्यिक मासिक

वातायन

का एक और महत्वपूर्ण अंक

कला अंक

जून, १९६५

जिसमें आधुनिक कला के सर्जक एवं समीक्षक डॉ० लक्ष्मीचन्द्र गुप्त, डॉ० रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० जगदीश गुप्त, सन्तोष निगम, श्यामसुन्दर शर्मा, प्रो० महेन्द्रनाथ सिंह, प्रकाश परिमल—कला की सभी प्रवृत्तियों, शैलियों, विधाओं और उपलब्धियों पर निबंध प्रस्तुत कर रहे हैं।

सम्पर्क-सूत्र
५, डागा बिल्डिंग, बीकानेर
वार्षिक शुल्क : ८) ● एक प्रति : ६० पैसे

साहित्य-सन्देश

●●

साहित्य सन्देश हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक प्रधान मासिक पत्र है जो २५ वर्षों से बराबर प्रकाशित हो रहा है। इसका वार्षिक शुल्क ५) रुपये मात्र है। इसकी विगत १३ वर्षों की कुछ सजिल्द फ़ाइलें उपलब्ध हैं जिनकी क़ीमत ६) रु० प्रति फ़ाइल है। हिन्दी का ठोस ज्ञान प्राप्त करने के लिए ५) रु० मनीआर्डर भेज कर वार्षिक ग्राहक बनें।

●●

साहित्य-सन्देश कार्यालय, आगरा

भारत सरकार की ओर से भेंट

माध्यम

अगस्त १९६५

निमित्तमात्रं भव

वर्ष २ : अंक ४
पूर्णांक : १६

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
बैकुंठनाथ मेहरोत्रा
श्रीराम वर्मा

संपादकीय पता
पोस्ट बाक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

लेख

संशोधक विधेयक का विरोध ३ सेठ गोविन्ददास

साहित्य की आलोचना ५ सम्पूर्णानन्द
गूर्जियफ़ : एक परिचय ११ बलवंत सिंह
साहित्य में बाह्य प्रभाव २४ वी० आर० जगन्नाथन
आदिम कला और आधुनिक कला ३२ रामचंद्र शुक्ल

कविता

दो कविताएँ १७ शिवमंगल सिंह 'सुमन'
जार्ज सेफ़रिस की दो कविताएँ १८ अमृता भारती

एक सहज प्रश्न २१ उमाकांत मालवीय
फिर आ गये बादल २२ प्राण गुप्त
वर्षा का आगमन २३ कैलाश कल्पित

डायरी तथा कहानियाँ

खिड़की के बाहर की जिंदगी २८ घनश्याम रंजन

बंबई की डायरी ४० अवधनारायण मुद्गल
छोटा आदमी ४५ प्रदीप पंत

माध्यम

अंक १७ में :

- जगदीश गुप्त की कविता
- शांतिप्रिय द्विवेदी का संस्मरणात्मक लेख
- चंद्रदेव सिंह द्वारा प्रस्तुत 'बच्चन : कुछ चिट्ठियाँ'
- श्रीकांत वर्मा द्वारा कुँवर नारायण के काव्य 'आत्मजयी' की विवेचना
- न० वी० राजगोपालन द्वारा प्रस्तुत 'सहवर्ती साहित्य' (तमिल)

सहवर्ती साहित्य

तेलुगु का शतक-साहित्य ४९ आरिगपूडि
शतक स्तवक ५२ आरिगपूडि
कवि-सम्राट विश्वनाथ सत्यनारायण ५४ अकालजलद

यथार्थ और भावना-सोपान (कहानी) ५७ बुच्चि बाबू

प्रतिपत्तिका

श्री अरविंद ६३ रवींद्र
लघु समीक्षा ६५ विश्वम्भर 'मानव'

विवेचना

नरेंद्र शर्मा की दो काव्य-कृतियाँ ६७ शंभुनाथ सिंह

'विवेचना' : गोष्ठी-प्रसंग ७९ विवेचक
अखिल भारतीय प्राच्य विद्या-सम्मेलन ८३ प्रेमशंकर

तेलुगुभाषी हिंदी लेखकों की विचार-गोष्ठी ८७ श्रीराम शर्मा

तीसरा अखिल भारतीय तेलुगु लेखक-सम्मेलन ९१ हेमलता आंजनेयुलु

समीक्षाएँ

कला-प्रसंग ९४ जगदीश गुप्त
भाषा-विज्ञान-कोश ९८ नीलकंठ उपाध्याय
झरोखे १०० हेरम्ब मिश्र

पत्र-प्रतिक्रियाएँ १०४

● ●

आवरण-सज्जा : दीनानाथ सरोदे

सेठ गोविन्ददास

संशोधक विधेयक का विरोध

अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्रथम शासन-निकाय ने निर्णय किया है कि १ अगस्त, १९६५ को समस्त हिंदीभाषी क्षेत्र तथा राष्ट्रभाषा के समर्थक महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रदेश अपने-अपने क्षेत्रों में सभाएँ करके राजभाषा-अधिनियम १९६३ में प्रस्तावित संशोधन के संबंध में अपना मत व्यक्त करें। इस संबंध की आवश्यक सूचना हिंदी साहित्य सम्मेलन की ओर से समस्त देश की हिंदी-सेवी संस्थाओं तथा व्यक्तियों को दी जा रही है और प्रादेशिक शाखाओं की जनपद-समितियों को भी इसके लिए जागरूक किया जा रहा है। मुझे आशा है कि समस्त हिंदी क्षेत्र में और उन प्रदेशों में जिनमें हिंदी के पक्ष में स्वाभाविक तौर से राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से बहुमत है, वहाँ १ अगस्त की सभाओं के आयोजन बहुत सफलतापूर्वक संपन्न होंगे। मेरा समस्त भारत के हिंदी-प्रेमी महानुभावों से निवेदन है कि इस समारोह को नितांत शांतिपूर्वक मनायें और इनमें कोई ऐसी बात न होने दें जो हिंदी की गरिमा तथा अपने भारत राष्ट्र की मर्यादा के विरुद्ध हो। इन सभाओं में हमें दो मूल बातों पर विशेष बल देना चाहिए। पहली यह कि अंग्रेज़ी को अनिश्चित काल तक कृत्रिम रूप से भारतवासियों पर ज़बर्दस्ती लाद रखने का यत्न अन्याय है और यह दूर हो जाना चाहिए, क्योंकि ऐसा यत्न एक अराष्ट्रीय कृत्य है। इससे राष्ट्र के स्वाभिमान की हानि होती है और राष्ट्रीय चेतना का नैसर्गिक जागरण और विकास असंभव हो जाता है। दूसरी बात यह कि अंग्रेज़ी को बलपूर्वक बनाये रखने का प्रयास केवल हिंदी के विरुद्ध नहीं बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं के विरुद्ध बड़ा अनाचारपूर्ण षड्यंत्र है।

सन १९६३ में जब राजभाषा क़ानून संसद के सामने लाया गया तब मैंने कांग्रेस दल के सचेतक के निदेशों की अवहेलना करके उक्त विधेयक के विरुद्ध अपना मत दिया था। मेरे विरोध के होते हुए भी वह विधेयक अधिनियम बन गया। अब उस अधिनियम में भी संशोधन करने का जो विचार किया गया है उसके बारे में भी मेरा वही रुख और वही नीति होना स्वाभाविक है जो मूल अधिनियम के संबंध में रही है। अतः मैंने निश्चय किया है कि मैं इस संशोधक अधिनियम का भी विरोध ही करूँगा चाहे इसका परिणाम कुछ भी क्यों न हो। मैं चाहता हूँ कि इस संशोधक अधिनियम का विरोध करने वालों का बल इतना बढ़ जाय कि कांग्रेस दल के संसद सदस्यों को इस संशोधक विधेयक के पक्ष में अपना मत देने का साहस न हो। समस्त भारत के राष्ट्र और स्वाभिमान-प्रेमी लोगों का कर्तव्य है कि वे अंग्रेज़ी के इस धौंस का विरोध करें। हमने अंग्रेज़ी राज्य का विरोध किया और उसमें सफलता पायी। उस समय के अंग्रेज़ी राज्य के समर्थक और

पिट्ठुओं की संख्या कम नहीं थी। सारा शासन अंग्रेज़ लोग इन्हीं भारतीय समर्थकों और पिट्ठुओं की सहायता से चलाते थे। महात्मा गांधी के नेतृत्व में हमने अंग्रेज़ी राज्य को यहाँ से उठा देने में सफलता प्राप्त की। अब सांस्कृतिक दृष्टि से सदा-सर्वदा पराधीन रहने की इच्छा रखने वाले हमारे देशवासी भाई इस बात के लिए ज़मीन-आसमान एक कर रहे हैं कि भारतीय भाषाओं पर अंग्रेज़ी का प्रभुत्व और आधिपत्य तथा शासन सदा-सर्वदा बना रहे। हमें इस कलुषित तथा निकृष्ट मनोवृत्ति का अंत करना है और अपने इन भाइयों में भी राष्ट्रभाषा के प्रति प्रेम जागरित करना है, जिससे वे राष्ट्रीय अपमान के कलंक से मुक्त हो सकें। मुझे विश्वास है कि हिंदी की सेवा में लगे हुए निष्ठावान कार्यकर्ताओं के परिश्रम और सहयोग से इस महायज्ञ में हमें पूरी सफलता मिलेगी। मैं केवल यह निवेदन करना चाहता हूँ कि हमारे प्रयासों में कहीं भी लेश मात्र भी हिंसा की छाया नहीं आनी चाहिए।

अक्सर कहा जाता है कि राजभाषा अधिनियम १९६३ में संशोधन करने का विचार इसलिए किया जा रहा है कि उसमें पंडित जवाहरलाल नेहरू के आश्वासन समाविष्ट हो जायँ। नेहरू जी ने जो आश्वासन किसी को दिये उसे उन्होंने कभी विस्मृत नहीं किया। उनके ऊपर कोई भी देशभक्त भारतीय यह आरोप नहीं कर सकता कि नेहरू जी ने अपने वचन का पालन नहीं किया। वास्तविक बात यह है कि हिंदीतर भाषाभाषी लोगों को समय-समय पर दिये गये अपने आश्वासनों को क़ानून का रूप देने के लिए ही नेहरू जी ने १९६३ का राजभाषा विधेयक पारित करा कर उसे अधिनियम का रूप दिया था। कहा जाता है कि प्रस्तावित संशोधक अधिनियम में जहाँ इस बात के लिए अंग्रेज़ी का 'मे' शब्द दिया गया है वहाँ उसके बदले 'शैल' शब्द रखा जायगा जिसका परिणाम यह होगा कि जो प्रदेश १९६५ की २६ जनवरी के बाद अंग्रेज़ी को बनाये रखने या न बनाये रखने के विषय में निश्चय करने को स्वतंत्र थे, उनके ऊपर संशोधक विधेयक के पारित हो जाने से इस बात की अनिवार्यता और बाध्यता हो जायगी कि वे अंग्रेज़ी को बनाये रखें। यह बात ध्यान में रखने की है कि स्वयं नेहरू जी के सामने 'मे' और 'शैल' का यह विवाद आया था पर उन्होंने दृढ़तापूर्वक इसका विरोध किया और 'मे' के स्थान पर 'शैल' रखने के प्रस्ताव को उन्होंने अस्वीकृत कर दिया था। जो लोग जवाहरलाल जी की दुहाई देकर अंग्रेज़ी को बनाये रखने का प्रयास कर रहे हैं उन पर मेरा आरोप है कि वे स्वयं नेहरू जी और उनके आदेशों एवं निर्देशों के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं; उन्हें भूले जा रहे हैं। राष्ट्रभाषा के मामले में महात्मा गाँधी की उपेक्षा करने का पाप हम भारतवासियों से हो रहा है; अब जवाहरलाल जी की उपेक्षा करने का पाप भी कुछ लोग कर रहे हैं।

—अध्यक्ष, प्रथम शासन-निकाय,
हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

सम्पूर्णानन्द

साहित्य की आलोचना

'माध्यम' के पिछले अंक में 'आज की आलोचना' शीर्षक एक निबंध निकला है। साहित्य और साहित्यिक आलोचना उन विषयों में नहीं है जिनके बारे में मुझे कोई जानकारी हो। मैं तो दर्शन का एक प्रथमकल्पिक विद्यार्थी हूँ। इसलिए मेरे इस संबंध में कुछ लिखने को अनधिकार चेष्टा कहना अनुचित न होगा। साहित्य के महारथी चाहे वह स्वयं साहित्य-स्रष्टा हों, आलोचक हों या संपादक हों, ऐसा मानते हैं कि दर्शन और साहित्य में कोई संबंध नहीं है। संभव है मेरा ऐसा कहना भ्रांत आरोप हो। मैंने तो यह धारणा हिंदी की लब्धप्रतिष्ठ पत्र-पत्रिकाओं को देख कर बनायी है। उनमें न तो दर्शनमूलक रचनाएँ देखने को मिलती हैं और न दार्शनिक रचनाओं की आलोचनाएँ। ऐसा लगता है कि यह दो पृथक जगत हैं जिनकी सीमाएँ कहीं मिलती ही नहीं। कभी-कभी अंग्रेज़ी की पत्र-पत्रिकाओं को देखने का अवसर मिल जाता है। उनमें ऐसा पार्थक्य नहीं देख पड़ता। बहरहाल, दर्शन के विद्यार्थी को भी शिक्षित नागर होने के नाते साहित्य में अभिरुचि रखने का अधिकार तो है ही और फिर साहित्य भी उन विषयों में से है जिनसे दर्शन को अध्येतव्य सामग्री मिलती है। साहित्य का दर्शन के प्रति चाहे जो रुख़ हो परंतु दर्शन साहित्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसलिए उक्त निबंध को पढ़ने के बाद मेरे चित्त में जो विचार उठे उनको मैंने लेखबद्ध कर डाला।

यह सचमुच महत्व का विषय है कि साहित्य-स्रष्टा का लक्ष्य क्या है। प्राचीनों के मत के अनुसार यह कहा जा सकता था कि वह रस की निष्पत्ति कराना चाहता है, रस का उद्बोध कराना चाहता है। रस किसे कहते हैं? इस विषय में बड़े-बड़े विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा-पढ़ा है। मैं तो स्थूल भाषा में ऐसा मानता हूँ कि किसी रचना से मानस पर जो समस्त प्रभाव पड़ता है, वह रस है। मैंने 'समस्त' शब्द को जान-बूझ कर रखा है। मनुष्य का चित्त सीधी-सादी वस्तु नहीं है। उस पर किसी पदार्थ विशेष का स्थान और काल विशेष पर जो प्रभाव पड़ता है उसके अंतर्भूत कई अवयव होते हैं। उनमें से कुछ का विश्लेषण किया भी जा सकता है। मैं आगे चल कर कुछ करना भी चाहता हूँ। चित्त स्वयं भले ही जड़ हो परंतु उस पर आत्मा का जो प्रतिबिंब पड़ता रहता है, उसके कारण वह चेतनवत प्रतीत होता है। उस पर जो प्रभाव पड़ते रहते हैं, या यों कहिए कि उसकी जो अवस्थाएँ एक के बाद दूसरी आती रहती हैं वह उस प्रकार की होती हैं जिनको अयुतसिद्धावयव कहते हैं अर्थात वह अपने अंशों का जोड़ मात्र नहीं होतीं। किसी जगह लकड़ी का कोई ढेर पड़ा हो, प्रत्येक लकड़ी प्रत्येक दूसरी लकड़ी से सर्वथा पृथक और

स्वतंत्र है, ढेर उनका अंकगणित से प्राप्त जोड़ मात्र हैं। परंतु किसी जीवित प्राणी को ले लीजिए। वह हड्डी, चमड़े, रक्त, मांस आदि का जोड़ मात्र नहीं है। वह इन सबके जोड़ मात्र से बड़ा है। इन सबके मिलने से एक पृथक सत्ता बन जाती है। इसी प्रकार चित्त की जो अवस्था होती है वह बाहर से आने वाले आघातों की भीतर से उठने वाली प्रतिक्रियाओं की जोड़ मात्र नहीं होती। वह एक ऐसी सत्ता होती है जिसमें यह सब आघात और प्रतिक्रियाएँ भी हैं और उनके अतिरिक्त कुछ और भी।

प्रश्न यह होता है कि प्रभाव किस पर पड़ना है? स्पष्ट ही है कि प्रभाव किसी दूसरे पर, स्रष्टा से भिन्न किसी श्रोता या पाठक पर ही पड़ सकता है। श्रोता पर प्रभाव तभी पड़ सकता है जब वह रचना को समझ सके। भले ही जो अर्थ उसकी समझ में आता हो, वह स्रष्टा को अभीष्ट न हो। स्रष्टा के द्वारा प्रयुक्त ध्वनितार्थों या व्यंजनाओं की गहराई में वह न पहुँच सके। परंतु कुछ न कुछ अर्थ तो उसकी समझ में आना ही चाहिए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि साहित्यिक कृति में प्रेषणीयता का गुण होना चाहिए। जो भी रचना होती है उसके स्रष्टा के सामने कोई श्रोता या पाठक रहता है, इसलिए कि भाषा किसी व्यक्ति विशेष की नहीं प्रत्युत सामाजिक सम्पत्ति है। सामाजिक सम्पत्ति का उपयोग सामाजिक दृष्टि और सामाजिक व्यवहार का अतिक्रमण करके नहीं हो सकता।

यह कहा जाता है कि साहित्यकार स्वान्तः सुखाय लिखता है। उसके सामने कोई स्रष्टा या पाठक नहीं होता। वस्तुतः ऐसा नहीं होता। इस संबंध में मनोविज्ञान के विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि वह किसी काम को स्वान्तः सुख के लिए कर रहा है तो अज्ञात रूप से उस समय भी उसके सामने एक साक्षी होता है। वह साक्षी कोई व्यक्ति विशेष या समुदाय विशेष न हो, ईश्वर हो या समाज, उसके चित्त में अव्यक्त रूप से यह धारणा रहती है, यह विश्वास रहता है कि यदि यह बात इस अदृश्य साक्षी के सामने जाय तो वह इसको पसंद करेगा। इस साक्षी का मूक अनुमोदन आत्म-विश्वास का संबल और सहारा बन जाता है। स्वान्तः सुखाय का भाव भवभूति ने स्पष्ट भी कर दिया था। जब उन्होंने यह कहा कि कालो निरवधिर्विपुला च पृथिवी—काल अनन्त है और पृथ्वी बहुत बड़ी है। आज न सही कभी किसी समय किसी जगह, मेरे समान कोई व्यक्ति जन्म लेगा जो मेरी रचना को समझ सकेगा तो निश्चय ही उनका संकेत उस अज्ञात साक्षी की ओर था। इस पर भी यदि साग्रह यह बात कही जाय कि कोई ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो अपने चित्त में से अज्ञात साक्षी की भावना को सर्वथा दूर करने में समर्थ हो गया हो और बिना इस बात की परवाह किये कि किसी को उसकी रचना समझ में आती है या नहीं केवल आत्म-तृप्ति के लिए लिखता हो तो यह बात कहनी होगी कि वह भाषा के सामाजिक स्वरूप की हत्या करता है। ऐसे व्यक्ति की रचना साहित्य नहीं है और उसका मूल्य शराबी या वातग्रस्त रोगी के प्रलाप से अधिक नहीं है।

इस बात को मान लेने के बाद कि प्रेषणीयता साहित्य का आवश्यक अंग है, यह प्रश्न उठता है कि साहित्यकार का प्रेष्य क्या है अर्थात वह किस चीज़ को व्यक्त करना चाहता है, दूसरों के पास पहुँचाना चाहता है। यह कहा गया है कि आज का साहित्य-स्रष्टा बाहरी वास्तविकता

में अभिरुचि नहीं रखता और वह अर्थों के बदले भावों को व्यक्त करना चाहता है। अर्थ और भाव में इस प्रकार अंतर करना अहैतुक शाब्दिक विवाद है। साहित्यकार को जो कुछ भी अभिप्रेत है वही उसका अर्थ है। बाहरी वास्तविकता का इस प्रकार तिरस्कार करना भ्रांति के आधार पर स्थित है। बाहर और भीतर का भेद काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। जो मेरे लिए बहुत अंतरंग है, जो मेरे लिए 'मैं' है, वही दूसरे के लिए 'वह' है। इसके अतिरिक्त यह मानना भी भूल है कि भीतरी वास्तविकता और बाहरी वास्तविकता में विरोध है। आज बाहरी जगत क्षुब्ध है, विज्ञान ने दिक और काल को सापेक्ष सिद्ध करके तथा अनिश्चितता के सिद्धांत को स्वीकार करके हमारे पैरों के नीचे से स्थिर धरातल ही खींच लिया है। राजनीति, अर्थनीति, संस्कृति सभी क्षेत्रों में हलचल और क्षोभ है। मनुष्य के बनाये हुए सामरिक उपकरण जीवन को कहाँ ले जायँगे? मनुष्य के भीतर जो क्षोभ, अशांति और अनिश्चितता व्याप्त है, इसी बाहरी जगत का प्रतिबिंब है। इसके साथ ही कोई दूसरा प्राणी ऐसा कर सकता हो या न कर सकता हो, मनुष्य बाहरी जगत को भी अपने भीतरी जगत के अनुसार रंजित करता है। अपने आभ्यंतर क्षोभ और अशांति से बचने के लिए त्राण के नित्य नये-नये उपाय सोचता है, नये-नये उपकरण निकालता है। यह उपकरण मनुष्य के अन्तर्जगत के बाहरी प्रतिबिंब हैं। ऐसी अवस्था में ऐसा कहने का क्या तात्पर्य होगा कि आज का साहित्य-सर्जक बाहरी वास्तविकता में दिलचस्पी नहीं लेता है? वह भले ही ऐसा मानता जाय और अपने चित्त की उलझनों पर ही अपना ध्यान केंद्रीभूत करे परंतु इन उलझनों की आड़ से बाहरी वास्तविकता झाँक रही है।

इस बात को न समझना अपने को धोखा देना है। यह सही है कि शब्द भावों की यथार्थ अभिव्यंजना नहीं कर सकते। यदि साहित्य-स्रष्टा अपने पाठक के साथ सह-अनुभूति का संबंध स्थापित कर चुका है, अपने व्यक्तित्व के ऊपर उठ कर उसको पाठक के व्यक्तित्व का प्रतिनिधि बना चुका है, तो शब्दों की कमी पाठक की कल्पना-शक्ति पूरी कर देगी। यों इस काम में छंद, लय और ताल से भी बड़ी सहायता मिलती है।

किसी साहित्यकार विशेष की कृति में वहीं तक ग्राहकता, ग्राह्यता या प्रेषणीयता होती है जहाँ तक उसका सर्जक अपने व्यक्तित्व के ऊपर उठ पाता है। हो सकता है कि किसी कवि की आर्थिक अवस्था बहुत ख़राब हो, अपनी इस निर्धनता के कारण वह जगत को विशेष प्रकार के रंगीन चश्मों से देखता हो। जब वह अपने भावों को व्यक्त करता है तो पढ़ने या सुनने वाले के ऊपर विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। यदि उस समाज में सामान्यतः लोगों की अवस्था अच्छी होगी तो कवि की कृति बहुत प्रभावशाली नहीं होगी। परंतु यदि समाज में निर्धनों की संख्या बड़ी है, तो फिर कवि की कृति एक निर्धन का क्रंदन नहीं प्रत्युत वर्ग विशेष की मानस अवस्था का चित्र होगा और वह चित्र होगा उस बाहरी वास्तविकता का जिसके आधार पर निर्धन वर्ग की मानस अवस्था वैसी हुई है। जहाँ तक कवि या लेखक अपनी अनुभूतियों की संकुचित परिधि के ऊपर उठ सकता है, जहाँ तक वह अपने को समाज में खो सकता है, वहाँ तक उसकी रचना प्रतिनिधि रचना होती है। जहाँ तक किसी कृति में यह बात झलकती है कि कवि केवल अपना रोना नहीं रो रहा है प्रत्युत उसको निरंतर उस 'कृत्स्न' का भान हो रहा है जिसका वह अंग है,

वहाँ तक उस कृति में सप्राणता होती है। पाठक और श्रोता, उस कवि के शब्दों में अपने हृदय के स्पंदन को सुन सकते हैं। यह जगत एक संपूर्ण इकाई है। इसमें भौतिक और अभौतिक दोनों अवयव हैं। इसमें वह भी है जिसको हम अपने लिए अंतरंग समझते हैं और वह भी है जो हमको बहिरंग प्रतीत होता है। अंतरंग और बहिरंग एक दूसरे से प्रभावित होते हैं, एक दूसरे के प्रतीक हैं। इनमें से किसी एक का चित्रण तब तक समीचीन नहीं हो सकता जब तक दूसरे की भी अनुभूति न हो रही हो। वात्स्यायन जी का कहना है कि रस का युग चला गया। रस अद्वैतावस्था की वस्तु है द्वैत की अवस्था का नहीं। मैं अपने को इस कथन से सहमत नहीं पाता। पहली बात तो यह है कि मैंने रस की जो परिभाषा की है उसको मान लेने से यह प्रश्न उठ ही नहीं सकता। मैंने कहा है कि किसी कृति का मानस पर जो समस्त प्रभाव पड़ता है वह उसका रस है। कोई भी कृति हो, यदि उसमें प्रेषणीयता है तो उसका कुछ न कुछ प्रभाव तो पड़ेगा ही। अतः किसी न किसी रस का तो उद्बोध होगा ही। प्राचीन आचार्य इस बात से परिचित थे कि द्वंद्व का भी पर्यावरण हो सकता है पर वह परिस्थिति का सरलीकरण इस प्रकार कर देते थे कि एक भाव को स्थायी और दूसरे को गौण अर्थात संचारी कह दिया करते थे। यह ठीक नहीं है। द्वंद्व की ऐसी अवस्थाएँ हो सकती हैं जिनमें समान बलाबल के विरोधी आघात द्रष्टा के ऊपर हो रहे हों। आज मानव जगत की यही अवस्था है। इसमें तो स्थायी और संचारी का भेद करना बहुत कठिन है। मेरी समझ में इस बात की आवश्यकता है कि रसों के विषय में और अधिक अध्ययन किया जाय और उनका पुनः वर्गीकरण किया जाय। पुराने नव रस आज के युग के लिए पर्याप्त नहीं हैं। उनका ढाँचा बहुत संकीर्ण है। मेरा तो यह विश्वास है कि प्राचीन काल में भी नव रस पर्याप्त नहीं थे। उदाहरण के लिए, मेरा ऐसा विश्वास है कि समुद्र की उत्ताल तरंगों और ऊँचे गिरि-शिखर के हिम से लदी चोटियाँ, तारों से जगमगाती रात और फूलों की बिछी चादर को देख कर चित्त पर जो प्रभाव पड़ता है—जिस रस का उद्भव होता है उसके लिए कोई पृथक वर्ग ही होना चाहिए। प्रकृति को उद्दीपन विभाव के घेरे में फेंक देना अन्याय है।

मनुष्य का अनुभव बड़ी जटिल वस्तु है। कुछ हद तक तो हमारा किसी वस्तु को देखना उस क्रिया से भिन्न नहीं है जो कैमरा में होती है परंतु कैमरा और चित्त में एक बड़ा अंतर है। कैमरा केवल देखता है, चित्त देखने के साथ-साथ यह भी जानता है कि मैं देख रहा हूँ। कैमरा को केवल ज्ञान होता है, चित्त को ज्ञान का ज्ञान भी रहता है। यदि हम 'मैं' शब्द से काम न लेना चाहें तो यह कह सकते हैं कि चित्त के द्वारा वस्तु देखी जाती है और युगपत यह ज्ञान भी रहता है कि वस्तु देखी जा रही है। कैमरा और चित्त में एक और अंतर है। कैमरा वस्तु को देखता है और उसका चित्र खींच देता है; चित्त देखता है, जानता है कि वस्तु देखी जा रही है, इसके साथ ही उसको कोई दृश्य अच्छा लगता है और कोई बुरा। कैमरा के लिए हर दृश्य एक सा है। चित्त को कोई दृश्य अच्छा लगता है अर्थात उसको ऐसा जँचता है कि यह दृश्य बना रहे तो अच्छा है। कोई दृश्य उसको बुरा लगता है अर्थात ऐसा लगता है कि यह दृश्य न होता तो अच्छा होता। किसको किस समय कौन सा दृश्य अच्छा लगेगा और कौन बुरा, यह तो कई बातों पर निर्भर करता है। परंतु यह निर्विवाद है कि प्रत्येक अनुभूति का एक अविच्छेद्य अंग मूल्यांकन है। जो

द्रष्टा अपने व्यक्तित्व को जितना ही परिष्कृत कर सकेगा अर्थात अपने व्यक्तित्व के ऊपर उठ सकेगा, उसका मूल्यांकन उतना ही विशद और व्यापक होगा। उसका रूप यह होगा कि यह दृश्य और यह परिस्थिति मुझको अच्छी नहीं लगती, अच्छी नहीं है, केवल मेरे लिए ही अच्छी नहीं, इतनी बात नहीं है। वरन सबके लिए बुरी है। जिस वस्तु, परिस्थिति की अनुभूति का मूल्य निकृष्ट प्रतीत होता है उसके स्थान पर क्या होना चाहिए इसका निश्चय करना कठिन हो सकता है। जब द्रष्टा स्रष्टा का रूप लेता है तो वह किसी 'वाद' विशेष का प्रचारक नहीं होता। परंतु उसकी रचना में असंतोष व्यक्त होता है। वही इस बात का प्रमाण है कि उसके मूल्यांकन में कुछ चीज़ें हेय हैं, कल्याणकारी नहीं हैं। इसको साहित्य के पुराने आचार्यों ने शिवेतरक्षति—अशिव को दूर करने की प्रवृत्ति कहा है। इस प्रवृत्ति के व्यंजन के लिए किसी विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं है। यदि ऐसे स्रष्टा को अपने व्यक्तित्व के पीछे उस विराट व्यक्तित्व का आभास मिलता है जिसका वह स्वयं अंग है तो शिवेतरक्षति की ओर रुझान उसकी कृति में आप से आप ही प्रकट हो जायगा। द्वंद्व, तनाव मनुष्य के लिए स्वाभाविक नहीं है। वह विशेष अवस्थाओं में ही होता है और मनोविज्ञान के विद्वानों ने दिखलाया है कि यह अवस्था चित्त के स्वभाव के अनुकूल नहीं है। चित्त इसे दूर करना चाहता है। यदि और किसी प्रकार दूर न कर सका तो फिर वह उस अवस्था का आश्रय लेता है जिसको हम साधारणतः पागलपन कहते हैं।

दो शब्द आनंद के संबंध में भी कहना आवश्यक है। पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों की चर्चा करते हुए कहा है कि ये वृत्तियाँ या तो क्लिष्ट होती हैं या अक्लिष्ट।

जैसा मैंने अभी ऊपर कहा है, तनाव, अंतर्द्वंद्व द्रष्टा का सहज और साधारण स्वभाव नहीं है। यदि वह द्वंद्व में पड़ जाता है तो उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करता है। जब तक ऐसा नहीं कर सकता तब तक वह असंतुष्ट रहता है। द्वंद्व से परे और उसके ऊपर उठ कर जो अवस्था होती है वही द्रष्टा की सहज अवस्था है। इस सहज अवस्था में द्रष्टा थोड़ी देर के लिए ही सही अपने 'स्व' को व्यापक और महान 'स्व' में विलीन कर लेता है, उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। जल की बूँद में गगनचुंबी लहरें नहीं उठ सकतीं, परंतु जब बूँद समुद्र से अपने अभेद का अनुभव करती है तो वह अपने में उन सब दृक-विषयों का आरोप कर लेती है जो अगाध निस्सीम समुद्र से संबद्ध है। यही अवस्था आनंद है। इसकी अनुभूति के लिए कोई पृथक प्रयास नहीं करना होता। अपने भूले हुए स्वरूप की पुनः प्राप्ति आनंद की अनुभूति है और जिसको आनंद की अनुभूति हुई वह निष्प्रयास उस अनुभूति का दूसरे तक प्रेषण कर सकता है और करता है। भाषा आदि उपकरणों के विशेष प्रयोग से आनंद की अनुभूति कराने के प्रयास में कृत्रिमता है। सौंदर्य क्या है? निर्द्वंद्व सहज अवस्था की प्राप्ति सबको सर्वदा नहीं होती। योगी को ही हो सकती है। परंतु एक अवसर आता है जब कलाकार को इस अनुभूति का कुछ-कुछ आभास मिल जाता है। ऐसे अवसरों को अंग्रेज़ी में 'मोमेन्ट्स ऑफ़ ट्रुथ' कहते हैं। अपना 'स्व' विकसित, स्फीत, होता सा प्रतीत होता है। सभी दृग्विषयों के भीतर कोई एक शक्ति, कोई एक सत्ता अनुस्यूत सी प्रतीत होने लगती है। जिस हद तक कोई व्यक्ति अपने संकीर्ण जीवन से ऊपर उठ कर इस अवस्था तक पहुँचता है उस हद तक उसको सौंदर्य की अनुभूति होती है। इसीलिए जगत के मूलाधार को आनंद और

सुंदरम् कहा गया है। सौंदर्यानुभूति ही आनंद की अनुभूति है। यह अनुभूति तर्क की अपेक्षा नहीं करती। इसीलिए इसे सद्यः परनिर्वृत्ति कहते हैं। इतिहास जिन घटनाओं को अपना अध्येतव्य विषय बनाता है उनमें सरसरी दृष्टि से कोई संबंध नहीं होता। किसी ने किसी को मार दिया, किसी ने किसी देश पर आक्रमण किया, कहीं विद्रोह हुआ, यह सब असंबद्ध बातें जान पड़ती हैं जिनमें देश-काल का महान व्यवधान है। परंतु इतिहास-दर्शन (फिलॉसफी ऑफ़ हिस्टरी) का विद्यार्थी इनके पीछे एक चित्र, एक रूपरेखा देखता है। हत्या और बलवा, युद्ध और शोषण के ताने-बाने में उसे मनुष्य की प्रगति का नक़्शा दिखायी पड़ता है। इसी प्रकार किसी क्रांतदर्शी को वैयक्तिक संवेदनाओं, इच्छाभिघातों, हर्ष और शोकों के भीतर, असंबद्ध व्यक्तियों की असंबद्ध अनुभूतियों की तह में, मनुष्य की प्रगति का नक़्शा दिखायी पड़ता है। मनुष्य के आगे बढ़ने की दिशा का संकेत मिलता है। प्रत्येक अनुभूति संसूचक और प्रतीक बन जाती है विश्व के अनंतमुखी स्वरूप के तत्काल-विशिष्ट पहलू का। बूंद में सागर का प्रतिबिंब देख पड़ जाता है। विश्व की यह झलक सौंदर्य की अनुभूति है।

मैं साहित्य का पारखी नहीं इसलिए साहित्य की आलोचना को जिन कसौटियों पर साहित्य को कसना चाहिए उनका स्यात सही ढंग से विवेचन नहीं कर सका हूँ। कदाचित ऐसा प्रतीत हो कि मेरा झुकाव उन बातों की ओर है जिनकी चर्चा पहले के आचार्य कर गये हैं। यदि ऐसा हो तो इसमें बहुत आश्चर्य की बात नहीं है। आज का जगत बहुत सी बातों में पुराने जगत से भिन्न है। परंतु जहाँ सैकड़ों परिवर्तन हुए हैं और नित्य होते जा रहे हैं वहाँ इन परिवर्तनों के साथ में स्यात एक महत्वपूर्ण विषय में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। मनुष्य की वासनाएँ और एषणाएँ वही हैं जो पहले थीं। अब भी वह काम, क्रोध, लोभ से पहले की ही भाँति प्रेरित होता है। अब भी उसके चित्त में पहले की ही भाँति राग, द्वेष आदि का निवास है। इसलिए नवीन और प्राचीन के बीच में अविच्छेद्य संबंध है। कितना भी दूर जायँ नवीन प्राचीन को छोड़ नहीं सकता। इसलिए नवीन अनुभूतियों के भीतर प्राचीन अनुभूतियों की झलक दिखायी पड़ जाती है और नवीन प्रवृत्तियाँ प्राचीन प्रवृत्तियों की छाँह में ही चलती हैं।

—राज्यपाल, राजस्थान।

बलवंत सिंह

गूर्जियफ़ : एक परिचय

कॉलिन विल्सन के कथनानुसार बीसवीं शताब्दी में गूर्जियफ़ ही मात्र एक ऐसा व्यक्ति है जिसने अस्तित्ववादी (एक्ज़िस्टेंशियल) विचारधारा को सबसे अधिक तथा महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हमारे लेखक और विचारक प्रायः सार्त्र के दर्शन पर विचार-विनिमय करते रहते हैं परंतु, जहाँ तक मैं जानता हूँ, इनमें से शायद ही किसी ने गूर्जियफ़ का नाम तक सुना हो। गूर्जियफ़ ने अपने जीवन का काफ़ी बड़ा भाग पेरिस में व्यतीत किया और उसके बचपन, लड़कपन और युवावस्था के दिन कहाँ और कैसे बीते, इसके विषय में बहुत कम ही पता चलता है। उसके जीवन के ये भाग अधिकतर रहस्यमय धुँधलके में छिपे हुए हैं। कहते हैं कि वह अपने कुछ मित्रों की टोली के साथ वर्षों तक ईरान, तुर्किस्तान, लंका, मिस्र, भारत, अफ़ग़ानिस्तान, तिब्बत आदि कई देशों में गुह्य ज्ञान की खोज में घूमता रहा। यह ज्ञान न तो पुस्तकों में मिलता था और न इसके जानने वाले किसी को इस संबंध में कुछ बताते ही थे। यह वह ज्ञान था जिसके विषय में प्राचीन गुरु अपने शिष्यों को ही बताया करते थे और समय आने पर वे शिष्य केवल अपने शिष्यों को बताते। इस प्रकार यह ज्ञान कुछ ही लोगों तक सीमित रहता।

यों तो ऐसे ढोंगियों की कोई कमी नहीं जो इस प्रकार के ज्ञानी होने का दावा करते हैं, पर यूरोप के बड़े-बड़े बौद्धिकों को ऐसा कोई ढोंगी लंबे समय तक धोखा दे सके, यह संभव नहीं। जब हम यह देखते हैं कि गूर्जियफ़ वर्षों तक यूरोप के चुने हुए बौद्धिकों पर छाया रहा तब हमें यह मानना पड़ता है कि वह अवश्य एक असामान्य व्यक्ति था। औस्पेंस्की, कैनिथ वाकर, कैथरीन मैन्सफ़ील्ड, औरेंज़ मैतरलिंक, रोमेलेंदो, डॉरोथी कैरूसो, फ़्रैंक लायड्, जे० जी० बेनिट, रेने दोमा आदि बीसियों बौद्धिक गूर्जियफ़ से प्रभावित हुए। इनमें लेखक, आलोचक, संपादक, वैज्ञानिक, गणितज्ञ, वास्तुकार––हर प्रकार के लोग थे। और इन सभी ने गूर्जियफ़ के असामान्य व्यक्तित्व को स्वीकार किया है और सराहा है।

आखिर गूर्जियफ़ नाम का यह व्यक्ति कौन था, कहाँ से आया, वह किस प्रकार की शिक्षा देना चाहता था तथा उसने यह ज्ञान कहाँ से प्राप्त किया––इस प्रकार के प्रश्नों का पूर्णरूप से उत्तर देना असंभव है।

नवंबर सन १९१६ की दोपहर का ज़िक्र है। एक रूसी पत्रकार पीटर्सबर्ग के स्टेशन से रेलगाड़ी पर सवार हुआ। जिस डिब्बे में वह बैठा था उसमें काफ़ी भीड़-भाड़ थी और लोग चीख-चिल्ला रहे थे। गाड़ी चलने को ही थी कि एक व्यक्ति डिब्बे में आया और उसी पत्रकार

के सामने वाली सीट पर बैठ गया। उसका अंदाज़ ऐसा था जैसे कोई सम्राट अपने देश में लौट कर आया हो। देखने में वह ईरानी या तातारी नज़र आता था। उसके सिर पर चमड़े की टोपी थी, शरीर का रंग ताँबे की तरह, अमावस की रात जैसी काली आँखें, चंगेज़ खाँ की सी लंबी काली मूँछें। वह चुपचाप चाय पीता रहा, और दूसरे लोग उसे आश्चर्यभरी दृष्टि से देखते रहे।

आगे चल कर वह पत्रकार बताता है कि वह व्यक्ति अपने आप ही कुछ बड़बड़ाने लगा। वह कह रहा था कि महायुद्ध का समय है और सभी लोग कोई न कोई ऐसा कारोबार करने की धुन में हैं जिससे वे देखते ही देखते अमीर हो जायें। इस पर उस पत्रकार ने अचानक ही प्रश्न किया, "आपका अपने बारे में क्या विचार है? क्या आप करोड़पति नहीं बनना चाहते, क्या आप नफ़ा नहीं कमाना चाहते?"

इस पर वह बड़े ही शांत भाव से मुस्कराया और फिर गंभीर स्वर में बोला, "हम सदा ही मुनाफ़े में रहते हैं। युद्ध हो या न हो, हमारे लिए एक ही बात है क्योंकि हमारा मुनाफ़ा कहीं नहीं जाता।"

"आप किस चीज़ का कारोबार करते हैं?"

"सौर्यमंडल की शक्ति—बस, यही है हमारा कारोबार।"

सन १८९० से १९१४ के बीच गूर्जियफ़ कई जगहों में घूमता रहा और रूसी सरकार की ओर से दस वर्ष तक अपनी सरकार का ख़ुफ़िया एजेंट बन कर वह तिब्बत में भी रहा। वह दलाई लामा का गुरु भी रहा और जब अंग्रेज़ों ने सन १९०४ में तिब्बत पर आक्रमण किया तब गूर्जियफ़ दलाई लामा के साथ ही वहाँ से भाग निकला। इसीलिए बाद में जब उसने लंदन में पाँव जमाना चाहा तब लायड जार्ज ने उसका विरोध किया। वास्तव में गूर्जियफ़ को राजनीति से कोई दिलचस्पी नहीं थी। तिब्बत में भी उसका अधिकतर समय अपना काम पूरा करने में ही व्यतीत हुआ।

नवंबर सन १९१४ में औस्पेंस्की मिस्र, लंका और भारत की यात्रा कर के अपने देश रूस पहुँचा। उसे भी उसी ज्ञान की खोज थी जिसे गूर्जियफ़ प्राप्त कर चुका था। जीवन में बहुत-कुछ भटकने के बाद गूर्जियफ़ से भेंट होने पर औस्पेंस्की ने यही अनुभव किया कि गूर्जियफ़ के पास ज्ञान का वह भंडार है जिसकी उसे तलाश थी। रूसी क्रांति से पहले गूर्जियफ़ ने मास्को में अपनी एक छोटी-सी संस्था की नींव डाल ली थी। वैसे तो वह ग़लीचों का कारोबार करता था परंतु उसके शिष्यों की टोली को ही इस बात का ज्ञान था कि वह केवल एक करोबारी व्यक्ति ही नहीं बल्कि ऐसा गुरु था जिसके पास गुह्य ज्ञान का भंडार था। उन दिनों वह एक विशेष प्रकार के नृत्य प्रस्तुत किया करता था जिनके विषय में उसका दावा था कि उससे मनुष्य का भरपूर आंतरिक विकास हो सकता है। एक अख़बार में औस्पेंस्की ने इसका विज्ञापन भी देखा परंतु उसने इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया क्योंकि वह इस प्रकार के कई ढकोसले देख चुका था। बाद में एक मित्र के द्वारा वह गूर्जियफ़ से भेंट करने के लिए राज़ी हो गया। वह लिखता है—मुझे यह पहली भेंट अच्छी तरह याद है। हम एक छोटे से कैफ़े में पहुँचे। यद्यपि यह स्थान शहर के बीचोबीच नहीं था, फिर भी वहाँ काफ़ी शोरगुल था। वहाँ मैंने पूर्वी रंग-ढंग के एक व्यक्ति को

देखा जो युवावस्था पार कर चुका था। उसकी मूँछें काली और आँखें बहुत तेज़ थीं। सबसे पहले जो बात मुझे बड़ी आश्चर्यजनक लगी, यह थी कि वह व्यक्ति बहुरुपिया-सा दिखायी देता था—उस स्थान और वातावरण से बिल्कुल अलग-थलग। इस व्यक्ति का चेहरा किसी हिंदुस्तानी राजा या अरब के शेख़ का-सा लगता था।

आगे चल कर औस्पेंस्की बताता है कि गूर्जियफ़ से उसकी अक्सर भेंट होने लगी। औस्पेंस्की साधारण मनुष्य नहीं था। अन्य विषयों का पंडित होने के साथ-साथ उसने विज्ञान की भी शिक्षा प्राप्त की थी। परंतु उसका कहना है कि जिन प्रश्नों ने वर्षों से उसे चक्कर में डाल रखा था, गूर्जियफ़ ने उनके न केवल संतोषजनक उत्तर दिये, बल्कि अनगिनत नयी दिशाओं के मार्ग पर भी उसे डाल दिया। औस्पेंस्की कई वर्ष तक गूर्जियफ़ के साथ रहा, उससे ज्ञान प्राप्त किया और फिर इस सारे ज्ञान को एक पुस्तक का रूप दे दिया, जो औस्पेंस्की के प्रश्नों और गूर्जियफ़ के उत्तरों के रूप में है। इससे सुकरात और उसके शिष्य अफ़लातून का स्मरण हो आता है।

एकाएक ही गूर्जियफ़ और औस्पेंस्की के बीच खटपट हो गयी जिसके वास्तविक कारण का कुछ पता नहीं चल सका। एक दूसरे से अलग हो कर गूर्जियफ़ ने पेरिस में अपना अड्डा जमाया और औस्पेंस्की लंदन में रह कर उसके सिद्धांतों का प्रचार करने लगा। यहीं पर कैनिथ वाकर की औस्पेंस्की से भेंट हुई और इस सुप्रसिद्ध डाक्टर तथा लेखक ने उसके कई भाषण सुने और उनसे प्रभावित हुआ।

यद्यपि गूर्जियफ़ की वास्तविक आयु और जन्मदिन का ठीक-ठीक पता तो किसी को भी नहीं परंतु कैनिथ वाकर के कथनानुसार उसका जन्म पहली जनवरी सन १८७२ को एलिक्जेंड्रोपोल नामक स्थान में हुआ, जो ईरान से छूने वाली रूस की सीमा पर स्थित है। उसका पिता किसी ज़माने में अच्छा खाता-पीता था और उसके पास भेंड़ों और मवेशियों के रेवड़ थे। एक बार महामारी के कारण उसके सब मवेशी मर गये; यहाँ तक कि उसे अपने ख़ानदान को एक दूसरे नगर में ले जाना पड़ा, जहाँ उसने बढ़ई का काम शुरू कर दिया। गूर्जियफ़ ने भी यही काम सीखा, परंतु धर्म और दर्शन में उसकी गहरी रुचि थी। अपने पिता की ज़बानी उसने प्राचीन असीरिया और सुमेरिया की लोक-कथाएँ सुनीं और वह प्रायः इन पुरानी कथाओं पर गंभीर मनन किया करता था। यही कारण था कि उसने उन्हीं दिनों एक छोटी-सी संस्था बनायी जिसका नाम था 'सीकर्स ऑफ़ द ट्रूथ' अर्थात—सत्य के जिज्ञासु।

गूर्जियफ़ ने अपने जीवन के लगभग पच्चीस वर्ष उस गुप्त ज्ञान को प्राप्त करने में तथा शेष पैंतीस-सैंतीस वर्ष उसके प्रसार में लगाये। उसका कहना था कि उसने कई जाने-पहचाने तथा कई गुप्त धर्मों का अध्ययन करने के बाद उन्हें एक नया रूप दिया। उसका इस बात का दावा नहीं था कि वह किसी नये दर्शन को जन्म दे रहा है बल्कि यह कि उसने प्राचीन और गुप्त ज्ञान को ढूँढ़ निकाला है। उसके सबसे बड़े शिष्य औस्पेंस्की का दावा है कि गूर्जियफ़ के सिद्धांतों पर चल कर ही मनुष्य उन्नति की नयी मंज़िलें तय कर सकता है।

सार्त्रे और गूर्जियफ़ में पहला अंतर तो यह है कि सार्त्रे का दर्शन केवल बौद्धिक है। एक आलोचक ने कहा है कि इस समय सार्त्रे यूरोप के पहली श्रेणी के बौद्धिकों का अगुआ है परंतु कठिनाई यह है कि वह हर प्रकार के प्रश्न उठा तो सकता है, लेकिन उसके पास किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं है। गूर्जियफ़ में यह बात नहीं थी क्योंकि उसका दर्शन और उसके सिद्धांत अपने आप में संपूर्ण हैं। उसके पास हर प्रश्न का उत्तर मौजूद है। यूरोप में जिन लोगों को इस बात का ज्ञान था कि सार्त्रे यूरोप की पुरानी चली आ रही बौद्धिक परंपरा की एक कड़ी से अधिक महत्व नहीं रखता, वे गूर्जियफ़ से विशेष रूप से इसलिए प्रभावित हुए क्योंकि वह खोखला बौद्धिक नहीं था, और न ही किसी धर्म का प्रचार करता था। उसकी शिक्षा में भगवान, पूजा, भजन या मंत्रों के जाप का कोई स्थान नहीं था। वह यह स्वीकार नहीं करता था कि हर मनुष्य में आत्मा होती है, और न उसे इस बात में विश्वास था कि मनुष्य की आत्मा कभी नष्ट नहीं होती। वह कट्टर यथार्थवादी था और उसका दावा था कि मनोवैज्ञानिक ढंग से मनुष्य का विकास हो सकता है। जिन लोगों को वह इस योग्य समझता, उन्हें नया मार्ग भी दिखा देता। यह उसका यथार्थवाद ही था जिसके कारण यूरोप के अनगिनत लोग उसकी ओर झुके। वहाँ के बौद्धिकों को गूर्जियफ़ की तुलना में सार्त्रे केवल शास्त्रीय या अक्रियात्मक प्रतीत होता था।

जो भी लोग गूर्जियफ़ के संपर्क में आये, उन्होंने उसके व्यक्तित्व में एक छिपी हुई महान शक्ति का अनुभव किया। उन्होंने यह भी माना है कि उसकी आँखों में दूसरों को वशीभूत करने की अपूर्व शक्ति थी। परंतु उसे हम एक सामान्य 'सम्मोहक' (हिप्नोटिस्ट) कह कर टाल नहीं सकते, क्योंकि इस प्रकार के 'सम्मोहक' यूरोप में काफ़ी बड़ी संख्या में मौजूद हैं। वास्तव में ऐसा लगता था कि गूर्जियफ़ की आँखों में, उसके नाक-नक़्श में——बल्कि पूरे व्यक्तित्व में, कोई अज्ञात शक्ति कूट-कूट कर भरी हुई थी।

यहाँ हमें सार्त्रे और गूर्जियफ़ में एक और अंतर दिखायी देता है। सार्त्रे सदा से बीमार चला आता है और उसका शरीर एक समान्य बौद्धिक की भाँति शक्तिहीन है। लेकिन गूर्जियफ़ में यह बात नहीं थी। उसका स्वास्थ्य इतना अच्छा था कि जब बुढ़ापे में एक बार मोटर-दुर्घटना में उसका सिर बुरी तरह कुचल गया था और पसलियाँ टूट गयी थीं तब डाक्टरों ने कह दिया कि उसका बचना असंभव है; परंतु वह दो-तीन दिनों में ही उठ खड़ा हुआ और जितनी जल्दी उसके ज़ख़्म भर आये उसे देख कर डाक्टरों को भी आश्चर्य हुआ। उसका चेहरा-मोहरा सुंदर था। खड़ी नाक, साफ़ तराशे हुए होंठ, मज़बूत ठुड्डी, तनी हुई भौहों के नीचे काली तेज़ आँखें, बहुत चौड़ा माथा और सिर का गुंबद बहुत बड़ा और बहुत ऊपर तक उठा हुआ, साधारण क़द। परंतु यूरोपीय उसे नाटा ही कहते थे।

बहुतों ने इस बात को माना है, और स्वयं कैनिथ वाकर ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि जब कोई व्यक्ति गूर्जियफ़ के संमुख जाता तब उसे ऐसा अनुभव होता कि उसने उसे उठा कर अपनी हथेली पर रख लिया, क्षण भर तौला और फिर कुर्सी पर बैठा दिया। अनेक महिलाओं ने भी उसकी इस शक्ति का उल्लेख किया है। वास्तव में जब वह किसी को अपनी शक्ति का परिचय देना चाहता था तब वह बड़ी आसानी से ऐसा कर सकता था। औस्पेंस्की ने एक बार

का ज़िक्र करते हुए लिखा है कि एक दिन कुछ लोगों के साथ वह गूर्जियफ़ के सामने बैठा था। अकस्मात उसे ऐसा अनुभव होने लगा जैसे गूर्जियफ़ का स्वर उसकी अपनी छाती से उठ कर उसके मस्तिष्क तक पहुँच रहा है। इस प्रकार औस्पेंस्की बिना बोले मन ही मन गूर्जियफ़ से प्रश्न करता रहा और गूर्जियफ़ बिना मुँह से बोले उन प्रश्नों का उत्तर देता रहा—और उन उत्तरों को औस्पेंस्की 'सुनता' भी रहा।

इस लेख का उद्देश्य गूर्जियफ़ के सिद्धांतों की चर्चा करना नहीं है, मात्र उसका संक्षिप्त परिचय देना है। यहाँ मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि गूर्जियफ़ की शिक्षा ऐसी नहीं है जिसे बिना गुरु के प्राप्त किया जा सके, और ना ही बिना गुरु के उसके बताये हुए मार्ग पर चला ही जा सकता है। उसने पेरिस में एक आश्रम चलाया। यूरोप और अमरीका में कुछ ऐसी संस्थाओं की स्थापना की गयी जिनमें उसके सिद्धांतों का प्रचार किया जाता था। उसके आश्रम में शारीरिक परिश्रम को बहुत महत्व दिया जाता था और शिष्यों को हर प्रकार के काम-काज करने पड़ते थे। वह अपने शिष्यों के साथ मौखिक विचार-विनिमय करता और फिर उसके कहने पर एक शिष्य उसी के रचे हुए ग्रंथ का कोई भाग पढ़ कर सुनाता, और फिर सभी उस विषय पर विचार-विमर्श करते। इन सब बातों के अतिरिक्त, कुछ विशेष प्रकार के नृत्य भी थे जिन्हें बहुत कम शिष्य निभा पाते--परंतु वे नृत्य थे बड़े आवश्यक। गूर्जियफ़ ने दो ग्रंथों की रचना की जिसमें एक का नाम है : **'ऑल एंड एव्री थिंग'**। यह पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। दूसरी पुस्तक का नाम है : **'रिमार्केबिल मेन आइ हैव मेट'**। यह पुस्तक मेरी नज़र से नहीं गुज़री। शायद छपी ही नहीं।

एक अजीब बात यह थी कि पश्चिमी लोगों में से अधिकांश को उसकी शिक्षा रास नहीं आयी। लुई पोवे ने साढ़े चार सौ पृष्ठों की एक पुस्तक फ्रांसीसी भाषा में आज से दस वर्ष पहले लिखी थी, जो हाल ही में अंग्रेज़ी भाषा में भी छप गयी है। इसमें लेखक ने उपर्युक्त विषय पर विचार किया है। गूर्जियफ़ के कोई-कोई शिष्य तो पागलपन की सीमा तक पहुँच गये। लुई पोवे का विचार है कि पूर्वी लोगों पर गूर्जियफ़ की शिक्षा का ऐसा उलटा प्रभाव पड़ने का भय नहीं था; परंतु पश्चिमी देशों के लोगों का मनोविज्ञान एकदम भिन्न होने के कारण उस शिक्षा का उलटा प्रभाव पड़ जाता था। स्वयं लुई पोवे की भी यही दशा होते-होते बची।

गूर्जियफ़ के विषय में बहुत कुछ लिखा गया है और बहुत कुछ लिखा जायगा, परंतु वह सब के लिए जीवन भर एक पहेली ही बना रहा। उसने अपने किसी शिष्य पर अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं होने दिया। यह भी कहा जाता है कि उसने शायद यह इसलिए किया कि उसे जीवन भर एक भी उपयुक्त व्यक्ति नहीं मिला जिसे वह अपना सारा ज्ञान सौंप सकता। इसीलिए सन १९४९ में मरते समय उसने चारों ओर खड़े शिष्यों पर दृष्टिपात करते हुए कहा कि मैं आप लोगों को अजीब उलझन में छोड़े जा रहा हूँ; इतना कह कर उसने आँखें बंद कर लीं।

उसके संबंध में यह संदेह भी प्रकट किया जाता है कि 'मार्ग' को जानते हुए भी वह स्वय मंज़िल तक नहीं पहुँच सका। लुई पोवे ने यहाँ तक कहा है कि शायद वह अपने शिष्यों का सीढ़ियों के तौर पर उपयोग करता रहा; उन पर अपने तजुर्बे करते हुए वह स्वयं मंज़िल तक पहुँचना चाहता था परंतु रास्ते में ही रह गया।

जे० जी० बेनिट का कहना है कि गूर्जियफ़ ने इस बात की ओर भी संकेत किया था कि उसकी मृत्यु के बाद एक नया गुरु उसका स्थान सम्हालेगा। बेनिट के विचार से उसका संकेत पाक सुबुह की ओर था, जो इंडोनेशिया के निवासी हैं। पाक सुबुह से भेंट होने पर बेनिट का विश्वास और भी दृढ़ हो गया।

कुछ ही समय पहले एन मार्शल ने एक पुस्तक 'हंटिंग द गुरू इन इंडिया' लिखी है जिसमें उसने लिखा है कि नयी दिल्ली में वह भी पाक सुबुह के एक सम्मेलन में गयी थीं परंतु उस पर कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ा।

इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है कि गूर्जियफ़ की गणना उन व्यक्तियों में की जा सकती है जो शताब्दियों में ही एक बार जन्म ले कर संसार में आते हैं।

—५१७, नेता नगर, नयी बस्ती, कीडगंज, इलाहाबाद।

माध्यम
का
केरल विशेषांक
शीघ्र प्रकाश्य

मलयालम भाषा और लिपि
केरल की समसामयिक काव्यधारा, कथा, नाटक,
लोक-संस्कृति, शिल्प और कला
केरलीय समाज-परंपरा और प्रचलन, विविध
संस्कृतियों का संगम और केरलीय कलाएँ
तथा
केरल की संत-धारा
केरलीय संस्कृत साहित्यकारों की देन
केरलीय दर्शन, ज्योतिष तथा तंत्र-मंत्र
साथ ही
केरलीय कविता, कथा तथा अन्य विधाएँ
पठनीय तथा संग्रहणीय

शिवमंगल सिंह 'सुमन'

दो कविताएँ

निष्फल सर्जन

आज बहुत पास से
पलाश के निकल गया
आँच लगी
निर्विकल्प
पत्ते झरते रहे
निर्निमेष
नंगी डालियों से
लिपटी रहीं लपटें
निष्फल
सर्जनाकुल ।
गेहूँ की पकी फ़सल
काट रहे हैं किसान
दरमियान
धरती और अंबर के
दाने ही दाने हैं
कभी भोज
कभी बीज
नाचीज़ ।

जलन की शोध

लाओ ज़रा चूम लें
तुम्हारे होठों की जलन
वर्ना दबी आग में
अनाहत
भुन जाओगी,
मैं जल गया तो
पकी ईंट बन जाऊँगा,
चाहे न सँवर सकें
उससे भवनों के शिखर
किंतु किसी ललक से
विलोड़ित आपन्नसत्वा
अंतस के सत्व से
समुच्छ्वसित क्षण समेट
दुबक किसी कोने में
सोंधेपन की शोध में
कदाचित अयाचित ही
जली-भुनी मिट्टी का
मर्म कुछ पा जाय ।

●

प्रधानाचार्य,
माधव कॉलेज, उज्जैन ।

जार्ज सेफ़रिस की दो कविताएँ

* * *

"यदि मुझे अपनी कविता के लिए कोई 'उद्देश्य' रखना ही पड़ता तो संभवतः वह कुछ ऐसा होता : 'मेरी निर्धनता में ही मेरी ताक़त है'।"

रेक्स वार्नर ने उनकी कविताओं के अनुवाद प्रस्तुत करते हुए कहा कि इस वाक्य का अभिप्राय भाषा की निर्धनता नहीं है बल्कि एक शब्द के पर्याप्त होने पर कभी भी दो शब्दों का प्रयोग न करना है। हर शब्द का अपना वज़न है, अपना रंग या कवि के शब्दों में अपना एक प्रभामंडल है:

१९६३ के नोबल पुरस्कार-विजेता ग्रीक कवि जॉर्ज सेफ़रिस की दो कविताओं के अनुवाद यहाँ प्रस्तुत हैं।

* * *

हमारा अपना सूरज

यह सूरज मेरा था और वह तुम्हारा था : हमने उसे बाँट लिया।
कौन तकलीफ़ में है उस सुनहरी यवनिका के पीछे? कौन मर रहा है?
एक औरत चिल्लायी, अपनी सूखी छातियों को पीट कर : 'कायरो,
वे मेरे बच्चों को ले गये हैं और उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर दिया है।
तुमने उन्हें मार डाला, शाम के समय जुगनू देखते हुए
उस विचित्र दृष्टि से, जो अंधे ध्यान में खो गयी थी।'
वृक्ष की हरी रोशनी हाथ पर, जहाँ ख़ून सूख रहा था;
एक सोया हुआ योद्धा भाला पकड़े, जो उसके बग़ल में चमक रहा था।

यह सूरज हमारा था। सुनहरे बेलबूटों के पीछे हमने कुछ नहीं देखा।
बाद में दूत आये, बेसाँस और गंदे,
अस्फुट, अज्ञात शब्दों को बुदबुदाते हुए;
बीस दिन और रात बंजर भूमि और केवल काँटों पर
बीस दिन और रात घोड़ों के पेट से रक्त चुआते भागते रहे
और नहीं एक पल विश्राम के लिए और वर्षा-जल पीने के लिए।

तुमने उनसे कहा था, पहले आराम करें बात बाद में;
रोशनी ने तुम्हें अंधा कर दिया था।
वे यह कहते हुए मर गये, 'हमारे पास समय नहीं है',
छुआ था उन्होंने सूरज की कुछ किरनों को।
तुम भूल गये थे कोई कभी आराम नहीं करता है।

एक औरत ग़ुर्रायी, 'कायरो!' रात में कुत्ते की तरह।
वह कभी तुम-सी ही सुंदर रही होगी
नम होंठों से, चर्म के नीचे जीवित नसों से
प्रेम से—

यह सूरज हमारा था; तुमने इसे साबुत रखा;
तुम मेरा अनुसरण करना नहीं चाहते थे।
और तब मैंने सुनहरी यवनिका के पीछे इन वस्तुओं को जान लिया।
हमारे पास समय नहीं है। दूत सही थे।

●

१९४१ के जून के दिन

सिकंदरिया पर नया चाँद उगा
अपने हाथों में एक पुराना चाँद थामे हुए
और हम अपने रास्ते पर सूर्य के द्वार की ओर
हृदय की रात्रि में,——तीन दोस्त।

हमने खोजा था अपनी युवावस्था में रूपांतर
इच्छाओं से जो चमक उठी थीं बड़ी मछलियों-सी
समुद्रों में जो अचानक सिकुड़ गये :
हम विश्वास किया करते थे देह की सर्वशक्तिमत्ता में।
और अब नया चाँद आलिंगन में उग आया है
पुराने चाँद के साथ; और ख़ूबसूरत द्वीप लेटा है
जख्मी और ख़ून चुआता, शांत द्वीप, शक्तिशाली, मासूम।
और शरीर टूटी हुई शाखाओं के समान
धरती से उखड़ी हुई जड़ों के समान।

हमारी प्यास

एक घुड़सवार की मूर्ति
सूरज के अँधेरे द्वार पर
नहीं जानती क्या माँगे; रक्षक बन खड़ी है
आसपास के इस निर्वासिन में
सिकंदर के दफ़न-स्थान के समीप।

●

अनु० : अमृता भारती
लवली हाउस, सांताक्रूज (पूरब), बंबई - ५५।

माध्यम
के
लेखकों से विनम्र निवेदन
है कि

- हम रचनाओं की अस्वीकृति की सूचना नहीं देते।
- स्वीकृत रचनाओं की सूचना साधारणतया रचना-प्राप्ति के एक पखवारे के भीतर दे देते हैं।
- रचनाओं की वापसी के लिए टिकट-लगा लिफ़ाफ़ा अवश्य भेजें।

उमाकांत मालवीय

●

एक सहज प्रश्न

मैं तुम्हारे चरण-चिह्नों पर चलूँ,
मैं तुम्हारे दिये साँचों में ढलूँ,
ऐसा दुराग्रह क्यों ?
ऐसी दुराशा क्यों ?

अनुकरण-अनुसरण से यदि दूर हूँ,
यह न भ्रम हो दर्प-मद से चूर हूँ,
भीख में पाये उजाला सूर्य से,
मैं निकम्मे चंद्रमा-सा ही जलूँ,
और कल की जूठनों पर ही पलूँ।
ऐसा दुराग्रह क्यों ?
ऐसी दुराशा क्यों ?

भूमिका कल की बड़ी थी मानता,
आज का, जो दाय, वह भी जानता।
दूँ दुहाई सदा स्वर्ण अतीत की
मूँग छाती पर दिवंगत की दलूँ,
आज का दायित्व कंधों पर न लूँ।
ऐसा दुराग्रह क्यों ?
ऐसी दुराशा क्यों ?

●

८९७ ए०, कल्याणीदेवी,
इलाहाबाद - ३।

प्राण गुप्त

आ गये बादल !

●

दूर सागर-कंदराओं से निकल,
व्योम के वन-प्रांतरों को रौंदते,
क्रुद्ध बाघिन-सी करारी धूप पर,
टूट पड़ते बिजलियों-से कौंधते।
मान कर रोटी तँदूरी सूर्य को,
खा गये बादल !
आ गये बादल !

चोट-खायी सर्पिणी के गर्व-सी,
झूमती-झुकती हवा फुफकारती,
लपलपाती जीभ के कोड़े चला,
पेड़-पौधों को चटाचट मारती।
ये सँपेरे की जटाओं-से सघन,
छा गये बादल !
आ गये बादल !

प्रेमिका की छुअन-सी बौछार यह,
पीर भर देती समूचे गात में,
एक भीनी गंध घूंघट खोलती,
मनचले आषाढ़ के इस प्रात में।
मानिनी धरती उठी, सँवरी-सजी,
भा गये बादल !
आ गये बादल !

●

चाँदनी चौक, रतलाम (म० प्र०)

कैलाश कल्पित

●

वर्षा का आगमन

वर्षा-बहुरिया की डोली के
प्राची के द्वार पर आते ही
जेठ का शासन नभ से अवसन्न हुआ।

मटमैले खद्दर-से नक्षत्री नभचर
लाल-लाल ताँबे-से जलते
आकाश को निगल गये।
बहुरंगी नभ-पिनाक
उत्तर से दक्षिण तक
झालर-सा फैल गया।
स्वागत के ढोल बजे,
दिशा-दिशा गूँज गयी,
बूँदों की चिरइयाँ
आँगन में नाच उठीं,
घुँघरू सब बिखर गये
खेतों में।

अगले दिन
कुछ काले, कुछ भूरे घोड़ों ने
घेर लिया अंबर को
जैसे कि कुरुक्षेत्र।
किंतु पड़ा दामिनि का चाबुक
जब पीठ पर
ऐसे वे भागे कि श्रम-बिंदु छूट गया ।
घर, आँगन, खपरैले
सब के सब भीग गये।
बीते कुछ और दिवस
धरती ने धानी-सी चूनर लपेट ली।
यहाँ-वहाँ गुलमेंहदी
होठों की लाली-सी चटक हुई।
ससुराली गलियों के अल्हड़ जवानों-से
तारक-दल, देवर बन
उतर आये अंबर से
भाभी को देखने।
बच्चों ने
जुगुनू की उनको उपाधि दी,
कवि ने समर्थन किया।

हर-हर कर झरा प्रेम
छोटी बिस्तुइया-सी
सरिताएँ उफन उठीं,
नालों ने नदियों की बाहों को
थाम लिया,
मेढक ने मंत्र पढ़े,
वर्षा-बहुरिया के
ऐसे कुछ चरण पड़े,
धरती से अंबर तक
प्रणय-गीत गूँज उठे
झींगुर में, झिल्ली में
और राजहंसों में...

●

२१५।६५, चक, इलाहाबाद।

वी० आर० जगन्नाथन

साहित्य में बाह्य प्रभाव:

भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में

'साहित्य में बाह्य प्रभाव : भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में'—इस शीर्षक से यही व्यंजित होता है कि भारतीय साहित्य अपने में एक स्वतंत्र इकाई है जिस पर अन्य भाषा-साहित्यों का प्रभाव ही द्रष्टव्य है। यह बात बहुत दूर तक सच है। भारतीय जनता में प्रादेशिक अंतरों के कारण सामाजिक वैभिन्य के होते हुए भी इसके संपूर्ण साहित्य में एक अन्वय-सूत्र है जो सारे साहित्य को एक सांस्कृतिक भावभूमि पर प्रतिष्ठित कर उसकी सहज क्रियाशीलता पर नियंत्रण रखता है। जहाँ भारत की जनता ने बाह्य परिस्थितियों और विचारधाराओं का, स्वीकृति तथा निरोध में, प्रभाव ग्रहण किया, वह न्यूनाधिक रूप से सारी भाषाओं पर पड़ा। जैसे भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के समय में सारे भारत में भारतीय संस्कृति के उन्नायकों तथा दासता की बेड़ियों से मुक्ति दिलाने को कटिबद्ध, रोषपूर्ण लेखकों का अभ्युदय। इसी प्रकार भक्ति के अभ्युत्थान-काल में सारा भारत एक ही इकाई के रूप में हमारे सामने आता है। दक्षिण के आड़वार आदि कवि, पूरब के शंकरदेव, चैतन्य, पश्चिम के तुकाराम, नामदेव तथा उत्तर के संत-भक्त कवि—इन सभी में भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की दृष्टि से कोई पार्थक्य नहीं है।

भाषा पर कई कारणों से और कई प्रकारों से प्रभाव पड़ता है। भौगोलिक नैकट्य के कारण, सांस्कृतिक संपर्क से और अन्य राजनीतिक कारणों से प्रभाव लक्षित होते हैं जिनमें प्रमुखता की दृष्टि से सांस्कृतिक प्रभाव ही पहला है। जहाँ भौगोलिक आधार से ही प्रभाव पड़ता है वह भाषा पर भाषा का, मुख्यतया शब्दों के आदान-प्रदान का ही, होता है और यह ऊपरी प्रभाव है। यह प्रभाव साहित्य की प्रवृत्तियों, धाराओं और गतिविधियों पर गहरी छाप नहीं छोड़ता। इस स्थिति में शब्दों की सांस्कृतिक आवश्यकताओं और अधिकृत समाज की हीन वृत्ति की दमनेच्छा आदि अन्य मनोवैज्ञानिक कारणों से, भाषा की शब्दावली, मुहावरे और कहीं-कहीं शैली पर भी प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक कारणों से भी भाषा पर प्रभाव पड़ सकता है। जैसे मुग़लकालीन हिंदी साहित्य पर और आधुनिक भारतीय भाषा-साहित्यों पर परिलक्षित होता है। यह प्रभाव संपर्क तथा सांस्कृतिक प्रभाव के बीच की अवस्था है। पर जहाँ जनता दृढ़चित्त है वहाँ वह इस प्रभाव से मुक्त भी हो जाती है। एक सर्वविदित उदाहरण है—भक्ति-काल का भारतीय समाज तो पराधीन था, किंतु उस समय का सांस्कृतिक भारत पराधीन न था। कवि-मनीषियों की सजग

चेतना और उनका भाव-क्षेत्र निर्विवाद रूप से भारतीय ही था। अंततः सांस्कृतिक प्रभाव है, जो साहित्य की अंतर्वर्तिनी धाराओं और मूलभूत मान-दंडों में व्यापक या कहीं आमूल परिवर्तन करने में समर्थ होता है।

यह बाहरी प्रभाव कई माध्यमों से आता है। इसका सरलतम और अत्यंत साधारण कोटि का माध्यम अनुवाद या प्रत्यक्ष अनुकृति है––क़लम की तरह एक संस्कृति की शाखा को दूसरे सांस्कृतिक परिवेश में जमा देना। पर अनुवाद का प्रत्यक्ष प्रभाव की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। यह अनुवाद न तो अपनी भाषा का ही प्रतिनिधि रूप प्रस्तुत करता है, न इसे अनूदित भाषा की साहित्यिक धाराओं का ही अंग माना जायगा। किसी पृष्ठभूमि के अभाव में यह अपने साहित्य का भी परिचायक नहीं माना जा सकता। दूसरा प्रभाव विदेशी समाज की पृष्ठभूमि में लिखे गये भारतीय साहित्यकारों की कृतियों का है। हिंदी में इस दिशा में निर्मल वर्मा आदि अनेक कलाकार सक्रिय रूप से काम कर रहे हैं। यह साहित्य-संप्रदाय न मूल साहित्य से ही मेल खाता है, न इस साहित्य का ही अपने में कोई सहज अन्वय है। क्योंकि कोई जापानी परिवेश में लिखता है तो कोई यूरोप के रंगमंच पर। अपरिचित मंच पर परिचित पात्रों का अनोखा अभिनय और अपरिचित वातावरण में अपरिचित पात्रों का परिचित भावनृत्य देखने में अच्छा होते हुए भी अजीब है। इस नये कौशल को नया साहित्यिक 'स्टंट' ही माना जा सकता है।

साहित्य पर स्थायी प्रभाव वहाँ पड़ता है जहाँ समाज के बदलते धार्मिक-नैतिक मूल्यों का प्रभाव साहित्य के प्रतिमानों पर पड़े, जहाँ साहित्य के रचयिता जीवन के दृष्टिकोण में परिवर्तन के अनुरूप नयी नयी दिशाओं में सोचें-विचारें। इस प्रकार का प्रभाव ही आधुनिक हिंदी साहित्य पर अधिक पड़ा है और पड़ रहा है, जिस प्रभाव से आधुनिक भारतीय भाषाएँ ही क्य, विश्व भर की विकसनशीला भाषाएँ प्रभावित होती रही हैं। पूर्वकाल में, प्रचार-साधनों के अभाव में तथा अन्य सामाजिक कारणों से मानव इतना विचार-प्रधान न हो सका जितना वह आज है और इस चिंतन-शक्ति तथा बौद्धिकता का गहरा प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा है। इसी कारण पूर्वकाल में जहाँ भाषा की शब्दावली, शैली आदि पर सतही प्रभाव ही पड़ा था, वहाँ सारा आधुनिक साहित्य विश्व की हर विचारधारा से अनुप्राणित है, हर घटना से स्पंदित है तथा विश्व-साहित्य की हर विधा या विचारधारा के साथ क़दम मिलाकर चलने में समर्थ है।

यह युग ही मानव इतिहास में अत्यधिक उथल-पुथल का युग है जिसमें आये दिन सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मूल्यों में परिवर्तन तथा विभिन्न विचारधाराओं और मान्यताओं का नितांत उत्कर्षापकर्ष होता रहा। विज्ञान की हर खोज, समाज की हर क्रांति और आंदोलन तथा विचारकों की हर बदलती मान्यता ने समाज पर और अंततः साहित्य पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ा। उदाहरण के लिए विश्वयुद्ध से प्रभावित साहित्य हेमिंग्वे का तथा फ़्रायडवाद से प्रभावित साहित्य डी० एच० लारेन्स का है। हिंदी साहित्य में रूसी आंदोलन और मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव पड़ा। साहित्य ने इन सभी संघातों और परिवर्तनों की सत्यता तथा समर्थता को परखा और वह आज भी समाज के अनुरूप अपने को ढालने में सतत प्रयत्नशील है।

बाह्य प्रभाव की दो दिशाएँ---बाह्य (याने सौंदर्य या आनंदानुभूति को छोड़ कर अन्य बाहरी प्रेरणाएँ) और विदेशी---हैं। किसी कवि को वेस्टमिन्स्टर एबे को देख कर तथा किसी को बैकाल झील को देख कर तथा सारे भारतीय कवियों को चीनी आक्रमण से प्रेरणा मिली। यह प्रेरणा बाह्य हो सकती है। इन बाह्य प्रेरणाओं से स्वत: निष्पन्न काव्य का बुरा असर तो क्या, हितकर परिणाम ही होता है जैसे आरंभ में मैंने भक्ति आंदोलन तथा स्वतंत्रता-संग्राम का उल्लेख किया है। यह साहित्य किसी बाह्य प्रभाव से प्रेरित है, चाहे वह अवचेतन से संतुष्ट सौंदर्य-चेतना हो, या कोई बाह्य दृश्य या घटना। यह प्रभाव (या प्रेरणा) विदेशी प्रभाव से इस दृष्टि से विशिष्ट है कि विदेशी प्रभाव सप्रयत्न ग्रहण किया जाता है, उसके ग्रहण के अनेक कारण और लंबी प्रक्रिया होती है। इस प्रेरणा से किसी को कोई असंतोष होना नहीं चाहिए। शिकायत तो तभी होगी जब दो विभिन्न संस्कृतियों में या सामाजिक संगठन में संघर्ष हो और किसी एक की चीज़ दूसरे पर थोपी जाय। वहाँ एक की चीज़ दूसरे के लिए नवीन आकर्षण होते हुए भी अधिक मात्रा में अपाच्य हो सकती है। पर जहाँ दो संस्कृतियों में विभिन्नता नहीं है वहाँ तो केवल विचारों और आचारों का आदान-प्रदान मात्र होता है, न कि कोई बाह्य प्रभाव। यही बात भारतीय भाषाओं पर लागू होती है।

हिंदी साहित्य ने भी न्यूनाधिक रूप में आधुनिक युग के सभी सामाजिक तथा वैचारिक संघर्षों से प्रभाव ग्रहण किया है। छायावाद के बाद, जो ख़ुद ही यूरोपीय रोमान्सवाद से प्रभावित है, कई अन्य वादों की भरमार-सी आयी। इनके पीछे एक ओर साहित्य में पड़े लंबे रचना-व्यवधान को शीघ्रातिशीघ्र पाटने की व्यग्रता है तो दूसरी ओर अपने साहित्य के अभाव से त्रस्त मन की हीन भावना है जो हर किसी विदेशी प्रभाव लहर को बड़प्पन की निशानी समझ कर पकड़ती है, चाहे वह बीटलों का गाना हो, चाहे ट्विस्ट नृत्य। इन सभी कारणों से हमें यह निर्धारित करना आवश्यक होगा कि प्रभाव की दिशाएँ और सीमाएँ क्या हों जिनका अतिक्रमण न हो। आज के विद्वत्समाज के दो बहुचर्चित विषय हैं---नयी कविता और नयी कला (चित्रकला)। नयी कविता अपने बिंबात्मक खंड-चित्र-विधान, प्रतीकों की भरमार और विवेचना-विश्लेषण-प्रधान बौद्धिक दृष्टि के कारण जटिल होती जा रही है। नयी कला भी चिंतन-प्रधान गूढ़ शैली के कारण दुरूह हो गयी है। हमें सोचना और निर्धारित करना चाहिए कि क्या इन पर बाह्य प्रभाव (यदि नये कवि न सहमत हों तो बौद्धिकता को ही बाह्य मानने का निवेदन करूँगा) इतना अधिक हो कि हम इन्हें कला से बाहर निकाल कर कलाबाज़ी तक पहुँचा आएँ। दूसरी ओर अस्तित्ववाद की जोरों से चर्चा हो रही है, प्रधान रूप से इसलिए कि अभी सार्त्र पुरस्कृत हो चुके हैं। पर हम स्पष्ट रूप से जानते हैं कि अस्तित्ववादियों के क्षणवादी और भौतिकवादी दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति से एकदम भिन्न हैं, दोनों दो ध्रुवों पर स्थित। तो क्या एक कलाकार अपना सामर्थ्य जताने के लिए भारतीय साहित्य-परंपरा में एक अनावश्यक मोड़ देना या हल-चल उत्पन्न करना चाहता है? यह बाह्य प्रभाव निश्चय ही साहित्य के लिए हितकर नहीं है। हिंदी में अन्य कई वादों का भी प्रचलन है, जैसे अतियथार्थवाद का, जो कुख्यात दादावाद का आश्रय लेकर चला था, नकेनवाद के रूप में अनावश्यक प्रक्षेपण। चंद पूर्व-राफेलवादियों द्वारा

चलाया गया कलावाद भी जो स्पष्टतया भारतीय काव्य-परंपरा के अनुकूल नहीं है, बहुत दिनों तक हिंदी-साहित्याकाश में मँडराता रहा।

इन प्रभावों की प्रक्रिया भी बड़ी लंबी होती है। पलायन, स्वीकृति और निरोध—इन तीनों अवस्थाओं में यह प्रक्रिया पूरी होती है। पलायन तो अर्धस्वीकृति की अवस्था है। स्वीकृति तो बाह्य प्रभाव को स्वागत के साथ स्वीकार करने की स्थिति है। स्वीकृति भी तब समस्या बन जाती है जब इसकी मात्रा इतनी अधिक बढ़ जाय कि साहित्य की जड़ ही उखड़ने लगे। मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि मुक्त मन से प्रत्येक प्रभाव ग्रहण करना चाहिए। इसी मुक्त प्रभाव-ग्रहण का फल आज आक्रांत जापान भोग रहा है। निरोध की अवस्था ही दो संस्कृतियों की टक्कर दिखाती है। यही वह छलनी है जो हानिकर प्रभावों को साहित्य से दूर करती है। पर यह निरोध भी राजनीतिक कारणों से बहुत दूर तक बढ़ाया जा सकता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तमिल भाषा में मिलेगा। तमिल में से प्रचलित अंग्रेज़ी, संस्कृत शब्दों को निकाल कर 'शुद्ध' तमिल शब्दों को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। यह 'शुद्धीकरण' का आंदोलन ज़ोर पकड़ कर कन्नड़ तक पहुँचा, जो इस बात का गर्व करती है कि वह भी तमिल के समान और अन्य द्रविड़ भाषाओं की अपेक्षा 'स्वतंत्र' या 'शुद्ध' रूप से प्रयुक्त की जा सकती है।

जिस मणिप्रवाल शैली की चर्चा की जाती है उसका संबंध तमिल से भी गहरा है। आड़-वारों के गीतों के व्याख्याकारों ने संस्कृत शब्दों का निस्संकोच बहुलता से प्रयोग किया। यह सत्य है कि हिंदी के अच्छे ज्ञान के बावजूद मैं भी उस गद्य को सहजता से पढ़ नहीं सकता। आप विश्वास मानें, यह भी सत्य है कि उन व्याख्याओं को पुनः तमिल में 'अनुवाद' करने का कार्य अन्नामलै विश्वविद्यालय को सौंपा गया है। मुझे यहाँ यही कहना है कि आलोचकों का आक्षेप यह है कि इन व्याख्याकारों ने मणिप्रवाल शैली को ले आकर तमिल भाषा की 'शुद्धता' को बिगाड़ दिया है। इस प्रकार निरोध की स्थिति राजनीतिक आदि कारणों से बहुत दूर तक बढ़ायी जा सकती है। हिंदी भी इस दोष से मुक्त नहीं है। सामान्य भाषा को भी उर्दू के प्रचलित शब्दों से मुक्त करने की काफ़ी चर्चा पहले सुनायी पड़ती थी। इस संदर्भ में निष्कर्ष रूप से यही कहना है कि शब्दों आदि संबंधी सतही प्रभाव को हटाना केवल अहम्मन्यता है। पर हानिकर प्रभाव का मुक़ाबला करना हमारा कर्तव्य है।

एक बात और विचारणीय है। बाह्य प्रभाव के निवारण (या नियंत्रण) के संदर्भ में राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता का प्रश्न भी उठ सकता है। यहाँ मुझे इतना ही कहना है कि हमें अपनी संस्कृति को ही सामूहिक रूप में अपने सामने रखना होगा। हम संस्कृति से अभिन्न या संबद्ध किसी प्रभाव को स्वीकार कर सकते हैं और संस्कृति की प्रकृति से भिन्न या विरुद्ध किसी प्रभाव को उसकी संभाव्य प्रतिक्रिया की कसौटी पर कस कर ही ले सकते हैं।

—केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा।

घनश्याम रंजन

कहानी

खिड़की के बाहर की ज़िंदगी

मैं रोज़ देखता हूँ। हमेशा देखता हूँ। आज भी देख रहा हूँ। मेरी खिड़की खुली है। सिमटे हुए पर्दे चौखटे के समानांतर लटक रहे हैं। ठंढी-ठंढी हवा का झोंका जब आता है तो सिमटा हुआ पर्दा हरकत करने लगता है; और उस हवा का स्पर्श मुझे बड़ा भला लगता है। मगर क्षण-क्षण हवा का झोंका आ रहा है, जिससे उस ओर मेरा ध्यान नहीं है। मैं खिड़की के बाहर देख रहा हूँ। सामने दो भवन दिखायी पड़ रहे हैं, एक पूरा और एक आधा। दोनों ही एकमंज़िला हैं। बाँयीं तरफ़ वाले भवन में कई दरवाज़े हैं, मगर केवल दो ही खुले हैं। एक एक कोने का, एक दूसरे कोने का, मेरी निगाह इधर-उधर घूम कर एक दरवाज़े पर पहुँच जाती है। उस दरवाज़े में कोई विशेषता नहीं है। न ही वहाँ खड़ा कोई किसी की प्रतीक्षा कर रहा है। दहलीज सूनी पड़ी है। दूसरे दरवाज़े के सामने तीन-चार मोटरें और ट्रकें खड़ी हैं। सभी ख़राब हैं। यहाँ इनकी मरम्मत की जायगी। कुछ लोग एक कार को चमकाने में लगे हैं। कार के नीचे कीचड़ फैला है, काला-गंदा कीचड़ ; पर मेरी निगाह वहाँ भी नहीं ठहरती है। सड़क पर आने-जाने वाली भीड़ पर पहुँच जाती है। एक ओर से मोटर, रिक्शे और साइकिलें आ रही हैं; दूसरी ओर से भी यही सब है। कहीं से कोई कुत्ते का पिल्ला उस सड़क की भीड़ में आ कर फँस गया है। रिक्शे वाला धत-धत करके उसे भगा रहा है। उधर से वह दूसरी ओर हटता है, साइकिल वाला भी धत-धत करके ठीक उसके क़रीब से अपनी साइकिल निकाल ले गया है। पिल्ला घबरा कर पीछे लौट रहा है, मगर दूसरी साइकिल ने उसे रोक दिया है। वह दूसरी तरफ़ भागना चाहता है पर ताँगे में जुते घोड़े की टाप की आवाज़ और ताँगे वाले की धिक्कार से सहम गया है।

मैं सोच रहा हूँ, इस भीड़ में वह ज़रूर कुचल जायगा; मर जायगा। और मेरे सामने सड़क पर कुचला पड़ा कुत्ते का शरीर दिखायी पड़ने लगा है, जिससे बच कर, नाक-भौं सिकोड़ते हुए लोग आ-जा रहे हैं। मक्खियाँ भिनभिनाने लगी हैं। मगर उस कुत्ते का कुचला हुआ घिनौना जिस्म सड़क पर पड़ा है। किसी ने भी टेलीफोन करके मुर्दा उठाने वाली गाड़ी को नहीं बुलाया है। फिर मैं झट काल्पनिक जगत से यथार्थ की पक्की सड़क पर आ गया हूँ। कुत्ते का पिल्ला मरा नहीं है। शायद अभी उसे और जीना है। एक रिक्शे का पिछला पहिया उसकी टाँग पर चढ़ गया है। वह पें-पें करके चिल्लाया है और फिर बेतहाशा पटरी की ओर भाग खड़ा हुआ है। एक साइकिल वाला उसे बचाने के प्रयत्न में खुद गिर पड़ा है। लोग हँसने लगे हैं। साइकिल वाला

जल्दी से साइकिल पर चढ़ कर कुत्ते के पिल्ले को घूरता हुआ चला गया है। और वह पिल्ला अभी भी पें-पें करता-करता एक ट्रक के नीचे खड़ा हुआ अपनी टाँग झटकार रहा है। कुछ बच्चे उसे देख-देख कर तालियाँ पीटने लगे हैं। उन्हें मज़ा आ रहा है।

मेरी निगाह लौट कर खिड़की के पर्दे पर आ गयी है। आज पर्दा कुछ गंदा लग रहा है। मैंने सोचा, कल इसे धुलाईघर में भिजवा दूँगा। दूसरा पर्दा जो उस दिन छींट के एक कपड़े को फाड़ कर बनवाया था, यहाँ लगा दूँगा। उसकी छींट बड़ी दिलकश है। जिस वक़्त वह कपड़ा ख़रीदा था, दुकानदार से बड़ी झिकझिक करनी पड़ी थी। बड़ी मुश्किल से उसने चार आने यह कह कर छोड़े थे, "अच्छा जी, यह पैसे और कभी किसी सौदे में वसूल लेंगे!"

"हाँ-हाँ, वसूल लेना।" मैंने कहा था।

मेरी खिड़की में जँगले नहीं लगे हैं। एक चौकोर सा हिस्सा खुला हुआ है। सारी चीज़ें उसमें से सालिम दिखायी पड़ती हैं। आँखों के आगे कोई रुकावट नहीं पड़ती। सड़क के बिलकुल नज़दीक होने के कारण शोर-ग़ुल ख़ूब सुनायी पड़ता है। इस शोर-गुल का एक कारण और है। वह दूसरा भवन जिसका आधा भाग मुझे दिखायी पड़ रहा है। उस आधे भाग में उसका बड़ा सा फाटक भी है। उस फाटक के आगे कितने ही रिक्शे खड़े हैं। हालाँकि यहाँ रिक्शे खड़े करने की अनुमति नहीं है, क्योंकि रिक्शा-अड्डा इसी सड़क पर दूसरी जगह है—तिराहे के पास। मगर फिर भी यहाँ रिक्शे खड़े होते हैं, खोमचे वाले बैठते हैं, क्योंकि उस भवन में ताड़ीख़ाना है। इस ताड़ीख़ाने को बंद करवाने के लिए कई संस्थाएँ एड़ी से चोटी का ज़ोर लगा चुकी हैं। मगर यह ज्यों का त्यों क़ायम है! यहाँ आये दिन सिर-फुटौवल होती है। पुलीस वाले डंडे बरसाते हैं। सुबह से शाम तक यहाँ गहमा-गहमी बनी रहती है। इसी से सड़क पर और भीड़ हो जाती है।

तभी कई बार मुझे नीचे स्त्री-कंठ सुनायी दिया तो आँखें माजरा देखने को बेचैन हो गयी हैं। वैसे नित्य ही पियक्कड़ों के नज़ारे देखने को मिलते हैं; बेसुरी अलापें सुनने को मिलती हैं; और बातें ऐसी-ऐसी कि क्या कोई गज़टेड अफ़सर करेगा। तो, मैंने खिड़की से झाँक कर देखा, एक औरत कुज्जे में ताड़ी करके चार-पाँच साल के बच्चे को पिला रही है। फिर वही कुज्जा ख़ुद होठों से लगा कर ख़ाली कर गयी है। एक आदमी जो उम्र में उस औरत से काफ़ी बड़ा है, पतला-दुबला, बीमार सा, पत्ते पर मटर रखे खा रहा है। शायद वह पहले ही पी चुका है। औरत ने भी मटर खाया, उस बच्चे को भी दिया है, फिर मुँह बनाते हुए उसने उस आदमी से आँखों ही आँखों में कुछ कहा है और कुज्जा वहीं पर पटक कर फोड़ दिया है। आदमी दब्बू सा बना, सिकुड़ा बैठा है। इधर-उधर भी उसने नहीं देखा।

इस औरत को मैंने इस आदमी के साथ कई बार इसी तरह पीते-खाते देखा है। और जब-जब पीते-खाते देखा है, अर्थशास्त्र का सिद्धांत याद आ गया है; ग़रीबों के मनोरंजन के साधन याद आ गये हैं। मैं उस बच्चे और औरत को घूरने लग गया हूँ। सोचने लग गया हूँ, यह बच्चा अभी से नसेड़ी हो गया है। नशा कराना ये ख़ुद सिखाते हैं और फिर दोष देते हैं अपनी तक़दीर को, अपनी क़िस्मत को!

मेरी निगाह इधर से उठ कर फिर उसी दरवाज़े पर चली गयी है, जिसकी दहलीज सूनी पड़ी है। और वहाँ से हट कर उस कार पर, जिसको कुछ लोग कपड़े से रगड़ कर चमका रहे हैं। पर वहाँ भी वह ज़्यादा देर नहीं टिकी है। सड़क की भीड़ देखने लगी है। रिक्शे-ताँगों का आना-जाना देखती रही है। साइकिलों का बड़े वाले फाटक के पास रुकना-चलना देखती रही है। फिर एक साइकिल पर जम गयी है। खोमचे वाले और कुछ आवारा से लोग भी उधर देखने और आपस में हँसी-मज़ाक़ करने लगे हैं। पीछे कैरियर से एक दुबली सी औरत उतरी है और काले से भारी देह वाले आदमी ने साइकिल की निगरानी करने को उसे कहा है और ख़ुद झट से बड़े फाटक के भीतर चला गया है। औरत झिझकती सी साइकिल के क़रीब खड़ी है और अपने एक हाथ से पेट दबाने लगी है। मुझे स्पष्ट दिखायी पड़ा है, उसके चेहरे पर वेदना की रेखाएँ हैं। वह स्त्री आसपास के लोगों की छींटाकशी सुन रही है, मगर नीची निगाहें किये चुपचाप खड़ी है। और जब वह आदमी भीतर से आ गया तो उसने सहमी नज़र से उसके वहशी रूप को देखा है और हारी सी फिर कैरियर पर बैठ गयी है। वह शायद उसका घरवाला है; और आज उसकी छुट्टी है। आज सभी की छुट्टी है, क्योंकि आज इतवार है। और आज की रात... शायद इसीलिए उस बीमार सी औरत ने अपने वहशी से तगड़े पति को सहमी-सहमी निगाहों से देखा था और हारी सी, भारी मन से कैरियर पर बैठ गयी थी।

अब वह काफ़ी दूर चली गयी है। खिड़की से दिखायी नहीं पड़ती। लेकिन उसका डरा-डरा सा व्यक्तित्व इतनी भीड़ में भी उभरा आ रहा है। उसके व्यक्तित्व ने पहली वाली औरत के व्यक्तित्व को भी ढाँप लिया है। उस बच्चे और कुत्ते के पिल्ले के व्यक्तित्व को भी उसने धुंधला कर दिया है।

मैं खिड़की के पास कुर्सी पर बैठा सब कुछ देख रहा हूँ। एक लंबी सी कार ज़मीन से चिपकी सी निकली है। उस पर कुछ पुरुष और कुछ औरतें बैठी ठहाका लगा रही हैं। एक नाज़ुक सी युवती कार चला रही है। उनकी दुनिया कुछ और ही तरह की है!

एक लंब्रेटा के चलते-चलते उसमें कुछ ख़रावी आ गयी है। चालक उसकी ऐसी हालत पर इधर-उधर देखता हुआ उतरा है और उसने पेट्रोल की टंकी का ढक्कन खोल कर देखा है; फिर कुछ सोचने लगा है। उसके साथ उसकी बीवी भी है। ख़ूब सजी-बनी। मोटर चमकाते-चमकाते वह सब लोग लंब्रेटा की ऐसी हालत देख कर आँखों ही आँखों में मुस्कराने लगे हैं। भद्र चालक ने जब देखा कि ठीक करना उसके बस की बात नहीं, तो सहायता के लिए इधर-उधर देखने लगा है। आसपास के लोग लंब्रेटा को कम और उसकी पत्नी को ज़्यादा देख रहे हैं। वह बेचारी बड़ी हास्यास्पद स्थिति में सकुचायी सी झेंपी-झेंपी खड़ी है। मदद करने वाले कम और तमाशबीन ज़्यादा इकट्ठे हो गये हैं! उस मोटर को चमकाने वाले भी इधर ही चले आये हैं। इधर-उधर लंब्रेटा को झटकने के बाद उन्होंने कुछ तय किया है और कुछ देर के बाद लंब्रेटा ठीक हो गया है। औरत की जान में जान आयी है। और वह भद्र चालक दूसरों की निगाहें अपनी पत्नी पर पड़ती देख कर मन ही मन जो घट रहा था, उसे भी लगा कि अब घुटन की चादर फट गयी है और ताज़ी ठंढी हवा में वह साँस ले सकेगा। फिर पत्नी को ज़ल्दी से बैठा कर वह

फौरन ही भट-भट करता हुआ निकल गया है। भीड़ के लोग आपस में उनका मख़ौल उड़ाते हुए धुएँ की तरह छितरा गये हैं।

मेरी निगाहें खिड़की के बाहर देखते-देखते जैसे ऊब कर कमरे के भीतर देखने लगी हैं। मेज़ पर किताबें और ख़त बिखरे पड़े हैं। खटर-खटर करता रेडियो शायद अब बंद हो गया है। खिड़की का चौकोर सा हिस्सा खुला हुआ है। सारी चीज़ें उसमें से सालिम दिखायी पड़ती हैं। सामने वाले भवन की सूनी-सूनी दहलीज...मोटर, ट्रकें...वह कार जो चमकायी जा रही है...उसके नीचे फैली, काली, गंदी कीचड़...और सड़क की भीड़, लड़ते-झगड़ते लोग...और रिक्शे-ताँगे...और...और बहुत सी चीज़ें!

—घनश्याम रंजन
६५, कैंट रोड,
लखनऊ।

युगप्रभात

सचित्र हिंदी पाक्षिक

अहिंदीभाषी केरल राज्य से प्रकाशित होने वाले 'युगप्रभात' में हिंदी-अहिंदीभाषी लेखकों द्वारा हिंदी में लिखित-अनूदित श्रेष्ठ कहानियाँ, एकांकी, धारावाहिक उपन्यास, निबंध, समालोचनाएँ आदि प्रकाशित किये जा रहे हैं। दक्षिण के विकासमान प्रगतिशील साहित्यों के परिचायक के रूप में 'युगप्रभात' जनप्रिय होता जा रहा है।

●

संपर्क : मैनेजर 'युगप्रभात', कालिकट (केरल) ● वार्षिक शुल्क : छह रुपया

रामचंद्र शुक्ल

आदिम कला और आधुनिक कला

किसी जाति, समाज या देश की सभ्यता और संस्कृति का परिचय उसके जीवन-स्तर, बुद्धि, ज्ञान, विज्ञान, इतिहास, साहित्य, विचार, दर्शन तथा कला से प्राप्त होता है और इन्हीं की प्रगति के आधार पर हम उनकी सभ्यता और संस्कृति को महत्वपूर्ण समझते हैं। और चीज़ें नष्ट भी हो जाती हैं पर कलाएँ ज्यादा टिकाऊ होती हैं और उन्हीं से हम आसानी से उसके समाज, सभ्यता, इतिहास और संस्कृति का पता पाने में समर्थ होते हैं। आदिवासी अति प्रारंभिक मानव-जाति की एक शृंखला है, जो संसार की सृष्टि के आदि से ले कर आज तक, क़रीब-क़रीब एक ही गति से प्रगति करती, आज भी दुनिया के तमाम हिस्सों में जंगली जाति के नाम से जीती-जागती और साँस लेती है, जैसे सैकड़ों हज़ारों वर्ष पूर्व। यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस जाति ने कोई प्रगति नहीं की, किंतु इतना तो निश्चित है कि वह सभ्य कहलाने वाली जातियों के रूप-रंग से कहीं अलग-थलग रही, या चाहें तो कह लें पीछे रही । कम से कम वैज्ञानिक सभ्यता से तो वह अलग ही रही। इस अलगाव का यही कारण हो सकता है कि या तो ये जातियाँ घोर परंपरावादी या रूढ़िवादी हैं या फिर यही कहा जा सकता है कि इन्हें मानसिक विकास प्राप्त ही नहीं हुआ। एक और कारण भी हो सकता है और वह यह कि अन्य जातियों ने इन्हें इतना दबा कर रखा कि ये उठ ही न सकीं। जो भी हो, आदिवासी आज भी एक अलग मानव-जाति है, आधुनिक सभ्यता से दूर, अपनेपन में खोयी हुई, दबी हुई। उसकी प्रगति का इतिहास अभी बहुत-कुछ अनलिखा है और इसीलिए उसकी प्रागैतिहासिक काल में गणना की जाती है। आदिवासियों का भी अपना जीवन है, परंपरा है, सभ्यता और संस्कृति है; भले ही हमारी निगाह में वे पिछड़े हुए और अविकसित हों। कहा जाता है यह आदिवासी आज भी जंगली जीवन व्यतीत करते हैं और इनका सारा समय भूख, आवास, सुरक्षा, संतान-उत्पत्ति इत्यादि प्रारंभिक कामों में ही व्यतीत होता है; जैसा कि अति प्रारंभिक काल में जंगली जातियाँ करती थीं। उस समय लोगों को आश्चर्य हुआ जब पता लगा कि आदिवासियों की भी अपनी कलाएँ हैं और उसकी परंपरा आज तक क़ायम है। सन १८८० में स्पेन में आदिवासियों के गुफाचित्र जब पहली बार प्रकाश में आये तब लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। यही वह समय है जब से आदिवासियों की कला की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ; और तभी से तमाम खोज आरंभ हुई। प्रायः दस हज़ार से ले कर पचास हज़ार ईसवी पूर्व तक इनकी प्राचीनता का अनुमान लगाया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि ऐसे चित्र मनुष्य जाति के उद्भव-काल से ही बनते आये हैं। सचमुच यह देख कर आश्चर्य

Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

होता है कि जिस जाति को जंगली कहा जाता है उसमें भी कला और सौंदर्य की भावना इतने प्रारंभिक काल से ही विद्यमान थी। इससे तो यही पता लगता है कि मानव-जाति ने कला में रुचि उसी समय से लेना आरंभ किया जब वह इस संसार में अवतरित हुई और उसने होश सम्हाला। इस दृष्टि से यह आवश्यक हो गया है कि इस पर भी पूर्णरूपेण विचार किया जाय कि आदिवासी कला की प्रकृति क्या थी और हमारी आधुनिक कला-प्रगति से वह कहाँ तक अलग या समान थी।

आदिवासियों की कला उनके जीवन का एक अंग थी और जीवन के हर कार्य में निहित थी; किंचित आज की आधुनिक सभ्यता से भी अधिक। आज के सभ्य समाज में कला बहुत-कुछ ऊँचे तबक़े वाले समाज के ख़ाली समय में मनोरंजन का काम देती है या उसके बौद्धिक कौतूहल की ही पूर्ति करती है। कितने ही ऐसे लोग और व्यक्तियों के समूह हैं जो भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में इतने मशगूल हैं कि शायद ही कभी उन्हें कला की भी आवश्यकता महसूस होती हो, और इस रूप में भी उनका जीवन चल ही जाता है, चाहे कितना ही नीरस क्यों न हो। किंतु आदिवासी, चाहे उन्हें आज की सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से कितना ही पिछड़ा समझा जाय, आज के मुक़ाबले कलाओं को जीवन में कहीं अधिक महत्व देते थे। उनके प्रतिदिन के हर कार्य में, हर चीज़ में कला को एक प्रमुख स्थान प्राप्त था। जीवन में काम आने वाली उनकी हर चीज़ कलात्मक ढंग से सजी हुई होती थी। यहाँ तक कि उन्हें अपने शरीर को भी पूर्ण रूप से सुसज्जित करने का शौक़ था। अपने रहने के स्थानों, दीवारों, बर्तनों, औज़ारों, वस्त्रों तथा अन्य सभी सामानों को वे ख़ूब सजा कर और चित्रित कर के रखते थे। आज तो केवल कागज़ और कैनवस पर अलग से चित्र बनाने की परिपाटी चल गयी है, पर आदिवासी अपनी हर चीज़ को चित्रित करते थे और उसे कलात्मक रूप देते थे। मिट्टी, पत्थर, हाथीदाँत, हड्डी, लकड़ी या धातु सभी तरह की चीज़ों पर वे चित्र बनाते थे या औज़ारों से खोद कर चित्रांकित करते थे। आज की ही भाँति वे पत्थर, मिट्टी, पेड़-पत्तियों तथा जानवरों की खालों से बने रंगों का इस्तेमाल करते थे। उन्हें अपने आसपास जो भी साधन मिल जाते थे वे उनका अपनी कला में इस्तेमाल करते थे। वैसे आदिम कला विभिन्न स्थानों और कालों में विभिन्न स्तर और रुचि की भी दिखती है, पर तकनीकी कौशल की दृष्टि से उनमें बड़ा साम्य पाया जाता है। क़रीब-क़रीब एक ही प्रकार के औज़ार और साधन प्रचलित थे। चीज़ों के बनाने, खोदने या रँगने का तरीक़ा भी अक्सर बिलकुल एक सा रहा है और अक्सर एक सी ही सूझ-बूझ भी दिखायी पड़ती है। आदिवासी अपनी चीज़ों को बारीक़ी से बनाने में बड़ी रुचि लेते थे और यह प्रवृत्ति सर्वत्र दिखायी पड़ती है। शायद उनकी कला का मुख्य लक्ष्य ही यही था। इसे ही वे सब से अधिक महत्व देते थे। उनकी कला अधिकतर प्रतीकात्मक तथा अलंकरण-प्रधान थी, पर स्वाभाविकता लाने में उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण भी था; भले ही आज के मुक़ाबले वह कितना ही भिन्न, अल्प तथा दोषपूर्ण क्यों न हो। उनकी कला बड़ी सीधी-सादी, सरल और आसानी से समझ में आने वाली होती थी क्योंकि वह आज की तरह बुद्धिवादी न हो कर अभिव्यक्तिवादी या फिर अलंकरण-प्रधान ही थी; जीवन के अधिक नज़दीक थी।

आदिवासी आज की तरह चीज़ को देख कर, सामने रख कर नक़ल नहीं करता था, जैसा यथार्थवादी आधुनिक चित्रकार करते हैं। वह अधिकतर अपनी स्मृति तथा कल्पना से ही वस्तुओं का रूप चित्रांकित करता था और देवी-देवताओं, राक्षसों या विलक्षण जीव-जंतुओं के चित्र बनाता था। पर फिर भी, उनमें बहुत सी चीज़ें वह वैसी ही बनाता था जैसा वह जीवन में अपने इर्द-गिर्द देखता था। आदिम कला के ऐसे भी उदाहरण कुछ कम नहीं जहाँ उन्होंने अद्भुत यथार्थवादी ढंग से वस्तुओं को चित्रित किया है और लगता है जैसे उन्होंने चीज़ों को सामने रख कर, देख-देख कर चित्रांकित किया हो। कुछ स्थानों पर तो यथार्थवादी ढंग से बने व्यक्तिचित्र (पोर्ट्रेट) भी मिले हैं जिन्हें देख कर लगता है कि निश्चय ही वे किन्हीं ख़ास व्यक्तियों के होंगे, जो बड़ी सचाई से बनाये गये हैं।

जब हम आज की दृष्टि से यथार्थवादी चित्रकला के बारे में सोचते हैं तब इससे हमारा तात्पर्य यही होता है कि हम वस्तु के रूप को बिल्कुल वैसा ही चित्रित करें जैसा वह हमें किसी ख़ास समय पर, किसी ख़ास स्थान या पहलू से दिखायी पड़ता है। जिस चित्र में इसकी कमी दिखायी पड़ती है, उसे हम यथार्थवादी चित्र नहीं मानते। यह दृष्टिकोण प्राचीन काल में या प्रागैतिहासिक काल में चित्रकला के लिए आवश्यक नहीं था, और आज भी आधुनिक चित्रकला इसे कला के लिए कोई अनिवार्यता नहीं मानती। यथार्थ को पहचानने के और भी दृष्टिकोण हो सकते हैं। यथार्थ केवल आँख से नहीं प्राप्त होता बल्कि हम उसे अपनी तमाम इंद्रियों से प्राप्त कर बुद्धि से भी परखते हैं। बुद्धि का निर्णय एक प्रकार से अंतिम होता है; और हृदय, मन या आत्मा भी उसे अपने ढंग से पहचानती है। बहुत सी चीज़ें जो यथार्थ हैं हम उन्हें आँख से नहीं देख पाते, जब कि अन्य इंद्रियों द्वारा हम उन्हें पहचानते हैं। जैसे, हवा या वायु को हम आँख से तो नहीं देखते पर हमारा शरीर उसकी स्थिति अनुभव करता है, और हम जानते हैं कि हम जहाँ कहीं भी जीवित रहते हैं, उसके चारों ओर हवा रहती है। यथार्थवादी चित्रकार साधारणतया अपनी तात्कालिक दृष्टि को ही बहुत महत्वपूर्ण समझता है, जब कि दृष्टि की हमेशा एक सीमा होती है। बहुत से लोग तो रंग की दृष्टि से अंधे होते हैं। जिन्हें 'कलर ब्लाइंड' कहा जाता है वे लाल रंग को हरा देखते हैं और हरे को लाल, या इसी प्रकार अन्य रंगों को कुछ का कुछ ही देखते हैं। ऐसी ग़लतियाँ वे जीवन में रोज़ करते रहते हैं पर उन्हें पता भी नहीं होता कि ये ग़लतियाँ वे कैसे कर डालते हैं या वे 'कलर ब्लाइंड' हैं। इसी प्रकार अक्सर केवल आँख से देख कर चीज़ों को हम सत्य मान लेते हैं। जैसे, जंगलों और रेगिस्तानों में मृगमरीचिका देख कर बहुत से जानवर और आदमी भी उसे पानी समझते हैं, जब कि वह दृष्टि का भ्रम मात्र होता है। इसी प्रकार विज्ञान के द्वारा हमें दृष्टिभ्रम (आप्टिकल इल्यूज़न) की भी सूचना मिलती है जब हम आँख की सीमित क्षमता के कारण कुछ को कुछ ही देखते हैं। ऐसी हालत में आँख पर विश्वास करना बहुत ज़्यादा उचित नहीं मालूम पड़ता। यथार्थ को पहचानने के लिए हमें अपनी सारी इंद्रियों तथा बुद्धि को भी काम में लाना पड़ता है। फिर भी हम उसके पूर्ण स्वरूप को शायद कभी भी देख और समझ नहीं पाते, और हमें दार्शनिक या आध्यात्मिक दृष्टि अपनानी पड़ती है, जिसे अक्सर लोग रहस्यात्मक मानते हैं।

आदिम कला यथार्थवादी भी थी परंतु उस ढंग की नहीं जैसी आज की यथार्थवादी कला है। आदिवासी अपने जीवन में काम आने वाली हर चीज़ को अच्छी तरह पहचानता था और उसके बारे में उसकी एक निश्चित धारणा होती थी। वे अपनी कला में इसी धारणा को ही यथार्थ समझ कर चित्रित करते थे। वास्तव में मनुष्य हमेशा ऐसा ही करता है, और आगे भी कर सकता है। आधुनिक चित्रकला भी इसी को महत्व देती है। आदिवासी अपनी कृतियों में प्रकृति या जीवन के उसी रूप को चित्रांकित करता था जिससे वह हर प्रकार से परिचित था। वह किसी ख़ास पहलू से, किसी ख़ास जगह से, किसी ख़ास समय में देखी गयी वस्तु के एकांगी रूप को चित्रांकित न कर, उस रूप को चित्रित करता था जो हमेशा, हर जगह, हर समय देखता रहा। आधुनिक यथार्थवादी चित्रकार यदि किसी स्थान पर बैठ कर किसी आम के पेड़ का चित्र बना रहा हो और जहाँ वह बैठा है उस ओर से यदि आम के वृक्ष में आम नहीं दिखायी पड़ते—चाहे वृक्ष के दूसरी ओर ख़ूब आम लगे हों—तो वह अपने चित्र में आम का पेड़ बिना आम के चित्रांकित कर देगा। आदिवासी इस ढंग से अपने चित्र नहीं बनाते थे। वे जब आम के वृक्ष की कल्पना करते तब वह वृक्ष आम से भरा हुआ होता। ऐसा कभी नहीं मिलेगा कि आदिवासी आम का वृक्ष बनाये और उसमें आम के फल दिखायी ही न पड़ें। आदिवासी जानता था कि वृक्षों पर पक्षी आया-जाया करते हैं या बैठा करते हैं। यह बात उसके लिए यथार्थ थी। ऐसी स्थिति में वह वृक्षों पर सदैव पक्षी चित्रित करता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिवासी अपनी आँख से ज़्यादा अपनी सूझ-बूझ, स्मृति, कल्पना, भावना और बुद्धि को जीवन में और अपनी कला में महत्व देता था और इसी ढंग पर वह यथार्थ को पहचानता था या कल्पना करता था; और यह उसके लिए ज़्यादा उपयोगी भी था।

आदिवासी कला की इस प्रवृत्ति को हम चाहें तो 'बुद्धिवादी यथार्थवाद' कह सकते हैं जैसा कि लियोहार्ड ऐडम ने अपनी पुस्तक 'प्रिमिटिव आर्ट' में लिखा है। यथार्थवादी चित्रकार केवल आँखों देखा यथार्थ चित्रित करता है और आदिवासी बुद्धि द्वारा परिमार्जित यथार्थ को चित्रित करता था। यह प्रवृत्ति 'बालकला' (चाइल्ड आर्ट) तथा 'लोककला' (फ़ोक आर्ट) में भी हमेशा पायी जाती है। इसी प्रवृत्ति को बहुत से आधुनिक चित्रकारों ने भी अपनाया है। पिकासो इन सब का अगुआ है। भारत में यामिनी राय की कला में भी यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। अब तो तमाम आधुनिक चित्रकारों ने इसे स्वीकार कर लिया है।

जो भी हो, आदिम कला का मुख्य आधार यही बुद्धिवादी यथार्थवादी प्रवृत्ति है जो आज की साधारण यथार्थवादी चित्रकला से बहुत भिन्न है और इसीलिए लोग आदिम कला को यथार्थवादी दृष्टिकोण तथा कौशल से अपरिचित मानते हैं, अविकसित मानते हैं। आदिम कला आधुनिक यथार्थवादी दृष्टि से चाहे जितनी अविकसित समझी जाय, बुद्धिवादी यथार्थवाद की दृष्टि से वह अत्यंत प्रौढ़ तथा प्रभावशाली है और आधुनिक चित्रकारों को प्रेरणा देने में समर्थ है

आदिवासी कला की बौद्धिक यथार्थवादी प्रवृत्ति आज के वैज्ञानिक यथार्थवादी दृष्टिकोण के बहुत समीप प्रतीत होती है। विज्ञान का जब तक हमारे जीवन में प्राधान्य नहीं था, हम प्रकृति को आँखों से जैसा देखते थे वैसा ही उसे समझते तथा चित्रित करते थे। साधारण आँख से दिखायी

पड़ने वाला तथ्य वैज्ञानिक तथ्यों के द्वारा बराबर कटता और परिमार्जित होता रहा। एक ज़माना था जब हम साधारणतया भूत-प्रेत को भी तथ्य समझते थे पर जैसे-जैसे वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों ने इनका पर्दाफ़ाश किया, हम पुरानी धारणाओं को छोड़ते गये। प्रकृति में आँख से दिखायी पड़ने वाले तमाम तथ्यों को वैज्ञानिक ज्ञान ने झूठा साबित कर दिया। आज का कलाकार वैज्ञानिक यथार्थवादी दृष्टिकोण को ज़्यादा पसंद करता है। वह केवल आँख से जैसा देखता है वैसा ही चित्रित नहीं करना चाहता, बल्कि चीज़ों के बारे में उसका ज्ञान जितना बढ़ता जाता है उसे भी वह अपने चित्र में स्थान देना चाहता है। अर्थात, वह वस्तुओं के बौद्धिक स्वरूप को चित्रित करना ज्यादा उचित और महत्वपूर्ण समझता है।

आदिवासी भी वस्तुओं के बौद्धिक स्वरूप को ही चित्रित करना चाहता था। यह बात दूसरी है कि उसकी बुद्धि का क्या स्तर था या वह कहाँ तक विकसित थी। किंतु प्रवृत्ति उसकी भी वही थी जो आज हमारी है। आदिवासियों में भौतिक विज्ञान जैसी चीज़ नहीं विकसित हो पायी, न ही उनका सामाजिक रूप वैसा बन सका जैसा आधुनिक सभ्य कहलाने वाली जातियों का है। इसका मुख्य कारण यही रहा कि आदिम जातियाँ अभी तक अंधविश्वासी हैं और उन तथ्यों में भी विश्वास करती हैं जो आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से बिल्कुल असत्य साबित हो चुके हैं और जिनका वास्तविक यथार्थ से कोई संबंध नहीं। आदिवासी अपनी कल्पना द्वारा प्राप्त ज्ञान को ही वास्तविक यथार्थ समझता आया है और इसी आधार पर वस्तुओं के बारे में उसने धारणाएँ बनायी हैं, जिन्हें वह सत्य मान कर चित्रित करता आया है। यह प्रवृत्ति आदर्शवादी कला से बहुत मिलती-जुलती है, जहाँ कलाकार अपने काल्पनिक आदर्श-रूप को चित्रित करने में ही रुचि लेता है।

इस सब से यही समझ में आता है कि आदिवासियों की मूल प्रवृत्तियाँ वैसी ही रही हैं जैसी आधुनिक सभ्यता वाली जातियों की; अंतर केवल उपलब्धियों का ही है। धर्म, दर्शन, शिक्षा तथा ज्ञान-विज्ञान की जो प्रगति सभ्य कहलाने वाली जातियों को प्राप्त हो सकी वह आदिवासियों से कहीं अधिक विकसित है। इसी की कमी के कारण उनका सामाजिक जीवन हमसे भिन्न है और लगता है पिछड़ा हुआ है हमारे कलाकार को जितना सामाजिक तथा भौतिक ज्ञान प्राप्त है, और जितनी सुविधाएँ प्राप्त हैं, आदिवासी को कभी नहीं रहीं, न हैं। ऐसी हालत में यदि उनके चित्रों में भौतिक तथा सामाजिक स्वरूप भिन्न दिखायी पड़ें तो आश्चर्य की कोई बात नहीं, पर आज के कलाकार की मूल प्रवृत्ति तथा आदिवासी कला की मूल प्रवृत्ति बिल्कुल एक सी है—बौद्धिक यथार्थवादी।

ज्ञान और बुद्धि की दृष्टि से आदिवासी उतना विकास नहीं कर पाया जितना आज की सभ्य कहलाने वाली जातियाँ। पर संवेगात्मक दृष्टि से आदिवासी ज्यादा तीव्र रहा है। जो जाति, वर्ग या व्यक्ति बुद्धि की दृष्टि से कमज़ोर होते हैं, वे स्वभावतः संवेगों की दृष्टि से काफ़ी चैतन्य होते हैं। बुद्धि-प्रधान होने पर संवेगात्मक तथा भावनात्मक प्रवृत्तियाँ अक्सर क्षीण पड़ जाती हैं। हमारा आधुनिक समाज अधिकतम बुद्धिवादी हो गया है और यही कारण है कि उसके संवेग तथा उसकी भावनाएँ शिथिल पड़ गयी हैं, जब कि अविकसित जातियाँ कहीं अधिक संवेदन-

शील हैं। और यही कारण है कि उनमें संवेगात्मक एकता आधुनिक समाज से कहीं अधिक दिखायी पड़ती है और हमेशा रही है। बौद्धिक समाज में संवेगात्मक एकता की कमी एक ज्वलंत समस्या है, जब कि यही आदिम समाज की शक्ति रही है। यह फ़र्क़ आदिम कला में भी प्रधान रूप से प्रतिलक्षित होता है। आदिम कला बौद्धिक दृष्टि से उतनी विकसित नहीं, पर संवेगात्मक तथा भावनात्मक दृष्टि से वह कहीं अधिक सशक्त है। आदिवासी-जीवन के अधिकतर कार्य-कलापों की मुख्य प्रेरणा संवेग, संवेदना या भावना ही होती है; यही उनकी कला में भी दिखायी पड़ती है।

संवेगों की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक ढंग से ज़्यादा ज़ोरदार हो पाती है। प्रतीकों में लक्षणा की शक्ति होती है जो वस्तुओं के यथार्थ रूप में अक्सर नहीं भी होती। प्रतीक वस्तुओं का एक अत्यंत सरल स्वरूप होता पर उसके बारे में तमाम तरह के पुराने अनुभव, भावनाएँ और संवेग जुड़े रहते हैं जो प्रतीक को देखते ही उभर पड़ते हैं। अपना राष्ट्रीय तिरंगा झंडा ही लें। यह हमारी आज़ादी की लड़ाई में हमारा निशान रहा है, हमारे गौरव का प्रतीक रहा है। इसका गौरव क़ायम रखने के लिए हमने सैकड़ों दुख सहे हैं, क़ुर्बानियाँ दी हैं। इसलिए जहाँ भी यह तिरंगा हमारे सामने आता है, हम नतमस्तक हो जाते हैं और गौरव से हमारा मन और मस्तिष्क भर उठता है, तमाम पुरानी यादें हरी हो जाती हैं। इसी प्रकार, तरह-तरह की स्मृतियों, भावनाओं, संवेदनाओं, विचारों, घटनाओं के अलग-अलग प्रतीक होते हैं जो रूप में तो अत्यंत सरल होते हैं पर हमारी भावनाओं को जगाने में अत्यंत शक्तिशाली होते हैं। इन प्रतीकों का कला में इस्तेमाल करने पर उसकी अभिव्यंजना-शक्ति कहीं अधिक तीव्र हो उठती है। आदिवासी कला भी प्रतीकात्मक रही है और इसीलिए शक्तिशाली भी है। आदिवासी के लिए वस्तुओं का आँखों देखा वास्तविक स्वरूप उतना प्रभावशाली नहीं था जितना प्रतीकात्मक स्वरूप। प्रतीकात्मक स्वरूप संवेगात्मक ही होता है, इसलिए यदि हम आदिवासी कला को संवेगात्मक यथार्थवादी कहें तो अनुपयुक्त न होगा। आधुनिक चित्रकला में भी यथार्थवादी रूपों का महत्व घटता ही चला गया है और वह अतिशय प्रतीकात्मक बनती गयी है। सारी अतियथार्थवादी (सुर्रियलिस्ट) कला प्रतीकात्मक है। फ़र्क़ इतना ही है कि आधुनिक 'सुर्रियलिस्ट' चित्रकार व्यक्तिगत प्रतीकों के सहारे अपनी अभिव्यक्ति करता है जिससे दर्शक अक्सर अपरिचित होते हैं और प्रभावित नहीं हो पाते, जब कि आदिवासी सामूहिक तथा सार्वभौम प्रतीकों के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करता था, जो आदिवासी जनता के अधिकतम नज़दीक थे। फिर भी, आधुनिक 'अतियथार्थवादी' चित्रकला संवेगात्मक यथार्थवादी ही अधिक है। आज आधुनिक भारतीय चित्रकारों में अधिकतर संवेगात्मक यथार्थवादी ही अधिक हैं। इस दृष्टि से आदिम कला आधुनिक कला के अति समीप है और उससे कहीं अधिक सशक्त, प्रभावशाली तथा सार्वभौम है। यही कारण है कि तमाम नये कलाकार अपनी नयी कला की प्रेरणा के लिए आदिम कला का अध्ययन कर रहे हैं, और बहुत से ऐसे कलाकार हैं जिनके चित्र देखने से आदिवासियों के से ही लगते हैं।

आदिवासी कला देखने से दो बातें मुख्य रूप से सामने आती हैं। एक तो यह कि वे आत्माभिव्यक्ति के लिए कला में रुचि लेते थे, और दूसरी यह कि उनमें सज्जा की भावना बड़ी बलवती

थी। वे अपने जीवन में काम आने वाली अपने वातावरण के अंदर की हर चीज़ को अलंकृत करना चाहते थे। इसलिए सजावट की भावना प्रमुख रूप से उनकी कला में मिलती है। कभी-कभी तो अभिव्यक्ति की भावना से कहीं अधिक महत्व सजावट को दिया गया है। लेकिन इससे यह समझना ग़लत होगा कि वे केवल सजावट के लिए ही कला को मूल्य देते थे। उनके बनाये चित्रों और मूर्तियों में से यदि सजावट को निकाल दिया जाय तो यह साफ़-साफ़ मालूम पड़ जाता है कि अभिव्यक्ति की दृष्टि से उनके रूप बड़े ही सजीव, शक्तिशाली तथा रचनात्मक हैं। वस्तुओं का आकार बड़ा ही सरल और प्रतीकात्मक होता है। सज्जा की भावना यह व्यक्त करती है कि आदिवासियों को सौंदर्य के प्रति बड़ा ही आकर्षण था और शायद आज के सभ्य कहलाने वाले लोगों से कहीं अधिक भी। यह बात दूसरी है कि आज हमारी सौंदर्य की भावना आदिवासियों से किन्हीं स्तरों पर भिन्न हो। यही कारण है कि आदिवासी अपनी चित्रकला, मूर्तिकला तथा अन्य कलाओं में कौशल को बहुत महत्व देते थे। वे बड़ी रुचि तथा बारीकी से, एकाग्रता के साथ और पूरी तन्मयता से कला में रुचि लेते थे। सौंदर्य के कुछ आधारभूत भौतिक तथा सार्वभौम सिद्धांत हैं जिनके परिणाम-स्वरूप कला में एक प्रकार का सौंदर्य घटित होता है। ये सिद्धांत बहुत-कुछ आज भी मान्य हैं, जैसे, कला में लय, गति, छंद, एकरूपता, संतुलन, पुनरावृत्ति इत्यादि। आदिम कला में ये चीज़ें प्रमुख रूप से दिखायी पड़ती हैं। इन्हीं आधारों पर आदिवासी अपनी कृतियों में आकारों को गढ़ते थे। ये सिद्धान्त प्राकृतिक वस्तुओं में भी हर जगह दृष्टिगोचर होते हैं। आदिवासी आँखों देखा स्वाभाविक रूप तो नहीं चित्रित करते थे, परंतु प्रत्येक वस्तु के मौलिक, सरल रूप को ही प्रधानता देते थे, जो अक्सर कहीं अधिक प्रभावशाली होता है। लयात्मक आकार का महत्व कौशल-प्रधान कला में अधिक दिखायी पड़ता है, क्योंकि कौशल, सैद्धांतिक और अभ्यासगत होता है। आकारों को आदिवासी सरल बनाते हुए भी प्रभावशाली बनाना चाहते थे, इसलिए अक्सर उनके चित्रों की आकृतियों के स्वरूप यथार्थ से अधिक बढ़ा-चढ़ा कर बनाये गये दिखायी पड़ते हैं। इसका तात्पर्य यही था कि वे उन आकारों के द्वारा संवेगों और भावनाओं को भी अभिव्यक्त करना चाहते थे। आकार-प्रधान स्वरूपों के द्वारा वे अपने चित्रों में अर्थवत्ता तथा संवेगात्मक मूल्यों को प्रधानता देते थे। इसीलिए उनकी कला प्रधान रूप से प्रतीकात्मक रही है। प्रतीक अक्सर आकार में इतने सरल होते हैं कि वे देखने में ज्यामितिक-से लगते हैं। ज्यामितिक आकार जहाँ महत्वपूर्ण होते हैं उसका भी अर्थ यही होता है कि कलाकार साधारण रूपों के साथ अपने विचारों को भी जोड़ कर रूप देता है, जो देखी हुई वस्तु में नहीं होते। यह भी उनकी कला में अभिव्यक्ति की प्रधानता को व्यक्त करता है।

वैसे तो आदिम चित्रकला के प्रतीक सार्वभौम और सार्वजनिक ही होते हैं, पर अक्सर देखा गया है कि एक जाति या समय तथा स्थान की कला दूसरी जाति, समय या स्थान की कला से प्रतीकों और आकारों की दृष्टि से भिन्न लगती है। आदिवासी परंपरागत रूप से ही कला का काम करते थे, एक दूसरे को देख कर चित्र बनाते थे, अर्थात अक्सर पुराने चले आ रहे वस्तुओं के आकारों की नक़ल करते थे। लेकिन इन आकारों को अलंकृत करते समय वे उनमें परिवर्तन ला देते थे। अर्थात आदिवासी अपनी कलात्मक व्यक्तिगत रुचि

को भी कला में महत्व देते थे। यही कारण है कि आदिम कला में बड़ी रोचकता और ताज़गी है।

आदिम कला में अक्सर यह भी देखा गया है कि प्रकृति में दिखायी पड़ने वाली वस्तुओं को, जैसे, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, पहाड़, नदी, तालाब या नित्यप्रति काम आने वाले औज़ार, बर्तन, आभूषण इत्यादि के आकारों को बनाते समय उन्हें मानवीय आकार भी दे दिया गया है। इसका अर्थ यही हुआ कि वे मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति इन आकारों के द्वारा भी करना चाहते थे। वे चीज़ों को स्वाभाविक रूप में चित्रित कर उनको संवेगात्मक अभिव्यक्तिवादी रूप देना चाहते थे। इस प्रकार उनकी कला बड़ी ही शैलीपूर्ण (स्टाइलिस्टिक) या अप्राकृतिक (आर्टीफ़ीशियल) सी लगती है, किंतु अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह बड़ी ही प्रभावशाली है। आधुनिक कला बहुत कुछ ऐसी ही है।

**--जी-३५, न्यू कॉलोनी,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-५।**

नटरंग

भारतीय रंगमंच का त्रैमासिक

संपादक : नेमिचंद्र जैन

प्रवेशांक में विष्णु प्रभाकर का तीन-अंकी नाटक 'देवी' तथा कपिला वात्स्यायन, आद्य रंगाचार्य, हबीब तनवीर, सत्यव्रत सिन्हा, लक्ष्मीनारायण लाल, मृणालिनी साराभाई, शांता गाँधी द्वारा संस्कृत नाटक और आधुनिक रंगमंच पर परिसंवाद के साथ-साथ सत्यदेव दुबे, मोहन महर्षि, बिर्स्की, इब्राहिम अल्काजी, सुरेश अवस्थी, धर्मवीर भारती आदि के विचारपूर्ण लेख हैं। इसके अतिरिक्त पुस्तक-समीक्षा, टिप्पणियाँ और देश के दस-बारह केंद्रों का नाट्यवृत्त भी है।

जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर में प्रकाशित

एक अंक १·५० पैसे : विशेषांक ३·०० पैसे : वार्षिक ६ रु०

पता
३-एफ़, जंगपुरा एक्सटेंशन, नयी दिल्ली-१४।

अवध नारायण मुद्गल

बंबई की डायरी : तीसरा पृष्ठ

●

स्पर्शहीन टकराव

२५ दिसंबर, १९६४

मेरे चारों ओर कुछ आवाज़ें हैं, जो सुनायी नहीं देतीं। मेरे कंधों पर कुछ गीले-गीले, बोझिल साये आ कर टिक गये हैं, जिन्हें मैं पकड़ नहीं पाता, हटा नहीं पाता। मेरी पलकों में हज़ारों पलकें विभिन्न ज्यामितिक आकारों में सिमट कर बंद हो गयी हैं, जिनकी चुभन और सिहरन तो अनुभव करता हूँ लेकिन उन्हें देख नहीं पाता। और. . .और मैंने अपनी हथेलियों की तमाम रेखाएँ तोड़ कर खिड़की से बाहर फेंक दी हैं; खिड़कियाँ, दरवाज़े बंद कर उन पर मोटे पर्दे डाल दिये हैं और मुट्ठियाँ बंद कर चुपचाप लेट गया हूँ ताकि वे टूटी हुई रेखाएँ फिर से आ कर मेरी हथेलियों से न चिपक जायें। लेकिन ऐसा क्यों है ? शायद इसलिए कि मैं जिन रास्तों से गुज़र रहा हूँ वे रास्ते किसी स्थान विशेष तक नहीं जाते, नये-नये रास्तों में खो जाते हैं और अपने साथ ही मुझे भी कभी न ख़त्म होने वाले रास्तों का सिलसिला बना लेते हैं. . .या शायद इसलिए कि मैं एक गाढ़े और 'साउंड प्रूफ़' धुँधलके में बंद कर दिया गया हूँ. . .या शायद इसलिए भी कि अपने चारों ओर खड़ी संशयों की भीड़ में मैं स्वयं भी एक संशय बन कर जिऊँ और हर क्षण को नये संशय का जन्म मान कर उससे बचता रहूँ।

●

मि० रामन छह महीने से मेरे 'रूम-पार्टनर' हैं और हम दोनों एक दूसरे का पूरा नाम तक नहीं जानते। मैं सिर्फ़ यही जानता हूँ कि मि० रामन किसी 'शिप' पर सेकेंड इंजीनियर हैं। वह जानते हैं कि मैं 'टाइम्स' में काम करता हूँ। वह मुझे कभी 'मोडगल' और कभी 'मुडुगुलु साहब' पुकारते हैं। मैं कई बार उन्हें सही उच्चारण—'मुद्गल', समझा चुका हूँ और वह हर बार 'मोडगल' या 'मुडुगलु' पर ही आ गये हैं। अब मैं उनके इसी उच्चारण का अभ्यस्त हो गया हूँ इसलिए मुझे कभी नहीं खटकता कि वह मेरे नाम का ग़लत उच्चारण कर रहे हैं।

हम साथ-साथ रहते हैं, साथ-साथ घूमते हैं, साथ-साथ खाना खाते हैं और घंटों बातें करते रहते हैं, फिर भी लगता है, हमारा साथ सिर्फ़, 'गुड नाइट' और 'गुड मार्निंग 'कहने भर के लिए है। वह जापान, रूस, ब्रिटेन और अमरीका घूम आये हैं और बराबर जाते रहते हैं। लेकिन लगता है, वे इनमें से किसी को भी नहीं जानते, वैसे ही जैसे वह मुझे नहीं जानते, जैसे मैं होटल के मालिक से अक्सर मुलाक़ात और बातें होने पर भी उसे नहीं जानता। जैसे होटल में रोज़ एक-सी ही सब्ज़ियाँ बनती हैं, वैसे ही वह भी रोज़ इन देशों के बारे में एक-सी ही बातें करते रहते हैं। उनका विश्वास है कि जिसने अपनी जवानी में जापान (जापान से उनका मतलब जापानी लड़कियों से होता है) नहीं देखा, उसे समझना चाहिए उसने अपनी जवानी नहीं देखी, वह कभी जवान हुआ ही नहीं।

"देखिए" मैं कहता हूँ, "आपको जापान जाना बहुत अच्छा लगता है और मुझे पान खाना। जापान और पान में कितना साम्य है!"

वह बेचारे हिंदी अधिक नहीं समझते लेकिन जापान और पान का साम्य समझ गये हैं इसलिए पान खाने का शौक़ पाल लिया है। जब भी वह मुझसे जापान जाने की बात कहते हैं, मेरा एक ही उत्तर रहता है, "मि० रामन, जब आप मेरे साथ होते हैं तो मुझे लगता है कि सारा जापान मेरे साथ है।" और हम दोनों हँसने लगते हैं।

वह मुझसे विदेशों की सुंदर और सस्ती बहुत सी चीज़ें लाने का बार-बार वादा करते हैं और मैं जानता हूँ कि उन्होंने अपने विदेशी मित्रों से हिंदुस्तान की बहुत सी चीज़ें लाने का वादा किया होगा, लेकिन वह यहाँ की एक भी चीज़ कभी बाहर नहीं ले गये।

मैं आफ़िस से लौटा हूँ और पार्टनर से पूछ रहा हूँ, "क्यों भाई जान, सुबह कोई सज्जन मुझे पूछने आये थे?" (मैं उन सज्जन की हुलिया बताने लगता हूँ।)

पार्टनर कुछ याद करते हुए कहते हैं, "हाँ, आये तो थे लेकिन वह आपको नहीं पूछ रहे थे, वह तो किसी . . . किसी . . . शायद 'आबत नारायण' या कुछ इसी तरह के सज्जन को पूछ रहे थे।" और मैं बुरी तरह हँसने लगा हूँ। कहता हूँ, "अरे भाई, यह मेरा ही नाम है।"

वह झेंप गये हैं, बार-बार माफ़ी माँग रहे हैं। हम काफ़ी मँगा कर पीने लगे हैं लेकिन वह अब भी बीच-बीच में माफ़ी माँग लेते हैं और कहते हैं, "पार्टनर, रियली आइ एम वेरी सॉरी, अगर मुझे मालूम होता कि वह आपको ही पूछ रहे हैं तो मैं उन्हें क्यों जाने देता!"

और मुझे लग रहा है, हमारी दृष्टि भीड़ की दृष्टि हो गयी है; हमारा अस्तित्व भीड़ का अस्तित्व हो गया है। मैं सोच रहा हूँ—शायद हममें से प्रत्येक को पहचानने के लिए एक भीड़ को पहचानना पड़ेगा और किसी भी भीड़ को पूरी तरह समझ और पहचान पाना न तो संभव ही है और न इतनी किसी को फ़ुर्सत ही है।

●

एक सज्जन हैं जो मेरे साथ लोकल ट्रेन से गोरेगाँव जा रहे हैं। वह कई बार मुझे मिले हैं और हर बार उनसे मेरा नये सिरे से परिचय कराया गया है। अब भी मुझे उनका नाम याद

नहीं आ रहा और फिर से पूछने की न तबियत [illegible]मत, और न ज़रूरत ही महसूस कर रहा हूँ। वह मुझे अपना मित्र कहते हैं, मैं भी उन्हें अपना मित्र मान रहा हूँ, कह भी रहा हूँ। मुझे मित्र का अर्थ गाड़ी में चढ़ने और अगले स्टेशन पर उतर जाने जैसा ही लगने लगा है।

वह सज्जन कह रहे हैं, "भाई जान, हम शहरी लोग गुमनाम पड़ोसियों, अजनवी दोस्तों और मुर्दा रिश्तेदारों से घिरे हैं. . ." मैं अपने गालों पर चाँटों जैसी तिलमिलाहट महसूस कर रहा हूँ। मुझे लग रहा है, जैसे वह जान गये हैं कि मुझे (इतनी बार बताये जाने के बाद भी) उनका नाम याद नहीं। मैंने अपनी दृष्टि खिड़की से बाहर कर ली है और उनकी बातों के समर्थन में बेमतलब हूँ-हूँ करता जा रहा हूँ। मुझे दिखायी दे रही हैं––पटरी के किनारे-किनारे सड़े हुए बदबूदार पानी से घिरी झोपड़ियाँ, झोपड़ियों के बाहर चीं-चीं करती मर्ग़ियाँ, जो अंडे भी देती हैं और गोश्त भी; और झोपड़ियों के अंदर बार-बार खाँसते हुए बीमार, अपाहिज कबूतर, जो टूटी और झूलती हुई चारपाइयों जैसे घोंसलों में घिर कर, पालतू मुर्ग़ियों को अपने अंडे और अपना गोश्त दूसरों के हाथों सौंपते हुए देख भर सकते हैं, कुछ कर नहीं सकते।

उन सज्जन ने मेरे कंधे पर हाथ रख दिया है। वह शायद कोई महत्वपूर्ण बात कहे जा रहे हैं। मैं उनकी ओर देखने लगा हूँ। वह कह रहे हैं, "मुद्गल साहब, आप बंबई में नये-नये आये हैं. . . ."

(जो भी मिलता है वह अपना अनुभव और उस्तादी दाँव देने के लिए सबसे पहले यही कहता है––'नये आये हैं बेचारे!' और मैं यह 'नये आये हैं, नये आये हैं' सुनते-सुनते परेशान हो गया हूँ।) मैं उनकी बात बीच में ही रोक कर मज़ाकिया लहज़े में कह रहा हूँ, "जी हाँ, नया आया हूँ इसीलिए कोई भाड़ ख़ाली नहीं मिला।"

वह शायद मेरी बात नहीं समझे हैं और कहे जा रहे हैं, ". . . . . .वैसे बंबई कुछ भी नहीं, दूर-दूर तक फैली हुई एक भीड़ है जिसमें चलने वाला हर आदमी एक दूसरे को चोर, उचक्का, धोखेबाज़ और अपना दुश्मन मान कर चल रहा है। और मज़ा यह कि हर आदमी का ध्यान अपनी जेब पर नहीं, दूसरे की जेब पर है।" और मेरा हाथ अचानक अपनी जेब पर चला जाता है। 'पर्स' सुरक्षित पा कर मुझे हँसी आ जाती है। मैं सोचने लगता हूँ––शायद यह व्यक्ति अर्ध-सत्य बोल रहा है ––हमारा ध्यान भले ही दूसरे की जेब पर रहे लेकिन हाथ अपनी ही जेब सम्हाले है और यह यहीं नहीं, हर जगह होता है, यहाँ कुछ अधिक होता है, बस!

वह कहे जा रहे हैं, "वैसे यहाँ की ज़िंदगी 'जॉण्डिस' से पीड़ित है। यह विकृत यौन भावनाओं की ज़िंदगी है, अपाहिज कुंठाओं की ज़िंदगी है, अतृप्ति की ज़िंदगी है। आपको जो तेज़ी दिखायी देती है, वह इन्हीं चीज़ों के लिए अशांति की द्योतक है।"

"चलिए यही सही! लेकिन इससे लोगों के मन में (इस तेज़ी के रूप में) विज्ञान का समर्थन तो बढ़ा है और उनकी ज़िंदगी में एक ख़ास ढंग की क्रमवद्धता आयी है।" मैंने कहा।

वह थोड़ा ज़ोर से बोले, "अजी, जिसे आप ख़ास ढंग की क्रमवद्धता कहते हैं वह वास्तव में ख़ास ढंग की क्रमहीनता है।"

"कैसे?" मैंने चौंकते हुए पूछा।

वह विजय-गर्व से मुस्कराये; कुछ खंडन-मंडन समझिए कि आदमी आफ़िस से घर और घर से आफ़िस आने को तो क्रमबद्धता मान लेता है लेकिन आफ़िस और घर में कितनी क्रमबद्धता चलती है, इस पर ध्यान नहीं देता। आफ़िस में आप एक काम कर रहे हैं तभी आज्ञा मिली वह छोड़ कर पहले यह कीजिए, और आप वैसा करने लगे। अब बताइए, कहाँ रही क्रमबद्धता ?"

मैं उनकी क्रमहीनता और क्रमबद्धता से ऊब सा गया हूँ इसलिए फिर खिड़की के बाहर नज़र दौड़ाने लगा हूँ लेकिन वह कहे जा रहे हैं, "हाँ, बंबई में एक चीज़ अवश्य महत्व की है और वह है तटस्थता। लगता है बंबई कोई नगर न हो कर 'गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया की पॉलिसी' है।" हम दोनों हँसने लगे हैं। आसपास दो-एक चेहरे और हैं जिन पर हँसी खेल गयी है। वह फिर कहने लगे हैं, "यहाँ न किसी से फ़ालतू राम-राम, न किसी से फ़ालतू सलाम, बस, अपने काम से काम। किसी के मरने, किसी के जीने का यहाँ की ज़िंदगी पर कोई ख़ास असर नहीं पड़ता।" और मैं मन ही मन दोहरा रहा हूँ—जैसे आपकी बातों का मेरे ऊपर और आसपास बैठे लोगों के ऊपर कोई ख़ास असर नहीं पड़ रहा। लेकिन प्रत्यक्ष मैं हाँ, हाँ. . .हूँ, हूँ करता जा रहा हूँ। अचानक वह मुझे उठाने लगे हैं, "अरे भाई जल्दी उठो, गोरेगाँव आ गया।"

"ऊँ, गोरेगाँव !" मैं चौंक पड़ता हूँ और उतरने की उतावली में फँस गया हूँ क्योंकि गाड़ी सिर्फ़ एक मिनट ही रुकती है।

●

रात के बारह बजे हैं। मैं अभी-अभी अपने मित्र नंदन के घर से (गोरेगाँव से) लौटा हूँ। पार्टनर सो गये हैं। मैं 'बिइंग एंड नथिंगनेस' पढ़ने की कोशिश कर रहा हूँ लेकिन कुछ समझ में नहीं आ रहा है; किताब बंद कर के रख देता हूँ। 'एज ऑफ़ सस्पिशन' उठाता हूँ; उसे भी रख देता हूँ। सोचता हूँ, कुछ लिखूँ, लेकिन क्या ? कुछ समझ में नहीं आ रहा। सामने दीवार पर एक छिपकली चिपकी है और धीरे-धीरे अपने शिकार की ओर बढ़ रही है। तार पर टँगे तौलिये पर मक्खियाँ सो रही हैं; मैं उन्हें उड़ाने लगता हूँ। फिर सोचता हूँ—सोते हुए को जगाना ठीक नहीं। फिर ध्यान आता है—यदि पार्टनर सवेरे ही सवेरे सिर्फ़ 'गुड मार्निंग' कहने के लिए मुझे जगा सकते हैं तो क्या मैं 'गुड बाई' कहने के लिए इन्हें नहीं जगा सकता ? और मुझे हँसी आ जाती है।

मैं अन्यमनस्क सा, बिना लाइट बुझाये ही चारपाई पर लेट जाता हूँ लेकिन नींद नहीं आती। मुझे लग रहा है, मेरे चारों ओर आवाज़ें बिक रही हैं; अचेतन दृष्टि और सचेतन होठों के साये मेरे होठों पर झुकते आ रहे हैं। मेरे क़रीब, और क़रीब एक भीड़ सिमटती आ रही है—अविश्वासों और संदेहों की भीड़। एक आठवें प्रकार की 'एंबिग्विटी' है, जो मेरे बग़ल में सो गयी है—वह 'साउंड प्रूफ़' भी है, 'वाटर प्रूफ़' भी और 'शॉक प्रूफ़' भी। मुझे दिखायी दे रहा है—एक गहरे अँधेरे की चादर है, जो मुझे उढ़ा दी गयी है। दूर, बिजली के नंगे तारों से लिपटी हुई जवान लोरियाँ हैं, जो सुलाते-सुलाते ख़ुद सो गयी हैं। कुछ रोशनियाँ हैं, जो आत्महत्या के

इरादे से समुद्र में कूदी थीं, लेकिन लहरों ने [illegible] में ला कर किनारे की रेत पर पटक दिया है। चंद लाशें हैं, जिनके सिरहाने बैठ कर दुआएँ माँगी जा रही हैं; पताने खड़े हो कर आशीर्वाद दिये जा रहे हैं; बग़ल में झुक कर इन्जेक्शन लगाये जा रहे हैं और आशा की जा रही है कि वे जी उठेंगी। दूर, किसी वीराने से उठती हुई सितार की लहरें हैं और इंद्रधनुष के बीज हैं, जो मेरी चारपाई के नीचे उगते जा रहे हैं।

अभी-अभी पार्टनर ने मुझे 'गुड मार्निंग' के लिए जगाया है और मुझे लग रहा है कि अभी-अभी जो कुछ मैंने देखा है, वह सपना नहीं है बल्कि एक ज़िंदगी है—बंबई की ज़िंदगी, जो इन सारे रंगों, दृश्यों और आकारों से मिल कर बनी है। यह एक ऐसी ज़िंदगी है जिसे हम बिना टकराव महसूस किये हुए जीते हैं। और मैं सोच रहा हूँ, बंबई ही नहीं, शायद हर बड़े औद्योगिक और आधुनिक नगर की ज़िंदगी ऐसी ही स्पर्शहीन होती होगी।

—द्वारा, 'सारिका,'
टाइम्स ऑफ़ इंडिया,
बंबई-१।

हिंदी नवलेखन की सशक्त मासिकी

लहर

जुलाई १९५७ से
नियमित हिंदी पाठकों के समक्ष कहानियों, कविताओं के
अतिरिक्त
समसामयिक घटनाओं-समस्याओं पर विचार-युक्त सामग्री
प्रस्तुत करती रही है।

●

जिसके विशेषांक
स्थायी महत्व के रहे हैं।

●

एक प्रति : ५० पैसे । वार्षिक : छह रु० मात्र ।

सम्पादक : प्रकाश जैन

महात्मा गांधी मार्ग, पो० बा० ८२, अजमेर ।

प्रदीप पंत

कहानी

छोटा आदमी

पंक्ति को तोड़ता हुआ वह बस में 'धँस' लिया। उसे साफ़ सुनायी दिया—किसी ने उसे 'सभ्य' सी गाली दी। लेकिन उसने उस गाली की कोई परवाह नहीं की। पावदान से ऊपर पहुँच कर वह मन ही मन मुस्कराया। फिर उसने एक बार खिड़की से झाँक कर बाहर की ओर देखा। वह सोचने लगा, अगर पंक्ति को न तोड़ता तो बस में न आ पाता। उसे ख़ुशी हुई कि इस बड़ी भीड़ को पार करता हुआ वह किस आसानी से बस के अंदर 'धँस' लिया है।

कंडक्टर (संवाहक) ने सीटी दी। दो-तीन लोग पावदान पर आ गये। अपने को गिरने से बचाने के लिए उसने बस की छत पर लगे छड़ की ओर हाथ बढ़ाना चाहा लेकिन उसे ख़्याल आया, वह छोटा है। अपने बौनेपन के कारण किसी ऊँची चीज़ को पकड़ सकने में असमर्थ है। वह जानता है, घर से निकलते समय चौक के लड़के उसे देख कर हँसते हैं। वह जब कुछ दूर निकल जाता है, पीछे से उसे चिढ़ाने वाली बहुत तेज और बहुत तीखी आवाज़ें आती हैं। वह पलट कर दो-तीन भद्दी सी 'गालियाँ' बकता है, फिर तेज़ क़दमों से चौक पार करता हुआ दूर निकल जाता है। कुछ दूर तक आवाज़ें उसका पीछा करती हैं। वह अपने अंदर एक अजीब बौखलाहट सी महसूस करता है लेकिन फिर धीरे-धीरे उसकी बौखलाहट कम होने लगती है; आवाज़ें आना बंद हो जाती हैं।...

बस रुकी। शायद अगला ठहराव आ गया था। एक महिला धक्के से गिरते-गिरते बची लेकिन वह अपने को एक सीट के सहारे रोके खड़ा था। वह महिला सम्हल गयी। उसके होठों पर हल्की सी मुस्कराहट उभर आयी। वह जब कभी इस तरह के दृश्य देखता है, उसके होठों पर मुस्कराहट उभर आती है। वह इस तरह के दृश्यों पर मुस्कराने का आंदी हो गया है। शायद दो लोग उतरे। लेकिन भीड़ और बढ़ गयी। बस चल दी।

वह अब अपनी गर्दन को कुछ अजीब-अजीब ढंग से घुमा कर सीट की तलाश करने लगा। कोई सीट खाली नहीं थी। उसके आगे-पीछे तमाम लोग खड़े थे और सब इस तरह खड़े थे जैसे किसी बहुत बड़े पाप की सज़ा भुगत रहे हों। सबके होठ इस तरह खुल रहे थे, जैसे किसी महान क्रांति की तैयारी कर रहे हों। वह उन सबकी बातें सुन रहा था और हँस रहा था। उसे लगा, इनमें से कोई क्रांति नहीं कर सकता। वह अपने को उन सबके ऊपर उन सबसे बड़ा महसूस करने लगा।

बस फिर रुकी। लोगों को फिर [illegible] महिला जहाँ पर खड़ी थी, उसके ठीक पीछे एक सीट ख़ाली हुई। वह छड़ के सहारे [illegible] रुके चार-पाँच [illegible] के नीचे से गुज़रता हुआ तेज़ी से उस सीट के पास पहुँच गया और धम्म से उसने अपने शरीर को उस सीट पर पटक दिया। फिर कमीज़ के कॉलर को दोनों हाथों की उँगलियों के सहारे पीछे फेंकते हुए उसने एक काफ़ी लंबी साँस मुँह से बाहर निकाली। उसके आगे वाली सीट के सहारे खड़ी महिला ने हिकारत-भरी नज़रों से उसकी ओर देखा। एक बार उसका मन हुआ, उस महिला की हिकारत-भरी नज़रों के उत्तर में वह अपनी सीट छोड़ दे और उससे बैठने के लिए कहे, लेकिन फिर उसने कुछ अजीब ढंग से मुँह बिचका दिया और अपने बग़ल के दूसरे आदमी को ग़ौर से देखने लगा। पता नहीं क्यों, उसे महसूस हुआ, उसने इस आदमी को पहले भी कहीं देखा है। वह कुछ देर उस आदमी के विषय में सोचता रहा, लेकिन उसे बिल्कुल याद नहीं आया कि आख़िर उस आदमी को उसने इसके पहले कहाँ देखा है। वह अब गर्दन घुमा कर, खड़े हुए लोगों को देखने लगा। न चाहते हुए भी वह उन सबके बारे में अजीब ढंग से कल्पना करने लगा। हर आदमी इस समय उसे सत्य की प्रतिष्ठा के लिए क्रूस पर लटके ईसा की तरह दीख रहा था। उसे उन सब पर दया आयी। उसका हृदय एक क्षण के लिए करुणा से भर उठा।

इसके बाद उसने इन लोगों की ओर से भी नज़रें हटा लीं और अपने ठीक आगे की सीट पर बैठे लोगों की बातें सुनने लगा। वे लोग दक्षिण भारतीय थे——शायद मद्रासी या मैसूरी या मलयाली या अन्य कोई। दोनों अपनी भाषा में दफ़्तर की राजनीति पर बातें कर रहे थे और जब उनमें से किसी एक को जोश चढ़ता, वह अंग्रेज़ी में बड़े-बड़े वाक्य बोलता चला जाता। उसे दुःख हुआ, दफ़्तर की राजनीति पर ये लोग बस में इतनी ज़ोर-ज़ोर से बहसें करते हैं। 'सब मरे हुए हैं', वह मन ही मन बुदबुदाया, 'इस देश में कभी क्रांति नहीं आ सकती। हर आदमी ने अपने को सीमित दायरों में बाँध रखा है। सब छोटे लोग हैं।' वह अपने को फिर बड़ा आदमी महसूस करने लगा।

बस फिर रुकी। उसके आगे खड़ी महिला फिर गिरते-गिरते बची। वह 'फिस्स' से हँस दिया। दोनों दक्षिण भारतीय उठ गये। बाँयीं तरफ़ दो सीटें और ख़ाली हुईं। उसके साथ वाला आदमी भी उठा। उसने उठते हुए उस आदमी को एक बार ऊपर से नीचे तक ग़ौर से देखा, फिर अपनी टाँगें सिकोड़ कर गद्दी से चिपका लीं। वह आदमी आगे निकल गया। वह ख़ुद उस आदमी की जगह पर सरक गया। वह जैसे ही सरका, एक युवती उसकी जगह पर बैठ गयी। उसे युवती का अपने बग़ल में बैठना बड़ा अच्छा लगा। उसने अपनी जेब से रूमाल निकाला और कस कर अपने मुँह पर रगड़ दिया। फिर रूमाल को तह कर पैंट की जेब में रख लिया। आख़िर इसी वक़्त रूमाल से मुँह क्यों पोंछा ?——वह ख़ुद नहीं समझ पाया, बल्कि उसने समझने की कोशिश भी नहीं की।

उसके आगे खड़ी महिला बाँयीं तरफ़ बैठी दक्षिण भारतीय की सीट पर बैठ चकी थी और अब उसे उस महिला का सिर्फ़ गर्दन से ऊपर तक का भाग दिखायी दे रहा था। वह सोचने लगा, यह औरत पच्चीस साल की उम्र तक काफ़ी ख़ूबसूरत रही होगी, अब भी अच्छी है। और

हाँ, बीस [illegible] तक तो 'वेदाग़' रही [illegible] महिला के बग़ल में बैठे पुरुष के भाग्य से ईर्ष्या हुई। लेकिन उसे अपनी तक़दीर और ज़्यादा तेज़ लगी। उसने एक बार 'छक' कर अपने बग़ल में बैठी युवती को देखा। उसे लगा, वह यवती भी उसे कनखियों से देख रही है और उससे कुछ पूछना चाहती है। वह तन कर बैठ गया। लेकिन उससे अधिक देर तक तन कर नहीं बैठा गया और उसने अपने को फिर ढीला छोड़ दिया। बस चौराहे पर मुड़ी। उसने महसूस किया, युवती ज़रूरत से ज़्यादा उस पर गिर पड़ी है। 'आख़िर यह चाहती क्या है?' वह सोचने लगा। उसने धीरे से अपने को युवती की ओर सरकाया और अपनी दाँयीं बाँह उसकी बाँयीं बाँह से सटा दी। उसे बहुत हल्की सी सिहरन महसूस हुई और बड़ा अच्छा लगा। फिर धीरे से अपना दाँयाँ घुटना उसने युवती के बाँयें घटने के पास पहुँचा दिया। 'लड़की चालू है', वह सोचने लगा और उस पर पहले से ज़्यादा झुक गया। उसके चेहरे पर पुते पाउडर की हल्की-हल्की गंध उसे बड़ी अच्छी लगी।

वह उस युवती की उँगलियों को देखने लगा। उसकी लंबी-गोरी उँगलियों से बस का टिकट फँसा हुआ था। वह बस के टिकट को बार-बार उँगलियों में इस तरह लपेट रही थी, जैसे उससे खेल रही हो। उसे अचानक कुछ याद आया और उसने जेब से पैसे निकाले कि कंडक्टर आये तो टिकट ले। लेकिन पता नहीं क्यों, उसने पैसे फिर अपनी जेब में वापस रख दिये।

उसे अपनी दाँयीं बाँह में हल्की सी गुदगुदी महसूस हुई। वह सोचने लगा, यह लड़की जान-बूझ कर ऐसा कर रही है। उसे अच्छा लगा। वह उचक-उचक कर युवती के कंधे से अपना कंधा मिलाने की कोशिश करने लगा। उसने युवती की ओर देखा। उसका मन हुआ कि युवती की गोरी उँगलियों को अपनी उँगलियों में बाँध ले और बाँधे रहे।

अचानक वह युवती उठ खड़ी हुई। उसे उसका इस तरह का अचानक उठ खड़ा होना अच्छा नहीं लगा। उसने युवती की ओर देख कर फिर अपने को इस तरह देखा, जैसे उसकी दाँयीं बाँह को, दाँयीं टाँग को, शरीर के सारे दाँयें भाग को किसी ने बुरी तरह काट दिया हो। वह बहुत तेज़ी से ख़ुद भी उठ खड़ा हुआ और ठीक उस युवती के पीछे चलने लगा। बस शायद रुकने लगी थी। वह युवती तेज़ी से आगे बढ़ती हुई उतरने के लिए बस के पावदान पर आ गयी। बस रुकी। उसने धीरे से अपना बाँयाँ पाँव, फिर दाँयाँ पाँव पावदान से नीचे किया और वह साड़ी का किनारा सम्हालती हुई आगे बढ़ गयी। वह अचानक पावदान तक पहुँच कर रुक गया। बस फिर चलने लगी। उसने पावदान से ऊपर चढ़ कर दूर से ही अपनी सीट की ओर देखा। वहाँ कोई और बैठ गया था। उसने इधर-उधर नज़रें दौड़ायीं, लेकिन कोई सीट ख़ाली नहीं थी। वह मन ही मन बुदबदाया, 'जंगली कहीं के।' फिर वह दूर बैठे हुए आदमी को गाली देने लगा। उसे लगा, वह महिला, जो दक्षिण भारतीयों वाली सीट पर बैठी है उस पर बेतहाशा हँस रही है। उसने नफ़रत से अपना मुँह फेर लिया। लेकिन यह क्या? वह जिधर मुँह घुमाता है लोग उस पर हँसने लगते हैं, वह ऐसा क्यों महसूस करता है। वह अपने अगल-बगल खड़े हुए लोगों को देखने लगा। उसने अपना सर नीचा कर लिया। 'ओह! बहुत जल्दी इस देश में क्रांति आने वाली है।' वह सोचने लगा, 'बहुत जल्दी गद्दियाँ छीनी जायँगी। लेकिन लोगों को 'नेतृत्व'

की ज़रूरत है।' वह सहसा अपने को मह[illegible] करने लगा। उसने एक [illegible] अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से इधर-उधर देखा। फिर धीरे-धीरे बढ़ता हुआ पावदान पर आ गया। बस रुकती, इसके पहले वह बड़े मज़े से नीचे उतरा और कुछ सम्हल कर, अपनी दो छोटी-छोटी टाँगों को चलाता हुआ आगे बढ़ लिया। उसे लगा, वह एक बहुत बड़ा आदमी है और उसके पीछे तमाम छोटे-छोटे लोगों की भीड़ चली आ रही है। वह धीरे-धीरे सड़क से दूर होता हुआ अपने 'चौक' की ओर मुड़ गया।

लेकिन यह क्या? . . . .वह मन ही मन बौखला उठा। उसे लगा, सामने से आते हुए तीन-चार लड़के उसे देख कर आपस में कुछ बातें करने लगे हैं। उसे शक हुआ, यह उसके खिलाफ़ साजिश की जा रही है। उसकी इच्छा हुई, उन तीनों को पकड़ कर बेतहाशा पीटना शुरू कर दे। क्यों लोग उसे देख कर हँसते हैं? उसे चार-पाँच तेज़ और तीखी आवाज़ें सुनायी दीं। वह सोचने लगा, 'ज़रूर लोगों ने उसके खिलाफ़ षड्यंत्र रच रखा है। वह जब से बड़ा हुआ, उसे हर दिन ऐसी आवाज़ें सुनायी देती हैं। आखिर लोग उसे क्यों नहीं बढ़ते हुए देखना चाहते? क्यों लोग उसे बढ़ते हुए देख कर मखौल उड़ाते हैं?' '. . .' वह अंदर ही अंदर बहुत ज़ोर से चीखा।

"छोटा. . . .बा. . .ऽ. . .ऽऽ. . .ब. . . .ऽ. . . .ऽ. . . ."एक लड़का उसके सामने से जैसे सीटी बजाता हुआ गुज़र गया। एक भद्दी सी गाली उसके मुँह से निकली और वह तेज़ क़दमों से अपने घर की ओर चल दिया। और उसके नज़दीक आती गयीं आवाज़ें और हँसी!

—द्वारा, श्री बी० के० पांडेय,
१४५, लक्ष्मीबाई नगर,
नयी दिल्ली—३

महिलोपयोगी एकमात्र उत्कृष्ट मासिक
शृङ्गार
प्रबंध संपादक : देवेंद्र अग्रवाल
संपादिका : लावण्य प्रभा
- विचारपूर्ण व उपयोगी लेख
- महिलोपयोगी रुचिकर सामग्री
- रोचक मनोवैज्ञानिक कहानियाँ
- कविताएँ तथा सुंदर गीत
- महिलाओं के इंटरव्यू
- गृह-सज्जा, प्रसाधन-समस्याएं, विचार-मंच आदि अनेक रोचक स्थायी स्तम्भ

१३।३७, शक्तिनगर,
दिल्ली-७
फोन : २२७३००
मूल्य : वार्षिक : ५ रु०
मासिक : ५० पं०

सहवर्ती साहित्य

एक खंडन-मंडन [illegible]

तेलुगु

'आरिगपूडि'

तेलुगु का शतक-साहित्य

तेलुगु साहित्य में शतकों की परंपरा बहुत पुरानी है। १२वीं सदी से ही शतक काफ़ी लोकप्रिय रहे हैं। अब भी इनकी लोकप्रियता कम नहीं है। भले ही वे विषय और संख्या की दृष्टि से उतने प्रभावशाली न हों।

तेलगु शतक-साहित्य बहुत संपन्न है, शायद संस्कृत से भी अधिक। अनमान किया जाता है कि तेलुगु में तीन हज़ार से भी अधिक शतक हैं।

कन्नड़ में पहले शतक लिखे जाने लगे थे, पर उनकी संख्या उतनी नहीं है। आजकल तो प्रायः ये अप्रचलित से ही हैं। मलयालम और तमिल में तो शतकों की रचना लुप्त सी हो रही है।

शतक-साहित्य तेलुगु साहित्य का मुख्य भाग है—ऐसा भाग जो शैली की नवीनता और सुव्यवस्थित सामग्री के लिए महत्वपूर्ण है। शतकों की परंपरा प्राचीन होते हुए अब भी अक्षुण्ण है।

इसकी विशेषता और भी बढ़ जाती है, जब हम देखते हैं कि वर्तमान तेलुगु साहित्य में नये-नये परीक्षण हो रहे हैं, और नये-नये मूल्य प्रचलित हो रहे हैं। परिवर्तित परिस्थितियों में शतक की प्रधानता वस्तुतः आश्चर्यजनक है।

शतक पुराणों की तरह कथा-प्रधान नहीं हैं, गेय कृतियों की तरह संगीत-प्रधान भी नहीं, ये वर्णन-प्रधान भी नहीं हैं—जिस तरह की प्रबंध-युग की कृतियाँ हैं, कवि इसमें अपनी अनुभूतियाँ प्रकट करता है, ये वैयक्तिक हैं, इसलिए हृदयग्राही और रोचक बन पड़ते हैं—ये ऐसी भावनाओं के गुंफित रूप हैं, जो हर किसी के मन में होती हैं, और हर कोई उन्हें व्यक्त नहीं कर पाता।

ये प्रायः सरल और सुसंस्कृत भाषा में लिखे गये हैं, जिसमें भाषा के पांडित्य को प्रमुखता न दे कर, भाव और विचार को प्रमुखता दी जाती है।

तेलुगु में कई ऐसे शतक हैं, जो स[illegible]र रचे गये हैं। पर [illegible] शैली और विद्या की दृष्टि से संस्कृत से बिल्कुल भिन्न हैं; संस्कृत के प्रसिद्ध शतकों का अनुवाद तो तेलुगु में है ही।

संस्कृत में तेलुग की तरह 'मुकुट' नियम नहीं है, यानी श्लोक की अंतिम पंक्ति प्रति श्लोक के अंत में पुन: आवृत्त नहीं होती। तेलुगु में प्राय: श्लोक की अंतिम पंक्ति सम्बोधनात्मक होती है, संस्कृत के लिए यह आवश्यक नहीं है।

रस का जो नियम है, वह दोनों ही भाषाओं में समान है। एक शतक में एक ही रस की परिपुष्टि होनी चाहिए, भले ही वह कोई भी रस हो; सारे शतक में वही रस प्रवाहित होना चाहिए।

संख्या और 'मुकट' की परंपरा, कहा जाता है, तेलुगु में कन्नड़ से आयी। इस दिशा में कन्नड़ ने ही सम्भवत: तेलुगु के लिए मार्ग प्रशस्त किया। कन्नड़ में तेलुगु के आदि कवि नन्नय भट्ट से पहले ही 'त्रैलोक्य-चूड़ामणि' शतक था। और दोनों भाषाएँ दो भगिनियों की तरह हैं।

कहना होगा कि तेलगु शतक-साहित्य में जहाँ संस्कृत की शैली को अपनाया गया, वहां द्रविड़ भाषाओं की शैली को भी सम्मिलित किया गया है। फलत: इसकी अपनी एक विशेष शैली बन गयी है। छंदों के बारे में भी यही कहा जा सकता है; यदि इस पर संस्कृत का प्रभाव था तो कई देशी छंद भी प्रयुक्त हुए थे। यही प्रवृत्ति तेलुगु साहित्य के अन्य अंगों में दृष्टिगोचर होती है।

शतकों का उद्भव सर्वप्रथम शैव मत के प्रतिपादकों द्वारा हुआ। तेलुगु का प्रथम शतक श्री गिरिमल्लिखार्जन शतक है। पाल्कुरिकी सोमनाथ ने, जो शैव मत के प्रचार का प्राण सा रहा है, शैव मत के प्रचार के लिए वृषाधिक शतक की रचना की। इन्हीं के पद-चिह्नों पर यथावकुलु अनमय्या आदि ने भी शतक लिखे।

इनके बाद वैष्णवों ने भी इनकी रचना-शैली का अनुकरण किया। वैष्णवों के प्रथम शतक का नाम है—वेंकटेश्वर शतक।

शतकों की रचना संस्कृत अमिश्रित तेलुगु में भी हुई है। इन शतकों में उल्लेखनीय है सिंहाचल नारसिंह शतक। ग्राम्य भाषा में भी इनकी रचना हुई है, जैसे चंद्रशेखर शतक की।

शतक-साहित्य के प्रारंभ में भक्तिरस की अधिकता रही। बाद में श्रृंगार और नीति का भी समावेश हुआ। रस की दष्टि से तेलुगु के शतकों का यों विभाजन किया जा सकता है:—

१. भक्ति-शतक— (अ) शिव-भक्ति-प्रतिपादक, (आ) विष्णु-भक्ति-प्रतिपादक, २. श्रृंगार-शतक, ३. नीति-शतक, ४. दार्शनिक शतक, ५. हास्य रस-शतक, ६. ऐतिहासिक शतक, ७. स्वकीय शतक, ८. जीवन्यात्मक, ९. व्यंग्यात्मक १०. साहित्यिक शतक आदि।

तेंलुगु शतक-साहित्य का सम्राट वेमना है; शतक कई ने लिखे, पर वेमना की तरह किसी ने नहीं लिखा। तरह-तरह की शैलियाँ प्रयुक्त हुईं, पर वेमना की मौलिकता, बौद्धिक प्रखरता, भाव-गांभीर्य, अभिव्यक्ति का आकर्षण, पद्य की सरलता अन्यत्र अप्राप्य है।

सूत्र रूप में वेमना ने आध्यात्मिक, 'आधिभौतिक, लौकिक तथ्यों को, अनुभवों को गूंथ

[illegible] है और एक ऐसे साहित्य क [illegible] खंडन-मंडन हैं जिसका तुलना अच्छे से अच्छे साहित्य सा [illegible] से की जा सकती [illegible]

वेमना ने स्वानुभव से बहुत कुछ पाया था, उसका जीवन ही एक परीक्षण सा था, पहले वह पथ के लिए भटकता रहा और जब पथ मिल गया तो उसने उसको अपनी दिव्य दृष्टि से आलोकित कर दिया। और उसकी दिव्य दृष्टि ही परिणामतः उत्तम साहित्य की सृष्टि में व्यक्त हुई।

वेमना की कबीर से तुलना की जाती है; और यह तुलना सर्वथा सार्थक है। जो कोई भी जीवन के भेद और प्राणी और प्रकृति के संबंध, और परमात्मा की खोज में निकलता है, वह रहस्यमय हो जाता है—यह ऐसा अनभव है जो पूर्णतः व्यक्तिगत है, और वैयक्तिक स्तर पर ही ग्राह्य है। पर दोनों के साहित्य में कई ऐसी बातें हैं, जो सर्वग्राह्य हैं, सरल और स्पष्ट हैं। उनका साहित्य मानव मात्र के जीवन का भाष्य सा है, जो नितांत गूढ़ है, और नितांत सरल भी। सरल शब्दावली के पीछे गहन ज्ञान की सरिता सी बहती मालूम होती है।

वेमना ने तीन हज़ार से अधिक पद्य लिखे। इनमें से कुछ ही उपलब्ध हैं। इनका मुकुट यानी पद्य की अन्तिम पंक्ति हैं : **विश्वदाभिराम विनुर वेमा**।

वेमना महाभोगी, और महादार्शनिक था, जिसने भोग और दर्शन के पारंपरिक पथ पर चलते हुए, नये-नये आध्यात्मिक अनुभवों को प्राप्त किया, और वह उन सौभाग्यशालियों में था, जो अपने अनुभव को सरल शब्दों में व्यक्त भी कर सका। यह वस्तुतः उसके अनुभव की स्पष्टता और तीव्रता और स्वाभाविकता का प्रदर्शक है।

यदि निर्गुण भगवान को लेकर, शतक-साहित्य में बहुत कुछ है, तो सगुण पर भी बहुत कुछ है। आंध्र भूमि में कितने ही देवी-देवता पूज्य माने गये हैं। प्रायः उन सभी के बारे में शतक मिलते हैं, कई के बारे में तो एक से अधिक भी।

जहाँ देवी-देवताओं की स्तुति है, वहाँ मानवों की प्रशंसा भी है। यहाँ तक कि अच्छे सरकारी कर्मचारी की जीवनी पर भी एक शतक है—गोपाल कृष्णमूर्ति-शतक। इसको आलोचकों ने शतक-साहित्य में स्थान भी दिया है।

स्पष्ट है, कोई भी विषय शतक-साहित्य में निषिद्ध नहीं है, और इसका इतना विस्तृत होना अतः अवश्यंभावी ही है।

शायद यही कारण है कि आजकल भी शतक लिखे जा रहे हैं। वर्तमान तरुण कवि दाशरथी के 'दाशरथी शतक' की जो अभी प्रकाशित हुआ है, काफ़ी प्रशंसा भी हुई है।

भले ही संख्या की दृष्टि से बहुत से शतक पूरे नहीं लिखे जाते हों—यानी उनमें सौ पद्य न आते हों, पर छिटपुट कविता में शतक-शैली का उपयोग आज भी सोत्साह किया जाता है।

शतक-साहित्य का विकास, तेलुगु के साहित्य के विकास के साथ परिबद्ध है, यह तेलुगु की 'आत्मीयता' का प्रतिबिंब है, भक्ति और श्रद्धा का साहित्यिक रूप है।

—ए० रमेश चौधरी 'आरिगपूडि',
१३८, शेनोय नगर, मद्रास-३०।

शत [illegible]

• •

सुशिक्षा और सुनीति पाने पर भी
छोड़ता नहीं है हीन अवगुण कभी
होता क्या सफ़ेद कोयला धोने पर?
भूलो न मानव 'वेमना' की सूक्ति कभी।।१।।

मिलता नहीं अज्ञानी ज्ञानी से कभी
चाहता नहीं दयालु को लोभी कभी
करता क्या सुअर पसंद इत्र को?
भूलो न मानव 'वेमना' की सूक्ति कभी।।२।।

दूध गधी का ला कर खीर बनाने पर भी
होता है क्या रुचिकर, पीने योग्य कभी?
सुधरता नहीं मूर्ख प्रभु के कहने पर भी
भूलो न मानव 'वेमना' की सूक्ति कभी।।३।।

लोटते, लुढ़कते धूल में गधे सभी
सिंगार करने पर भी, इत्र लगाने पर भी,
छोड़ता नहीं मूर्ख कुपथ लाखों प्रयत्नों पर भी
भूलो न मानव 'वेमना' की सूक्ति कभी।।४।।

मोक्ष पाता नहीं मूरख इस जगत में कभी
गंगा में स्नान करने पर भी, काशी जाने पर भी,
परिवर्तन ला सकते नहीं अज्ञानी में कभी
भूलो न मानव 'वेमना' की सूक्ति कभी।

(योगी वेमनाकृत 'वेमना शतक' से)

जानते हुए भी मानव मिथ्या है संसार सारा
रहता है भटकता भ्रांति से मोह में पड़ सदा
स्त्री, संतान और संपत्ति के, किंतु पल भर भी
करता नहीं उपासना तुम्हारी हे कालहस्तीश्वर।।१।।
शरीर सारा मेरा स्त्री के नखाग्रों से घायल हुआ
घिस गयी छाती मेरी स्त्री के स्तन युगल से
व्यतीत हुआ सारा जीवन मेरा कामाराधना में
सर गंजा हुआ, लानत है इस जीवन पर!

विमुक्त [illegible] खंडन-मंडन के [illegible] र से
[illegible] हे कालहस्तीश्वर ॥२॥

(धूर्जटिकृत 'कालहस्तीश्वर शतक' से)

संतुष्टि दामाद की, साहित्यिक ज्ञान अहीर का,
सचाई स्त्री की, चावल भूसे की कुटाई के,
सफ़ेद कौवे—विश्व में होते हैं असंभव हे सुमती ॥१॥

जब होती है संपत्ति तब आते हैं बंधुजन सारे तेरे द्वार।
जैसे प्रकट होते हैं हज़ारों मंडूक भर जाने पर पानी
से तालाब, सुमती ॥२॥

रहता है ज़हर साँप का सिर पर और पूँछ में बिच्छू का,
पर रहता है दुर्जन में फैला हुआ सर्वत्र हे सुमती ॥३॥

(बद्देनकृत 'सुमति शतक' से)

'रा' सारी मलिनता को बाहर कर देता है
और 'म' किवाड़ के समान बंद होकर
उनसे भिड़ लेता है—तुम्हारे नाम के
वर्ण-स्मरण मात्र से जगत के मानवों की
मलिनता दूर हो जाती है हे दाशरथी करुणापयोनिधे ॥१॥

(भद्राचल रामदासकृत 'दाशरथी शतक' से)

जग में साथ लाता नहीं कोई संपत्ति
और धन देता नहीं साथ मृत्यु के समय
लक्षपति को भी खाना पड़ता है भोजन ही
निगल नहीं सकता है स्वर्ण वह भी कदापि ॥१॥

(शेषप्पकृत 'नरसिंह शतक' से)

जाति हो जाय निद्रामग्न, स्वतंत्रता का भाग्य
कपूर के समान उड़ जायगा अवश्य,
है रक्षिका सतत जागृति ही स्वतंत्रता की
वास्तव में सच है वाणी नार्ल जी की ॥१॥

काम क्या है विकलांग को नाट्यशास्त्र से?
लाभ क्या है बधिर को कविता-गोष्ठी से?
मूढ़ मानव के किस अर्थ मंत्री का पद?
वास्तव में सच है वाणी नार्ल जी की ॥२॥

[illegible] -पाँति का
तब तक असंभव [illegible] भुवि में
और लाना देश में समाजवाद निरर्थक
वास्तव में सच है वाणी नार्ल जी की ।।३।।

जब तक होता नहीं स्वभाषा पर अधिकार
तब तक है अन्य भाषा सीखना बेकार?
आरंभ यदि नहीं है ठीक अंत भला कैसे हो
वास्तव में सच है वाणी नार्ल जी की ।।४।।

● ●

(नार्ल वेंकटेश्वर रावकृत 'नालवारि माटा' से)
अनुवादक : विजयराघव रेड्डी,
केंद्रीय हिंदी संस्थान,
आगरा-३।

●

अकालजलद

कवि-सम्राट विश्वनाथ सत्यनारायण

तेलुगु-साहित्य में विश्वनाथ सत्यनारायण का स्थान सर्वोपरि है। वे बहु-अधीत, बहुमुखी प्रतिभासंपन्न, अभिजातवादी होने के साथ-साथ नवोन्मेषशालिनी दृष्टि के प्रतीक हैं। तेलुगु के शलाका पुरुष हैं विश्वनाथ सत्यनारायण!

संस्कृत का गहन अध्ययन, अंग्रेज़ी की नूतन से नूतन धाराओं से परिचय तथा तेलुगु की संपूर्ण परंपरा का पुष्कल ज्ञान उनकी क्षमता का द्योतक है। इसीलिए उनमें आर्य संस्कृति के प्रति राग-भाव, वैश्व भावना का संदर्भ, प्राची और प्रतीची का अद्‌भुत सामंजस्य मिलता है। वे ऐसे चौराहे पर खड़े हैं जहाँ संस्कृत की उदात्त गंभीरता, यूरोपीय परंपराओं का मौलिक सत्य, विधाओं के प्राय: सभी रूप और मूल्यान्वेषण के प्रति सजगता एक साथ दृष्टिगत होती हैं।

विजयवाड़ा के आर्ट्स कॉलेज में तेलुगु के आचार्य रूप में जहाँ उन्होंने एक नयी पीढ़ी तैयार

एक खंडन-मंडन के [illegible]
की है, वह। [illegible] शासन के व्यामोह [illegible] ता के निजत्व की रक्षा की है। जो अलसजीवी हैं, जिन्होंने भारत के पुरातन स्वर्ण-काल को प्रेरणा-स्रोत नहीं समझा, उन्हें विश्वनाथ सत्यनारायण ने अँधेरे से निकाल कर पौरुष का प्रकाश दिया है। 'आंध्र-पौरुषम्' इस दृष्टि से उनकी उल्लेखनीय कृति है।

'जयंती' के संपादक रूप में वे ख्यात अवश्य रहे हैं, किंतु वे तेलुगु-साहित्य के अग्रदूत हैं। उन्होंने अपने संपादन-काल में साहित्य और साहित्य-शास्त्र को नया रूप दिया और शास्त्रीयता की रक्षा भी की।

विश्वनाथ सत्यनारायण का जन्म सन् १८९५ में हुआ। आज वे सत्तर वर्ष के हो रहे हैं। पर उनकी प्रतिभा क्षरित नहीं हुई है; उनका अध्यवसाय स्तमित नहीं हुआ है। वे अक्षयिष्णु हैं। अपने प्रारंभिक काल में अन्य प्रतिभाशाली तेलुगु-लेखकों की तरह विश्वनाथ भी प्रसिद्ध तेलुगु-संस्था 'साहिती समिति' के सदस्य थे। उनका साहित्यिक वैभव-विकास उस संस्था की देन चाहे न हो, पर प्रेरणा और वातावरण के अनुकूलन में उसका योग अवश्य है। विश्वनाथ ने साठ-सत्तर पुस्तकों की रचना की है, जिनमें महाकाव्य, खंड काव्य, छोटी कविताएँ, गीतिकाव्य, कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, समालोचना तथा निबंध हैं। 'आंध्र-प्रशस्ति', 'शृंगार-वीथी', 'शशिदूतम्', 'तेलुगु-ऋतुवलु', 'किन्नेरसानिपाटलु' आदि काव्य, 'वेय्यिपडगलु' (सहस्रफण), 'चेलियलिकट्टु', 'एकवीर' आदि उपन्यास विख्यात हैं। उनका महाकाव्य है 'श्रीमद्‌रामायण' जिसकी अद्वितीयता निश्चित ही नहीं, प्रामाणिक भी है।

ऐतिहासिक काव्य तथा वीर-गीत के प्रणेताओं में वे अग्रगण्य हैं। उनकी ऐतिहासिक काव्य-कृति 'झाँसी राणी' आकार में लघु किंतु जागरण की चेतना से संपुष्ट है। 'आंध्र-प्रशस्ति' में साहित्यिकता की पूर्ण सुरक्षा के साथ देश-प्रेम की अभिव्यक्ति है। 'गिरिकुमार' एक प्रेम-काव्य है जिसकी उदात्तता श्लाघ्य है। 'कोकिलम्मा पेंड्ली' और 'किन्नेरसानि' प्रकृति की रूमानी कथाओं के सुंदर गीत हैं। 'किन्नेरसानि' में लोकगीतों का-सा सौंदर्य है।

आंध्र में जब नव-अभिजातवाद का ज़ोर हुआ तब विश्वनाथ सत्यनारायण उस प्रवाह में प्रमुख थे। 'श्रीमद्‌रामायण' महाकाव्य इस अभिजातवाद के पुनरावर्तन का प्रमाण है जिसमें रामकथा अत्यंत मौलिक रूप में पेश की गयी है।

जिन दिनों तेलुगु-साहित्य में अंग्रेज़ी अनुवादों की भरमार थी उन दिनों उन्होंने मौलिकता और शक्ति का परिचय दिया। उनके उपन्यास 'वेय्यिपडगलु' तथा 'चेलियलिकट्टु' मौलिकता के मापदंड कहे जा सकते हैं। 'वेय्यिपडगलु' में जीवन और जगत को सहस्रफण के प्रतीक से अभिव्यंजित किया गया है। इसमें आंध्र संस्कृति और सभ्यता के वास्तविक चित्रण के साथ ही भारतीय संस्कृति की परंपरा का उत्कृष्ट अंकन है। मानव-जीवन की प्रायः संपूर्ण समस्याओं का अंकन, संगीत, कला, नृत्य आदि के विवरण और आंध्र जाति का संपूर्ण इतिहास इसमें इस प्रकार उपलब्ध है तथा लेखक के गंभीर अध्ययन, अनुभव एवं चिंतन का इस प्रकार आभास मिलता है कि 'वेय्यिपडगलु' को संस्कृति का वृहत कोश कहा जा सकता है। इस उच्च कोटि के (क्लासिक) उपन्यास की ग्रांथिक भाषा भी मौलिकता की दृष्टि से एक उपलब्धि है। जागरण-चेतना, जीवित पुराने

तरीक़ों, समाज के विकास, उसके बदलते हुए [illegible] तौर-तरीक़ों के परिव[illegible], विचारों के आयाम आदि की दृष्टि से यह उपन्यास और उनके दूसरे उपन्यास भी महत्वपूर्ण हैं। आंध्र विश्व-विद्यालय ने 'वेय्यिपडगलु' को पुरस्कृत किया है, किंतु साहित्यिक मूल्य की दृष्टि से 'चेलियलिकट्टु' का महत्व 'वेय्यिपडगलु' से कहीं ज़्यादा है, तेलुगु के वरिष्ठ विद्वान डॉ० जी० वी० सीतापति का ऐसा मत है। जनता ने विश्वनाथ को कवि-सम्राट की उपाधि से विभूषित किया है, किंतु उन्हें उपन्यास-सम्राट कहना भी समीचीन होगा।

विश्वनाथ की कहानियाँ भी वरीयता के संदर्भ में स्मरणीय हैं। वे मौलिक कहानी-लेखन में अग्रिम रहे हैं। उनकी कहानियों में छोटे-छोटे संदर्भों का अंकन बारीकी से हुआ है।

उनके नाटकों में 'नर्तनशाला' महत्वपूर्ण है। उसकी ख्याति सुविदित है। फिर भी अपनी साहित्यिकता के कारण जनता के बीच वह उतना लोकप्रिय नहीं हुआ। लोकप्रियता कदाचित रंगमंच की दृष्टि से अभी संभव भी नहीं है।

उनकी समालोचनाओं और निबंधों पर भी यूरोपीय प्रभाव स्पष्ट हैं। पर उनके विचार, उनका चिंतन भारतीय है। प्रभाव की दृष्टि से भी उनकी उपेक्षा करना अनुचित होगा, क्योंकि उनमें उनकी मौलिकता और सर्जनशीलता सर्वत्र उजागर है। हिंदी में रामचंद्र शुक्ल कुछ-कुछ वैसा ही यूरोपीय प्रभाव लिये हुए हैं।

अभी कुछ दिन हुए, उन्हें साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत किया है। यह सर्वथा उचित और संगत था कि उन्हें भारत का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार देकर अभिनन्दित किया गया। पुरस्कृत पुस्तक 'विश्वनाथ मध्यक्करलु' में दस शतक हैं। इनकी रचना मध्यक्कर छंद में हुई है और इनमें परम स्रष्टा के दस विग्रहों को संबोधन किया गया है।

विश्वनाथ की भाषा संस्कृतगर्भित किंतु नये मोड़ देती हुई विकसनशील भाषा है। उन्होंने संस्कृत छंदों में किंचित परिवर्तन करके तेलुगु को समृद्धि के उत्कर्षों तक पहुँचाया है। तेलुगु में उनकी यह बहुत बड़ी उपलब्धि है। परंपरा और इतिहास के संदर्भ में विश्वनाथ अपने अतीत और भविष्य के बीच एक तेजोदीप्त शिखर हैं।

कुछ दिनों पूर्व प्रयाग में एक अखिल भारतीय लेखक-सम्मेलन हुआ था, उस समय भी विश्वनाथ सत्यनारायण ने भारतीय भाषाओं के उन्नयन के लिए अंग्रेज़ी के पूर्ण बहिष्कार पर बल दिया था। वे हिंदी भाषा और साहित्य के प्रति उदार, स्नेही और उन्नतिकामी हैं। इस दृष्टि से भी—एक नीरक्षीरविवेकी के रूप में—वे स्मरणीय हैं।

विश्वनाथ सत्यनारायण का व्यक्तित्व इतना बहुमुखी है कि किसी अन्य से उनकी तुलना बहुत दुष्कर है। संपादक, कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार, गीतकार, समालोचक और निबंध-लेखक के साथ-साथ शिक्षाविद, चिंतक और मनीषी के रूप में वयःप्राप्त विश्वनाथ सत्यनारायण का जो अभिनंदन आंध्र प्रदेश में आगामी मास में होने जा रहा है उसका सभी हार्दिक स्वागत करते हैं। वे कृतियों से, कीर्तियों से, वय से बड़े हैं। कीर्ति से वे अमर रहेंगे, काया से चिरायु हों।

—द्वारा 'माध्यम

बुच्चि बाबू

कहानी

यथार्थ और भावना-सोपान

नीला आकाश, सूर्य की सुंदर किरणें, कमरे में ठंडी हवा, अच्छी कॉफ़ी पीकर जब अखबार पढ़ने लगा तो मन मसोस गया। राजनीतिक दंगों के कारण अफ़्रीका में दो सौ व्यक्ति मारे गये। दूसरे देश में एक खदान के वैठ जाने से साठ मज़दूर दब गये और कहीं हवाई जहाज़ की दुर्घटना से चालीस यात्री मर गये। एक जगह कहीं रेल पटरी से उतर गयी, कहीं नाव डूब गयी, कहीं भूकंप हुआ, कहीं ज्वालामुखी का विस्फोट हुआ, कहीं बाढ़ आयी और कहीं जंगल जलकर भस्म हुआ। आज के अख़बार में हर जगह यही समाचार है। ये सारी घटनाएँ मेरी जगह से कोई पाँच-छः सौ मील के उस पार की घटी हैं, उसके अन्दर नहीं, अतः मुझे इस संबंध में कोई चिंता नहीं होनी चाहिए थी। किन्तु मेरा उत्साह क्षीण हो गया, मन पर उदासी छा गयी। 'अफ़्रीका में दो सौ व्यक्ति मारे गये' यह अख़बार का एक वाक्य है, और 'दो सौ' एक संख्या है। आँखों के ज़रिये मस्तिष्क तक पहुँच जाता है वह वाक्य, और मस्तिष्क सारे शरीर में संदेश भेजता है, और वह संदेश भावना को झकझोरता है, और भावना पुरानी स्मृतियों का एक चित्र-सा एकत्र कर मस्तिष्क को भेजती है। वे दो सौ व्यक्ति कौन थे? उनके क्या नाम थे? उनका रंग, क़द, वज़न, जन्म-स्थान और तिथि और पेशा आदि क्या थे? उनकी औरतें, औलाद, दौलत, बैंकों का हिसाब-किताब, और गहने क्या हो जायँगे? क्या घर ख़ाली हो जायँगे? बाल-बच्चे कहाँ रहेंगे, क्या करेंगे? वे दो सौ व्यक्ति कैसे मारे गये? क्या हत्यारों पर मुक़दमा चलाया जायगा, उनकी सज़ा होगी? भूगोल का नक़्शा देखो। उनका संविधान क्या है? उनके मित्र देश कौन-कौन हैं? अंतर्राष्ट्रीय समिति इस मामले में क्या करेगी? उस देश के प्रति भारत का क्या रुख़ है? भारतीय होने के नाते इस संबंध में मेरा क्या कर्तव्य है? मेरी भावना सारे विश्व का भ्रमण कर पुनः कुर्सी के चारों पायों के बीच लौट आयी। इसलिए गाँधी जी कहा करते थे कि भावनातिरेक से दुःखी होने के लिए रोज़ एक समाचार पर्याप्त है; अधिक की आवश्यकता नहीं।

भावना को प्रेरित करने से नसें फूल जाती हैं, उससे थकान और थकान से उदासी और मन मसोसना आदि-आदि। 'सारा विश्व एक है, सारी मानव जाति एक है'—इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मेरी यह उदासी पर्याप्त होगी, यह सोचकर दिल को दिलासा देना चाहिए। यह 'अंतर्राष्ट्रीयता' ही भावना का एक सोपान है। यदि हत्यारे मुझसे कमज़ोर हैं तो मैं इस सोपान से उतर कर उनकी मरम्मत करता, और यदि बलवान हैं तो सोपान पर चढ़कर हाथ जोड़ता, नहीं

तो....। मेरी भावना के [illegible] अचानक रुक जाने का कारण [illegible] आगमन । रेड्डी हाँफ रहा था और कह [illegible] सुना आपने [illegible] बैठने के लिए कहा, कॉफ़ी पीने के लिए कहा।

"सुना आपने ?"

"बात क्या है ? धीरे-धीरे बताओ, हाँफ क्यों रहे हो ?"

"लक्ष्मीपति को जानते हैं न ?"

"कहो।"

"रास्ते में गिर गया ! हाय राम !"

"क्या ?"

"लोग इकट्ठा हो गये, तरह-तरह की बातें कर रहे हैं।"

"क्या ?"

"उसका ख़ून किया गया।"

यह सुनकर मैं उठ खड़ा हुआ।

"किस जगह पर?"

"सिनेमा-हाल के सामने वाली बड़ी गली में। बीच गली में, दिन-दहाड़े।"

रेड्डी यह कह कर चलने लगा।

"ठहरो, मैं भी आ रहा हूँ।"

मैं चल ही रहा था पर इतने में रेड्डी जल्दी से भाग गया।

वास्तव में लक्ष्मीपति से अब मेरा इतना परिचय नहीं रह गया था। एक प्रकार से अफ़्रीका में मारे गये दो सौ व्यक्तियों में से एक व्यक्ति के मारे जाने से जो प्रभाव मेरे ऊपर पड़ सकता था वही अब मेरे ऊपर पड़ा होगा। कई वर्षों के पहले कभी हमारे मामा जी के यहाँ एक दुबला-पतला सा काला आदमी––वही लक्ष्मीपति––नौकरी करता था। खादी का कुर्ता-पायजामा, ऊपर कंधों पर एक दुपट्टा। रात में ताश खेलता था। वैसे विनम्र व्यक्ति था। मामा जी की हर प्रकार से सहायता करता था। यह सब मुझे अब भी याद है।

दो फ़र्लांग चलने पर सत्तेन्ना आता हुआ दिखायी पड़ा। वह हाँफते हुए रुक गया।

"सुना आपने ? लक्ष्मीपति गिर गया। अजीब ढंग से लोग चर्चा कर रहे हैं।"

"हाँ, रेड्डी ने भी कहा था, मैं भी उसके संग चलने वाला था, लेकिन रुके बिना ही वह चला गया। चलो, मैं तुम्हारे संग आ रहा हूँ, देखेंगे क्या बात है।"

"रेड्डी ने आपसे क्या कहा था ?"

सत्तेन्ना और रेड्डी दोनों एक ही गाँव के रहने वाले हैं। प्रारंभ से ही उन दोनों में पटती न थी।

मैंने कहा, "रेड्डी ने मुझसे कहा कि उसका ख़ून किया गया।"

"उसकी बातें ! ख़ून-वून कुछ नहीं। लोग कह रहे हैं कि उसने आत्महत्या कर ली।"

"हाँ !"

“करता भी क्या बेचारा! [illegible] खंडन-मंडन [illegible] के रूपेस। ह, और खुद बंदर! पत्नी उम्र में छोटी ह[illegible] वह खुद ५० साल [illegible] जानते हैं न कि उसने दूसरी शादी कर ली है?”

चलते हुए मैंने कहा, “हाँ, हाँ, अब याद आ गया। उन दिनों लोग कहा करते थे कि लक्ष्मीपति की पत्नी रूपसी है। तब लक्ष्मीपति क़रीब चालीस का रहा होगा। पहली पत्नी से भी संतान थी; कितनी, यह मैं नहीं जानता। दूसरी पत्नी की आयु उस समय लगभग बीस वर्ष की रही होगी। शादी तो शान से हुई––अर्थात अनेक लोग आये थे उस रूपसी को देखने के बहाने उस शादी में। पति का कुरूप होना, जोड़ी का बेजोड़ होना भी जनता के लिए एक आकर्षक विषय बन जाता है। मैं तो नहीं गया था उस शादी में, लेकिन शादी के दस साल बाद ही क्या मुसीबत आ पड़ी कि उसे आत्महत्या करने की सूझी?”

लंबी-लंबी साँस लेता सत्तेन्ना हँस रहा था।

“सभी कुछ तो हुआ। वह उसके साथ ठीक तरह से रहती नहीं थी। लक्ष्मीपति तो उसे छोड़ नहीं सकता था। सोचता होगा कि वह न रहेगी तो बच्चे जी नहीं सकते और यदि रहती है तो बच्चे ख़राब हो जाते हैं। वह ऐसी ही औरत है।”

मैंने पूछा, “क्या तुम उसे जानते हो?”

“मैं तो नहीं जानता।”

“तो ख़ून ही क्यों नहीं हो सकता?”

“लक्ष्मीपति सज्जन थे, नरम मिज़ाज के, किसी के झगड़े-टंटे में नहीं पड़ते थे। उनका कोई दुश्मन नहीं हो सकता।”

“तब अपना दुश्मन वह ख़ुद था।”

हामी भरकर वह जल्दी-जल्दी चलने लगा। मैं कहता रहा, “अरे, धीरे चलो, मैं भी वहीं चल रहा हूँ।” पर वह अनसुनी करके भाग निकला। अपनी सुनी हुई बात दूसरों से कहनी थी। रास्ते में मैं दिखायी पड़ा तो मुझसे ही कह डाली, अब औरों से कहनी है, अब मेरी आवश्यकता उसे नहीं रह गयी थी।

मैं भी क़दम तेज़ी से बढ़ाता हुआ चलने लगा। उस स्थान पर पहुँचने के लिए अभी तीन फ़र्लांग और चलना है। किसी सवारी के लिए इधर-उधर देख रहा था कि इतने में दौड़ते हुए आ पड़ा राघवय्या। बचपन में राघवय्या से मेरा परिचय था। फिर दुबारा हाल ही में मुलाक़ात हुई थी। मेरे मामा जी के पास यह भी लक्ष्मीपति के साथ नौकरी करता था, इस कारण राघवय्या लक्ष्मीपति से भली भाँति परिचित था। उसने कहा, “लक्ष्मीपति ने आखिर वही काम किया।”

“सुना है, आत्महत्या कर ली उसने?”

“छि: छि:।”

“तो?”

“कहते हैं कि ट्रक के नीचे कुचल गया। ट्रक वाले सुनते भी हैं किसी की? संसार की आधी दुर्घटनाएँ इन ट्रक वालों के कारण ही होती हैं।”

“अरे, किसी ने कहा [illegible] किसी और ने कहा, उसने [illegible] कर ली, अब तुम कह रहे हो, ट्रक के नीचे कु[illegible]

“बेशक। ट्रक की दुर्घटना ही थी। वह उसके नीचे आ गया। ये दुर्घटनाएँ हमारे और तुम्हारे जैसे लोगों के साथ नहीं होतीं, लक्ष्मीपति जैसे लोगों के साथ ही होतीं हैं। ऐसे लोग दुर्घटनाओं को खुद बुला लेते हैं, मानो वे इन्हीं के लिए जन्म लेते हों।” यह बात मैंने कहीं पढ़ी भी थी कि इस प्रकार की दुर्घटनाएँ कुछ विशेष प्रकार के लोगों के साथ ही घटती हैं। ऐसे लोग प्राय: ऐसी दुर्घटनाओं की कांक्षा भी रखते हैं। यह मनोविज्ञान से संबंध रखने वाला प्रश्न है। किसी ट्रक के नीचे प्राणत्याग करने की आकांक्षा क्या लक्ष्मीपति ने की होगी ? इसका क्या कारण होगा ?

“अरे भाई, आँखों पर चर्बी छा जाती है तो दुर्घटनाएँ क्यों न घटेंगी भला? प्रत्येक व्यक्ति इस लोक में ही कर्मों का फल भोगता है।” राघवय्या ने जवाब दिया।

“आँखों पर चर्बी क्यों छा गयी ?”

“क्यों छा जाती, जब एक साथ तीस हज़ार रुपये हाथ लग जायँ ? क्या यह बात तुम्हें मालूम नहीं ?”

“नहीं तो।”

“उसने कभी कोई सर्टिफ़िकेट वग़ैरह ख़रीदे थे। उनमें से किसी से उसे तीन हज़ार रुपये मिल गये। अब नौकरी भी छोड़ दी। बिजनेस शुरू कर दिया। बिजनेस में भी चाँदी ही चाँदी हाथ लगी। तब आँखों पर चर्बी क्यों न छा जाती ? “कौन सी कार ख़रीदी जाय” इसी विचार से आने-जाने वाली कारों को देखते हुए रास्ता चलें तो किसी ट्रक के नीचे आने में कितनी देरी लगे ?” यह राघवय्या का अपना सिद्धांत है। लक्ष्मीपति के प्रति इनके मन में किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं दिखायी पड़ती। मुझे लगा कि राघवय्या लक्ष्मीपति से जलते होंगे। वास्तव में देखा जाय तो कदाचित् रेड्डी, सत्तेन्ना और राघवय्या, इन तीनों के मन में लक्ष्मीपति की मृत्यु के प्रति कुतूहल मात्र है, सहानुभूति नहीं। राघवय्या भी निकल गया। मैंने साथ चलने को कहा, किंतु किसी काम का बहाना करके वह भी मुझे छोड़ गया। अब मैं और तेज़ी से चलने लगा। क्या मेरे मन में भी लक्ष्मीपति के प्रति सहानुभूति है ? घटनास्थल के नज़दीक होने के कारण सबके समान कुतूहल लिये ही तो मैं भी चल रहा हूँ। हाँ, पहुँच तो गया हूँ। यही है सिनेमा-हाल का मोड़, वह बड़ी गली भी आ गयी। सत्तेन्ना दौड़ा-दौड़ा पहुँच गया फिर। “अरे, कोई बात तो नहीं थी, लक्ष्मीपति फिसल कर गिर गया। चोट-वोट कुछ नहीं आयी।” कहता हुआ वह चला गया।

मैं भी अब भीड़ में शामिल हुआ। भीड़ अब कम होती जा रही थी। अब लगभग दस आदमी रह गये होंगे। सब खड़े हैं। लक्ष्मीपति दिखायी पड़ा। अरे, कितना बड़ा हो गया है। तुरंत पहचान न सका मैं, पता नहीं कितने साल हुए होंगे उसे देखे। दाढ़ी बढ़ गयी थी। धोती और कोट और चप्पलें। चौड़ी फ़्रेम वाला चश्मा। बहुत बदल गया है। मैंने देखा कि लोग अपना-अपना रास्ता ले रहे थे।

"लक्ष्मीपति जी ही हैं न ?" [illegible] खंडन-मंडन के [illegible]

लज्जा [illegible] "हाँ, कहिए, [illegible] क्या बात है ?" लक्ष्मीपति बोला।

"ख़ैरियत तो है न ? क्या हुआ इधर ? सुना आप गिर पड़े। चोट तो नहीं आयी ?"

"हाँ, केले के छिलके पर पैर. . . ."

"किस जगह पर, कहाँ ?"

"जी, मेरा नहीं।"

"तो !"

मैंने उसके पैर की तरफ़ देखा, लँगड़ाता नहीं था, कपड़ों पर कोई रक्त की निशानी नहीं थी। हाथ, मुँह, सिर और कपड़े—कहीं धूल तक नहीं दिखायी पड़ी। सब ठीक-ठाक था।

"तो लोगों ने क्यों ऐसा कहा कि दुर्घटना हुई और—और––"

"ओ, चलिए बताऊँगा।"

धीरे-धीरे चल रहे थे हम दोनों। हमारे पास अब तक जो तीन लोग थे उनमें से भी दो खिसक गये। तीसरे आदमी की ओर दिखाते हुए लक्ष्मीपति ने कहा कि यही आदमी केले के छिलके पर पैर फिसलने से गिर गया था गली में। दाँयीं ओर गिर रहा था, मैंने खींचकर बाँयीं ओर ढकेल दिया। दाँयीं ओर से ट्रक चली गयी, और यह बाल-बाल बच गया, नहीं तो ट्रक के नीचे आ जाता।

"तो फिर यह सारा हंगामा कैसे ?"

"मेरे ढकेलने से पत्थर के ऊपर गिर गया था और चोट आ गयी थी। कहते हैं कि मेरी वजह से चोट लग गयी है। ट्रक रुक गयी। मेरे न ढकेलने से वह उसके नीचे आ जाता—फिर भी उसने कृतज्ञता तक प्रकट नहीं की। चोट भी कोई बड़ी नहीं थी। माथा थोड़ा घिस गया पत्थर पर, और थोड़ा सूज गया। बस इतना ही। भीड़ लग गयी, पुलीस आ गयी, हल्ला मच गया, पूछ-ताछ आदि हुई––आख़िर कुछ भी तो नहीं था। लोग अपने-अपने रास्ते चले गये। बेचारे ट्रक के चालक ने शुक्रिया अदा किया। उसने कहा कि यदि मैंने उस आदमी को न ढकेल दिया होता तो वह ट्रक के नीचे आ जाता और बड़ी दुर्घटना हो जाती। मेरे इस कार्य की उसने भूरि-भूरि प्रशंसा की।"

धीरे-धीरे चल रहे थे हम दोनों।

"तो असल में आपको कुछ भी नहीं हुआ ?"

"कह तो दिया न ?"

"अजीब तमाशा है, किसी ने कहा हत्या, किसी ने कहा आत्महत्या, न जाने क्या-क्या कहा।"

लक्ष्मीपति हंस दिया और कहा, "अच्छा, ऐसी बात है ! बेचारे ! उनकी मनोकामनाएँ पूरी नहीं हुईं। मेरा दुबारा विवाह कर लेना उनको अच्छा नहीं लगा था।

"पत्नी मुझे छोड़ कर भाग नहीं गयी, मेरे साथ रह रही है। अलावा इसके तीस हज़ार रुपये हाथ लग जाना भी उनके लिए असह्य बात हो गयी। जानते हैं, जब यह पैसा मिला तब

न जाने इन लोगों ने मेरी कितनी प्रशंसा [illegible] अभिवादन किया ! उस [illegible] में ही मैंने दो-तीन सौ ख़र्च किये। ये तीस [illegible] ख़त्म हो जाते [illegible] सौ साल जीने का आशीर्वाद देने में उन्हें कोई तक़लीफ़ न होती।"

इन अंतिम वाक्यों से लक्ष्मीपति मेरे अधिक निकट आ गया। सह-मानव को, अपने समाज को भली भाँति समझने के लिए लक्ष्मीपति ने मुझे जो अवसर दिया उसके लिए उसे अपने निजी मित्रों में से एक समझ कर उसकी लंबी आयु की कामना करता हुआ घर लौट कर अख़बार देखा तो उस भावना-सोपान को, कि 'विदेशों में मारे गये सब व्यक्ति हमारे मित्र हैं,' और इस भावना द्वारा जनित पीड़ा और उदासी को इस पदार्थ ने मानो लात मार दी !

अनु०: विजयराघव रेड्डी,
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा-३।

भारतीय ज्ञानपीठ-द्वारा प्रवर्तित

ज्ञानपीठ पत्रिका

लेखन-प्रकाशन की अधुनातन दिशा-प्रवृत्ति
और उपलब्धि-परिचायिनी
मासिकी

●

'ज्ञानपीठ पत्रिका' हिंदी में अपने प्रकार का प्रथम प्रयास है, और कदाचित अन्य भारतीय भाषाओं को देखते हुए भी; जिसका प्रयत्न एक ऐसा अध्ययन प्रस्तुत करने का है जो लेखक-प्रकाशन-विक्रेता-पाठक चारों के 'अक्षर-जगत्' की गतिविधि, नयी प्रवृत्तियों, समस्याओं एवं समाधान और विकास-उन्नति की दिशा-भूमिका का सम्यक परिचय दे तथा परस्पर विचारों के आदान-प्रदान का पथ प्रशस्त कर सके।

●

संपादक
लक्ष्मीचन्द्र जैन : : जगदीश

मूल्य वार्षिक ६.०० : ००.५५, पैसे प्रति

संपादकीय कार्यालय
भारतीय ज्ञानपीठ, ९ अलीपुर पार्क प्लेस,
कलकत्ता - २७

वितरण कार्यालय
भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड रोड, वाराणसी-५

श्री अरविंद

श्री अरविंद ने सन १८७५ को कलकत्ता में जन्म लिया था। सात वर्ष की आयु में उन्हें अपने दो भाइयों के साथ इंग्लैंड भेज दिया गया और उन्होंने वहाँ चौदह वर्ष तक शिक्षा पायी। सन १८९० में उन्होंने आई० सी० एस० की परीक्षा पास कर ली, पर घुड़सवारी की परीक्षा में भाग न लिया। इस तरह वे लौहतंत्र में आने से बच गये।

इंग्लैंड से लौट कर श्री अरविंद ने तेरह वर्षों तक बड़ौदा राज्य में नौकरी की। यह आत्मशिक्षण का काल था। इस काल में उन्होंने बहुत सी कविताएँ लिखीं, संस्कृत, बँगला आदि बहुत सी भारतीय भाषाएँ सीखीं और भारतीय संस्कृति को आत्मसात किया। इन्हीं दिनों वे मौन रहते हुए राजनीतिक कार्य-संचालन भी करते रहे। वंग-भंग आंदोलन के समय इन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और कलकत्ता जा कर बंगाल राष्ट्रीय महाविद्यालय के अध्यक्ष बन गये।

श्री अरविंद ने सन १९०२ से १९१० तक राजनीति में कार्य किया। वे कांग्रेस के गरम दल के नेता थे जिसने होमरूल की जगह स्वराज्य को अपना ध्येय बनाया था। इनके कार्यक्रम में विदेशी सत्ता, विदेशी शिक्षा आदि के बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध का मुख्य स्थान था; आगे चल कर यही कार्यक्रम कांग्रेस का मुख्य ध्येय बन गया। इन्होंने 'धर्म', 'कर्मयोगी' और 'बंदे मातरम्' का संपादन किया। 'सन १९०८ में इन्हें अलीपुर बम कांड के सिलसिले में पकड़ लिया गया। जेल में इन्हें 'वासुदेवमिदं सर्वम्' का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ; मुक़दमा खारिज हो गया और श्री अरविंद छोड़ दिये गये। सन १९१० में उन्हें पांडिचेरी जाने का दैवी आदेश मिला और वे राजनीति से अलग हो गये——यहाँ तक कि कांग्रेस का सभापति पद भी इन्होंने अस्वीकार कर दिया। उच्चतर जीवन की माँग बढ़ती गयी और उन्होंने अपने आप को पूरी तरह इसी कार्य में लगा दिया। सन १९१४ में श्री माता जी के साथ मिल कर इन्होंने 'आर्य' नामक अंग्रेज़ी मासिक का संपादन किया।

पांडिचेरी में इनके चारों ओर शिष्य-समुदाय इकट्ठा होने लगा और यही आगे चल कर श्री अरविंदाश्रम बना। पांडिचेरी का जीवन लोगों की आँखों से दूर आंतरिक जीवन रहा है। इन दिनों में श्री अरविंद ने अपने शिष्यों की सहायता करने के लिए बहुत से पत्र लिखे और बहुत सी पुस्तकों को दोहराया। दूसरे महायुद्ध के आरंभ में उन्होंने सार्वजनिक रूप से मित्र राष्ट्रों का पक्ष लिया और 'क्रिप्स प्रस्ताव' को स्वीकार करने के लिए अपील की। उनका कथन था कि इसे स्वीकार करने से देश बटवारे से बच जायगा। श्री अरविंद का कहना है कि भारत का बटवारा एकदम अस्वाभाविक है और भारत फिर से एक हो कर रहेगा।

श्री अरविंद ने ५ दिसंबर, सन् [illegible] त्याग दिया। उन्होंने सन् १९०५ से योग का अभ्यास शुरू किया और भारत में प्रचलित योग-पद्धतियों के सार-तत्व को ग्रहण कर तथा भगवान के साथ एकता और आध्यात्मिक साक्षात्कार प्राप्त कर वे जड़ प्रकृति और सचेतन आत्मा में सामंजस्य उत्पन्न करने की खोज में लगे। साधारण योग-पद्धतियाँ इस संसार से परे दृष्टि गड़ाये रहती हैं और आत्मा को संसार-त्याग का पाठ सिखाती हैं, पर श्री अरविंद की पद्धति में आत्मा ऊपर उठ कर अतिमानस चेतना तक पहुँच कर वहाँ की ज्योति, शक्ति और आनंद को ले कर फिर वापस आती है और इन सब तत्वों को धरती पर प्रकट कर के भौतिक जीवन का रूपांतर करती है। श्री अरविंद की दृष्टि में जगत मिथ्या अथवा स्वप्न या भ्रम नहीं है, जिसका परित्याग और निर्वाण की प्राप्ति ही चरम उपलब्धि हो। वे मानते हैं कि वर्तमान स्थिति में जो अविद्या तथा अंधकार फैला हुआ है, उसके नीचे भागवत शक्यताएँ और भागवत आनंद छिपा है; और योग का उद्देश्य होना चाहिए, क्रमशः प्रगति करते हुए इस जड़ तत्व के अंदर उस परम चेतना को आविर्भूत करना।

श्री अरविंद का दर्शन जड़ और चेतन को परस्पर विरोधी न मान कर एक ही चेतना की दो अभिव्यक्तियाँ मानता है। अतः उनकी दृष्टि में न यूरोप का जड़वाद और न शंकर का मायावाद स्पृहणीय है। उनके अनुसार एक ही परम तत्व ने, जिसे हम सच्चिदानंद कह सकते हैं, अपनी चिच्छबि के द्वारा आनंद के लिए सृष्टि की रचना की। यह चिच्छक्ति ही माँ कहलाती है और इसका काम है चेतना के उच्चतर शिखरों को जड़ पृथ्वी पर अवतरित करना और यहाँ की निम्नतम वस्तुओं का भी उन्हीं के आलोक में पुनर्गठन करना। इसके अनुसार दुख हमारे ऊपरी तल पर ही रहता है, अंतर के आनंद पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सृष्टि में जो विकास-क्रम चल रहा है उसके दो पक्ष हैं——जड़ तत्व से ऊपर की ओर आरोहण और सच्चिदानंद से नीचे की ओर अवरोहण। इन दोनों का संगम इस धरती पर होगा। कहते हैं, पहले केवल जड़ प्रकृति थी फिर उसमें प्राण का संचार हुआ और वनस्पतियाँ आयीं, फिर पशु-पक्षी और अंत में मनोमय चेतना का प्राणी मनुष्य आया। अब इससे परे अतिमानस सृष्टि की बारी है। अतिमानस चेतना में किसी प्रकार का विरोध या विरोधाभास न रहेगा, वहाँ पूर्ण सामंजस्य होगा। मानस और अतिमानस के बीच जो विशाल खाई है, उसे पाटने का काम भगवती माता का है।

श्री अरविंद के पूर्णयोग में ज्ञान, कर्म, भक्ति सभी का समावेश है परंतु इसमें कर्मकांड को कोई महत्व नहीं दिया जाता। भगवान के साथ हर एक का अपना संबंध है और वहाँ तक पहुँचने के लिए हर एक का अपना मार्ग है; हाँ, वहाँ तक पहुँचने के लिए अभीप्सा, विरोधी तत्वों का त्याग और भगवान के प्रति स्वेच्छा से किया गया समर्पण——ये तीन बातें हर एक के लिए आवश्यक हैं।

—रवींद्र,
संपादक 'पुरोधा',
श्री अरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-२।

लघु समीक्षा

हिंदी में समीक्षा के अनेक रूप प्रचलित हैं। एक वह है जिसके दर्शन पुस्तकों की भूमिका के रूप में होते हैं। जब लेखक भूमिका लिखता है, तब वह साहित्य-सर्जन के पीछे काम करने वाली प्रेरणा, अपनी साधना, कठिनाइयों, आलोचकों की हृदयहीनता और उदासीनता, साथ ही ग्रंथ की ऐसी विशेषताओं की चर्चा करता है जिन पर किसी की दृष्टि कठिनाई से पड़ती है। पहले ये भूमिकाएँ विनम्रता-प्रदर्शन के लिए लिखी जाती थीं; अब योग्यता-प्रदर्शन के लिए। जब कोई दूसरा व्यक्ति ऐसी भूमिकाएँ लिखता है तब वह विशेष रूप से परिचायक का ही काम करता है। ऐसा लेखक प्रायः महत्वपूर्ण होता है—कोई बड़ा नेता, कोई बड़ा कवि, कोई बड़ा आलोचक। स्पष्ट है कि इस स्थिति में कोई भी व्यक्ति दोष-दर्शन का काम खुल कर नहीं कर सकता। बहुत दृढ़ स्वभाव का हुआ तो इंगित से कुछ कह देगा। वह दोष-दर्शन पर ही उतर आया तो फिर उससे भूमिका कौन लिखवायेगा? आजकल इन भूमिकाओं का उद्देश्य ग्रंथों को पुस्तकालयों में खपाना या सरकार से पुरस्कार पाना भी है। आलोचना का एक हलका ढंग पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तकों की समीक्षा के रूप में देखने को मिलता है। इन स्तंभों में गंभीर और निष्पक्ष आलोचना का अभी अभाव पाया जाता है। पुस्तकें प्रायः ऐसे व्यक्तियों को दे दी जाती हैं जो या तो समीक्षा करने के अधिकारी नहीं हैं या सहानुभूतिपूर्वक उन्हें पढ़ नहीं पाते। तीसरे प्रकार की आलोचनाएँ रेडियो पर सुनने को मिलती हैं। नवीन ग्रंथों की आलोचना कराना रेडियो के साहित्यिक कार्यक्रमों का एक अनिवार्य अंग है। चौथा ढंग वह है जब पत्र-पत्रिकाओं में लेखक स्वतंत्र रूप से कुछ लिखता है। इसमें व्यक्ति की रुचि ही प्रधान है। कभी-कभी तो एक ही ग्रंथ के संबंध में दो लेखकों की एकदम विरोधी प्रतिक्रियाएँ पढ़ने को मिलती हैं, जिस पर थोड़ा आश्चर्य भी होता है। इन सभी प्रकार की आलोचनाओं में एक प्रकार की नूतनता, रोचकता, विलक्षणता, विविधता और पूर्वग्रह के दर्शन होते हैं।

आलोचना का लक्ष्य मेरी दृष्टि में साहित्य में निहित आंतरिक सौंदर्य को स्पष्ट करना है। इस प्रकार आलोचक एक ओर लेखक के प्रति उत्तरदायी है, दूसरी ओर पाठक के प्रति। जिस सौंदर्य की सृष्टि लेखक ने की है, उसका परिज्ञान पाठक को कराना समालोचक का पहला काम है। पर इससे भी अधिक वह व्यापक जीवन के प्रति उत्तरदायी है। इस जीवन के चित्र यदि कहीं भी कृत्रिम, विकृत या धुँधले उतरते हैं, तो उस ओर इंगित करना समीक्षक का धर्म है। श्रेष्ठ रचनाकार की कृति में पाठक को बहा ले जाने की शक्ति होती है। समालोचक को उससे सावधान रहने की आवश्यकता है। तटस्थता की यहीं आवश्यकता पड़ती है। कहने का तात्पर्य यह कि जिस समय समीक्षक आलोचना को अपना पवित्र कर्म समझ कर निष्पक्ष भाव से कुछ लिखता है, केवल उसी समय सच्ची आलोचना की संभावना खड़ी होती है। पर प्रश्न यह है कि पिछली कोटि की समीक्षाओं का क्या कोई उपयोग है?

इस प्रकार की समीक्षाओं को [illegible] म दिया जा सकता है। [illegible] हमारे समीक्षक इसमें व्यवस्था ला सकें, यदि इसी काम [illegible] और मनोयोग [illegible], तो यही समीक्षा बड़ी कलात्मक हो सकती है। इससे मेरे ऊपर कोई यह संदेह न करे कि हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में मैं 'लघु समीक्षा' जैसी किसी नवीन विधा का प्रचार करना चाहता हूँ। पर कभी-कभी मुझे ऐसा लगा है कि कुछ पुस्तकों और विषयों के संबंध में जिस विस्तार से लिखा जाता है, वह एकदम अनावश्यक है। बहुत संक्षेप में उनके संबंध में बहुत सी मूल्यवान बातें कही जा सकती थीं। आजकल आलोचना की भरमार और जीवन की व्यस्तता के कारण यह बहुत संभव है कि भविष्य का हिंदी पाठक 'लघु समीक्षा' के प्रति अपना आकर्षण प्रकट करे। इससे आलोचना-ग्रंथों की उपयोगिता नहीं नष्ट होगी; वैसे ही जैसे कहानी के प्रचार से, उपन्यासों या एकांकियों के प्रचार से बड़े नाटकों की माँग बंद नहीं हो गयी।

—विश्वम्भर 'मानव',
८८८, कल्याणीदेवी, इलाहाबाद-३।

वातायन • उपन्यास विशेषांक • अगस्त '६५

हिन्दी उपन्यास विकास के चार त्रयीक्रम का विश्लेषण—
विधा—
के० डी० कुर्त्तकोटी
सर्जन—
दो लघु उपन्यास

पाश्चात्य औपन्यासिक साहित्य का त्रयी मूल्यांकन—
डॉ० महावीर दाधीच
प्रो० विश्वेसरिया

डॉ० एस० एन० गणेशन
डॉ० शिवकुमार मित्र
डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
प्रो० फूलचन्द सेठिया
डॉ० ओभानंद सारस्वत

स्थायी स्तम्भ—
बेलाग क़लम
टिप्पणियाँ
कुछ और टिप्पणियाँ
समीक्षाएँ

आप अपनी प्रति आज ही आदेश भेज कर सुरक्षित करा लें
एजेंट संपर्क स्थापित कर लाभ उठावें
संपर्क
५, डागा बिल्डिंग, बीकानेर

विवेचना

शंभुनाथ सिंह

नरेंद्र शर्मा की दो नवीन काव्य-कृतियाँ

(१) उत्तर जय। रामचंद्र ऐंड कंपनी, दिल्ली। १९६५। मूल्य २.७५। (२) प्यासा निर्झर। समुदय प्रकाशन, बंबई। १९६४। मूल्य ८ ००।

व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से कवियों की (मेरा तात्पर्य यहाँ वास्तविक कवियों से है, छंद-योजकों से नहीं) दो श्रेणियाँ होती हैं। पहली श्रेणी उन कवियों की होती है जो अपने मूल प्रस्थान-बिंदु का त्याग नहीं करते, फिर भी विकासमान होते हैं। उनका विकास ऊर्ध्व-मुखी और चक्राकार होता है। दूसरी श्रेणी उन कवियों की है जो अपने मूल प्रस्थान-बिंदु से बराबर आगे बढ़ते हुए ऊर्ध्वमुखी या निम्नमुखी बनते हैं। उनका विकास क्षितिजीय या समतलीय होता है। ऐसे कवि अपने मूल प्रस्थान-बिंदु से इतना आगे निकल जाते हैं कि उनके अंतिम स्वरूप में प्रारंभिक स्वरूप का कोई चिन्ह परिलक्षित नहीं होता। इन दोनों श्रेणियों के कवियों को समान रूप से सिद्धि अथवा असिद्धि प्राप्त होती है। अतः किसी श्रेणी को दूसरी श्रेणी से श्रेष्ठ या वरीय नहीं कहा जा सकता। दोनों ही श्रेणियों में उच्चता के शिखर पर पहुँचने अथवा पतनोन्मुख होने की सम्भावनाएँ और आशंकाएँ निहित होती हैं।

नरेंद्र शर्मा इस द्वितीय श्रेणी के कवि हैं। 'शूल-फूल' और 'कर्णफूल' से लेकर 'उत्तर-जय' और 'प्यासा निर्झर' तक की उनकी काव्य-यात्रा एक क्षितिजीय यात्रा रही है, जिसमें उन्होंने तीन मंज़िलें पार की हैं। प्रथम यात्रा-खंड उस कैशोर और रूमानी भावभूमि से संबंधित था जो छायावाद की अतिशय सूक्ष्म और वायवी भावभूमि से पर्याप्त भिन्न थी। कवि की यात्रा छायावादी भूमि से ही प्रारंभ हुई थी पर उसमें साहस और विद्रोह की प्रवृत्ति इतनी अधिक थी

कि उसने अपने समकालीन श्रेष्ठतम छाया[illegible] आदर्शों का अनुकरण न करके अपने दैनंदिन अनुभव-खंडों को सामान्य भाषा में सीधे-सादे ढंग से व्यक्त किया। कविता को सामान्य जन के निकट ले जाने का यह उसका प्रथम प्रयास था। उसकी काव्य-यात्रा का यह खंड व्यक्तिगत अनुभवों के अमर्यादित ऊहात्मक वर्णन, 'स्व' के प्रति अतिशय संसक्ति, जो आत्मरति की सीमा तक पहुँच जाती हैं, तथा निराशा और कहीं-कहीं मृत्यु-पूजा की कुंठा-भावना की अभिव्यंजना के कारण श्रेष्ठ काव्य की दृष्टि से भले ही महत्वपूर्ण न हो, पर यथार्थ भूमि पर उतरने के लिए समकालीन प्रतिष्ठित काव्यधारा से अलग हटकर अपना स्वतंत्र मार्ग निर्मित करने के कारण निस्संदेह ऐतिहासिक महत्व रखती है। नरेंद्र शर्मा की काव्य-यात्रा की दूसरी मंजिल प्रगतिवादी और एक विशेष राजनीतिक दल की प्रेरणा से लिखी गयी कविताओं से संबंधित है। कवि की इस दौर की कविताएँ उसकी उसी यथार्थोन्मुख विद्रोही प्रवृत्ति की देन हैं जो उसकी रूमानी कविताओं में दिखायी पड़ती है। स्वच्छंद प्रेमानुभूति में जो आवेग और आवेश होता है उसका किसी उग्र राजनीतिक दिशा में मुड़ जाना बहुत स्वाभाविक है। अतः नरेंद्र शर्मा की यह यात्रा कोई बहुत लंबी यात्रा नहीं हो सकती थी, क्योंकि रोमांस की जिस पिच्छल भूमि पर उन्होंने चलना प्रारंभ किया था उसकी सीमा राजनीतिक रोमांस की भूमि से मिली हुई थी और अपने स्वाभाविक मार्ग से फिसलते ही उनका प्रगतिवादी खेमे के सीमा-क्षेत्र में पहुँच जाना सहज था। किंतु सामाजिक यथार्थ की भूमि पर उनके पाँव अच्छी तरह टिके नहीं; क्योंकि उस भूमि पर वे संयोगवश अथवा दुर्घटनाग्रस्त होकर ही पहुँचे थे। इस कारण उस प्रगतिवादी भूमिका का पूरी तरह निर्वाह करना उनके लिए कठिन था। संभवतः उनका प्रगतिवाद उसी प्रकार ऊपर से ओढ़ा हुआ था जैसा सुमित्रानंदन पंत का प्रगतिवाद; इसी कारण वे बीच-बीच में सीमा लाँघ कर स्वच्छंदतावाद की भूमि पर भी चले आते थे। भावुकता और आवेश की अधिकता दोनों ही प्रकार की कविताओं में समान रूप से थी, केवल विषय-वस्तु में अंतर था।

किंतु बहुत शीघ्र ही राजनीतिक और प्रचारात्मक प्रगतिवाद के भ्रम का आवरण उनकी आँखों के आगे से हट गया। इस माया-स्तूप के ध्वंस का कोई विशेष बाहरी कारण रहा भी हो तो उसे उतना महत्व नहीं दिया जा सकता क्योंकि मूल कारण तो कवि के भीतर ही था। जिस भावुकता, आग और आवेश को लेकर कवि ने अपनी यात्रा प्रारंभ की थी उसकी लपटें अधिक दिनों तक प्रज्वलित नहीं रहा करतीं। वैयक्तिक आसक्ति हो या वस्तुगत संसक्ति, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। आसक्ति की तीव्रता बहुत दिनों तक एक जैसी नहीं रहती और व्यक्ति स्वभावतः आसक्ति की एक स्थिति से ऊब कर दूसरी स्थिति की ओर खिंच जाता है। इसी कारण आसक्तिपूर्ण कविता की जड़ें गहराई में गयी नहीं होतीं। आसाक्ति का वेग कम होते ही उकताहट और ऊब होने लगती है और कवि अपनी आसक्ति की भूमि बदलने के लिए अस्थिर हो उठता है। कवि के जीवन में यह एक आंतरिक संघर्ष और मनोवैज्ञानिक संकट का क्षण होता है। भावुकतापूर्ण आवेग आसक्ति का ही उफान होता है। आवेग की कमी उस आसक्ति की क्षीणता का उपलक्षण होती है। ऐसे क्षण में भावुक कवि या तो आसक्ति के नये आधार की खोज करता है या वस्तुओं के प्रति निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण अपना कर जीवन-सत्यों की

उपलब्धि का प्रयत्न करता है। इस खंडन-मंडन के [illegible] काव्य-यात्रा के तीसरे दौर का प्रारंभ इसी आंतरिक संकटबोध से उत्पन्न हुआ था। शारीरिक भूख-प्यास आलंबन की प्राप्ति के बाद तृप्त हो जाती है; फलत: वैयक्तिक आसक्तिजन्य आवेग शांत हो जाता है। राजनीतिक आवेगजन्य तनाव उस समय दूर होता है जब राजनीतिक प्रेरणा के स्रोतों के प्रति अनास्था और अविश्वास उत्पन्न होता है। नरेंद्र शर्मा के जीवन में यह आंतरिक संकट संभवत: १९४५-४६ के आस-पास उनके वैयक्तिक जीवन से संबंधित घटनाओं और देश की राजनीतिक स्थिति और उनकी आस्था के आधारभूत राजनीतिक दल की गतिविधियों के कारण उत्पन्न हुआ था। इसका प्रमाण उनकी १९४६ से १९५० तक की वे कविताएँ हैं जो उनके काव्य-ग्रंथ 'अग्नि-शस्य' में संकलित हैं।

नरेंद्र शर्मा की काव्य-यात्रा की यह भूमि प्रथम दो यात्रा-खंडों की भूमि से बिलकुल भिन्न है। यह अध्यात्म-दर्शन और चिंतन की भूमि है। इस दौर की उनकी कविताओं की केंद्रीय चेतना दार्शनिक और सांस्कृतिक है। बहुत से लोगों के लिए यह दु:खपूर्ण आश्चर्य की बात हो सकती है कि एक विद्रोही युवक कवि भौतिक जीवन और सामाजिक परिवेश की विषमताओं और रूढ़ियों से विद्रोह करते-करते एकाएक आध्यात्मिक कैसे बन गया। किंतु यह दु:खजनक बात भले ही हो, आश्चर्यजनक बिलकुल नहीं है। शारीरिक भूख-प्यास संबंधी अतितृप्ति अथवा अतृप्ति की प्रतिक्रियात्मक परिणति आध्यात्मिकता के क्षेत्र में पलायन के रूप में प्राय: दिखायी पड़ती है। यही स्थिति राजनीतिक क्षेत्र में भी होती है। राजनीतिक असफलता के कारण अनेक उग्र क्रांतिकारियों और वामपंथियों का थियोसॉफिस्ट या अरविंदपंथी हो जाना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसका कारण यह है कि आवेश और भावुकता के लिए जब कोई नवीन आधार नहीं मिलता तब ऐसा व्यक्ति अंधकार में टटोलने और किसी भी काल्पनिक आदर्श को अपनी आसक्ति का आलंबन बनाने को तैयार हो जाता है। यह मध्यकालीन मनोवृत्ति है। आधुनिक युग में वैज्ञानिक और प्राविधिक उपलब्धियों के प्रभाव के कारण कोई प्रबुद्ध व्यक्ति किसी भी ऐसी सर्वशक्तिमती परोक्ष सत्ता को स्वीकार करने को तैयार नहीं हो सकता, जिसके लिए उसका विवेक प्रमाण नहीं प्राप्त कर लेता। आध्यात्मिक अनुभव वहीं तक प्रामाणिक माने जा सकते हैं, जहाँ तक आधुनिक मनोविज्ञान हमें साक्ष्य प्रदान करता है। इस दृष्टि से समस्त गुह्य विधाओं—मंत्र-तंत्र, जादू-टोना आदि की तरह ईश्वर की सत्ता में विश्वास भी मध्यकालीन मनोवृत्ति है। आधुनिक युग में भी कोई व्यक्ति ईश्वर में विश्वास करे, पूजा-पाठ करे तो इस पर दूसरों को आपत्ति नहीं हो सकती, किंतु वह व्यक्ति जब इसे केवल निजी कर्तव्य और धर्म न मान कर अपने विचारों और अनुभवों को दूसरों तक पहुँचाना या प्रचारित करना चाहता है तब, आपत्ति की जा सकती है। क्योंकि उस स्थिति में उसका यह कार्य वैयक्तिक न रहकर सामाजिक हो जाता है। अत: नरेंद्र शर्मा ने जब आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारों के प्रचार के लिए काव्य को माध्यम बनाने का संकल्प किया होगा तब निश्चय ही उन्हें पता होगा कि उनके इस कार्य की तथा उनकी इस प्रकार की कविताओं की प्रतिकूल आलोचना भी हो सकती है।

प्रस्तुत आलोच्य कृतियाँ—'उत्तर जय' और 'प्यासा निर्झर'—नरेंद्र शर्मा की काव्य-

यात्रा के वर्तमान अर्थात तीसरे दौर का र [illegible] र जय' कवि के शब्दों में, एक 'गाथा-काव्य' है––जिसे मैं ध्वनि-रूपक कहना अधिक पसन्द करूँगा। इसका धरातल सांस्कृतिक और पौराणिक है। 'प्यासा-निर्झर' कवि की विगत दस वर्षों में लिखी, अर्थात सन १९५५ के बाद लिखी कविताओं का संकलन है। इसी दस वर्ष के बीच उनका एक खंड काव्य 'द्रोपदी' भी प्रकाशित हो चुका है और उसकी भूमि भी दार्शनिक और पौराणिक ही है। 'प्यासा निर्झर' की अधिकतर कविताएँ दार्शनिक, आध्यात्मिक और भक्तिपरक हैं। सन १९५० में उनका काव्य-संकलन 'अग्नि-शस्य' प्रकाशित हुआ था जिसमें १९४६ से १९५० तक की उनकी स्फुट कविताएं संकलित हैं। 'अग्नि-शस्य' की भी अनेक कविताएँ आध्यात्मिक और दार्शनिक रंग में रंगी हुई हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि १९४५ के बाद से ही कवि की काव्य-चेतना पर आध्यात्मिक रंग चढ़ना प्रारंभ हो गया था जो बीस वर्षों में पर्याप्त प्रगाढ़ बन कर 'प्यासा निर्झर' के रूप में प्रकट हुआ है। 'अग्नि-शस्य' में प्रेम की सरस अनुभूतियों, प्रकृति-चित्रण तथा सामाजिक चेतना वाली कविताएँ पर्याप्त संख्या में हैं, पर 'प्यासा निर्झर' में ऐसी कविताओं की संख्या बहुत कम १३४ में करीब २० है। इसका यह अर्थ है कि कवि अपने मूल प्रस्थान-बिंदु से इतनी दूर हट गया है कि उसकी प्रारंभिक रचनाओं में पाया जाने वाला विद्रोह तो उससे बिलकुल छूट ही गया है, वह ताज़गी, आवेश और आसक्ति भी इन कविताओं में नहीं है जो 'प्रभात-फेरी' और 'पलाश-वन' और 'प्रवासी के गीत' की कविताओं में थी। आसक्ति का आलंबन खोजने का प्रयत्न कहीं-कहीं अवश्य दिखायी पड़ता है पर अधिकांश कविताओं में शुष्क दार्शनिक विवेचना, उपदेश, तथ्य-कथन, नीति-कथन और खंडन-मंडन की प्रवृत्ति ही अधिक है। यही नहीं, कवि ने इन कविताओं में अपने जिन आध्यात्मिक अनुभवों को व्यक्त करना चाहा है वे भी बहुत कुछ कृत्रिम और तर्क-बुद्धि से गढ़े हुए प्रतीत होते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवि को प्रथमतः तो अपनी आसक्ति का आलंबन मिला ही नहीं है, दूसरे उसके भीतर की आसक्ति और आग की तीव्रता बहुत कुछ समाप्त हो गयी है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या उत्तम काव्य में वस्तुओं के प्रति आसक्ति का होना आवश्यक या श्लाध्य है और यदि नहीं है तो नरेंद्र शर्मा की, ये दार्शनिक विवेचन और तर्क पर आश्रित कविताएँ उत्तम काव्य की कोटि में क्यों नहीं आ सकतीं ? वस्तु के प्रति आसक्ति सत्य की उपलब्धि में बाधक होती है। यदि काव्य-सत्य जीवन-सत्य से भिन्न नहीं है और उस जीवन-सत्य की उपलब्धि को अभिव्यक्त करना ही काव्य का लक्ष्य है तो कवि के लिए वस्तुओं के प्रति तटस्थ दृष्टि रखना आवश्यक है, क्योंकि तटस्थता या निर्वैयक्तिकता द्वारा ही द्रष्टा भोक्ता से भिन्न हो कर सत्य का, चाहे वह आत्म-सत्य हो या वस्तु-सत्य, साक्षात्कार कर सकता है। सत्य का साक्षात्कार ही वह प्रामाणिक अनुभव है, जिसकी उपलब्धि और अभिव्यक्ति कवि करता है। यह सही है कि नरेंद्र शर्मा की काव्य-यात्रा के तीसरे दौर की कविताओं में आलंबन के प्रति आसक्ति का अभाव है, पर इससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि कवि ने इन कविताओं में सत्य की उपलब्धि कर ली है। इन कविताओं में अनुभूति की प्रामाणिकता खोजना व्यर्थ है, क्योंकि यहाँ तो अनुभूति-शून्यता ही अधिक दिखायी पड़ती है। दार्शनिक विवेचना, पौराणिक आख्यानों की

Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

दार्शनिक व्याख्या, तथ्य-कथन और शुष्क खंडन-मंडन के भीतर न तो सत्य के तटस्थ साक्षात्कार की प्रामाणिक अनुभूति के दर्शन हो सकते हैं, न वस्तुओं के प्रति गहरी आसक्ति के ही। अतः इन कविताओं में न तो वैयक्तिक आसक्ति है, न निर्वैयक्तिक तटस्थता। इस कथन को प्रमाणित करने के लिए दोनों आलोच्य ग्रंथों की कविताओं का परीक्षण करना होगा।

'उत्तर जय' में महाभारत की कथा का अंतिम प्रसंग लिया गया है। इसमें दुर्योधन की मृत्यु के बाद अश्वत्थामा द्वारा किये गये भीषण और अमानुषिक हत्याकांड, युधिष्ठिर के विषाद और पश्चात्ताप, द्रौपदी और कृष्ण द्वारा युधिष्ठिर से अश्वत्थामा की मस्तक-मणि छीनने के लिए आग्रह, अश्वत्थामा द्वारा मणि का दान और व्रण-पीड़ा का वरण, गांधारी, धृतराष्ट्र और कृष्ण द्वारा युधिष्ठिर के आशीर्वाद-प्रदान, युधिष्ठिर के धर्म-शासन, यादव-कुल के नाश और कृष्ण की निर्विकल्प समाधि और मृत्यु, और अंत में युधिष्ठिर के आकाश-अवरोहण की कथा कहीं सूत्र और सांकेतिक रूप में और कहीं सूच्य रूप में संवादों और वाचनों के माध्यम से कही गयी है। कथा क्रमबद्ध और महाभारत की कथा के विलकुल अनुरूप नहीं है। इसका कारण यह है कि कवि का लक्ष्य इस ग्रंथ में कथा कहना या नाट्य-रचना करना नहीं है। इसके विपरीत उसका उद्देश्य उक्त कथा की घटनाओं और पात्रों की अपनी धारणा के अनुरूप नवीन दार्शनिक व्याख्या करना है। उसकी व्याख्या के अनुसार ये पात्र और घटनाएँ प्रतीकात्मक हैं, पृथा देववाहिनी पृथ्वी माता है, द्रौपदी होमजा जीवनी-शक्ति है, युधिष्ठिर मूर्धन्य आकाश तत्व हैं और भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव क्रमशः पवन, अग्नि, जल और स्थल तत्व हैं, अभिमन्यु मनस्तत्व हैं, विदुर आत्मस्थ विवेक हैं और पीड़ाभीरु अश्वत्थामा आंतरिक भय और उसकी प्रतिक्रियाजन्य परपीड़न की प्रवृत्ति हैं। इस तरह महाभारत कथा का यह उत्तर-प्रसंग जीवन-तत्व के संघटन, नियति-चक्र में आवद्ध आधिदैविक शक्तियों के स्थूल रूप-ग्रहण, और उनके आरोहण-अवरोहण या संभाव और तिरोभाव की प्रतीक-कथा है।

कोई भी व्यक्ति किसी पुरातन ऐतिहासिक-पौराणिक कथा की प्रतीकात्मक व्याख्या करने के लिए स्वतंत्र है। प्रसाद ने 'कामायनी' में यही किया है। प्रश्न यह है कि आधुनिक युग में इस प्रतीक-व्याख्या का प्रयोजन और उसकी सार्थकता क्या है? 'कामायनी' के प्रतीक आधुनिक युग के संदर्भ में सार्थक प्रतीत होते हैं क्योंकि वे आधुनिक मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और मानवतावादी जीवन-दर्शन की प्रतिपत्तियों से अधिकांशतः सिद्ध किये जा सकते हैं। किंतु 'उत्तर जय' में जो प्रतीक आरोपित किये गये हैं, वे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों के विपरीत जाते हैं। प्राचीन भारतीय दर्शनों में पाँच तत्वों का भले ही प्रमुख रूप से उल्लेख हो, यद्यपि वहाँ भी न्यायशास्त्र में अन्य बहुत से तत्वों का विवेचन भी किया गया है। पर आधुनिक भौतिकी उक्त पाँच तत्वों को विशुद्ध तत्व नहीं मानती। फिर इन तत्वों में कोई मूर्धन्य है और कोई निकृष्ट, यह कहना औचित्यपूर्ण नहीं है। पंचतत्वों में आकाश तत्व को मूर्धन्य और स्थल तत्व को स्थूल होने से निकृष्ट मानना अवैज्ञानिक है। यह कथन भी कि ये तत्व वे आधिदैविक शक्तियाँ हैं जो जीवन के रूप में संघटित होती हैं, आधुनिक जीवन-विज्ञान के विपरीत है। अतः इस व्याख्या को वही स्वीकार करेगा जिसके भीतर आधुनिकता का बोध अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है, जो आज

भी दर्शन को विज्ञान से भिन्न रखकर उसे प्राचीन परंपरागत शब्दावली में ही समझने-बूझने का अभ्यासी है। पंच पांडवों को स्वभावसाम्य के आधार पर पंचतत्वों का प्रतीक मान भी लिया जाय, पर द्रौपदी को जीवनी-शक्ति का प्रतीक क्या केवल इसलिए मान लिया जाय कि पाँच पांडव उसके पति थे? जीवनी-शक्ति शब्द से जिस उद्दाम, अपराजेय, अविच्छिन्न शक्ति का अर्थबोध होता है वह द्रौपदी में नहीं थी। अतः यह एक कल्पित और आरोपित प्रतीक है, जिसका कोई औचित्य नहीं है। उसी तरह पृथा को पृथ्वी का प्रतीक माना गया है, जब कि सहदेव को स्थल का प्रतीक कहा गया है। क्या स्थल और पृथ्वी दो भिन्न तत्व हैं? मनमाने ढंग से प्रतीक-योजना करनी हो तो कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु या तत्व का प्रतीक बन सकती है।

यह समस्त प्रतीक-योजना निष्प्रयोजन इसलिए है कि वह हमारे मानस को आंदोलित करके हमें किसी विशेष दिशा में अनुभूति के अछूते और विस्तृत आयामों की ओर नहीं ले जाती। इसके विपरीत वह हमें एक रूढ़िवादी दार्शनिक घेरे में डाल देती है। कवि ने उस घेरे को 'नियति-चक्र' कहा है। जीवन इसी नियति-चक्र में फँस कर अवरोहण-आरोहण करता है। इस तरह जीव नियति का दास है। संजय के मुख से जैसे स्वयं कवि ही कहता है :

दारु-यंत्र जीव, दैव तंत्री है सूत्रधार।
नाचेगा जीव दैव चाहेगा जिस प्रकार।

कवि ने समूची कथा की इसी नियतिवादी दृष्टि से व्याख्या की है और सिद्ध किया है कि नियति के वशीभूत आकाशपुरुष धर्मराज को भूतल पर विषाद-ग्रस्त होकर रहना पड़ा जब कि दुष्ट दुर्योधन को स्वर्ग की प्राप्ति हुई। इसी नियति का बंदी बन कर अश्वत्थामा आज भी जीवित रह कर पीड़ा सहन कर रहा है, इसी के कारण योगिराज कृष्ण को भी व्याध के बाण का शिकार बनना पड़ा और यदुकुल का नाश हुआ। वस्तुतः नरेंद्र शर्मा का नियति-चक्र और कुछ नहीं, भारतीय कर्मफल के सिद्धांत का ही परिवर्तित रूप है। स्वर्ग, नरक और पाप-पुण्य की सनातनी धारणा की तार्किक परिणति कर्मफल और नियतिवाद हैं। नरेंद्र शर्मा की इस मान्यता को आधुनिकतावादी दृष्टि वाला व्यक्ति, जो प्रकृति पर विजय करने में विश्वास रखता है, कभी स्वीकार नहीं कर सकता। उसी तरह इस काव्य में कवि ने अश्वत्थामा और कृष्ण के संवाद में कृष्ण के मुख से पीड़ा का जो महत्व प्रतिपादित कराया है, उसे आधुनिक मानवतावादी जीवन-दृष्टि प्रतिक्रियावादी ही मानेगी।

इतना होते हुए भी 'उत्तर जय' को एक गंभीर काव्य-कृति स्वीकार करना होगा। इसमें कवि ने अपनी दृष्टि के अनुसार जीवन की मौलिक व्याख्या करने का प्रयत्न किया है, भले ही उस व्याख्या से सभी सहमत न हों सकें। यदि कथ्य और जीवन-दर्शन की बात छोड़ दी जाय तो कम से कम काव्यगत शिल्प-प्रयोग की दृष्टि से ही इस काव्य को विशिष्ट माना जा सकता है। इसमें कवि ने रेडियो से प्रसारित होने वाले ध्वनि-रूपक की विधा अपनायी है। इसीलिए इसमें नाटकीय तत्व का नितांत अभाव है, पर शब्द-प्रभाव उत्पन्न करके श्रोताओं को कुछ समय तक बाँध रखने की क्षमता इस कृति में है।

'प्यासा निर्झर' स्फुट कविताओं का संकलन है। पहले कहा जा चुका है इस संकलन की

अधिकतर कविताएँ दार्शनिक, आध्यात्मिक, भक्तिपरक और नैतिक तत्वों के विवेचन से बोझिल हैं। काव्य दर्शन नहीं है। पर दार्शनिक और आध्यात्मिक तत्वों का संस्पर्श आदि काल से सभी देशों के काव्य में रहता आया है। काव्य उस समय काव्य न रह कर पद्य-रचना मात्र रह जाता है जब कवि उसे अपने दार्शनिक सिद्धांतों की व्याख्या का साधन मात्र बना देता है। कवि नरेंद्र शर्मा ने इन कविताओं में अपने को एक दार्शनिक व्याख्याता और आध्यात्मिक द्रष्टा के रूप में उपस्थित किया है। ग्रंथ की भूमिका में वे कहते हैं—**मनोभूमि के कृषक के नाते, कवि-कार्य को मैं अपना लोकोपयोगी कर्तव्य कार्य समझता हूँ और मानता हूँ कि मैं इस प्रकार समाज के मनोमय वैश्वानर की पूजा में नैवेद्य समर्पित करता हूँ।** इन शब्दों में जो रूपकात्मक आवरण है उसे हटा कर देखने पर यही ज्ञात होता है कि कवि समाज के मानस-लोक को अपने विचारों के अनुसार बदलना चाहता है और वे विचार दार्शनिक और भक्तिपरक हैं। सारांश यह है कि कवि अपने दार्शनिक एवं भक्तिमूलक विचारों को समाज में प्रचारित करना चाहता है और इसे ही वह कवि का कर्तव्य कार्य समझता है। ज़ाहिर है कि इस धारणा से बहुत से लोग सहमत नहीं होंगे। मतों-सिद्धांतों का प्रतिपादन और प्रचार एक वस्तु है और काव्य-रचना एक बिलकुल भिन्न वस्तु। कवि नरेंद्र शर्मा ने इन दोनों को मिला कर एक ऐसी खिचड़ी पकायी है कि ये कविताएँ न तो काव्य बन पायी हैं, न दर्शन। अनुभूति के अभाव के कारण ये काव्य नहीं बन पातीं और विवेचना की तर्क-संगति तथा सूक्ष्मता के अभाव में ये दर्शन भी नहीं बन पातीं। कवि ने स्वयं इन कविताओं को ग्रंथ की भूमिका में कविता न कह कर 'पद्य-रचना' कहा है और यह ठीक ही है।

कथ्य की दृष्टि से इन कविताओं को इन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं:—१. १. दार्शनिक, २. आध्यात्मिक या रहस्यवादी, ३. भक्तिपरक, ४. इतिवृत्तात्मक और उपदेशात्मक, ५. प्रकृति, प्रेम और सामाजिक चेतना से संबंधित। इनमें से अंतिम श्रेणी वाली कविताओं की संख्या बहुत कम है, यद्यपि वे काव्यत्व की दृष्टि से अन्य कविताओं की तुलना में अधिक अच्छी हैं। दार्शनिक कविताओं में कवि ने ब्रह्म के स्वरूप, जीव और ब्रह्म के संबंध, जगत के स्वरूप, माया और जीव के संबंध, मन के स्वरूप आदि का रूपकात्मक ढंग से विवेचन किया है। कवि के अनुसार भूत के भीतर ही शिव और शक्ति निवास करते हैं। यह समस्त ब्रह्मांड एक अव्यक्त परम सत्ता का व्यक्त स्वरूप है, इस प्रकार यह जगत एक अविच्छिन्न प्रवाह है, वह निःस्पंद चिन्मय ज्योतिपुरुष का स्पंदित मृण्मय शरीर है। मृण्मय और चिन्मय का यह निभृत मिलन ही सृष्टि-क्रम है। कवि का दावा है कि वह सिद्धांजन आँज कर इस विराट विश्वब्रह्म का दर्शन कर रहा है और जो अणु-परमाणु में निहित है :

सिद्धांजन आँजे देख रहा हूँ मैं मिट्टी का अंतराल,
है स्नायु-जाल नक्षत्र-माल, ग्रंथित जिसमें सब निगमागम।
आनी-जानी श्वासों में है सावित्री-गायत्री का क्रम।
मिट्टी की मर्म गुहाओं में शिव-शक्ति खेलते रहे फाग।

('मिट्टी का महत्व', पृष्ठ ५०)

किंतु भारतीय दर्शन का सामान्य ज्ञाता भी कह सकता है कि कवि ने द्रष्टा ऋषि बनने के लोभ में सिद्धांजन आँज कर ब्रह्मांड में निहित जिस विराट ब्रह्म को देखने का दावा किया है उसे हमारे दर्शनों ने हज़ारों वर्ष पहले ही देख लेने का दावा किया था। शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन, विशिष्टाद्वैत दर्शन तथा कई अन्य दर्शनों में जगत और ब्रह्म के इस संबंध को प्रतिपादित किया जा चुका है। यह नरेंद्र शर्मा का मौलिक दर्शन नहीं है। इसी तरह कवि ने 'युगल-किशोर' शीर्षक कविता में ब्रह्म और जीव का संबंध प्राचीन भारतीय दार्शनिक मतों के आधार पर ही निरूपित किया है। यह कविता 'निराला' की 'तुम और मैं' कविता की छाया ही कही जा सकती है।

एक यहाँ मैं सोते-जगते काम-काज में लगा हुआ।
एक वहाँ वह, चिद्विलास में लीन निरंतर जगा हुआ।

× × ×

वह ज्ञाता मैं, भोक्ता, हँसता वह मैं रोता रहता हूँ,
हेम शिखर वह, मैं, मटमैला नद, अवतल पर बहता हूँ।

× × ×

नहीं, नहीं, निरपेक्ष नित्य वह निर्विकल्प परिपूर्ण स्वयं।
मैं केवल अपवाद रूप हूँ वह स्वरूप निर्बाध नियम।

('युगल किशोर'—पृष्ठ ४९)

ईश्वर और जीव तत्व की इस व्याख्या में भी कोई नवीनता नहीं है। माया के संबंध में कवि की मान्यता अवश्य कुछ चमत्कारपूर्ण है। वह अद्वैतवादियों के मत के विपरीत माया को श्रेयस्कर मानता है, क्योंकि वह अपनी दुहरी झलक दिखा कर जीव को मोहमुक्त करती है और जिसने हरि की बात नहीं मानी उसे हरि तक नचाती ले आती है ('माया', पृष्ठ १२८)। किंतु कई अन्य कविताओं में कवि ने माया को त्याज्य भी कहा है :

मिट्टी की माया तज मायावर प्राणों के।

× × ×

छाया की बाँह न गह, छायावर प्राणों के।

इस प्रकार नरेंद्र शर्मा कुल मिलाकर दर्शन के क्षेत्र में मध्यकालीन संत कवियों से बहुत पीछे हैं। उनके 'जगदीश' और 'राम' कबीर और तुलसी के ब्रह्म तत्व की पुनरावृत्ति मात्र हैं:

सृष्टि के संगीत का सम, शून्य है स्वर-स्रोत;
शून्य में कैवल्य रस-साकल्य ओतप्रोत;
शून्य केवल कृष्ण; सबमें रम रहे वह राम।

राम सबमें हैं, सभी के प्रति समर्पण-भाव,
कृष्ण सबमें हैं, परस्पर क्यों न हो अपनाव।
('जो जहाँ से चला', पृष्ठ २४)

आध्यात्मिक रचनाओं में विवेचना की कमी और रूपक, प्रतीक तथा अन्योक्ति शैली की प्रमुखता है, जैसा रहस्यवादी कविताओं में प्रायः होता है। ऐसी कविताओं में कवि पूर्णतः रहस्यवादी बन गया है। उसे अपने 'प्रभु' के दर्शन और मिलन की प्यास इतनी अधिक है कि वह अपने को 'प्यासा निर्झर' की संज्ञा देता है। वह जानता है कि—

अनजाना आत्मकांत मानस का महाकाश

× × ×

ज्ञान-ध्यानसाध्य नहीं वह अनंत निराकार

इसीलिए वह कवि बन कर अपने प्रभु को टेरता है, स्वागत के गीत लिखता है और अंतर की दीपशिखा का ज्योति-फूल प्रभु के चरणों पर चढ़ा देता है। फलस्वरूप उसके दीप के समीप 'ज्योतिकांत अंधकार' जो निराकार प्रभु का ही छायाभास है, दिखायी पड़ता है। यह शून्य-साधना नाथपंथी हठयोगियों और बौद्ध सहजयानी सिद्धों के 'शून्य' या 'सहज सुन्न' जैसा है। कवि नरेंद्र शर्मा अनेक स्थलों पर कबीर की शब्दावली में ही आध्यात्मिक अनुभवों का वर्णन करते हैं, जिससे संदेह होता है कि क्या ये कवि के स्वानुभूत सत्य हैं या ग्रंथज ज्ञान की पद्यात्मक उद्धरणी भर। जीव को 'निर्वंशी', 'ब्रह्मनी का वंश' कबीर ने भी कहा है। नरेंद्र शर्मा जैसे उसी को उद्धृत करते हैं :

पूर्ण अंश से परे नहीं हैं परे पूर्ण से अंश;
ऊब-चूब कर यों ही चलता निर्वंशी का वंश।
('निर्वंशी का वंश', पृ० १२१)

इसी तरह 'भुजंगिनी' शीर्षक कविता में शैव और शाक्त तंत्रों के रूपक को उठा लिया गया है। सांसारिक दुःखों और भव-बंधन का कारण व्यक्ति में अंतर्निहित शिव और शक्ति तत्वों का परस्पर वियोग है, जब निश्चेतन के कमठ-पीठ पर शिव पदाघात करते हैं तब विस्फोट होता है, जिसे तंत्र की भाषा में 'विंदु' कहा जाता है। उस विंदु से आत्मज्ञान का दीपक जल उठता है और शिव-शिवा द्वंद्व-रत होकर क्रियाशील होते हैं। इस द्वंद्व-युद्ध से द्वंद्व-प्रणय उत्पन्न होता है जो आनंद का उत्स है। यह द्वंद्व-लीला व्यष्टि और समष्टि में समान भाव से चलती रहती है :

यह लीला अव्यक्त व्यक्त है, रंगमंच उंचास है,
असंपृक्त संपृक्त शिवाशिव अतल और आकाश है
द्वंद्वात्मिका क्रिया दोनों की परम प्रीति निर्द्वंद्विनी।
रुद्ध, क्रुद्ध, विक्षुब्ध मंदतम सप्तक-नाद भुजंगिनी।

कवि नरेंद्र शर्मा पर अरविंद-दर्शन का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है यद्यपि सुमित्रानंदन पंत की तुलना में वह प्रभाव बहुत कम है। फिर भी 'प्रत्यूष', 'चिनगारियाँ', 'दर्पण-स्वच्छ पानी' 'प्रत्यूष-सुता', 'ऊब-चूब', 'मुक्ति पर्व' आदि कविताओं में आध्यात्मिक प्रकाश के भूतल पर अवतरण तथा चेतना के ऊर्ध्वमुखी आरोहण के वर्णन में उस प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है।

इस संकलन की भक्तिपरक रचनाएँ सचमुच आश्चर्यजनक हैं। 'निराला' ने अपने जीवन के अंतिम काल में इसी तरह के भक्तिपरक गीतों की रचना की थी। निराला का व्यक्तित्व महासागर जैसा था, जिसमें अनेक धाराएँ एक-दूसरे को काटती हुई प्रवाहित होती थीं। फिर उनमें रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद का प्रभाव संस्कार का रूप धारण कर चुका था। नरेंद्र शर्मा के भीतर भी ऐसे संस्कार दृढ़मूल हैं, इसका परिचय इन कविताओं से मिलता है। नरेंद्र शर्मा की भक्ति-भावना केवल भगवान के प्रति आस्था और श्रद्धा तक ही सीमित नहीं है, वे इससे भी आगे बढ़ कर स्तुति और स्तोत्रों की रचना भी करते हैं। उन्होंने अपने को प्रभु के चरणों में अर्पित कर दिया है:

अपने सिवा और भी कुछ है जिस पर मैं निर्भर हूँ।
मेरी प्यास हो न हो जग को, मैं प्यासा निर्झर हूँ।

× × ×

नहीं पहुँच पाता मन जिस तक नयन ज्ञान के हारे
मैं उस प्रभु की द्रवित दया का दृग-जल-विंदु अमर हूँ।

('प्यासा निर्झर,' पृष्ठ १७)

सूर, तुलसी, आदि भक्त कवियों की भाँति नरेंद्र शर्मा भी जगह-जगह मन को धिक्कारते, माया को बुरा-भला कहते, जगत के पाप-कर्मों से विरत होने का संकल्प करते और राम का दासानुदास बनने की आकांक्षा करते हैं:

जो कुछ पाथ। सा अनायास, बनना न दास आया मुझको।
दासानुदास की भाँति विनत, पर कौन झुका पाया मुझको।
मैं निराधार, आधार राम, बस उसने मुझे झुकाया है।

('गुण-गणना', पृष्ठ ९५)

और फिर भगवान से अनुग्रह करने की प्रार्थना अनेक रूपों में करते हैं। ऐसे स्थलों पर नरेंद्र शर्मा मध्यकालीन भक्त कवियों की श्रेणी में दिखायी पड़ते हैं। कुछ पंक्तियाँ इस कथन को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त होंगी:

तम-भ्रम को मंत्रेश्वर, हर लो कर कर-प्रसार,
अंधे को तुम न दिखो, तुमको दिख रहा अंध!

× × ×

अवगुन-गुन-जाल जटिल काटो तो कटे फंद।

× × ×

सीमा मेरी असीम करुणा प्रभु की अनंत।

इतिवृत्तात्मक और उपदेशात्मक रचनाओं में कवि ने अधिकतर वर्तमान मानव-समाज की भौतिकवादी प्रवृत्ति तथा यांत्रिक सभ्यता की बुराइयों की निंदा की है। इन रचनाओं को पढ़ कर ऐसा प्रतीत होता है कि कवि वर्तमान सभ्यता से ऊब गया है, वह चिरंतन सत्य, अक्षय सौंदर्य तथा घनीभूत प्रेम के बिना संसार को सूना और अपने को अकिंचन समझता है। और अंत में इस नीति का वाचन करता है :

राम-विमुख माटी का पोषण तो अनिष्ट है।
ध्यान-धारणायुक्त शिल्प-साधना इष्ट है।

कवि लोगों को उपदेश देता है कि वे सुख-दुख के भँवर से डरें नहीं, उसके अतल में डुबकी लगायें, डूब कर उबरें और उबर कर डूबें। इस तरह कवि जीवन-चक्र की वक़ालत करता है, मुक्ति की नहीं। वह तर्क-बुद्धि की बार-बार भर्त्सना करता है और उपदेशक रूप में यह मंत्रणा देता है:

पीछे करना अध्ययन बंधु तुम औरों का
हो सावधान पहले अपना अध्ययन करो।
उपदेश सुभाषित शब्दों के घड़िया-जड़िया
जाने तुम क्या-क्या समझ बैठते अपने को
मत समझो जग को मूर्ख, बनो मत मूर्खराज
समझो न सिद्धि तुम अपना अहं पनपने को।

('अध्ययन और अध्येता', पृ० १०१)

पता नहीं कवि ने किन लोगों को ध्यान में रख कर ये पंक्तियाँ लिखी हैं, पर काव्यात्मकता की दृष्टि से नहीं तो केवल कवि-कर्म की दृष्टि से ही सही, यह बात सभी कवियों (विशेषकर उपदेश-कथन करने वाले प्रचाराकांक्षी कवियों) के लिए निस्संदेह बहुत ही लाभदायक होगी।

शिल्प की दृष्टि से 'प्यासा निर्झर' की कविताएँ निराशाजनक हैं। जो पाठक नरेंद्र शर्मा की प्रारंभिक काव्य-कृतियों को पढ़ चुका है, वह 'प्यासा निर्झर' की कविताओं को पढ़ कर आश्चर्य में पड़ जायगा। उसे संदेह होगा कि 'पलाश-वन' और 'प्रवासी के गीत' की सीधी अभिव्यंजना और बोलचाल की भाषा वाली कविताओं और 'उत्तर जय' तथा 'प्यासा निर्झर' की अलंकृत और कृत्रिम अभिव्यंजना तथा दुरूह और अव्यावहारिक भाषा वाली कविताओं का कवि क्या एक ही कवि हो सकता है? वस्तुतः नरेंद्र शर्मा की काव्य-यात्रा इस तीसरे दौर में उत्तरोत्तर सहजता से कृत्रिमता और सरलता से दुरूहता की ओर हुई है। यही नहीं, उनकी कविताओं में वर्णनात्मकता और तथ्य-कथन की प्रवृत्ति भी उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। वर्णनात्मक तथ्य-निरूपण की दृष्टि से कहीं-कहीं वे मैथिलीशरण गुप्त के निकट पहुँचे दिखायी पड़ते हैं। यद्यपि उन्होंने अनेक कविताओं में रूपक, अन्योक्ति और प्रतीक की पद्धति अपनायी है पर कथ्य की विशिष्टता और नवीनता के अभाव में उनमें कोई वैशिष्ट्य नहीं दिखायी पड़ता। अलंकारों के उपमान तथा अन्योक्तियों के प्रतीक प्रायः सब के सब बार-बार दुहराये हुए हैं। कवि ने इस संबंध

में स्वयं स्वीकार किया है—**नये प्रतीक कहाँ से लाऊँ, बात पुरानी है।** वैसे कभी-कभी पुरानी बात भी नये ढंग से कही जाती है और अच्छी लगती है, पर ऐसा लगता है कि नरेंद्र शर्मा में नवीनता के प्रति तनिक भी आग्रह नहीं है, बल्कि वे उसके विरोधी ही अधिक हैं। इसी कारण इन कविताओं में छंद और भाषा संबंधी नवीन प्रयोग बिलकुल नहीं दिखायी पड़ते। परंपरागत छंदों, अनुप्रास, यमक आदि अलंकार तथा तुकों की विविधता और अधिकता अवश्य है। कहीं-कहीं तो उन्होंने मनोरंजक तुकों की योजना की है, जैसे लौटा, चिरौटा, कछौटा, कजरौटा, अँखौटा आदि। तुकों के कारण कहीं-कहीं नवीन उपमान अवश्य आ गये हैं पर वे मनोरंजक अधिक हैं, नवीन बिंब योजनामूलक नहीं—जैसे :

सारस के जोड़े सरवर में उतरे बाँध कछौटा।
शुभ्र शरद अब ताम्र शिशिर ज्यों दूध रात भर औंटा
मन पर भार विरह का जैसे दीये पर कजरौटा।
(पृष्ठ १८१)

अंत में इन ग्रंथों में कवि की उपलब्धि क्या है, इस पर दो शब्द कह देना समीचीन होगा। प्रारंभ में ही कहा जा चुका है कि नरेंद्र शर्मा का काव्य-विकास क्षितिजीय रहा है। इन ग्रंथों में वे अपने मूल प्रस्थान विंदु से इतनी दूर हट गये हैं कि प्रारंभिक कृतियों के गुण-धर्म का इनमें कोई आभास नहीं मिलता। पर उनका यह विकास ऊर्ध्वगामी भी हुआ है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। उनका क्षितिजीय विकास भी आगे की ओर हुआ है या पीछे की ओर, इस संबंध में भी विवाद हो सकता है। तटस्थ होकर कहना हो तो यही कहा जायगा कि नरेंद्र शर्मा का काव्य-विकास एकदम आगे बढ़ कर चार क़दम पीछे चलने जैसा है। फिर पिछले बीस वर्षों में उनका काव्य-विकास अवरुद्ध हो गया सा दिखायी पड़ता है। वे पूर्णतः नियतिवादी बन गये हैं। अतः उनके काव्य-विकास का भविष्य नियति ही निर्धारित करेगी। संभवतः कवि का यही विश्वास है।

——वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

‘विवेचना’ में नरेंद्र शर्मा की दो काव्य-कृतियां

‘विवेचना’ की सोलहवीं गोष्ठी प्रयाग के एनी वेसेंट हाल में जुलाई ४, १९६५ को श्री वालकृष्ण राव की अध्यक्षता में हुई, जिसमें डॉ० शंभुनाथ सिंह ने कवि नरेंद्र शर्मा की दो नयी काव्य-कृतियों—‘उत्तर जय’ तथा ‘प्यासा निर्झर’—पर समीक्षात्मक निवंध प्रस्तुत किया। अपने आरंभिक भाषण में अध्यक्ष ने मुख्य वक्ता का स्वागत करते हुए बताया कि यद्यपि आज की गोष्ठी पूर्व सूचनानुसार केवल ‘प्यासा निर्झर’ पर विचार-विनिमय के लिए परिकल्पित थी पर डॉ० शंभुनाथ सिंह ने अपने निवंध में नरेंद्र शर्मा की एक अन्य नयी कृति ‘उत्तर जय’ को भी ले लिया है। अध्यक्ष ने कहा कि यह उचित ही है क्योंकि एक काव्य-संग्रह के निमित्त से वस्तुतः कवि के समस्त कृतित्व की विवेचना हो ही जाती है।

अध्यक्ष के आरंभिक भाषण के बाद डॉ० शंभुनाथ सिंह ने अपना निवंध पढ़ा। तत्पश्चात विचार-विनिमय नये कवि घनश्याम पंकज द्वारा समारंभ हुआ।

घनश्याम पंकज ने कहा कि कवि नरेंद्र शर्मा की काव्य-यात्रा के विषय में निबंधकार ने जो कहा है उसे यों भी कहा जा सकता है कि उनकी काव्य-यात्रा रूमान से रूमान तक की है। रूमान ही उनका अथ भी है, इति भी। वास्तव में वे मूलतः रूमानी हैं। ‘प्यासा निर्झर’ की कविताओं के पढ़ने से यह पता लगता है कि उनका सीधा संबंध कवि की पिछली रचनाओं से है। ‘प्यासा निर्झर’ में कवि ने किन्हीं सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संदर्भों को भी स्पर्श किया है, और इन साहित्येतर तत्वों के कारण उसमें एक प्रकार की अव्यवस्था आ गयी है। ये साहित्येतर आग्रह कवित्व के ह्रास के परिचायक हैं। कवि की प्रारंभिक कृतियों से ‘प्यासा निर्झर’ की कविताओं की तुलना करें तो पता चलता है कि उसके काव्य का रूमानी तत्व ही उसकी शक्ति था, और बाद की कृतियों में यही तत्व विघटित और क्षीण हो गया है।

डॉ० शैलकुमारी ने कहा कि पिछली कुछ गोष्ठियों में हुई चर्चाएँ सुन कर मन में एक प्रश्न उठता है और वह प्रश्न यह है कि छायावाद युग के कवियों की यात्रा रूमान से अध्यात्म की और कविता से अकविता की ओर क्यों हुई ? लगता तो यह है कि सभी की एक जैसी परिणति हुई। प्रश्न है कि क्यों ? क्या यह परिणति अनिवार्य थी ?

नरेश मेहता की जिज्ञासा थी कि क्या उस आध्यात्मिकता के कारण नरेंद्र शर्मा की कविता का ह्रास हुआ जिसकी ओर डॉ० शंभुनाथ सिंह ने अपने निबंध में ध्यान आकृष्ट किया है ? यदि किसी संदर्भ में कवि अपना और परिवेश का परीक्षण करता है, उनके विषय में विचार करना

चाहता है, तो उसकी इस प्रवृत्ति को कवित्व के ह्रास का कारण क्यों माना जाय ? हम आधुनिकता की बात तो करते हैं पर कौन कह सकता है कि आज से बीस वर्ष बाद हममें से किसकी क्या स्थिति होगी ? हम क्यों मान कर चलें कि निराला की भक्ति सागर है और नरेंद्र की केवल एक नाला ? फिर यह भी क्या उचित है कि हम केवल काव्य के विषयों के आधार पर किसी कवि को हीन कहें ? काव्य के विषय पर ही मत स्थिर करने की अपेक्षा अधिक उचित तो यह है कि विषय कुछ भी क्यों न हो, हम यह देखें कि कवि इस विषय को काव्य में कहाँ तक और किस प्रकार ला सका है ?

सुरेंद्रपाल ने कहा कि नरेंद्र शर्मा की कविता छायावाद से शुरू हुई थी, और रूमान से शुरू हो कर अध्यात्म में पहुँच जाना छायावाद की ही परिणति है। काव्य अपने विषय के कारण श्रेष्ठ अथवा हेय नहीं माना जा सकता; देखना यह है कि उस विषय का कितना काव्यात्मक उपयोग हुआ है।

डॉ० सत्यव्रत सिन्हा ने कहा कि छायावाद के विषय में सोचने पर उन्हें 'कामायनी' और 'साकेत' का ध्यान होता है, क्योंकि वे शीर्षस्थ रचनाएँ हैं। उन्होंने कहा कि बाद में छायावाद के दो स्वर हो जाते हैं : एक छायावाद का मूल स्वर, दूसरा गीतकार का। 'पलाश-वन' गीतकार की कृति है, और अच्छा होता कि नरेंद्र शर्मा की वही धारा रहती। पर वे अपनी अनुभूति की सीमा से बाहर जाकर अध्यात्म में उलझ गये। छायावाद और छायावादोत्तर युग के कवियों की स्वानुभूति की सीमा का उल्लंघन कर अध्यात्म और दर्शन को अपनाने की प्रवृत्ति ही कवित्व को संदिग्ध बना देती है। बड़े दर्शन को बड़े कवि ही निभा पाते हैं। सीधी-सादी, लोकप्रचलित भाषा को छोड़ कर दुरूह संस्कृतगर्भित भाषा की ओर जाने की प्रवृत्ति इन कवियों में कहाँ से आयी —और इन्हें कहाँ ले गयी ? मैं डॉ० शंभुनाथ सिंह से इन प्रश्नों का उत्तर पाना चाहता हूँ।

डॉ० हरदेव बाहरी ने कहा कि मुझे तो ऐसा लगने लगा है कि काव्य-रचना एक ऐसा खेल है जो एक अवस्था बीतने के बाद नहीं खेला जा सकता। एक समय आता है जिसके बाद काव्य-शक्ति क्षीण होने लगती है। नरेंद्र शर्मा के साथ यही घटित हो रहा है। निबंधकार से मैं कहना चाहूँगा कि विषय की दृष्टि से कविता को हेय मानना आपत्तिजनक है। विषय पुराने से पुराना हो, बात कहने में नयापन होता है।

अपनी बात समाप्त करते हुए डॉ० बाहरी ने कहा कि नये कवि बड़ी सावधानी से अपने काव्य-संग्रह तैयार करते हैं जब कि प्रतिष्ठित कवि अपने संग्रहों में हर प्रकार की रचनाएं डाल देते हैं। एक यह कारण भी है कि बहुधा लब्धप्रतिष्ठ कवियों के काव्य-संग्रहों में बहुतेरी असफल रचनाएँ मिल जाती हैं। मैं यह नहीं मानता कि 'प्यासा निर्झर' में जो भी है वह सब कविता है, पर यह कहने के पहले कि जो भी है वह सभी 'अकविता' है, मैं समझता हूँ कि गंभीरतापूर्वक परीक्षण और विचार करना होगा।

लक्ष्मीकांत वर्मा ने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य ठीक करते हुए याद दिलाया कि नरेंद्र शर्मा प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी के युग के नहीं वरन उस युग के कवि हैं जिसमें शमशेर, बच्चन और अज्ञेय लिख रहे थे और भिन्न-भिन्न राहों से चल रहे थे। इनमें कभी-कभी नितांत वैयक्तिक

अनुभूति, सर्वथा निजी बिंब मिल जाते हैं। इसका कारण शमशेर और अज्ञेय की समकालीनता कही जा सकती है, यानी नरेंद्र शर्मा एक ऐसे दुराहे पर हैं जहाँ छायावाद और प्रयोगवाद के तत्व एक साथ मिल जाते हैं। नरेंद्र वास्तव में छायावाद के परिशिष्ट युग के कवि हैं। जहाँ तक दार्शनिकता का सवाल है, दार्शनिकता अपने आप में रोमांटिक कवि के लिए बुरी नहीं है। पर देखना यह चाहिए कि वह अनुभूत सत्य है या नहीं। मैं समझता हूँ कि प्रसाद और थोड़ा-बहुत निराला को छोड़ कर कविता में दार्शनिकता इस रूप में नहीं मिलती। कविता के लिए कोई भी विषय वर्जित नहीं हो सकता पर नरेंद्र शर्मा की दृष्टि काव्य-विषयों पर ही रही है, अनुभूति-पक्ष का जहाँ तक सवाल है वहाँ वे चूक गये हैं।

द्विवेदी युग के संदर्भ में देखने पर पता चलता है कि छायावाद ने विद्रोह करके एक नयी भावभूमि का बोध प्राप्त किया, पर उसने इतिवृत्तात्मक और गद्यात्मक भाषा को छोड़ कर एक कृत्रिम भाषा अपना ली। 'कामायनी' के बाद वह भाषा काव्य के लिए वाहक नहीं हो सकती थी—फिर भी नरेंद्र के मन में उस भाषा के प्रति मोह बना रहा। उनकी पूँजी गीत था। उस पूँजी के चुक जाने पर उनकी कविता अनिवार्यतः अकविता हो गयी।

गोपीकृष्ण गोपेश ने चर्चा में 'रोमांटिक' शब्द के प्रयोग पर आपत्ति करते हुए कहा कि इस शब्द का प्रयोग हल्के-फुल्के ढंग से, केवल रंगीन रूमानी के अर्थ में करना ग़लत है, क्योंकि इसका अर्थ इससे कहीं बड़ा और गहरा है। नरेंद्र शर्मा और बच्चन में अंतर बताते हुए गोपेश ने कहा कि बच्चन आधुनिकता को समझने, आत्मसात करने की कोशिश करते हैं पर नरेंद्र प्रतिकूल दिशा की ओर मुड़ गये।

अंत में अध्यक्ष बालकृष्ण राव ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि यह सच है कि हम लोग सामान्यतया जिस प्रकार हल्के, रंगीन रूमान के अर्थ में 'रोमांटिक' शब्द का प्रयोग करते हैं वह बहुत ही अपर्याप्त, प्रायः ग़लत है। अपने समूचे और सही अर्थ में 'रोमांटिक' कहते ही जिस शक्ति और पौरुष का बोध होना चाहिए वह रंगीन रूमानियत में कहाँ है? सच्चे अर्थ में तो शायद निराला के सिवा किसी आधुनिक हिंदी कवि के लिए 'रोमांटिक' शब्द उपयुक्त न होगा।

बालकृष्ण राव ने कहा कि समकालीनों के प्रति हमारी दृष्टि पूरी तरह से वस्तुपरक और पूर्वग्रहों से मुक्त हो भी सकती है या नहीं, इसमें संदेह है। अवचेतन में जो भी हो, कोशिश इसकी होनी चाहिए कि चेतन के स्तर पर पूर्वग्रहों का प्रभाव न रहे—और हमें दावा भी इतना ही करना चाहिए। यों समकालीनों की आलोचना करते समय न केवल हम पूरी तरह वस्तुपरक दृष्टि नहीं अपना पाते, हम जाने-अनजाने अपने परिचित समकालीन के कृतित्व में उन तत्वों का प्रक्षेपण भी करते रहते हैं जो हमें उनके साहित्य में नहीं, उनके व्यक्तित्व और जीवन में दृष्टिगत होते हैं। उदाहरण के लिए नरेंद्र शर्मा के प्रगतिवादी दौर के काव्य को लें। शंभुनाथ सिंह जी को नरेंद्र का प्रगतिवाद ऊपर से थोपा हुआ लगता है, मुझे नहीं। पर मैं यह नहीं जानता कि यह मैं नरेंद्र के कृतित्व के आधार पर ही कह सकता हूँ या इस कारण कि व्यक्ति नरेंद्र को निकट से जानने के कारण। इसी प्रकार उनका अध्यात्म और दर्शन की दिशा में मुड़ना मुझे सर्वथा सहज ही नहीं, अनिवार्य जान पड़ता है। नरेंद्र का कवित्व इस परिणति से क्षीण हुआ हो या पुष्ट,

यह परिणति सहज, स्वाभाविक, अनिवार्य थी। मैं इससे सहमत हूँ कि नरेंद्र मूलतः ही नहीं, प्रवृत्ति से भी रूमानी हैं। प्रगतिवादी दौर की उनकी कविताएँ रूमानी थीं, आध्यात्मिक दौर की भी हैं। उनके कवित्व के विघटन का कोई एक कारण हो, ऐसा तो मैं नहीं समझता; पर एक कारण वह अवश्य है जिसकी चर्चा डॉ० बाहरी ने की थी। कलात्मक सर्जना-शक्ति दैहिक, जैविक सर्जना-शक्ति से संबद्ध है, यह मैं मानता हूँ। संसार के अधिकतर कवि अपना श्रेष्ठ सर्जनात्मक कार्य पचास-पचपन की आयु के भीतर ही कर चुकते हैं। माना कि अपवाद कई हैं, पर वे अपवाद ही हैं। पर यहाँ यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि मनुष्य उतना ही बूढ़ा या जवान होता है जितना अपने को समझता है, और यह भी कि सहज वृत्तियों के उदात्तीकरण के फलस्वरूप कलाकार अपनी कलात्मक सर्जना-शक्ति को सुरक्षित और सक्रिय रख सकता है।

डॉ० शंभुनाथ सिंह ने नरेंद्र शर्मा की काव्य-यात्रा को 'आसक्ति के आलंबनों की खोज' कहा है। वास्तव में रूमानी कवि आसक्ति के आलंबनों की ही खोज करता है, यदि वह सत्य का अन्वेषी है तो भी इस कारण कि सत्य उसकी आसक्ति का आलंबन बन कर उसे अपनी ओर खींचता है। नरेंद्र शर्मा कवि-कर्म के दायित्व के प्रति अपने को गंभीरता से समर्पित करते हैं। रूमानी प्रवृत्ति के बावजूद नहीं, उसके कारण ही इस गंभीर दायित्व-बोध की परिणति आध्यात्मिक काव्य में हुई। अंत में नियतिवादी बनाने का कारण भी यही रूमानी प्रवृत्ति है।

विचार-विनिमय का समापन करते हुए डॉ० शंभुनाथ सिंह ने कहा कि उन्होंने 'रोमांटिक' अथवा 'रूमानी' शब्द का प्रयोग सामान्य प्रचलित अर्थ में ही किया है। जिन्हें इस अर्थ में हल्की-फुल्की प्रेम-विषयक कविताएँ कहा जा सकता है वैसी 'प्यासा निर्झर' में कुल तीन ही हैं।

उन्होंने कहा कि पुराना कवि भी आधुनिक हो सकता है और पुराने विषय भी नये ढंग से लिये जा सकते हैं। कौन-सा पुराना विषय है जो इलियट ने नहीं लिया? अज्ञेय भी रहस्यवादी हुए हैं। सब कुछ स्वीकार्य और संभव है, बशर्ते कि वह कवित्व बन जाय। तुलसीदास को मैं पसंद करता हूँ, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं मानता हूँ कि आज का कवि तुलसी बन कर सार्थक हो सकता है। युगबोध आवश्यक है। विषय न भी बदले, विषयों का रूप और अर्थ तो बदलता ही रहता है। यह परिवर्तन युगबोध के संदर्भ में ही देखा जाता है। आस्तिकता मेरी दृष्टि में आधुनिक नहीं है, पर उससे मुझे परहेज़ नहीं है। आस्तिकता के कारण काव्य की क्षति हुई है या नहीं, यह समकालीनता के संदर्भ में ही देखा-जाँचा जा सकता है। आत्मोपलब्धि चेतना की सहज प्रक्रिया है, क्योंकि उसमें सत्य का साक्षात्कार होता है। मैं दार्शनिक विषयों का विरोधी नहीं हूँ पर यह मानता हूँ कि नयों के निकटतर आते जाना पुराने रचनाकार की प्रतिभा पर निर्भर करता है। यीट्स और राबर्ट ग्रेव्ज़ पुराने होते हुए भी नयों के बिलकुल निकट पहुँच सके। नरेंद्र शर्मा ने नाथपंथियों और तुलसी के युग में पहुँचकर दर्शन को अपनाया, आज की भावभूमि पर नहीं।

अंत में संयोजिका ने निबंधकार और विचार-विनिमय में भाग लेने वाले तथा अन्य उपस्थित सदस्यों और अतिथियों को धन्यवाद दिया और गोष्ठी समाप्त हुई।

—विवेचक

अहिंदीभाषी क्षेत्र के तीन गोष्ठी-प्रसंग

• •

अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन, गौहाटी अधिवेशन

इस बार अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन का बाईसवाँ अधिवेशन गौहाटी में २, ३ और ४ जनवरी को संपन्न हुआ। यह प्रथम अवसर था कि विद्वानों की मंडली असम में एकत्र हुई थी।

गौहाटी नगरी किसी समय प्राग्ज्योतिषपुर के नाम से विख्यात रही है। कहा जाता है कि यशस्वी राजा नरक ने इस नगरी का निर्माण किया था। असम के लिए प्राग्ज्योतिष और कामरूप दोनों शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं। महाभारत में इसका स्पष्ट उल्लेख है। मुख्य मंत्री चालिहा ने अपने स्वागत-भाषण में असम के सांस्कृतिक वैभव की ओर संकेत करते हुए उसका एक संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण ही प्रस्तुत किया किंतु डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने अध्यक्षीय भाषण में पांडित्यपूर्ण ढंग से असम के प्राचीन सांस्कृतिक वैभव पर विस्तार से विचार किया। वास्तव में उनके व्याख्यान का आरंभिक अंश असम का सांस्कृतिक इतिहास ही प्रस्तुत करता है। इस प्रदेश की संस्कृति की प्राचीनता के उन्होंने अनेक प्रमाण दिये। विष्णु पुराण में 'कामरूप' का उल्लेख है। 'प्राग्ज्योतिष' नाम बहुत प्राचीन है यद्यपि आरंभ में उसे 'पूर्वज्योतिष' कहा जाता था। महाभारत के अनुसार अर्जुन ने अपना विस्तार इस नगरी तक किया था जहाँ राजा भागदत्त से उनका संघर्ष हुआ था। महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' में लौहित्य को प्राग्ज्योतिष राज्य की पूर्ववर्ती सीमा बताया है और इसका भी उल्लेख किया है कि विदेशी आक्रमण से समस्त जनता क्षुब्ध हो उठी थी। ई० पू० पाँचवीं शती में ही, और संभवतः इसके पूर्व भी, असम की गणना भारतीय जनपदों में की जाने लगी थी। गौहाटी में नीलाचल की पहाड़ियों पर निर्मित कामाख्या मंदिर स्थित कामरूप देवी की अभ्यर्थना के लिए 'कालिका पुराण' रचा गया था। डॉ० वासुदेवशरण जी ने असम के इतिहास पर दृष्टि डालते हुए यह भी कहा कि समय-समय पर अनेक जातियाँ इस प्रदेश में आती रही हैं। आरंभ में यहाँ किरात वास करते थे। असम के आरंभिक शासक नरक मिथिला के जनक विदेह के राजपुत्र थे जिन्होंने प्राग्ज्योतिष पर अधिकार किया था। महाराज भूतिवर्मन आदि के वर्मन वंश का असम के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है।

मध्यकाल में मुगल बादशाहों का अहोम राजाओं से संघर्ष हुआ था, जिसमें ब्रह्मपुत्र के तट पर सरायघाट में लचित बरफूकन ने उन्हें परास्त भी किया था। सोलहवीं शती में शंकरदेव और उनके शिष्य माधवदेव ने वैष्णव धर्म के एक नये स्वरूप का प्रचार किया और देश के सांस्कृतिक जागरण में इसका योगदान असंदिग्ध है। असम के कला-कौशल पर भी डॉ० वासुदेवशरण जी ने प्रकाश डाला और प्राचीन ग्रंथों से संदर्भ देते हुए बताया कि यहाँ रेशम का व्यवसाय समृद्धि पर रहा है। इसके अतिरिक्त आभूषण, पेय सामग्री आदि का भी बाहुल्य था। असम को विद्वान वक्ता ने अपने भाषण में 'विविध संस्कृतियों का संगम' कह कर संबोधित किया।

असम में संस्कृत के अध्ययन की जो प्राचीन परंपरा रही है उसका उल्लेख करते हुए डॉ० अग्रवाल ने वर्तमान स्थिति पर भी विचार किया और उनका मत था कि इस भाषा की जो अतुल सम्पत्ति है उस पर एक नयी दृष्टि डालनी चाहिए। उन्होंने यह बात बड़े आग्रह के साथ कही कि संस्कृत हमारे देश में समन्वय और संपर्क का महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है। यह वक्तव्य सदाशयतापूर्ण है किंतु इसमें यह व्यावहारिक कठिनाई भुला दी गयी है कि व्याकरण के कठोर नियमों से आबद्ध यह भाषा जनसामान्य तक नहीं पहुँच सकती। लिखित व्याख्यान का अधिकांश उत्तरार्ध संस्कृत-अध्ययन संबंधी प्रस्तावों से भरा हुआ था और उसमें परिवर्तित संदर्भों को भी ध्यान में रखा गया था। प्राच्य विद्या सम्मेलन की एक विशेषता यह थी कि संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति में निष्णात होते हुए भी पंडित जन विश्व की नयी स्थितियों से अपरिचित नहीं थे। वे स्वयं स्वीकार कर रहे थे कि यदि इस प्राचीनतम भाषा और उसके माध्यम से प्राचीन भारतीय संस्कृति को केवल प्रदर्शनी की वस्तु बन कर नहीं रह जाने देना है तो फिर उसे जीवित रखना होगा। इस संदर्भ में मैं संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, के उपकुलपति श्री एस० एन० एम० त्रिपाठी से हुई अपनी वार्ता का उल्लेख करना चाहूँगा। जब मैंने उनसे प्रश्न किया कि वाराणसी नगरी में तीन-तीन विश्वविद्यालय क्या अधिक नहीं प्रतीत होते; और काशी विश्वविद्यालय के संस्कृत महाविद्यालय के होते हुए एक नये संस्कृत विश्वविद्यालय की क्या अपेक्षा थी ?—तो उन्होंने बताया कि उनके विश्वविद्यालय की स्थापना एक विशेष उद्देश्य को ले कर हुई है। संयोगवश प्राचीन क्वींस कॉलेज की यशस्वी परंपरा हमारे साथ है। हम चाहते हैं कि संस्कृत के पठन-पाठन की प्राचीन परंपरा को पुनर्जीवित किया जाय और इस रूप में उसका गठन हो कि नयी परिस्थितियों का वह समावेश कर सके। यदि संस्कृत भाषा नये ज्ञान-विज्ञान से अपना संपर्क नहीं स्थापित कर सकती तो उसकी प्राण-शक्ति ही समाप्त हो जायगी। मुझे श्री त्रिपाठी जी की इस आधुनिक दृष्टि से प्रसन्नता हुई।

समस्त प्राच्य विद्या सम्मेलन आरंभिक उद्घाटन के अनंतर अनेक भागों में विभक्त हो गया जिनका सभापतित्व विभिन्न विद्वानों ने किया। लगभग पंद्रह खंड थे : अरबी-फ़ारसी, पुरातत्व, प्राचीन संस्कृत, द्रविड़ भाषा, बृहत्तर भारत, इतिहास, भाषा-विज्ञान, इस्लामी सभ्यता, पालि बौद्ध धर्म, प्राकृत जैन विभाग, दर्शन-धर्म, विज्ञान-ललित कला, असम की आदिम संस्कृति तथा वैदिक खंडों के अंतर्गत सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधि बँट गये थे। सम्मेलन

में पंडित-परिषद का जो आयोजन किया गया था वह एक विशेष आकर्षण था। शास्त्रार्थ का एक प्राचीन वातावरण वहाँ मुझे देखने को मिला, जहाँ पंडित जन 'देवभाषा' में भी विचार-विनिमय कर रहे थे। ऐसे सम्मेलनों में एक साथ विभिन्न गोष्ठियाँ होती हैं और एक कठिनाई यह उपस्थित होती है कि यदि कोई व्यक्ति एक से अधिक विषयों में रुचि रखता हो तो वह इनमें पूर्ण भाग नहीं ले सकता। जिन विभागीय सभापतियों ने अपने-अपने खंड में उद्घाटन-भाषण दिये, उनके विषय में मुझे सूचना मिली कि वे विषय-संबद्ध थे। मेरी रुचि दर्शन-धर्म खंड में थी और संयोग था कि इस खंड में पढ़े जाने वाले निबंधों की संख्या अधिक थी। उनमें इतना वैविध्य भी था कि मेरी भटकती हुई चेतना, जो अन्य खंडों का आस्वादन भी करना चाहती थी, की तृप्ति आंशिक रूप में हो गयी। एक दूसरे और तथ्य की ओर भी मेरी दृष्टि गयी कि इन विभिन्न विभागों के सभापति और उनमें भाग लेने वाले प्रतिनिधियों का संबंध अधिकांशतया विश्वविद्यालयों से ही था। एक समय था जब देश की प्राच्य विद्या और संस्कृत, फ़ारसी का अध्ययन-अध्यापन पाठशालाओं, मदरसों से आरंभ हो कर विद्यापीठों तथा कतिपय सांस्कृतिक नगर-केंद्रों में समाप्त होता था, पर अब विश्वविद्यालय प्रमुख स्थान पा गये हैं।

सम्मेलन में पढ़े जाने वाले निबंधों की संक्षिप्त रूपरेखा पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि लगभग साढ़े तीन सौ विद्वानों ने इसमें अपने निबंध भेजे थे, जिनमें पर्याप्त विविधता थी। मुझे भारतीय भाषा का कोई विभाग न होने का अभाव बराबर खटक रहा था और मैंने इसके लिए पदाधिकारियों तथा विभागीय अध्यक्षों से विचार-विनिमय भी किया। स्थिति यह है कि प्राच्य विद्या सम्मेलन जिस किसी क्षेत्र में होता है, वहाँ की भाषा का एक विशेष विभाग बना दिया जाता है। मेरा आग्रह था कि समस्त भारतीय भाषाओं को एक स्थान अवश्य मिलना चाहिए ताकि साहित्यकार भी इसमें भाग ले सकें। सिद्धांत रूप से अपनी सहमति प्रकट करते हुए भी इसमें कुछ वैधानिक बाधाएँ बतायी गयीं। एक विडंबना यह भी है कि संस्कृत पर मुख्य रूप से आश्रित होने वाले निबंध आंग्ल भाषा में ही प्रस्तुत किये जाते हैं। यदि हिंदी को संपर्क भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो निबंधों को प्रादेशिक भाषाओं में उनके हिंदी अनुवादों के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। विवशता ऐसी है कि हिंदी के लेखक के रूप में विख्यात अध्यक्ष ने भी अपना भाषण अंग्रेज़ी में ही दिया था। यदि हम कुछ देर के लिए भाषा संबंधी प्रश्न को यहीं छोड़ दें तो इस सम्मेलन में जो निबंध पढ़े गये उनमें से कुछ की एक विशेषता यह थी कि वे आधुनिक प्रश्नों से घनिष्ठ रूप में संबद्ध थे और उन्हें केवल पुस्तकीय अथवा 'अकादमिक' नहीं कहा जा सकता। एक वक्ता ने आग्रह किया था कि हमें अपने इतिहास के पुनर्लेखन का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि दासता के युग में लिखे गये इतिहास पर साम्राज्यवादी छाया रहती है। इसका आशय यह नहीं है कि भारतीय समाज और इतिहास को अतिरंजित करके केवल उसका गौरवपूर्ण चित्रण किया जाय, बल्कि उन मूल स्रोतों का नव-परीक्षण और अनुशीलन भी आवश्यक है, जिन्हें हम राष्ट्रीय संस्कृति की आधार-शिला कह सकते हैं। विचार-विनिमय में भाग लेने पर अनुभव हुआ कि शोध-निबंधों में सीमित वर्ग सम्मिलित हो सका किंतु जहाँ वैचारिक और चिंतन संबंधी प्रश्न थे, वहाँ अधिक लोग रुचि ले सके। दो वर्ष में एक बार प्राच्य विद्या सम्मेलन होता है और इस

बीच जो नये शोध और तथ्य उपलब्ध होते हैं उनका कुछ अंश इन निबंधों के माध्यम से हम तक पहुँच जाता है।

अधिवेशन में एक साथ पुरानी और नयी पीढ़ी को साथ-साथ देख कर मुझे बड़ा संतोष हुआ, क्योंकि साहित्य-जगत में प्रायः इनमें वह भावगत संपर्क नहीं है जो यहाँ मैंने देखा। जब डॉ॰ राघवन, डॉ॰ मिराशी, डॉ॰ दांडेकर, डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ॰ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या जैसे पुरानी पीढ़ी के यशस्वी विद्वान नयी कार्यकारिणी में निर्वाचित हुए तो उन्हें नयी पीढ़ी का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। यह उनका पांडित्यपूर्ण साधना की स्वीकृति है। पर निर्वाचन के विषय में कुछ दबे स्वर से यह कह देना चाहूँगा कि थोड़ी प्रादेशिक भावना देख कर मुझे दुख हुआ। यदि देश का बुद्धिजीवी-वर्ग स्वयं को उदार नहीं बना सकता तो फिर सामान्य जनता के प्रादेशिक भावनाओं का शिकार हो जाने पर क्या आश्चर्य ! एक बात उन लोगों के लिए है जो यह तर्क देते हैं कि अंग्रेज़ी के अभाव में हम डूब जायँगे। केरल से काश्मीर और राजस्थान से बंगाल तक के लोग इस सम्मेलन में आये थे। मैं प्रायः हिंदी का प्रयोग करता रहा, पर मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। ज़ाहिर है कि हिंदी को संपर्क भाषा न स्वीकारना केवल एक राजनीतिक कायरता है। मैंने एक तमिल बंधु से आग्रहपूर्ण ढंग से कहा कि वास्तविक संघर्ष हिंदी और प्रादेशिक भाषाओं का न हो कर अंग्रेज़ी तथा अन्य सभी भारतीय भाषाओं का है। सभी भारतीय भाषाएँ फूलें-फलें, इसी में हमारा सांस्कृतिक विकास निहित है।

अधिवेशन का प्रबंध राजकीय स्तर पर किया गया था और व्यवस्था बहुत संतोषजनक थी। असम का उदार आतिथ्य मैं आज भी नहीं भूल सका हूँ। सांध्य वेला में मैं वैष्णव संत शंकरदेव (१४४९-१५६९) के 'रुक्मिणी-हरण' का नाट्यरूपक देख कर तो अभिभूत सा हो गया। सर्वथा अकृत्रिम वातावरण में नृत्य, संगीत, अभिनय का अद्भुत समन्वय किया गया था। इसी अधिवेशन में असम के यशस्वी रचनाकार स्व॰ भगवतीप्रसाद बरुआ भवन का उद्घाटन-समारोह संपन्न हुआ। मुझे उस क्षण स्मरण आया कि आज तक हम हिंदी के रचनाकारों के नाम पर भवन नहीं बना सके। प्रेमचंद का स्मारक अधूरा पड़ा है—हमारी सांस्कृतिक हीनता का परिचायक बन कर। १९०० में श्री बरुआ का जन्म हुआ था और वे जीवन के तैंतीस वसंत ही देख पाये थे कि नदी की लहरें उन्हें निगल गयीं और उसी के साथ काव्य की संभावनाओं का अंत हो गया।

—प्रेमशंकर,

प्राध्यापक, हिंदी विभाग, सागर विश्वविद्यालय,
सागर (म॰ प्र॰)।

तेलुगुभाषी हिंदी लेखकों की विचार-गोष्ठी

आंध्र की राजधानी हैदराबाद नगर में ६, ७, ८ फ़रवरी, १९६५ को तेलुगुभाषी हिंदी लेखकों की विचार-गोष्ठी आयोजित हुई। गोष्ठी में भाग लेने वाले ४० लेखकों में से कुछ आंध्र प्रदेश के बाहर अलीगढ़, मद्रास आदि नगरों में अध्यापन और लेखन का कार्य करते हैं। कुछ हिंदी-सेवियों ने भी गोष्ठी में भाग लिया। इन हिंदी-सेवियों में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्री मोटूरि सत्यनारायण तथा हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त उल्लेखनीय हैं। सर्वश्री बालकृष्ण राव, डॉक्टर विश्वनाथ प्रसाद और गंगाशरण सिन्हा विशेष अतिथि थे।

आंध्र प्रदेश साहित्य अकादमी ने इस गोष्ठी का आयोजन किया था। अकादमी के अध्यक्ष श्री बी० गोपाल रेड्डी, प्रधान मंत्री श्री देवलपल्ली रामानुज राव और सहायक मंत्री डॉक्टर रामराजू ने गोष्ठी के अंतर्गत आयोजित प्रत्येक समारोह में भाग लिया। गोष्ठी का उद्घाटन करते हुए श्री गोपाल रेड्डी ने कहा: "हम लोगों ने केंद्रीय गृह मंत्रालय और शिक्षा मंत्रालय की प्रेरणा से हिंदी नहीं सीखी। महात्मा गाँधी के प्रयासों से दक्षिण भारत के लाखों नर-नारियों ने प्रेम और श्रद्धा के साथ हिंदी पढ़ी है। हिंदी का भविष्य उज्ज्वल है, किंतु हिंदीभाषी लोग भारत की अन्य भाषाओं को सीखना नहीं चाहते। हिंदी केवल 'प्रदान' करके शक्ति ग्रहण नहीं कर सकती। उसे 'आदान' के लिए भी यत्नशील होना चाहिए।"

श्री गोपाल रेड्डी ने अपनी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा: "आंध्र में ऐसे पचासों लोग हैं जो तेलुगु से हिंदी में और हिंदी से तेलुगु में अनुवाद कर सकते हैं, किंतु तेलुगुभाषियों का दायित्व हिंदी से तेलुगु में अनुवाद करने का है, तेलुगु से हिंदी में अनुवाद करने का काम हिंदीभाषियों का है। बहुत आश्चर्य की बात है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से १८ वर्षों में एक भी हिंदीभाषी व्यक्ति आगे नहीं आया जिसने तेलुगु पढ़कर मूल तेलुगु पुस्तक का अनुवाद हिंदी में किया हो।

गोष्ठी के उद्घाटन-समारोह की अध्यक्षता करते हुए केंद्रीय अंग्रेजी प्रतिष्ठान के अध्यक्ष तथा कन्नड़ के कवि प्रोफ़ेसर गोकाक ने कहा: "साहित्यकार किसी समस्या का हल प्रस्तुत नहीं कर सकता। वह केवल दर्शक होता है। दर्शक के नाते वह जो कुछ देखता है उसे ईमानदारी के साथ व्यक्त कर देना चाहिए। भारतीय लेखकों के सामने आज जो कुछ हो रहा है, संभवतः संसार के किसी देश का लेखक वैसी घटनाओं का साक्षात्कार नहीं कर रहा है। स्वतंत्रता से पहले हमारे देश का किसान यह मानता था कि जैसे ही देश पराधीनता से मुक्त होगा, रामराज्य आ जायगा। इस रामराज्य में त्रिविध व्याधियाँ नष्ट हो जायँगी, किंतु स्वतंत्रता के बाद देश में जो कुछ हो रहा है उसे देख कर वह स्तब्ध रह गया। यही बात अन्य वर्गों के साधा-

रण जनों की है। सामान्य जनता की स्तब्धता अभी टूटने भी नहीं पायी कि बड़ी तेज़ी से हमारे यहाँ एक पूँजीवादी समाज का विकास प्रारंभ हो गया। महिलाओं के सम्मुख अनेक सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याएँ हैं। छात्रों में घोर असंतोष है। इस स्थिति को आज का लेखक हृदयंगम करता है और वह चाहता है कि अपने युग को साहित्य में व्यक्त करे।''

राज्य के योजना-सचिव तथा आंध्र के प्रमुख हिंदी सेवी श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त ने उपस्थित लोगों का स्वागत करते हुए कहा : "आंध्र प्रदेश को इस बात पर उचित गर्व है कि यहाँ के लोगों ने हिंदी का व्यावहारिक ज्ञान ही प्राप्त नहीं किया, वे मौलिक कृतित्व से भी हिंदी साहित्य को समृद्ध बना रहे हैं।"

हिंदी के उपन्यासकार श्री आरिगपूडि (रमेश चौधरी) ने उद्घाटन-समारोह में कहा, "हमारे देश की राजनीति को संप्रदायवादिता ने दूषित किया और अब हमारी भाषाओं को प्रांतीयता कलंकित कर रही है। वास्तविकता यह है कि देश के सभी नागरिकों को संघटित रखने का माध्यम मात्र भाषा है। पहले धर्म यहाँ की जनता को एकता के सूत्र में गूंथता था, किंतु धर्म की वह स्थिति अब नहीं रह गयी। केवल भाषा ही देश को एक बनाये रख सकती है।

श्री आरिगपूडि ने कहा : "हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि इस समय हिंदी के तीन वृत्त हैं। पहला वृत्त गंगा-यमुना के दोआब में अंकित किया जा सकता है। इस वृत्त की हिंदी प्रांतीय हिंदी कही जा सकती है। अंतर्प्रांतीय हिंदी का क्षेत्र राजस्थान से प्रारंभ होकर पटना तक पहुँचता है। हिंदी का तीसरा स्वरूप राष्ट्रीय है। पूरा देश इस स्वरूप के क्षेत्र में आता है। अब तक हिंदी का प्रांतीय क्षेत्र उसके रूप-निर्माण और साहित्य-रचना में भाग लेता रहा है, किंतु अब राष्ट्रीय स्तर पर उसका साहित्य रचा जाना चाहिए। राष्ट्रीय परिधि से उसका जो स्वर निकले वह प्रांतीय परिधि में भी गूँजना चाहिए।"

उद्घाटन-समारोह के पश्चात लेखकों ने अपनी समस्याओं पर गहराई से विचार किया और अपने अध्ययन से लोगों को परिचित कराया। पहली बैठक की अध्यक्षता भाषाशास्त्री डॉक्टर विश्वनाथ प्रसाद ने की। डॉक्टर विश्वनाथ प्रसाद ने अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए कहा : "तेलुगु के महाकवि पोतना ने त्रिविक्रम के विक्रम की चर्चा करते हुए लिखा है कि जब उनका एक चरण पाताल में गया तो उस चरण पर ब्रह्मांड ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कमल पुष्प पर कीचड़ की एक छोटी बूंद, और जब दूसरा चरण अंतरिक्ष में पहुँचा तो नभ-मंडल ऐसा लगा जैसे कमलपुष्प पर भ्रमर। हिंदी का जो लेखक आंध्र प्रदेश में साहित्य-साधना कर रहा है वह भी सांस्कृतिक क्षेत्र का त्रिविक्रम है। उसकी भूमि, मातृभाषा और अंतरिक्ष हिंदी है। उसका तीसरा डग मुझ जैसे भक्त के मस्तक पर सुशोभित है।"

डॉक्टर विश्वनाथ प्रसाद ने कहा : "भाषा का एक बाह्य रूप है। इस बाह्य रूप से हट कर उसकी आंतरिक रचना का क्षेत्र है। जब कोई व्यक्ति किसी भाषा में बोलने अथवा लिखने की आकांक्षा करता है तो वह अनायास उस भाषा के आंतरिक रचना-क्षेत्र में चला जाता है। दूसरे शब्दों में, वह भाषा उस व्यक्ति तक अपने विस्तार को ले जाती है, इस आंतरिक रचना-

क्षेत्र के कारण हम भारतवासी अंग्रेज़ी की परिधि में सम्मिलित हो चुके हैं। इसी प्रकार आप लोगों ने भी हिंदी की आंतरिक रचना-क्षेत्र का विस्तार किया है।"

इस चर्चा में सर्वश्री आरिगपुडि, मोटूरि सत्यनारायण, राधाकृष्णमूर्ति, तथा लक्ष्मीनारायण गुप्त ने भाग लिया। निश्चय किया गया कि आंध्र प्रदेश के हिंदी लेखकों का एक संघटन बनाया जाय। यह संवटन ही प्रकाशन तथा वितरण की व्यवस्था करे।

श्री राज शेषगिरि राव ने हिंदी-तेलुगु अनुवाद की मुख्य कठिनाइयों का उल्लेख किया। इस चर्चा में सर्वश्री मोटूरि सत्यनारायण, श्रीराम शर्मा और हेमलता आंजनेयुलु ने भाग लिया। गोष्ठी के अध्यक्ष डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने सुझाव दिया कि इन दिनों बहुत से द्विभाषिक शब्दकोश बन रहे हैं। इन कोशों की रचना में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे अनुवादकों की आवश्यकता भी पूरी करें।

श्री बालशौरि रेड्डी ने विचार रखा कि आंध्र प्रदेश के शासन को यहाँ के हिंदी लेखकों और अनुवादकों को पुरस्कृत करना चाहिए।

दूसरी बैठक में इस बात पर विचार किया गया कि हिंदी साहित्य में कौन से ऐसे अंग हैं जिनका परिचय तेलुगुभाषियों को मिलना चाहिए। तेलुगुभाषी हिंदी लेखकों ने हिंदी साहित्य के संबंध में अपना दृष्टिकोण भी उपस्थित किया। सर्वश्री आरिगपूडि ने 'हिंदी के प्रबल पक्ष' शीर्षक निबंध पढ़ा। सर्वश्री राज शेषगिरि राव, डॉक्टर भीमसेन 'निर्मल' और हेमलता आंजनेयुलु ने क्रमशः 'हिंदी में निर्गुण भक्ति', 'हिंदी को तेलुगुभाषियों की देन' और 'हिंदी में अनुवाद की समस्याएँ' शीर्षक निबंध पढ़े। श्री हेमलता आंजनेयुलु ने बताया कि तेलुगु के जिन शब्दों के अनुवाद से भ्रम पैदा हो सकता है, उन्हें ज्यों का त्यों देकर टिप्पणी में अर्थ स्पष्ट करना लाभकर होगा।

इस गोष्ठी की अध्यक्षता हिंदी के कवि तथा विचारक श्री बालकृष्ण राव ने की। श्री राव ने अध्यक्षीय भाषण में कहा : "लेखकों को चिरंतनता की चिंता नहीं करनी चाहिए। उनके सामने पाठकों की ग्रहण-शक्ति स्पष्ट होनी चाहिए। हम स्पष्ट रूप से समकालीनों के लिए लिखते हैं। जो 'उत्पत्स्यते कोऽपि समानधर्मा' के लिए लिखते हैं वे विफल रहते हैं। जो अपने काल के पाठक के लिए नहीं लिख सकता, वह किस युग के पाठक के लिए लिखेगा ?"

श्री बालकृष्ण राव ने कहा कि अच्छा लेखक साहित्यिक और सामाजिक मूल्यों का ठीक-ठीक समन्वय कर लेता है। सामाजिक और नैतिक मूल्य बड़ी तेज़ी से बदलते हैं और इस परिवर्तन को लेखक ठीक तरह से हृदयंगम करता है। हमारे देश में बीस वर्ष पहले जो नैतिक मूल्य थे, आज वे नैतिक मूल्य नहीं हैं। गाँधी जी के नेतृत्व में जो संघर्ष हुआ, उसमें नैतिकता, त्याग, सदाचार, सत्य आदि की परंपरागत अवधारणाओं पर अधिक बल दिया गया और चतुराई, योग्यता, पराक्रम आदि को वैसा महत्व प्राप्त नहीं हुआ, किंतु स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् त्याग, बलिदान आदि के अर्थ बदल गये। अब वे ही चतुराई, कूटनीतिज्ञता साहस आदि के पर्याय बनते जा रहे हैं।"

श्री राव ने इस बात पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला कि भारत के लिए अंग्रेज़ी व्यवहार की भाषा रही है। वह हमारे हृदय की भाषा नहीं बन सकती। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में करोड़ों भारतवासियों ने अंग्रेज़ी पढ़ी किंतु अंग्रेज़ी साहित्य में एक भी भारतीय लेखक को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हो सका।

तीसरी बैठक श्री गोपाल रेड्डी की अध्यक्षता में संपन्न हुई। इस गोष्ठी में तेलुगु साहित्य के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डाला गया। तेलुगु का शतक और यक्षगान वाङ्मय अत्यंत समृद्ध है। नीति संबंधी कविता लिखने वाले हिंदी के कवियों में रहीम, वृंद, और गिरधर कविराय के साथ एक-दो अन्य कवियों का उल्लेख किया जा सकता है, किंतु तेलुगु में लगभग पाँच सौ कवियों ने नीति संबंधी कविताएँ लिखी हैं। नीति संबंधी कविताएँ शतकों में मिलती हैं। यक्षगान भी तेलुगु की अपनी विशेषता है। नौटंकी और रासलीला के समन्वय से कुछ यक्षगानों की कल्पना की जा सकती है। फिर रासलीला अथवा नौटंकी से संबंधित काव्यों को हमारे साहित्य में क्या स्थान मिला है? तेलुगु में यक्षगानों और उनके रचयिताओं को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस गोष्ठी में श्री राममूर्ति रेणु ने 'तेलुगु रंगमंच का उद्भव और विकास', श्री एम० वी० वी० आई० आर० शर्मा ने 'तेलुगु शतक वाङ्मय', श्री हनुमत् शास्त्री ने 'तेलुगु में हिंदी, फ़ारसी और अरबी के शब्द', श्री बालशौरि रेड्डी ने 'तेलुगु के यक्ष-गान' और श्री वेमूरि राधाकृष्ण मूर्ति ने 'तेलुगु की आधुनिक कविता' शीर्षक निबंध पढ़े।

चौथी बैठक आंध्र प्रदेश के विधि मंत्री श्री पी० वी० नरसिंह राव की अध्यक्षता में हुई। श्री नरसिंह राव ने अध्यक्ष पद से कहा कि अब 'हिंदी प्रचार सभा' जैसी संस्थाओं से 'प्रचार' शब्द हट जाना चाहिए। इन संस्थाओं को हिंदी के विकास पर ध्यान देना चाहिए।

इस बैठक में सर्वश्री सुन्दर रेड्डी, ए० सी० कामाक्षी राव, सी० सूर्यनारायण मूर्ति, दुर्गानंद और आलूरि बैरागी ने क्रमशः 'तेलुगु और हिंदी के आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' : 'उपन्यास तथा नाटक', 'तुलसीदास और त्यागराज की भक्ति का तुलनात्मक अध्ययन', 'तेलुगु और हिंदी साहित्य में वैष्णव भक्ति', 'तेलुगु और हिंदी के प्रबंध-काव्य' और 'तेलुगु तथा हिंदी की आधुनिक कविता' शीर्षक निबंध पढ़े।

तेलुगु और हिंदी के प्रबंध-काव्यों का विवेचन श्री दुर्गानन्द ने इन शब्दों में किया : "तेलुगु के प्रबंध कवि अंत तक कवि रहे। संक्षेप में तेलुगु के महाकाव्यों के कवि विसर्गतः कवि हैं। हिंदी के प्रबंध-काव्यों के कवि जीवन के चितेरे हैं। वे भक्ति में तल्लीन, युद्ध में उग्र, नीति में भारतीय, रीति में विजातीय और व्यक्तिगत जीवन में महात्मा हैं। वे कवि होते हुए भी संत हैं और संत होते हुए भी कवि।"

गोष्ठी का समापन-समारोह श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त की अध्यक्षता में हुआ। इस समारोह में आंध्र प्रदेश हिंदी लेखक संघ की नियमावली स्वीकार की गयी। संघ के पदाधिकारी और कार्य-समिति के सदस्य मनोनीत किये गये। सर्वश्री आरिगपूडि, डॉक्टर श्रीराम शर्मा और श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त क्रमशः संघ के अध्यक्ष, मंत्री और कोषाध्यक्ष मनोनीत हुए। आंध्र प्रदेश साहित्य अकादमी की ओर से श्री बेजवाड गोपाल रेड्डी ने सूचना दी कि अकादमी की

ओर से आंध्र प्रदेश के एक श्रेष्ठ हिंदी लेखक को प्रतिवर्ष १११६ रुपये से पुरस्कृत किया जायगा। श्री बालकृष्ण राव ने हिंदुस्तानी एकेडमी, उत्तरप्रदेश, की ओर से आंध्र प्रदेश के हिंदी लेखकों की गोष्ठी को प्रयाग में अधिवेशन करने के लिए निमंत्रित किया।

राज्य-सभा के सदस्य श्री गंगाशरण सिन्हा ने गोष्ठी का उद्घाटन किया था। समापन के अवसर पर भी उन्होंने भाषण दिया। पहली, दूसरी और समापन-गोष्ठी का संयोजन डॉक्टर श्रीराम शर्मा ने और तीसरी तथा चौथी गोष्ठी का संयोजन क्रमशः डॉक्टर रामराजू (रीडर, तेलुगु-विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय) और डॉक्टर भीमसेन 'निर्मल' (प्राध्यापक, हिंदी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय) ने किया।

--श्रीराम शर्मा,
गांधी बाज़ार, हैदराबाद-२।

तीसरा अखिल भारतीय तेलुगु लेखक-सम्मेलन

त्रिवेणी-संगम के बाद यदि किसी जगह अखिल भारतीय पैमाने पर भीड़ जमा होती है तो शायद वह तिरुपति में ही--श्री वेंकटेश्वर जी या बालाजी के दर्शनार्थ। परंतु इन दोनों ही अवसरों पर धार्मिक भावना से ओतप्रोत होकर ही लोग आते हैं। परंतु अभी गत सप्ताह (३० मई से २ जून तक) बिना किसी धार्मिक भावाधारा के ही क़रीब साढ़े चार सौ व्यक्ति यहाँ जमा हुए थे--अखिल भारतीय तेलुगु लेखक-सम्मेलन के लिए। क़रीब चार सौ प्रतिनिधि थे (जो शायद ही किसी साहित्यिक सम्मेलन में आते हों)।

'नव्य साहिती समिति' द्वारा आयोजित इस तीसरे अखिल भारतीय सम्मेलन में न केवल लेखकों को एक दूसरे से मिलने, जानने, पहचानने का मौक़ा मिला, बल्कि इसमें कई महत्वपूर्ण सवालों पर भी विचार-विनिमय हुआ। जैसे 'आधुनिक तेलुगु-साहित्य का आधार प्राचीन तेलुगु साहित्य है'; 'विश्वविद्यालयों तथा दूसरी शैक्षणिक संस्थाओं में व्यावहारिक तेलुगु माध्यम के रूप में हो', 'किस प्रकार वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली के लिए संस्कृत सहायक हो सकती है?' आदि-आदि। साथ ही एक महत्व की बात जो देखने में आयी वह थी--उत्तर भारतीय भाषाओं की गोष्ठी। इसमें गुजराती के लेखक श्री चुनीलाल माडिया, ओड़िया के लेखक श्री गोपालचन्द्र मिश्र, हिंदी के लेखक श्री राममूर्ति 'रेणु' एवं पंजाबी के लेखक श्री गुरुमुख सिंह 'जीत' आदि ने भाग लिया। सम्मेलन के दिनों में कविता-पाठ, अष्टावधानम् (समस्या-पूर्ति से अधिक कठिन) आदि हुए, और अंतिम दिन 'इदा प्रपंचम्' (क्या यही दुनिया है) शीर्षक से एक नाटक खेला गया।

इस सम्मेलन की ख़ूबी यही रही कि सारे प्रतिनिधियों को विश्वविद्यालय के ही 'पद्मावती

कॉलेज' के छात्रावास में ठहराया गया, जो आधुनिकतम शैली में और बहुत ही आरामदेह बना हुआ है। अधिकांश प्रतिनिधियों की माँग पर, तिरुपति के देवालय में वेंकटेश्वर स्वामी के दर्शनार्थ भी उन्हें ले जाया गया।

इस सम्मेलन में केन्द्रीय मंत्रियों का त्रिवेणी-संगम हुआ। श्रममंत्री श्री डी० संजीवैया ने पहले दिन सबेरे साढ़े आठ बजे राष्ट्रीय ध्वजा और 'नव्य साहिती समिति' की ध्वजा का सम्मिलित ध्वजारोहण किया। शाम के उद्घाटन समारोह का सभानेतृत्व करते हुए श्री संजीवैया ने कहा : आज के लेखक को निर्भीक होकर लिखना चाहिए। पहले लेखक को राजाश्रय मिलता था। पर अब उसे प्रजाश्रय मिलता है। अतः उसे तो और भी खुलकर और निडर होकर लिखना चाहिए। दूसरे समाज-विकास के केंद्रीय उपमंत्री श्री वी० एस० मूर्ति ने '१४वीं-१५वीं शताब्दी का उच्च (क्लासिकल) साहित्य' अधिवेशन में न केवल रोचक भाषण दिया, बल्कि अपनी कुछ रचनाएँ भी सुनायीं। भूतपूर्व सूचना एवं प्रसारमंत्री डॉ० बी० गोपाल रेड्डी जी सम्मेलन की अधिकांश गोष्ठियों में उपस्थित रहे, इधर-उधर छिटपुट मज़ाक़, कुछ टीका टिप्पणी के द्वारा सभा को सजीव बनाते रहे और 'उत्तर भारतीय साहित्य' अधिवेशन में सुंदर आरंभिक भाषण दिया। इस गोष्ठी की अध्यक्षता आंध्र प्रदेश सरकार के सूचना और न्यायमंत्री श्री पी० वी० नरसिंह राव ने की। आप तेलुगु के साथ-साथ हिंदी और मराठी के विद्वान भी हैं।

इस मंत्रित्रय-संगम के सहयोग ने इसे सिद्ध कर दिया कि राजनीति में सक्रिय भाग लेने पर भी व्यक्ति का लेखक-हृदय साहित्य-द्वार की ओर अवश्य आता है और अपने कार्यक्षेत्र में अपने विचारों को अमल में लाने का प्रयत्न करता है।

श्री डी० आंजनेयुलु की अध्यक्षता में संपन्न 'समाज और लेखक' गोष्ठी में बंबई के श्री एस० एम० वाई० शास्त्री जी ने विषय का प्रतिपादन रोचक एवं विवेचनापूर्ण ढंग से किया। अधिकांश प्रतिनिधियों को भाग लेने का अवसर मिल सके, इसलिए पाँच-पाँच मिनट का समय दिया गया। अधिकांश वक्ताओं ने यही कहा कि भले ही लेखक स्वान्तः सुखाय लिखे, पर वह समाज से अलग नहीं रह सकता। समाज के साथ उसका अन्योऽन्य संबंध है। समाज के संस्कारों में पल कर समाज को आगे बढ़ाने वाला लेखक ही है।

'मेरी प्रथम रचना'—गोष्ठी ओंगोल के श्री शिवशंकर स्वामी जी की अध्यक्षता में संपन्न हुई। श्रीमती अद्देपल्लि विवेकानन्दा देवी (राजमंद्री की लेखिका, प्रकाशक) ने विषय-प्रवर्तन किया। तेलुगु साहित्य की लोकप्रिय कथाकार श्रीमती टी० हेमलता 'लता' (३० से अधिक पुस्तकों के पाँच-पाँच संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं) ने अपनी आरंभिक रचना का वर्णन करते हुए अपने संपूर्ण रचना-काल की अति सजीव तथा मुहावरेदार शैली में समीक्षा प्रस्तुत की। 'लता' जी सुविज्ञ युवती हैं और अभी अपनी कृतियों की संख्या के बराबर ही धूपछाँही जीवन देखा है। इस गोष्ठी में महिलाओं ने अधिक भाग लिया। तेलुगु की प्रसिद्ध हास्य-रचना 'बैरिस्टर पार्वतीशम्' के वयोवृद्ध कृतिकार श्री मोक्कपाटि नरसिंह शास्त्री जी ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों के द्वारा अपनी रचना की कहानी बतायी। शायद ही सभा में ऐसा कोई रहा हो जिसे इनके हास्यप्रधान वर्णन में हँसी न आयी हो।

'प्राचीन तेलुगु-साहित्य' की गोष्ठी में भाषण जितने ही सोदाहरण और गंभीर एवं क्लिष्ट थे, 'आधुनिक साहित्य' की गोष्ठी में भाषण उतने ही सहज, सरल और रोचक थे।

हैदराबाद के प्रसिद्ध कवि श्री बोई भीमन्ना की अध्यक्षता में कवि-सम्मेलन का लोकप्रिय कार्यक्रम सुंदर ढंग से सम्पन्न हुआ।

इतने बड़े विराट पैमाने पर सम्मेलन का आयोजन करने में 'नव्य साहिती समिति' के प्रमुख कार्यकर्ता श्री पोतुकूचि सांबशिव राव, श्री पोतुकूचि सूर्यनारायण मूर्ति, श्री 'चंद्रमौलि' आदि सज्जनों को जहाँ हार्दिक बधाई दिये बिना रहना असंभव है, वहीं सम्मेलन की एक-दो बातों की ओर संकेत किये बिना भी नहीं रहा जा सकता। वह है—यदि गोष्ठियों को ज़रा सीमित रूप में करें तो विचार-विमर्श करने के लिए अधिक अनुकूल वातावरण तैयार हो सकता है। दूसरी बात है कि जहाँ (नयी पीढ़ी अपने को आगे लाने में 'आवश्यक व्यक्तियों' की तारीफ़ में समय और अनुपात का ज़रा भी ध्यान नहीं रखती, वहीं वयोवृद्ध पीढ़ी अपने सफ़ेद बालों की ओट में आपसी पैमाने पर अपमानजनक टीका-टिप्पणी करने में ज़रा भी नहीं हिचकती। यदि ये टीकाएँ शहर या प्रांत की सभाओं तक सीमित रहें तो कुछ बेहतर होगा।

इस सम्मेलन में आरंभिक भाषण तेलुगु के वयोवृद्ध सुप्रसिद्ध लेखक-कवि-उपन्यासकार श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जी ने दिया। इनके ओजस्वी भाषण में जहाँ पग-पग पर उनका तेलुगु-साहित्य के प्रति अनुराग झलकता था, वहीं अपने साहित्य के लेखकों को उच्चतर बतलाने के लिए दूसरी भाषाओं के लेखकों को 'हीन वर्ग' का कहना और शेक्सपीयर को 'बहुरूपिया नाँदिया बैल चलानेवाला' कहना अनेक सदस्यों को बुरा और ग़लत लगा।

इस सम्मेलन (या साहित्य-पर्व कहें) में आयोजकों ने न केवल तेलुगु भाषा में लिखने वालों को बल्कि अन्य भाषाओं में लिखने वाले तेलुगु-भाषी लेखकों को भी आमंत्रित किया और साथ ही भारत की अन्य भाषाओं के लेखकों को भी सादर निमंत्रित किया। आदान-प्रदान का यह एक सुंदर माध्यम प्रतीत हुआ। इस सम्मेलन में भाषण न केवल तेलुगु और अंग्रेजी में हुए, बल्कि हिंदी में भी हुए।

आज भारत की सभी भाषाओं के बोलने वाले हिंदी को अपनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इनमें से कई हिंदी के सिद्धहस्त लेखक भी हैं। भविष्य में अखिल भारतीय हिंदी लेखक सम्मेलन यदि हों तो क्या अहिंदीभाषी हिंदी लेखकों को भी समान रूप से स्थान दिया जायगा, या उन्हें 'कटघरे' के बाहर ही रहने दिया जायगा? आशा है, आंध्र प्रदेश के साहित्यिकों ने आदान-प्रदान के लिए सक्रिय सहयोग का जो स्नेहिल हाथ बढ़ाया है, उसे दूसरे भाषा-भाषी और ख़ासकर हिंदी-भाषी ध्यान में रखेंगे।

—हेमलता आंजनेयुलु,
'साकेत',
४२, मंदवल्लि स्ट्रीट, मद्रास-२८।

समीक्षाएँ

कला-प्रसंग

रामचंद्र शुक्ल का कला विषयक निबंध-संग्रह। प्रकाशक : कारोना आर्ट पब्लिशर्स, मेरठ। १९६४। मूल्य ७.०० रुपये।

हिंदी क्षेत्र में दायित्वशील समीक्षकों के अभाव में जैसे कवियों को स्वतः काव्य-विवेचन एवं सिद्धांत-प्रतिपादन की दिशा में सक्रिय होना पड़ा, कुछ उसी तरह कलाकारों को भी अपना मार्ग प्रशस्त करने का भार वहन करना पड़ रहा है। अंतर यह है कि हिंदी-भाषी भू-भाग में कविता के प्रति तो अप्रतिहत जागरूकता मिलती है, किंतु कला अभी तक उपेक्षित और प्रेरणा-दायक उच्चतर चिंतन से रहित, प्रायः निर्जीव अवस्था में ही दिखायी देती है। जिन भारतीय क्षेत्रों में कला-चेतना सक्रिय एवं उर्वर प्रतीत होती है, उनमें अंग्रेज़ी के माध्यम से कला का प्रचार-प्रसार ही नहीं, सोच-विचार तक किया जाता है फलतः बहुत कुछ उधार लिया हुआ सा लगने लगता है। ऐसे कला-चिंतन की पैठ प्रायः उच्च मध्य वर्ग तक ही हो पाती है, सामान्य मध्य वर्ग तथा अल्पशिक्षित विशाल जन-समूह नितांत अछूता छूट जाता है। कला की गति-विधि एक गहरी एवं व्यापक सांस्कृतिक आवश्यकता का रूप ग्रहण करने के स्थान पर उच्च वर्ग के वैभव-विलासमय वातावरण में या तो खो जाती है या बहुत अंशों में निरर्थक हो जाती है। किसी तल-स्पर्शी आंदोलन का रूप ग्रहण करने अथवा भारत जैसे अकल्पनीय कला-विभव से संपन्न देश की अन्तर्निहित राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने का महत्वपूर्ण कार्य संपन्न नहीं कर पाती। यह कार्य निकट भविष्य में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के विशाल स्तर पर होता है, अतः उसमें छोटे-बड़े जो भी कलाकार अपनी योग्यता एवं प्रतिभा के अनुरूप योगदान दे सकें, सभी का स्वागत होना चाहिए। आचार्य क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार की कला-कक्षा के अपने सहपाठी चित्रकार रामचंद्र शुक्ल की प्रस्तुत कृति का मैं इसी पृष्ठ-भूमि में विशेषतः स्वागत करता हूँ। वे देशी-विदेशी महान कलाकारों और कला-परंपराओं से सम्यक् प्रेरणा ग्रहण करते हुए निरंतर प्रयोगशील रहने में विश्वास रखते हैं, जो मेरे विचार से आज के जागरूक कलाकारों के लिए अपेक्षित ही नहीं, आवश्यक भी है। 'कला-प्रसंग' के निबंधों में व्यक्त उनकी बहुत सी धारणाएँ मुझे कहीं-कहीं अपरिपक्व, परस्पर विरोधी तथा सामान्य स्तर की लगीं, जिनसे सहमत होना कठिन है, परंतु कलानुशीलन के प्रति उनकी सहज निष्ठा, ईमानदारी और अनुभव के साथ अपनी मान्यता का प्रकटीकरण तथा रूढ़िवादी विचार-धारा से

बहुत कुछ मुक्त रहते हुए सर्जन के आधारभूत सिद्धांतों के सहारे निरंतर नयी दिशा में गतिशील रहना ऐसी बातें हैं, जिनका यथोचित स्वागत होना चाहिए। कला की समस्याओं के प्रति सामान्य जिज्ञासा रखनेवाले पाठकों को उनके कला विषयक, मुख्यत: चित्रकला विषयक, निबन्धों से कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य मिल सकेगा। लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक से पूर्व प्रकाशित अपनी श्रेष्ठतर कृति में अपने आप ऐसे ध्येय का निर्देश किया है--

मेरा केवल एक ही प्रयास है---कलाकी आंतरिक जटिलताओं को सुलझा कर प्रस्तुत करना; ताकि साधारण व्यक्ति भी उनसे कुछ पा सके और यह उन्हें चित्रकला के और नज़दीक ला सके। (---चित्रकला का रसास्वादन, पृष्ठ ६।) जन-साधारण का कला संबंधी ज्ञान अभी इतना कम है कि उनके 'माइकेल ऐंजिलो की अविस्मरणीय मुखाकृतियाँ', 'प्रसिद्ध चित्रकारों की नारियाँ', 'भारतीय कला और हिमालय' जैसे मुख्यतया सूचनापरक निबंध भी उपयोगी ही कहे जायँगे। 'आत्मचिंतन' और 'आत्माभिव्यक्ति' नामक दो निबंध आधुनिक चित्रकला के विषय में कलाकार-लेखक के विचारों एवं निष्कर्षों को विशेष रूप से प्रस्तुत करते हैं और उनका प्रारंभ में कलन सोद्देश्य दिखायी देता है। उसमें व्यक्त की गयी कुछ धारणाएँ, कुछ स्थापनाएँ द्रष्टव्य हैं---

१. चित्रकला और कविता का कार्य एक ही है। दोनों रसानुभूति कराते हैं। कविता शब्द के माध्यम से और चित्र रंग के द्वारा।

२. प्रत्येक व्यक्ति के दो या दो से अधिक व्यक्तित्व हुआ करते हैं। दो तो प्राय: सभी के होते हैं। एक वह जो प्रत्यक्ष दिखायी पड़ता है और दूसरा अदृश्य होता है। अधिकतर दोनों एक दूसरे से बिलकुल विपरीत से लगते हैं और दोनों का ढंग निराला होता है। जो व्यक्ति इन दोनों में एकता स्थापित करने की ओर उद्यत होता है, वही व्यक्ति कवि, कलाकार, संगीतज्ञ या फिर भक्त बन जाता है।

३. यह संवेग या कंपन और कुछ नहीं मात्र-लय (रिद्म) है।...संवेग ही रसानुभति कराता है। इसीलिए मैं सूक्ष्म चित्रकला, अरूपवादी कला को इस युग की कला के क्षेत्र में सबसे बड़ी प्रगति मानता हूँ और इस शैली में अधिकतर चित्र बनाता हूँ।

सामान्य रीति से देखने पर परिचित शब्दावली के कारण यह बातें सही जैसी प्रतीत होती हैं पर थोड़ा अर्थ के भीतर पैठने पर स्पष्ट लगने लगता है कि सैद्धांतिकता, प्रतिपत्तियों के अन्तर्संगठन, विचारों की संगति और परिपक्वता की दृष्टि से इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध ही कही जायगी। कविता 'शब्द' के माध्यम से नहीं, 'शब्दार्थ' के माध्यम से प्रभाव उत्पन्न करती है जो अनेक प्रकार का होता है जिसमें 'रसानुभूति' एक प्रकार है। इसी तरह चित्र भी रंगों के माध्यम से ही नहीं, रूप, प्रकार और रेखा-विधान और संयोजन से भी प्रभाव उत्पन्न करते हैं जो रसात्मक ही नहीं होता। लेखक की यह धारणा उसकी पूर्व प्रकाशित कृति 'चित्रकला का रसास्वादन' में जिस रूप में व्यक्त हुई है, उससे 'रसास्वादन' का अर्थ अंग्रेज़ी शब्द 'एप्रेसिएशन' मात्र सिद्ध होता है जिसका भारतीय रस की धारणा

से कोई वास्ता नहीं है। भारतीय दृष्टि कला और साहित्य के अन्तर्गत मूर्त में रस की धारणा करती है, अमूर्त में नहीं। गोचरत्व उसका प्रमुख आधार है। इस बात को ठीक तरह न समझने के कारण तीसरे अंश में 'संवेदन' के स्थान पर 'संवेग' या 'कंपन' मात्र को रसानुभूति कराने वाला कहा गया है और अमूर्त कला को उसकी सबसे बड़ी प्रगति बताया गया है। रस का आधार है मानवीय भाव और अमूर्त कला मानवीय भाव ही नहीं वस्तुमूलक रूप तक का अतिक्रमण करती है ऐसी दशा में 'रसानुभूति' के आधार पर अरूपवादी कला की व्याख्या करना मुझे बहुत ही विचित्र लगता है। जब नयी कविता, जो भावयुक्त होते हुए भी रसानुभूति की सीमा में नहीं घिर पाती, तो नयी कला जो भावातीत होने में ही अपनी सार्थकता खोज रही है, किस प्रकार उस आधार पर व्याख्यायित की जा सकती है। विशेषत: तब जब वह 'रसास्वादन' को 'स्नेह' से जोड़ने की चेष्टा उसी लेखक के द्वारा की गयी हो। **धीरे-धीरे कला के रसास्वादन द्वारा व्यक्ति स्वयं स्नेहयुक्त बन जाता है और उसका जीवन प्रफुल्लित हो उठता है।** (चित्रकला का रसास्वादन, पृ० ९।) रस में 'सहृदयता' अपेक्षित मानी जाती है, न कि 'स्नेह'। यहाँ 'स्नेह' शब्द का अनुपयुक्त प्रयोग भी इसी बात को सिद्ध करता है कि लेखक के कथन उसके अर्धनिश्चित मंतव्य मात्र को व्यक्त करते हैं, उन्हें प्रामाणिक और शास्त्रीय स्तर पर ग्रहण नहीं किया जा सकता।

बीच वाला उद्धरण इस बात को और भी अधिक प्रकट करता है। आधुनिक व्यक्तित्व-विश्लेषण मनोविज्ञान की देन है और मैं नहीं जानता कि चेतना के 'उप', 'अप', 'अति', 'अव' आदि बहुविध रूप मानते हुए भी वहीं सैद्धांतिक रीति से उसमें यह प्रतिपादित किया गया हो कि 'व्यक्तित्व' मूलत: एक खंडित अथवा अनेकात्मक प्रत्यय है। विकृत अवस्था में ऐसा आभासित होना एक बात है परंतु प्रकृत व्यक्तित्व ऐसा नहीं होता कि कहा जा सके, प्रत्येक **व्यक्ति के दो या दो से अधिक व्यक्तित्व हुआ करते हैं।** यह साहित्यिक अभिव्यक्ति का एक ढंग तो हो सकता है, पर तत्वत: इसे प्रामाणिक सैद्धांतिक आधार से रहित ही कहा जायगा। यहाँ भी लेखक का निजी अभिप्राय प्राय: स्पष्ट समझ में आता है, पर उसके कथन को तटस्थ आधार पर मान्यता प्रदान नहीं की जा सकती। शुक्ल जी की अभिव्यक्ति में यह बात बहुधा पायी जाती है, इसीलिए मैंने इसकी ओर विशेष रूप से निर्देश कर देना अपना कर्तव्य समझा। यों उनके लेखों में निबंध-शैली की सी वैयक्तिक अनुभूति से दीप्त कहीं सीधे-सरल, कहीं वक्रता लिये व्यंग्य-वाक्य कभी-कभी अविस्मरणीय रोचकता भी उत्पन्न कर जाते हैं। मैं समझता हूँ कि मेरी तरह और लोग भी उनमें रुचि ले सकेंगे, अत: एक अंश उद्धृत कर रहा हूँ——

'प्रकाशन और कला' शीर्षक लेख से—

बहुत से लोग घटिया मैटर, रद्दी कागज़, भद्दी छपाई को लेकर बाज़ार लूटने चलते हैं जैसे 'रमैया की जोरू'। अब भला बताइए, यह कौन सा बिज़नेस है, प्रकाशन का या नाई का?

मुझे माफ करें, अब के पाठक इतने भोले या बुद्धू नहीं हैं कि उल्टे छुरे से हजामत बनवा लें।

यह मैं कदापि नहीं चाहूँगा कि कोई पाठक लेखक के इस वाक्य को उसकी पुस्तक 'कला-प्रसंग पर ही 'चस्पाँ' कर दे पर यह अवश्य

कहूँगा कि एक कला-प्रकाशन जितना आकर्षक और सुरुचिपूर्ण होना चाहिए उतना यह नहीं है। मैं यह अनुभव से जानता हूँ कि हिंदी में इस क्षेत्र में अभी कितना पिछड़ापन है। अतएव इसकी मुझे अधिक शिकायत नहीं है। लेखक यदि कहता है कि 'कला मेरे जीवन का केंद्र-विंदु है' अथवा 'मैं आलोचना को कृतिकार के लिए वहुत महत्वपूर्ण नहीं समझता' या कि 'यह पुस्तक पांडित्य दिखाने के लिए नहीं है, वल्कि आज की दुनिया में क्षण भर के लिए स्वाद वदल लेने के लिए है।' तो उसे ऐसा कहने का पूरा अधिकार है, पर जव वह कहता है कि 'मैं मूलतया चित्रकार हूँ. . इसलिए पुस्तक में मेरे कई अपने चित्र भी हैं।' तो यह कोई युक्ति-संगत बात नहीं दिखायी देती। यदि अपनी कला से संवंधित लेख के साथ अपने चित्र दिये गये होते तो उनकी सार्थकता समझ में आती अथवा अपने मौलिक चित्रों का कोई स्वतंत्र संकलन छापा जाता तो उचित होता, पर ऐसी पुस्तक में स्वयं 'दाली', 'सिकारो', 'लियोनार्डो डा विंशी' और 'माइकेल ऐंजिलो' की विश्व-विख्यात कृतियों के साथ अपने चित्रों को समाविष्ट करना लेखक-चित्रकार के ही हित में नहीं हुआ है। इस बात को और मैं किस प्रकार कहूँ।

कलाकार केवल आत्मदान ही नहीं करता। उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य संवेदना के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूपों का अपनी सर्जनशील प्रतिभा द्वारा संस्पर्श करते हुए सामाजिक रुचि का, व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर प्रवेश करते हुए, संस्कार करना होता है। मुझे भाई रा० च० शु० की कला में उस चयन एवं अनुशासन का अभाव लगता है, जो प्रयोगों को मूल्यवत्ता प्रदान करता है। पुस्तक के आवरण पर उनका जो बहुवर्णी रेखा-चित्र मुद्रित है, उसमें ज्यामितिक रूप-विधान के साथ मित्र-शैली की मुखाकृति, और पुष्पांकन भी, दोनों एक साथ बिना आंतरिक संगति का ध्यान किये समाविष्ट कर लिये गये हैं। यदि चित्र का विषय 'उपहार' जैसा भावपरक न होता तो किसी विरोधात्मक संगति को खोजने की चेष्टा की जाती, पर जैसा चित्र है, उसमें तो वे रेखाएँ बाह्यारोपित ही लगती हैं। शिक्षण आदि किसी अन्य मंतव्य से भी ऐसा 'सांकर्य' श्लाध्य नहीं कहा जा सकता। इसी पुस्तक में छपा उनका 'रेखा-नृत्य' शीर्षक चित्र रेखा-शक्ति, रूप-विधान और वर्ण-संयोजन सभी दृष्टियों से इससे अच्छा और सराहनीय प्रतीत होता है। 'सूक्ष्म सृष्टि-कारी काल्पनिकता' का उद्घोष करना सरल है पर रचनात्मक संगति और कल्पनात्मक संयोजन के भीतर सूक्ष्म विवेक अनस्यूत करना कठिन है। एक श्रेष्ठ कलाकार के लिए यह विवेक परम आवश्यक होता है।

इसमें संदेह नहीं कि शुक्ल जी की भाषा प्रवाहमयी और जानदार है पर उसमें कुछ चिंत्य प्रयोग भी मिलते हैं जैसे 'कुछ दिन मौज से बीता' (पृ० ४९) 'राहत दिया' (पृ० ४७), 'पक्षियों का लय उतर आता है' (प० १८) 'ऐसा कंपन या संवेग हमेशा उठा करते हैं।' (पृ०५), 'पत्नी. . बताया जाता है।' (पृ० ४२)। लय शब्द का पुंलिंग प्रयोग तो किया ही गया है पर 'जैसी लय' (पृ० ५) में स्त्रीलिंग प्रयोग भी हुआ है अतः लेखक सही प्रयोग से सर्वथा अनभिज्ञ भी नहीं दिखायी देता। यह अनिश्चय शब्द रूपों में भी मिलता है जैसे 'ऐंजेलो' 'अैंजेलो'। दो मात्राओं से यक्त ऐसा स्वर रूप गुजराती लिपि में मिलता है, प्रचलित देवनागरी में नहीं। लेखक ने दोनों रूप प्रयुक्त किये हैं।

(द्रष्टव्य पृ० २६ तथा ४२)। अपनी पूर्व पुस्तक में 'सेज़ाँ' रूप प्रयुक्त करने के बाद इसमें 'सेजान्न' रूप प्रयुक्त किया गया है जिसे विकार तो कदापि नहीं माना जा सकता। विदेशी शब्दों के उच्चारण-रूपों का यह अनिश्चय वास्तव में एक व्यापक समस्या है और हिंदी में अनेक रूप चलते भी हैं। तथापि एक ही लेखक अपनी विभिन्न पुस्तकों में विभिन्न रूप रखे हैं, यह थोड़ा आपत्तिजनक लगता है। 'मोनालिसा' और 'मोनालीसा' की भी यही स्थिति है। पृष्ठ ६१ पर मुद्रित विष्णु-धर्मोत्तर पुराण के दो श्लोकों में 'हाइफन' कई जगह ग़लत और आवश्यक रूप से लगा हुआ है। 'भारतीय चित्रकला' शीर्षक लेख पृ० ७८ पर समाप्त हो जाता है। पर 'फ़ोलियो' इसी का 'काशी शैली का विकास' नामक अगले लेख में भी चलता रहा है। मैं जानता हूँ कि कुछ ऐसी त्रुटियाँ मुद्रणालय के कारण हो जाती हैं। कोई लेखक नहीं चाहता कि पुस्तक सदोष मुद्रित हो परन्तु प्रश्न उत्तरदायित्व के निर्वाह का है। दायित्व लेखक और प्रकाशक दोनों का होता है। जो बातें अखरती हैं उनकी ओर दृष्टि ले जाना कर्तव्य हो जाता है क्योंकि उद्देश्य कला के क्षेत्र में हिन्दी-प्रकाशनों का स्तरोन्नयन है और मैं समझता हूँ कि शुक्ल भाई इसमें मेरे साथ होंगे कि जहाँ तक हो, इस दिशा में सम्मिलित प्रयत्न से स्थिति जितनी भी सुधारी जा सके, सुधारी जाय।

जितनी संलग्नता से रामचंद्र शुक्ल कला के क्षेत्र में सक्रिय रहे हैं, उतनी मुझे समवयस्कों में बहुत कम दिखायी देती है। कलाकार के रूप में वे 'लियोनार्डो डा विंशी' से प्रेरित होने का वरदान 'झा साहब' से पा चुके, यह स्पृहणीय अनुभव 'आत्मचिंतन' में उन्होंने मार्मिक रीति से लिखा है (पृ० ८-१०)। कला-समीक्षा के क्षेत्र में भी उन्हें 'क्रोचे' या 'कुमारस्वामी' वनने का वरदान यदि उन्हीं से प्राप्त हो गया होता तो कला और उसकी समीक्षा में अद्भत संतुलन स्थापित हो जाता। क्या मैं एक कलाकार मित्र के नाते यह आशा करूँ कि इस दिशा की प्रेरणा वे स्वतः अपने संकल्प से उद्भूत करने में सफल होंगे। मुझे उनकी संकल्प-शक्ति में पूरा विश्वास है।

—जगदीश गुप्त,
मोतीमहल, दारागंज, इलाहाबाद।

भाषा-विज्ञान कोश

लेखक डॉ० भोलानाथ तिवारी। प्रकाशक—ज्ञानमंडल, वाराणसी। सं० २०२० मूल्य २५.००।

ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी ने विगत वर्षों में अनेक महत्वपूर्ण कोश प्रकाशित किये हैं। उनकी इस माला में सबसे नया ग्रंथ डॉ० भोलानाथ तिवारी का 'भाषा-विज्ञान-कोश' है। डॉ० तिवारी ने इस कोश की तैयारी में बहुत परिश्रम किया है और मेरा विश्वास है कि यह ग्रंथ भाषाविज्ञान के सामान्य अध्येताओं, विशेषकर विद्यार्थियों के लिए अत्यंत उपयोगी होगा।

इस कोश में वर्णानुक्रम से भाषाओं तथा बोलियों के नामों, भाषा-परिवारों तथा भाषा-विज्ञान के अनेक पारिभाषिक शब्दों के परि-

चयात्मक विवरण दिये गये हैं, जो इस विषय के ग्रंथों में प्रायः प्रयुक्त होते हैं अथवा जिनका इस विषय के संदर्भ में महत्व हो सकता है। यद्यपि इसे भाषा-विज्ञान के पूर्ण पारिभाषिक कोश की संज्ञा देना अथवा यह दावा करना कि इसके सभी विवेचन पूर्ण या सर्वत्र अद्यतन हैं, यक्तियुक्त नहीं होगा। तो भी सामान्यतः विवरण पांडित्यपूर्ण ढंग से लिखे गये हैं। इस कोश की सहायता से शब्दों के विविध प्रयोगों और अर्थों की जानकारी प्राप्त करने में अनल्प सहायता मिलेगी। संपादन में यथासंभव सावधानी बरती हुई है। परन्तु कहीं-कहीं मुद्रणालय की त्रुटि या अनवधानता के उदाहरण भी मिल जाते हैं। जैसे पृष्ठ २ कालम १ में: **अंग्रेज़ी भाषा रोमन लिपि में लिखी जाती है** वाक्य दो बार अनावश्यक रूप में आ गया है (पंक्ति २ तथा ९)। इसी प्रकार 'अंतस्थ' शब्द का भी विवरण दो जगह दे दिया गया है (पृष्ठ ३, कालम २, पंक्ति ४ तथा पृष्ठ ३, कालम १, पंक्ति १४)।

यह अभाव भी खटकता है कि जहाँ तक पारिभाषिक शब्द अनेक अर्थों में प्रयक्त हुआ है अथवा जहाँ किसी प्राचीन आधार-ग्रंथ का उल्लेख है, वहाँ विषय के स्पष्टीकरण की दृष्टि से उदाहरण और संदर्भ-निर्देश नहीं दिये गये हैं। ऐसे उदाहरणों और निर्देशों से ग्रंथ की उपादेयता और बढ़ जाती है।

कोश में वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान के शब्द कम हैं, ऐतिहासिक शब्दों की संख्या अधिक है। कहीं-कहीं कुछ महत्वपूर्ण शब्द छूट भी गये हैं, जैसे 'स्फोटवाद' के संदर्भ में 'बेखरी'। इसी प्रकार अनेक बोलियों के नाम भी इसमें नहीं आ पाये हैं, जैसे 'कुरमाली'।

'ब्रजबुलि' का विवरण अत्यंत संक्षिप्त है। इससे यह बोध नहीं होता कि 'ब्रजबुलि' का विकास कब और किस तरह हुआ तथा इसका साहित्य कब से कब तक लिखा गया। व्याख्याताओं से भी प्रतीत होता है कि किसी विषय पर विभिन्न विद्वानों के मत प्रस्तुत करने की ओर विशेष रूप से ध्यान चले जाने के कारण कहीं-कहीं विषय का सांगोपांग स्पष्टीकरण नहीं हो पाया है। यह प्रवृत्ति विशेषकर 'ध्वनिविज्ञान' और 'अक्षर' की व्याख्याओं में देखी जा सकती है। इसी प्रकार 'मार्फ़' और 'मार्फ़ीम' का अंतर भी स्पष्ट नहीं किया गया है। 'मार्फ़ीम' के अनेक भेद भी छोड़ दिये गये हैं, जैसे, 'युनीक मार्फ़ीम'।

भाषा-विज्ञान संबंधी उदाहरणों में ध्वन्यात्मक लिपि का सहारा नहीं लिया गया है। भाषा-विज्ञान के कोश में इन नियमों के पालन की आशा की जा सकती है। जहाँ कहीं ऐसे प्रयत्न किये भी गये हैं, वहाँ वर्तनी में एकरूपता नहीं है। स्वरहीन व्यंजन के लिए कहीं हलंत चिह्न लगाया गया है, तो कहीं आधे व्यंजन से काम लिया गया है। यही बात ध्वनिग्रामों में भी लक्षित होती है।

ग्रंथ में लिपियों के संबंध में 'खरोष्ठी' लिपिपर काफ़ी सामग्री एकत्र की गयी है। किंतु विवेचन के कुछ अंश चिंत्य हैं। वस्तुतः खरोष्ठी के विवरण में प्रारंभ में ही यह बतलाया जाना चाहिए था कि इस लिपि की विशेषता क्या है और यह किस क्षेत्र में प्रचलित थी। बहुत दूर जाकर एक चलते ढंग से यह कह दिया गया है कि यह लिपि दायें से बायें को लिखी जाती है। वस्तुतः यह कथन प्रारंभिक वाक्य में ही आना चाहिए था। 'खरोष्ठी लिपि' का क्षेत्र-विस्तार नहीं बताया गया है। इसके प्रचलन-काल के विषय में भी ध्यान देने की

बात है कि वस्तुतः यह लिपि अशोक के समय से अर्थात ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से ईसा की चौथी शताब्दी तक प्रचलित थी, न कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से ईसा की तीसरी शताब्दी तक।

जो हो, इस कोश में भाषा-विज्ञान के अनेकानेक जटिल विषयों का विवेचन बहुत ही सुबोध और प्रविज्ञ ढंग से हुआ है। निस्संदेह डॉ० तिवारी का यह अभिनव प्रयास हिंदी के संदर्भ-साहित्य की अमूल्य उपलब्धि है।

ग्रंथ के अंतिम भाग में अंग्रेजी-हिंदी शब्द-सूची जोड़ कर तिवारी जी ने अच्छा ही किया है। इससे ग्रंथ की उपादेयता बढ़ जाती है। इस सूची में जो हिंदी पर्याय प्रयक्त हुए हैं, उनको भी प्रस्ताव ही माना जाना चाहिए। तिवारी जी द्वारा प्रस्तुत हिंदी पर्यायों द्वारा अंतिम रूप में स्वीकार करने के पूर्व इस विषय पर अभी और विचार अपेक्षित है।

—नीलकंठ उपाध्याय,
दिल्ली।

झरोखे

देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' के संस्मरण। कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल। सन् १९६४। मूल्य : २.५०।

परंतु अपने जीवन के अंतिम चरण में मुझे अपनी पुस्तकों से जब इतनी आय नहीं कि मैं अपने ढलते शरीर और मस्तिष्क को कुछ विश्राम दे सकूँ, तो मुझे लगता है कि हिंदी-संसार शायद जीवित साहित्यकार की नहीं, उसकी समाधि की पूजा करने का ही अभ्यस्त है। यह है आलोच्य पुस्तक का सर्वाधिक मर्मस्पर्शी स्थल। इसके बाद जिस दूसरे स्थल पर आँखें रुकतीं और डबडबा आती हैं वह है कृतियों के सर्वाधिकार प्रकाशकों को दे देने की करुण कहानी का। इस प्रसंग में लेखक ने लिखा है: **किसी भी पत्र-पत्रिका से अपनी सेवाओं के फलस्वरूप मिलने वाले वेतन से मेरा सारा घर-खर्च कभी पूरा नहीं चल सका। वेतन से तो रूखी-सूखी दाल-रोटी ही किसी तरह चलती रही। अतः जीवन-डगर पर आने वाले अप्रत्याशित संकटों से त्राण पाने के लिए मुझे अपनी अधिकांश साहित्यिक कृतियों के सर्वाधिकार प्रकाशकों को दे देने पड़े। कुछ कहानी-संग्रह और उपन्यास तो मुझे केवल पचास-पचास रुपये में ही मिट्टी के मोल बहा देने पड़े।...**

इन दो स्थलों के अलावा और भी कई स्थल ऐसे हैं, जो द्रवित तो करते ही हैं, साथ ही घृणा, क्रोध और विद्रोह का भाव जगाने का भी काम करते हैं। पत्रकारिता का क्षेत्र अस्थिर और डाँवाडोल होने, परिणामस्वरूप पत्रकारों की प्रतिभा के दीपक टिमटिमाते-टिमटिमाते बुझ जाने, जीविका के संबंध में पत्रकार के बराबर सशंक रहने और अंत में सेवा-भाव से बहुत दूर छिटक जाने या पत्रकारिता को 'प्रणाम' करने की स्थिति का जो अनुभव लेखक ने किया है वह अधिकांश पत्रकारों पर सटीक उतरता है। इसी प्रकार पत्र-संचालकों के असीम शोषण तथा पत्रकारों और साहित्यकारों की दलबंदी आदि के चित्र प्रस्तुत 'झरोखे' से अच्छी तरह देखे जा सकते हैं। प्रस्तुत पुस्तक अपने लेखक की ही नहीं, बहुतेरे लेखकों और पत्रकारों की घायल भावनाओं, अंतर्द्वन्द्वों और अंतर्विरोधों

का प्रतिनिधित्व करती है। 'मस्त जी' जैसे साहित्यकारों और पत्रकारों की संस्मरणात्मक पुस्तकें तो ऐसी होनी ही चाहिए। किंतु अगर विशेष सामाजिक परिस्थितियों के साथ ही लेखक के अंतर को भी ठीक से प्रतिबिंबित करने वाले दर्पण का काम पुस्तक नहीं करती तो मात्र प्रलाप-प्रसंग रह जाती है। ऐसी पुस्तकों की प्रयोजनीयता इसी बात में है कि लेखक अपने को छिपाने की कोशिश न करे। जहाँ लेखक ने ऐसा किया कि पुस्तक औरों के हृदय का दर्पण बनने से वंचित हुई।

प्रस्तुत पुस्तक में जहाँ-तहाँ ऐसा लगता है कि लेखक ने अपने को कुछ छिपाने की कोशिश की है। इस प्रसंग में लेखक के बारे में एक तथ्य तो यही है कि जहाँ कुल मिला कर सामान्यतः प्रकाशकों और पत्र-संचालकों के प्रति क्षोभ और असंतोष काफ़ी उभरे दिखायी देते हैं, वहीं अपने को आश्रय देने वाले प्रकाशकों और पत्र-संचालकों के प्रति स्वर बड़े विनम्र और आभारपूर्ण हो गये हैं। 'मस्त' जी के कटु अनुभवों में वह अनुभव उन्हें सबसे अधिक पीड़ा देने वाला रहा है जो 'श्रमजीवी पत्रकारों की समस्याएँ' शीर्षक संपादकीय नोट के पत्र-संचालक द्वारा रोके जाने पर हुआ था। वह स्वयं लिखते हैं : **...अपने निष्पक्ष विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता भी जब किसी पत्रकार को नहीं दी जाती और प्रत्यक्ष या परोक्ष नियंत्रण की शिला से उसे दबा दिया जाता है, तब उसका अपना व्यक्तित्व और महत्व ही क्या?** किंतु यहीं हम देखते हैं कि जब संचालक बड़े तीखे स्वर में यह कहता है कि, **'यह सब आपने क्या लिख डाला'** तब लेखक को इस संपादकीय नोट के रोक देने में अपने 'बाबू' की 'सजगता, गंभीरता और व्यावहारिक कुशलता की गहरी छाप' का दर्शन होता है। इतना ही नहीं, लेखक की सारी पीड़ा संतोष——मधुर संतोष——में बदल जाती है। वह लिखते हैं : **संचालक की आज्ञा का पालन तो मुझे करना ही पड़ता; परंतु उन्होंने सीधी आज्ञा न दे कर मुझे अपनी संभाव्य कठिनाइयाँ बता कर ही अपनी इच्छा प्रकट की। दूसरों की प्रतिभा को परखने और उसका सम्मान करने की ऐसी क्षमता बहुत कम पत्र-संचालकों में पायी जाती है।** अपने इन्हीं 'बाबू' के प्रति जब लेखक 'प्रखर प्रतिभा के धनी और गहन-गंभीर' शब्द-पुष्पांजलि अर्पित करता है तो मुँह से श्लिष्टोक्तियुक्त 'वाह' अपने आप निकल पड़ती है। लगता है लेखक के मन पर उस समय जो थोड़ा-बहुत घाव लगा था उसे उन्होंने 'अपनी प्रवृत्ति विशेष' के साथ मिले 'भोलेपन' का मलहम लगा कर अच्छा कर लिया है और अब घाव की मात्र स्मृति रह गयी है।

पुस्तक के अंत में लेखक ने लिखा है : **...कदाचित व्यवसायी होते ही मनुष्य की शालीनता और संवेदनशीलता बहुत अंश तक खो जाती है। व्यवसाय चाहे गंगा-जल का हो या साहित्य का, उसके मूल में अनेक बार स्वार्थ-वृत्ति रहती है।** यहाँ 'कदाचित', 'बहुत अंश' और 'अनेक बार' शब्दों को अगर ज़्यादा तूल न दिया जाय तो यह माना जा सकता है कि लेखक को व्यवसायी वर्ग के चरित्र का (वर्ग-चरित्र का) बोध है। किंतु ऐसा मालूम पड़ता है कि उनका यह बोध उनके दिल और दिमाग़ में ज़्यादा गहराई तक नहीं डूबा है, अन्यथा उन्होंने 'बाबू' के निम्नलिखित शब्दों में उनकी (बाबू की) अपने वर्ग के प्रति जागरूकता का ठीक से दर्शन कर के व्यक्तिगत 'एहसान' की भावना से ऊपर उठने की कोशिश का परिचय

पुस्तक में दिया होता। बाबू ने उनसे कहा था : **'प्रकाशकों पर आक्षेप करने का अर्थ है संस्थाओं पर आक्रमण। मैं संस्थाओं पर आक्रमण नहीं करना चाहता, कारण मैं भी उन्हीं की जाति का हूँ--मैं भी प्रकाशक हूँ।'**

अपने को बुद्धिवादी और तर्कप्रवण मानने वाले मध्यवर्गीय लेखक मीठी-मीठी बातों के फेर में पड़ कर और व्यक्तिगत संबंधों तथा भावनाओं में बह कर किस प्रकार आत्मप्रवंचित होते रहते हैं और पूरे वर्ग-चरित्र को नहीं देख पाते, इसका एक और उदाहरण एक अन्य प्रकाशक की स्तुति में मिल जायगा। स्तुति के पूर्व लेखक महोदय यह सोचना भूल जाते हैं कि जिस प्रकाशक के प्रति वह इतना आभार प्रकट कर रहे हैं उसी ने दूसरों को जाने कितनी ठोकरें लगायी होंगी।

पुस्तक का 'पत्रकारिता का प्रारंभ : डॉ० मिश्र के साथ' वाला अंश संस्मरण की दृष्टि से अनावश्यक लगा। यह अंश संस्मरण न हो कर अधिकांश रूप में डॉ० द्वारकाप्रसाद मिश्र पर एक लेख हो गया है। जिस व्यक्ति से लेखक को 'डगमगाते क्षणों में प्रकाश-स्तंभ की भाँति जीवनदायिनी प्रेरणा' मिली उसके संपर्क में आने के कुछ रोचक प्रसंग, उसके द्वारा मिले प्रोत्साहन के कुछ शब्द, उसके साथ हुई कुछ विशेष वार्ता या पत्र-व्यवहार या भेंट-मुलाक़ात और उसके तथा अपने बीच घटी किसी घटना का उल्लेख दिये इस अंश में होता तो इसे संस्मरण का एक अंग माना जा सकता था। पृष्ठ ७२ से पृष्ठ ८० तक केवल ७८वें पृष्ठ के प्रथम और चतुर्थ अनुच्छेद को छोड़ कर और कहीं लेखक के 'सिंहासनारूढ़ आराध्य' मुखरित नहीं हुए हैं। देखिए, लेखक के निम्नलिखित शब्द स्वयं ही उनकी प्रवृत्ति का चित्रण कर देते हैं: **प्रस्तुत संस्मरण यहीं समाप्त हो जाता, यदि कुछ समय पूर्व मेरी यह पुस्तक प्रकाशित हो चुकी होती। किंतु यह जब हो नहीं सका तो मिश्र जी की उस राजनीतिक उपलब्धि का समावेश करने का लोभ-संवरण करना सहज संभव नहीं, जिसने एक पत्रकार और साहित्यकार को मध्य प्रदेश के सर्वोच्च शासकीय सिंहासन पर पदारूढ़ कर दिया है।** इससे क्या यह ध्वनि नहीं निकलती कि जिससे 'जीवनदायिनी' प्रेरणा मिली वह यदि सर्वोच्च शासकीय सिंहासन पर पदारूढ़ न हुआ होता तो उसके बारे में इतना लंबा-चौड़ा उल्लेख पुस्तक में न होता?

शासन के बारे में तो 'मस्त' जी काफ़ी दबी ज़बान से बोलते हैं। इसका कारण शायद यह है कि वह एक राज्य (मध्यप्रदेश) के सूचना तथा प्रकाशन विभाग में पहुँच गये हैं। एक स्थान पर उन्होंने यह स्वीकार अवश्य किया है कि **...कदाचित इस भयावह स्थिति का सामना कर सकने में अपने को अक्षम पा कर ही अनेक साहित्यकार अपने स्वाभिमान और अपनी रुचि के विपरीत पूँजीपतियों अथवा शासन के इंगित पर अपनी कला का गला घोंटने पर विवश विपन्न दीखते हैं।** किंतु इतना कहने के साथ ही लेखक को इस बात से संतोष मालूम पड़ता है कि **जब से हमारा देश स्वतंत्र हुआ है, अपने देश में अपना राज हुआ है, तब से शासक वर्ग ने साहित्य और साहित्यकारों को प्रोत्साहित करने का ध्यान रखते हुए हिंदी के बहुसंख्यक प्रतिभा-संपन्न साहित्यकारों को या तो सूचना विभाग में अथवा आकाशवाणी केंद्रों में नियुक्त कर लिया है। यह सर्वथा अभिनंदनीय है।** इतना कहने के बाद जब लेखक महोदय यह भी कहते हैं:

इससे साहित्यकारों की अथक कठिनाइयाँ निश्चय ही दूर हो रही हैं; किंतु उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा विकसित होने के स्थान पर कुंठित होने लगी है। इस कटु सत्य को यदि समय रहते साहित्यकारों ने ध्यान न दिया तो यह राजाश्रय भी हिंदी के लिए वरदान नहीं, अभिशाप सिद्ध होगा। यहाँ समझ में नहीं आता कि 'अभिनंदनीय' और 'अभिशाप' का मेल कैसे बैठाया जाय! यहीं हमारा ध्यान मासिक 'आजकल' के तत्कालीन संपादक श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार के ३० अगस्त, १९५५ के उस पत्र की ओर जाता है जिसमें उन्होंने यह लिखा था कि **यह पूरा का पूरा लेख सरकारी पत्र में छापना संभव नहीं होगा।** इससे प्रश्न उठता है कि क्या इसकी भी कोई प्रतिक्रिया लेखक के मन पर पड़ी? क्या इस बात पर भी कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं थी कि लोकतंत्र का दम भरने वाली सरकार के पत्रों में संपादक और लेखक की कोई स्वतंत्रता नहीं है?

राजाश्रय पा कर 'सेवक' बन जाने की वेदना लेखक को कुछ-कुछ है। तभी तो वह कहते हैं: **यदि हिंदी पत्रकारों का कोई शक्तिशाली संगठन होता तो मेरे पत्रकार-जीवन के पचीस वर्ष समाप्त होने पर––रजत जयंती के उपलक्ष में––मुझे क्रियात्मक पत्रकारिता के क्षेत्र से ही मौन-मूक रह कर सदा के लिए संन्यास न ले लेना पड़ता।**

पुस्तक में लेखक की एक कमज़ोरी उस स्थान पर पकड़ में आती है जहाँ उन्होंने लिखा है: **आज तो बहुधा देखा जाता है कि अनेक पत्र-संचालक तराज़ू के बटखरों की भाँति संपादकों को बदलते रहते हैं। पत्र की उन्नति के लिए अथवा संपादक की स्वेच्छा से ऐसा परिवर्तन किया जाय तो किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती।** यहाँ कुछ संपादकों ही द्वारा पीड़ित सह-संपादकों की ओर से पूछा जा सकता है कि संपादकों की स्वेच्छा से ही ऐसा परिवर्तन क्यों? क्या ऐसी स्वेच्छा में कहीं 'स्वेच्छाचार' नहीं हो सकता?

पुस्तक के आवरण पर प्रकाशक की ओर से यह कहा गया है कि प्रस्तुत पुस्तक में कहानी की रोचकता और उपन्यास की रंगीनी है। किसी संस्मरणात्मक पुस्तक में ऐसा होना ही चाहिए। और फिर, जब किसी कथाकार और उपन्यासकार ने संस्मरण लिखा हो तो उसमें तो कहानी की रोचकता और उपन्यास की रंगीनी ज़रूर ही आनी चाहिए। किंतु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि 'मस्त' जी के 'झरोखे' में ऐसा कुछ नहीं हो सका है। 'पत्रकारिता का प्रारंभ : डॉ० मिश्र के साथ' वाले अंश के बारे में तो हम ऊपर लिख ही चुके हैं: इसके अलावा, जो शेष स्थल हैं उनमें से भी अधिकांश में आये लंबे-लंबे 'वक्तव्यों' और 'वर्णनों' से रही-सही 'रोचकता' और 'रंगीनी' दब जाती है।

––हेरम्ब मिश्र,
'भारत', संपादकीय विभाग,
लीडर कॉलोनी, इलाहाबाद।

पत्र-प्रतिक्रियाएँ

गत जनवरी के 'माध्यम' में श्रीराम वर्मा द्वारा प्रस्तुत 'नीरज' के गीत-संकलन 'गीत भी अगीत भी' की चलती समीक्षा पढ़ कर अत्यंत क्षोभ हुआ। किसी भी बिंदु पर ये अपने दृष्टिकोण में निस्संग और वस्तुपरक नहीं हैं। यह समीक्षा व्यक्तिगत आक्षेप मात्र बन कर रह गयी हैं। समीक्षक जी का 'नीरज' को 'चोर कवि', 'लोकप्रियता का शिकार', 'कुरुचि एवं ह्रास को बढ़ावा देने वाला', 'अर्थकामी एवं यशःकामी', 'कवि-सम्मेलन के मंच को चलाने वाला', 'जनता को धोखा देने वाला' आदि कहना और यह दावा करना कि उनकी 'कविताओं में दूसरों के भाव, दूसरे की पंक्तियाँ भरी पड़ी रहती हैं', नितांत अविवेकपूर्ण है।

वर्मा जी ने जहाँ एक ओर नीरज की कविताओं पर मीर, मजाज, फ़िराक आदि शायरों का संश्लिष्ट प्रभाव दिखलाया है, वहीं उनमें एक साथ ही मीराँ की तन्मयता, कबीर की खीझ, रीतिकालीन कवियों की रीतिबद्धता तथा प्रयोगवादी कवियों की प्रयोगशीलता देख कर उन्हें सभी धाराओं से बोरियत की सृष्टि करने वाला व्यक्तित्वहीन कवि मान लिया है। 'नीरज' की कविताओं पर बाह्य प्रभाव पड़े हैं, यह एक हक़ीक़त है, किंतु यह कहना कि इससे आगे उनकी कविता कुछ है ही नहीं, सत्य से बहुत दूर भटक जाना है। प्रभावों में आना कोई बुरी चीज़ नहीं है। भाव तो सभी पुराने होते हैं; केवल उनकी अभिव्यक्ति का तरीक़ा नया होता है। 'चोरी' और 'प्रभावित होना'--दोनों दो वस्तुएँ हैं। मौलिकता एक श्रुति (मिथ) है। क्या लैंगलैंड, बनियन, ड्राइडेन, कीट्स, यीट्स, तुलसी, निराला सभी चोर थे? लैंगलैंड तथा बनियन की कविताओं में बाइबिल बोलती है, ड्राइडेन शेक्सपियर की कथाओं को दुहरा रहा था, कीट्स ग्रीक बन गया, यीट्स, तुलसी और निराला पर वेदांत और अन्य भारतीय चिंताधाराओं का सम्मिलित प्रभाव है। इसी तरह 'नीरज' की कविताओं के भी अनेक स्वर हैं--कुछ अपने, कुछ समवेत। नीरज के अलंकार बासी नहीं पड़ सकते, न उनकी व्यंजनाओं की शक्ति ही क्षीण हो सकती है। उनकी कल्पना और भाषा का जादू बराबर चलता रहेगा। नीरज हमेशा स्पर्धा की वस्तु बने रहेंगे।

--गुप्तेश्वर प्रसाद,
अंग्रेज़ी विभाग,
सच्चिदानंद सिन्हा कॉलेज, औरंगाबाद,
(गया)।

'माध्यम' के फ़रवरी अंक में श्री ललित मोहन अवस्थी का 'प्रगतिवादी हिंदी-काव्य: भाव-वैभव और कला-सौष्ठव' आलोचनात्मक निबंध पढ़ कर मन को संतोष हुआ कि अभी भी ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो

निष्पक्ष भाव से कार्य कर रहे हैं। उनमें अवस्थी जी का नाम लिया जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। निबंध पर्याप्त परिश्रम एवं अध्ययन के बाद लिखा गया है। साथ ही, लेखक ने इसे बोधगम्य बनाने के साथ-साथ इसमें पर्याप्त नवीनता लाने का प्रयास भी किया है। मैं यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि ऐसा खोजपूर्ण लेख या निबंध अभी तक प्रगतिवाद पर नहीं छपा है। इन्होंने प्रगतिवाद के क्रमिक विकास को बताते हुए सुविधा के लिए तीन दशक बना दिये हैं, जो निबंध को स्पष्ट एवं सरल बना देता है। फिर भी वे कुछ प्रगतिवादी कवियों को भूल गये हैं, जिन्होंने स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व कविताएँ लिखी थीं तथा उनके संग्रहों पर राजकीय पुरस्कार भी मिल चुके हैं। इनमें सर्वश्री डॉ० जयनाथ 'नलिन' का नाम लिया जा सकता है जिनके 'धरती के बोल' एवं 'यामिनी' दो संग्रह प्रकाश में पर्याप्त समय पूर्व आ चुके हैं। मेरे विचार में तो नलिन जी का नाम दूसरे या तीसरे दशक के श्रेष्ठ लेखकों में गिना जा सकता है।

––हुकुमचंद,
हिंदी विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र।

'माध्यम' के जनवरी मास के अंक में मधुविद्या की व्याख्या करते हुए वेद-विद्या के आधुनिक महीधर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है: "इंद्र ने अश्विनीकुमारों को मधुविद्या का उपदेश दिया था।" पर ऋग्वेद, प्रथम मंडल के ११६ सूक्त के बारहवें मंत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि दध्यङ आथर्वण ने अश्विनीकुमारों को मधुविद्या का उपदेश दिया था। दध्यङ आथर्वण को मधुविद्या इंद्र से मिली थी और यह शर्त भी थी कि यदि वे किसी दूसरे को मधुविद्या बतलायँगे तो इंद्र उनका शिर काट देंगे। अश्विनीकुमारों ने इसकी तैयारी की और दध्यङ आथर्वण का शिर काट कर अन्यत्र सुरक्षित रखा तथा उसके स्थान पर अश्व-शिर जोड़ दिया। तब दध्यङ आथर्वण ने अश्व के शिर से उन्हें मधुविद्या का उपदेश दिया। इसके बाद इंद्र ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और ऋषि का अश्व-शिर काट दिया। इसके अनंतर अश्विनीकुमारों ने दध्यङ् आथर्वण के शिर को फिर से जोड़ दिया और अपनी शक्ति का परिचय दे कर ऋषि की रक्षा की।

तत् वाम् नराः सनये दंस उग्रम्
आविः कृणोमि तन्यतु न वृष्टिम्
दध्यङ् ह तत् मधु आथर्वणः वाम्
अश्व्यस्य शीर्ष्णा प्रयत् इम् उवाच।
(ऋग्वेद १।११६।१२)

इस मंत्र के भाष्य में सायण ने लिखा है:

अत्रेयमाख्यायिका। इन्द्रो दधीचे प्रवर्ग्यविद्याम् मधु विद्याम् च उपदिश्य यदि इमाम् अन्यस्मै वक्ष्यसि शिरस्ते छेत्स्यामीत्युवाच। ततो अश्विनौ अश्व्यःशिरः छित्वा दधीचः शिरः उच्छिद्य अन्यत्र निधाय तत्र अश्व्यः शिरः प्रत्यधत्ताम्।

तेन च दध्यङ् ऋचः सामानि यजूंषि च प्रवर्ग्यं विषयाणि मधुविद्या प्रतिपादकम् च ब्राह्मणम् च अश्विनौ अध्यापयामास।

तदिन्द्रो ज्ञात्वा वज्रेण तच्छिरो अच्छिनत्। अथ अश्विनौ तस्य स्वकीयम् मानुषम् शिरः प्रत्यधत्ताम् इति शास्यायन वाजसनेययोः प्रपंचेन उक्तम्।

उपर्युक्त तथ्य की गवाही में डॉ० अग्रवाल का तथोक्त कथन भ्रामक प्रतीत होता है।

—बैद्यनाथ शास्त्री,
हिंदी विभाग,
सिलीगुड़ी कालेज, डा०, सिलीगुड़ी,
जि०, दार्जिलिंग।

'**मा**ध्यम' इस अप्रैल अंक के साथ साल पूरा कर रहा है। बारह अंकों में ही इसने जितनी महत्वपूर्ण सामग्री दी है, हिंदी के कई साहित्यिक मासिक पत्र नहीं दे पाये हैं। 'माध्यम' ने किसी एक दल या संप्रदाय के लेखकों पर आग्रह और आस्था नहीं की है, शायद, यह बात ही इसे सफल करने में सहायक हो सकी है।

—राजकमल चौधरी, पटना।

आपका 'माध्यम' निःसंदेह आधुनिक लेखन की सभी विधाओं का स्वस्थ माध्यम है। सभी सामग्री साहित्यिक एवं पठनीय होती है। इस परंपरा के आलोक में यह ज़रा समझ में नहीं आया कि जिस पत्रिका में द्विवेदी जी के 'देवदारु' जैसे उच्च कोटि के निबंध छपते हैं उसमें 'पौरुष और प्रेम' जैसा वचकाना एकांकी छाप कर पत्रिका के २२ मूल्यवान पृष्ठ क्यों व्यर्थ काले किये गये।

वस्तुतः बच्चन जी की नयी रचनाओं को पढ़ कर जी चाहता है कि उनसे कहें कि ये सब आप न लिखते तो अच्छा था। लगता है, वह बच्चन, जिनकी सैकड़ों कविताएँ कंठस्थ थीं, अब कहीं खो गये हैं अथवा आज के यथार्थवादी युग में उनका बौद्धिकीकरण हो गया है।

—ज्ञान अस्थाना, विजयवाड़ा।

अच्छे क़िस्म की चाय
के निर्माता

••

बोरसीला टी इस्टेट

•

पो० आत्माराम कंपनी
इंडिया एक्सचेंज
कलकत्ता–१

हिंदी कहानी की अवरुद्ध वीथियों में
नये आयामों की खोज का प्रतीक

'आधार' का सचेतन कहानी विशेषांक

जिसमें—

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, श्री राजीव सक्सेना, डॉ० प्रभाकर माचवे, श्री वीरेन्द्रकुमार गुप्त, डॉ० श्याम परमार और डा० महीप सिंह के सचेतन-प्रवृत्ति-मूलक लेख।

श्री जगदीश चतुर्वेदी और डॉ० श्याम परमार द्वारा श्री जैनेन्द्र कुमार से लिया हुआ हिंदी कहानी की अधुनातन प्रवृत्तियों पर एक अभिनव इंटरव्यू—

तथा

सर्वश्री आनंदप्रकाश जैन, कमल ज़ोशी, कुलभूषण, जगदीश चतुर्वेदी, धर्मेन्द्र गुप्त, प्रियदर्शी प्रकाश, बलराज पंडित, मधुकर सिंह, ममता अग्रवाल, महीप सिंह, मनहर चौहान, योगेश गुप्त, रामकुमार भ्रमर, वेद राही, शक्तिपाल केवल, श्याम परमार, शकुन्तला शुक्ल, सुखवीर, हृदयेश और हिमांशु की सचेतन कहानियाँ हैं।

संपादक—डॉ० महीप सिंह

पृष्ठ—२५० से अधिक : मूल्य—२ रु०-५० पै० : रजिस्ट्री से—रु० ३-००

वितरक :
हिंदी भवन—३७०, रानी मंडी इलाहाबाद—३

महान कलाकारों की प्रारंभिक रचनाएँ उन पदचिह्नों के
समान हैं जिन पर चल कर सामान्य लोग जीवन
और उसके उद्देश्यों का सन्धान कर सकते हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा
प्रकाशित

हार

युगकवि पं० सुमित्रानन्दन पंत की किशोरावस्था में लिखी गई
सर्वप्रथम रचना है

यह उपन्यास सबके लिए सर्वोत्तम मार्गदर्शक है

सीमित संस्करण तथा प्रत्येक प्रति पर कवि का किशोरावस्था
का चित्र और हस्ताक्षर

मूल्य दस रुपये

१—गीताऽमृत
श्री शिवकुमार मिश्र "मयूर"
मूल्य ३ रु०

२—कविरत्न सत्यनारायण की जीवनी
श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
मूल्य ४ रु०

अमृत से भी अधिक मधुर
और
सत्य की भाँति शाश्वत
एक है
जीवन-दर्शन
दूसरा है
जीवन-परिचय

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

ज्ञानोदय

आधुनिक भावबोध
कला संचेतना और
नवीनता का प्रतिनिधि मासिक

अगस्त १९६५

●●

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

○

संपादक :
लक्ष्मीचंद्र जैन, रमेश बक्षी

○

संपादकीय कार्यालय :
९, अलीपुर पार्क प्लेस,
कलकत्ता - २७।

○

वितरण कार्यालय :
भारतीय ज्ञानपीठ,
दुर्गाकुंड रोड, वाराणसी।

○

वितरक
बैनेट कोलमैन एंड कंपनी लि०,
बंबई - १।

●●

कुछ शीर्षक :

- ० पूर्वमेघ : रामगिरि पर छाये बादल...
- ० विश्व के समीक्षकों के बीच...
- ० एक सभ्यता और 'आग का दरिया'...
- ० नया साल : एक बेवक़्त याद...
- ० एक भारतीय की काली चमड़ी : पिस्तौल का निशाना।
- ० नवलेखन और कमिटमेंट तथा जीवनबोध की सच्ची गवाही।
- ० एक यात्रा नेपाल की...
- ० निर्गुण नक़्शे : सबुज श्याम धरती
- ० ७२ वर्ष का साधक और रामायण के प्रसंग।

सब मिलाकर :

५ कविताएँ। ८ कहानियाँ। १२ लेख। सभी स्तंभ। अब पृष्ठ संख्या १५० से अधिक। बदली हुई साज-सज्जा। वह सब, जो आप 'ज्ञानोदय' में देखना चाहते थे।

इस अंक में :

० आर्नल्ड ग्रिस्मैन ० क़ुर्रतुल-ऐन-हैदर ० जूडिथ राइट।

० फ़ाया अनुमान राजधन ० डॉ० देवराज ० विष्णु प्रभाकर ० अमृत राय ० रामलाल ० कुबेरनाथ राय।

० देवेन्द्र इस्सर ० किशोरीलाल वैद्य ० कुंथा जैन ० गिरिराज किशोर ० छेदीलाल गुप्त ० महेन्द्र भल्ला ० दामोदर सदन ० विनीता पंकज : वीरेन्द्रकुमार जैन ० राजेन्द्र किशोर ० सतीश कुमार ० डॉ० बच्चन सिंह ० सकल दीप सिंह ० देवेन गुप्त ० मणिमधुकर ० आनन्दकुमार आशु ० रंगनाथ राकेश आदि।

यह अंक : १ रुपया :: वार्षिक: १० रुपये ::
आजीवन : १५० रुपये।

श्री मध्य-भारत हिंदी-साहित्य-समिति, इंदौर

की

मासिक मुख-पत्रिका

वार्षिक मूल्य ५-०० एक संख्या-५० पै०

वीणा

हिंदी साहित्य सम्मेलन, मध्यप्रदेश, राजस्थान, विहार, उत्तर-प्रदेश और बड़ौदा की शिक्षा-संस्थाओं के लिए स्वीकृत।

जो पिछले ३८ वर्षों से नियमित रूप से प्रकाशित होकर हिंदी साहित्य की अपूर्व सेवा कर रही है। भारत की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में इसका उच्च स्थान है।

साहित्य के विभिन्न अंगों पर तथ्यपूर्ण एवं गंभीर प्रकाश डालने वाले लेख तथा परीक्षोपयोगी विषयों पर आलोचनात्मक समीक्षाएँ प्रकाशित करना इसकी प्रमुख विशेषता है।

हिंदी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा, मध्यमा एवं उत्तमा (रत्न) तथा बी. ए. और एम. ए. के छात्रों के लिए इसके निबंध अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

"वीणा" का भारत में सर्वत्र प्रचार है !

ज्ञान-वृद्धि के लिए वीणा अनुपम साधन है !

अवश्य देखिए !

समिति के कुछ प्रमुख प्रकाशन

मालवा में युगान्तर	४)	बेंजामिन फ़्रैंकलिन	३)
हिंदी के सामाजिक उपन्यास	१।।)	संसार की शासन-प्रणालियाँ	१।।।=)
इंद्रधनुष	१=)	त्याग का तीर्थ [कहानी-संग्रह]	१।।)
आत्म-परिणय [कहानी-संग्रह]	१।।।)	पंद्रह अगस्त [एकांकी नाटक]	२)
जीवन-दीप [नाटक]	१।)	किसानों की आर्थिक उन्नति के उपाय	।।।=)।।।
पुष्पांजली	[illegible]	मालवी लोकगीत	३)

मंत्री

श्री मध्य-भारत हिंदी-साहित्य-समिति, तुकोगंज, इंदौर-- (मध्य भारत)

यश की वृद्धि ज्ञान से होती है !

क्या आप

मुक्ता से

पूरी तरह परिचित हैं ?

मुक्ता के हर अंक में :

राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों का निर्भीक लेखा-जोखा––जो हिंदी की किसी अन्य पत्रिका में आपको शायद ही मिले। दलबंदी एवं तथाकथित वादों को चुनौती देने वाला स्वस्थ साहित्य––जो आप का भरपूर मनोरंजन करेगा, प्रेरणा देगा और मानसिक स्तर ऊँचा उठाएगा। ज्ञान-विज्ञान के नये-नये विषयों पर बिल्कुल नयी सामग्री––जो आपको आधुनिक बनाये रखने में सबसे अधिक योग देगी।

'सरिता' सामाजिक पुनर्निर्माण के क्षेत्र में सबसे आगे है, और उसकी पूरक 'मुक्ता' राजनीति, कला व किशोर ज्ञान के क्षेत्र में।

आज ही नमूने की प्रति के लिए इस पते पर लिखिए :

मुक्ता • रानी झाँसी रोड • नयी दिल्ली

राष्ट्रभारती

१ : इसमें लब्धप्रतिष्ठ विद्वान साहित्यकारों के ज्ञानपोषक और मनोरंजक अच्छे-अच्छे लेख, कविताएँ, कहानियाँ, एकांकी, रेखाचित्र, शब्दचित्र आदि रचनाएँ रहती हैं।

२ : इसमें संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, मैथिली, उर्दू, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं की तथा अंग्रेज़ी, रूसी आदि विदेशी भाषाओं की उत्कृष्ट रचनाओं के सुंदर हिंदी अनुवाद भी रहते हैं।

वार्षिक मूल्य : ६) • छमाही : ३·५० रु०
नमूने की प्रति के लिए : ६२ पैसे मात्र

रियायत : समिति के प्रमाणित प्रचारकों, हिंदी शिक्षकों, कोविद, रा० भा० रत्न, आचार्य, विशारद और साहित्यरत्न के विद्यार्थियों, केन्द्र-व्यवस्थापकों तथा सभी सार्वजनिक पुस्तकालयों, वाचनालयों और स्कूल-कॉलेजों के लिए केवल ५ रु० वार्षिक चंदा रखा गया है। अतः वे ५ रु० मात्र मनीआर्डर से भेजें।

पता : श्री व्यवस्थापक, 'राष्ट्रभारती', हिंदीनगर, वर्धा (महाराष्ट्र राज्य)

साहित्य-सन्देश

••

साहित्य सन्देश हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक प्रधान मासिक पत्र है जो २५ वर्षों से बराबर प्रकाशित हो रहा है। इसका वार्षिक शुल्क ५) रुपये मात्र है। इसकी विगत १३ वर्षों की कुछ सजिल्द फ़ाइलें उपलब्ध हैं जिनकी क़ीमत ६) रु० प्रति फ़ाइल है। हिन्दी का ठोस ज्ञान प्राप्त करने के लिए ५) रु० मनीआर्डर भेज कर वार्षिक ग्राहक बनें।

••

साहित्य-सन्देश कार्यालय, आगरा

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
का
अभिनव साप्ताहिक प्रकाशन

राष्ट्रभाषा सन्देश

प्रति गुरुवार को १३″ × १०″ साइज़ के ८ पृष्ठों में प्रकाशित
लागत से भी अत्यल्प मूल्य
वार्षिक मूल्य ५) । एक प्रति का १० पैसे

- 'राष्ट्रभाषा सन्देश' के माध्यम से सम्मेलन देश के प्रत्येक अंचल के हिन्दी-प्रेमियों के बीच हिन्दी का अमर सन्देश पहुँचाता है।
- यह राष्ट्रभाषा हिन्दी की प्रगति एवं गतिविधि के सम्बन्ध में प्रत्येक सम्भव सूचना तथा जानकारी देता है।
- राष्ट्रभाषा की हमारे देश तथा विदेशों में क्या स्थिति है तथा किस प्रकार द्रुतगति से वह राष्ट्रजीवन में समाती जा रही है, इसका स्पष्ट चित्र प्रति सप्ताह 'राष्ट्रभाषा सन्देश' में आपको मिलेगा।
- राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में देश भर में होने वाली संगोष्ठियों एवं परिचर्चाओं और सम्मेलनों के मन्तव्यों तथा विवरणों के साथ हिन्दी की उपयोगिता और महत्ता पर अधिकारी विद्वानों के विचार 'राष्ट्रभाषा सन्देश' के स्तम्भों में प्रकाशित होते रहते हैं।

न्यूज़पेपर एजेण्टों के लिए लाभप्रद अवसर
एजेन्सी के लिए पत्र-व्यवहार करें

व्यवस्थापक—'राष्ट्रभाषा सन्देश'
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक तथा मुद्रक: रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

राष्ट्रभाषा का सर्वोत्कृष्ट प्रामाणिक कोश

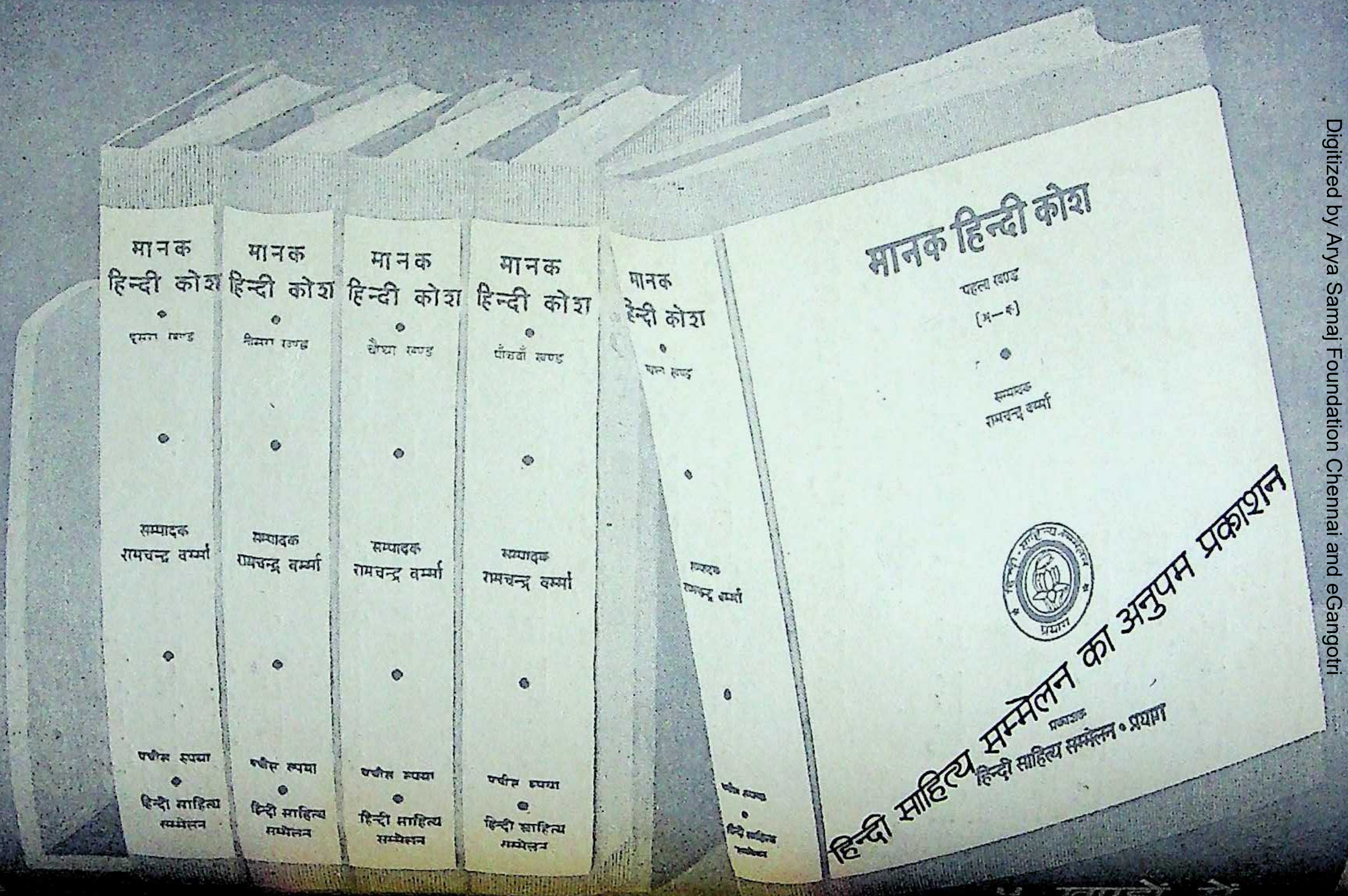
मानक हिन्दी कोश
पहला खण्ड
(अ–क)
सम्पादक
रामचन्द्र वर्म्मा
प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग
मानक हिन्दी कोश
दूसरा खण्ड
तीसरा खण्ड
चौथा खण्ड
पाँचवाँ खण्ड
सम्पादक
रामचन्द्र वर्म्मा
पचीस रुपया
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अनुपम प्रकाशन

प्रथम चार खण्ड प्रकाशित

आकार

डिमाई चार पेजी

शब्द संख्या

पहला खण्ड – २१,९४८
दूसरा खण्ड – २१,१२७
तीसरा खण्ड – २३,६५३
चौथा खण्ड – २१,०८२

पृष्ठ संख्या

पहला खण्ड – ६१८
दूसरा खण्ड – ५९९
तीसरा खण्ड – ६७०
चौथा खण्ड – ६०६

●

प्रति खण्ड का मूल्य पचीस रुपये

●

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

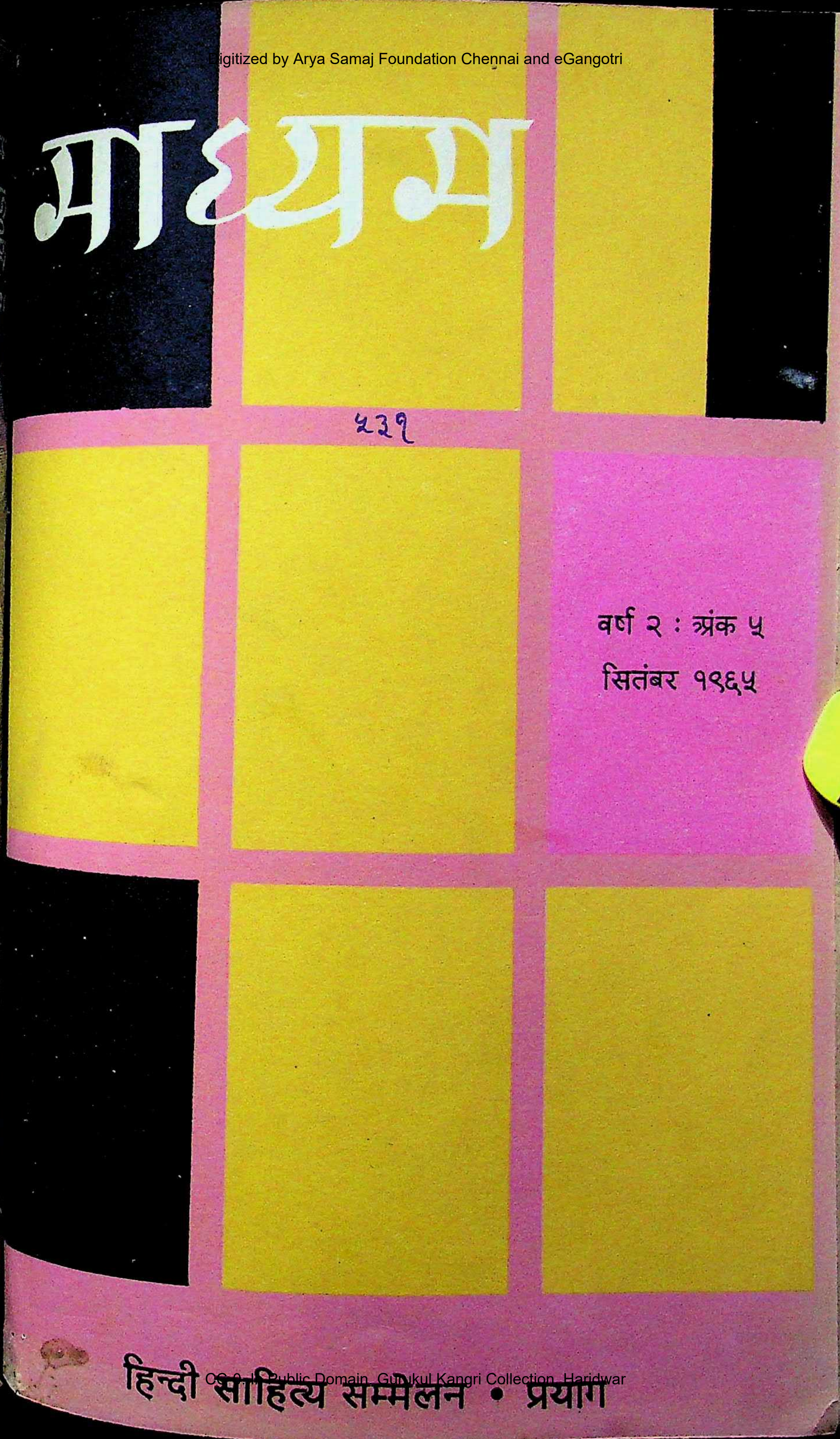

माध्यम

५३१

वर्ष २ : अंक ५
सितंबर १९६५

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

भारत सरकार की ओर से भेंट

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

सितंबर १९६५
वर्ष २ : अंक ५
पूर्णांक : १७

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
श्रीराम वर्मा

संपादकीय पता
पोस्ट बाक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

लेख

विश्व की एकता के साधक २६ व्योहार राजेन्द्र सिंह
भारतीय कृषक-समाज और कृषि ३७ रामजी सिंह

कविता

नदी की हँसी ३ जगदीश गुप्त
दो कविताएँ १२ दूधनाथ सिंह
प्रतीक्षा २० परेश
अंकुर की आस्था २१ आनंद मिश्र
सौ-सौ बार नमन करता हूँ ३० सुरेंद्र विमल

पत्र, संस्मरण, कहानी

बच्चन : कुछ चिट्ठियाँ ४ चंद्रदेव सिंह
घाट के पत्थर १४ सुधीर जोशी
स्मृति के सूत्र २२ शांतिप्रिय द्विवेदी
दाड़िम के फूल ३१ देवेन एकाकी

प्रतिपत्तिका

संतुलन का प्रश्न : कुछ कैफ़ियत ४१ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
एक कैफ़ियत मेरी भी ४२ शरद जोशी

सहवर्ती साहित्य

तमिल का गद्य-साहित्य ४६ न० वी० राजगोपालन
शिक्षा ५४ तिरु० वि० क०
हास ५६ एस० वैयापुरिप् पिल्लाइ
भारत की दो महान विभूतियाँ ५८ ना०बा० भद्रस्वामी 'भद्रेश'

माध्यम

अंक १८ में :

- 'अंचल' की कविता
- सेठ गोविन्ददास का विचारोत्तेजक लेख तथा अमीक़ हनफ़ी द्वारा 'उर्दू की नयी कविता' पर विचार
- 'सहवर्ती साहित्य' के अंतर्गत कन्नड़ की चुनी हुई सामग्री
- लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा 'भूले-बिसरे चित्र' की विवेचना
- कहानियाँ, प्रतिपत्तिका तथा समीक्षाएँ

विवेचना

आत्मजयी ६४ श्रीकांत वर्मा
'विवेचना' में 'आत्मजयी' ७३ विवेचक
प्रस्ताव.. और प्रस्ताव.. ७७ प्रदीप पंत
आधुनिक कथा और मनोविज्ञान ८० द्वारा, साहित्यकार संसद, लखनऊ
आज की कहानी ८१ बटरोही
हिंदी कथा-चर्चा ८३ कमल किशोर
'लिफ़ाफ़ा देख कर' ८५ सत्येंद्र

समीक्षाएँ

कालिख और लाली ८७ लक्ष्मीकांत वर्मा
नयी कविता, नयी आलोचना और कला ९१ ,,
नटरंग ९६ जीवनलाल गुप्त

प्रत्यालोचन-पुर्नविचार

द्रविड़ों का भारत में आगमन ९८ किशोरीदास वाजपेयी
मेरे विचारों का प्रत्याख्यान १०० ,,
हिंदी और मराठी के तद्भव शब्द १०२ शरद मोझरकर
उपनाम : व्यामोह या झूठा प्रदर्शन ? १०३ नंदकुमार राय
पत्र-प्रतिक्रियाएँ १०४
प्राप्ति-स्वीकार १०९

• •

आवरण-सज्जा : दीनानाथ सरोदे

जगदीश गुप्त

●

नदी की हँसी

पानी के ऊपर
उठी हुई रेत
होंठ सी वर्तुल,
नीचे झलकती
रेत-छाया : कंपित अधर;
दीप्त जल-रेखा
चाँदी के तार सी खिंची ।
ईषत् हँसी फूटी
नदी के होंठों से,
पूरे पाट को पार कर
आँख तक आयी
फिर गयी, फिर
मेरी खोज ले कर
या कि
एक भीतरी प्रवाह को
दूनी गति दे कर।

●

मोतीमहल,
दारागंज, इलाहाबाद।

चंद्रदेव सिंह

बच्चन : कुछ चिट्ठियाँ

बच्चन जी के पत्रों में प्रायः साहित्य-चर्चा परोक्ष रूप में ही हो पाती है। वे जिसे या जिन्हें पत्र लिखते हैं, उसका या उनका सुख-दुख हीं उनका प्रयोजन होता है। किंतु मैंने उन्हें कभी-कभी छेड़ा है। और जब कभी छेड़ा है, उनकी ओर से समुचित उत्तर भी मिला है। पता नहीं कब और कैसे हिंदी की वर्तमान समीक्षा का ज़िक्र आ गया था :—

१७–७–५६

प्रिय चंद्रदेव,

पत्र के लिए धन्यवाद।

तुम नये समालोचकों से बहुत क्षुब्ध लगते हो—मैंने समालोचक नामक जंतु का कभी अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया—चाहे वह नया हो, चाहे पुराना। कवियों ने बहुत से समालोचक बनाये हैं, पर आज तक कभी किसी समालोचक ने कोई कवि नहीं बनाया। वह जन्मना पैरासाइट (परजीवी) होता है। उसे दूसरों का कुछ खाने-चबाने को चाहिए। यदि उसमें कुरुचि हुई तो वह और भी घृणित हो जाता है। जो अपने रक्त से लोगों के हृदय पर अपनी पंक्ति लिखता हो, उसे क़लम-दावात से उत्पात मचाने वाले इस जंतु से आतंकित नहीं होना चाहिए।

शेष समाचार साधारण है।

सस्नेह,
बच्चन

आज पीढ़ियों का संघर्ष बड़े ज़ोरों पर है। शायद यह संघर्ष शाश्वत है। चलता रहा है, चलता रहेगा। परंतु, क्या पुरानी पीढ़ी के वे रचनाकार ही विशेष शोर नहीं करते जिन्हें अपने आपमें किसी नवीन भाव-बोध की कमी दीखती है? इस संघर्ष में बच्चन जी को भी जाँचा-परखा जा सकता है। मैंने अपना पहला काव्य-संग्रह उन्हें अवलोकनार्थ १९५५ में भेजा था। उनका उत्तर बड़ा है और नितांत वैयक्तिक। इसीलिए मात्र कुछ पंक्तियाँ :—

१४–६–५५

प्रिय श्री चंद्रदेव सिंह जी,

...आपसे एक बात और कहना चाहूँगा। आदर्श ऊँचा रखें और साधना में संलग्न रहें। हर नया क़दम पिछले से आगे हो—देर में उठे, पर उठे तो आगे—आगे—आगे।

मैं कभी कलकत्ता आया तो आपसे मिलना चाहूँगा। आप कभी प्रयाग आयें तो दर्शन दें।

शुभेच्छु,
बच्चन

यह रही बच्चन जी की पीढ़ी ! इसी संदर्भ से मिलता-जुलता एक और पत्र। दो बातें। बच्चन जी का कवि-सम्मेलनों के प्रति दृष्टिकोण और फिर रचना-प्रक्रिया...। मैंने स्वयं अपना एक कवि-सम्मेलनी अनुभव उन्हें लिखा था।

१४–१–६०

प्रियवर,

पत्र के लिए धन्यवाद।

ऐसे कटु अनुभवों ने ही मुझे बाध्य किया था कि पारिश्रमिक, मार्ग-व्यय आदि पेशगी मगाऊँ। ख़ैर, अनुभव से कुछ सीखना चाहिए। मुझे...से कोई शिकायत नहीं। अगर 'मधुशाला', 'निशा-निमंत्रण' और 'सतरंगिनी' की रचनाएँ ही उन्हें स्फुरित करती हैं, तो मैं उन्हें दुबारा नहीं लिख सकूँगा। शायद और कोई भी न लिख सकेगा। रुचि भी बहुतों में रूढ़िग्रस्त होती है, जैसे बहुतों में रचना-प्रक्रिया भी। मेरा ऐसा विश्वास है कि मेरी रचना-प्रक्रिया अभी रूढ़िग्रस्त नहीं हुई। इसी कारण मैं अब भी पुराने प्रेमियों को खोता और नये प्रेमियों को प्राप्त करता जा रहा हूँ।

पत्र देना। हाल लिखना।

शुभकामनाएँ,
बच्चन

और फिर कुछ व्यक्तिगत, कुछ सामाजिक-साहित्यिक। कुछ कटु अनुभव भी:—

१४-१०-५६

प्रिय चंद्रदेव,

पत्र मिला। चिंता है तुम्हारी पत्नी अस्वस्थ हैं। उनका समाचार शीघ्र देना। आशा है परेशानियाँ अब समाप्त हो रही होंगी। मनुष्य-जीवन ही परेशानियों से

लड़ने के लिए है। घबराना नहीं चाहिए। भगवान सा उदार मुआवज़ा देने वाला दूसरा नहीं।

हिंदी का संपादक बड़ा उत्तरदायित्वहीन होता है। उसे कोई लेख न भेजना चाहिए, जिसकी प्रतिलिपि अपने पास न हो।

गीत में उदासी है, पर उदासी भी जीवन में आती है। इस उदासी को भी कैसे छोड़ूँ—जीवन में निकल कर जो आती है, उससे कतराना बच्चन ने नहीं सीखा; न उससे शरमाना। अचरज तो यह है—यह उदास मन भी गाता है।

स्वास्थ्य विशेष अच्छा नहीं हो पा रहा है।

सस्नेह,
बच्चन

उग्र जी ने एक बार आकाशवाणी, केंद्र दिल्ली, पर आयोजित एक कवि-गोष्ठी की चर्चा करते बच्चन जी की बड़ी प्रशंसा की थी। हम लोगों ने (मैंने तथा श्री गोपीकृष्ण गोपेश ने) बच्चन जी का ध्यान उग्र जी की उक्त टिप्पणी की ओर दिलाया तो बच्चन जी ने लिखा :—

१८-१०-५६

प्रियवर,

पत्र के लिए धन्यवाद।

उग्र जी के लेख से मेरे प्रेमियों को प्रसन्नता होगी, यह मैं जानता था। चाहता हूँ कुछ ऐसी साधना करता चलूँ कि उन्हें कभी भी मेरी कृतियों से निराशा न हो। उन्होंने मेरी इतनी प्रशंसा कर के अपनी कला के प्रति मेरा उत्तरदायित्व और बढ़ा दिया है।

पिछले दिनों प्रोड्यूसर्स सेमिनार के सिलसिले में दिल्ली गया था। मेरे मुक्त छंदों की चर्चा कई लोगों ने की। शायद उग्र जी के लेख के कारण। 'पपीहा और चील-कौवा' सुनने की इच्छा बहुतों ने प्रकट की।

शेष समाचार साधारण है।

सस्नेह,
बच्चन

साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं-संस्थाओं की चर्चा मैंने की होगी। बच्चन जी का निम्न उत्तर :—

२४–१०–५६

प्रियवर,

पत्र मिला। हाल जाना।

साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं-संस्थाओं के पीछे गुप्त रीति से राजनीतिक यंत्र काम कर रहे हैं। प्राय: राजनीति के विकार से साहित्य को कुरूप होना पड़ता है। फिर भी मेरा विश्वास है कि साहित्य के दूध में विष नहीं घोला जा सकता। वह कभी न कभी उफन कर बाहर निकल जाता है और साहित्य साहित्य ही रह जाता है। मैं इस विष को देखता रहता हूँ, पर जानता हूँ कि यह फेन की तरह निकल ही जायगा।

सप्रेम,
तुम्हारा,
बच्चन

उन दिनों मैं स्वयं काफ़ी ऊब महसूस कर रहा था। २७ नवंबर को बच्चन जी की जन्म-तिथि पड़ती है। मैंने दिल्ली जाने की बातें लिखी थीं और जन्म-तिथि पर जयंती की भी चर्चा थी। बच्चन जी का उत्तर; एक ओर इतना आत्म-संकोच, एक ओर इतनी मस्ती :—

१२–१०–६१

प्रिय चंदू,

तुम्हारा १०–१० का पत्र।

२७–११–६१ को तुम दिल्ली रहे तो मुझे ख़ुशी होगी। जयंती तो राम और कृष्ण की मनानी चाहिएं। कृमि-कीट की जयंती नहीं मनायी जाती।

मुझे अपने बारे में ग़लतफ़हमी न हो। हे भगवान, प्रसंग पर यह कहना है। जो किया सो किया—उस पर पछताना क्या, मर्दों का यह काम नहीं।

इश्क़ ने ग़ालिब को ग़ालिब कर दिया।
वरना वह था आदमी किस काम का।।

कलाकार का हर अनुभव मूल्यवान होता है। स्रष्टा को पाप नहीं छूते।

शेष मिलने पर।

सस्नेह,
बच्चन

यों बच्चन जी की लिखावट बहुत सुंदर होती है—मोती जैसे नपे-तुले अक्षर। पर मात्राएँ किस अक्षर में कहाँ किधर से लगती और मुड़ती हैं इसे अनभ्यस्त व्यक्ति जल्दी नहीं समझ सकता। श्री बालकृष्ण राव को 'कादम्बिनी' के लिए इसी उपर्युक्त शीर्षक से एक रचना भेजी थी। राव साहब ने पत्रों को छापना स्वीकार कर लिया था पर शर्त रखी थी कि बच्चन जी की लिखित स्वीकृति हो।

१७-१-६१

प्रियवर,

पत्र मिला, धन्यवाद !

'बच्चन : कुछ चिट्ठियाँ : एक परिचय' की टाइप कॉपी मेरे सामने है। पढ़ गया हूँ। टाइप की बहुत सी अशुद्धियाँ हैं। लगता है मेरे अक्षरों को भी तुमने कहीं-कहीं ग़लत पढ़ा है। दोष मेरा ही है—पत्र क्या लिखता हूँ, घास काटता हूँ। कभी-कभी तो मुझे अपना लिखा स्वयं पढ़ने में नहीं आता।

राव साहब यदि छापना चाहते हैं तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।

समाचार देना। शेष शुभ।

सप्रेम,
बच्चन

और उन्हीं दिनों राव साहब ने 'कादम्बिनी' कार्यालय छोड़ दिया था और फिर रचना उनके छोड़ने के ६–७ माह बाद लौट आयी थी।

अब प्रस्तुत हैं कुछ और पत्र जिनसे बच्चन जी को अपने समकालीनों के प्रति, देश, हिंदी और हिंदी साहित्यकारों के प्रति दायित्व, ममता-स्नेह का सहज ज्ञान हो सकता है।

६-४-६३

प्रिय चंद्रदेव,

तुम्हारा १–४–६३ का पत्र मुझे मिल गया था, साथ में 'परशुराम की प्रतीक्षा' के प्रति तुम्हारी प्रतिक्रिया भी थी। जैसी 'परशुराम की प्रतीक्षा' प्रखर है वैसी ही उसकी प्रतिक्रिया भी है।

इस समय प्रखरता की ही आवश्यकता है। चीनी आक्रमण के विरोध में दिनकर का नैतिक आक्रोश सचाई और ईमानदारी से व्यक्त हुआ है। आपत्कालीन स्थिति में मैं साहित्यिक मानदंडों की ओर नहीं देखूंगा और ऐसी चीज़ का स्वागत करूंगा जो दुश्मन के विरुद्ध हमारे मोर्चे को मज़बूत बना सके। ख़ैर, इस पर फिर कभी विस्तार से लिखूंगा।

इधर मन बड़ा उखड़ा-उखड़ा सा रहा है। एक के बाद दूसरे हिंदी के महारथी गिरते जा रहे हैं और देश में हिंदी को अपमानित - पराजित करने के षड्यंत्र रचे जा रहे हैं। हिंदी ने देश की एकता का स्वर उठाया था और आज उसी के माथे विघटन का कलंक लगाया जा रहा है। हिंदी को राजनीति से आशा छोड़ कर कोई और बड़ा सहारा खोजना पड़ेगा।

सस्नेह,
बच्चन

'परशुराम की प्रतीक्षा' की एक और प्रतिक्रिया; जन-रुचि और फिर राजनीतिज्ञ, फिर साहित्यकार :—

प्रिय चंद्रदेव,

पत्र मिला। समाचार मिले।

तुम्हारे शोध का विषय अच्छा है। अब डॉक्टरेट भी ले लो। जीविकोपार्जन के संघर्ष में यह डिग्री कुछ काम दे सकती है।

मैं कल रात हैदराबाद से लौटा——दक्षिण भारत हिंदी प्र० सभा की जयंती में गया था। दिनकर जी भी गये थे। हम साथ ही ठहरे थे, साथ ही साथ हमने कई समारोहों में भाग लिया। दिनकर के परशुराम को लोग खूब पसंद कर रहे हैं। वे सुनाते भी हैं बड़ी गंभीरता से। लोग हमें सुन कर कहते थे एक गरम तार है, एक ठंढा——दोनों के मिलने से बिजली पैदा होती है।

विचारों को वक्रता और विदग्धता के साथ व्यक्त करने की कला दिनकर जी ने सिद्ध कर ली है। उनके पंख खुलने के लिए तूफ़ान चाहिए। किसी समालोचना में मैंने लिखा था——तूफ़ान हैं दिनकर; गरुड़ बन कर आकाश-पाताल नापेंगे।

आज देश को गान भी चाहिए, गर्जन भी। अवसरवादी नेतृत्व नेता करते हैं; आदर्शवादी नेतृत्व साहित्यकार का धर्म है।

सप्रेम,
बच्चन

राहुल जी कलकत्ता के एक अस्पताल में पड़े थे। मैंने बच्चन जी को इस बात की सूचना दी तो उन्होंने तुरंत चल कर देखने का कार्यक्रम बना लिया। कितना कारुणिक था वह मिलना। बच्चन जी हाथ जोड़े बार-बार कहते हैं—'मैं बच्चन, प्रणाम करता हूँ।' और राहुल जी बुदबुदाते हैं...'ब...च...चन क्या ब च्च ..न!' कलकत्ता से दिल्ली लौट कर बच्चन जी ने लिखा :—

१७-२-६२

प्रियवर,

आशा है पहले से स्वस्थ हो।

उस दिन तुम्हारे साथ राहुल जी को अस्वस्थ और कमला जी को दुखी देख कर मन बड़ा भारी-भारी रहा।

मेरे पास एक पत्र आया है। सरकार से उनके उपचार के लिए कुछ सहायता माँगी गयी है। मेरा सरकार पर क्या ज़ोर। आज ही कमला जी का एक पत्र दैनिक हि० में छपा है जिसमें सरकार से अपील की गयी है कि उनके उपचार का कोई समुचित उपाय करे। मैं तो सोचता हूँ सरकार चाहे जो करे यदि उचित समझा जाय तो कमला जी और कुछ साहित्यकारों की ओर से एक अपील छपा दी जाय। उससे संभव है कुछ लोग कुछ आर्थिक सहायता भेज दें। इलाज भी हमें आर्थिक सीमा के अंदर ही कराना होगा।

मुझे तो यह भी अपमानजनक लगता है कि किसी स्वाभिमानी साहित्यकार के लिए इस तरह की अपील निकाली जाय, पर अर्थ की आवश्यकता है तो दूसरा उपाय ही क्या है? कमला जी से भी इस संबंध में सलाह ली जा सकती है। मैंने अस्पताल के पते पर उन्हें लिखा है।

शेष कुशल।

सप्रेम,
बच्चन

और हिंदी-जगत जानता है इस संबंध में बच्चन जी ने क्या नहीं किया। उसी प्रयास-अवधि के कुछ अनुभव। एक प्रतिक्रिया के प्रति एक साहित्यिक प्रतिक्रिया भी :—

१-५-६२

प्रिय चंद्रदेव,

पत्र मिला।

आँख बंद कर पढ़ने-देखने वाले आज बहुत हैं।

मेरे पास जो धन राहुल जी के सहायतार्थ आया है उसे मैं भेज रहा हूँ। आगे जो आयेगा, दूसरी क़िस्त में चला जायगा। कुछ हो जाय तो राहुल जी के प्रति हिंदी वाले अपनी श्रद्धा का सबूत भी दे सकें और अपील की लाज भी रह जाय। अब तक जो धन आया है नगण्य है। आश्चर्य तो यह है कि भेजने वालों में तथाकथित साहित्यकारों का एक नाम नहीं। मेरा स्वास्थ्य धीरे-धीरे ठीक हो रहा है।

सस्नेह,
बच्चन

मैं फिर पीढ़ियों के वर्तमान संघर्ष को याद करता हूँ––कटुता-द्वेष को याद करता हूँ और याद करता हूँ बच्चन जी की नयों के प्रति सहानुभूति, संवेदना और स्नेह को।

'धर्मयुग' के नवंबर '६१ के अंतिम अंक में बच्चन जी पर मेरी एक परिचयात्मक टिप्पणी छपी थी। अंत के कुछ वाक्य अधूरे लगे थे तथा २७ नवंबर––जन्म-तिथि––के स्थान पर पता नहीं किसकी भूल से २९ नवंबर छप गया था। और फिर यहीं इसी पत्र में अंग्रेज़ी के प्रति बच्चन जी का प्रेम भी द्रष्टव्य है :––

६–१२–६१

प्यारे भाई,

४–१२ का पत्र।

तुम्हारी बधाई समय से मिल गयी थी। उत्तर कहाँ देता––पता याद नहीं रहता। प्यार भेजता हूँ।

ज़्यादा बीमार न पड़ा करो। अभी जवानी है। बुढ़ापे में क्या करोगे। भगवान मेरी बेहया तंदुरुस्ती तुम्हें दें।

दो दिन क्या, दो सालों का आगा-पीछा भी मेरे जन्म का, क्या फ़र्क़ ला सकता है। कचहरी में कोई दावा पेश करना है!

कौन तुमने वेद लिखा था कि दो वाक्य अधूरे छप गये और दो वाक्य काट दिये गये तो अनर्थ हो गया?

मैंने अपना एक निबंध-संग्रह छपने भेज दिया है––'नये-पुराने झरोखे' जिससे मेरे पाठक मेरा मुजरा ले सकें।

एक कार्ड में कितनी सूचनाएँ देता हूँ। पत्र देना, हाल लिखना। अंग्रेजी में छपे तुम्हारे सिरनामे से मैं तुमसें बेहद प्रभावित हुआ। वाह, सी० डी० सिंह एम० ए०। चंद्रदेव सिंह कितना फूहड़ नाम था!

सस्नेह,
बच्चन

––७ एफ़, गोपी मंडल लेन, कलकत्ता - २।

दूधनाथ सिंह

दो कविताएँ

संबोधन

●

दिन की अनेक-अनेक इकाइयों में हहराते
ओ मेरे फेनभरे अग्नि-ज्वार!
ओ संपूर्ण आवाहन! ओ संपूर्ण निर्वासिन!
खुले हुए नेत्रों में वंद
ओ हरियाली के अगम विस्तार!

ओ थरथराहट!
अनदेखी सौंदर्य-राशि!
ओ मेरे प्राणों की सिकता में,
ओ मेरी निर्भय एकांतिकता में
उड़ी-उड़ी
किरण-किरण!

अर्थागम...सागर अकथनीय!
ओ मेरे निर्विकल्प शुभ!

ओ मेरे शब्दहीन, ऊर्जस्वित, निर्मम उद्घोष!
ओ मेरे तन के जंगल में गुँथे हुए अंधकार!
ओ मेरी बरफ़! कुहकभरी आँख!
ओ मेरी जुड़ी हुई, कातर प्रार्थना की बाँह!
ओ मेरी वही-वही सांत्वना!

ओ मेरे चले जाने के बाद
कवि-मुख...उदास!

●

स्वयंप्रभा झील

●

एक चेहरा गुलाबों की बाड़ में झुका है;
झील पर ख़ुद एक गुलाब है यह दिन—
सूर्य-कोरक में ओस का ध्वनि-विस्तार,
हँसी का अनंत सागर बिछाता हुआ नीलम-आकाश...
—ख़ाली हवा की सरसराहट
सुन पड़ती है।
...धूप की ओट में झपकती आँखें हैं—कहीं नहीं तकतीं,
धूप सोखती बरुनियाँ हैं—कहीं अंतरतम में भटकती।
इस उजास में कहाँ डूब गयी है राह?
यह खाइयाँ बनाती हुई सुबह—यह न जाने देने की चाह?
—ख़ाली हवा की सरसराहट
सुन पड़ती है।
यह सुख एक घटना है—जीवन की अंतिम दुर्घटना में।
कितना अजीब है यह 'आज'! पीलेपन की आशंका में।
कितना अजीब है—यह मेरी बाँहों में अधखिला सोना-गुलाब!
एक स्वयंप्रभा झील है—यह मेरी गोद,
एक अगम बर्फ़ की सुहानी कविता है।
भागती हुई रात की सहमी आवाज़ है—यह बेसुध साँस;
सारंगी के तारों की झंकार है यह—मेरे वक्ष पर
लोटती, फरफराती केश-राशि!

+ \+ \+

मौसम की लंबी परछाइयाँ छोड़ते, एक दूसरे को थामे
फिर हम चले जा रहे हैं—दुनियाँ के सघन
हाहाकार की ओर।
बुनते हुए अंतरंग आकाश का पट
बंद किये अपना-अपना अमृत-घट।
काँपते हैं सुख की छाया में अधर,
हवा में साँझ
गिरती है।

●

१५, लूकरगंज, इलाहाबाद।

सुधीर जोशी

कहानी

घाट के पत्थर

करने के लिए जब और कुछ नहीं रहता तब कभी मैं मित्रों के घर पहुँच जाता हूँ; कभी मित्र लोग मेरे यहाँ आ जाते हैं। ऐसे इसमें कोई बुराई नहीं। संपर्क तो बना ही रहना चाहिए। लेकिन आपको पता है, हम सब मिल कर क्या करते हैं? हम चर्चा करते हैं। मुझे मालूम है यह चर्चा हमें कहीं भी नहीं ले जायगी, किंतु फिर भी इससे बचा नहीं जाता।

आज तो हद हो गयी। सुबह से साँझ हो गयी और चर्चा ही चलती रही। थोड़ी देर पहले ही मित्रों के तीसरे दस्ते को चाय पिला कर रवाना किया। एक ऊब, एक खीझ और मित्रों की चौथी मंडली घर में आये, उससे पूर्व ही घर छोड़ने की इच्छा—इन सबने मिल कर मुझे घर से बाहर कर दिया। मैं अब किसी से मिलना-जुलना नहीं चाहता। मुझे अब खुली हवा की आवश्यकता है।

मैं अब सड़क पर हूँ और चल रहा हूँ। कहाँ जा रहा हूँ—कुछ पता नहीं। स्थान निश्चित कर के मैं चल भी तो नहीं सकता। सभी तो देखा हुआ है इस बंबई का। एक-एक सड़क और गली मेरी जानी-पहचानी है। मैं ऐसी भी कुछ गलियों को जानता हूँ जो मकानों ही मकानों से हो कर गुज़रती हैं। शुरू में, जब मैं यहाँ आया ही था, ख़ूब घूमा था। नया-नया था न बंबई के लिए! वस्तुओं को बहुत निकट से देखता। जितना निकट से देखता उतना ही आनंद आता और जितना आनंद आता उतना ही और निकट से देखता। इस प्रकार कई वर्ष बीत गये। अब मेरे लिए किसी भी दर्शनीय स्थान का कोई आकर्षण नहीं। अब ये स्थान मुझे वैसे ही लगते हैं जैसे दरज़ी के यहाँ टँगे हुए कोट और पतलून। 'गेट वे ऑफ़ इंडिया' और मोची के बनाये जूतों में मुझे कोई फ़र्क़ नहीं दिखता। लेकिन यदि कोई पूछे— क्यों भाई, तुम दोनों में से किसे पसंद करते हो? तो मुझे कहना होगा: जूतों को। मेरे लिए जूते ही अधिक उपयोगी हैं। और यही स्थिति उन सभी स्थानों की भी है जिन्हें अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोग 'ब्यूटी स्पॉट' कहते हैं (जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'सौंदर्य दाग़' या 'सौंदर्य धब्बा') जहाँ हज़ारों की संख्या में लोग घूमने-फिरने जाया करते हैं। शुरू-शुरू में जो भी इन स्थानों पर जाता है, मुग्ध हो जाता है, लेकिन कुछ समय बाद ये स्थान भी वैसे ही बन जाते हैं जैसे शरीर पर के दाग़, जिन पर मनुष्य कभी ध्यान नहीं देता।

मैं अब चौपाटी जा रहा हूँ; ऐसा लगता है दिशा चौपाटी की ही है। लेकिन मैं करूँगा क्या वहाँ पर? इतने सारे लोगों के बीच, मैं अकेला! बातचीत किससे होगी? लेकिन बातचीत तो मुझे करनी नहीं है, बहुत हो चुकी बातचीत। आज से चर्चाएँ बंद। अब मैं चर्चाओं में शरीक़ ही नहीं होऊँगा।

"अच्छा अब देखोगे भी नहीं।" और देखता हूँ तो महादेव! वह कह रहा है: "कहाँ जा रहे हो इस तरह? हम पास से निकल जायँ और तुम पहचानो भी नहीं!" अब मैं क्या उत्तर दूं? कह दूं, किसी आवश्यक कार्य से जा रहा हूँ; पिंड तो छूटेगा। किंतु नहीं, मैं कहता हूँ: "ऐसे ही निकल पड़ा था चौपाटी की तरफ़, तुम कहाँ जा रहे हो?"

"मैं तो निरुद्देश्य निकला था, अच्छा हुआ तुम मिल गये। अब चलो, तुम्हारे ही साथ चौपाटी चलें।"

अब महादेव मेरे साथ है। मैं ख़ुश हूँ। एक से दो भले। बैठे-बैठे कुछ गपशप तो होगी। लेकिन किसी विषय पर चर्चा छिड़ गयी तो? इस विचार ने मन को फिर से उदास कर दिया। मन ही मन मैं अपने निश्चय को दोहराता हूँ——मुझे चर्चा में भाग नहीं लेना है, बोला करे महादेव, मुझे क्या?

"क्या गुमसुम चल रहे हो यार, तुम तो कुछ बोलते ही नहीं?"

उसी समय मैंने देखा कि हमसे आगे ही एक लड़की तेज़ चाल से चली जा रही है। उसे देख मैं कह देता हूँ: "मैं सोच रहा था यह लड़की इतनी तेज़ चाल से क्यों चल रही है? ज़रूर कोई न कोई बात है। चलो, इसके पीछे-पीछे ही चला जाय।"

"क्या तुम इसे जानते हो?"

"नहीं।"

"तब क्या मन को भा गयी है?"

"अब चलो भी यार, हमारे पास यूँ भी कोई काम तो है नहीं इस समय।"

"अच्छा, तुम्हारी इच्छा है तो यही सही।"

मुझे मालूम था, इच्छा नहीं रहने पर भी महादेव मेरी बात को ठुकरायगा नहीं। हम दोनों ने अब उस लड़की का पीछा करना शुरू कर दिया है। वह लड़की सचमुच बड़ी जल्दी में है। लेकिन क्यों जल्दी में है——मुझे मालूम नहीं।

अब वह लड़की 'फ़्रेंच ब्रिज' की ओर मुड़ गयी और हमें भी उसी दिशा में मुड़ना पड़ रहा है। मैं मन ही मन बहुत ख़ुश हूँ। एक काम तो मिला जिसे पूरे उत्तरदायित्व के साथ गंभीरतापूर्वक और एक गुप्तचर की भाँति बग़ैर मुँह खोले पूरा करना होगा। . . .

बचपन में मुझे गुप्तचर बनने का बड़ा शौक़ था। मैं और मेरा मित्र रामप्रसाद अपने सहपाठियों और दूसरे लड़कों का भेद जानने के लिए उनके पीछे लगे रहते। इस प्रकार न जाने कितना समय हम व्यर्थ गँवाते रहे होंगे। इसी चक्कर में घूमते-घूमते कभी हमें बड़ी कठिनाइयों में फँस जाना पड़ता। पराये मुहल्ले में कभी रात हो जाती, सेर को सवा सेर मिल जाता और फटेहाल जब घर लौटते तब पिटाई होती! लेकिन यह बचपन की बात है। जब होश

सम्हाला और कुछ सोचने-समझने लगा तब मुझे गुप्तचरों से बड़ी नफ़रत हो गयी। मेरे लिए किसी हिंदुस्तानी का अपने ही भाइयों को झूठी-सच्ची कहानियाँ गढ़ कर अंग्रेज़ों के हवाले करना सहन के बाहर की बात थी। मुझे वह घटना याद है।. . . . एक दिन जब सूर्योदय से पूर्व मैं अपने घर से निकल ही रहा था, मेरी नज़र उस गुप्तचर पर पड़ गयी जो कई दिनों से मेरी तलाश में था। जब एक क्षण के लिए मेरी और उसकी नज़रें चार हुईं, उसने चलना शुरू कर दिया और अपने अंदाज़ से यह जताने की कोशिश की कि जैसे उसने मुझे देखा ही न हो। वह जब मेरे मकान के सामने से गुज़र रहा था, मैंने उसे आवाज़ दे कर बुलाया लेकिन उसने तो जैसे कुछ सुना ही नहीं और उसी प्रकार चलता रहा। मैंने जब दुबारा आवाज़ दी तब कहीं वह मेरी ओर मुड़ा और मुझसे पूछा, "क्या मुझे बुला रहे हो?" और मेरी हाँ सुन कर जब वह मेरे घर में आ गया तब फुर्ती से लपक कर मैंने उसका गला पकड़ लिया और कहा, "मुझे पकड़ना चाहते थे न, लो अब पकड़ लो।" मेरी बात सुन कर उसके तो जैसे काटो तो ख़ून नहीं। दया की भीख माँगने लगा। कहने लगा, "अब कभी आपका पीछा नहीं करूँगा। मेरी आपसे कोई दुश्मनी तो है नहीं, बाल-बच्चेदार आदमी हूँ, इसीलिए यह कुत्ते जैसी नौकरी करनी पड़ रही है।" उस समय उसकी जान मेरे हाथ में थी। मैं चाहता तो उस दिन उसे परम धाम पहुँचा सकता था, फिर भले ही मुझे फाँसी चढ़ जाना पड़ता। लेकिन मैंने उसे मारा नहीं; ख़ूब डाँट पिलायी, आतंकित किया, नीचा दिखाया, राष्ट्र के प्रति उसके कर्तव्य को समझाया और अंत में, ज़रूरत पड़ने पर उससे मदद पाने का वचन ले कर, उसे रिहा कर दिया।

उसे रिहा करने के कई कारण थे। एक कारण यह भी था कि उस समय मुझे उसकी सूरत ठीक उस तोते जैसी नज़र आ रही थी जिसे—बहुत साल पहले की बात है—एक दिन मैंने बड़ी सूझ-बूझ से पकड़ लिया था और अपनी सफलता पर कई हाथ ऊँचे उछल पड़ा था। लेकिन वह तोता ऐसा निकला कि उसने कुछ खाया-पिया ही नहीं। मैंने सोचा था कि अपने आप कुछ देर बाद ठीक हो जायगा परंतु दूसरे दिन सुबह उठ कर देखता हूँ कि उसने पिंजरे में रखी किसी चीज़ को छुआ तक नहीं है। हरी मिर्च, चने की दाल, जायफल और कटोरी में रखा पानी —सब चीज़ें ज्यों की त्यों पड़ी हैं। मुझसे यह सब देखा नहीं गया। ग्लानि और उदासी मुझ पर छाती गयी। अचानक न जाने कहाँ से उसे मुक्त कर देने की इच्छा मेरे मन में जाग उठी और मैंने उसे आज़ाद कर दिया। उसे आज़ाद कर के मुझे उतनी ही ख़ुशी हुई थी जितनी उसे पकड़ने पर, और यही ख़ुशी मुझे उस गुप्तचर को रिहा कर के भी हुई।

वह लड़की अब सड़क पर नहीं है। मैं देख रहा हूँ उसे तिमंज़िले मकान में घुसते जो 'फ़्रेंच ब्रिज' से नीचे की ओर जाने वाली सड़क पर बना दूसरे नंबर का मकान है। जिस मकान ने लड़की को अपने अंदर छुपा लिया वह, ऐसा लगता है, मेरा जाना-पहचाना है। उसका नाम शारदा था और वह शायद इसी मकान में रहती थी। क्या पता अब भी रहती हो. . .

"अरे यार, वह तो घुस गयी उस मकान में। अब क्या करें?"

"यह भी कोई सवाल हुआ! चली गयी तो जाने दो। चलो हम चौपाटी चलें, वहीं बैठेंगे थोड़ी देर।"

किंतु मेरी बात शायद महादेव समझा नहीं, इसीलिए कह रहा है, "अजीब आदमी हो तुम, चौपाटी ही चलना था तो इसका पीछा करने में कौन सा तुक था?"

बात उसकी ठीक है। लेकिन मेरे लिए तो उस लड़की और चौपाटी में कोई अंतर नहीं —यह महादेव को कैसे समझाया जाय? मेरे लिए तो उस लड़की की जगह यदि कोई बूढ़ी भी होती तब भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। उसका भी मैं वैसा ही उपयोग करता जैसा मैंने इस लड़की का किया है। क्या उससे कह दूं कि अकेले भटकने की इच्छा के अतिरिक्त आज मेरी किसी चीज़ में कोई रुचि नहीं? लेकिन महादेव को यह सुन कर संतोष नहीं होगा। वह ज़रूर पूछेगा कि ऐसी क्या बात हो गयी है? नहीं, नहीं! इससे बहस में फँस जाने का पूरा ख़तरा है। मैं कुछ भी निश्चित कर पाने की स्थिति में नहीं हूँ और सहज भाव से कह देता हूँ, "तुम्हारी इच्छा हो तो यहीं खड़े रहें कुछ देर, मुझे कुछ आपत्ति नहीं।"

लगता है महादेव को मेरी यह बात भी अखर गयी। वह उत्तेजित भी जल्दी हो जाता है। झुँझला कर कह रहा है, "तुमने ख़ुद उसका पीछा करने का सुझाव रखा और अब ऐसा जता रहे हो जैसे यह सब मुझे खुश करने के लिए किया जा रहा है।"

"नहीं भाई, यह बात नहीं। जिज्ञासावश उसके पीछे हो लिये थे। सोचा था, कोई भेद की बात या किसी कहानी का मसाला हाथ लग जायगा। पर किसे मालूम था कि इतना नज़दीक है इसका घर। घर में तो घुसने से रहे; यहाँ भले ही थोड़ी देर खड़े रह सकते हैं। मैंने तो इसी संदर्भ में कहा था कि मुझे कुछ आपत्ति नहीं। पर एक बात कहूँ महादेव, मेरी जिज्ञासा तो इसके घर में घुसते ही मर गयी।"

"और मेरी जैसे अब भी क़ायम है। चलो, चौपाटी ही चलें।"

अब हम फिर से चौपाटी की ओर जा रहे हैं। ह्यूजस रोड पार करते-करते एक दुमंज़िली बस सर पर आ गयी। वह मेरी फुर्ती थी या महादेव का धक्का या बस-चालक की सावधानी, या फिर इन सबने मिल कर मुझे बचा लिया होगा—मुझे कुछ याद नहीं। सड़क तो ठीक स्थान से ही पार की जा रही थी और जब सड़क पार करना शुरू किया था तब बस बहुत दूर थी तब अचानक वह सिर पर कैसे आ गयी? हो सकता है वह बहुत तेज़ चाल से आ रही हो, या फिर हम ही 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' की चाल से चल रहे होंगे। जो भी हो, मैं मरा नहीं, बच गया; यह अच्छी बात है। पलक मारते सब समाप्त हो जाता मेरे लिए। लेकिन मैं इस तरह काँप क्यों रहा हूँ? मेरा अंग-प्रत्यंग काँप रहा है। क्या यह मौत का भय है? लेकिन मुझे तो मौत का कभी कोई भय नहीं रहा। कई दिनों तक मैं जान हथेली पर ले कर घूमा हूँ। कई काली रातें मैंने श्मशान घाटों पर सिर्फ़ इसलिए गुज़ार दीं कि भूत मिले तो उसकी चोटी काट कर उसे अपने वश में कर लिया जाय। तो फिर यह कंपन क्यों? न तो मौत आयी और न उसने मुझे छुआ, फिर यह स्थिति क्यों? किंतु वह तूफ़ानी वेग से नज़दीक से गुज़र तो गयी थी न, हो सकता है यह कंपन उसके इतने नजदीक से गुज़र जाने के सदमे का ही परिणाम हो। जो भी हो, मेरा मन बड़ा विचलित हो रहा है। मेरा बच्चा इस समय बगीचे में कोई पौधा लगा रहा होगा,

अनामी और वर्षा कोई खेल खेल रहे होंगे, पत्नी बाजार में भाजी ख़रीद रही होगी। और मैं चलते-चलते काँप रहा हूँ...

"इतने धीरे-धीरे क्यों चल रहे हो यार, और वह भी बीच सड़क पर? एक दुर्घटना से तो अभी बचे हैं, क्या दूसरी में फँसने का विचार है?" महादेव की इस फटकार के बाद, "ठीक है, ठीक है", कहता हुआ मैं सड़क से 'फ़ुटपाथ' पर आ जाता हूँ और महादेव से पूछता हूँ: "एक बात पूछूँ महादेव?"

"पूछो।"

"यदि मैं इस दुर्घटना में मर जाता तो क्या होता?"

"पागल तो नहीं हो गये हो? मर कैसे जाते?"

"मान लो मैं दुर्घटना का शिकार हो जाता तब क्या होता?"

"तुम्हारा सिर होता! मेरे पास फ़ालतू बातों के लिए समय नहीं है।"

महादेव सही कह रहा है। यह सब बातें फ़ालतू हैं। लेकिन मेरा मन नहीं मानता। वह उड़ रहा है—इंदौर, उज्जैन, भोपाल, रतलाम! मेरे पिता अस्पताल में हैं। मेरे मरने का सदमा शायद ही वे सहन कर पाते। और फिर मेरी माँ, भाई, बहन! क्या से क्या हो जाता! शायद...

फ़िलहाल बातचीत करते-कराते चौपाटी पहुँच गये। तुलनात्मक दृष्टि से आज चौपाटी पर भीड़ कम है। दियासलाई की पेटी जैसे छोटे-छोटे कमरे और उनमें ठीक सलाइयों जैसे भरे हुए लोग चौपाटी आते हैं गरमी और घुटन से बचने, लेकिन आजकल बरसात का मौसम है। और सिर्फ़ दो-तीन जोड़ कपड़ों में अपने दिन काटने वाले लोग कपड़े गीले करना पसंद नहीं करते। बरसात का आनंद भी उनके लिए एक विलास है...।

और लीजिए, महादेव ने फिर चर्चा शुरू कर दी है—हिंदी-उर्दू की चर्चा, क्लिष्ट हिंदी की चर्चा। मैं उसका ध्यान बँटाने की भरसक कोशिश करता हूँ, पर उस पर तो जैसे भाषा की समस्या का भूत सवार हो गया है। ऊँचे स्वर में मुझे झिड़क कर कह रहा है, "यह सब बकवास है। दूसरे क्या सीखें-समझेंगे इसे। पंडित नेहरू तक को हिंदी के बनावटीपन के ख़िलाफ़ बोलना पड़ा है। हक़ीक़त यह है जनाब, कि आपकी हिंदी की बनिस्बत उर्दू ही ज्यादा समझी जाती है हिंदुस्तान में। फ़िल्मों को ही लीजिए आप। आपको पता है, हिंदी फ़िल्मों की कहानीयाँ, संवाद, गाने वग़ैरह सब उर्दू में ही लिखे जाते हैं। सारा मुल्क समझता है उस ज़बान को और हिंदुस्तान के लोग इसी उर्दू को हिंदी समझते हैं; न कि आपकी क्लिष्ट हिंदी को।" मैंने देखा यह सब कहते-कहते महादेव का मुँह लाल हो गया है। मुझे भले इस चर्चा में रुचि न हो, महादेव के लिए चुप रहना अब असंभव है। वह कह रहा है—आप तो यह बताइए कि फ़िल्मों के लिए काम में लायी जाने वाली ज़बान क्या वही ज़बान है जिसे कविता, कहानी यां आलोचना लिखते समय उर्दू वाले काम में लाते हैं?"

जिसका मुझे डर था, जिससे बचने के लिए मुझे घर छोड़ना पड़ा, वही चर्चा, वही बहस पूरे ज़ोर से चल रही है। न जाने कब तक चलती रहेगी यह चर्चा? घड़ी देखता हूँ—आठ बज कर पाँच मिनट हो चुके हैं। थोड़ी देर में अँधेरा घना हो जायगा। बिजली की बत्तियाँ ऐसी दिखने लगेंगी जैसे एक विराट काली चादर पर किसी ने रंग-बिरंगे पदक चिपका दिये हों। समुद्र काफ़ी पीछे जा चुका है और अब दुर्गंध भी आने लगी है। किनारे पर दुनिया भर का कूड़ा-करकट पड़ा होगा। सारा वातावरण दुर्गंधयुक्त हो उठा है, और अब तो इस बहस से भी दुर्गंध आने लगी है। और यह महादेव! बड़ा विचित्र आदमी है यह महादेव भी। कई बार हम इस विषय पर बहस कर चुके हैं; कई बार उसके प्रश्नों का उत्तर भी दिया जा चुका है, लेकिन वह तो बिल्कुल घाट का पत्थर है। मैं भी घाट का पत्थर हूँ। हम सब घाट के पत्थर हैं। यूँ देखा जाय तो घाट के पत्थर होना कोई बुरी बात नहीं। अपने-अपने स्थानों पर जमे रहना उनकी विशेषता होती है। वे यूँ भी बड़े भले लगते हैं जब उनसे लहरें टकराती हैं, जब उन पर बैठ कर लोग समुद्र को निहारा करते हैं। लेकिन अपने उस रूप में उनकी उपयोगिता बड़ी सीमित रहती है। एक दिन ऐसा भी आता है जब लहरों के थपेड़े खाते-खाते वे टूक-टूक हो जाते हैं; दम तोड़ देते हैं या फिर उन्हें अपने स्थान से हटवा कर और किसी काम में ले लिया जाता है। एक दिन जहाँ घाट के पत्थर पड़े रहते थे आज उनकी जगह कहीं तो चौड़े-चौड़े 'फ़ुट-पाथ' और सड़कें बनी हैं और कहीं हरे-भरे वृक्षों की क़तारें और अंतरिक्ष की ओर माथा उठाये हुए बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ खड़ी हैं।

—८१, वल्लभ नगर,
इंदौर (म० प्र०)।

माध्यम
के
लेखकों से विनम्र निवेदन
है कि

- हम रचनाओं की अस्वीकृति की सूचना नहीं देते।
- स्वीकृत रचनाओं की सूचना साधारणतया रचना-प्राप्ति के एक पखवारे के भीतर दे देते हैं।
- रचनाओं की वापसी के लिए टिकट-लगा लिफ़ाफ़ा अवश्य भेजें।

परेश

●

प्रतीक्षा

किसकी प्रतीक्षा ?
संभवत: एक बहुत चौड़े आकाश
के सिकुड़ जाने की प्रतीक्षा...
सूर्यास्त के गिर्द
कहीं भी
अकेले छूट जाने की प्रतीक्षा...

फ़िलहाल एक दुपहर
और धूप
भरे हुए दरिया-सा
दिसंबर का रूप
भ्रम होता है

कनक चंपा के
निढाल ऊँघते हुए
चौड़े पातों से भ्रम होता है
धूप के इस दरिया के थम जाने का
भ्रम होता है

फिर भी

समय के गुज़रते रहने
की आहट
कम नहीं होती
चिनार के लंबे होते हुए सायों की
सरसराहट भ्रम नहीं होती

प्रतीक्षा ...
ताँबई चमक से
चमकते हुए चेहरों
के सूर्यास्त
की प्रतीक्षा
एक बहुत चौड़े आकाश के
सिकुड़ जाने की प्रतीक्षा
अंतिम रूप से
अपने ही चेहरे
के सूर्यास्त के गिर्द
अकेले
छूट जाने की प्रतीक्षा...
धूप के इस दरिया के
सूख जाने की प्रतीक्षा

●

हिंदी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

आनंद मिश्र

अंकुर की आस्था

ऐसा ज़ोर! गर्जना ऐसी! यह आतंक! अरी दीवानी!
लगता है बगिया की बगिया ही उजाड़ देने की ठानी,
प्रलय-पवन के पंख बाँध कर, अट्टहास करतीं, उफनातीं,
सूखे तृण-पल्लव उछालतीं, घने रेत के भँवर बनातीं,
ध्वस्त नीड़, आहत विहगों की चीख़ों पर भरतीं किलकारी,
तरुवर धनुषाकार किये, किस महासमर की यह तैयारी?
वाह, कि पहले धूल झोंक कर, अंधी कर दीं दसों दिशाएँ
फिर कौशल से व्यूह बना कर टूट पड़ीं तुम दायें-बायें,
उछल चलीं झकझोर डालियाँ, कूद-कूद कर क्यारी-क्यारी
मचल-मचल कर रौंद रही हो आँखों के आगे फुलवारी,
और जले पर नमक कि जैसे, ऊपर से यह बूँदाबाँदी,
बातों-बातों कैसा तुमने खेल रच लिया अरी प्रमादी!
हम कर भी क्या सकें तुम्हारा, तुम प्रारब्ध कि तुम आँधी हो,
देख रहे, अपनी बरबादी बस, निस्तब्ध, कि तुम आँधी हो,
अभी ढली थी साँझ, चैत की चपल चाँदनी भू पर बरसी,
किरण-किरण उतरी अंबर से बिखर सुधा की मधुर लहर-सी,
वे तंद्रा की तुली थपकियाँ, वे सजीव सपनों के झूले,
वह समीर की कानाबाती, जड़-चेतन सुध-बुध सी भूले,
सहसा महानाश का प्लावन, कौंध गयीं कड़कड़ा बिजलियाँ,
स्याह कर गयीं देह चाँदनी की डस कर सर्पिणी बदलियाँ,
टूक-टूक हो चाँद भूमि पर आँसू बन कर बिखर गया है,
या फिर रक्तबीज-सा धरती के अंतर तक उतर गया है,
तुम खिलखिला रही हो जैसे हस्ती ही मिट गयी हमारी,
सावधान! यह नाश किसी उज्वल भविष्य की है तैयारी,
जीवन-श्रद्धा चिर-सुहागिनी, हरियाली इसका सिंगार है,
वंध्या नहीं धरित्री मेरी, अंबर की ममता अपार है,
तरु उखाड़ क्यारी उजाड़ लो, हम हैं कुछ अंकुर दीवाने!
हम सरसेंगे, हम झूमेंगे, हाँ, हम नहीं टूटना जानें।

●

जयेंद्रगंज, ग्वालियर।

शांतिप्रिय द्विवेदी

संस्मरण

स्मृति के सूत्र

यों तो द्विवेदी-युग के गद्य-पद्य के प्रभाव से मैं साहित्य-क्षेत्र में सन् १९२० के कुछ ही बाद आ गया था, किंतु मेरा रागात्मक संस्फुरण छायावाद के प्रभाव से सन् १९२४ में हुआ। छायावाद युग का जिन कवियों ने प्रतिनिधित्व किया, वे हैं—प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी तथा रामकुमार वर्मा। यद्यपि छायावाद के सर्वप्रथम प्रतिनिधि कवि प्रसाद जी हैं, तथापि उनकी अपेक्षा मैं निराला जी और पंत जी की कविताओं से ही प्रभावित और उत्प्रेरित हुआ। निराला जी के मुक्त छंद और ओजस्वी स्वर से उत्साहित हो कर मैं भी कविता लिखने लगा था।

मेरी परिस्थितियों और समस्याओं का निराला जी के जीवन से अधिक साम्य था, अतएव आरंभ में मैं उन्हीं के निकट संपर्क में आया, किंतु मुझमें उनके जैसा न तो उद्दाम पौरुष था और न प्रचंड स्वाभिमान। मैं निराला जी के साथ निराला हो कर नहीं चल सका। शीघ्र ही भाव और स्वभाव की दृष्टि से मैं पंत जी के काव्यकोमल व्यक्तित्व की ओर आकृष्ट हो गया। निराला जी के बाद मैं उन्हीं के निकट संपर्क में आया। किंतु भावात्मक अभिन्नता होते हुए भी सामाजिक स्तर पर मुझमें और पंत जी में उतनी ही भिन्नता थी, जितनी 'ग्राम्या' के ग्रामीण जनों और कवि की 'बौद्धिक सहानुभूति' में। मूलतः मैं भी ग्रामीण हूँ।

पंत जी के बाद मेरा परिचय महादेवी जी से हुआ। पहले कविता, फिर कवियों के सान्निध्य में आता रहा हूँ। आरंभ में महादेवी जी की कविता ने अपने कल्पना-वैचित्र्य से मुझे केवल चमत्कृत किया। वह अपनी रूमानियत में कुछ ऐसी वायवी थी कि धरती पर उसकी सामाजिक धारणा नहीं हो पाती थी। रूमानी तो पंत जी की कविता भी थी, किंतु उसमें ऐसी रागात्मकता थी जो सामाजिक धरातल पर भी स्पर्श करती थी। 'पल्लव' और 'वीणा' की विहग-बालिकाएँ, कलिकाएँ, मधुपकुमारियाँ, निर्झरिणियाँ और वीचियाँ उन ग्रामबालाओं की तरह ही पहचानी लगी थीं जिनके साथ बचपन में मैं खेला था।...

महादेवी जी की कविता की तरह ही उन्हें भी जानने-समझने के लिए मुझमें कुतूहल उत्पन्न हो गया था। सन १९३३ से '३८ तक मुझे प्रयाग में रहने और महादेवी जी के सान्निध्य में आने का सुअवसर मिला। तब तक छायावाद में वे अपना विशिष्ट स्थान बना चुकी थीं। 'नीहार' के बाद उनकी कविता का कुहरिल मुख 'रश्मि' और 'नीरजा' से सुस्पष्ट हो गया था। उन दिनों संस्कृति और कला की साधिका मेरी आर्द्रांतरात्मा बहन कल्पवती मेरे साथ रहती थी, उसी के

दिव्य व्यक्तित्व के प्रकाश में मैं महादेवी जी की कविता और व्यक्तित्व को हृदयंगम करने लगा। उनकी काव्यात्मा युग-युगों की अनुरागिनी और जन्म-जन्मांतरों की विरहिणी जान पड़ी, जो कहती थी—**कहीं से आयी हूँ कुछ भूल।**

अपने माध्यम से मैं पंत जी की कविता और बहन के माध्यम से महादेवी जी की कविता से तन्निष्ठ हो गया। अभावग्रस्त होते हुए भी मैं केवल भावुक था; जीवन की सामाजिक समस्याओं में न अपने को देख सका था, न बहन को, न पंत और महादेवी को। उस समय क्या जानता था कि जिस भाव-जगत में मैं अपने शिशु-सुलभ स्वभाव से काव्य-विहार कर रहा था उस भाव-जगत को उज्जीवित करने के लिए वस्तु-जगत में पंत और महादेवी को कितनी तपस्या करनी पड़ रही थी। पंत जी उन दिनों कालाकाँकर में रहते थे। उन्हीं के शब्दों में उनका पांथ थक गया था। वे अपने लिए और अपने माध्यम से युग के लिए भविष्य का आधार खोज रहे थे, जिसका आभास 'युगांत' और 'युगवाणी' से मिलता है। इधर प्रयाग में महादेवी जी नारी की मर्यादा स्थापित करने के लिए समाज के विरोधी तत्वों से नैतिक संघर्ष कर रही थीं; 'चाँद' के संपादकीय लेखों में अपना मानसिक मंथन दे रही थीं। मैं अग-जग से अनजान भला इन लोगों को क्या सहयोग और सेवा दे सकता था! पंत जी ने नरेंद्र को अपना सहयोगी बना कर 'रूपाभ' निकाला। महादेवी जी ने मुझे अपनी करुणा का पात्र बनाया। उन्हीं दिनों उनसे गंगाप्रसाद पाण्डेय का परिचय हुआ। वे मेरे यहाँ आया करते थे और देवी जी के यहाँ चलने का आग्रह करते थे। एक दिन बहन ने पूछा —ये देवी जी कौन हैं? मैंने कहा—वे बहुत दयावती हैं और सबको अपना दाक्षिण्य देती हैं। बहन ने कहा—अरे, अपनी देवी जी से कहना, मुझ दुखिया को भी अपना दान दें।...

जिसका जीवन ही एक दैवी उत्सर्ग था, उसे महादेवी जी क्या दे सकती थीं! ज्योति में ज्योति मिला सकती थीं। यह तो अपने को अपने में ही मिला देना था।...

सन् १९३९ के आरंभ में 'कमला' में काम करने के लिए मैं प्रयाग से काशी चला आया। वहाँ का साहित्यिक समाज संगम की तरह वहीं छूट गया।

काशी आ कर मुझे जीवन का अभूतपूर्व दारुण अनुभव हुआ। यहाँ आने के थोड़े दिनों बाद ही मेरी सदेह सरस्वती बहन का देहावसान हो गया; उसे मैं किसी पूर्वजन्म के पुण्य की तरह खो बैठा। जीवन में दुर्भाग्य का अभिशाप ही शेष रह गया। प्रयाग से महादेवी जी ने लिखा—'तुम्हें आश्वासन देने के लिए मुझे शब्द नहीं मिलते क्योंकि मैं जानती हूँ कि तुमने क्या खोया है। भगवान तुम्हें जीवन के इस कठिनतम अभिशाप को झेल कर भी अपने प्रति विश्वासी बना रहने दें, यही मेरी कामना है।...इस समय तुम प्रयाग आ सको तो अच्छा होगा।...तुम्हारे और भी एक बहन है, इसे न भूलना।'

बहन के सहसा तिरोधान से मैं ऐसा स्तब्ध हो गया था कि उसके अभाव में शून्यता का अनुभव करके भी अपनी रिक्तता का पूर्ण अनुमान नहीं कर सका। एक तो जन्मजात शिशु-संस्कार अभी स्वभाव में बना हुआ था, तिस पर बहन की आत्मीयता से अभ्यस्त अंतःकरण संसार को उसके यथार्थ रूप में नहीं देख सका था। मेरा सद्यः अवसन्न हृदय उस निःस्वन वेणु की तरह था जिसमें संगीत के अतीत हो जाने पर भी जीवन का लयस्पर्श बना रहता है। अतएव, महादेवी

जी के सहानुभूतिपूर्ण निमंत्रण पर जब मैं प्रयाग गया तब उनके सन्मुख बच्चों की तरह ही ललक कर उपस्थित हुआ। . .

किंतु प्रयाग जाकर मैं आश्वस्त नहीं हो सका। त्रिवेणी में सरस्वती की तरह लुप्त बहन को वहाँ की स्मृतियों में खोजने लगा। उसी से तो वहाँ का प्रवास भरा-पुरा लगता था। उसके अभाव में चारों ओर विस्तृत आकाश की तरह अपार सूनापन फैला हुआ दिखायी दिया। उस महाशून्य को देख कर मुझे निष्पंख पक्षी की तरह भय लगता था––कैसे इसमें तैर पाऊँगा! . . .

काशी लौट कर 'कमला' के काम में मन लगाने का प्रयत्न करने लगा। 'कमला' का काम मुझे उस गार्हस्थ्य की तरह लगा जिसे छोड़ भी नहीं सकता था और उसमें अनुरक्त भी नहीं हो सकता था। फिर भी जीवन के मोह से मैं उसमें आत्मस्थ हो गया। यदि 'कमला' में केंद्रित नहीं होता तो मैं टूटे पत्ते की तरह कहाँ से कहाँ उधिया जाता; तब बहन के जीवन-काल के बाद का लिखा मेरा अब तक का साहित्य पाठकों के सामने नहीं आ पाता।

'कमला' के कार्य-काल में बहन तो साथ नहीं थी, किंतु दूर हो कर भी महादेवी जी अपनी लेखनी से मेरा साथ दे रही थीं। अपने सामाजिक अनुभवों को वे धारावाहिक संस्मरणों के रूप में 'कमला' में लिखने लगी थीं। 'चाँद' के संपादकीय लेखों ('शृंखला की कड़ियाँ') में अभिव्यक्त उनके विवेचनात्मक विचार ही उन संस्मरणों में संवेदनात्मक चित्र बन गये थे। संस्मरण होते हुए भी उन चित्रों में अनुपम कथा-शिल्प था। वे संस्मरण ही 'अतीत के चल-चित्र' के नाम से पुस्तकाकार हो गये। साहित्य-जगत उस कृति के लिए उनका आभारी है ही, व्यक्तिगत रूप से मैं भी उनका आभारी हूँ कि मुझे 'कमला' में उसे प्रकाशित करने का सौभाग्य मिला।

'कमला' में काम करते समय मेरे भीतर एक प्रतिक्रिया हुई। जिन निर्मम परिस्थितियों में बहन का देहावसान हुआ उन परिस्थितियों ने मुझे सामाजिक चिंतन के लिए प्रेरित कर दिया। मैं छायावाद के बाद प्रगतिवाद की ओर उन्मुख हो गया। 'कमला' के संपादन-कार्य के अतिरिक्त 'युग और साहित्य' लिखने लगा। पंत जी 'युगवाणी' द्वारा पहले ही प्रगतिवादी हो गये थे। महादेवी जी प्रगतिवाद के पक्ष में नहीं थीं। अपने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में उन्होंने प्रगतिवाद का प्रतिवाद किया। महादेवी जी का दृष्टिकोण सांस्कृतिक था। बहन के व्यक्तित्व के प्रभाव से मैं भी संस्कृति के प्रति श्रद्धालु था, किंतु मेरी आस्था को सामाजिक आधार नहीं मिल रहा था।

'कमला' में काम करते समय मैं दुहरे विषाद से विकल था। एक तो मेरा चिर एकाकी जीवन, तिस पर बहन के बिछोह का सूनापन! प्रयाग में रहते समय मुझे अपने एकाकी जीवन का साम्य शरद के 'देवदास' में मिल गया था। मैंने इसी नाम से दैनिक 'भारत' में एकाध लेख लिखे; देवदास पर एक कविता लिखी जो महादेवी जी के संपादन-काल में 'चाँद' में छपी थी। उसकी कुछ पंक्तियाँ ये हैं—

किस अमृत-लाभ के लिए बंधु!
कर गये गरल पर गरल पान,

हे तप्त शप्त ! क्या मिला तुम्हें ?——
केवल विषाद का महादान !

समाज में आज तक मैं देवदास की तरह ही विस्थापित अथवा उद्वासित हूँ। सामाजिक जीवन अथवा पारस्परिक सौहार्द के अभाव में संप्रति क्या सारा संसार ही ऐसा नहीं हो गया है ? संपन्न-विपन्न सभी तो उखड़े हुए हो गये हैं।

...मेरे भावात्मक स्पंदन और सामयिक चिंतन को ले कर सन् १९४० के अंत में 'युग और साहित्य' प्रकाशित हुआ। उसके बाद कुछ ऐसा संयोग हुआ कि देवी जी मुझसे रुष्ट हो गयीं।...किंतु उनका संवेदनशील हृदय किसी से चिर रुष्ट नहीं रह सकता। समय-समय पर मुझे उनका सद्भाव मिलता रहा है। उन्हें मेरा हार्दिक अभिवादन।

——लोलार्क कुंड (भदैनी), वाराणसी।

अणिमा : ३ (जुलाई-सितंबर अंक)

कुछ विशेष आकर्षण

- **मांस का दरिया : कमलेश्वर**——नयी पीढ़ी के इस विशिष्ट कथाकार की कदाचित सर्वाधिक साहसिक और विशिष्ट कहानी।
- **बीस रानियों के बाइसकोप : राजकमल चौधरी**——नयी पीढ़ी के इस बहु-चर्चित कथाकार का बंबई की फ़िल्मी दुनिया पर लिखा हुआ नवीनतम संपूर्ण लघु-उपन्यास।
- **कायाकल्प : फ्रांज काफ़्का**——आधुनिक मानव की मनःस्थिति के सशक्त कथाकार काफ़्का की 'मास्टर पीस' कहानी 'मेटामारफ़ोसिस' का हिंदी में सर्वप्रथम अनुवाद।
- **कॉलेज स्ट्रीट के नये मसीहा : शरद देवड़ा**——इस उपन्यास-अंश में बंगला की बहु-चर्चित 'भूखी पीढ़ी' के संपूर्ण को कथा के धागों में पिरोने का दुस्साहसिक प्रयास किया गया है।
- **जहाँ आकाश नहीं दिखायी देता : विष्णु प्रभाकर**——महानगर कलकत्ते की धड़कनों को सजीव कर देने वाला एक रिपोर्ताज।

इनके अतिरिक्त अन्य कहानियाँ तथा सभी स्थायी स्तंभ। पृष्ठ वही २००। मूल्य एक प्रति २०० पैसे। वार्षिक ८०० पैसे। 'अणिमा' हर पुस्तकालय, स्कूल, कॉलेज और साहित्य-प्रेमी पाठक-पाठिका के लिए एक अनिवार्य पत्रिका है। ग्राहक बनने के लिए आज ही लिखें :

अणिमा कार्यालय
४१ ए, ताराचन्द दत्त स्ट्रीट, कलकत्ता-१।
फोनः ३४-६४०४, ३४-३३०८

व्यौहार राजेन्द्र सिंह

विश्व की एकता के साधक

इस युग में वर्तमान राजनीतिक क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण घटना है––साम्राज्यों का भंग और उनके स्थान पर स्वतंत्रता की घोषणा। साम्राज्य नष्ट हुए किंतु राज्य क़ायम रहे। पर वर्तमान काल में राज्यतंत्र के स्थान पर प्रजातंत्र की स्थापना हो रही है। यह सबसे बड़ा अंतर है जो हमें स्पष्ट दीखता है। ब्रिटिश साम्राज्य के स्थान पर छोटे-छोटे राज्य नहीं बने। किंतु बड़े गणतंत्रों का निर्माण हुआ। भारत और पाकिस्तान––यद्यपि जाति या धर्म के आधार पर भारत का विभाजन एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी किंतु वह अंग्रेज़ों की नीति के अनुकूल ही थी।

यूरोप में हेप्स वर्ग राज्य टूटने के बाद जैसे कृत्रिम सीमाएँ बनीं थीं उसी प्रकार अंग्रेज़ी साम्राज्य जाने के बाद पाकिस्तान की सीमाएँ बनायी गयीं जिनका दुष्परिणाम हम आज भी भोग रहे हैं। १५०० मील लंबे सीमांत की रक्षा का भार हमको स्वीकार करना पड़ा।

हमने बाह्य सीमा-विभाजन धर्म के आधार पर स्वीकार कर जैसी महान भूल की उसी प्रकार भाषाओं के आधार पर प्रांतों का विभाजन कर के दूसरी बड़ी भूल की। जिस समय विभिन्न प्रदेशों में राजनीतिक, व्यापारिक तथा शैक्षणिक कारणों से विभिन्न भाषा-भाषियों का इतना अधिक आवागमन, संपर्क तथा सम्मिश्रण बढ़ रहा था, उस समय भाषाओं के आधार पर प्रांतीय विभाजन कर हमने पुराने भेद मिटाने के बदले नवीन विभाजनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया। जन-आंदोलन के सामने उन्हें झुकना पड़ा। आंध्र का निर्माण कर उन्होंने जो ग़लती की थी उसी को महाराष्ट्र और गुजरात में भी दुहराया। विभिन्न भाषा-भाषियों की दृष्टि से यह चाहे सुविधाजनक हुआ हो किंतु राष्ट्रीय दृष्टि से निश्चय ही हानिकर हुआ है।

बंबई, कलकत्ता या दिल्ली सरीखे नगरों में जहाँ सभी प्रांतों के विभिन्न भाषा-भाषी लोग रहते हैं, उन्हें एक विशेष भाषा-भाषी प्रांत में रखने से राष्ट्रीयता में बाधा पड़ती है। किंतु प्रजातंत्र के नाते ही यह सब करना पड़ा। पूर्वी यूरोप ही में नहीं किंतु बर्मा में भी यही करना पड़ा। प्रांतीय शासन की दृष्टि से एक भाषा-भाषियों को एक इकाई के अंदर रखना आवश्यक हो जाता है किंतु साथ ही केंद्रीय शासन के लिए सबको एक राजभाषा स्वीकार करना, उतना ही आवश्यक हो जाता है। जिस समय भाषावार प्रांतों का विभाजन कर प्रांतीय भाषाओं को प्रधानता दी गयी उसी समय केंद्र के लिए एक राजभाषा स्वीकार करना अनिवार्य था। इसके बाद संविधान को

बदलने का प्रस्ताव करना संविधान का अपमान करना है। स्वाधीनता के बाद १७ वर्ष में कम से कम २० बार संविधान में विभिन्न परिवर्तन किया जाना—राष्ट्रीय स्थायित्व की दृष्टि से अनुचित हुआ है। जिस दिन हमने प्रजातंत्र-पद्धति को स्वीकार किया उसी दिन बहुमत का राज्य स्वीकार कर लिया। इस दृष्टि से बहुसंख्यक लोगों की भाषा को ही राजभाषा बनाया जा सकता है। अब उसका विरोध करना प्रजातंत्र का विरोध करना है। भाषा सीखने की कठिनाई को देखकर ही १५ वर्षों तक का लंबा समय दिया गया था। उस अवधि में शासन-कार्य चलाने लायक भाषा न सिखला सकना शासन का दोष है और उस भाषा को न सीख सकना शासकीय कर्मचारियों का दोष है। अपने देश की भाषा के बदले एक विदेशी भाषा को सदा के लिए राजभाषा बनाये रखना देश-भक्ति और शासन को सुचारु रूप से चलाने, दोनों ही दृष्टियों से दुराग्रह मात्र कहा जायगा। भाषावादी राष्ट्रीयता भी प्रजातंत्र की ही उपज मानी जायगी।

इस प्रकार जिस समय विश्व की एकता सबसे अधिक आवश्यक है, उस समय हमें संकीर्ण राष्ट्रीयता से भी ऊपर उठना है। इसके बदले हम प्रांतीय और क्षेत्रीय भावनाओं से प्रेरित हो रहे हैं। वस्तुतः इस समय पृथकतावादी शक्तियों का दमन आवश्यक है।

वर्तमान राष्ट्रीयता उस साम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया है जो यूरोप के आधे दर्जन छोटे-छोटे देशों ने दक्षिण अमरीका, अफ़्रीका और एशिया के बड़े-बड़े देशों पर जमा रखा था। उन पराधीन देशों में अपने देशों को दासत्व से मुक्त करने के लिए प्रयत्न प्रारंभ किया। उसकी देशभक्ति ही एकमात्र प्रेरिका थी। उसके लिए राष्ट्रीय शक्तियों का एकीकरण आवश्यक होगा। यूरोपीय मुट्ठी भर देशों का विशाल जनसंख्या वाले विस्तृत देशों पर औपनिवेशिक साम्राज्यवाद विश्व में एक विचित्र घटना थी। इनके विरुद्ध विद्रोह होना स्वाभाविक था और उसके फलस्वरूप साम्राज्यों का विघटन भी। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद इसकी प्रगति अधिक तेज हो गयी। विश्व का राजनीतिक नक़्शा एकदम बदल गया और वह अपने स्वाभाविक रूप में आ गया।

पूर्व के साम्राज्यों ने जिस प्रकार की एकता विश्व में स्थापित की थी वह इन उपनिवेशों में स्थापित नहीं हो सकी। क्योंकि इनका आधार राजनीतिक विषमता की खिसकती हुई रेती पर था। ये पाँच-छह देश भी अपना अधिकार-क्षेत्र बढ़ाने में एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करते थे। इसलिए इनका विनाश होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी। तो भी राजनीतिक एकता के साथ ही इनके द्वारा सांस्कृतिक आदान-प्रदान, संपर्क तथा मिश्रण भी चलता रहा जो इनके नष्ट होने पर भी क़ायम रहा। नकारात्मक रूप में इनकी राष्ट्रीयता साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह रूप में थी किंतु भावात्मक दृष्टि से विश्व-व्यापक एकता के रूप में थी जिसका आधार वर्तमान आधुनिक सभ्यता थी।

जैसे-जैसे यह सभ्यता उन्नत और विस्तृत होगी उसमें सारे विश्व की स्थानीय सभ्यताओं की सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ एकत्र होती जायँगी। तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसकी मूल पूंजी पश्चिमी सभ्यता ही मानी जायगी। इसका ऐतिहासिक कारण यही है कि उसी सभ्यता ने वर्तमान काल में मिस्र की एकता का आंदोलन शुरू किया था। अतः उस एकता

का रूप पाश्चात्य होना स्वाभाविक ही था। किंतु विशेषता यह रही है कि पूर्व ने भी इस सभ्यता को अपनाने में संकोच नहीं किया। पश्चिम के प्रजातांत्रिक आदर्शों ही के द्वारा पूर्वीय देशों ने पश्चिमी राष्ट्रों के प्रभुत्व के विरुद्ध आवाज़ उठायी थी। ये प्रजातांत्रिक आदर्श भी नैतिक नियमों पर आधारित थे, जो विश्व भर में एक समान हैं। इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर पूर्वी राष्ट्रीयता नें पश्चिमी एकतंत्रवादी राष्ट्रों का विरोध किया। सांस्कृतिक दृष्टि से भी इन्होंने पश्चिम के उन्हीं तत्वों का विरोध किया, जो उसकी सभ्यता की परंपरा के विपरीत थे।

पूर्वी देशों का यह विद्रोह दोहरा था। उसका राजनीतिक विद्रोह तो केवल ऊपर और उथला था किंतु उसका नैतिक विद्रोह अधिक गहरा और आंतरिक था। प्राचीन परंपराओं को भंग कर देना हमारे युग का महान आंदोलन है। ये क्रांतिकारी सुधार राजनीतिक क्रांति के अग्रदूत बन गये। ये विश्व की एकता में बाधक नहीं किंतु साधक सिद्ध होते हैं। सभ्यता के लिए राजनीतिक स्वाधीनता की उपेक्षा वे नये सुधार कहीं अधिक महत्व रखते हैं।

एक विशेष मार्के की बात यह हुई कि स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद उन देशों ने परस्परावलंबन की आवश्यकता नये रूप से अनुभव की। स्वावलंबन के साथ परस्परावलंबन की प्रवृत्तियां भी चल पड़ीं। भारत ने भी स्वाधीनता के बाद दूसरे देशों से काफ़ी तकनीकी सलाह तथा आर्थिक सहायता प्राप्त की। जिस देश के विरुद्ध उसने स्वाधीनता प्राप्त करने का युद्ध किया था उसी की सहायता और सलाह से वह अपनी योजनाएँ चला रहा है। साम्राज्यों के नष्ट हो जाने पर जो रिक्त स्थान रह गया था वह राष्ट्र संघ सरीखी संस्थाओं ने पूर्ण किया। उसके सहयोग से राष्ट्रों में शासन की अपनी प्रगति करना शुरू करके उन्नति का नया अध्याय ही खोल दिया है। साम्राज्यों द्वारा चलाये गये विधायक कार्यों को इन दोनों ने मिल कर उठा लिया। शासित और शासकों के बीच का संघर्ष दूर होने के बाद दोनों के संबंध मधुर हो गये हैं अतः सहयोग और सद्भाव भी बढ़ गया। भारत इसका उज्वल उदाहरण है जिसने अपनें अंग्रेज़ वाइसराय ही को अपना प्रथम सर्वोच्च शासक बनाना स्वीकार किया था।

इस तकनीकी प्रगति के युग में जब कि विज्ञान ने दूरी को समाप्त कर दिया है, राष्ट्र संघ की सेवाओं और स्वतंत्र राष्ट्रों की शक्ति ने मिल कर नया निर्माण करना शुरू कर दिया। छोटे देशों के लिए तो यह सहयोग वरदान ही सिद्ध हुआ। रूस और अमरीका सरीखे विशाल देशों ने भी इसका स्वागत किया और अपनें लिए भी परस्परालंबन को उपयोगी पाया।

दूसरे इस यांत्रिक युग में स्थानीय संस्थाओं का उपयोग बिल्कुल मिटाया नहीं जा सकता। नगरपालिका को अपनी नालियों और पानी का प्रबंध स्वयं देखना होगा। क्योंकि उनकी महत्ता किसी प्रकार कम नहीं की जा सकती। ये स्थानीय संस्थाएँ अपना सांस्कृतिक योगदान भी कम नहीं करेंगी। साम्राज्यों के युग में संस्थाएँ देवियों के समान बलिदान किया करती थीं। अब वह सब बंद हो जायगा। इस देवी को हमें नख-दंतहीन कर उन्हें निर्माण-कार्य में लगाया है। परस्पर युद्ध करने का जो उन्हें अधिकार प्राप्त था, उससे उन्हें वंचित करना होगा। विश्व की एकरूपता के युग में भी हमें प्रत्येक देश या राज्य की विशेषताओं को क़ायम रखना है जिनसे जीवन में एकरसता और रूखापन न आये बल्कि विविधतापूर्ण रंगीनियाँ भी क़ायम रहें।

विश्व की एकता के युग में प्रमाणीकरण और एकरूपता तो किसी हद तक अनिवार्य होगी किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि हम अस्त्र-निर्माण में एकरूपता प्राप्त कर लें तथा प्रत्येक मानवीय प्रवृत्ति को विश्व-व्यापक बना डालें। यांत्रिक क्षेत्र में चाहे यह एकता नीरस हो जाय, किंतु नैतिक क्षेत्र में तो यह निश्चय ही उदासीन होने के बदले प्रेरक ही थी। विश्व-बंधुत्व की भावना के कारण हमारी आध्यात्मिकता का स्तर भी बहुत ऊँचा उठ जायगा। यांत्रिक क्षेत्र भी नीरस एकरूपता को हमें नैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र की विविधता के द्वारा संतुलित रखना होगा। यह कार्य स्थानीय संस्थाएँ ही कर सकेंगी।

भाषा के क्षेत्र में यह कठिनाई अधिक अनुभव की गयी है। हमें अंतर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए विश्व-व्यापक भाषाओं का उपयोग करना अनिवार्य होगा, किंतु उस स्थिति में महान साहित्य का सर्जन होना कठिन हो जायगा। वह तो मातृभाषाओं में ही सर्जित हो सकता है। यदि कवि की मातृभाषा ही विश्व-भाषा हो तो बात अलग है, अन्यथा सत्साहित्य के सर्जन के लिए मातृभाषा ही को माध्यम बनाना होगा और इस दृष्टि से उसकी उन्नति करना भी आवश्यक होगा।

विश्वत्व के युग में प्रत्येक बुद्धिवादी को दो-तीन भाषाएँ जानना तो आवश्यक होगा ही। इससे उसका बौद्धिक क्षितिज भी बढ़ेगा और अपनी मातृभाषा की भी उन्नति होगी। यदि उसकी मातृभाषा छोटे-छोटे क्षेत्र तक ही सीमित है तो उसे राष्ट्रभाषा या विश्व-भाषा के द्वारा अपने विचार अधिक विस्तृत क्षेत्र में पहुँचना आवश्यक होगा। अपनी मातृभाषा के राष्ट्रभाषा बन जाने पर उस भाषा-भाषी को एक बौद्धिक बाधा ही उपस्थित होगी। श्री ट्वायन्वी के अनुसार अंग्रेज़ी और फ़्रेंच भाषा-भाषी लोग आज के संसार में सबसे कम भाषा-तत्वविद हैं क्योंकि उनकी भाषाओं का संसार में अधिक प्रचार है। वे बिना किसी दूसरी भाषा को जाने संसार भर में घूम सकते हैं इसलिए अन्य भाषाओं के विषय में उदासीन या आलसी हो जाना उनके लिए स्वाभाविक है। यही हाल हिंदी के राष्ट्रभाषा बन जाने पर हिंदी-भाषियों का हो रहा है। वे उसकी श्रेष्ठता या प्रचार के अभियान की स्थिति में दूसरी भाषाओं को सीखना आवश्यक नहीं मानते। उन्हें विश्व-यात्रा के लिए फ़्रेंच या अंग्रेज़ी तो सीखनी ही पड़ेगी। किंतु भारतीय भाषाओं को भी सीखने की प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः वे बौद्धिक दृष्टि से द्रविड़ भाषा-भाषियों से बहुत पिछड़ जायँगे। क्योंकि उन्हें भारत में व्यवहार करने के लिए दूसरी और यूरोप-अमेरिका में काम करने के लिए दूसरी भाषाओं में दक्ष होना अनिवार्य होगा।

—साठिया कुआँ, जबलपुर।

सुरेंद्र विमल

●

सौ-सौ बार नमन करता हूँ

अपने को बिखरा कर जिसने सौरभ दे डाला उपवन को,
ऐसे एक पवित्र सुमन को सौ-सौ बार नमन करता हूँ।

दूर देश के रहने वाले माली ने जब इस उपवन में, कागज़ के थे फूल लगाये,
मुक्त हवा में गाने वाली चिड़ियों के आज़ाद सुरों पर, जिस क्षण पहरे गये बिठाये,

उस क्षण अपने को बिखरा कर जिसने सौरभ दिया चमन को,
ऐसे एक पवित्र सुमन को सौ-सौ बार नमन करता हूँ।

टूट गयी हो भले मगर जो लची न हो ज़ुल्मों के आगे, ऐसी डाली पूजनीय है।
ऐसा फूल कि जो मुरझा कर फल बन जाता है उपवन में, दर्शनीय है, वंदनीय है।

बुझ कर भी जो राह दिखाती रहे घने अँधियारे पथ में,
ऐसी इक अनमोल किरन को सौ-सौ बार नमन करता हूँ।

ये बिरवे अपने उपवन के वैसे कहाँ झूम सकते थे, ले कर के इतनी अरुणाई,
सचमुच इस धरती की तह में किसी बड़े बलिदानी जन की, जैसे दबी हुई तरुणाई।

जो बतलाती है जीवन में जीने का क्या सही तरीक़ा,
मैं ऐसी बहुमूल्य चुभन को सौ-सौ बार नमन करता हूँ।

●

द्वारा, श्री शत्रुघ्नलाल,
पूरब टोला, बलरामपुर, गोंडा।

देवेन एकाकी

कहानी

दाड़िम के फूल

दो बाँस दिन चढ़ आया था। वैशाख का मौसम। मधुली को गेहूँ के लंबे-चौड़े खेतों में मुंह-अँधेरे ही पहुँच जाना था। कुछ घबराहट के साथ उसे स्वयं पर थोड़ी झुँझलाहट-सी हो आयी : हुँह! और रातें ही कौन सी लंबी होती हैं आजकल, जो दो घड़ी आराम की नींद ही ली जा सके! उसने लोहार के यहाँ से आयी हुई नयी-नयी दराती ली और पत्थर पर ख़ूब घिस कर उसकी धार तेज़ की। फिर रस्सी ले कर वह मील दो मील की दूरी पर अपने गेहूँ के खेतों की ओर चल दी।

पकी हुई फ़सल लहलहा रही थी। जहाँ तक दृष्टि जाती लंबी-चौड़ी बालें ही नज़र आ रही थीं। आस-पास के खेतों में न जाने कब से लोग आ कर काम में जुट गये थे। मधुली ने रस्सी एक तरफ़ फेंकी और उसके हाथ तेज़ी से गेहूँ काटने में लग गये। कभी पुरवाई का एक झोंका आता और फ़सल से भरा सारा खेत चादर-सा हिलने लगता। कितनी भरी हुई फ़सल है—उसने सोचा—और भैरव देवता की कृपा से अगर अच्छी तरह सम्हाल ली गयी तो सभी भकार (संदूक) भर जायेंगे! फ़सल की एक विशेष सुगंध के नशे में वह झूम-सी गयी। वह काट-काट कर पूले बनाती जा रही थी। दुतरफ़ा काम करना पड़ रहा था—एक तरफ़ बालें काटने का और दूसरी ओर सुओं (तोतों) पर नज़र रखने का। ज़रा नज़र चूकी नहीं कि दुश्मनों की एक ही दांग (झुंड) सारा खेत चौपट कर सकती है। इसलिए एक आँख सदा विस्तृत खेत की फैली हुई छाती पर, और इधर कटायी का दूसरा काम। धूप तेज़ होने लगी। सबेरे-सबेरे जिसने जितना काम कर लिया सो कर लिया, फिर तो सूरज सामने आ जाता है और सिर तपने लग जाता है। बहुत देर बाद वह कमर सीधी करने के विचार से खड़ी हुई; एक ढेला उठाया और नीचे के खेतों की ओर भनभनाता हुआ फेंक दिया—हाट........लेऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ......

आवाज़ सुन कर दो-चार लोग सजग हो उठे और खेतों की मेंड़ों पर टहलने-फिरने लगे। वहीं से फ़सल पर दो-चार बातें करते-करते मधुली ने भी सोचा ज़रा आराम कर लूँ, लेकिन फिर विचार आया कि अभी तो फ़सल में हाथ लगा ही रही हूँ, और लोग तो न जाने कितनी रात से काम में लगे हैं। यह सोच कर वह फिर अपने काम में जुट गयी।

दो-चार खेत ऊपर से उसे किसी के खाँसने-खखारने की आवाज़ सुनायी दी। तभी पत्तों की सुलपाई (हुक़्क़े) में तंबाकू डालते हुए मेंड़ पर से जिबुवा की आवाज़ आयी, "हो भौजी, इस

बार तो फ़सल काफ़ी भरी हुई है।" मधुली ने आवाज़ सुनी लेकिन उसे टाल देना ही ठीक समझा। सुना-अनसुना कर वह काम ही में लगी रही।

पचीस का था तभी घर वाली को छोड़ दिया था। दस साल हो गये वैसे ही साँड़ जैसा पड़ा है। श्मशान जैसे सुनसान घर में अकेला भूतों जैसा न जाने कैसे रातें काट लेता है। बिना औरत के मरद कैसा? खबीस है पूरा.....सोचते-सोचते मधुली को एकाएक पुरानी स्मृतियों ने घेर लिया। हृदय में टीस-सी उठी—बिना औरत के मरद कैसा?.....यही विचार उसके मस्तिष्क में चक्कर काटता रहा। सामने देखा, अभी तो पूरा खेत पड़ा है। कितने धीरे चल रहे हैं उसके हाथ! धूप तेज़ हो चली थी। अँगुलियों से माथे पर का पसीना पोंछा और फिर एक पूला हाथ में ले कर वह खड़ी हो गयी और उसे बाँधने लगी। उधर जिबुवा ने अंतिम कश लिया और सुलपाई को एक ओर फेंक कर अँगड़ाई लेते हुए उठ कर खड़ा हो गया। इस बार मधुली को देखते ही वह बोला, "अब तो थक गयी होगी हो भौजी, थोड़ा सुस्ता लो न!"

मधुली ने मन में सोचा कि उलट कर कह दे कि तुझे क्या पड़ी है मेरी थकान से। अपना काम कर न! लेकिन न जाने क्या कह वैठे उलट कर। वैसे ही गाँव वाले बदनाम करने पर तुले हैं। कहीं मुझको ही दो-चार खरी-खोटी सुना दीं तो.....? यही सब सोच कर उसने सहज भाव से कहा, "कहाँ, अभी-अभी तो आ रही हूँ। तुम तो न जाने कब से काट रहे हो।"

"अकेला परान क्या-क्या करे। मैं तो आज पछता रहा हूँ, हो भौजी! सचमुच तिरिया-हीन घर नरक हो जाता है।"

मधुली को फिर एक चोट सी लगी। उसे लगा, कहीं दूर से एक सुओं की दांग उसके खेतों की ओर चली आ रही है और पल भर में ही वह सारी बालें उड़ा ले जायगी। अनमने भाव से उसने एक ढेला खेतों की ओर फेंक दिया—हाट......हाऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ....और फिर उसी के बारे में सोचने लगी।.....आखिर वह काम क्यों नहीं कर रहा है? धूप सिर पर चढ़ी आ रही है। उँह! मेरा लगता ही कौन है?......न जात का, न बिरादरी का!.....भाभी कहता है मुझे। और फिर एक हल्का सा ठिठोली भरा वाक्य, "तुम लोग मरद थोड़े ही हो। खबीसों की तरह बस दिन काट रहे हो।" कह कर वह फिर अपने काम में जुट गयी। जिबुवा भी हँसते हुए अपने खेत में घुस गया।

सूरज की किरणें सिर में सुई जैसी चुभने लगी थीं। कपार तपती धूप से फटने सा लगा। मधुली उद्विग्न हो उठी और थोड़ा विश्राम करने के लिए पास के दाड़िम के बोट (पौधे) के नीचे छाया में बैठ गयी। बैठे-बैठे उसने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी। लोग अपने-अपने खेतों में काम कर रहे थे। ऊपर जिबुवा अपने भाग्य को कोसता हुआ पूले बाँधता जा रहा था। दाड़िम के बोट पर लाल-लाल फूल समाप्त हो चले थे। उसने उन फूलों की ओर देखा और उसे लगा कि उसका धड़कता हुआ हृदय पनार के पानी में कहीं दूर तक अंदर की ओर धँसता जा रहा है। स्मृति जीवन के अठारह-उन्नीस साल पहले के धुँधले अतीत में भटकने लगी......अपनी झगुली के फेंट में ढेर सारे लाल-लाल दाड़िम के फूलों को बटोर कर वह अपने आँगन में लाती थी। सबसे सुंदर लाल फूल को वह ब्योली (दुल्हन) बनाती थी और दूसरे को दूल्हा। शेष फूल बराती होते थे। धूम-धाम से उनकी शादी रचाती थी और फिर उसके ब्योली और दूल्हा साथ-साथ रहने लगते थे। आज, उसे

लगा कि वह सब झूठा था। काश ! वह सच होता––उन्हीं दाड़िम के फूलों की-सी बारात और उन्हीं दाड़िम के फूलों जैसा जनम-जनम का साथ ! . . . लेकिन आज तो वह सब झूठा साबित हो गया है––वह दाड़िम का फूल ! . . खिन्न और अलसाई सी वह उठ खड़ी हुई; दाड़िम के बोट की ओर रिक्त निगाहों से देखा और फिर गेहूँ काटने में लग गयी। स्वप्न की तरह उसके सामने कभी खड़क सिंह, कभी दाड़िम के फूल घूम रहे थे। और वह जिबुवा . . खबीस !

दाड़िम के बोट की छाया सिकुड़-सिमट कर छोटी होती गयी। दूर पनार का पानी गले की चाँदी की हँसुली-सा चमक रहा था। अनायास ही मधुली का ध्यान अपने सूने गले की ओर चला गया; फिर हाथों और पाँवों की ओर। ये सभी बातें उसे बेकार सी जान पड़ीं और वह उनसे ध्यान हटा कर गेहूँ की बाल काटने में उलझने का प्रयत्न करने लगी।

आधा खेत कट चुका था और सूरज सिर पर चढ़ आया था। वह ऊब कर उठ खड़ी हुई और दाड़िम के बोट की छाया में सम्हाल कर रखे हुए लोटे से पानी पिया; फिर कटी हुई बालों के पूलों को समेट कर गट्ठर बनाने में लग गयी। तभी मन में फिर अतीत गूँज उठा––'पूलों को रस्सी में कस कर बाँध लेना, कहीं रास्ते ही में न बिखर पड़ें।'––उसे आज से सात साल पुराना एक वैशाख याद हो आया––तपती दुपहरी का वैशाख ! चिलचिलाती धूप में वह आज की तरह खेत में अकेली नहीं थी ! इसी गट्ठर की तरह प्रेम की डोर से वे भी तो कस कर बँध सकते थे ...स्मृति की चपला उसके मस्तिष्क में कौंध गयी.... लेकिन खड़क सिंह––वह तो बस अपने ठकुरई उन्माद में ही इतरा गया था ! अपने पर भी उसे पश्चात्ताप हुआ कि वह स्वयं भी तो जा सकती थी उसके पास। लेकिन उस समय मति में न जाने क्या फ़रक़ पड़ गया था। ख़ैर, वह तो औरत जात ही थी, लाज-शरम से भी डर गयी थी, पर खड़क सिंह तो बड़ा ठाकुर बना फिरता था। ख़ुद ही आ जाता, बुला ले जाता उसे। क्या कर लेते ये गाँव वाले ! कोई भला-बुरा कहता तो बाल पकड़ कर भुट्टे-जैसा तोड़ डालता उसे। इतनी भी दम नहीं थी तो फिर एक औरत को घर में रखने का विचार ही कैसे आया उसके मन में . . ! ख़ैर, अब उसका क्या सोच; लंबे सात साल गुज़र चुके हैं. . . .

वह एक गड्ठा बाँध कर दूसरे गड्ठे के लिए पूले समेटने लगी। उपर के खेतों में काम करता हुआ जिबुवा फिर उसके विचारों में सरक आया। . . अकेला कैसे रहता होगा उस मनहूस घर में ! ख़ैर, ये मरद चाहे अकेले रह भी लें, लेकिन एक औरत कैसे अकेले जिंदगी गुज़ारेगी ? . . पहले स्त्री, फिर माँ और फिर सास के सपने उसकी आँखों के सामने तैर आये। वह एक बार फिर खड़क सिंह को कोसने लगी। शादी के पहले कौन लड़की ऐसा नहीं करती ? बड़ी सयानियों तक से भी तो ऐसी भूल हो जाती है। फिर वह तो सत्रह की ही थी। जिबुवा भी कैसे रख लेता उसे ? खड़क सिंह के नाम से थर्राता जो था। गाँव वाले अलग उसे काट कर फेंक देते। ठाकुर ही तो हैं ! ब्याह से पहले नादानी में उसका जिबुवा से मेल-जोल था, लेकिन उससे क्या ! तब तो वह बच्ची थी। फिर भी, किसी बुरे विचार से तो भाग नहीं आयी थी।..... उसने एक बार फिर सोचा कि वास्तव में भूल खड़क सिंह की ही थी। वह अब उसे लेने कभी नहीं आयगा।..... सहसा स्मृतियों को परे झटक खेत की मेंड़ की सहायता से उसके बालों का

गट्ठर सिर पर उठाया और दराती कमर में खोंस, बायें हाथ से लोटा उठा कर घर की ओर चल पड़ी।

लोग जा चुके थे, या फिर जा रहे थे। दूर पहाड़ की तरफ़ से कुकू पक्षी की आवाज़ आ रही थी——कुकू......कुकू......। उसको लगा कि वह नीले आसमान और इस विशाल धरती के बीच बिल्कुल अकेली है। गेहूँ की भरी फ़सल के बीच भी उसे सब खेत सूखे-से प्रतीत हुए। सोचने लगी कि कब घर पहुँचेगी और कब खाना पकायेगी। दुपहर ढलते ही तो फिर खेत में आ जाना है! इस बीच सुओं की दांग फ़सल पर बैठ गयी तो? खेतों में ढेले पकड़े खड़े छोटे-छोटे लड़के-लड़कियां सहसा उसके मस्तिष्क में घूम गये। रीती कोख की एक कसक ने उसके मन को झकझोर दिया। उसको लगा जैसे वह गेहूँ माँड़ने के खलिहान में बैलों की जगह जोत दी गयी हो। उसने एक बार फिर खेतों की ओर नज़र डाली। न चाहते हुए भी उसकी दृष्टि जिबुदा के खेत की ओर घूम गयी। कैसा पक्का शरीर था उसका। आज पैंतीस वर्ष हो गये, किसी औरत से हँसी-मज़ाक तक करते नहीं देखा! सिर पर गेहूँ का एक भारी गट्ठर रखे खेत की मेंड़ ही मेंड़ जिबुवा चला आ रहा था। न जाने क्यों मधुली को पाँव थके-थके से लगने लगे; क़दम अनायास ही धीमे पड़ गये। पचास हाथ भी मुश्किल से नहीं गयी होगी कि जिबुवा के क़दमों की आहट साफ़ सुनायी देने लगी। वह कुछ बोली नहीं, लेकिन उसको लगा जैसे पनार का पानी कहीं पर किसी ने बाँध दिया है और वह इधर-उधर से बाहर निकलने का प्रयत्न कर रहा है। सँकरी राह——इसलिए जिबुवा मधुली के पीछे ही चल रहा था। एकाएक बोल पड़ा, "आजकल भूख भी जल्दी लग जाती है। चूल्हे पर तो इस वैशाख में बिल्कुल झुलस जाते हैं। क्यों भौजी?"

मधुली ने सोचा, सच ही तो कह रहा है। औरतों का तो ख़ैर रात-दिन का काम ही है, लेकिन मरद बेचारा चूल्हे के आगे कैसे बैठ सकेगा! उसे लगा कि वह भी उसी की तरह अकेला खेत में न जाने क्या-क्या सोचता होगा। चाहे बाहर से कुछ ही दिखाये, मन तो घरवाली के लिए तरसता ही होगा। गाँव की आख़िरी सरहद पर, सारी बिरादरी से दूर उस सुनसान भुतहे घर में कैसे दिन काटता होगा बेचारा? उसे जिबुवा और स्वयं में काफ़ी समानता दिखायी दी। वह सोचने लगी कि उतनी बूढ़ी राँड़ कैसे ऐसे मज़बूत आदमी को छोड़ कर घर से भाग गयी! आज बेचारा किसी के शादी-विवाह में भी शरीक नहीं होता। हो भी कैसे! कलेजा फटने लगता होगा उसका। सोचते-सोचते वह हलके से बोली, "क्यों, खाना पकाने में भी मुश्किल होती है? घरवाली रखने में तो तुम लोगों के परान निकलते हैं।"

"क्या कहूँ हो भौजी! अब तुमसे क्या छिपाना। उसके जाने के बाद पंद्रह दिन तक तो किसी चीज़ में मन ही नहीं लगा मेरा; न रात में नींद न दिन में चैन। जितना सुख मैंने उसे दिया, भगवान ही जानता है। उमर क़सम, रत्ती भर भी दुख नहीं दिया। सीधों के दिन फिर गये हैं भौजी! न जाने किनके कहने-सुनने में आ कर चली गयी। शरम के मारे मुझको मुँह तक नहीं दिखायगी कभी। मेरा ज़रा भी कसूर हो तो मुझे......।" वह अपने को एक गंदी-सी गाली देने ही जा रहा था कि मधुली ने बात काट दी, "कैसी बातें करते हो। अब छोड़ो, जो हो गया सो हो गया।"

"आदमी भी कितना निर्दयी होता है भौजी!.....खड़कुवा तो क्या ही आया होगा तुम्हारे यहाँ। बड़ा वीर बनता है, इतनी हिम्मत नहीं हुई कि आ कर ले जाता तुम्हें। बदनामी से डर गया।"

मधुली के क़दम कुछ तेज़ होने लगे। गट्ठर का बोझ गर्दन तोड़े दे रहा था। एक काँटा जैसे उसके दिल में रह-रह कर चुभ जाता था। वह फिर सोच में डूब गयी....बड़ी डींग मार रहा है। ख़ुद ही तो घरवाली को भगा कर अकेला पड़ा सड़ रहा है! तभी जिबुवा ने ख़ुद ही जैसे उसके मन की बात का उत्तर दे दिया, "मैं तो दो-तीन बार गया भी उसके पास, मगर कभी घर पर मिली ही नहीं। मिलती तो चुटिया पकड़ कर खींच लाता। अंत में उसकी माँ कहने लगी कि बहुत दुख दिये हैं तूने मेरी लड़की को। अब तुम्हीं बताओ भौजी, कैसी दशा हुई होगी मेरी उसकी बात सुन कर ग़ुस्से में वहीं पर क़सम खा आया कि ठाकुर का बच्चा नहीं कुत्ता कहलाऊँ जो फिर कभी तेरे दरवाज़े पैर रखूँ और तेरी लड़की को ले जाने की बात भी करूँ।"

बात करते-करते अलग-अलग रास्ते आ गये। जिबुवा अपने रास्ते और मधुली अपने रास्ते चली गयी। सोचती रही कि सचमुच अब उसे लेने भी कोई नहीं आयेगा। लाल-लाल फूलों से भरा दाड़िम का बोट उसे याद आया। उसे लगा कि बोट से तमाम फूल झर गये हैं और वह सबको बटोर कर एक क़तार में सजाने लग गयी है। लेकिन तभी उसे महसूस हुआ कि वह सब तो एक स्वप्न मात्र था और दाड़िम के सभी फूल सूख चुके हैं। तभी पछुवा का एक तेज़ झोंका उसके शरीर को झकझोर गया—खड़क सिंह उसे लेने अब कभी नहीं आयेगा और जिबुवा की स्त्री भी अब कभी लौट कर नहीं आयेगी। वैशाख की तपती दुपहरी में भी उसे कुछ ठंढक सी महसूस हुई। उसे अपना बचपन जिबुवा के साथ पनार के पानी के बीच लहरों के साथ बहता हुआ दिखायी दिया। वह मकान की छत पर चढ़ गयी और वहाँ गट्ठर खोल कर लाइन में पूले सजाने में लग गयी। बूढ़े पिता जी और भाई गायों के साथ बाहर गये हुए थे। घर में वह बिलकुल अकेली थी। देर तक विचारों में उलझी काम में लगी रही और दोपहर ढलते ही फिर खेतों की ओर चल पड़ी।

खड़क सिंह बहुत सोचता रहा। अंत में जब खीमसिंह की बारात घर पहुँच ही गयी तब उसने दुल्हन का मुँह देख कर अपने को हज़ार बार कोसा। इन सात सालों में जो-कुछ हो गया उसे अब वह भूल जाना चाहता था। बाहर पुरवाई के हल्के-हल्के झोंके चल रहे थे और उसके मन में एक अजीब कशमकश । पर जल्दी ही उसकी उलझन समाप्त हो गयी और उसने न जाने क्या-क्या संकल्प कर लिये। एक गुदगुदी सी उसके सारे शरीर में व्याप्त हो गयी और वह बाहर पगडंडी पर निकल आया।

पूर्णिमा का पूरा चाँद निकल आया था और खड़क सिंह पनार को पार कर के ऊपर वाले गाँव की ओर धीरे-धीरे चढ़ रहा था। पनार के पानी में वह देर तक संपूर्ण चंद्रमा का प्रतिबिंब देखता

रहा था और जैसे ही उसके पाँव पानी में पड़े, वह स्थिर प्रतिबिंब बिगड़ गया। चौंक कर वह उदास-सा हो गया; कभी चाँद की ओर देखता, और कभी उसके टूटे हुए प्रतिबिंब की ओर।

तीन मील की चढ़ाई चढ़ कर वह गाँव के समीप उस स्थान पर पहुँच गया यहाँ जिबुवा के मकान से गाँव की सीमा शुरू होती थी। खड़ी चढ़ाई थी और उसका मन आशंकाओं से भरा हुआ था। थोड़ा सुस्ताने के लिए वह जिबुवा के मकान के पीछे एक पत्थर पर बैठ गया। आज बहुत दिनों बाद वह उसके विषय में सोच रहा था....कैसा मनहूस आदमी है, यह जिबुवा! गाँव के किनारे सुनसान में अकेला पड़ा रहता है। फिर उसे याद आने लगा कि वह भी तो सात साल से इसी प्रकार मनहूसियत में दिन काट रहा था.... जिबुवा को ब्याह कर लेना चाहिए अब। ऐसे कब तक काम चलेगा! तभी उसे भीतर से जिबुवा के खाँसने की आवाज़ सुनायी दी। वह किसी के साथ बातें कर रहा था। दूसरी आवाज़ किसी स्त्री की थी। खड़क सिंह सोचने लगा कि इसकी शादी की तो इस बीच कोई खबर मेरे कानों में पड़ी नहीं, इसने आख़िर घर कहाँ से बसा लिया! कौतूहलवश वह मकान के बिल्कुल पास खिसक आया। आवाज़ साफ़ सुनायी दे रही थी—"मैं तो ख़ैर बच्ची ही थी। नादानी में भाग आयी उसके पास से, लेकिन वह तो समझदार मरद था। उसे किसी का क्या डर था। ले जाता आ कर मुझे। पर उस पर ठकुरई का जोम सवार था। बोला कि जो चाहे मुझे रखे; वह कभी मुझको लेने नहीं तो आयेगा।"

उस नारीकंठ को पहचान कर खड़क सिंह सन्न रह गया। उसे लगा कि वह खड़ा नहीं रह सकेगा; लड़खड़ा कर वहीं गिर पड़ेगा। मन की सारी उमंग विषाद और निराशा में बदल गयी। रह-रह कर यही कचोट उठती कि उसने बहुत देर कर दी। आख़िर मधुली कब तक प्रतीक्षा करती! और यह विचार आते ही उसका मन एक अजीब करुणा से भर उठा; आँखें छलछला आयीं। वहाँ क्षण भर भी रुके रहना उसके लिए असंभव हो गया और सिर झुकाये, थके क़दमों से चुपचाप वह उसी रास्ते नीचे उतरने लगा।

—किलार्नी कॉटेज,
अयार पाटा, नैनीताल।

रामजी सिंह

भारतीय कृषक-समाज और कृषि

आज भी छोटे बच्चों की पोथियों में पढ़ाया जाता है कि 'भारत एक कृषिप्रधान देश है'। कभी-कभी बड़ी हँसी आती है और हँसी के साथ ही साथ रोना भी आता है कि वास्तविकता कितनी नंगी और कष्टकर है। यह सही है कि आज़ादी के पहले भारत पूरी तरह कृषिप्रधान था और भारतीय संस्कृति गाँवों में पलती थी और सच पूछा जाय तो लोग कमोवेश सुखी भी थे; यदि सुखी नहीं थे तो संतोषी तो अवश्य ही थे। मगर आज़ादी के बाद हालात कुछ इस तरह बदले हैं कि खेतों के साथ-साथ भारतीय कृषक-समाज का जीवन भी ऊसर होता गया है और हम बुनियादी संस्कृति की जड़ से भी उखड़ते जा रहे हैं। साथ ही हम जिस भी दिशा में कुछ रचने की कोशिश करते हैं वह पूरी तरह धुरीहीन होता जा रहा है। यह 'धुरीहीनता' चाहे हमारे देश की ग़लत राजनीति का परिणाम हो या उस पीढ़ी की अकर्मण्यता का जो आज़ादी के बाद पढ़-लिख कर निकली और अब भी रोज़गार-दफ़्तर के सामने भीड़ के रूप में खड़ी है और बेकार है, मगर सचाई यह है कि देश की धरती दिन पर दिन बंजर होती जा रही है और आज हमारे सामने खाद्यान्न की विकट समस्या आ खड़ी हुई है। उसे सरकार की 'पंचवर्षीय योजनाएँ' किसी भी तरह हल कर पाने में नाकामयाब सिद्ध हो रही हैं।

हाल तो यह है कि आज़ादी के पहले दिन से ही हमने जिस 'समाजवाद' का नारा लगाना शुरू किया, वह या तो एशिया के नवोदित समाजवादी देशों की भावुकतापूर्ण नक़ल थी या किताबों की घिसी-पिटी परिभाषाएँ थीं जिनका आग्रह भी भावुकतापूर्ण ढंग का ही था। हमने अपने भारतीय समाज की भीतरी सचाई को छूने और परखने की कोशिश नहीं की। आज़ादी के बाद भी हमारी नीति अंग्रेज़ों की नीति से बहुत अलग नहीं हो सकी। यह सही है कि ज़मींदारी-उन्मूलन और भूमिधर क़ानून आदि कुछ क्रांतिकारी क़दम भी उठाये गये, किन इससे कृषि की समस्या का कोई निश्चित हल सामने नहीं आ सका। इसका भी कारण यही था कि हम अपने अगले क़दम के बारे में पूर्णतः अनभिज्ञ थे। सरकार पर मेरा यह आरोप लगाना अनुचित नहीं होगा कि वह दिनोंदिन कृषि की ओर से उदासीन होती गयी है अथवा उसने उस पटुता के साथ अपनी योजनाओं को क्रियान्वित नहीं किया है, जिस ढंग की पटुता उसने विविध उद्योगों के प्रसार में अपनायी है।

यदि हम ज़रा भी वैज्ञानिक ढंग से सोचें तो इस समस्या के कई कोण बनते हैं और प्रत्येक कोण का मूल बिंदु एक ही है। अच्छा है हम इसे स्वयं इसी के अस्तित्व में परखने की कोशिश

करें और किसी अन्य समस्या को इस पर आरोपित कर सचाई को दुराने की कोशिश न करें। मसलन, कभी-कभी देश की विपन्नता या खाद्यान्न की समस्या के लिए लोग जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि की दुहाई देने लगते हैं। यह ग़लत है। जनसंख्या की वृद्धि हमारी विपन्नता की उपज है और विपन्नता देश की खाद्यान्न-समस्या की। हम चाहे जिधर से भी घूम के आयें, हमारी तमाम समस्याओं के मूल में कृषि की समस्या वर्तमान है।

यह नहीं है कि इस देश में श्रम की कमी है या खेतों की। खेत जहाँ के तहाँ अब भी मौजूद हैं और श्रम का स्रोत दूसरी ओर को बह निकला है––ज़्यादातर उद्योगों की ओर अथवा प्रशासन की ओर। इसका भी कारण है और बड़ा ही वाजिब कारण है। ज़मींदारी-आंदोलन के बाद भी खेत जिन हाथों में आने चाहिए थे नहीं आ पाये और उनका बटवारा इस ढंग से नहीं हो सका कि श्रम का समुचित उपयोग किया जा सके। यदि किसी गाँव की समूची खेती-योग्य भूमि एक हज़ार एकड़ है तो आधे से ज़्यादा भूमि के हक़दार गाँव के तीन-चार ही धनी-मानी लोग होते हैं। आधी या आधी से भी कम ज़मीन पूरे गाँव के हाथ में होती है, जिसमें २० से ५० के बीच लोग हो सकते हैं अथवा इससे भी ज़्यादा। वास्तविकता यह है कि यदि ५ एकड़ वाले किसान की पूरी पैदावार १०० मन होती है तो ५० एकड़ वाले किसान की पूरी पैदावार लगभग ५०० मन से ज़्यादा नहीं होने पाती। इस तरह भूमि की पूरी क्षमता का उपयोग नहीं हो पाता है और भूमि की उर्वरता धीरे-धीरे समाप्त होने लगती है। बार-बार फ़सलों के ख़राब होने और पैदावार के कम होने का परिणाम यह होता है कि किसान की कृषि के प्रति अभिरुचि समाप्त होने लगती है। उच्च वर्ग के किसानों के पास भूमि आवश्यकता से अधिक होने के कारण उनकी ज़रूरतें एक निश्चित मात्रा में पूरी हो जाती हैं और बहुधा उनके परिवार के सदस्य अन्य उपायों से भी अर्थोपार्जन कर लेते हैं जिससे वे अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखते हैं।

मध्यम वर्ग के किसानों को छोड़ कर, जिनके पास भूमि, श्रम और कृषि के अन्य साधन आवश्यकता के अनुकूल ही होते हैं और जो किसी तरह अपना जीवन-निर्वाह सामाजिक प्रतिष्ठा के साथ करने में सफल होते हैं, किसानों का एक वर्ग और होता है। इस वर्ग के किसानों के पास ज़मीन बहुत ही कम होती है––तीन-चार बीघे के क़रीब। कुछ तो ऐसे भी होते हैं जिनके पास ज़मीन नाममात्र को भी नहीं होती। ये लोग अर्ध-मज़दूर या अर्ध-किसान कहे जा सकते हैं। ये लोग अपने ही गाँव के किसी बड़े किसान के यहाँ मज़दूरी करते हैं और उसके एवज़ में उन्हें कुछ खेत मिल जाता है, जो एक एकड़ से भी कम होता है। किसी भी गाँव में इन लोगों की तादाद सबसे ज़्यादा होती है और ये ज़्यादातर तथाकथित निम्न जातियों के लोग ही होते हैं। ये पूरी तरह से अपने 'बाबू' लोगों के हाथ बिके होते हैं। इनका पूरा श्रम 'बाबू' लोगों के खेतों में ही व्यय हो जाता है और ये अपने खेत में इतना ग़ल्ला भी नहीं उपजा पाते कि उनका पूरा परिवार अपना पेट भर सके। अब तक गाँवों का यह वर्ग अशिक्षा, ग़रीबी और सूद के बोझ के नीचे इस बुरी तरह दबा हुआ है कि आज़ादी की कोई भी चेतना इसके भीतर ज़रा भी नहीं पनप पायी है। दिन-रात ये कोल्हू के बैल की तरह अपने मालिकों के लिए खटते हैं और अपने लिए सिर्फ़ बच्चे पैदा करते हैं और जीवित नरक भोगते रहते हैं। भारत की 'समाजवादी' सरकार अब तक

इन लोगों के जीवन में आशा की एक भी किरण नहीं फेंक पायी है, जब कि ग़ौर से देखा जाय तो ये लोग संख्या में भारत की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा हिस्सा घेरे हुए हैं।

इधर कुछ वर्षों के बीच एक परिवर्तन और देखने में आ रहा है, जो साक्षात कृषि के प्रति बदली हुई मनोवृत्ति का द्योतक और ग़रीब किसानों की निराशा और उदासीनता का बोधक है। यह है निम्न वर्ग के अर्ध किसानों का मज़दूरी पेशों की ओर धीरे-धीरे झुकना। अब वे किसान जो गाँव के श्रेष्ठ किसानों के यहाँ सिर्फ़ मज़दूरी करते थे और उसके बदले कुछ अनाज या खेत पाते थे, धीरे-धीरे इस पेशे को छोड़ने लगे हैं। उसका एकमात्र कारण कृषि की अनिश्चितता है, क्योंकि उनके अनुभव से धीरे-धीरे इस बात की गहरी लकीर जमती गयी है कि कृषि के लिए जोखम उठाना बेकार है और इसमें अब कुछ भी मिलने-जुलने को नहीं। इससे बेहतर वे यही समझते हैं कि पास के क़स्बे या शहर या किसी बड़े औद्योगिक नगर में जा कर कुछ कमाई की जाय। यह कमाई मज़दूरी के अलावा दूसरी नहीं है। हालाँकि वे इस पेशे में भी ग़रीबी और शोषण से मुक्त नहीं हो पाते, लेकिन अपने जीवन-निर्वाह के प्रति कुछ निश्चितता उन्हें अवश्य प्राप्त होती है। इस तरह हम देखते हैं कि श्रम क्रमशः धरती की गोद से हटता जा रहा है और धरती दिनोंदिन बंध्या होती जा रही है।

खेती के साथ अब तक वे ही लोग जी-जान से जुटे हुए हैं जिनके पास कोई दूसरा चारा नहीं रह गया है, या वे लोग हैं जो अपने बाप-दादों की परंपरा को ढोना ही श्रेयस्कर समझते हैं और जिस किसी भी तरह अपनी मिट्टी के साथ ही अपनी ज़िंदगी गुज़ार देने के हिमायती हैं। ये लोग अपनी बूढ़ी और थकी हुई हड्डियों पर अब भी नाज़ करते हैं और अपनी पूरी शक्ति के साथ 'भाग्य' के क्रूर चक्र से जूझ रहे हैं। इस श्रेणी में अधिकतर मध्यम वर्ग के ही किसान हैं। किंतु जहाँ एक नयी पीढ़ी का सवाल है, यह पूरी की पूरी पीढ़ी खेती की परंपरा से कटती जा रही है। पढ़-लिख कर बेकार रहना इस पीढ़ी को गवारा है, मगर खेत की मिट्टी में पाँव रखना ये उचित नहीं समझते। संभवतः यह हमारी शिक्षा का ही दोष है जो नौकर तो पैदा कर सकती है मगर किसान नहीं पैदा कर सकती। हालत यहाँ तक बिगड़ चुकी है कि कृषि-विषय ले कर पढ़ने वाला छात्र भी अपने चमचमाते बूटों को धरती की मिट्टी में धँसने नहीं देना चाहता। इसका सबसे बड़ा कारण 'कृषि' की अनिश्चितता और प्रशासन की ओर से किसी प्रकार के प्रोत्साहन का न प्राप्त होना ही है। कृषि एक ऐसा व्यवसाय बन गया है जिसमें जाना लोगों को अपनी बेइज़्ज़ती महसूस होती है—खास कर पढ़ी-लिखी नयी पीढ़ी को, जिसका शिक्षोपरांत एकमात्र लक्ष्य नौकरी करना ही होता है। लोग पैसा पैदा करना चाहते हैं, अनाज नहीं। और आज की बिगड़ी हुई हालत के एकमात्र ज़िम्मेदार यही लोग हैं जो पैसा पास में रख कर भी अनाज नहीं पा रहे हैं। पता नहीं इतनी लंबी-चौड़ी धरती का भविष्य क्या होगा; बूढ़ी हड्डियाँ कब तक चट्टान तोड़ती रहेंगी!

आज के इस वैज्ञानिक युग में आधुनिक यंत्रों की सहायता से खेती की दशा सुधारी जा सकती है, किंतु भारत इस क्षेत्र में अभी बहुत पीछे है। कोई भी किसान इतनी अधिक मात्रा में पूँजी लगाना जल्दी स्वीकार नहीं करता और सरकार की तरफ़ से कुर्सीपरस्त अफ़सरों के द्वारा

किसी प्रकार की सहायता का सहज ही सुलभ हो जाना स्वप्न ही है। इसका परिणाम भोगना पड़ता है यहाँ की शस्य-श्यामला' धरती को, जो न मालूम कितने सौ सालों से अपनी छाती की दो-तीन फ़ुट से ज़्यादा पर्त नहीं उघाड़ सकी है। अशिक्षा के कारण भी आधुनिक यंत्रों की जानकारी न होने से लोग वैज्ञानिक खेती की ओर से उदासीन हैं। खेतों की मात्रा कम और खेतों के छिटपुट रहने के कारण ट्रैक्टर जैसे उपयोगी यंत्र का प्रयोग भी कठिन हो गया है। इधर कुछ अरसे से सरकार कुछ क्षेत्रों में चकबंदी-व्यवस्था लागू कर रही है किंतु इसका भी आशाजनक परिणाम सामने नहीं आ सका। 'चक' जो कटे हैं वे कई भागों में अलग-अलग विभाजित होने के कारण 'फ़ार्मिंग' की सुविधा नहीं दे पाते। सिंचाई की सुविधा इधर काफ़ी सुलभ हुई है, मगर वह कुछ ही क्षेत्रों में सीमित और कुछ खास फ़सलों को ही मदद पहुँचा पाती है। इसके अलावा, खाद्यान्न-व्यापारियों की अंधी स्वार्थपरता ने किसानों की कमर ही तोड़ दी है——ऐसी कि वे अपने चारों ओर अंधकार ही अंधकार महसूस कर पाते हैं और अपना समूचा का समूचा भविष्य एक कमज़ोर डोरे से बँधा हुआ पाते हैं, जो किसी भी पल टूट सकता है। कृषि की यह दयनीय अवस्था देश के लिए एक बहुत बड़ा अभिशाप बन गयी है जिसे दुरुस्त करने के लिए हर कोण को एक दूसरे से सटीक मिलाना होगा। और यदि हम चाहें कि सिर्फ़ किसी एक खामी को ठीक कर पूरी समस्या पर क़ाबू पा लें तो यह बहुत बड़ा भ्रम होगा। हम जिस संकटापन्न स्थिति से इस समय गुज़र रहे हैं, उसमें यदि विवेक से काम नहीं लिया गया तो किसी प्रकार के सुधार की आशा करना व्यर्थ होगा।

इस अवस्था में हमें जो कुछ करना है वह बहुत सोच-समझ कर करना है। भावुकता का एक हलका सा प्रवाह भी हमें निर्माण के रास्ते से दूर खींच ले जा सकता है। इस स्थिति का सामना करने के लिए हमें संगठित होना होगा और कृषि के प्रति एक अभिरुचि पैदा करनी होगी; क्योंकि मेरी समझ से हमारी इस हीन अवस्था की ज़िम्मेदारी एकमात्र इस अभिरुचि के अभाव पर ही है। खास कर पढ़े-लिखे नयी पीढ़ी के बाबू लोगों से मेरा यह अनुरोध है कि वे इस ओर साहस के साथ क़दम बढ़ायें और अपनी झूठी मर्यादा और व्यर्थ की शान-शौक़त का चोग़ा उतार फेंकें और जोखम उठायें। बूढ़ी हड्डियाँ अब बेहद थक चुकी हैं और साथ ही उनकी आँखों का सपना भी मर चुका है। अब पथ-प्रदर्शन उन लोगों को करना है जो एक गहरे विश्वास के साथ नये सूरज को जन्म दे सकते हैं। पं० नेहरू की मृत्यु के बाद हमारी सरकार को एक तगड़ा झटका-सा लगा और वह इस दिशा में काफ़ी सचेत दीख पड़ती है। यदि सचमुच प्रशासन ने इस ओर सूझ-बूझ के साथ ध्यान दिया तो कोई कारण नहीं कि समस्या हल न की जा सके। धरती उसी की है जो इसे सँवार सकता है——इस पुरानी कहावत के अनुसार देश की उपजाऊ धरती उन हाथों में आनी चाहिए जो इसे चाहते हैं, प्यार करते हैं और जिनकी बाँहों में शक्ति की गंगा-जमुना का प्रवाह है। इसके बिना किताबी तोता-रटंत भाषा हमारे किसी काम नहीं आ सकती।

——द्वारा डॉ० केदारनाथ श्रीवास्तव,
सैदपुर, ग़ाज़ीपुर।

प्रतिपत्तिका

संतुलन का प्रश्न : कुछ कैफ़ियत

जनवरी १९६५ के 'माध्यम' में श्री जैनेंद्र कुमार की 'कैफ़ियत' पढ़ी। अपनी कैफ़ियत में उन्होंने एक बहुत पुराना सवाल उठाया है जो पुनर्विचार की आवश्यकता रखता है।

जैनेंद्र जी के अनुसार आकर्षण और परस्पराकर्षण पर समस्त सृष्टि टिकी है। इस आकर्षण का अनुभव चेतन-अचेतन सभी करते हैं। नर-नारी के बीच तो यह अत्यंत अनिवार्य और अमोघ है। उनके इस मत में कोई दो राय नहीं। किंतु उनका यह कथन कुछ प्रश्न उपस्थित करता है :

पदार्थ के क्षेत्र में इस आकर्षण-विकर्षण के तत्व को ज्यों का त्यों हम स्वीकार करते और उसके अनुसंधान-अध्ययन में से नाना विज्ञानों का आविष्कार करते हैं। आज का वैज्ञानिक चमत्कार उसी की देन है। लेकिन चैत्य जगत में 'काम' का नाम दे कर मानो उस महत्तत्व के स्वीकार-अंगीकार से हम बचते हैं, उल्टे उसकी रोक-थाम में लग जाते हैं। हमारे धार्मिक, नैतिक, सामाजिक आदि प्रयत्न इस तरह अनिवार्य और अमोघ की टक्कर में आ जाते हैं और जीवन की क्षति और क्षय का कारण बनते हैं।

प्रश्न है कि क्या पदार्थ के क्षेत्र में इस आकर्षण-विकर्षण के तत्व को जिस प्रकार हम ज्यों का त्यों स्वीकार करते हैं उसी प्रकार नर-नारी के बीच भी इसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लें? यदि निर्जीव पदार्थ और चेतन व्यक्ति दोनों में एक मूलभूत अंतर है तो इस आकर्षण-विकर्षण को स्वीकार करते समय भी हमें उन सीमाओं का ध्यान रखना होगा। सृष्टि के अन्य पदार्थों या प्राणियों से मनुष्य की स्थिति भिन्न है। अतः उसके संबंध में विचार करते समय अहं-चेतना से ऊपर उठना होगा।

यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं है कि अहं एक बहुत बड़ा असत्य है। हमारा अहंकार हमें समष्टि से तोड़ कर निरर्थक कर देता है। किंतु जैनेंद्र जी का यह कथन सत्य नहीं कहा जा सकता : **मैं मैं हूँ और रहूँगा, मानो यह हठ समझदारी हममें पैदा कर देती है। ज्ञानवान और विद्वान बनने के नाते हम समष्टि से अपने को तोड़ लेते हैं, शायद इसलिए कि अपने को अपने से भली भाँति जोड़ सकें। इससे जोड़-तोड़ का जीवन शुरू हो जाता है और नाना विधि-निषेधों से हम आकीर्ण बन जाते हैं।**

वस्तुतः समझदारी नहीं बल्कि समझदारी का अभाव हममें अहं को जन्म देता है। अपने स्वरूप को न पहचानने के कारण ही हम समष्टि से टूटते हैं। संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त

परस्पराकर्षण को नितांत वैयक्तिक स्तर पर स्वीकार करना और समष्टि की उपेक्षा कर जाना ही सबसे भयंकर स्थिति है। यदि समष्टि में विलय व्यष्टि की सार्थकता है तो समष्टि का ध्यान रखना उसकी सीमा भी है। अतः दमन एक सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है। महत्तम और श्रेयस्कर के लिए दमन ! किंतु मेरे विचार से दमन और मुक्त स्वीकृति के बीच एक तीसरा रास्ता भी है––दिशा-परिवर्तन का। हम जिसका दमन करना चाहते हैं क्यों न उसकी दिशा परिवर्तित करें ; उसे श्रेय की ओर मोड़ें ? इस तरह हम संघर्ष से बच कर एक ऐसी दिशा की ओर मुड़ेंगे जो सहयोग का द्वार खोलती है।

मैं यह नहीं मानता कि कोई केवल दुष्ट या केवल साधु है। हर चरित्र को 'अपने में एक चुनौती' मान कर और 'सत्य के अमुक पहलू का उद्घाटन' समझ कर स्वीकार कर लेना उतना ही भयंकर है जितना उसको निश्चित कठघरों में बाँटना या 'लेब्ल' देना। सीमा से अधिक 'नम्रता और स्वीकारता' उतनी ही ख़तरनाक है जितनी सीमा से अधिक 'हठता और नियंत्रकता'। सीमा का अतिक्रमण करने पर दोनों विकृत हो जाते हैं और जीवन को संस्कृत बनाने की संभावना से हीन। दोनों में संतुलन का होना अनिवार्य है। अब प्रश्न है कि इस सीमा का बोध कैसे हो? इसके लिए दायित्व-बोध और विवेक-बुद्धि से काम लेना पड़ेगा। विवेक-बुद्धि परिस्थितियों के अनुसार भिन्न निर्णय दे सकती है क्योंकि औचित्य का प्रश्न परिस्थिति-सापेक्ष होता है। किंतु संतुलन अथवा औचित्य के प्रश्न को इनकार नहीं किया जा सकता। मेरे विचार से इसकी उपेक्षा से ही अहं का जन्म होता है, जो अनेक सामाजिक विकृतियों और हमारी भटकन का कारण है।

श्री जैनेंद्र कुमार ने संतुलन का प्रश्न न उठा कर एकपक्षीय दृष्टिकोण ही प्रस्तुत किया है। वास्तव में संतुलन के द्वारा ही उनके लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है।

––विश्वनाथ प्रसाद तिवारी,
रानी का गोला, जाफ़रा बाज़ार,
गोरखपुर।

एक कैफ़ियत मेरी भी

शायद वह 'माध्यम' था। हाँ, 'माध्यम' ही। उस कालखंड से संबंधित जिसे जनवरी कहते हैं। न होता तो भी माध्यम तो था ही। काल का क्या शीर्षक। मेरे लिए सत्य असीम और कालजयी है।' 'माध्यम' उसी असीम तक पहुँचने का साधन है। जनवरी हो या फ़रवरी, अंतर नहीं पड़ता। जन हो या फ़र, वरी अर्थहीन है। सत्य तो है उसका कालवरी होना। सब उसी विराट का अंश है । मैं भी उसका अंश बन कर रहता आया हूँ। अब मेरे ज्ञान-चक्षु खुल गये। श्री जैनेंद्र

कुमार की 'कुछ कैफ़ियत' मेरे लिए गीता का नव संस्करण बन गयी। संस्करण ही कहना उचित होगा। नव तो इस संसार में कुछ नहीं है। जो भविष्य है सो भी किसी और भविष्य का अतीत है। जो अतीत था, वह अधिक अतीत का भविष्य था। वर्तमान न भर को है। मेरे नहीं ठहरता। ढुल जाता है, अतः नव कैसे कहूँ। नहीं कहता, पर जो दृश्यमान है, उसे समेटना चाहता है। जैनेंद्र कुमार के समान कुछ कैफ़ियत अपनी भी है। यही नाना प्रकार के कुछ-कुछ, मेरा, जैनेंद्र का या अन्य जन का कुछ, एक अनंत एवं अनादि कुछ का जो ईश्वरमय है, अंश ही तो है।

जैनेंद्र के समान मुझे भी कुछ नहीं पता। मैं भी भगवान के दर्शन पाना चाहता हूँ। काफ़ी दिनों से इस चक्कर में हूँ। उसकी लीलाओं के माध्यम से उस तक जाना चाहता हूँ। सिनेमा, सुंदरियाँ, काँफ़ी हाउस, प्रकाशन, पुरस्कार और सम्मान आदि सब उसकी ही लीलाएँ हैं जो मुझे उसके दर्शन को लुभाती हैं। मेरी ज़िद है कि मैं लिखूँगा, अर्थात उसके दर्शन करूँगा। मैं पुस्तकों के माध्यम से, एक लाख या नोबेल पुरस्कार से होते हुए उस तक पहुँचना, उसमें मिल जाना चाहता हूँ। यही मेरी योजना है—ईश्वर की प्राप्ति। राज्य-सरकारों के प्रत्येक वाचनालय तथा समस्त विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में अपनी पुस्तक लगा मैं उस परम तत्व की उपलब्धि की चेष्टा कर रहा हूँ जो अगम है, अपार है। यही मेरा यज्ञ है। यही मेरा योग है।

फ़िलहाल जीना अकारथ हुआ जा रहा है। चाहता हूँ, स्वयं में न रहा जाया जाय, कुल में मिल जाया जाय। यानी जो कुल मिलना है, तुरंत मिल जाय।

जो बीत रही है उसे स्वीकार करूँ या इनकार। 'स्वी' और 'इन' के बीच मेरी कार है जो बीत रही है। यह कार साकार हो या निराकार पर मुझे गति देती है, जो जीवन है। होना भर जीवन नहीं है, ना हो तो मृत्यु अवश्य है। जीना वह, जिसे आप चढ़ सकें। उसी में पुरुषार्थ है। मैं उसी अनंतगामी 'लिफ़्ट' का द्वार खोज रहा हूँ जो व्यक्ति को सामान्य रायल्टी और क्षुद्र पारिश्रमिक से बहुत ऊपर ले जाता है। भगवान का नाम उस 'लिफ़्ट' का द्वार है। मुझे प्रतीति हुई है और मैं साध रहा हूँ। यही मेरा दर्शन है।

मैं हूँ। यह 'हूँ' मैं के होने का साक्षी है। पर 'मैं' शुद्ध नहीं है, 'हूँ' अवश्य शुद्ध है। 'मैं' मात्र नहीं है, 'हूँ' मात्र है। 'मैं' नश्वर है, 'हूँ' अनश्वर है। 'मैं' की परिणति 'हूँ' में होना है। 'हूँ' ब्रह्मानंद है, परम है और 'मैं' उसका अभिलाषी। 'हूँ' ही में 'मैं' की शरण है, वही उसकी सत्ता है। 'मैं' की उपलब्धि है 'हूँ'। हुंकार ही ओंकार है। यही 'मैं' का उद्घोष है।

मेरा 'मैं' मेरी बड़ी समस्या हैं। मैं 'मैं' को 'मुझ' से अलग नहीं कर पाता। स्वयं को मेरे 'मैं' का साक्षी बनाना चाहता हूँ पर नहीं हो पाता। मैं 'मैं' को 'तू' इतना दूर करता और 'तू' को 'मैं'-सा समीप लाना चाहता हूँ। पर नहीं आता। यही बाधा है—व्यावसायिक स्व और लेखकीय स्व को दूर करना। एक अर्थलोभी है, दूसरा दर्शनविद। सत्यान्वेषी, ज्ञानी, त्यागी और महान 'मैं' को अपने धूर्त लोभी और तिकड़मी 'मैं' से अलग करने का प्रयत्न अब जीवन रह गया है। देखता हूँ, इतिहास और अनुभव भविष्य में बदल कर खाता-बही हो जाते हैं। ईश्वर की लीला है, मैं तो निमित्त मात्र हूँ। वह कराता है, मैं करता हूँ। वह बोलता है, मैं उसे भाषित करता हूँ।

अब 'मैं' क्या करे ? उसकी मुक्ति एक 'तू' खोजने में है। मैं की मुक्ति तू के बंधन में है। इसी पर सृष्टि टिकी है, यही प्रेम है और काम है। जैसे मैं और मेरी पत्नी। वह मैं के लिए तू है। मैं जब तू पा लेता है तो ख़ुश हो जाता है। यही पूर्णता है या उसका भ्रम। इधर कुछ अन्य तू भी दृष्टिगोचर होते हैं और मैं खिचाव अनुभव करता है। मैं की लीला अपरंपार है, वह तू बदलने के चक्र में रहता है। यही पौरुष है, यही ज्ञान है। बहुत से 'तू' के संपर्क में आ कर मैं का ममत्व घुल जाता है और उसे परम तत्व, परम मूल्य का ध्यान आने लगता है। इसे सामान्य भाषा में वृद्धावस्था भी कहते हैं।

इधर मैं और तू का परस्पर दैविक आकर्षक और उसके प्राकृतिक परिणाम 'मैं' को व्यक्ति और वस्तु के संबंध में मैं नयी अनिवार्यता का प्रतिपादन करता है। यही सहजीवन है जो मानव को शकर अथवा गेंहूँ की प्राप्ति के मानत्री 'क्यू' (पंक्ति) में खड़ा कर देता है। यही माया है जो समाज, धर्म, नीति तथा विज्ञान आदि रूपों में बाँधती है। यही विश्व है जहाँ 'हाय-हाय' का संगीत सर्वत्र सुनायी देता है।

मेरी चाह है अधिक समाजमय, अधिक धर्ममय, अधिक विज्ञानमय होना जिससे मैं परम तत्व के निकटतर हो सकूँ। इसके लिए मुझे अधिक अर्थमय, अधिक यशमय होना है। कालबंधन नहीं है। काल करे सो आज कर। इसी कारण लेखन एक प्रयोजन भर है। मूल लक्ष्य है सोफ़ा-सेट पर ईश्वर की प्राप्ति, वायुयान में प्रभु के दर्शन, उत्तम आहार में उसकी सृष्टि को समझना, चेक-बुक पर अन्य अक्षर में उसी का नाम लिखना, रेस्तराँओं में उसके रूप का अन्वेषण और विदेश-यात्राओं में उसे पकड़ पाने का प्रयास। प्रभु आलोकमय हैं और मैं स्वर्णमय मार्ग से उनकी ओर बढ़ रहा हूँ।

भगवान की सृष्टि अगम है तो गम किस बात का। वहाँ विष है तो क्या, चाहने वाले को अमृत भी मिल सकता है। इच्छा करो और पाओ। मन में विकार मत रखो। और यदि किसी को या अधिक को वह अनुपलब्ध रही है तो यह न समझो कि वह लोप हो गयी है। वह है और उसका न मिलना ही वस्तु की मर्यादा है। उसी मर्यादा में सृष्टि का रहस्य है और अनुपलब्धि स्वाभाविक है। प्रश्न है, क्या पाना ही मनुष्यता है ? संस्कार कुछ भी नहीं, तप कुछ भी नहीं। अपनी इच्छा को रोको और तपस्वी बनो। नारे न लगाओ, माँगो नहीं, बल्कि माँग पर ही संशय करो, क्योंकि माँग अनंत है और निरभिलाषिता में ही देवत्व है। सत और असत का निर्णय तुम न लो, क्योंकि ग़लती कर सकते हो। जो चलता है, चलने दो। भगवान के इस समाज को वर्गभेद के खानों में मत बाँटो, क्योंकि वह ऐसा ही रहेगा। 'लेब्ल' मत चिपकाओ। हर रुपया सौ नये पैसे का है, चाहे वह पालिश-सा साधारण कर्म कर कमाया गया हो या चोर-धन (ब्लैक मनी) हो। उसमें भेद न करो। पशु न बनो कि चारा दिखा और मुँह मारा। मनुष्य बनो और सूखे घूँट पियो। नम्र रहो। भागवत चेतना के सामने अहं की चेतना खड़ी न करो। आख़िर चाहते क्या हो ? यह जुलूस क्या तुम्हें ईश्वर की ओर ले जायगा, यह नारा क्या तुम्हें प्रभु के दर्शन करायेगा, यह संगठन क्या तुम्हें सुसंस्कृत बनायेगा ? नहीं, अपने आत्म की ओर लौटो। यही दर्शन है, यही ज्ञान है, यही सत्य है। इसे मानो।

यह मेरी 'गुरुडमी' कैफ़ियत है। यह मेरे 'मैं' की कैफ़ियत है। उस 'मैं' को समझो, उसका लीला-इतिहास समझो, उसका सपाट भूगोल समझो, उसके बगुला-संस्कार समझो और देखो कि वह कितने स्वर्ण-तारों से जुड़ा है। चिंतक की यह प्रतिभामय कठपुतली किन नीतिसूत्रों से परिचालित होती है। उन सूत्रों का रहस्य नम्रता से खोजो। तुम्हें नयी लीला दिखेगी।

मुझे विशिष्ट मानो क्योंकि इस भावना-प्रधान देश के साहित्यकारों में मैं मात्र ईश्वर के समीप हूँ। मेरा अध्ययन-मनन पाठक के जीवन-विकास की एक अनिवार्य प्रक्रिया होनी चाहिए। मेरा मान करना ईश्वर के सम्मुख नतमस्तक होने-सा पवित्र कर्म है। मैं विशिष्ट हूँ, मैं अलग हूँ, मैं भीड़ का अंग नहीं, भीड़ का उद्धारक हूँ। मुझे अतिरिक्त दो। मैं अद्वितीय हूँ। यदि हूँ तो। न हूँ तो होने की प्रक्रिया में हूँ। वर्तमान आगत की छाया है। आज के धूर्त कल के तीर्थंकर होंगे। यही प्रभु की मर्जी है।

त्याग की प्रदर्शनगुणी प्रक्रिया में मैं सिमट रहा हूँ। शून्य के खोखले स्तर पर चिंतन में मुक्त सरलता होती है न ! इसी स्तर पर मूल्य बढ़ाने से आत्मबल आता है और विशाल को अपने में लेने की परम सिद्धि प्राप्त होती है। यही मेरे लेखन का आंतरिक ध्येय है और यही मेरी वाह्य कैफ़ियत।

कुल मिला कर मतलब यह है कि चलती का नाम गाड़ी या अंधे को मिली बटेर। चलने दे अब और जहाँ जमे जमा। यह संसार चमत्कार को नमस्कार करता है। प्रभु के नाम से बढ़ कर कोई चमत्कार नहीं। कीर्तन सबसे बड़ा सर्कस है। तू कर और सुख से रह।

वाह जैनेंद्र जी, आपने मेरा जीवन सुधार दिया !

—शरद जोशी,
१३।४४, नार्थ टी० टी० नगर, भोपाल।

माध्यम
का
केरल विशेषांक
शीघ्र प्रकाश्य

मलयालम भाषा और लिपि
केरल की समसामयिक काव्यधारा, कथा, नाटक,
लोक-संस्कृति, शिल्प और कला
केरलीय समाज-परंपरा और प्रचलन, विविध
संस्कृतियों का संगम और केरलीय कलाएँ
तथा
केरल की संत-धारा
केरलीय संस्कृत साहित्यकारों की देन
केरलीय दर्शन, ज्योतिष तथा तंत्र-मंत्र
साथ ही
केरलीय कविता, कथा तथा अन्य विधाएँ
पठनीय तथा संग्रहणीय

सहवर्ती साहित्य

•

तमिल

न० वी० राजगोपालन

तमिल का गद्य-साहित्य

'गद्यं कवीनां निकषं वदंति' वाली उक्ति कदाचित तमिल के विषय में अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा अधिक सार्थक है। लगभग तीन सहस्रवर्षीय काव्य-परंपरा में प्रयुक्त तथा परिमार्जित तमिल भाषा में पद्य-रचना के लिए उपयुक्त गुण अधिक मात्रा में उत्पन्न हुए हैं और गद्य के लिए उपयुक्त व्यावहारिक एवं तथ्याभिव्यक्ति के अनुकूल रूप कम। साहित्य की कुछ गद्य-विधाएँ प्राचीन काल से ही प्रचलित रही हैं किंतु उनकी भाषा-शैली पद्य से कुछ भिन्न नहीं है। अतएव सत्रहवीं शताब्दी में नये युग की आवश्यकताओं ने जब गद्य के नये रूप का निर्माण किया तो लेखकों को उस दिशा में कम परिश्रम नहीं करना पड़ा।

गद्य के नये विकास के साथ तमिल भाषा में अनेक नये शब्दों तथा नये मुहावरों का उद्भव हुआ; तमिल लिपि में भी नवीन सुधार करना पड़ा और साथ ही विषय-वस्तुगत परिवर्तन भी होने लगे। इन नवीन शब्दों तथा मुहावरों का अध्ययन अपने में स्वतंत्र एवं रोचक विषय हो सकता है। प्रसिद्ध भाषा-शास्त्रज्ञ बेंजामिन वोर्फ़ली ने यह प्रमाणित किया है कि इस प्रकार किसी भाषा विशेष का रूप-संयोजन तथा शब्द-भंडार उस भाषा का व्यवहार करने वालों की विचार-पद्धति को नियंत्रित करते रहते हैं। यानी एक भाषा विशेष में तथ्यों का प्रतिपादन एक विशिष्ट प्रकार से ही हो सकता है और इस कारण दो भाषाओं में एक ही तथ्य को एक ही रूप में प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। भाषा का स्वरूप विषय को नियंत्रित कर देता है।

किंतु यह भी देखा गया है कि जिस प्रकार भाषा विचारों को प्रभावित कर देती है, उसी प्रकार नवीन या अजनबी विचार एवं विषय किसी भाषा को प्रभावित कर देते हैं। यह तथ्य तमिल गद्य की भाषा-शैली से प्रमाणित होता है। हिंदी, तेलुगु आदि भाषाओं में गद्य के विकास के साथ

भाषा-प्रयोग संबंधी कुछ नवीनता आ गयी है, किंतु तमिल में यह अत्यंत विलक्षण रूप में विद्यमान है। 'बैठना', 'बात करना', 'कल', 'परसों' जैसे शब्दों के पर्यायवाची भी नये-नये बनाने पड़े। यह अवश्य है कि आज गद्य के प्रथम पद से लगभग ढाई सौ वर्ष पश्चात ये प्रयोग इतने सहज हो गये हैं कि इनमें कोई अजनबीपन नहीं रह गया है परंतु भाषा की प्राचीन शैलियों के साथ तुलना करने वाले के लिए अब भी यह विस्मयकारी ही है। विस्मय तब और भी बढ़ जाता है जब इन नये शब्दों की व्युत्पत्ति तमिल भाषाविदों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से दी जाती है। ये उदाहरण इस कथन को और स्पष्ट कर देंगे। 'बैठिए' के लिए आज का प्रयोग है 'उट्कारुङ्गल्' (उट्कारु+कल्)। अठारहवीं शताब्दी तक की साहित्यिक भाषा में इसका प्रयोग नहीं दिखायी पड़ता। 'अमर', 'इरु' जैसे शब्द अत्यंत प्राचीन होते हुए भी आज भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं और परिष्कृत एवं प्रौढ़ शैली के लिए उपयुक्त माने जाते हैं। लेकिन बोलचाल में इन शब्दों के स्थान पर 'उट्कार' व्यवहार में आ गया है। यह नवीन गद्य का परिणाम है। इसकी वास्तविक व्युत्पत्ति (जो अत्यंत परिश्रम से ही ज्ञात हो सकी है) 'उट्कु' शब्द से है जिसका अर्थ है 'थकावट'। यह प्राचीन शब्द है। इसके साथ 'आरु' धातु जोड़ कर 'उट्कारु' बना। इसका अर्थ होता है : 'थकावट मिटा लेना'। आज का अर्थ है : 'बैठना'।

'परसों' के लिए अब प्रचलित शब्द विद्वानों के द्वारा शुद्धीकृत हो कर 'नालै-निन्रु' हुआ है। इसका लोकमुखस्थ रूप कुछ ऐसा विचित्र है कि श्रोता उसके अनेक रूपों की कल्पना कर लेता है। इस शब्द का यथार्थ रूप उन्नीसवीं शती के एक मुद्रित ग्रंथ में मिला : 'नाळै निन्रन् रैक्कु'। इसका अर्थ है 'परसों'--(नाळै = कल, निन्रु = रह कर, अन्रैक्कु = उसके बाद के दिन को। ऐसे और भी अनेक उदाहरण हैं। इससे गद्य की भाषा की थोड़ी सी झलक मिलेगी।

तमिल भाषा की प्रकृति ऐसी है कि उसमें एकाक्षर (दो-तीन या चार वर्णों वाले अक्षर) शब्द अधिक हैं। प्राचीन गद्य और पद्य दोनों में दो-दो या तीन-तीन अक्षरों का एक विशेष क्रम बनाकर रखा जाता था। इससे गद्य और पद्य में अधिक अंतर नहीं दिखायी पड़ता।

तेरहवीं शताब्दी के पश्चात मणिप्रवाल शैली नाम से गद्य की एक मिश्रित शैली प्रचलित हुई; विशेषकर धार्मिक ग्रंथों के भाष्य में यह दिखायी पड़ती है।

इन दोनों गद्य शैलियों के अतिरिक्त लोक कथाओं में प्रचलित एक तीसरी शैली भी थी जो लोकव्यवहार की चलती भाषा के अधिक निकट रही होगी। इसके बहुत कम नमूने अब उपलब्ध होते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के अंत एवं अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में अंग्रेज़ी शासन एवं ईसाई धर्म-प्रचार की विविध प्रवृत्तियों ने तमिल प्रदेश के जन-जीवन को प्रभावित ही नहीं, बल्कि परिवर्तित कर दिया। भारत के अन्य भाषा-प्रदेशों में भी ऐसी प्रवृत्तियाँ थीं। लेकिन इस विषय में तमिल प्रदेश की कुछ विशिष्टता रही है। भारत में अंग्रेज़ी शासन का दृढ़ आधार इस प्रदेश में पहले पड़ा। उसके साथ ही ईसाई धर्म का प्रचार बढ़ने लगा।

उच्च शिक्षा तथा साहित्य की प्रवृत्तियाँ संस्कृत भाषा एवं साहित्य के ज्ञाताओं तथा धार्मिक संप्रदायों के वर्ग में सीमित हो गयी थीं। सामान्य जनता उनके प्रति अधिक तत्पर नहीं हो सकती

थी। इस कारण इस प्रदेश में लोगों के स्पष्ट ही दो वर्ग से हो गये थे। विदेशी शासक एवं धर्म-प्रचारकों ने इस स्थिति का अच्छा लाभ उठाया और सामान्य जनता में अपना प्रभाव फैलाया। शासन में ऐसे लोगों को उत्तरदायी पद मिलने लगे जो थोड़ी-बहुत अंग्रेज़ी जानते थे। दुभाषिये का पद अठारहवीं शताब्दी में बहुत ही महत्वपूर्ण एवं धन की दृष्टि से लाभपूर्ण था। आनंदरंगम् पिल्लाइ नामक दुभाषिये ने बड़ी धनराशि कमायी। उनकी एक दैनिकी अब प्राप्त हुई है जो अत्यंत रोचक है और उस समय की (१७४० ईस्वी के आसपास—दो दशकों की) राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति की झलक उससे से प्राप्त होती है।

ईसाई धर्म में दीक्षित होने वाले व्यक्ति को जीवन की आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त होने के अतिरिक्त सामाजिक सम्मान भी कम नहीं मिलता था। इन कारणों से तमिल प्रदेश की सामान्य जनता में अंग्रेज़ी शासन और ईसाई धर्म-प्रचार के प्रति आदर का भाव उत्पन्न हुआ, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

ऐसे लोगों में अंग्रेज़ी भाषा एवं साहित्य के प्रति अधिक रुचि होना स्वाभाविक है। इन्हीं परिस्थितियों में तमिल गद्य का विकास द्रुत गति से होने लगा।

इसकी प्रतिक्रिया दूसरे वर्ग के लोगों में होने लगी। ईसाई धर्म के प्रचारकों द्वारा हिंदू संप्रदायों की जो टीका-टिप्पणी होती थी उसके प्रतिवादस्वरूप अनेक ग्रंथों की रचना गद्य में ही होने लगी।

इसके साथ ही अंग्रेज़ी के रेनाल्ड्स स्कॉट जैसे लेखेंकों के अनुकरण पर मनोरंजनात्मक, घटना-प्रधान उपन्यासों की रचना अधिक मात्रा में होने लगी। पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा। अठारहवीं शताब्दी में गद्य-रचना के जो प्रयोग किये जाते रहे एवं विकास के जो मार्ग तय किये गये, उनके परिणामस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी में गद्य की व्यावहारिक किंतु सौष्ठवपूर्ण तथा परिनिष्ठित शैली बनी और विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से उत्तम कोटि की रचनाएं रची गयीं। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही गद्य की अनेक विधाओं में प्रभूत साहित्य-प्रणयन हुआ।

अठाहरवीं शताब्दी की गद्य-रचनाएँ स्थूलतः दो प्रकार की हैं। (१) ईसाई धर्म तथा बाइबिल से संबंधित (२) दिनचर्या के तौर पर लिखित।

इन रचनाओं में अत्यधिक खटकने वाली बात है इनकी अव्यवस्थित भाषा। विदेशों से आये धर्म-प्रचारकों ने यहाँ की भाषा को सीखा तो था, किंतु उनके पूर्व तमिल गद्य का कोई व्यावहारिक अथवा दैनिक जीवन में व्यवहार करने योग्य परिमार्जित शैली का विशुद्ध एवं साहित्योचित आदर्श स्थिर नहीं हुआ था। अतः इन लेखकों को ऐसा आदर्श स्वयं बनाना पड़ा। कहीं संस्कृत शब्दों की भरमार करने से उनकी भाषा अस्वाभाविक तथा अस्पष्ट हो गयी है तो कहीं व्याकरण के संस्कार से हीन बोलचाल की शैली का प्रयोग हुआ है। इस समय किया गया बाइबिल का तमिल रूपांतर इस कथन का प्रमाण है। इधर तमिल प्रदेश के कुछ व्यक्तियों ने जो गद्य लिखा, वह भी, भाषा-शैली की दृष्टि से कम अव्यवस्थित नहीं है। जैसे आनंदरंगम् पिल्लाइ की दैनिकी। फिर भी गद्य-परिष्कार के लिए उन लोगों ने जो प्रयत्न किये वे भविष्य के लिए अत्यंत लाभ-

कारी सिद्ध हुए। व्याकरण-कोश, भाषा-शोध, निवंध-रचना आदि इनके कार्य आज के लिए भी उपयोगी हैं।

विशुद्ध तमिल गद्य का एक वृहद ग्रंथ राबर्ट डि नोबिलि के द्वारा विलिखित प्राप्त हुआ है। कदाचित तमिल में यही प्रथम स्वतंत्र गद्य-रचना है। लेखक इटली का था और मदुराई में ईसाई धर्म का प्रचार करने आया था। यहाँ से तमिल का अध्ययन कर के तमिल भाषा में सुंदर गद्य-रचना प्रस्तुत की। उक्त ग्रंथ ईसाई धर्म के सिद्धांतों से संबंधित है। इन्होंने ईसा मसीह की एक जीवनी भी लिखी हैं। इनके कुल अठारह गद्य-ग्रंथ प्रकाशित हुए।

इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द अधिक हैं; फिर भी जनसाधारण के व्यवहार की प्रवाहमयी शैली का प्रयोग किया गया है।

आनंदरंगम् पिल्लाइ का उल्लेख हो चुका है। पांडिचेरी में फ्रेंच लोगों में इनका बड़ा बोलवाला था। इनकी 'दिनचर्या' अभी उपलब्ध हुई है। विषय तथा भाषा––दोनों दृष्टियों से यह रोचक है।

कांस्टैंटियस् बेस्की का नाम भारत के ही नहीं, एक समय संसार भर के ईसाई धर्म-प्रचारकों में आदर के साथ लिया जाता था। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से तमिल गद्य को इन्होंने काफ़ी प्रभावित कर दिया है। आजकल तमिल प्रदेश के बाहर इनके बारे में कम लोग जानते हैं। तमिल प्रदेश में भी ये 'वीरमा मुनिवर' (वीर महामुनि) नाम से विख्यात हैं। इनकी एक रचना भारत की सभी भाषाओं में अनूदित हुई है और लोककथा के रूप में प्रचलित हो गयी है। 'परमार्थ गुरु' या 'परमानंद शिष्य' की कहानियाँ इन्हीं की कल्पना थी।

वीरमा मुनि का व्यक्तित्व बड़ा विचित्र था। जन्म से ये इटली के थे। उन्हें यूरोप की अनेक भाषाओं का परिष्कृत ज्ञान था। ये तमिल प्रदेश में धर्म-प्रचार के लिए आये। लगभग चालीस वर्ष तक मदुराई तथा आसपास के स्थानों में रहते हुए उन्होंने अनेक कार्य किये। निर्भीक, साहसी, अध्यवसायी तथा धर्म-श्रद्धा से पूर्ण होने के कारण उन्होंने बड़े परिश्रम से संस्कृत, तमिल आदि भाषाओं पर अच्छा अधिकार प्राप्त किया। विशेषकर तमिल साहित्य का अनुपम ज्ञान प्राप्त किया। तमिल में उनकी अनेक गद्य और पद्य-रचनाएँ आज भी आदर योग्य मानी जाती हैं। हिन्दू-संन्यासियों के त्याग-तपस्यापूर्ण जीवन से जनता को प्रभावित होते देख कर उन्होंने स्वयं भी काषाय वस्त्र पहनना आरंभ किया। मुंडितशिर होकर दंड-कमंडलु लिये स्थान-स्थान पर घूमते रहते थे। तमिल भाषा की उन्होंने बड़ी सेवाएँ की हैं। प्रथम शब्दकोश के निर्माण के अतिरिक्त तमिल लिपि में भी कुछ ऐसे परिवर्तन कर दिये जो मुद्रण के लिए आवश्यक थे। यह परिवर्तन अब स्थिर हो गया है। 'तेंपावाणी' नामक ईसा मसीह विषयक पद्य-रचना के अतिरिक्त इनकी 'आत्म-निर्णय', 'परमात्म-निर्णय', 'तत्वादर्श', 'ईसा-जीवनी', 'वेद-विवरण', 'वेदज्ञ चरित्र', 'वामन कथा', 'परमार्थ गुरु' इत्यादि गद्य-रचनाएँ हैं। 'परमार्थ गुरु कथाएँ' हास्य-रस की निधि हैं। वास्तव में हिंदू गुरुओं का उपहास करने के लिए इनकी रचना की गयी थी। 'तमिल वेद' नाम से प्रसिद्ध ग्रंथ 'तिरुक्कुरल्' का इतालवी भाषा में अनुवाद किया था।

इनकी भाषा में कहीं-कहीं विदेशी भाषा प्रयोगों तथा मुहावरों की छाया दृष्टिगत होती है। तो भी भाषा अस्वाभाविक नहीं है। इस प्रकार इस विदेशी विद्वान ने सत्रहवीं शताब्दी के अंत में तमिल गद्य की एक सरल, चलती और सुंदर शैली का निर्माण किया।

डब्ल्यू० जी० पोप नामक ईसाई धर्मप्रचारक अपने 'तिरक्कुरळ्' अनुवाद एवं अन्य ग्रंथों के कारण अब भी तमिल विद्वानों की श्रद्धा के पात्र बने हैं। काल्डवेल ने अंग्रेज़ी में 'द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' लिख कर पहले-पहल द्रविड़ परिवार की स्वतंत्र स्थिति की बात उठायी थी। इनके तमिल ग्रंथ भी प्रकाशित हुए। काल्डवेल की विचारधारा से तमिल जनता बहुत प्रभावित हुई है। आर्य-द्रविड़ वर्गों के नाम पर होने वाले वाद-विवादों के नाम पर मूल आधार इनकी कृति ही है। रामलिंगम् स्वामी आत्मद्रष्टा योगी थे और आशु कवि। जनमानस को भक्ति की पीयूष-वाहिनी से आप्लावित करने की इनकी शक्ति अद्भुत थी। इनकी तमिल गद्य एवं पद्य शैली में कुछ अलौकिक सुरभि-सी प्राप्त होती है।

अठारहवीं शताब्दी में ईसाई धर्म के समर्थन में और उसके विरोध में अनेक छोटे-मोटे गद्य-ग्रंथ प्रकाशित हुए। विषय की दृष्टि से इनका कोई चिरकालिक महत्व नहीं है; गद्य के विकास-क्रम को निश्चित करने में ये उपयोगी हैं। इस शताब्दी के एक उल्लेखनीय बड़े विद्वान तथा गद्य-रचयिता हैं, शिवज्ञान मुनिवर। ये दक्षिण में प्रचलित शैव संप्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान एवं साधक योगी थे। शैव संप्रदाय के संबंध में उन्होंने अनेक निबंध लिखे।

उन्नीसवीं शती में आ कर ही तमिल गद्य में विलक्षण ओज एवं वैविध्य के दर्शन होते हैं। इस समय देश में अंग्रेज़ी शासन स्थिर हो गया था। सत्ता के लिए विदेशियों के जो छिटपुट संघर्ष होते रहे वे बंद हुए। समाज में एक प्रकार की शांति व्याप्त हुई। शिक्षा एवं साहित्य के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई। तमिल के नवीन व्याकरण रचे गये। विदेशियों को तमिल सिखाने के लिए नये पाठ्यग्रंथ लिखे गये। तमिल तथा यूरोपीय भाषाओं के कोश बने। पत्रिकाओं की संख्या बढ़ीं। इन सब कारणों से तमिल गद्य की अपूर्व प्रगति हुई। इस समय की कुछ रचनाएँ तमिल-साहित्य-कोश में चिरकाल तक सुरक्षित रहेंगी। भाषा-शैली, शब्द-प्रयोग, वाक्य-रचना, रीति, विषय-विवेचन, सभी दृष्टियों से इस शताब्दी के निबंध एवं कथा-साहित्य आगे के साहित्यकारों के लिए मार्गदर्शक बने। पहले से प्रचलित तमिल गद्य की विविध शैलियाँ मणिप्रवाल शैली, विशुद्ध पंडिताऊ शैली, व्यवहारोपयोगी सरल एवं परिष्कृत शैली, बोलचाल की शैली—इन सबका प्रयोग इस समय के ग्रंथों में मिलता है। रामायण, भागवत, महाभारत आदि पुराण-इतिहासों के कथानक सरल गद्य-शैली में लिखे गये। तांडवराय मुदालियार की पंचतंत्र कथाएँ, वीरासामि चेट्टियार की 'विनोदरस-मंजरी' और इसी प्रकार की अन्य लोककथाएँ आज भी अपनी रोचकता के कारण लोकप्रिय हैं। ये परिष्कृत गद्य-शैली का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

'प्रताप मुदालियार चरित्रम्' तमिल के प्रथम उपन्यास के रूप में प्रसिद्ध है, जो वास्तव में एक लंबी कथा है। घटनाओं में कल्पना एवं चमत्कारिक प्रसंगों के होने पर भी, तत्कालीन समाज-जीवन की अति सुंदर झाँकी इसमें प्रस्तुत की गयी है। उस समय के कुछ वर्गों के चरित्र का रोचक चित्रण किया गया है। विशेषकर एक ज़मींदार और एक ग़रीब अध्यापक के पुत्र का

जीवन यथार्थता से युक्त है। इसके लेखक वेदनायकम् पिल्लाइ का नाम इस रचना के कारण विख्यात हो गया। ये ईसाई थे और अंग्रेज़ी के अच्छे विद्वान। ऊँचे सरकारी पद पर भी थे। फिर भी तमिल के प्रति इनका अत्यधिक अनुराग था। तमिल में कदाचित प्रथम भावगीत लिखने वाले ये ही थे। 'प्रताप मुदालियार चरित्रम्' अपनी परिष्कृत शैली और अन्य प्रतिष्ठित विशेषताओं के कारण आज भी पढ़ा जाता है। इसी लेखक का 'सुगुण सुंदरी' नामक उपन्यास भी लोकप्रिय हुआ।

इस युग के एक स्मरणीय लेखक हैं. आरुमुख नामक महापंडित। ये सिंहल-निवासी थे। वहाँ इन्होंने एक मुद्रण-यंत्र स्थापित कर शैव धर्म और तमिल साहित्य के प्रचार के लिए बड़े कार्य किये। तमिल के प्रभावशाली लेखक थे। बाइबिल का एक सुंदर अनुवाद भी इन्होंने किया है। हिंदू धर्म के समर्थन में बीसों ग्रंथ लिखे हैं।

उस शताब्दी में ईसाई धर्म-प्रचार के लिए छः पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थीं। हिंदू धर्म के प्रचार की दृष्टि से चार या पाँच पत्रिकाएँ प्रचलित थीं। केवल एक पत्रिका 'अमृतवचनी' थी, जिसका धर्म से संबंध नहीं था और साधारण जीवन-व्यापारों को लेकर इसमें लेख प्रकाशित होते थे। वीरसामी चेट्टियार की 'दिनवर्तमानि' नामक पत्रिका भी उल्लेख योग्य है।

इसी शताब्दी में महाविद्वान मीनाक्षी सुंदरम् पिल्लाइ, उनके शिष्य स्वामिनाथ अय्यर, सुंदरम पिल्लाइ, वि० को० सूर्यनारायण शास्त्री आदि विद्वान लेखकों के नाम आते हैं। इनमें दो-तीन को छोड़ कर शेष लेखकों की सेवाएँ बीसवीं शताब्दी में ही अधिक व्यापक और प्रभावशाली हुईं। महाविद्वान पिल्लाइ वैसे गद्य-लेखक नहीं थे; आशु कवि थे। किंतु स्वामिनाथ अय्यर जैसी विभूति को साहित्य में लाने और उन्हें बनाने का पूर्ण श्रेय पिल्लाइ को है। सुंदरम पिल्लाइ गीत-नाटककार के रूप में और सूर्यनारायण शास्त्री नाटककार एवं कवि के रूप में विख्यात हुए।

उन्नीसवीं शती की गद्य-रचनाओं में परंपरा का पालन अधिक है। वे पंडितों के लिए लिखी गयी थीं। बीसवीं शताब्दी की रचनाएँ सार्वजनीन हैं जो साधारण शिक्षित जनता के लिए लिखी गयी हैं। राजनीतिक आंदोलन से जनता में जो नव चेतना जागी उसका प्रभाव साहित्य में, विशेषकर गद्य में निर्माणात्मक एवं युगांतरकारी सिद्ध हुआ। अंग्रेज़ी साहित्य के परिचय ने तमिल लेखकों को नयी दिशाओं की ओर उन्मुख किया और नये मार्ग खोल दिये।

इस शताब्दी के आरंभ में तमिल के लिए जो महत्वपूर्ण घटना घटी वह है तमिल के अति प्राचीन तालपत्र ग्रंथों की प्राप्ति। सिंहल के तमिलभाषी श्री दामोदरम् पिल्लाइ ने तमिल प्रदेश में कुछ पुराने तालपत्र ग्रंथों को प्राप्त कर के प्रकाशित किया, जिनमें 'कलि-त्-तोकै' प्रमुख है। यह तृतीय संघकालिक (प्रथम या द्वितीय शती ईसवी; कुछ विद्वानों के मत में पाँचवीं शती ईसवी का) है। स्वामिनाथ अय्यर ने इस प्रकार के प्रयत्न में अपना सारा जीवन ही लगा दिया। 'शिलप्पधिकारम', 'मणिमेखलै', 'जीवकचिंतामणि' जैसे उत्तम कोटि के महाकाव्य लुप्तप्राय हो गये थे। किंतु इन्हें खोज कर प्रकाशित कर के अय्यर ने सदा के लिए तमिल जगत को अपने प्रति आभारी बना लिया है। इनकी खोजों की कहानियाँ कोलंबस की कहानियों से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। अंततः अय्यर अपने लक्ष्य तक पहुँचने में पूर्ण सफल हुए।

इन ग्रंथों के प्रकाशन ने तमिल जगत में क्रांति उत्पन्न कर दी। तमिल भाषा तथा साहित्य संस्कृत से कुछ कम नहीं है; साहित्य-गुणों की दृष्टि से भी तमिल वाङ्मय अनुपम है और अति प्राचीन भी, यह धारणा विद्वानों में बढ़ी। उधर काल्डवेल की तमिल भाषा संबंधी खोजें भी तमिल के संस्कृत से स्वतंत्र अस्तित्व को प्रमाणित करने वाली थीं। इसका परिणाम है-- तमिल को संस्कृत शब्दों से मुक्त कर के शुद्ध करने का आंदोलन।

स्वामिनाथ अय्यर की गद्य-शैली सहज, शुद्ध एवं सरस होती थी। इनकी लिखी भूमिकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं और संस्मरण भी। इनकी आत्मकथा तमिल की पहली जीवनी है। वेदाचलम् नामक बड़े विद्वान ने तमिल शुद्धि-आंदोलन का प्रवर्तन किया। अपना नाम तक इन्होंने 'मरै मलै' कर लिया। ये शैव धर्म के महान साधक भी थे। जीवन के अंतिम दिनों में संन्यासी हो गये थे। उनका देहांत अभी कुछ वर्ष पूर्व हुआ। उनके दर्जनों गद्य-ग्रंथ उत्तम साहित्यिक मूल्य के हैं; इनमें एक भी संस्कृत शब्द नहीं मिलता परंतु यह शैली साधारण जन के लिए ग्राह्य या अनुकरण-सुलभ नहीं है।

वि० कल्याणसुंदरम् आज की गद्य-शैली के निर्माता कहे जा सकते हैं। अति शुद्धिवादी न होते हुए भी इन्होंने तमिल भाषा के सहज सौंदर्य की रक्षा करते हुए सुबोध और प्रवाहयुक्त शैली का प्रयोग किया है। धर्म, राजनीति, मजदूर-आंदोलन आदि विविध क्षेत्रों में उनकी सेवाएँ चिरस्मरणीय हैं। 'देशभक्तन्' नामक पत्रिका के माध्यम से राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विचारों के प्रचार के साथ संपादन-कला का आदर्श भी उन्होंने प्रस्तुत किया है। उन्हें अनेक नवीन लेखकों को बनाने का श्रेय है।

स्व० रा० राघव अय्यंगार, मु० राघव अय्यंगार, सोमसुंदर भारती, स्वामी विपुलानंद, स्व० डॉ० रा० पी० सेतुप्पिल्लाइ, स्व० वैयापुरि-प्-पिल्लाइ, टी० के ० चि०, 'कल्कि' इत्यादि नाम तमिल साहित्य में अमर हैं।

निबंध, उपन्यास, नाटक, समालोचनादि विभिन्न क्षेत्रों की प्रगति का विवरण अत्यंत विस्तृत होगा। लेखकों की नाम-सूची बड़ी है। इनकी उत्तम कृतियों की संख्या भी कम नहीं है। अब जीवित, महान साहित्यकारों में सि० अण्णा दुरै (द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम के नेता) डॉ० मु० वरदराजन, कि० वा० जगन्नाथन आदि अनेक कृती साहित्यकार हैं।

लगभग ढाई हज़ार वर्ष से लगातार व्यवहार में स्थित तमिल भाषा में बाह्य रूपगत परिवर्तन अनेक हुए हैं, किंतु उसकी अंतरात्मा अपरिवर्तित रही है। भारत जैसे बहुभाषीय प्रदेश में तमिल भाषा का यह अति प्राचीन ऐतिहासिक विकास-क्रम विलक्षण एवं विशिष्ट है।

--केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा।

कृतिकार और कृति

● ●

तिरु० वि० क०

बीसवीं शताब्दी के तमिल गद्य-लेखकों में 'तिरु० वि० क०' अग्रस्थान अलंकृत करते हैं। श्री वि० कल्याणसुंदरम् मुदालियार को 'तिरु० वि० क०' नाम से तमिल का प्रत्येक पाठक जानता है। यह कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी कि लगभग अर्ध शताब्दी तक के तमिल प्रदेश के सामाजिक जीवन को 'तिरु वि० क०' ने अपनी लेखनी के द्वारा जैसे प्रभावित किया, नयी पीढ़ी के लोगों के मानसिक एवं नैतिक जीवन को बनाने के लिए जैसा अथक परिश्रम किया वैसा सुब्रह्मण्यम् भारती को छोड़ कर अन्य किसी साहित्यकार ने नहीं किया।

'तिरु० वि० क०' कट्टर शैव धर्मावलंबी होते हुए भी सर्व-धर्म-समन्वय का प्रचार करने वाले थे, धार्मिक होते हुए भी मजदूर-आंदोलन के समर्थक थे और समाज-सुधार, विशेष कर स्त्री-उद्धार, के लिए उन्होंने आंदोलन किया।

उनकी तमिल-भक्ति राष्ट्रीयता के पथ में कभी बाधक नहीं बनी; उनकी सरल, शुद्ध तमिल लेखन-शैली ने असंख्य लोगों को शिक्षित कर दिया। उनकी वक्तृता ने उनके विरोधियों के मन में भी उनके प्रति श्रद्धा और आदर-भाव उत्पन्न किया। 'देशभक्तन्' पत्रिका की स्थापना कर के उसके द्वारा 'तिरु० वि० क०' ने लोगों को देश-भक्ति, मातृभाषा का प्रेम, समानता का भाव तथा नैतिक जीवन आदि की शिक्षा दी।

उनकी भाषा शुद्ध तमिल शैली में होने पर भी सहज ग्राह्य है; गहन विषयों के प्रतिपादन में भी सुबोध है। तमिल शब्द का अर्थ--'माधुर्य' नामक गुण 'तिरु० वि० क०' के गद्य एवं कविता की शैली का मुख्य गुण है।

उनके असंख्य निबंधों, भाषणों एवं साहित्य-समालोचना के कुछ अंश पुस्तक रूप में अब उपलब्ध हैं। उनके एक निबंध का अंश यहाँ दिया जा रहा है। इसका लेखन-काल जुलाई १९२८ ई० है। उस समय भारत की जो दशा थी उसमें 'तिरु० वि० क०' ने किस प्रकार के विचारों को लोगों के सम्मुख रखा और जनता का हित किस बात में देखा--इसकी थोड़ी सी झलक इस लेख में मिलेगी।

शिक्षा

कुछ लोग समझते हैं कि अंग्रेज़ी पढ़ना ही शिक्षा है। मैं यह कभी नहीं कहूँगा कि अंग्रेज़ी नहीं पढ़नी चाहिए। संसार की भाषा के रूप में व्याप्त अंग्रेज़ी का अभ्यास हमारे युवकों को होना चाहिए, यही कहूँगा। लेकिन ऐसे कथन कि अंग्रेज़ी में ही शिक्षा एवं ज्ञान प्राप्त हो सकते हैं; अंग्रेज़ी ही जीवन के उद्धार का मार्ग प्रशस्त कर सकेगी, स्वीकारने योग्य नहीं हैं।

अंग्रेज़ी एक देश की भाषा है। यह समझना कि उस भाषा से ही ज्ञानार्जन हो सकता है, अज्ञान है। शिक्षा किसी भी भाषा के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है। शिक्षा के लिए यही भाषा हो, वही भाषा हो, ऐसा कोई बंधन नहीं है।

जर्मनी, फ्रांस आदि देशों के लोग अपनी-अपनी भाषा छोड़ कर क्या अंग्रेज़ी से शिक्षा पाते हैं? पुदुचेरी के तमिलभाषी क्या अंग्रेज़ी पढ़ कर भी पाश्चात्य देशों के दर्शन-विज्ञान को जानते हैं? तिरुवल्लुवर, इळंगो अडिकळ, कंबर, शेक्किळार आदि क्या अंग्रेज़ी सीख कर ही संसार भर में प्रशंसनीय महाकाव्य लिख पाये। अतएव यह मान लेना है कि प्रकृति की ऐसी कोई नियति नहीं हैं कि 'किसी एक देश की भाषा ही शिक्षा के योग्य है।' प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी मातृभाषा में ही शिक्षा पा सकता है।

हम तमिल लोग हैं। हमें अपनी मातृभाषा के द्वारा शिक्षा पाना ही शोभा देगा। वही स्वाभाविक रीति है। पर्याप्त अवकाश, साधन तथा शक्ति होने पर अन्य अनेक भाषाएँ सीख सकते हैं।

कुछ लोग यह कह कर हाहाकार मचाते हैं कि तमिल में वह कला नहीं है। यह कला नहीं है, विशेष रूप में विज्ञान नामक ज्ञान ही नहीं है। वे लोग ज़रा सोचें कि क्या अंग्रेज़ी में ही मूल रूप में सभी ग्रंथ और सभी कलाएँ उत्पन्न हुईं?

अन्य भाषाओं से अंग्रेज़ी भाषा में अनेक ग्रंथों के अनुवाद किये गये हैं। अब तक संसार में जो नवीन आविष्कार हुए, वे सब क्या अंग्रेज़ों ने ही पहचाने थे? नहीं, नहीं, कुछ फ्रेंच लोगों ने पहचाना; कुछ जर्मनों ने; अन्य विभिन्न देशों के लोगों ने। इंग्लैंड वालों ने भी कुछ आविष्कार किये। हमारे डॉ० बसु (डॉ० ज० चं० बसु) कुछ तथ्यों का आविष्कार कर रहे हैं। ऐसे ज्ञानियों को 'यह अमुक देश का है', 'यह अमुक देश का है', ऐसा समझना ठीक नहीं है। विभिन्न स्थानों में प्राप्त ज्ञान सारे संसार का स्वत्व है। उसे देश, भाषा आदि कारागारों में बंदी बनाने से बड़ी और कोई बुद्धिहीनता नहीं है। प्रत्येक देशवासियों को अपनी-अपनी भाषा में उसे लाना चाहिए और उनका ज्ञान पाना चाहिए। इसी मार्ग से संसार की उन्नति हो सकती है।

प्रत्येक भाषा की कुछ विशिष्ट रचनाएँ होती हैं। उनका अनुवाद करने से कोई लाभ नहीं होगा। वे कौन सी हैं? वे काव्य हैं। काव्य ऐसे होते हैं कि जिस भाषा में उनकी रचना हुई हो, उस भाषा के लोगों द्वारा ही उसका पूर्ण रसास्वादन होना संभव है। अनुवाद में उनका सौंदर्य

प्रकट होना अत्यंत कठिन है। काव्यों को छोड़ अन्य ज्ञान-विज्ञान संसार के सब लोगों का साधारण स्वत्व है।

हमारे लोगों का मातृभाषा के प्रति अनुराग कम है,यह स्पष्ट है। जिस देश में मातृभाषा के प्रति आसक्ति नहीं है, वहाँ प्रगति के प्रयत्न कैसे सफल हो सकेंगे ? प्रगति का प्राण मातृभाषा ही है न ? यदि उसकी चिंता नहीं हो तो देश की अवनति कैसे दूर हो सकेगी ? आयरलैंड की स्वतंत्रता के लिए वहाँ के नेताओं ने अनेक प्रकार से प्रयत्न किया, लेकिन वे सफल नहीं हुए। अंत में वे अपनी मातृभाषा की ओर ध्यान देने लगे; देश की भाषा का आदर करने लगे। इससे वे अपने प्रयत्न में विजयी हुए। इस सत्य को सारा संसार जानता है। देश, भाषा के आधार पर स्थित रहता है। उस भाषा को धोखा देना देश को धोखा देना है।

हमारे देश में अपने को 'नेता', 'शिक्षित' कहने वाले कितने व्यक्ति माता को धोखा दे रहे हैं; इसे हे युवको ! गंभीरता से सोचो। सोच-सोच कर मातृभाषा की अनिवार्यता को पहचान लो, पहचान कर मातृभाषा के विकास के लिए कटिबद्ध हो जाओ।. . . .

——अनुवादक : न० वी० राजगोपालन

एस० वैयापुरिप् पिल्लाइ

स्व० श्री एस० वैयापुरिप् पिल्लाइ अनेक वर्ष तक मद्रास विश्वविद्यालय के तमिल विभाग के अध्यक्ष रहे थे। साहित्य, समालोचना तथा शोध——इनके मुख्य क्षेत्र थे। तमिल भाषा तथा साहित्य की प्राचीनता एवं अन्य कुछ विषयों में ये अत्यंत मौलिक विचार रखते थे और कभी विचार-दृढ़ता के कारण कुछ विद्वानों के आक्रोश के भी पात्र बने। फिर भी उन्होंने साहस के साथ अपने विचार प्रकट किये हैं। इनके 'तमिल-संस्कृति', 'तमिल-साहित्य' आदि नामों से अनेक निबंध-संकलन निकले हैं जिनका उपयोग तमिल साहित्य के अध्येता के लिए अधिक है।

इनकी भाषा सरल और प्रवाहमयी होती है और ये संस्कृत शब्दों से परहेज नहीं करते थे। संस्कृत एवं तमिल दोनों के प्रति सम अनुराग के कारण इनकी रचनाओं में एक असाधारण विलक्षणता दिखायी पड़ती है। देश-विदेश का साहित्य, दर्शन तथा विज्ञान की बातें इनमें घुली-मिली मिलती हैं। इनके एक निबंध 'हास' के कुछ अंशों का अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

हास

संस्कृति के विभिन्न पहलुओं के बारे में कहते समय बहुतों को यह संशय हो सकता है, क्या हास्य नामक वस्तु के लिए भी सभ्यता में कोई स्थान हो सकता है ? किंतु हास्य ही एक ऐसा गुण है जो किसी को पूर्ण मनुष्यत्व प्रदान कर सकता है। जो हँसना नहीं जानता उसे अर्ध मनुष्य ही कह सकते हैं। किसी देश की सभ्यता का स्वरूप भी इस हास्य के द्वारा जाना जा सकता है। उदाहरण के लिए, आइरिश लोगों का हास्य एक विशेष प्रकार का है। वह उन लोगों की सभ्यता को भली भाँति प्रकट करता है। हमारे देश में भी उन जैसे लोगों का अस्तित्व है। सामान्यतया यह सोचा जाता है कि नेत्र और कान को प्रत्यक्ष होने वाली वस्तु का आधार ले कर ही हास्य आदि रसों का प्रादुर्भाव होता है। यह सही है। लेकिन नेत्र और कान, दोनों के तल में स्थित मन की एक विशेष दशा भी हास्य के लिए आवश्यक है।

तोलकायपियर ने भी अपने ग्रंथ में इस बात का उल्लेख किया है। पहली बात यह है—सब व्यक्ति भली भाँति हँस नहीं सकते। कुछ ऐसे होते हैं कि उनकी आँखों के सामने चाहे जितना भी विनोदपूर्ण दृश्य उपस्थित किया जाय, वे हँस नहीं सकते। उनके मन की संरचना में कोई कमी होती है अतएव उनका मन उन्हें हँसने नहीं देता।

दूसरी बात है—'तिरुवळ्ळुवर' आदि ने लिखा है कि उपयुक्त मानसिक स्थिति में ही कोई मन से हँस सकता है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है :

वंचक मन वाला व्यक्ति छिप कर जो काम करता है, उसे देख कर पाँचों भूत मन में हँस पड़ते हैं। (तिरुक्कुरळ २७१)

तिरुवळ्ळुवर के कथन से ज्ञात होता है कि यदि हास को भावपूर्ण होना हो तो वह हृदय से प्रकट होना चाहिए। मन की दशा उपयुक्त हो और हास भीतर से उठे तो बाहर केवल मुस्कराहट होने पर भी वह भावपूर्ण हो कर मनोहर होती है। यदि ऐसी मनोदशा न हो तो हास तथा मन में कोई संबंध न होने से उसे देखने वाले हँस पड़ेंगे।

इसका उदाहरण शराब पिये हुए व्यक्ति का हास है। मन यदि शोकभरा हो तो उस समय उठने वाला हास दर्शकों को शोकमग्न कर देता है।

हास के बाहर प्रकट होने का, अंतर में ही हास उत्पन्न होने का, बाह्य हास को अधिक या कम करने का, और हास के गुण के बदल जाने का कारण मानसिक स्थिति ही है।

इससे यह स्पष्ट हो सकेगा कि हास का संस्कृति के साथ संबंध है।

अति सरल मनोदशा को कहाँ देख पायेंगे ? बालकों में ही देख सकते हैं। हम जैसे वयस्कों के सामने खिलौने दिखा कर कोई शब्द करे तो हम नहीं हँसेंगे। पालने में लेटा हुआ बच्चा उस ध्वनि को सुन कर खिलखिला कर हँस पड़ता है। उस ध्वनि में हास योग्य कुछ नहीं है। किंतु उस ध्वनि को सुनने वाले बालक का मन ऐसा है कि वह हँसने लगता है।

पागलों और शराबियों की भी बालकों जैसी मनोदशा होती है।

ज्यों-ज्यों बालक की अवस्था बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसके मन की दशा भी विकास प्राप्त करती जाती है। मनोविकास के अनुरूप ही हास के योग्य वचन तथा व्यापार भिन्न-भिन्न होते हैं। पाँच वर्ष का एक बालक अपने पिता से कहता है—"मैं दादी से विवाह करूँगा।" पिता हँसता हुआ कहता है—"मेरी माँ से तुम कैसे विवाह करोगे ?" बालक उत्तर देता है, "जैसे तुमने मेरी माँ से विवाह किया' उसी प्रकार मैं भी कर लूंगा।"

अवस्था के कुछ बढ़ने पर शरारती बालक के हास्य-प्रसंग विचित्र हो जाते हैं। एक गाँव में नये आये किसी संन्यासी ने एक बालक से पूछा, "डाकखाने को किधर से जायँ ?" बालक यह कह कर हँस पड़ा, "ये लोगों को मोक्ष का मार्ग कैसे दिखायेंगे, जब स्वयं डाकखाने का भी मार्ग नहीं जानते !"

अच्छे अध्यापक अच्छे बालकों के जैसे मन वाले होते हैं। इसके अनेक कारण हैं। ऐसे लोग अपने कार्य में ही सदा तल्लीन रहते हैं। अपने कार्य के अतिरिक्त दूसरी बातों में अधिक भुलक्कड़ होते हैं। अतएव अध्यापकों द्वारा होने वाले हास अत्यंत रोचक होते हैं।

तोलकायपियर ने मन की दशा के भेद से हास के अनेक भेद गिनाये हैं। जैसे—उपहास भाव, मग्ध भाव, अबोध भाव तथा मूढ़ भाव।

ये हास उत्पन्न करने वाले चार कारण हैं

हास और शोक का घनिष्ठ संबंध होता है। हास की अति से आँखों से अश्रु बहने लगते हैं; शोक की अति होने पर मन टूट जाता है और उससे हास उमड़ पड़ता है।

कभी यह पहचानना कठिन हो जाता है कि हास का अंत कहाँ है और शोक का आरंभ कहाँ है। इस प्रकार दोनों सम्मिलित रहते हैं। यदि एक ही बाह्य परिस्थिति के कारण किसी को हास भी हो और शोक भी हो तो उसके मन में कोई 'विकल्प' या दोष है, यह अनुमान लगा सकते हैं।

अतएव यह कथन संगत ही है कि हास मनस्संरचना पर आधारित होता है। मनस्संरचना वास्तव में भिन्न-भिन्न क्षणों में होने वाली मनोदशाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है।

—अनुवादक : न० वी० राजगोपालन

ना० बा० भद्रस्वामी 'भद्रेश'

भारत की दो महान विभूतियाँ

अपनी अनेकानेक भ्रामक वाहरी भिन्नताओं को आत्मसात कर लेने की अनुपम शक्ति भारतीय संस्कृति की विशेषता है। यहाँ की जनता की विचारधारा, जीवन-दर्शन तथा भाषा-साहित्य के भीतर वह विशेष सांस्कृतिक एकात्मकता ओतप्रोत पायी जाती है। समूचे भारत का इतिहास इस सत्य का प्रमाण रहा है कि उस सांस्कृतिक एकात्मकता को प्रज्वलित रखने के उद्देश्य से समय-समय पर यहाँ अनेकानेक महान विभूतियाँ आविर्भूत हुई हैं। उनमें दो जुलाहे महान प्रकाश-स्तंभों के समान युग-युगों तक देदीप्यमान रहे हैं—एक हैं उत्तर भारत के कबीरदास और दूसरे हैं दक्षिण के तिरुवल्लुवर।

कबीर और वल्लुवर कोरे उपदेशक या धार्मिक प्रचारक नहीं थे। करघे की कला ने उन्हें आर्थिक वंधनों से मुक्त रखा था; वरना उनकी साधना, कविता तथा ज्ञान आदि कुछेक स्वर्ण-मुद्राओं के क्रीतदास होकर पंगु रह जाते या समाज में मिथ्यावाद फैलाते। वे दोनों समकालीन नहीं थे। दोनों के वीच से शताब्दियों का काल-प्रवाह बह चला था; पर दोनों के पैर भारतीय संस्कृति के अचल धरातल पर जमकर खड़े थे। विचारधारा से वे समदर्शी थे, चिंतन से ज्ञानी, आचरण से साधु, हृदय से कवि और व्यक्तित्व से महात्मा।

संसार के कतिपय महापुरुषों की भाँति उनके भी निजी जीवन के संबंध में पर्याप्त सामग्री प्राप्त नहीं है। उनकी वाणी या लेखनी से बिखरी हुई विपुल विषय-सामग्रियों के ढेर में से हमें उनके जीवन-वृत्तांत के तिनके जुटाने पड़ते हैं। उनसे हमें पता चलता है कि वे निरे साधक ही नहीं रहे, बल्कि जीवन के खट्टे-मीठे घूँट पी जाने वाले गृहस्थ भी थे। पर कबीर ने जीवन की रस-गागरी पर अचानक ठोकर लगा दी। वे घर-गृहस्थी से विरक्त हो बैरागी बन गये।

नारी तो हम भी करी, जाना नाहिं विचार।
जब जाना तब परिहरी, नारी बड़ा विकार॥

कबीर की विरक्त आत्मा नारी को 'बड़ा विकार' घोषित करती है। पर नारी वर्ग तो मानव जाति का आधा अंग है और उससे भी बढ़ कर नर की जन्मदात्री है। इस अर्द्ध भाग के सर्वोचित मूल्य को ठीक-ठीक आँकने में वल्लुवर ने उदारता तथा संतुलन-बुद्धि से काम लिया। उन्होंने अपनी अर्धांगिनी वासुकी देवी को बहुत प्यार किया था। उनके बेहद प्रेम की वर्षा से आह्लादित हो उस देवी ने जब अपनी आँखें सदा के लिए बंद कर लीं तब वल्लुवर के शोक-संतप्त हृदय से जो गीत फूट पड़ा, उसका पद्यानुवाद यों है—

हे प्रिये! नहीं भूलूँगा मैं
तव सरस मधुर भोजन-मेवा,
वह मूक आज्ञा-पालन-रीत,
निशि-निशि तव स्निग्ध पाद-सेवा,
उत्तर निद्रा, प्रथम जागरण,
ओ प्राणमयी! विदा हो रही
आज तू, मम सजल नेत्रों से
निद्रा सर्वथा विदा हो रही।

तमिलनाडु के नवविवाहित दंपतियों पर आज भी वल्लुवर-वासुकी के आदर्श; अमर प्रेम की आशीषें बरसायी जाती हैं।

कबीर के जीवन-चरित्र के संबंध में जैसे अनेक दंतकथाएँ जन-साधारण में प्रचलित हैं वैसे ही वल्लुवर के बारे में भी हैं। प्रामाणिक रूप से जो कुछ ठोस प्राप्त हुआ है वह उनकी वाणी या लेखनी से उद्भूत सामग्रियों में से खोज निकाला गया है। रचना तो रचयिता के व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण है। कबीर की संगृहीत वाणी तथा वल्लुवर का 'कुरल' आदर्श जीवन की अमर रचनाएँ हैं। साहित्य-लोक में दोनों की रचनाओं के अपने-अपने विशेष स्थान निर्धारित हुए हैं।

मसि कागद छूयो नहिं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिहुँ जग माहित्म्य तेहि, कहि कै जनायो नाथ॥

कह कर अपने अशिक्षित होने का परिचय देने वाले कबीर की वाणी को साहित्यकारों ने निम्न प्रकार से मर्यादित किया है—

तत्व तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठि।
बची-खुची कबिरा कही, और कही सब जूठि॥

वल्लुवर तमिल भाषा के पारंगत पंडित थे; महाकवि थे। उनके अमर ग्रंथ 'कुरल' की प्रशंसा में तमिल की वयोवृद्धा कवयित्री 'अव्वै दादी' ने ठीक ही कहा था—

सात-सात सागर भरे, जैसे अणु को छेद।
सूक्ष्म रूप में जो बना, देव कुरल का वेद॥

इन दोनों महात्माओं का ध्येय साहित्य-रचना करना कदापि नहीं रहा; बल्कि मानव-समाज के कल्याण-पथ का निर्देश करना ही इनका प्रधान लक्ष्य था। धर्म के ठेकेदारों के बीच छिड़े हुए संग्राम का अंत करना, बाह्याडंबरों के सबल चंगुल में फँसे हुए धर्म के मूल तत्वों की रक्षा करना और एक सर्वसामान्य समन्वय-पथ का निर्माण करना कबीर का एकमात्र उद्देश्य था। पर संप्रदायों का विरोधी उनका वह समन्वय-पथ स्वयं कालांतर में 'कबीर पंथ' की संज्ञा पा कर एक अलग संप्रदाय के रूप में परिणत हो चला था। तत्कालीन समाज की समूची अव्यवस्थाओं

का निराकरण कर के, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन का आदर्श प्रतिष्ठित करने का महान उत्तरदायित्व वल्लुवर ने अपने ऊपर लिया और अपने असाधारण मेधाबल से उसे निभाया भी। उनके 'कुरल' को 'तमिल वेद' की उपाधि भी प्राप्त हुई; जिसमें समस्त मानव-परिवार के शाश्वत धर्म का निर्देश हुआ है। पर 'कुरल' को ले कर आज तक कोई संप्रदाय विशेष नहीं चला है।

धार्मिक विचार में कबीर एक निर्गुणोपासक तत्ववेत्ता थे। उनके 'साहेब' वे हैं 'जाके मुँह माया नहीं, नाहीं रूप कुरूप।' उनका दृढ़ विश्वास भी है--

अछै पुरुष इक पेड़ है, निरंजन वाकी डार।
तिरदेवा साखा भये, पात भया संसार।।

निर्गुणवादी की भाँति ही वल्लुवर सृष्टिमूल ईश्वर को सर्वप्रथम वर्ण 'अकार' सदृश बता कर उनकी समस्त सृष्टि के विस्तार की वर्ण-विस्तार के साथ तुलना करते हैं। हाँ, संसार की सभी भाषाओं का प्रथम वर्ण तो 'अकार' ही होता है। जैसे अक्षरों का आधार या आदि 'अकार' है वैसे ही साक्ष्य जगत के आधार हैं सर्वव्यापी भगवान।

'कुरल' के सर्वप्रथम दोहे का पद्यानुवाद यों है---

अकार पूर्व में यथा समस्त वर्णमाल के।
महेश पूर्व में तथा रहे मही अनंत के।।

सगुणोपासना में विषमताएँ भरी पड़ी हैं; उनमें समन्वय लाना कोई सरल काम नहीं है। पर वल्लुवर ने बड़ी सुगमता से वह समन्वय सिद्ध कर दिखाया है अपने 'कुरल' में। उपासकों के ईश्वर-रूप भेद में देव-देवी, नर-नारी, अर्द्धनारी, षडानन, चतुरानन, चतुर्भुज तथा त्रिनेत्रधारी हैं और अवस्था-भेद से बालक, कुमार एवं वृद्ध। ऐसी द्वंद्वभरी सगुणोपासना में भी उन्होंने एकात्मकता स्थापित कर दिखायी। उन्होंने नेत्र, आनन, वक्ष तथा भुजा आदि को छोड़ कर ईश्वर के मंजुल चरण 'गहे'। उनका कहना है---

महेशपाद की कृपा जिसे मिले तरे वही।
भवांबु-राशि को न पार दूसरा करे कभी।।

वल्लुवर और कबीर ने धर्म-विरोधी पाखंडियों पर ख़ूब व्यंग्य किया है। क्योंकि ये पाखंडी आडंबरों का मैल बढ़ा कर धर्म के पावन तीर्थ को गंदा बना देते हैं---

केसन कहा बिगारिया, जो मूँड़ो सौ बार।
मन को क्यों नहिं मूड़िए, जामे विषय-विकार।।

कबीर की इस वाणी के शताब्दियों पूर्व ही 'कुरल' कार एक सच्चे साधु के लक्षण यों बता गये थे---

जटा बढ़ायेगा नहीं, मुड़ायेगा न केश भी।
असत्य निंद्य कर्म जो तजे सुसाधु है वही॥

'हाँ, सच है, दुनिया जिस बात की निंदा करे, साधु वह कदापि न करे।

तीर्थों में डुबकियाँ लगा कर अपने को मोक्ष का पात्र समझने वाला मूढ़ भक्त भले ही अपने शरीर की मैल धो डाले, पर उसका मन कितना मैला रहता है––

न्हाये-धोये क्या भया, जो मन-मैल न जाय।
मीन सदा जल में रहे, धोये बास न जाय॥

'कुरल' कार ऐसे अंधे भक्त को आड़े हाथों लेते हैं––

विकार का पहाड़ ले स्वचित्त में कई चले।
सुतीर्थ में शरीर धो असाधु स्वाँग ही रचे॥

हृदय की पवित्रता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों हम धर्म की ओर बढ़ते जायेंगे। वह आंतरिक पवित्रता हमारी संयम-वृत्ति पर आधारित है। उल्टे, जिसका मन इंद्रियों के वशीभूत होता है, उसका चित्त चंचल, विचार खोटे और कर्म गिरे हुए होते हैं––

मन पाँचों के बसि परा मन के बस नहिं पाँच।
जित देखूँ तित दौ लगी, जित भागूँ तित आँच॥

इंद्रियों की राह मन की गति हो तो सर्वत्र आँच ही आँच लगी रहेगी। वल्लुवर का भी यही उपदेश रहा––

स्वचित्त की पवित्रता समस्त धर्म-सार है।
न बाह्य शुद्धि शुद्धि है दिखावटी अधर्म है॥

मनुष्य कितना ही कुरूप, अशिक्षित और अभावग्रस्त क्यों न हो, चरित्र ही उसे रूपवान श्रेष्ठ और संपन्न बनाता है। क्योंकि चरित्र वह शक्ति है जो मनुष्य को पशुता से हटा कर मानवता की ओर ले जाती है––

सीलवंत सब तें बड़ा, सर्वरतन की खानि।
तीन लोक की संपदा, रही सील में आनि॥

संत कबीर शील को मनुष्य की सबसे बड़ी संपत्ति मानते हैं। पर महात्मा वल्लुवर सच्चरित्रता को जीवन मानते हैं तथा चरित्र-पतन को मरण––

चरित्र से समस्त श्रेय प्राप्त है यहाँ सदा।
चरित्र ही स्वप्राण से अमूल्यवान संपदा॥

मन को वश में रखना चरित्र-गठन के लिए परमावश्यक है। जो मन की गति के पीछे चलता है, वह अंत में विनाश को प्राप्त होता है--

मन के मते न चालिए, मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है, सो साधु कोइ एक॥

जो मनुष्य धर्माधर्म की परख कर के धर्म की राह चलता है वही धीमान है। यह 'कुरल' का निर्णय है।

कुमार्ग भी सुमार्ग भी चलायमान चित्त है।
सुमार्ग जो चला सके वही सचेत ज्ञान है॥

केवल ज्ञान, जीवन को कभी सफल नहीं बना सकता। प्रेम, हाँ, ईश्वर-प्रेम जीवन को सफल वनाता है, वही जीवन का सार भी है। हमारी शिक्षा-दीक्षा, ज्ञानोपासना का एकमात्र लक्ष्य वही है। प्रेमशून्य हमारी शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, शक्ति-संपन्नता आदि व्यर्थ ही नहीं, विनाशकारी भी प्रमाणित हो जाते हैं। इसीलिए कवीर कहते हैं कि शास्त्रों का ज्ञान किसी मनुष्य को पंडित नहीं बना सकता। संसार उसे भले ही पंडित कहे, पर वह है निरा मूर्ख––

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥

वल्लुवर भी प्रश्न करते हैं––केवल शास्त्रों के ज्ञान से कौन सा लाभ सिद्ध होने वाला है, यदि शास्त्रों का ज्ञानी भगवान के चरणों में सिर न झुकावे––

समस्त शास्त्र-ज्ञान से सुलाभ कौन सा मिला?
महेशपाद वंदना करे न जो निशा-दिवा॥

आज का संसार कितना अशांत और चिंतापीड़ित है! यहाँ का हर जीव किसी प्रकार शांति के किनारे पहुँच कर कुछ देर विश्राम तो करना चाहता है। विज्ञान के दानव ने प्रकृति के अंग-अंग में अशांति और हलचल का दौरा कर दिया है। यह हलचल का पारावार कब शांत हो और कब हम उस पार पहुँचे; कौन हमें पार लगायेगा––

सुरति करौ मेरे साइयाँ, हम हैं भव-जल माँहि।
आप ही बहि जायँगे, जो नहिं पकरौ बाँहि॥

उस 'एक' के सिवा और कोई भी तुम्हें बाँह से पकड़ कर उस पार पहुँचाने वाला नहीं है। कवीर के इस उपदेश के पूर्व ही वल्लुवर अपने 'कुरल' में बता गये थे कि जो उस 'एक' के चरण पकड़ता है, वही भवसागर को पार कर सकता है।

महेशपाद की कृपा जिसे मिले तरे वही।
भवांबु-राशि को न पार दूसरा करे कभी॥

प्रेम, विनय, सचाई, परोपकार, उदारता, दया आदि सभी सर्वोत्तम गुण मिष्ठ भाषण के अभाव में अवगुण बन जाते हैं। कटु वचन वह तीर है जिसके प्रहार मात्र से उत्तम गुणों के वृक्ष नष्ट हो जाते हैं, कबीर कहते हैं "कठोर वचन का तीर जो हमारे श्रवण-द्वार में पैठ जाता है, हमारे समूचे शरीर को छेद ही डालता है और बुद्धिमान व्यक्ति उस शस्त्र का कभी प्रयोग नहीं करता।"--

कुबुद्धि कमानी चढ़ि रही, कुटिल वचन का तीर।
भरि-भरि मारै कान में, सालै सकल सरीर॥

'कटु वचन तो आग की आँच की अपेक्षा अधिक जलाने वाली है; क्योंकि आग की आँच से जो फोड़ा निकलता है वह कुछ ही दिनों में फूट कर भर जाता है। पर कटु वचन वह आँच है जिसका जला फोड़ा न फूटता है और न भरता ही है।'--यह तमिल के महकवि की अनुभवोक्ति है।--

अग्नि-दाह का घाव भरेगा, दिन कटते ही शीघ्र मिटेगा।
वचन-दाह का व्रण न भरेगा, जिह्वानल में सदा जलेगा॥

भले ही हम दूसरे का लाख भला करें तो भी हमारी जीभ से निकली हुई एक भी कटूक्ति से हमारा किया-धरा मिट्टी में मिल जायगा।--

कोटि परम लागै रहै, एक क्रोध की लार।
किया-कराया सब गया, जब आया हुंकार॥

'कुरल' कार का उद्गार भी जिह्वा-संयम पर यों हुआ है--

कटूक्ति तो कुरीति है अवांछनीय सर्वथा।
कटूक्ति एकमात्र से किया-धरा बने वृथा॥

महापुरुषों के विचार और वचन देश-काल और धर्म-भाषा आदि की सीमाएँ नहीं मानते; वे सदा-सर्वदा और सर्वत्र ही समान होते हैं, शाश्वत सत्य पर आधारित। वल्लुवर और कबीर भारत के महान चिंतक, पहुँचे हुए ज्ञानी और दूरदर्शी समाज-सुधारक थे। शताब्दियों का कालांतर भी उनकी विचारधारा में या जीवन-दर्शन में किसी प्रकार का भेद उपस्थित नहीं कर सका। क्योंकि वे उस अति उदार भारतीय संस्कृति की उपज थे जिसके सामने आर्य-द्रविड़, हिंदू-मुसलमान; पंजाबी-बंगाली, मराठी-गुजराती, केरलीय-कन्नड़ी, तमिली और असमी आदि अपने-अपने भेद भूल कर अपने को सच्चे भारतीय के रूप में पायेंगे। यही हमारी भारतीय संस्कृति की विशेषता है।

--मद्रास पलयाकट कंपनी,
३१, आर्मीनियन स्ट्रीट, मद्रास-१।

श्रीकांत वर्मा

विवेचना

नचिकेता के बावजूद

•

आत्मजयी

कुँवर नारायण का काव्य। भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।
प्रथम संस्करण १९६५। मूल्य : ३५०।

दो तरह के नरक हैं—एक सुख का नरक और दूसरा दुख का; एक समृद्धि का नरक और दूसरा दारिद्र्य का। समृद्धि के नरक में पड़ा हुआ मनुष्य एक ऐसे कीचड़ में गले तक धँसा हुआ है जिससे उबरने की उसमें अब इच्छा भी नहीं रही। वह जीते-जी दफ़न है। दूसरी तरह के नरक में तीन चौथाई दुनिया रहती है, जिसे अपनी इच्छा के विरुद्ध अकाल मृत्यु मरने के लिए अभिशप्त कर दिया गया है।

दोनों तरह की मृत्यु, मृत्यु है। दोनों तरह का साहित्य, साहित्य है। और उसे उसी जीवन-संदर्भ में रख कर देखना चाहिए जिसका वह दावा करता है या जिससे वह पैदा हुआ है। शुरू से ही 'यौनाशय, गर्भाशय और आमाशय' के 'आशय' को तुच्छ मान कर चलने वाले कवि कुँवर नारायण की कविता के लिए यह और भी जरूरी है। वैसे मेरी अपनी राय में ये तीनों आशय इतने तुच्छ नहीं हैं कि इनके प्रति विराग पैदा होने के बाद ही किसी कवि का कवि होना संभव हो। इनकी अपनी अलग कविता है जो कुँवर नारायण की कविता नहीं।

कुँवर नारायण की अपनी कविता है 'आत्मजयी' और कुँवर नारायण का अपना प्रतीक है 'नचिकेता' जो कुँवर नारायण की शंकाओं और प्रश्नों को ढोता है। औपनिषदिक पात्र नचिकेता एक दूसरे तरह का व्यक्ति था—एक दूसरे तरह के अभिशाप से अभिशप्त था; 'आत्मजयी' का पात्र 'नचिकेता' एक और तरह का व्यक्ति है—एक और तरह के अभिशाप से अभिशप्त है। औपनिषदिक नचिकेता को दिया गया शाप था, मृत्यु; 'आत्मजयी' के नचिकेता को दिया गया

शाप है 'जीवन'; दूसरे शब्दों में, जीवन-मूल्यों की तलाश। जीवन-मूल्यों की तलाश मृत्यु से अधिक कष्टकर है और इसलिए जीवन-मूल्यों की खोज करने वाली कविता की खोज भी अधिक कष्टकर है। लेकिन जैसा कि है, कुँवर नारायण 'सहज' कवि नहीं हैं और नचिकेता की तरह ही उन्होंने भी अपने को वास्तविक अस्तित्व की तलाश में निकली हुई एक ऐसी यात्रा में डाल दिया जिसमें कुछ हासिल होगा या नहीं--कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। यह, 'जो नज़र आता है' उसे छोड़ कर, 'जो नज़र नहीं आता' की खोज है। दोनों में से मरीचिका कौन है इसका उत्तर न है, न हो सकता है।

तैयार उत्तरों में विश्वास न रखने वाले नचिकेता के पास तो और भी नहीं—

मैं जिन परिस्थितियों में ज़िंदा हूँ
उन्हें समझना चाहता हूँ--वे उतनी ही नहीं
जितनी संसार और स्वर्ग की कल्पना से बनती हैं

अस्तित्व के प्रति शंका पहली नहीं है। एक स्तर पर यह शंका बार-बार हिंदू दर्शन में उठती रही है और एक दूसरे स्तर पर नीत्शे से शुरू हो कर हीडेगर और यास्पर्स के अस्तित्ववाद तक पहुँचने वाली चिंतन-धारा में। कुँवर नारायण ने जिस रूप में अस्तित्व के सवालों को उठाया है, उनकी संगति हिंदू दर्शन से नहीं बैठती—और इसीलिए हिंदू प्रतिभा की उपज नचिकेता के कुँवर नारायण द्वारा निरूपित चरित्र में शुरू से ही विसंगति है। कठोपनिषद का नचिकेता असहमति का, एक अलग बौद्धिक स्वायत्तता का, जिसके लिए हमेशा हिंदू दर्शन में गुंजाइश रही है, प्रतीक है। ऐसे व्यक्ति को अधिक से अधिक एक परंपरा-द्रोही के रूप में पेश किया जा सकता है और उसे ले कर परंपरा के सवाल को उठाया जा सकता है। मगर कुँवर नारायण का सवाल महज़ परंपरा नहीं, परंपरा से बड़ा है और इस सवाल की वेदी पर खड़ा किया है उन्होंने, नचिकेता को।

यह सवाल है अस्तित्व का—वह भी उस रूप में जिस रूप में पश्चिम के दार्शनिकों ने उठाया है। इस अस्तित्व में रति है, मृत्यु है, युद्ध है, विषाद है और महामारी है। ये आज के जीवन की जड़ें हैं, जिनसे कोई पलायन संभव नहीं। नीत्शे ने जिस दिन घोषणा की 'ईश्वर मारा गया' उसी दिन मनुष्य बिल्कुल अकेला हो गया। आज का अकेलापन आज का अकेलापन है, ईश्वरविहीन समाज में जीवन जीने वाले व्यक्ति का अकेलापन, और आज की मृत्यु बिल्कुल आज की मृत्यु है, जो मनुष्य के 'होने' में है :

क्योंकि व्यक्ति मरता है
और अपनी मृत्यु में वह बिल्कुल अकेला है,
विवश
असांत्वनीय।

यह मनःस्थिति केवल आधुनिक व्यक्ति की हो सकती थी ; मनुष्य से बड़ी किसी सत्ता की तलाश करने वाले नचिकेता की नहीं। लेकिन 'आत्मजयी' का नचिकेता आधुनिक मनुष्य के संकट को ढोता है। हर संकट कवि को या समाज को रूपकों की खोज के लिए विवश करता है। पश्चिमी समाज के संकट ने भी अपने कवियों और नाटककारों को विवश किया है कि वे प्रतीकों की दुनिया में समान धर्म की खोज करें। लेकिन पश्चिमी कवियों का काम अपेक्षाकृत आसान था—उनके पास ईसा के पहले की भी दुनिया थी जिसकी पुराकथाओं के आईने में वे अपने आज के ईश्वरविहीन संसार की जीवन-स्थितियों को देख सकते थे। किसी भी पश्चिमी लेखक के लिए यह असंभव है कि वह आज के मूल्यहीन समाज के प्रतीक ईसाई धर्म-कथाओं में ढूँढ सके। वर्बरता के इस महादृश्य के नामकरण के लिए अगर लौटना भी पड़ता है तो ग्रीक पुराणों की ओर। ईसाई प्रतीकों को ले कर रचा गया काव्य या उपन्यास ग्रीक पुराणों के प्रतीकों को ले कर रचे गये साहित्य की तुलना में न केवल फीका है बल्कि उनमें प्रतीकों के साथ न्याय भी नहीं हो सका है, जिसका महत्वपूर्ण उदाहरण है कजांस्की का उपन्यास 'ईसा : फिर से सूली पर'।

किसी असंगठित समाज को नाम देने के लिए संगठित धर्म से प्रतीक उधार नहीं लिया जा सकता। आधुनिक मनुष्य के अंतर्मन की खोज के लिए राम से जुड़ी हुई कथाओं के प्रतीक इस्तेमाल नहीं किये जा सकते; लेकिन मूल्यहीनता, पक्षधरता, हिंसा, और विवेकहीनता की महागाथा के लिए महाभारत के प्रसंगों का उपयोग अच्छी तरह किया जा सकता है—इसकी छूट स्वयं महाभारत के गठन में है। यही कारण है कि अपनी तमाम विफलताओं के बावजूद 'अंधा युग' पौराणिक कथा-प्रसंगों की आधुनिक जीवन-संदर्भ में की गयी व्याख्याओं में सबसे सफल व्याख्या-काव्य है।

व्याख्या-काव्य की परंपरा 'अंधा युग' से ही शुरू हुई थी और 'आत्मजयी' भी व्याख्या-काव्य ही है और यह भी मान कर चलना चाहिए कि वह मनमाना काव्य या मनमानी व्याख्या नहीं है। कुँवर नारायण से किसी तरह की अनर्गलता का डर होना भी नहीं चाहिए। लेकिन उन्हीं चरित्रों की व्याख्या में अनोखापन हो सकता है, जिनमें विलक्षणता हो; जैसे राम के चरित्र में विलक्षणता नहीं है, जबकि कृष्ण और शंकर के चरित्र में है। नचिकेता का चरित्र सपाट नहीं है, लेकिन उसमें उस विलक्षणता की कमी है जो आज के जीवन-संदर्भ में रखने पर कौंध जाय।

नचिकेता के चरित्र की इन सीमाओं में भय या अकेलापन जैसी अपने स्वरूप में आधुनिक मनःस्थितियाँ किस सीमा तक नचिकेता के साथ न्याय करती हैं इसका निर्णय स्वयं 'आत्मजयी' का काव्य करता है जो अपनी आकांक्षाओं में ऊपर उठता है, कविता के लिए कुछ ऊँचे प्रतिमान क़ायम करता है और फिर गिर जाता है; पहले पहाड़ी पर चढ़ता है, फिर उतर कर समतल मैदान पर संतुष्ट चलने लगता है। एक ओर—

"तुम चेहरा नहीं हो, केवल एक भूख हो
जिससे एक चेहरा बनता है

और मेरी पहचानने की शक्ति को
आश्वस्त-सा करता। भूख और चेहरा
मिल कर मेरे चारों ओर जंगली उत्सव मनाते हैं
रक्त के साक्ष्य में"

जैसी हर शब्द से छन कर आने वाली कविता है। दूसरी तरफ़—

क्षण भर ममत्व की स्मृतियों में
विश्राम मुझे कर लेने दो।
कण-कण की पीड़ा से मेरी
कातर आत्मा को लिपट-लिपट रो लेने दो।

जैसी चलताऊ अनुभूतियाँ। पहली पंक्ति में एक रस्मी उपमान **'समय के केंचुल सरीखा रास्ता'**; दूसरी पंक्ति में एक बिल्कुल अछूता चित्र––

मार कर खाया हुआ-सा पड़ा
चारों ओर ख़ाली नगर-पंजर...

और इसका कारण यह है कि कुँवर नारायण का काव्य बुद्धि-संगत है, बल्कि बुद्धि-सम्मत है। कुँवर नारायण बौद्धिक कवि नहीं हैं। बौद्धिक कवि, कवि नहीं होता। कुँवर नारायण कवि हैं; जिनका काव्य बुद्धिसंगत है, नियमित है। वह अनुभव की उस असंगति से पैदा नहीं हुआ है जो कविता में एक प्रकार की अनियमितता को, अर्थहीनता को जन्म देता है। कुँवर नारायण अर्थ में, नियम में विश्वास करते हैं और अर्थ को सिद्ध करते हैं। अर्थ को सिद्ध करने वाला काव्य किसी बिंदु पर घटाया जा सकता है। साधारण कवियों से ऊपर उठ कर असाधारण अर्थ की खोज करने वाला कुँवर नारायण का काव्य, संभव है, घटाने पर किसी औसत बिंदु पर जा कर न कटे। मगर उसमें औसत हो जाने के सभी ख़तरे हैं।

नियम एक प्रकार का निषेध है, जिनसे 'चक्रव्यूह' के कवि ने 'परिवेश : हम तुम' में कुछ मुक्ति पायी थी और 'परिवेश : हम तुम' के कवि ने 'आत्मजयी' में आ कर कुछ मुक्ति पायी है। मगर अब भी उसमें नियमों के प्रति मोह है जो उसकी कविता को सपाट बनाता है और अपनी आख़िरी परिणतियों में तो बिल्कुल सीख बन कर रह जाता है:

व्यक्ति दास ही नहीं देह का
स्वामी भी है।
अनुशासित ही नहीं

मुक्त अनुशासक भी है इच्छाओं का।
लक्ष्यहीन ऐंद्रिय विचरण तो
साधन का उपयोग नहीं——उपभोग मात्र है।

अपने लिए अर्थ खोजने की चिंता स्पष्ट अस्तित्ववादी चिंता है। अपने लिए प्राप्त अर्थ ही मनुष्य को काठ का एक टुकड़ा मात्र होने से बचाता है। पहले अपने होने का एहसास और उसके बाद अपने लिए अर्थ प्राप्त करने का आत्म-संघर्ष स्वयं पश्चिमी चिंतन में एक क्रांतिकारी धारणा थी। एक प्रकार से यह व्यावहारिक दर्शन था——दो महायुद्धों के बीच भटकी हुई मनुष्यता के लिए एक संगत जीवन-दृष्टि। लेकिन यह आत्मबोध हिंदू दर्शन के आत्मबोध से बिल्कुल अलग है। हिंदू दर्शन का आत्मबोध वस्तुतः परमात्म-बोध है——परमात्म-बोध ही उसका प्रयोजन, उसका अर्थ और उसकी निष्पत्ति है। अस्तित्ववादी आत्मबोध केवल आत्म-बोध है।

'आत्मजयी' का नचिकेता हिंदू आत्मबोध के अनुभव से गुज़रने वाला प्राणी नहीं बल्कि अस्तित्ववादी आत्मबोध की यंत्रणाओं से गुज़रने वाला व्यक्ति है:

लोभ के वशीभूत गद्‌गद श्रद्धाओं के मेले में
भीड़ के प्रपंच बीच शंकित जिज्ञासु एक——
अशुभ उपस्थिति हूँ !
मैं अपनों के हठांत सत्यों से दंडित हूँ।
उनके विमूढ़ विश्वासों से हारा हूँ।
उनकी नादानी से
कुछ ऐसे अपराधी साबित हूँ
मानो अपना ही हत्यारा हूँ !

जीवन में यह कैसा कुटिल द्वैध ?
ये कैसे विधान——निर्भय जीना अवैध ?
जीवित हूँ ? या केवल अपहृत हूँ ?
संज्ञा हूँ ? या केवल व्यवहृत हूँ ?
क्यों इतना ऊहापोह
यदि अनुकृति मात्र हूँ तुम्हारी ?

अस्तित्ववाद एक स्वतंत्र और काल-सीमित चिंतन है। वह किसी बृहत्तर दर्शन का अंग नहीं हो पाता——यहाँ तक कि मार्क्सवाद का भी नहीं। सार्त्र के तर्कों का खंडन करते हुए और अस्तित्ववाद पर आक्रमण करते हुए लूकाच ने घोषणा की थी, 'बूर्जुआ बुद्धिजीवी आदर्शवाद के रास्ते को छोड़ने को विवश हुए हैं——यह अलग बात है कि वे उसकी उपलब्धियों और बुनियादी

की रक्षा करना चाहते हैं।' लूकाच के तर्कों को तर्कसम्मत न मानने के बाद भी, मानने के लिए यह ज़रूर बच रहता है कि अगर अस्तित्ववाद किसी क़िस्म का आदर्शवाद है तो एक अलग क़िस्म का आदर्शवाद है जिसकी संगति केवल यूरोप के उस व्यक्ति के संदर्भ में हो सकती है जिसने मनुष्य का पतन देखा है।

कठोपनिषद का नचिकेता, कम से कम, मनुष्य के पतन का साक्षी नहीं। मगर 'आत्मजयी' का नचिकेता है :

> **एक भटकती चिंतनशीलता**
> **जिसके लिए आजीवन कारावास तक की सुरक्षा नष्ट हो चुकी**
> **अब मुक्त है किसी भयानक बाह्यता में,**
> **क्योंकि अब वह जिसके बाहर है**
> **वह बाहर भी मृत्यु की ही तरह**
> **अंतिम कुछ लगता है!**

बाहर और भीतर के इस अंधकार की जड़ें औपनिषदिक अंधकार की जड़ों से अधिक गहरी हैं। आधुनिक मनुष्य के नैराश्य के आधार अधिक स्थायी हैं। यह एक ऐसे व्यक्ति का नैराश्य है, अतीत जिसकी रक्षा नहीं कर सकता, और भविष्य जिसके लिए एक प्रवाद है। वह घोर यथार्थ में जीने वाला व्यक्ति है जिसके लिए कहीं कोई मुक्ति नहीं। 'आत्मजयी' का नचिकेता ठीक ऐसा ही व्यक्ति है। वह अपने नैराश्य से उबरते हुए भी नहीं उबरता, अपनी मुक्ति में भी मुक्त नहीं होता। यही कारण है कि उसके नैराश्य का काव्य सच्चा है, मुक्ति का काव्य झूठा है, कविता के स्तर से नीचे गिरा हुआ है। उसके नैराश्य का काव्य मर्मभेदी है :

> **जिधर भागे**
> **उधर आगे पहले ही से एक कठिन अनिश्चय,**
> **पीछे आ खड़ी होती एक नयी दीवार**
> **जो पहले न थी**
> **एक डरावनी छाया**
> **और हिचकते पाँवों को**
> **धमका कर आगे ढकेलते**
> **घातक इरादों के निर्मम इशारे।**
> **किसी ओर फाँद जाने को जी चाहता है।**
> **चाहे खाई हो, चाहे आग, चाहे जल—**
> **क्योंकि उन सबसे**
> **कहीं अधिक भयानक है यह छल**

जो न जीवन न मृत्यु,
केवल एक दुविधा है दोनों के सहारे !

उसका 'भविष्य-बोध' हवाई है, कवि-सुलभ है :

दूर कोहरे से
उठती हुई पृथ्वी को पूजता-सा एक दिन।
प्रतिदिन निकट-निकटतर
आते हुए अस्पष्ट चेहरों का विराट स्वागत-समूह
जिसमें मैं डूब जाता हूँ।
कहीं जाते हुए चरणों का कोलाहल,
एक-दूसरे को टटोलते हाथों का दीन-स्पर्श,
शोर में तैरती बातें,
बच्चों की चिल्लाहटें——
मुझे हाथ चाहिए——वत्सल।
नेत्र——समता से छलछल।
आत्मीयता——जिसकी छाँह में चल सकूँ।
सुरक्षा——जिसकी बाँह में पल सकूँ।

'आत्मजयी', आत्मजयी हो कर भी आत्मजयी नहीं है, क्योंकि वह एक जीवन की व्याख्या दूसरे जीवन की भाषा में करता है, एक मृत्यु की पहचान एक दूसरी मृत्यु में करना चाहता है। औपनिषदिक मनुष्य के लिए मृत्यु थी कालातीत हो जाना, आधुनिक मनुष्य के लिए मृत्यु है, काल में सिमट जाना। आधुनिक व्यक्ति की त्रासदी है न जीवन से उबर पाना, न मृत्यु से। वह केवल चिल्ला कर रह जाता है :

"जीवन क्या है ?
मृत्यु क्यों ?
मुक्ति कैसे ?
ईश्वर कहाँ ?"

न ईश्वर है, न मुक्ति है। केवल जीवन और मृत्यु की यंत्रणा का काव्य है——वही मुक्ति है और वही ईश्वर है। वही प्रमाण की खोज है और वही प्रामाणिकता की। लेकिन उसके लिए, कविता के लिए, किसी बौद्धिक प्रमाण की, किसी बाहरी तर्क की आवश्यकता नहीं।

कविता अब भी, बुद्धि की लकड़ी ले कर जीने वाले इस युग में भी, स्वप्न ही है। वह तर्कातीत है, असंगत है, अनर्गल है, अस्फुट है, अर्थहीन है। 'आत्मजयी' में भी कविता केवल वहीं है, जहाँ मूर्च्छा है। सजग, बुद्धिजीवी नचिकेता का चिंतन काव्य नहीं बल्कि उसकी मूर्च्छा, उसका प्रलाप, उसका विलाप काव्य है :

अँधेरी पड़ती गयी
हर पर्त जल की—तनिक धूमिल, अधिक धूमिल।
काँपती जल-तहों को झनकारता-सा
त्रस्त सन्नाटा
दबाता चला जाता।
अथाहों जल तले दीखी
किसी उजड़े नगर की सिर पीटती परछाइयाँ।
ठठा कर हँसती हुई—सी दैत्य चट्टानें।
गुफाएँ आरियों की तरह तीखे दाँत खोले।
भूँकते खूँखवार कुत्तों-सी झगड़ती क्रुद्ध आकृतियाँ।
(पवन-सी सरकती जलधार खर-सेवार के निस्तब्ध वन से)
हताहत अवयवों का बेचैन हाहाकार।

× ×

आह, हत मन पुनः सो जा
नींद यदि आये—
विश्व का वह रूप सुंदर
छेंक लेता जो तचित मन,
हो सके तो पुनः खो जा किसी छल में!
स्वप्न से बाहर न आ,
मत उतर गहरे।
वहाँ केवल मृत्यु-भय से ढके चेहरे।
दूर तक, बस, दीख पड़ती
एक धुँधली लीक छूटे चरण-चिह्नों की—
और हारी हुई हाँकें
माँझियों की
थरथरा कर जो अचानक विकट चुप में
डूब जातीं नाचती गहराइयों में....

'शरीर की माँगों को स्थगित' कर एक नये जीवन की तलाश में बेचैन नचिकेता, उस आस्था की खोज का प्रतीक है जिसे कुँवर नारायण ने 'आत्मजयी' की भूमिका में 'अमर अर्थ में जीने' का प्रयत्न कहा है। आस्था की खोज, स्वयं एक आस्थाहीन और आत्मविहीन संसार की ओर इशारा है। जिस दिन परमात्मा मारा गया उसी दिन आत्मा की मृत्यु हो गयी और सारी दुनिया के मठ, मंदिर और गिरजे केवल स्थापत्य हो कर रह गये। बीसवीं शताब्दी नये सिरे से अपनी आस्था की खोज कर रही है और कुँवर नारायण की लंबी कविता 'आत्मजयी' भी आस्था

की खोज के इस लंबे सिलसिले का एक अंग है। लेकिन यह खोज भटकाती भी है: कलाकार को पैग़ंबर और कवि को मिशनरी में बदलती और कविता को प्रत्येक स्तर पर प्रेषणीयता के लिए विवश करती हुई उसके मूल चरित्र को क्रमशः नष्ट करती है। कवि अपनी कविता की खोज करता हुआ अपनी आस्था अर्जित करता है; आस्था की खोज करता हुआ काव्य अर्जित नहीं करता। कविता के मूल्य ही कवि के जीवन-मूल्य होते हैं, उनसे अलग कोई जीवन-मूल्य नहीं होता। अलग से जीवन-मूल्यों की खोज करने वाला कवि ऊपरी खोज करता है। उसका अंदाज़ पैग़ंबराना हो जाता है और रचना विकृत होती है, भाषा पंडिताऊ और किताबी हो जाती है। भाषा के क्षेत्र में एक अरसे से काम करने वाले कवि कुँवर नारायण की भाषा 'आत्मजयी' में आ कर किताबी हो गयी है और इसका कारण यही है कि 'आत्मजयी' के कवि ने भाषा को अनुभव से अधिक सोचने का माध्यम बनने के लिए बाध्य किया है। कुँवर नारायण अकेले नये कवि हैं जिन्होंने भाषा को रूमानी संस्कारों से मुक्त किया है और यह हिंदी कविता को उनकी महत्वपूर्ण देन है। लेकिन 'आत्मजयी' में रूमानी संस्कारों से मुक्त काव्य-भाषा इतनी ठंढी हो गयी है कि उससे किसी भी प्रकार के अनुभव की आँच नहीं आ पाती।

लंबी कविता के लिए आवश्यक होती है नाटकीयता। यह नाटकीयता कविता को एकरस होने से बचाती है। इसीलिए कवि किसी ऐसे प्रसंग को चुनता है जिसकी कथावस्तु में ही नाटकीयता हो। नचिकेता की मूल कथा में ही चमत्कार है जिससे चमत्कृत होने के लिए कवि होना ज़रूरी नहीं। कवि होना ज़रूरी है उस कथा से कविता दुहने के लिए। कुँवर नारायण कवि हैं और केवल कवि हैं। वह कविता, भावनाओं के आवेग से निकलने वाली कविता लिखते हैं और उसे संयमित करते चलते हैं। यह संयम उसे एक प्रकार की वयस्कता भी प्रदान करता है; लेकिन इस तरह की प्रौढ़ता हासिल कर लेने के बाद कविता को नाट्यशाला में बदलने की गुंजाइश कम रह जाती है!

कुँवर नारायण का बिंब-विधान आक्रामक नहीं है। वह पढ़ने वाले पर हल्ला नहीं बोलता। जहाँ वह आक्रामक है, वहशी है, वहाँ नाटक है, नाटकीयता है। 'आत्मजयी' आक्रामक काव्य नहीं है जब कि उसमें एक आक्रामक काव्य की पूरी संभावना थी।

—९४, नार्थ एवेन्यू,
नयी दिल्ली।

गोष्ठी-प्रसंग

'विवेचना' में 'आत्मजयी'

दिनांक २५ जुलाई, १९६५ को सायं छह बजे, एनी बेसेंट हॉल में 'विवेचना' की गोष्ठी कुँवर नारायण की नवीनतम काव्य-कृति 'आत्मजयी' पर समीक्षात्मक विचार-विमर्श के लिए हुई। अध्यक्षता बालकृष्ण राव ने की और श्रीकांत वर्मा ने निबंध-पाठ किया।

निबंध-पाठ के बाद सबसे पहले डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि कुँवर नारायण की इस कृति की मित्रों को बहुत समय से प्रतीक्षा थी और वैसी ही प्रतीक्षा श्रीकांत वर्मा की समीक्षा की भी थी क्योंकि यह एक समानधर्मा के प्रति एक कवि की प्रतिक्रिया थी। लेकिन 'आत्मजयी' पढ़कर संतोष कम हुआ; कठिनाई अधिक बढ़ी। इसकी मूल वस्तु की बात लें तो वह है 'सुखी जीवन' और सार्थक जीवन'। लगता है कवि ने इन दोनों में परस्पर विरोध माना है। आज के युग में यह नहीं कहा जा सकता कि प्रेम और वासना या सुख और सार्थकता दोनों अलग-अलग तत्व हैं। कुँवर नारायण ने हमें फिर से भारतीय परंपरा की ओर ले जाने की चेष्टा की है। भाषा के संबंध में निबंध-लेखक से असहमति प्रकट करते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा कि मौलिक प्रयोग और रूमानियत की बात तो ठीक है पर मेरे विचार से 'आत्मजयी' की उपलब्धि बिंब-प्रधानता और भाषा की सर्जनात्मकता में ही है। वस्तु के प्रस्तुतीकरण में न तो मौलिकता है न आधुनिकता। वास्तव में वह समकालीन संदर्भ से बिल्कुल कटी हुई है। 'अंधा युग' इसी दृष्टि से सफल है कि उसकी समस्या पौराणिक संदर्भ के सहारे प्रस्तुत होने पर भी मूलतः आधुनिक है। उन्होंने जो मिथक लिया है और जो कहना चाहा है दोनों में इतनी समानता है कि कोई तनाव उपस्थित नहीं होता। जो कुँवर नारायण का कथ्य है वही कठोपनिषद् का भी है; यही कारण है कि उन्होंने जो कुछ संप्रेषित करना चाहा है वह काव्य नहीं बन पाया है। यूरोपीय पौराणिकता धर्म से अलग थी, लेकिन भारतीय ऐसी नहीं है। 'आत्मजयी' में नचिकेता एक दृष्टि या प्रवृत्ति का प्रतीक हो सका है, पर राम या कृष्ण की तरह वस्तु-प्रतीक नहीं बन सका। 'आत्मजयी' में मिथक कवि पर हावी हो गया है, जब कि होना इसके विपरीत अपेक्षित था। समानांतर कथन के कारण रचनात्मक तनाव उत्पन्न नहीं हो पाता और मूल बात भी दूर तक नहीं पहुँच पाती। 'आत्मजयी' में सर्जनात्मक शक्ति की कमी है; उसकी सफलता भाषा एवं बिंब-विधान की ही है।

डॉ० वीरेंद्र सिंह ने कहा कि मैं इस कृति में प्रस्तुत नचिकेता के चरित्र के विश्लेषणात्मक परिचय से प्रभावित हुआ हूँ। इसके संबंध में कुछ मतभेद हो सकते हैं लेकिन यह एक प्रयोग है।

एक चरित्र के माध्यम से कवि ने मृत्यु, आस्था आदि के बारे में मौलिक बातें कही हैं। 'अंधा युग' को ही सफलता की कसौटी मानना ठीक नहीं है। हाँ, यह सच है कि इसमें रचनात्मक तनाव उत्पन्न नहीं हो पाया है। नचिकेता के अतिरिक्त अन्य पात्रों के माध्यम से कवि यदि आधुनिक संदर्भ को प्रस्तुत कर पाता तो अच्छा होता। आज मृत्यु का दर्शन विकसित हो रहा है। हमारे यहाँ मृत्यु के दर्शन का विकास नहीं हो सका है। मृत्यु का जो रूप इसमें चित्रित है वही इस काव्य की सफलता है।

घनश्याम पंकज ने कहा कि पुस्तक के 'प़्लैप' पर नये-पुराने के संदर्भ का एक संकेत है। इसे परंपरा के प्रति विद्रोह के रूप में लिया जा सकता है। इसी संदर्भ को वात्स्यायन ने 'अपने-अपने अजनबी' में अस्तित्ववाद एवं यूरोपीय चिंतन की परंपरा में उठाया है और कुँवर नारायण ने भारतीय दर्शन एवं परंपरा के संदर्भ में। हाँ, यह रचना यदि और छोटी होती तो इसके कथ्य का समवेत प्रभाव अधिक होता।

प्रभात ने कहा कि किसी भी रचना उसकी सीमा में रख कर देखना ही उचित है। कुँवर नारायण अपनी सीमाओं से परिचित थे और भूमिका में उनका उल्लेख उन्होंने कर दिया है। उनके सामने अस्तित्ववादी समस्या थी या नहीं यह महत्वपूर्ण नहीं है। कुँवर नारायण शाश्वतता में विश्वास रखते हैं और उन्होंने इस बात को विभिन्न रूपों में उपस्थित किया है। उन्होंने एक प्रतीक चुन लिया जो कुछ स्थितियों एवं संदर्भों में उन्हें उचित लगा। एज़रा पाउंड और इलियट ने भी ऐसा ही किया है। निबंधकार कुँवर नारायण के चिंतन को समझ नहीं सके हैं। उन्होंने अपनी मान्यताओं को समीक्ष्य काव्य पर आरोपित कर दिया है। कुँवर नारायण का संघर्ष बाह्य नहीं, आंतरिक है। यहाँ नीत्शे से भी अधिक परिपक्व दृष्टि है कुँवर नारायण की।

लक्ष्मीकांत वर्मा ने कहा कि मुझे इस काव्य से निराशा हुई। मुख्य रूप से इसके बारे में मैं जो बातें करना चाहता हूँ उनमें पहली बात यह है कि आधुनिक संवेदना को व्यक्त करने के लिए जो पौराणिक संदर्भ लिये जाते हैं उनके सीधे उपयोग से कुछ नहीं हो सकता। कुछ कटाव हो, पेंच हो, तभी रचनात्मक तनाव पैदा हो सकता है। 'आत्मजयी' में जो प्रतीक लिया गया है वह उसके उपयुक्त नहीं था, बिल्कुल सीधे-सादे ढंग का था। दूसरी बात यह है कि इसमें मुझे कोई नयी समस्या नहीं मिली; अस्तित्ववाद भी नहीं, जो यूरोप की अपनी भोगी हुई समस्या है। प्रस्तुत काव्य में अमर जीवन का समर्थन है और सुख को ही भोग माना गया है, दुख को नहीं; यह एक विचित्र बात है। इसमें टैगोर की पौराणिक संदर्भ वाली रचनाओं जैसे सौंदर्य की अभिव्यक्ति भी नहीं हो पायी है। असल में कुँवर नारायण ने 'मज्झिम निकाय' जैसी चीज निकालनी चाही है लेकिन बिना भोगे हुए ऐसा कर पाना संभव नहीं। तीसरी बात यह है कि मैं इसकी भाषा के संबंध में रामस्वरूप जी से सहमत नहीं हूँ। 'आत्मजयी' की भाषा में छायावादी और रूमानी झलक काफ़ी है। इसमें असफल छायावादी बिंबों का प्रयोग है। वस्तु उपनिषद् की, भाषा छायावाद की, और संदर्भ आधुनिक; इन तीनों विसंगतियों से कवि भ्रमित और असफल हो गया है। चौथी बात यह है कि इसमें संघटन की कमज़ोरी है। जहाँ तक भाषा

का प्रश्न है भारती के 'अंधा युग' की भाषा भी रूमानी है, लेकिन उसके गठन में कसाव है। मूल बात अनुभूति को पकड़ने की होती है। यह कमज़ोरी न होती तो कृति सार्थक होती। इसमें न तो मृत्यु की अनुभूति काफ़ी पकड़ के साथ है, न अमरत्व की और न सुख-भोग की। इसीलिए असफलता है। जब जीवन का यथार्थ अस्वीकृत कर दिया गया तब फिर अमरत्व के दर्शन की खोज कैसे संभव है? 'आत्मजयी' में मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठाया गया है। कवि ने दो बातें ली हैं—एक तो सुरक्षा की इच्छा और दूसरी अमरत्व की आकांक्षा, लेकिन वास्तविक प्रतिक्रिया सुरक्षा वाली ही है। वह पूरी मानवता को अरक्षित मानता है इसीलिए अंधकार के बल का आवाहन करता है।

अध्यक्ष बालकृष्ण राव ने कहा कि 'आत्मजयी' के लेखक के साथ ही नहीं इसके लेखन के साथ भी मैं एक प्रकार से संबद्ध रहा हूँ और पूरी रचना-प्रक्रिया से अवगत होता रहा हूँ। मैं उपशीर्षकों के रूप में कठोपनिषद् के वाक्यांशों को देने के विरुद्ध था लेकिन कुँवर नारायण ने इन उपशीर्षकों को देना पसंद किया। इसे मैं कवि की ईमानदारी का प्रमाण मानता हूँ। मैं इसकी भाषा से न तो पूरी तरह संतुष्ट हूँ न असंतुष्ट ही हूँ। इसकी भाषा कहीं-कहीं 'कला और बूढ़ा चाँद' के पंत तथा अन्य छायावादी कवियों की याद दिलाती है। इसमें भाषागत प्रयोग के संबंध में कुछ असंतुलन अवश्य है। इसमें भाषा के तीन स्तर हैं, एक नयी कविता के निकट है, दूसरा छायावादियों के और तीसरा बच्चन के। इसे चित्रशाला या काव्य-माला जैसी चीज़ न होकर एक सुघटित कविता होना चाहिए था। अधिकांश में ऊष्मा का अभाव खटकता है। नाटकीयता के अभाव की बात कह कर श्रीकांत जी ने तनाव के अभाव की ही बात कही है। मेरे विचार से काव्य का समापन इस रूप में नहीं होना चाहिए था। इसका आदि, मध्य और अंत एक जैसा है। इसकी कुछ पंक्तियाँ बड़ी ऊँची कविता की आशा जगा देती हैं; लगता है कि कोई बड़ी उपलब्धि होने वाली है, लेकिन फिर एक-ब-एक गिरावट आ जाती है और बड़ी निराशा होती है। कुँवर नारायण का उद्देश्य सुखी जीवन की अपर्याप्तता दिखाना था, उसे सार्थक जीवन के विरोध में खड़ा करना नहीं। पर जब वे नचिकेता से कहलाते हैं कि 'मैं घटित तो होता हूँ, पर कृतार्थ नहीं' तो जाने क्या कहना चाहते हैं। यदि 'घटित' होना 'कृतार्थ' होना नहीं है तो क्या है? यहाँ चिंतन इसलिए असफल हो जाता है क्योंकि चिंतन केवल चिंतन ही रह जाता है, अनुभूति नहीं बन पाता। कवि ने इतना सोचा और पढ़ा है कि कई जगह शिल्प के स्तर पर ही नहीं, अभिव्यक्तिस्तर पर भी आयास स्पष्ट हो जाता है। यह पूर्ण सफलता से च्युत हुई कृति है क्योंकि खंडों में बहुत अच्छी होते हुए भी सुघटित कविता नहीं बन पायी।

अंत में श्रीकांत वर्मा ने शंका-समाधान एवं अपने निबंध को स्पष्ट करते हुए कहा कि वैसे मुझे अपनी ओर से कोई विशेष बात नहीं कहनी है। मैं रामस्वरूप जी से सहमत हूँ कि कुँवर नारायण ने ग़लत चरित्र को चुना जो प्रतीक नहीं बन पाया। हिंदू व्याख्या के साथ अस्तित्ववादी व्याख्या करने में कवि असफल रहा है। असल में नचिकेता के चरित्र में संभावना ही नहीं था। कुँवर नारायण ने उसमें अपने आपको आरोपित करना चाहा है। भाषागत उपलब्धि की बात को स्पष्ट करते हुए श्री वर्मा ने कहा कि 'आत्मजयी' की भाषा किताबी और ठंढी होकर रह गयी है।

मानवीय संवेदना से दूर हो कर चिंतन की भाषा काव्य की भाषा नहीं बन सकती। 'आत्मजयी' का कवि ध्वन्यात्मकता और अलंकरण तो जुटा लेता है लेकिन प्राणों की अग्नि नहीं जुटा पाता। 'आत्मजयी' का नचिकेता संशयों में ही पड़ा रह जाता है। उसे यह बात ताक़त के साथ कहनी चाहिए कि दुनिया जहन्नुम को जा रही है. . .अध्यक्ष ने बीच में प्रश्न किया कि शेक्सपियर का हैमलेट भी तो संशय में ही पड़ा रहता है? क्या संशयग्रस्त नायक अनिवार्यतः काव्य को असफल कर देता है? श्रीकांत जी ने कहा कि शेक्सपियर के संशय मानवीय रूपों में खड़े हैं लेकिन कुँवर नारायण का संशय झूठे संकट पर आधारित है। उनका संकट चिंतन का संकट है, युग का संकट नहीं है। नचिकेता संभावनाहीन चरित्र है, पूर्णतः औपनिषदिक युग का। मूल्यों के युग का चरित्र मूल्यहीनता के युग का प्रतीक नहीं बन सकता।

—विवेचक

नटरंग

भारतीय रंगमंच का त्रैमासिक

संपादक : नेमिचंद्र जैन

प्रवेशांक में विष्णु प्रभाकर का तीन-अंकी नाटक 'देवी' तथा कपिला वात्स्यायन, आद्य रंगाचार्य, हबीब तनवीर, सत्यव्रत सिन्हा, लक्ष्मीनारायण लाल, मृणालिनी साराभाई, शांता गांधी द्वारा संस्कृत नाटक और आधुनिक रंगमंच पर परिसंवाद के साथ-साथ सत्यदेव दुबे, मोहन महर्षि, बिस्र्की, इब्राहिम अल्काज़ी, सुरेश अवस्थी, धर्मवीर भारती आदि के विचारपूर्ण लेख हैं। इसके अतिरिक्त पुस्तक-समीक्षा, टिप्पणियाँ और देश के दस-बारह केंद्रों का नाट्यवृत्त भी है।

जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर में प्रकाशित

एक अंक १·५० पैसे : विशेषांक ३·०० पैसे : वार्षिक ६ रु०

पता

३-एफ़, जंगपुरा एक्सटेंशन, नयी दिल्ली-१४।

पाँच गोष्ठी-प्रसंग

● ●

प्रस्ताव, और प्रस्ताव, और प्रस्ताव

हमें आपकी सहानुभूति की ज़रूरत नहीं। हम पर दया मत कीजिए, यह हमारा अपना संघर्ष है। हममें से हर एक अपना-अपना क्रास ख़ुद ढो कर चल रहा है। हमें ख़ुद ही क्रूसित होने दीजिए।

हमें आपके प्रस्तावों की ज़रूरत नहीं। मैं पूरे विश्वास के साथ कहता हूँ कि आपके प्रस्ताव अव्यावहारिक हैं। पिछले दस वर्ष से आये दिन गोष्ठियों, समारोहों में इस तरह के प्रस्ताव लाये जाते रहे हैं। जितने संजीदा अंदाज़ में ये प्रस्ताव लाये गये हैं, उतने ही संजीदा अंदाज़ में चाय पीने और गोष्ठियाँ समाप्त होने के बाद इन्हें भुला दिया जाता है।

हम ख़ुद ही लड़ रहे हैं, हमें लड़ने दीजिए! हम जानते हैं, बड़े लोगों का काम है प्रस्ताव लाना और उन्हें भूल जाना। हमें पता है, बड़े लोग सिर्फ़ गोष्ठियों की अध्यक्षता करने आते हैं।

हम ऐसे प्रस्तावों से तंग आ चुके हैं। संघर्ष हमारी नियति है। हमें लड़ने दीजिए, हमें बिल्कुल अकेले लड़ने दीजिए। हमें आपकी दया की ज़रूरत नहीं। ये शब्द हैं हिंदी के एक तरुण कवि और लेखक श्री रमेश गौड़ के जो उन्होंने कई दर्जन क्रुद्ध वृद्धों, क्रुद्ध नवयुवकों और अपनी उपस्थिति से ख़ुद ही कतराते हुए चंद प्रकाशकों के सामने व्यक्त किये थे। प्रस्ताव डॉ॰ बच्चन की ओर से लाया गया था।

१८ अप्रैल, ६५ की शाम। साहित्यकारों का सम्मान करने वाली संस्था 'साहित्यिकी' की ओर से नयी दिल्ली के 'हिंदी भवन' में आयोजित गोष्ठी। इस बार किसी साहित्यकार का सम्मान-समारोह नहीं था। संस्था के प्रयासों से प्रकाशित पुस्तक 'साहित्य, साधना और संघर्ष' का विमोचन था।

गोष्ठी की अध्यक्षता की श्री विष्णु प्रभाकर ने। सर्वप्रथम पुस्तक की 'भूमिका' पढ़ी गयी जिसे डॉ॰ बच्चन ने लिखा था। डर था कि अब कहीं एक-एक कर के पुस्तक में संग्रहीत निबंध भी न पढ़े जायँ। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। लेख कुछ वर्ष पूर्व 'साहित्यिकी' द्वारा आयोजित त्रिदिवसीय गोष्ठियों में पढ़े जा चुके थे। यह भी अच्छा हुआ कि पुस्तक की बिक्री के लिए आवाज़ें नहीं लगायी गयीं। यानी वह सब नहीं हुआ जो प्रायः ऐसी गोष्ठियों में होता है।

सबसे पहले डॉ० नगेंद्र से कहा गया कि वे कुछ बोलें, लेकिन उन्होंने कुछ भी बोलने से इनकार कर दिया। इसके बाद जैनेंद्र जी ने जो कुछ कहा, वह एक ख़ास अंदाज़ में कहा गया था और हमेशा की तरह इस बार भी उनकी बात किसी के पल्ले नहीं पड़ी। अब लोगों की नज़रें नरेंद्र शर्मा की ओर उठीं। नरेंद्र शर्मा बोलने के लिए तैयार बैठे थे। उन्होंने निहायत बुज़ुर्गाना अंदाज़ में कहा, "जो कुछ 'साहित्यिकी' ने किया, वह एक बहुत बड़ा प्रयास है। आशा है, यह संस्था भविष्य में और भी पुस्तकें छापेगी, क्योंकि उसके लिए राह खुल गयी है। इस कार्य में एक साहित्यिक रस है, यों रस सिद्धांत के विषय में मुझसे अधिक डॉ० नगेंद्र जानते हैं।"

नरेंद्र शर्मा की इन बातों का असर गोष्ठी के संयोजक महोदय पर इतना गहरा हुआ कि उनके सारे चेहरे पर मुस्कान स्पष्ट हो आयी। डॉ० नगेंद्र पहले गंभीर हुए और फिर मुस्कराये।

अब सप्तक-कवि भारतभूषण अग्रवाल की बारी थी। लेकिन भारतभूषण अग्रवाल ने कहा, "मैंने पुस्तक अभी पढ़ी नहीं है, इसलिए मैं कुछ भी नहीं कहूँगा।"

इसी समय किसी एक कोने से आवाज़ आयी, "क्या आप समझते हैं कि जिन्होंने अभी तक भाषण दिये, उन्होंने इस पुस्तक को पढ़ा है ?"

बात हँसने की थी, इसलिए लोग हँसे और हँसी के तुरंत बाद चाय की ज़रूरत महसूस की गयी। भारतभूषण अग्रवाल के बगल में एक अन्य सप्तक-कवि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना बैठे थे, लेकिन उन्होंने उतना भी नहीं कहा, जितना भारतभूषण अग्रवाल ने कहा।

चंद प्याले चाय के बाद डॉ० बच्चन ने एक प्रस्ताव रखा। उन्होंने कहा, "नये लोगों को सामने देख आज मुझे केम्ब्रिज की एक प्रकाशन संस्था की याद आ रही है। यह संस्था नये लेखकों की सिर्फ़ पहली ही पुस्तक छापती है। संस्था अपने इन प्रयासों के कारण इतनी लोकप्रियता अर्जित कर चुकी है कि इसके माध्यम से पहली पुस्तक प्रकाशित होने से नये लेखक को एक बड़ा प्रवाचक-पद (रीडरशिप) मिल जाता है। ऐसी संस्था हमारे यहाँ भी होनी चाहिए। 'साहित्यिकी' के बंधुओं को इस दिशा में प्रयास करना चाहिए, क्योंकि हमारे देश में नये लेखकों को प्रकाशित होने के लिए एक बड़े संघर्ष का सामना करना पड़ता है। हम सबको मिल कर ऐसा कुछ अवश्य करना चाहिए कि नये लेखकों को खड़े होने का सहारा मिल सके। वास्तव में जिनके पास प्रतिभा है, हमें उनसे सहानुभूति होनी चाहिए।"

"हमें आपकी सहानुभूति की ज़रूरत नहीं।" श्री रमेश गौड़ बेहद उत्तेजित थे। उनके साथ ही आसपास बैठे तमाम और लोग भी उत्तेजित थे।

"नये लोग किसी की दया पर नहीं जीना चाहते। मुक्तिबोध की मृत्यु आज हमें स्वीकार नहीं।" श्री रमेश गौड़ के भाषण के समाप्त होते ही किसी ने कहा। यह सचमुच एक बड़ा प्रश्न था कि क्या आज भी किसी नये लेखक को दूसरे की दया पर जीना है, कि क्या नये लेखक को मुक्तिबोध की तरह मरना है ?

श्री सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, जो उस समय संभवतः ‘दिनमान’ के साहित्य-समीक्षक की हैसियत से आये हुए थे, उठ कर चले गये। डॉ० नगेंद्र ने उन्हें आवाज़ देते हुए कहा, “कहाँ? बैठिए!” लेकिन सर्वेश्वर बैठे नहीं।

डॉ० नगेंद्र, जो कुछ देर पहले कुछ भी बोलने से इनकार कर चुके थे, अपनी इच्छा से बोलने के लिए उठे। उन्होंने कहा, “यदि ये प्रस्ताव सचमुच भूल जाने और नयों के प्रति मात्र दया दिखाने के लिए ही पारित किए जाते हैं तो निश्चित रूप से इस प्रकार के प्रस्तावों का न तो कोई महत्व है और न ही ये गोष्ठियों में लाये जाने चाहिए। लेकिन साथ ही मैं यह भी निवेदन करना चाहूँगा कि आरंभ से ही किसी प्रस्ताव के प्रति शंका ले कर चलना संभवतः विशेष लाभदायक सिद्ध नहीं होगा। वैसे जहाँ तक छोटे-बड़े या नये-पुराने का प्रश्न है, इस संबंध में मेरी व्यक्तिगत राय यह है कि न तो कोई बड़ा लेखक नये या छोटे लोगों से आदर माँगने जाता है और न ही कोई छोटा या नया लेखक बड़े लेखकों से अपनी स्वीकृति की भीख माँगता है। माँगनी भी नहीं चाहिए। आदर और स्वीकृति का आधार प्रत्येक का अपना लेखन ही होता है।”

डॉ० नगेंद्र ने अभी अपनी बात समाप्त ही की थी कि तभी फिर किसी नये लेखक ने कहा, “आपने प्रस्ताव को शंका की दृष्टि से न देखने की बात कही, लेकिन पिछले अनेक वर्षों में समय-समय पर जो ऐसे ही प्रस्ताव लाये गये हैं, उन सबका क्या हुआ?”

इसी समय एक तरुण गीतकार शेरजंग गर्ग ने चंद बातें कहने के लिए अनुमति माँगते हुए कहा, “यदि बच्चन जी के प्रस्ताव को सचमुच गंभीरता से लिया जा रहा है और प्रस्ताव के प्रति आरंभ से ही आशंका न रखने का निवेदन किया जाता है तो हम चाहते हैं कि इस कार्य को करने के लिए अभी पाँच-छह बुज़ुर्ग लेखकों और प्रकाशकों, जो यहाँ उपस्थित हैं, की एक समिति बना ली जाय ताकि यह समिति कार्य को आगे बढ़ा सके। सौभाग्य से यहाँ इस समय जैनेंद्र जी भी बैठे हैं, जो लेखक तो हैं ही, प्रकाशक भी हैं।”

शेरजंग गर्ग बोल कर बैठे ही थे कि एक अन्य वक्ता उठ खड़े हुए। तभी भीड़ में से एक आवाज़ आयी, “बेहतर हो कि पहले श्री शेरजंग गर्ग की बातों पर ग़ौर कर लिया जाय।”

शेरजंग गर्ग की बात हवा में लटक कर रह गयी। न किसी बुज़ुर्ग लेखक ने इस पर अपना मत व्यक्त किया, न किसी प्रकाशक ने।

एक सफल गोष्ठी के समापन का समय निकट था अतः अध्यक्ष महोदय ने अपनी बातें कहीं जिनका संबंध ‘साहित्य, साधना और संघर्ष’ पुस्तक से था। अंत में संयोजक महोदय ने कहा, “अब काफ़ी हो गया, ‘साहित्यिकी’ किसी ‘विवाद’ में नहीं पड़ना चाहती। हमें तो सबका ही सहयोग मिलता है—क्या नये, क्या पुराने। हमारे लिए यही अभीष्ट है।”

—प्रदीप पंत,

३५, फ़ीच स्क्वायर, गोल मार्केट, नयी दिल्ली–१।

आधुनिक कथा और मनोविज्ञान

'आधुनिक कथा-साहित्य में मनोविश्लेषण-तत्व' पर एक गंभीर विचार-गोष्ठी विभिन्न भाषा-भाषियों के बौद्धिक संस्थान 'साहित्यकार संसद' के तत्वावधान में आयोजित हुई, जिसमें चंद्रगुप्त विद्यालंकार मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे। विषय-प्रवर्तन करते हुए डॉ० प्रतापनारायण टंडन ने बताया कि जैनेंद्र से ले कर आज तक की कहानी मनोविज्ञान के दायरों में बँधी हुई है। आपने आगे कहा कि यदि हम वादों से बच कर स्वस्थ मानदंडों पर कथा-साहित्य की उपलब्धियों पर विचार करें तो अधिक उपयुक्त होगा।

भगवतीचरण वर्मा ने कहा, 'साहित्यकार या कलाकार उपदेश नहीं दे सकता, वह तो भावनात्मक अनुभूतियों को स्वच्छंद व्यक्त करता है। मैं वही अपनी कथाओं में करता हूँ। गति ही मेरा जीवन और मेरी कथा-कला का आधार है। . . . मैं बौद्धिक नहीं हूँ; मैं कलाकार हूँ। कलाकार और बौद्धिक के बीच एक फ़ासला होता है। . . . कहानी का प्रधान तत्व मनोरंजन या रससृष्टि होता है।'

अमृतलाल नागर ने समाज की मान्यताओं की ओर संकेत करते हुए कहा कि नव-लेखन का जो साहित्य आज है वह अहं और विचित्र कुंठाओं की अभिव्यक्ति मात्र है।

डॉ० कुमारी कंचनलता सब्बरवाल की दृष्टि में मनोविज्ञान आज की बात नहीं है. नानी की कहानियों में भी मन के क्रिया-कलापों का निर्वाह मिलता है।

नरेंद्र कलंत्री के शब्दों में मनोविज्ञान अपने वैज्ञानिक नामों से आज की कथा-समस्याओं का नामकरण अवश्य करता है, जैसे विष्णु प्रभाकर की 'नागफाँस' कहानी में हम 'बूढ़ी माँ' को संपीड़ा और स्नायु-संवेदना से आक्रांत कह सकते हैं, अज्ञेय को मनोनिश्चयवाद से और जैनेंद्र के कथा-साहित्य को गेस्टाल्टवादी संस्थान से प्रभावित बता सकते हैं। आगे आपने कहा कि इधर १९३० से फ़ायड, एडलर और युंग के मतों के प्रचार के साथ हिंदी कथा-साहित्य में मनोविज्ञान का क्रमिक विकास दीख रहा है।

डॉ० दाऊजी गुप्त ने कुछ उदाहरण देते हुए बताया कि अनेक हिंदी कथाओं में विश्व की अन्य भाषाओं का प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है।

यशपाल ने कहा कि एक ही परिस्थिति में एक आदमी जब जी सकता है, तब क्या वह एक से पात्र भी नहीं बना सकता? आपने नयी पीढ़ी को रचनात्मक उपलब्धियों के लिए कर्मठ लेखक की तरह लगे रहने की सलाह दी। उन्होंने आगे कहा कि उपदेश देने की जो प्रवृत्ति आज के युवा लेखकों में है, वह ठीक नहीं है। उन्हें साहित्यिक उपलब्धियाँ देनी चाहिए।

श्रीनिवास श्रीपति के दृष्टिकोण से आने वाला युग आज की मान्यताओं को भी ललकारेगा, और तब कहीं ऐसा न हो कि हम खरे न उतरें।

गोष्ठी में सर्वश्री इलाचंद्र जोशी, कृष्णचंद्र शर्मा 'भिक्खु', चंद्रकिरण सोनरेक्सा, शकुंतला शर्मा, डॉ० सरला शुक्ला, रमानाथ अवस्थी, गिरिधर गोपाल, स्वरूपरानी बख़्शी, शिवसिंह 'सरोज', शशिकांत त्रिपाठी और गोपाल उपाध्याय आदि ने भी भाग लिया।

अंत में चंद्रगुप्त विद्यालंकार ने कहा कि हिंदी का कथा-साहित्य विविधता की दृष्टि से बहुत अधिक संपन्न है। नयी प्रतिभाओं की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि अपने अस्तित्व और कृतित्व को स्थान दिलाने के लिए उन्हें अभी और समय तक संघर्षरत रहना होगा।

—साहित्यकार संसद, लखनऊ-१।

आज की कहानी : एक बहस

१७ जून सायं ५-३० बजे 'न्यू क्लब' में एक विचार-गोष्ठी हुई। बटरोही ने अपने लिखित निबंध में हिंदी कहानी को परंपरा की सशक्त देन बताया। उनके अनुसार कहानी की इस यात्रा में जो कुछ भी नयापन आया है वह परंपरा से अलग नहीं कहा जा सकता। नये लेखक मोहन राकेश, कमलेश्वर, श्रीकांत वर्मा, रवींद्र कालिया, गंगाप्रसाद विमल, मधुकर सिंह आदि जो नित नये-नये प्रयोगों में व्यस्त हैं, उस परंपरा की ही देन हैं, जिसके आधार पर वे नया अन्वेषण कर सके हैं। आधुनिकता परंपरा का ही विकसित मूल्य है। यह कोई संदर्भहीन मूल्य नहीं है; एक ऐसा मूल्य है, जो व्यतीत को वास्तविक रूप में भविष्य के साथ जोड़ता है। जातीय संस्कारों के रहते हुए भी उसमें इतनी उदारता है कि वह विजातीय गुणों को भी अपने में समाहित किये हुए है। इन कारणों से यह आवश्यक सा ही था कि हिंदी कहानी में भी कोई उन्मेष प्रारंभ हो और सन ५०-५२ के आसपास ऐसा ही हुआ। आधुनिकता को समझने में लोगों में भ्रम भी पैदा हुआ। फ़ैशनपरस्ती की ओर लोगों का ध्यान अधिक झुका हुआ दिखायी पड़ा। वास्तविक रूप में आधुनिक कहानी वह नहीं है जो 'नयी' है वरन वह जिसमें सच्चा व्यक्तिबोध मिलता है। हिंदी में अब तक सच्चे अर्थों में कोई भी आधुनिकतम कहानी नहीं लिखी गयी। जड़ें उसकी अवश्य—'कफ़न', रोज़', 'झाड़ी', 'सेफ़्टीपिन', 'सी-सॉ', 'त्रास', 'शेष होते हुए' और 'तै नहीं' आदि कहानियों में विकसित होती दिखायी दीं। किंतु इसे हमें भविष्य के लिए छोड़ देना चाहिए।

बटरोही के पश्चात सत्यमित्र ने अपने लिखित वक्तव्य में प्रश्नों की एक लंबी क़तार प्रस्तुत की। प्रश्नों में प्रमुख थे—हिंदी कथा में इधर जो आंतरिक विरोध और गुटबंदी परिलक्षित हो रही है, उसका नये लेखकों पर क्या प्रभाव पड़ रहा है? परिवार टूट रहे हैं, आत्महत्या

की घटनाएँ बढ़ी हैं और व्यक्ति की चेतना को मूल्यहीनता के कुहासे ने ढँक दिया है, तब केवल काम-भावना पर ही क्यों बल दिया जा रहा है ? विषय-वस्तु कहाँ खो गयी ? आंचलिक कहानियों का भविष्य कैसा है ?

गंगा प्रसाद विमल ने बटरोही के निबंध की मूल धारणा से असहमति प्रकट की और कहा कि जीवन उतना आदर्शवादी, नाटकीय और नियत नहीं है, अपितु अन्यान्य विसंगतियों की एक सपाट यात्रा है, जिसे निरंतर मनुष्य अपने लिए चुनौती के रूप में देखता है। विमल के अनुसार कहानी को धारणाओं और ढाँचों में नहीं रखा जा सकता। मूल्यों के टूटने की बात भी पुरानी पड़ गयी है। हम मूल्यों के टूटते हुए कल्पनासत्यों की ओर नहीं देखते, अपितु उन्हें तोड़ते हुए अस्तित्व की चुनौती का सामना करते हैं। इस प्रसंग में हत्यारों का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि वे मूल्यों को निर्ममता से तोड़ते हैं, क्योंकि वे तीव्रता से जीना चाहते हैं।

हिंदी में आधुनिक कथा अभी नहीं लिखी गयी। हम सब उसके लिए प्रतीक्षित हैं। प्रेमचंद की परंपरा में कौशिक, यशपाल, चंद्रगुप्त, राकेश, कमलेश्वर लिये जा सकते हैं। दूसरी ओर पतनशील पराजय से भरी पीढ़ी प्रसाद से प्रभावित है। उसमें अज्ञेय से लेकर श्रीकांत वर्मा तक आते हैं। निर्मल वर्मा युवा लोगों के कथाकार हैं किंतु 'लंदन की एक रात' में वह रोमांटिक तत्व नहीं है अपितु 'उदासीनता' है। इसी तरह रवींद्र कालिया, मधुकर सिंह, दूधनाथ सिंह और बटरोही की कहानियाँ हैं जो अलग कहानियाँ कही जा सकती हैं।

गोविंद शर्मा ने कहा कि 'कहानी' कहानी ही क्यों कहलाती है ? जैसे कविता पढ़ने के बाद हम कहते हैं कि वह कविता है, उसी प्रकार कहानी के लिए क्या कोई मानदंड नहीं हो सकता ? क्षणवाद पर लिखी गयी कहानियों को नकारते हुए उन्होंने कहा कि इनमें 'कहानीपन' नहीं है। इन्हें हम कहानी के बदले ललित लेख कह सकते हैं। इनमें चेतना, हमारी व्यक्तिगत चेतना हो जाती है। प्रेमचंद की कहानियों को उन्होंने हर युग में मान्य घोषित किया।

डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय का कहना था कि भारतीय चिंतन में दो धाराएं मुख्य हैं—धारणात्मक और अनुभूतिपरक। आज धारणागत लोग भी हैं और अनुभूतिगत भी। कहानी आधुनिक परिवेश में एक ऐसी विधा है जो मानव-सत्यों को उद्घाटित करती है। उन्होंने कहा कि बटरोही का निबंध नये लोगों को अवश्य पुराना लग सकता है, क्योंकि उसमें आधुनिकता की परंपरा को बहुत पहले से जोड़ा गया है, किंतु नये लोग अपनी ही मान्यताओं को महत्व देना चाहते हैं। अच्छी कहानी तभी लिखी जायगी, जब उक्त दोनों चिंतन-धारणाओं में समन्वय स्थापित होगा।

डॉ० चंद्राकर ने कहा कि आज कहानी के किसी भी तत्व पर विचार नहीं किया जाता। कहानी में जिज्ञासा, घटनात्मकता, कथानक, भाव आदि पर ब्यौरेवार विचार किया जाना चाहिए। किसी भाव या स्थिति की भी कहानी हो सकती है, किंतु यह चित्रण 'गतिशील' होना चाहिए।

चंद्रगुप्त विद्यालंकार ने कहा, "व्यक्तिगत रूप से मैं कहानी के संबंध में स्पष्ट हूँ। किसी भी भाव का घटनात्मक एकहरा चित्रण ही कहानी है। हमारे चिंतकों में सामाजिक हित की भावना सदैव रहती थी—इसलिए वे स्वतंत्र चिंतन कभी नहीं कर पाते थे। साथ ही उनका

चिंतन अनुकूलित रहता था। अभी तक हमारे यहाँ नया चिंतन बहुत कुछ अंशों तक आरोपित है। किताबी अध्ययन ही उसका आधार है। यह इस बात की पुष्टि अवश्य है कि हम लोग जागरूक हो गये हैं। 'कफ़न' आदि कुछ कहानियाँ मुझे अच्छी लगी हैं। किंतु राजराव कहते हैं कि भारत में अभी एक भी निर्दोष कहानी नहीं लिखी गयी। एक ओर तो यह एक इतनी कठिन विधा है कि निर्दोष कहानी कभी-कभी लिखी जाती है, दूसरी ओर हज़ारों लेखक कहानी लिख रहे हैं। हिंदी कहानी में व्यक्तिगत दलबंदी बहुत अधिक बढ़ गयी है। यों दलबंदी आज विश्व भर में है। यह आज की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। व्यक्तिगत रूप से मैं मानता हूँ कि गिरोहबंदी से पाठक और लेखक बचे तो श्रेष्ठ साहित्य सर्जित हो सकता है।

—बटरोही,
३२, बड़ा बाजार, मल्लीताल, नैनीताल।

हिंदी कथा-चर्चा-गोष्ठी

अप्रैल २५ को नागपुर के मोर सभा-भवन के कक्ष में उमेश चौबे के संयोजकत्व में 'हिंदी कथा-चर्चा गोष्ठी' हुई जिसमें नागपुर विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ० कमलाकांत पाठक की अध्यक्षता में तरुण कथाकार रामकुमार भ्रमर ने विषय-प्रवर्तन किया।

रामकुमार भ्रमर ने कहा कि आज की हिंदी कहानी और कहानीकार पर एक नये राष्ट्र के सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक उत्कर्ष की ज़िम्मेदारी है। फलतः विकास और प्रगति के मार्ग पर प्रतिक्षण अग्रसर हमारे महान देश को साहित्य की हर विधा में ऐसे आशावाद और आस्थाशील सर्जन की आवश्यकता है, जो उसकी प्रगति में सहारा दे कर हर नागरिक को विश्वास और शक्ति प्रदान करे। दुख है कि हिंदी की आधुनिक कहानी में एक बड़े वर्ग ने 'नयी कहानी' और नवीनता का नारा लगा कर पश्चिमी जगत की सभ्यता और संस्कृति का अनुवाद प्रारंभ कर दिया है। कुंठा, निराशा और पस्तहिम्मती से भरी ऐसी कथाओं का सर्जन किया गया है, जो न केवल आदमी में अकेलेपन का, हीनता का भाव जगाती हैं, बल्कि उसे संघर्ष से दूर हटा कर तोड़ तक डालती हैं। भ्रमर ने कहानी में विश्वास और आस्था के सचेतन तत्वों की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए ऐसी कथाओं की रचना पर बल दिया, जो सर्वहारा वर्ग के संघर्ष को चित्रित करें तथा काम-भावना की सस्ती दुनिया से उन्हें अलग रखें।

चर्चा-गोष्ठी के दो भाषणों में श्री आनंदप्रकाश जैन ने 'नयी कहानी' को यूरोप और वहाँ हुए दो महायुद्धों के परिणामस्वरूप व्याप्त कुंठा, निराशा और अकेलेपन के भय से आक्रांत विदेशी सर्जन के रूप में निरूपित किया। उन्होंने कहा कि 'नयी कहानी' के कथाकारों ने अपनी कहानियों में नवीनता का ठप्पा लगा कर साहित्यिकता को नहीं, सस्ते बाज़ार को प्रमुखता दी है। यही कारण है कि उनका अधिकतर सर्जन अनास्था से क्रांति है, और उसमें काम-वासना को भड़काने के अलावा कुछ भी ऐसा नहीं है, जो आज के डगमगाते मानव-संबंधों और टूटते हुए रिश्तों में आदमी को जीवन-जगत और स्वयं के प्रति विश्वास सौंपे।

श्री जैन के अनुसार नये कहानीकारों ने अस्तित्ववादी दर्शन को अपनी कथाओं में स्थान दिया है, किंतु उन्होंने कहा कि इस अस्तित्ववादी दर्शन को भी नये कथाकारों ने समझा नहीं, बल्कि वे उसके कुछ अंशों को अपनी रचनाओं में बड़ी बेतरतीबी से पेश करने लगे। और आज वे अस्तित्ववादी नहीं, अधकचरे हैं। उन्होंने कहानी में सचेतन तत्वों की स्थापना पर ज़ोर डाला और 'सचेतन कहानी आंदोलन' की संभावनाओं के प्रति एक निश्चित विश्वास प्रकट किया।

डॉ० महीप सिंह ने 'नयी कहानी' को कथा-साहित्य का एक नारा और गुटबंदी के रूप में निरूपित किया। उन्होंने बताया कि हिंदुस्तान और पश्चिम के आदमी में भारी अंतर है। जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण आशावादी है, जबकि यूरोप का तमाम जन-जीवन परस्पर घुटन और अविश्वास के अलावा निराशा और कुंठा से ग्रस्त है। ऐसी स्थिति में कैसे संभव है कि वहाँ की रीति-नीति, सोचने-समझने का तरीक़ा और साहित्य हमारे देश के सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक परिवेश पर लागू हो जाय? तथाकथित नये कहानीकारों ने आधुनिकता और नवीनता का शोर मचा कर यही किया है, और वे अपनी अधिकांश रचनाओं में शिल्प और शब्दों का जाल रच कर देश को धोखा देते रहे हैं। सचेतन कहानीकारों ने रचनाओं के प्रति अपना दृष्टिकोण और अपने विचार पत्र-पत्रिकाओं तथा गोष्ठियों चर्चा-परिचर्चाओं में रखे हैं, और उपलब्धि की संभावनाएँ 'साफ़' कर दी हैं।

मनहर चौहान ने नयी और सचेतन कहानी के अंतर को सहज और सरल ढंग से स्पष्ट करते हुए कहा कि यदि एक पत्थर नदी में फेंका जाय तो वह एकदम उसकी अतल गहराइयों में समा जाता है। नयी कहानी का पात्र ठीक कुछ ऐसे ही पत्थर की तरह होता है। वह संघर्ष तक पहुँचता तो है, किंतु समर्पण कर देता है। पराजय स्वीकार कर लेता है। ठीक इसके विपरीत सचेतन कहानी का पात्र नदी में फेंके जाने पर, संघर्ष की स्थिति तक पहुँच कर जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण को नहीं छोड़ता। वह उस स्थिति में भी अपना संघर्ष निरंतर जारी रखता है। वह हाथ-पैर फेंकता है और कठिन स्थिति में भी आत्मसमर्पण या पराजय का भाव पास नहीं फटकने देता। भले ही इसका अंत उसके जीवन की इति ही क्यों न हो।

—कमलकिशोर,
संपादकीय विभाग 'युगधर्म',
रामदास पेठ, नागपुर-१।

'लिफ़ाफ़ा देख कर' : एक परिसंवाद

पिछली २८ मार्च को बिहार ग्रंथ कुटीर, पटना द्वारा प्रकाशित प्रथम वैयक्तिक निबंध-संग्रह 'लिफ़ाफ़ा देख कर' पर एक परिसंवाद का आयोजन 'कृतिवेशम' के तत्वावधान में हुआ। यह आयोजन अपने ढंग का एक विशिष्ट और ऐतिहासिक आयोजन था जिसमें सुधी समीक्षकों, पत्रकारों, और प्रकाशकों ने मिल कर एक कृति के विविध पक्षों की आलोचना-प्रत्यालोचना की। इस परिसंवाद में विभिन्न पीढ़ियों के लेखक और विभिन्न रुचियों के प्रकाशक सम्मिलित हुए। विधान-सभा के अध्यक्ष डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने अपने संदेश में लिखा था—'किसी साहित्यिक कृति के प्रत्येक पहलू पर विचार करने के लिए परिसंवाद एक अच्छा तरीक़ा है।'

समारोह की अध्यक्षता पद्मभूषण राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ने की। राजा साहब ने कहा—मुझे इनकी (शैलेंद्र की) क़लम के कमाल पर नाज है। मैं कुछेक निबंध ही पढ़ सका हूँ, पर इनकी शैली का क़ायल हो गया हूँ। ख़ूब व्यंग्य है। हिंदी में ऐसे व्यंग्य-लेखक का प्रायः अभाव ही रहा है। मुझे प्रसन्नता है कि हमारा एक नौजवान अपनी प्रथम रचना के द्वारा ही प्रथम श्रेणी के व्यंग्यकारों की कोटि में आ गया है।'

प्रो० तेजनारायण प्रसाद सिंह, प्रवाचक एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, बी० एन० कालेज ने अपने सहयोगी की प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए आलोचकों को निःसंकोच भाव से अपने विचार व्यक्त करने के लिए कहा। श्री रंजन सूरिदेव ने पुस्तक के प्रच्छद पट की सराहना की, पर उनकी अशुद्धियों की ओर प्रकाशक का ध्यान आकृष्ट किया।

· डॉ० वचनदेव कुमार ने कहा, "वसंत तो प्रति वर्ष आता है, पर इस बार वसंत लिफ़ाफ़ा देख कर आया है।" तत्पश्चात श्री रामखेलावन राय, अध्यक्ष हिंदी विभाग, सायंस कॉलेज ने इस संग्रह के 'दिल्ली दर्शन' नामक निबंध की कटु आलोचना की और दिनकर जी पर उँगली उठाने के लिए लेखक की निंदा की। पर, शैली की दृष्टि से उन्होंने लेखक की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

श्री बजरंग वर्मा ने राय जी के भाषण का उत्तर देते हुए कहा—"वस्तुतः प्रत्येक लेखक का एक अपना ढंग होता है और उस पर समीक्षक अपना ढंग नहीं लाद सकता। यदि समीक्षक ने लेखक की 'अपनी बात' पढ़ी होती तो शायद स्थिति स्पष्ट हो गयी होती। फिर प्रो० राजाराम रस्तोगी ने कहा कि दोष की दृष्टि से विचार करें, तो संसार का कौन सा समीक्षक या साहित्यकार निर्दोष सिद्ध होगा। समीक्षक के लिए सहृदय होना भी आवश्यक है। शैलेंद्र के निबंध अपनी कोटि आप बनाते हैं। वे किसी परंपरा का अनुसरण नहीं करते। प्राध्यापक कपिलदेव सिंह ने बतलाया कि दिनकर जी की कुछ पंक्तियों को ले कर यदि लेखक ने दूसरे ढंग से अर्थ करने की चेष्टा की है, तो व्यंग्य की दृष्टि से कोई हर्ज़ नहीं है। साहित्यकार को यह अधिकार है कि वह

शब्दों से क्रीड़ा कर सके। यहाँ सर्वनामों के भ्रामक प्रयोग के कारण ही उलझन पैदा हुई है।

इस प्रकार, आलोचना-प्रत्यालोचना का दौर चला। दो घंटे के बाद इस बहस को मोड़ दिया यशस्वी पत्रकार श्री जितेंद्र सिंह ने। उन्होंने कहा कि मुझे ऐसा लगता है कि लोग पूरी पुस्तक पढ़ कर आये ही नहीं। इस नौजवान ने चौदह निबंध लिखे, और आप कुछ निबंधों की कुछ पंक्तियों को ले कर ही उलझे रहे। आपने लेखन का कटु व्यंग्य देखा, उसके भीतर की निश्छल करुणा नहीं देखी। सर्जन की पीड़ा समझने के लिए केवल शास्त्र का ज्ञान अपेक्षित नहीं है। यदि शैलेंद्र की प्रथम रचना ने आपको इतना झकझोरा है तो यह उसकी प्रतिभा की शक्ति का प्रमाण और लेखक के उज्वल भविष्य का सूचक है।

डॉ० कुमार विमल ने कहा, "हिंदी का प्रत्येक प्राध्यापक आलोचक है, सर्जनात्मक लेखक विश्वविद्यालयों में दुर्लभ है। हमें गर्व है कि हमारा एक सहयोगी सर्जनात्मक लेखन के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान बना सका है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पश्चमी देशों ने भी कलाकारों के ही स्मारक बनवाये, आलोचकों के नहीं।"

प्राध्यापक रामबुझावन सिंह, प्रवाचक बी० एन० कॉलेज, ने कहा, "जिस रचना में बहुतों को अपनी तस्वीर दीखे, वह यदि सफल रचना नहीं है तो और किसे सफल रचना कहते हैं। यहाँ कितने लोग ऐसे हैं जो इस कोटि के कुछ निबंध भी हमें दे सके हैं? शैली की सफलता उसकी सहजता है।" इनके अतिरिक्त डॉ० सियाराम तिवारी, सीताराम दीन, बसंत, कुमार उपन्यासकार हिमांशु श्रीवास्तव, रामेश्वर सिंह कश्यप आदि ने भी लेखक की प्रशंसा की।

अंत में लेखक ने कहा, "मुझे दुख है कि व्यंजना को नहीं समझने के कारण कुछ लोगों को कष्ट हुआ है। फिर, यह कोई समीक्षा की पुस्तक नहीं, व्यंग्य-रचना है और यदि किसी व्यंग्य-चित्रकार को यह हक़ है वह किसी की नाक लंबी बनाये, आकृति बौनी कर दे, तो व्यग्यंकार को भी यह छूट है कि वह शब्दार्थ को घटा-बढ़ा सके।"

—सत्येंद्र,

द्वारा, बिहार ग्रंथ कुटीर,
खजाँची रोड, पटना-४।

समीक्षाएँ

●

कालिख और लाली

राजेंद्र कुमार शर्मा का एकांकी-संग्रह। आत्माराम एंड संस, दिल्ली। सन १९६४। मूल्य: २.००।

प्रस्तुत नाट्य-संग्रह दिल्ली के रंगमंच पर अधिकांशतया अभिनीत श्री राजेंद्रकुमार शर्मा के आठ एकांकियों का संकलन है। इन नाटकों के पक्ष में जो सबसे तेज़ और बड़ी बात कही गयी है वह यह कि ये अभिनेय नाटक हैं। पुस्तक के अंतिम पृष्ठ अथवा पुश्त पर लेखक का परिचय देते हुए यह बताया गया है कि इसके लेखक 'श्री राजेंद्रकुमार शर्मा जाने-माने लोकप्रिय नाटककार ही नहीं एक कुशल निर्देशक और मँजे हुए अभिनेता हैं।'

प्रस्तुत परिचय जहाँ पढ़ने और सुनने में बड़ा ही परिचयात्मक और विशेष महत्व का लगता है, वहीं इस परिचय में ही लेखक की सीमाएँ भी हैं। नाटकों के पढ़ जाने से भी 'मँजे हुए' की ही पुष्टि होती है; लेखक के खुले दृष्टिकोण और नयेपन का परिचय नहीं मिलता। प्रायः सभी नाटक मूलतः तीन दृष्टियों से लिखे गये हैं। प्रथम तो मंच के 'फ़ार्मूले' के अनुसार, दूसरे सामान्य प्रचलित लोकप्रियता के अनुसार और तीसरे परंपरागत हास्य-विनोद के अनुसार। 'कालिख और लाली' नाटक 'फ़ार्मूले' का नाटक है। 'ए क्लास दिल्ली' में लोकप्रियता का आग्रह है। 'तलाक़ ब्यूरो', 'पहली अप्रैल' आदि नाटक प्रचलित हास्य-विनोद पर आधारित हैं। सभी नाटकों में नयी दिशा कम दीखती है। केवल औपचारिक और प्रचलित रीतियों पर आधारित साधारण शैली के नाटक हैं।

संग्रह का पहला नाटक 'कालिख और लाली' चीनी आक्रमण पर आधारित है और मूल रूप में समसामयिक मनःस्थिति की एक नाटकीय प्रस्तुति है। रूढ़ पात्रों को लेकर एक झीना सा राष्ट्रीय संकट की स्थिति पर आधारित नाटक प्रस्तुत किया गया है। रूढ़ पात्रों में सेठ जी, मैनेजर, मज़दूर, मज़दूरों के नेता आदि का बिल्कुल कल्पित चित्रण किया है। नाटक में न तो उद्देश्य का पता चलता है और न उसके पात्रों, घटनाओं या स्थितियों के चयन में रंच मात्र भी सतर्कता दीख पड़ती है।

दूसरा नाटक 'ए क्लास दिल्ली' ठीक उसी प्रकार मँहगाई-भत्ता और नगर के ए क्लास, बी क्लास होते ही सहसा जो सांस्कृतिक और मानसिक स्तर पर दृष्टि-भ्रम उत्पन्न होते हैं उसी पर आधारित नाटक है। लोग समझते हैं ए क्लास नगर में रहने से मँहगाई-भत्ता अधिक मिलता है इसलिए उन्हें सुविधा होगी। विशेषकर क्लर्क वर्ग उसे बड़ा मूल्यवान समझता है। किंतु वह केवल दिखावे के लिए होता है। वस्तुतः चीज़ों के दाम बढ़ जाने से स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता। इस दूसरे नाटक में इसी बात को ले कर कुछ व्यंग्य पैदा करने की चेष्टा की गयी है लेकिन वह व्यंग्य भी अधूरा और निरर्थक है।

संग्रह का तीसरा नाटक 'आ बैल मुझे मार' परिवार-नियोजन और उसकी उपयोगिता को नितांत भोंड़े ढंग से प्रस्तुत करता है। ऐसा लगता है जैसे लेखक केवल एक पूर्व निश्चित मत के अनुसार परिवार-नियोजन की उपयोगिता को प्रचारित करना चाहता है। इसमें भी वही प्राणहीन चिरपरिचित पात्र एक इतिवृत्तात्मक कथा की पुष्टि करने के लिए जैसे नाटक की परख-नली में पाले जाते हैं और अपना निश्चित उद्देश्य पूरा करके मृतप्राय हो जाते हैं।

चौथा नाटक 'रियाज़' एक तीखा व्यंग्य हो सकता था जिसमें कला के प्रति कल्पनात्मक सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति की दुर्दशा और उसका भयंकर रागात्मक टूटापन दिखाया जा सकता था। इस नाटक में संभावना भी अधिक थी लेकिन लेखक जैसे उसकी संभावनाओं को जीवन के कटु यथार्थ की सापेक्षता में रखने से हिचकिचाता सा लगता है।

पाँचवाँ नाटक 'हाथ की सफ़ाई' थोड़ा अच्छा बन पड़ा है, किंतु आधा नाटक पढ़ते-पढ़ते उसका अंत अपने आप पता चल जाता है। फिर भी इस नाटक में परंपरागत नाटकीयता को लेखक ने किसी सीमा तक निभाने की चेष्टा की है। एक सुखी गार्हस्थ्य जीवन की आकांक्षा रखने वाला पति किस प्रकार अपने घर के सुख के लिए सिलाई में डिप्लोमा-प्राप्त पत्नी के आर्थिक अर्जन के साहस को खंडित करता है, यही इसी नाटक का ध्येय है।

संग्रह का छठा नाटक 'तलाक़ ब्यूरो' भी एक घिसे-पिटे प्रकार का प्रहसन है और तथाकथित नाटकीय फ़ार्मूले के नुस्खे के अनुसर इसकी इतिवृत्तात्मकता को लेखक ने निभाने की चेष्टा की है। यह नाटक एक निम्न वर्ग की अभिरुचि के लिए ही प्रेषणीय हो सकता है। जैसे,हिंदी में बहुत से हास्य रस के लेखक पत्नियों पर मज़ाक़ कर के हास्य रस का आनंद लेते हैं, उसी प्रकार इस नाटक के लेखक ने भी उसी दक़ियानूसी प्रहसन को नाटकीय रूप देकर प्रस्तुत किया है।

सातवाँ नाटक 'नया मोड़' एक फ़िल्मी कहानी के समान प्रेम, वियोग और चुनाव आदि के माध्यम से दो ऐसे नवयुवकों की कथा प्रस्तुत करता है जो मित्र हैं किंतु एक की प्रेमिका की शादी दूसरे से तय हो जाती है और एक कुशल फ़िल्मी कहानी के रूप में किस प्रकार दोनों एक दूसरे के लिए त्याग करने की क़समें खाते हैं और फिर अंत में प्रेमी-प्रेमिका की शादी हो जाती है—मात्र इतना ही उसका ध्येय है।

आठवाँ तथा अंतिम नाटक चिर परिचित 'पहली अप्रैल' पर आधारित है और इसमें भी वही चुटकुले वाला रस प्रेषित करने की चेष्टा की गयी है। इस नाटक का हास्य भी पति-पत्नी के भ्रम पर ही आधारित है और प्रायः परंपरागत हास्य-विनोद की पुष्टि करता है।

आठों नाटकों के नायक प्रायः क्लर्क हैं—आठों नाटकों के खलनायक या तो मोटे सेठ हैं, या ऑफ़िस के अध्यक्ष हैं। आठों नाटकों में केवल चिर परिचित हास्य-विनोद के प्रारूप हैं। आठों नाटक दिल्ली के सतही जीवन को ले कर लिखे गये हैं। आठों नाटकों में से आधे से ज़्यादा सरकारी प्रचार पर आधारित हैं।

आठ नाटकों में से किन्हीं दो नाटकों में भी हमें लेखक की दृष्टि की गहराई, उसकी पैनी व्यंग्यात्मक स्थिति की पैठ, उसकी नाटकीयता के प्रति कुशल विवेचन-शक्ति का आभास नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि कुछ स्थितियों को एक निश्चित गंतव्य से लेखक ने चुना और उनको एक नियोजित उद्देश्य के

लिए प्रस्तुत कर के उन्हें वहीं समाप्त कर दिया।

मानवीय संवेदनाएँ और उनके विरोधाभास के द्वंद्वों में नाटक जन्म लेता है। यदि उन विरोधात्मक तत्वों को केवल सतही ढंग से या 'फ़ार्मूले' की दृष्टि से हल करने की चेष्टा की जायगी तो हो सकता है कि जन-मनोरंजन तो हो जाय किंतु उससे कला का विकास और कलात्मक उपलब्धि नहीं हो पायगी। नाटक लिखने में इसीलिए जो गहरी दृष्टि चाहिए वह जब तक नहीं होती, बात नहीं बनती। हिंदी नाटककारों को यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि नाटक वस्तु-विन्यास और कथा और कथोपकथन मात्र नहीं है। चाहे वह दुखांत नाटक हो या सुखांत, उसमें जीवन के किन्हीं दो विरोधी पक्षों का संघर्ष होना आवश्यक है। ये विरोधी पक्ष चाहे भाव-स्तर पर हों या घटना के स्तर पर। एक साधारण से साधारण नाटक के लिए भी यही वस्तुएँ अपेक्षित हैं।

आज यथार्थवादी, अभिनेय और जीवन के स्थूल तत्वों पर नाटक लिखने के प्रति विशेष आग्रह है। वास्तव में यह आग्रह उस व्यावसायिक रंगमंच के नाटक के लिए किया जाता है जिसे बनाने की कल्पना आज के अधिकांश नाटककारों और निर्देशकों में समान रूप से वर्तमान है। केवल इस किंवदंती को चरितार्थ करने के लिए कि हिंदी में भी व्यावसायिक रंगमंच के लिए नाटक लिखे जा सकते हैं, इस प्रकार के कृत्रिम नाटक लिखे जा रहे हैं किंतु यदि क्षण भर के लिए हम यह मान भी लें कि हिंदी में एक व्यावसायिक रंगमंच बन जायगा तो क्या उस रंगमंच की अभिरुचि राजेंद्र कुमार शर्मा द्वारा लिखित नाटकों से ही तुष्ट हो जायगी? हिंदी नाटक को यदि अपने संपूर्ण प्रयास के बावजूद ऐसे ही नाटक प्रस्तुत करने हैं तो फिर हिंदी के रंगमंच आंदोलन और हिंदी नाटक का विकास बड़ी ग़लत दिशाएँ पकड़ रहा है। ग़लत इस अर्थ में कि वह सदैव अन्य प्रकार के रंगमंचों से बीस साल पीछे रहेगा।

और यदि अन्य रंगमंच बीस साल तक कोई विशेष विकास न भी करें और हिंदी का रंगमंच उत्तरोत्तर विकास करता भी रहे तो भी उससे कोई बहुत मूल्यवान उपलब्धि होनी असंभव है। कम से कम जागरूक हिंदी नाटककारों को इस दिशा में एक बार पुनः सोचना चाहिए और उन्हें इस बात की चेष्टा भी करनी चाहिए ताकि वे नाटक और रंगमंच दोनों को एक सशक्त माध्यम के रूप में स्थापित कर सकें। जब तक इन दोनों का समन्वित प्रयास नहीं होगा तब तक किसी स्वस्थ परंपरा की नींव नहीं पड़ेगी।

प्रस्तुत एकांकी संग्रह के काफ़ी नाटक दिल्ली में खेले गये हैं। दिल्ली की अभिरुचि को देखते हुए ये नाटक सफल भी हुए होंगे। प्रेम जालंधरी, रमेश मेहता आदि दिल्ली के रंगमंच के क्षेत्र में काफ़ी दिनों से काम कर रहे हैं। इनके नाटक भी प्रायः इसी कोटि के होते हैं किंतु ये अपना समस्त नाटकीय प्रयोग आदमी के बाह्य और अंतर के द्वंद्वों को न देख कर कुछ बाह्य लक्षणों के आरोपों को प्रदर्शित कर के संतुष्ट हो जाते हैं। यदि नाटक का केवल एक ही गंतव्य है और वह यह कि वह कुछ बाह्य लक्षणों को आरोपित कर के चलाये, तो उसका कोई महत्व नहीं है। राजेंद्र कुमार शर्मा के नाटक भी इसी की पूर्ति करते हैं। वह भावात्मक संघर्षों या इनके विरोधाभासों के बीच विघटित मानव संवेदनाओं की सूक्ष्मता को नहीं देख पाते। इसीलिए उनके नाटक कोई संभावना भी नहीं प्रस्तुत करते। वे केवल एक सीधी लकीर में

बिना किसी पेंच के अपना नाटक प्रस्तुत करते हैं। वे अभिनेय भी होते हैं, जनता का मनोरंजन भी करते हैं किंतु इतना लिखने के बावजूद वह नाटक के कलात्मक पक्ष को देखने में असमर्थ हैं।

इस असमर्थता को पैदा करने वाली हमारी अपनी मानसिक स्थिति है। रचनाकार, कृतिकार अथवा कलाकार के नाते यदि हमारी दृष्टि केवल छोटे दायरे में ही काम करती रहेगी और हम एक सजग कलाकार के रूप में केवल सीमित वृत्त में ही अपने को तुष्ट कर लेंगे तो शायद कला के क्षेत्र में हम से कोई बहुत बड़ी उपलब्धि संभव नहीं हो सकेगी। नाटक को आज अपने इस मोह से मुक्त हो कर अग्रसर होना अनिवार्य है।

यहाँ पर हमें विवश हो कर स्व० भुवनेश्वर की स्मृति आती है जिन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से प्रयोग और शिल्प की दृष्टि से सबसे भिन्न किंतु नितांत दृढ़ एवं सशक्त क़दम बढ़ाया था। यह हिंदी का दुर्भाग्य है कि इतने बड़े नाटककार और उसकी सचेत संभावनाओं का उसने आदर नहीं किया। साथ ही यह भी बड़े दुख की बात है कि हिंदी के नये नाटककार आज नाटक को उस वृत्त से भी पीछे ले जा रहे हैं जिसे लाँघ कर भुवनेश्वर ने सर्वथा नया मोड़ उत्पन्न किया था। 'स्ट्राइक', 'असर', 'आदमखोर', 'ताँबे के कीड़े', 'तिजोरी' आदि नाटकों में नाटकीय समस्याओं को भुवनेश्वर ने आभिजात्य ढंग से हल किया था। यही नहीं, उन्होंने नाटक के कला-पक्ष को तीन आयामों में प्रस्तुत करने की चेष्टा की थी और वे तीनों आयाम थे : वस्तु-स्थिति, मनःस्थिति और व्यंजना-स्थिति। 'तिजोरी', 'असर' और 'स्ट्राइक' जैसे नाटक तो जैसे आज कोई लिख ही नहीं सकता।

कहा जा सकता है कि राजेंद्र कुमार शर्मा ने भी अपने नाटकों में उन्हीं तथ्यों को स्थापित करना चाहा है किंतु यह नितांत सत्य है कि श्री राजेंद्र कुमार शर्मा ने अपनी पुस्तक में नाटकों की अवधि और उनके विस्तार में संतुलन रखने की चेष्टा ही नहीं की है। संक्षिप्त होते हुए भी ऐसा नहीं लगता कि ये नाटक बड़े नहीं हो सकते। भुवनेश्वर के साथ यह बात नहीं थी। वे शायद इतने कुशल शिल्पी थे कि उनके दो-दो पन्नों के नाटकों को भी पढ़ने पर यह स्पष्ट पता चल जाता है कि यदि वे नाटक बड़े होते तो शायद उनकी नाटकीयता और उनकी शैली कृत्रिम हो जाती। किंतु राजेंद्र कुमार शर्मा के नाटकों को पढ़ कर इस तरह की कोई बात नहीं दीख पड़ती। ऐसा लगता है कि जैसे इन नाटकों को केवल रेडियो की सीमित अवधि के लिए एक बड़े एकांकी को ज़बर्दस्ती छोटा किया गया है। यही बात उन नाटकों के लिए भी है जो सर्वथा रेडियो के लिए होते हुए बलात रंगमंच के लिए बढ़ाये गये हैं। उनके फैलाव से ही लगता है कि उनके आंतरिक गठन के साथ कहीं अन्याय हुआ है अन्यथा उन नाटकों में रंगमंच की दृष्टि से कुछ और होना चाहिए था। 'नये मोड़', 'कालिख और लाली' इस कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं।

संपूर्ण संग्रह को पढ़ जाने के बाद जो बात अंत में काफ़ी खटकी वह है लेखक की असावधानी। इस संग्रह में कहीं न कहीं इस बात की भी चर्चा लेखक को करनी चाहिए थी कि इन नाटकों को लिखने में उसका क्या उद्देश्य था—समाज-सुधार या नाटकीय शिल्प का विकास? इस तथ्य पर भी लेखक को प्रकाश डालना चाहिए था। नाटक की विधा आज बड़ी सशक्त विधा हो सकती हैं और उसके माध्यम से भाषा, विचार

और नाटक के सर्वथा नये सूत्रों को सँजो कर एक नया प्रयोग किया जा सकता है। मैं यह नहीं कहता कि यह करना ही धर्म जैसा कुछ है पर यह सत्य है कि यदि नाटक के क्षेत्र में कुछ भी महत्वपूर्ण किया जाना चाहिए या किया जा सकता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि हम इस विधा को नये ढंग से नियोजित करें। हमें आशा है कि श्री राजेंद्र कुमार शर्मा जैसे नाटककार नाटक के इस पक्ष पर भी विचार करेंगे।

नयी कविता, नयी आलोचना और कला

कुमार विमल की आलोचनात्मक कृति। भारत भवन, पटना– ४। सन १९६४। मूल्य २·००।

नयी कविता पर समीक्षात्मक प्रबंध की अपेक्षा इधर काफ़ी दिनों से अनुभव की जाती रही है। यह प्रतीक्षा इस दृष्टि से और भी अधिक तीव्र रही है, क्योंकि पिछले दशक में नयी कविता प्रतिष्ठित तो हुई लेकिन प्रतिष्ठित होने के साथ-साथ उसमें कुछ रीतिवादिता और परंपराएँ भी रूढ़ि रूप में दृढ़ हुई हैं। किसी भी कला-प्रवृत्ति में प्रौढ़ता के साथ रीति और परंपरा रूढ़ि रूप में विकसित हो ही जाती हैं। असली गतिशील कला वही होती है जो प्रौढ़ता के साथ-साथ इन रूढ़ियों का भी परिष्कार करती चलती है। प्रो० कुमार विमल की प्रस्तुत पुस्तक से मुझे आशा थी कि नयी कविता की इस स्थिति पर प्रकाश पड़ेगा किंतु यह पुस्तक, जहाँ तक नयी कविता की समीक्षा का खंड है, केवल मनमानी स्थापनाओं, अधकचरी विवेचनाओं और आरोपित निष्कर्षों से भरी पड़ी है। एक प्रकार से यदि देखा जाय तो नयी कविता का खंड और भविष्य की कविता का खंड दोनों ही एक विचित्र प्रकार की औसत दर्जे (मीडियाक्रिटी) की चीज़ बन गये हैं। ऐसा लगता है कि प्रवृत्तियों के विभाजन के बदले लेखक ने कुछ सुलहनामों को प्रेषित किया है और उन्हीं को अंतिम सत्य मान कर एक हठवादी के रूप में अनर्गल प्रलाप किया है।

प्रस्तुत 'नयी कविता, नयी आलोचना और कला' नामक पुस्तक में ऐसा लगता है कि समय-समय पर लिखे गये निबंधों को लेखक ने संकलित कर के उसे एक पुस्तक का नाम दे देना चाहा है। यह भी बड़े दुख की बात है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद आलोचनात्मक ग्रंथों के प्रकाशन में 'ग्रंथ' की ज़िम्मेदारियों को निभाने की क्षमता का सदा अभाव ही रहा है। नंददुलारे वाजपेयी द्वारा चलायी गयी इस परंपरा के अंतर्गत हिंदी आलोचना शैली ने हिंदी में गंभीर आलोचना-पुस्तकों का संतुलित, विषयगत विभाजित, विश्लेषणप्रधान संगति की पवित्रता को नष्ट कर दिया है। किसी भी पुस्तक के दो अध्यायों को यदि पढ़ा जाय तो ऐसा नहीं लगता कि उन दोनों अध्यायों का कोई संबंध हो सकता है या यह कि पिछले अध्याय में प्रतिपादित विषय का अगले अध्यायों में क्रमिक विकास हो रहा है। परिणाम यह होता है कि समूची पुस्तक एक अधूरी, अनधिकृत और असंबद्ध ग्रंथ-सी लगती है। प्रो० कुमार विमल की प्रस्तुत पुस्तक भी उसी परंपरा को आगे बढ़ाती है। इस दृष्टि से उसमें अनेक कृत्रिमताएँ हैं। लेखक ने भूमिका में भी कोई ऐसा संकेत नहीं दिया है जिससे हम यह समझ सकें

कि प्रस्तुत पुस्तक ग्रंथ न हो कर केवल स्फुट निबंधों का संग्रह मात्र है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रस्तुत पुस्तक में लेखक के आठ निबंधों को संग्रहीत किया गया है। इस लेख-सूची में प्रथम दो लेखों—'नयी कविता : उपलब्धियाँ और अभाव' और 'भविष्य की कविता'—में नयी कविता और अरविंद-दर्शन के आधार पर भावी कविता का, नयी कविता की प्रवृत्तियों पर प्रयोग किया गया है। प्रथम निबंध में लेखक ने नयी कविता की उपलब्धियों का विश्लेषण करने की चेष्टा की है और यह निष्कर्ष निकाला है कि नयी कविता में जो भी उपलब्धियाँ हैं और जितने अभाव हैं वे सब के सब प्रपद्यवाद और प्रयोगवाद के 'एक जुट' हो जाने से निकले हैं। इसी के समर्थन में इन निबंधों के प्राक्कथन में लेखक ने यह उद्घोषणा की है—**नयी कविता की ख़ूबियों और ख़ामियों के तटस्थ विवेचन के बाद मेरी यह दृढ़ धारणा है कि नयी कविता की उपलब्धियाँ भविष्य में हिंदी साहित्य के लिए बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध होंगी।** और इस घोषणा के साथ जो उपलब्धियाँ लेखक ने देखी हैं उससे यह सिद्ध किया है कि नयी कविता के विशिष्ट कवियों की सूची इस प्रकार है :

राजेंद्र प्रसाद सिंह, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, युगमंदिर तायल, नंद चतुर्वेदी, कांतिकनाथ मिश्र, विष्णुकिशोर बेचन, आनंद नारायण शर्मा, चंद्रमौलि उपाध्याय, प्रभाकर मिश्र, वचनदेव कुमार, जयगोविंद सहाय, मधुकर सिंह, सत्यदेव, शांतिप्रिय, गोपालकृष्ण कौल, बजरंग वर्मा।

हिंदी आलोचकों में एक वर्ग पहले ही से इस प्रकार की सूचीवादी आलोचना करता रहा है। नये उदीयमान आलोचकों को इस ख़तरे से बचना चाहिए। उपर्युक्त नाम-सूची में से कितनों को और क्यों विशिष्ट समझा गया है, इसका विश्लेषण लेखक ने नहीं दिया है। किसी ख़ास सुलहनामे के अंतर्गत अपने को तटस्थ बनाने के लिए उसने भानमती का कुनबा जुटाया है और यह चेष्टा की है कि इस विशिष्ट वर्ग में दो-तीन विशिष्ट नामों के साथ शेष अविशिष्ट नामों को रख देने से पूरी सूची निर्दलीय हो जायगी। इस प्रकार के सोचने का ढंग बड़ा ही अनर्गल और मिथ्या सा लगता है। पुस्तक में विश्लेषण करते समय जब श्री विमल ने सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और गोपालकृष्ण कौल को एक साथ रख कर तटस्थ बनने की चेष्टा की है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कहीं लेखक की तटस्थता में ऐसा कठमुल्लापन है जो उसकी विवेचनात्मक दृष्टि को कुंठित कर देता है। यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है जब वह नयी कविता को मूल भावबोध का परिवर्तन न मान कर उसके नाम को इस सूची से संबद्ध कर उसे हास्यास्पद बना देता है। यह भी सूचना कम रोचक नहीं है कि मुहावरेदारी को नयी कविता का एक विशेष गुण मान कर अजितकुमार के साथ शरद देवड़ा, मुकुट बिहारी सरोज और कुँवर नारायण को एक राशि में विभाजित किया है।

नयी कविता के बुद्धिपक्ष पर 'भविष्य की कविता' के अंतर्गत लेखक ने कुछ मज़ेदार बातें कही हैं। जैसे यह कि—**भारत की आध्यात्मिक धरती पर किसी न किसी रूप में रहस्यवादी प्रवृत्ति की अंतर्धारा चलती रहेगी। वर्तमान कविता की गतिविधि को देखने पर यह प्रतीत होता है कि भविष्य में वर्तमान के सदृश नया रहस्यवाद चालू रहेगा, जिसमें मानववादी स्वर का घोष रहेगा और यह मानववाद 'यथार्थ' से अधिक 'आदर्श' के निकट रहेगा।**—

नयीकविता में व्यक्त मानववाद को 'अरविंद' के रहस्यवाद से जोड़ने की यह अन्यथा चेष्टा लेखक की भ्रांतिपूर्ण धारणाओं का परिचायक है। ऐसा लगता है कि पहले श्री कुमार विमल ने अरविंद की दार्शनिक दृष्टि का अध्ययन किया, फिर नयी कविता में उन समस्त लक्षणों को ढूंढ़ना चाहा है।

यही नहीं भविष्य की कविता और नयी कविता को मिला कर लेखक ने इस नये रहस्यवाद की अजेय, अस्पष्ट और नितांत भावुकता को ही सर्वस्व मान लिया है। एक मनोरंजक दृष्टांत से लेखक की इस भ्रामक दृष्टि का प्रमाण हमें खुल कर मिल जायगा। लेखक ने लिखा है—**वह अभौतिक सत्य अत्याधुनिक कविता में अपनी अभिव्यक्ति ढूँढ़ रहा है किंतु भाषा की पूर्वस्वीकृत भंगियों को बदल कर। उदाहरण के लिए हम बच्चन के काव्य-संग्रह 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' को देख सकते हैं। ये खेमे-खूंटे आध्यात्मिक अनुभूतियों के नूतन प्रतीक हैं—चार और चौंसठ की संख्या कवि की दृष्टि में एक रहस्यात्मक संकेत रखती है...** आदि-आदि बड़ी रोचक स्थापनाएँ पता नहीं, बच्चन जी ने लेखक को बतायी हैं या उसने उनकी रचनाओं में से निकाला है, या अरविंद दर्शन का भूत बोल उठा है। मैं समझता हूँ कि लेखक को कबीर के बाद बच्चन को ही उलटबाँसी का भी प्रवर्तक मानना चाहिए। यह बात और है कि बच्चन न तो नये कवियों के वर्ग में आते हैं और न रहस्यवाद के। मैं नहीं जानता कि यदि बच्चन के चौंसठ खूंटे और चार खेमें रहस्यवाद के प्रांगण में गड़ जायँगे तो श्रीमती महादेवी वर्मा और डॉक्टर रामकुमार वर्मा निर्वासित कर दिये जायँगे या स्वयं वनवास ले लेंगे।

हिंदी साहित्य का यह बड़ा दुर्भाग्य रहा है कि इसमें समय-समय पर कुछ विचित्र प्रवृत्तियाँ काम करती रही हैं। एक ज़माने में कुछ लोगों ने पंत की वर्ड्सवर्थ, निराला की शेली और महादेवी की अन्य अंग्रेज़ी कवियों से तुलना करके उनको विचित्र स्थिति में डाल दिया था। ठीक उसी प्रकार प्रोफ़ेसर कुमार विमल ने दिनकर की उर्वशी में आइंस्टाइन, वर्गसाँ और लॉयड़ मॉर्गन आदि को समन्वित रूप में देखा है। उनका कहना है कि दर्शन का अत्याधिक आधुनिक रूप दिनकर ही की उर्वशी में उतर सका है। या तो लेखक ने आधुनिक दर्शन को नहीं समझा है या फिर उर्वशी को किसी इलहाम या 'हाल' की मानसिक स्थिति में पढ़ा है। यदि भविष्य की कविता का रूप वही होना है जो दिनकर की उर्वशी है, तो फिर वह 'रहस्यवाद', वह 'ज्ञान-विज्ञानवाद' कहाँ तक सत्य ठहरेगा, इसकी कल्पना करना कठिन है। यह समता ढूँढ़ने की प्रवृत्ति प्रायः उस बुद्धि से उपजती है जो अपनी भाषा और अपने साहित्य की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं रखती। दिनकर किस सीमा तक आइन्स्टाइन के 'क्वांटम' सिद्धांत को हिंदी कविता में ला सकते हैं, यह हिंदी के विवेचकों से छिपा नहीं है। यदि वेदों में राकेट बनाने की सूक्तियाँ हो सकती हैं तो उर्वशी में 'क्वांटम' सिद्धांत भी हो सकता है। हमारा देश तो अजीब-ओ-ग़रीब है। कविराज वैद्य जब रोगों का लक्षण और निदान काव्य और रस के आधार पर समझ सकते हैं और 'मेटीरिया मेडिका' को रस-सिद्धांत के अनुसार लिखा ज़ा सकता है तो 'क्वांटम' सिद्धांत भी उर्वशी में ढूंढ़ निकालना अचरज की बात नहीं है।

'भविष्य की कविता' खंड प्रो० विमल की विचित्र धारणाओं का समूह है। लगता है कि उन्होंने अरविंद की 'भावी कविता' और 'दिव्य मानव' और इसी प्रकार के अन्य काव्य-सिद्धांतों और दार्शनिक विचारों को जहाँ-तहाँ देखा-सुना है। इस देखे-सुने को नितांत अवांछित रूप में उन्होंने नयी कविता पर आरोपित करना चाहा है। किसी सिद्धांत के आधार पर किसी कृति का मूल्यांकन करना ग़लत नहीं है लेकिन जो भी लिखा जाय उसमें सिद्धांत और विश्लेषण के कुशल तत्वों पर ही आधारित निष्कर्ष निकल सकते हैं। प्रस्तुत संदर्भ में न तो अरविंद के सिद्धांतों का ही पता लगता है, न विश्लेषण का।

किसी भी नयी समीक्षा-विधि का हमें स्वागत करना चाहिए लेकिन इसके लिए जो भी 'प्रबंध' प्रस्तुत किया जाय, वह गहरा और तार्किक होना चाहिए। प्रो० विमल के निष्कर्षों का सैद्धांतिक आधार नहीं मिल पाया है। यदि वह है भी तो शायद उनकी मानसिक पृष्ठभूमि में है और अस्पष्ट, अव्यक्त और नितांत अधकचरा है।

पुस्तक का दूसरा खंड है 'नयी आलोचना : एक सर्वेक्षण'। इस खंड में लेखक की एक स्थापना है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याख्याता-आलोचक होने की छूट मनमाने ढंग से कवि 'पंत, महादेवी, दिनकर और इलियट' को देना चाहता है। लेकिन शेष कवि यदि व्याख्याता-आलोचक होते हैं तो वे टिटहरी की तरह अपनी टाँग ऊपर कर के सोचने वाले हैं। ऐसा श्री विमल क्यों सोचते हैं इसका तर्क उन्होंने नहीं दिया है और 'चार खेमें चौंसठ खूँटे' में जैसे उन्हें रहस्यवाद के दर्शन होते हैं उसी प्रकार आलोचना के क्षेत्र में भी उन्हें कुछ रहस्यवादी दर्शन हुए हैं जो इस प्रकार हैं :

(१) आधुनिक आलोचना में काव्य-तत्व और काव्य-सत्य को सापेक्ष माना जाता है, निरपेक्ष और चिरंतन नहीं।

(२) आधुनिक आलोचना सामाजिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में भी काव्य की परख करती है।

(३) आधुनिक आलोचना आलोच्य कृति के मूल्यांकन में जनरुचि को भी महत्व देती है।

(४) आधुनिक आलोचना रस और स्थायी भाव के अलावा अनुभाव और संचारी भाव के विश्लेषण को भी महत्व देती है।

(५) आधुनिक आलोचना में मनोविज्ञान की प्रचुरता है।

(६) आधुनिक आलोचना आध्यात्मिक वागाडंबर से काम नहीं लेती।

(७) आधुनिक हिंदी आलोचना के मानदंडों पर अंतर्राष्ट्रीय साहित्य का गहरा प्रभाव है।

मैं समझता था कि नये साहित्य के संदर्भ में आलोचना के मानदंडों में परिवर्तनों की एक विशिष्ट व्याख्या श्री विमल करेंगे लेकिन जिस प्रकार प्रस्तुत निबंध में कुंजी-शैली में नयी आलोचना की व्याख्या उन्होंने की है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके पास विश्लेषण की शक्ति अभी है ही नहीं क्योंकि उपर्युक्त सिद्धांतों में से कौन से ऐसे सिद्धांत हैं जिनका प्रयोग हिंदी आलोचना में कम से कम रामचंद्र शुक्ल से ले कर आज तक के आलोचकों ने किया है? यदि आलोचना में मात्र इतने ही तत्व हैं तो फिर उन्हें नया क्यों कहा जाय? मैं यह तो मान सकता हूँ कि महावीरप्रसाद द्विवेदी या रामचंद्र शुक्ल आदि आलोचकों में 'उच्च साहित्यों' के प्रति

रूढ़िवादी मोह था, किंतु मैं यह नहीं कह सकता कि वे एकाक्षी रहे हैं। हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक—'हिंदी साहित्य की भूमिका'—में हमें वे सब तत्व मिलते हैं जिनका उल्लेख श्री विमल ने अपनी सप्तकी सैद्धांतिकी में किया है। इसी प्रकार रामचंद्र शुक्ल ने भी अपने समय में हिंदी साहित्य के इतिहास में किसी भी प्रकार के पूर्वग्रह का परिचय नहीं दिया है। नंददुलारे वाजपेयी ने भी छायावाद की समीक्षा प्रस्तुत करते समय किसी भी पूर्वग्रह का परिचय नहीं दिया है। वास्तव में कोई भी समीक्षक अपने समकालीन काव्य के मूल्यांकन में तो उदार होता है किंतु अपने आगे वाली पीढ़ी की कृतियों के मूल्यांकन में उनमें वह उदारता नहीं रह जाती। इसका दोष हम केवल हजारीप्रसाद द्विवेदी और नंददुलारे वाजपेयी पर ही नहीं आरोपित कर सकते। क्या नयी कविता के प्रसिद्ध आलोचकों में, नयी कविता के उपलब्ध माध्यमों के अतिरिक्त जो लिखा जा रहा है, उसके प्रति उदारता है? वस्तु-सत्य यह है कि कला की विधा विद्रोह से शुरू तो होती है किंतु धीरे-धीरे वह रूढ़िवादिता में बँध जाती है। इसके लिए किन्हीं दो-तीन व्यक्तियों पर आक्रोश न व्यक्त कर के यदि श्री विमल ने इनके कारणों को जानने की चेष्टा की होती तो शायद यह भ्रांति न उत्पन्न होती। फिर, यदि रामचंद्र शुक्ल आई० ए० रिचर्डस के उद्धरण देने के बावजूद अंतर्राष्ट्रीय साहित्य से प्रभावित नहीं कहे जा सकते तो हम प्रो० विमल को ही क्यों प्रभावित मानें। नयी आलोचना की विवेचनात्मक दृष्टि के मूल तत्वों को कुछ गहरे पैठ कर देखने की आवश्यकता है। इस प्रकार के सतही सप्तकी बनाने से काम नहीं चलेगा।

पुस्तक का अंतिम खंड 'कला खंड' है। इस खंड में क्रोचे का कला-दर्शन, हीगेल का कला-दर्शन, कला और जन-संस्कृति, पाश्चात्य कला के कुछ आधुनिक वाद, भारतीय कला की कुछ विशेषताएँ जैसे विषयों पर लिखे गये निबंधों का संग्रह है। ये निबंध न तो परिचयात्मक हैं, न विश्लेषणात्मक। यदि ये परिचयात्मक भी होते तो भी हम उनकी उपयोगिता समझ सकते थे। इस दृष्टिकोण से पाँच-पाँच, छह-छह पृष्ठों में क्रोचे और हीगेल के कला-दर्शनों का विवेचन प्रस्तुत करना अवांछनीय तो है ही, साथ ही ग़लत भी है। यदि लेखक अपने विचारों की पुष्टि के लिए भी इन विचारकों के सिद्धांतों का निरूपण करता, तब भी बात समझ में आ सकती थी। पर सभी निबंध हमें केवल लेखक की जिज्ञासु बुद्धि का परिचय देते हैं। उपलब्धि से वंचित होने के कारण यह खंड भी महत्वपूर्ण नहीं हो पाया। इस दिशा में प्रो० विमल को एक व्यवस्थित प्रयास करना चाहिए।

अंत में मैं इस प्रवृत्ति की निंदा करना चाहूँगा जिसमें लेखक या समीक्षक अपनी बात न कह कर दूसरे लेखकों और समीक्षकों, विशेष कर पाश्चात्य लेखकों के अंग्रेज़ी उद्धरणों से अपने तर्कों की पुष्टि करना चाहते हैं, या उनका नाम जप कर उनके सहारे वैतरणी पार करना चाहते हैं। यह प्रवृत्ति दो चीज़ों को व्यक्त करती है: पहली तो यह कि इससे लेखक के अधकचरेपन का पता चलता है; साथ ही यह भी है कि उसकी मौलिकता नष्ट हो जाती है। श्री विमल की इस पुस्तक का प्रत्येक पृष्ठ इसी प्रकार के अंग्रेज़ी नामों से भरा पड़ा है। यह स्वयं इस बात का द्योतक है कि लेखक को विषय-ज्ञान के बारे में अविश्वास अधिक है। मौलिक चिंतन के लिए जहाँ अध्ययन आवश्यक

है, वहीं, अनियोजित अध्ययन से इस प्रकार के खतरे भी पैदा हो जाते हैं।

—लक्ष्मीकांत वर्मा,

सरयू कुटीर, मधवापुर, इलाहाबाद।

नटरंग

संपादक: श्री नेमिचंद्र जैन। ३-एफ़, जंगपुरा एक्सटेंशन, नयी दिल्ली-१४। वार्षिक मूल्य: ६ रु०। एक प्रति: १.५०।

'नटरंग' भारतीय रंगमंच का प्रथम त्रैमासिक पत्र है। गत अनेक वर्षों से हिंदी रंगमंच के उत्थान को ले कर देश के हर कोने में कार्य हो रहा है। नगरों और क़स्बों की अमेचर रंग-संस्थाएँ नाट्य-प्रस्तुतियाँ, गोष्ठियाँ, समारोह आदि कर के हिंदी-रंगमंच की उचित दिशा खोजने में संलग्न हैं। आज के प्रस्तुतकर्ता, नाटककार, रंगशिल्पी अपनी-अपनी समस्याओं से जूझ कर दर्शक के समीप आना चाहते हैं। निःसंदेह आज ऐसे धरातल की आवश्यकता अनिवार्य हो गयी है जहाँ से संदर्भ-सूत्र खोजे जायँ, विचारों का आदान-प्रदान हो सके और कार्य का मूल्यांकन किया जा सके। यह कार्य किसी नाट्य-पत्रिका द्वारा ही पूरा हो सकता है। 'नटरंग' ऐसा ही माध्यम-स्वरूप है।

पत्रिका के दो अंक पाठकों के समक्ष आ चुके हैं। प्रवेशांक में संस्कृत नाटक और आधुनिक रंगमंच पर परिसंवाद, पुस्तक-समीक्षा, टिप्पणियाँ, एक संपूर्ण नाटक, नाट्य-वृत्त तथा कुछ सूचनात्मक निबंध संकलित हैं। द्वितीय अंक में आधुनिक रंगमंच और दृश्यांकन पर परिसंवाद तथा पिछले अंक के शेष स्थायी स्तंभ हैं। दोनों अंकों के परिसंवाद बौद्धिक और कलात्मक पक्ष को लेकर व्यावहारिक रूप में भी पाठक के समक्ष आये हैं। नाट्य-वृत्त में देश के विभिन्न केंद्रों में पूर्ववर्ती तिमाही में प्रदर्शित होने वाले नाटकों की समीक्षात्मक चर्चा है। पत्र का प्रारूप बौद्धिक स्तर पर सुंदर बन पड़ा है।

पत्र का गठन बौद्धिक और शिक्षात्मक स्तर से अधिक हुआ है। आज देश में जो भी अमेचर संस्थाएँ कार्य कर रही हैं उनकी समस्याएँ कार्यकर्ताओं के बौद्धिक स्तर और प्रस्तुति की कलात्मकता की तो हैं ही, साथ ही जो मूलभूत समस्याएँ हैं वे हैं उनकी संस्थागत संगठन की व्यावहारिक कठिनाइयाँ तथा उपकरणों और प्रस्तुति-साधनों में अभाव। अमेचर की लचर गाड़ी आज अधिकांशतः अभिनेता वर्ग के कंधों पर घिसट रही है। प्रस्तुतकर्ता, निदेशक और रंग-शास्त्री इन्हीं की अभिव्यक्ति के पूरक मात्र से बने हुए हैं। ऐसी स्थिति में अतिशय बौद्धिकता किसी देहात के लोगों के बीच पहुँची हुई गैस की लालटेन की भाँति हो जाती है जिसकी रोशनी से वे या तो अपनी आँखें चकाचौंध करें अथवा उसकी टंकी की चमकदार पालिश में अपने विद्रूप चेहरे निहारें। परिसंवादों की बातें पढ़ कर तो लगता है कि हिंदी रंगमंच के प्रकांड पंडित अपने देश के महानगरों में कब से बसे हुए हैं, हमारे पूर्वज संस्कृत नाटकों में कितना रंगमंच भर गये हैं और पाश्चात्य-देशों में मंच कितना विकसित हो चुका है! अरे भाई! संस्कृत नाटक और उसके रंग-

मंच का रोना-धोना तो कब से इस देश में रोया जा रहा है; आज भी 'मृच्छकटिक' के प्रयोग की अधूरी कहानी कही जायगी या उसके रंगमंच की रंग-अनुभूति की जायगी तो फिर 'आत्मस्वीकृतियाँ', 'नाटक में नाट्य की तलाश' और 'मनुष्य में इंसान ढूँढ़ना' जारी रहेगा। यही तो दुःख है कि बौद्धिक स्तर से नाटक की बात शुरू नहीं हुई कि शूद्रक, कालिदास, भारतेंदु, प्रसाद आदि नाटककार तथा संस्कृत नाटक, नाट्यशास्त्र, नाट्य-धर्मिताएँ, लोक-धर्मिताएँ, अन्विति-त्रयी, नाट्य-रूढ़ि, साहित्यिक गुण, परंपरा-प्रयोग, प्राचीन, आधुनिक और पाश्चात्य रंगमंच जैसी भारी-भरकम बातें कानों में गूँजने लगती हैं और आधुनिक युग के जटिल परिपेक्ष में जहाँ हिंदी में उत्कृष्ट नाटक अप्राप्त हैं, रंगशालाओं का अभाव है, दर्शक सिनेमा से होड़ लगाये हुए हैं, कार्यकर्ता उन्नतिकामी दृष्टिकोण बनाये हुए हैं ये मूल प्रश्न जहाँ के तहाँ बने रहते हैं और दूर सुनायी देती रहती है वह डफली की आवाज़ जो वर्षों से एक लय-ताल में बजती चली आ रही है।

इसी प्रकार दृश्य-बंध की समस्या है! थोड़ी सी भी बुद्धि रखने वाला प्रस्तुतकर्ता यह जानता है कि मंच-विधान नाटक की कलात्मक अभिव्यक्ति का साधन मात्र होना चाहिए लेकिन यह प्रश्न होना चाहिए गुलशन कपूर का 'षोड़शी का दृश्यबंध' या निर्मल वर्मा का 'प्राग का आधुनिक रंगमंच' या हबीब तनवीर के 'सात पैसे' में विद्यासागर के बल्ली और रस्सी के दिलचस्प प्रभाव, या उनके जालीदार पर्दे तो हल नहीं कर सकते? इस परिसंवाद में इब्राहीम अलकाजी का लेख 'रंगमंच के लिए दृश्यांकन' अधिक विचारपूर्ण है। प्रथम अंक में टिप्पणियों के अंतर्गत शंभु मित्र का लेख 'संदर्भ-सूत्र की खोज तथा केशवचंद्र वर्मा द्वारा विदेशी नाटक के रंगमंच पर उठाये गये प्रश्न अत्यंत मौलिक और सारगर्भित लगते हैं।

दो अंक देखने से तो लगता है कि दिल्ली में तो रंगमंच है ही, कलकत्ते और बंबई में भी बन चुका है। छोटे नगरों और क़स्बों में केवल श्रद्धावनत होना मात्र शेष रह गया है। परंतु रंगमंच-आन्दोलन की प्रवृत्ति को देख कर लगता है कि जब तक छोटे-छोटे केंद्रों में हो रहे कार्य को और वहाँ के अदना से अदना कार्यकर्ता के कार्य को यदि सार्थकता नहीं मिलेगी, डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी के पत्र के अनुसार 'नटरंग' अपने आयोजन में समूची स्थिति पर जो लगभग एक दुष्ट चक्र बन गया है—इस दृष्टि पर विचार नहीं करेगी नट और निदेशक को ऊपर नहीं उठायेगी और नट तथा रंग को समुचित प्रतिष्ठा मिलने की प्रतिक्रिया में सहयोगी न होगी, तब तक सार्थकता प्राप्त न करेगी और यह समस्या बनी रहेगी कि बड़े-बड़े जीम लें तो छोटे-छोटे खायँ।

पत्र के हर अंक में एक संपूर्ण नाटक तथा नाट्य-वृत्त प्रकाशित होने की योजना अत्यंत सुंदर और विचारपूर्ण है, लेकिन वृत्त यदि अधूरा रहकर चाप न बने, तभी उसकी सार्थकता है। दूसरे अंक में कुछ ऐसा ही हो गया है।

—जीवनलाल गुप्त,

१८५, सोहबतिया बाग़, इलाहाबाद।

द्रविड़ों का भारत में आगमन

द्रविड़ जन भारत में समुद्री मार्ग से आये और समुद्र-तट पर ही बस गये। ये सामूहिक रूप से संघ-बद्ध हो कर आये थे; उसी रूप में बस गये और अब तक वहीं हैं; यद्यपि इधर की ओर वे बढ़ते आये। भारत में अनेक चीज़ें वे बाहर से अपने साथ लाये। ये चीज़ें (फल तथा सुपारी-मसाले आदि) दक्षिण-पूर्वी एशिया के आस्ट्रेलिया न्यू गिनी आदि में पहले से ही हैं। भाषा-विज्ञानियों का कहना है कि द्रविड़ भाषाओं में आस्ट्रेलिया, की प्राचीनतम भाषा के कुछ शब्द पाये जाते हैं। आस्ट्रेलिया से समुद्री मार्ग द्वारा बहुत बड़ा जन-समुदाय इधर आया और बीच-बीच में बसता भी गया। बरमा आदि में द्रविड़ों की आबादी बहुत प्राचीन है, जिनकी भाषा आज भी द्रविड़-परिवार की है और बरमी भाषा से भिन्न है। और इधर आ कर वे लंका के उत्तरांचल में (समुद्र-तट पर ही) बसे और आज तक उनमें वही तमिल भाषा चल रही है, जो लंका (सिंहल द्वीप) की 'सिंहली' भाषा से एकदम भिन्न है। सिंहली भाषा आर्य-भाषाओं में है; उसकी प्रकृति-प्रवृत्ति आर्य-भाषाओं से पूरी तरह मेल खाती है। द्रविड़ों का रहा-बचा पूरे का पूरा समुदाय भारत के दक्षिणांचल में समुद्र-तट पर बस गया और वहीं आज तक सुव्यवस्थित है। द्रविड़ जनों में चार प्रादेशिक भेद थे, जो आज भी हैं। देश-विभाजन के तांडव में अभी कल ही यहाँ करोड़ों की संख्या में सिंधी, पंजाबी और बंगाली उजड़े थे। यदि उन्हें यहीं जगह न मिलती और संघ-बद्ध हो कर कहीं के कहीं जा बसते, तो इनकी भाषा भिन्न-भिन्न हो कर भी प्रकृत्या अभिन्न रहती; क्योंकि तीनों ही आर्य-भाषाएँ हैं और कर, खा, जा आदि 'धातु' शब्द सबमें समान हैं। प्रत्यय-भेद से भिन्न-रूपता है। ये लोग जहाँ भी जा कर बसते, अपनी भाषा बनाये रहते और वहाँ की मूल भाषा से प्रभावित हो कर भी इनकी भाषा अपना मूल रूप बनाये रखती। यही स्थिति द्रविड़ों की और उनकी भाषाओं की है। संज्ञा तथा विशेषण आदि संस्कृत के ले लेने पर भी धातु, अव्यय, प्रत्यय, विभक्तियाँ आदि सब उनके 'अपने' हैं। यानी 'धातु' शब्द तथा कारक विभक्तियाँ आदि उन्होंने किसी दूसरी भाषा से नहीं लीं। संघ-बद्ध हो कर एक जगह बसने का ही यह परिणाम है। अन्य (शक, हूण आदि) लोगों ने (भारत में आ कर) संघ-बद्ध हो कर अलग बस्तियाँ नहीं बनायीं। वे भारत भर में फैल गये और कालांतर में घुल-मिल गये। बाद में जो ईरानी आदि आये, वे भी घुल-मिल गये, केवल मज़हब के कारण ऊपरी भिन्नता दिखायी देती है।

'मोहन जो दड़ो' द्रविड़ों का नहीं

'मोहन जो दड़ो' सिंध में है। सिंधी भाषा आर्य-भाषा है। यदि 'मोहन जो दड़ो' द्रविड़-जनपद में होता, तो वहाँ भी आज द्रविड़ भाषा चलती, जैसे बरमा, दक्षिण भारत तथा लंका के भू-भागों में है। परंतु समूचे सिंध प्रदेश में कहीं भी द्रविड़ भाषा नहीं है। एकाध शब्द तो सभी भाषाओं के सभी भाषाओं में चले ही जाते हैं। द्रविड़ जन महानिषाद (समुद्री व्यापारी) थे। उनके जहाज़ दूर-दूर तक माल ले जाते और लाते थे। बहुत संभव है कि सिंध में उनका किसी 'बंदर' पर प्रभाव रहा हो। शब्दों का आदान-प्रदान यों हो जाता है; परंतु 'संज्ञा' शब्दों का ही; कहीं किसी विशेषण का भी। प्रकृति प्रत्येक भाषा की अपनी होती है। सिंधी भाषा में ज़रा भी द्रविड़-भाषा की प्रकृति का मेल नहीं है। संस्कृत का 'भवदीयो बालकः गतः' एकवचन और 'भवदीयाः बालकाः गताः' बहुवचन। प्राकृत में 'भवदीजो बालको गदो' और 'भवदीजा बालका गदा' रूप होंगे। यानी सिंध में जो प्राकृत जारी थी, उसमें संबंध-सूचक 'ज' प्रत्यय था; संस्कृत का 'यः' प्राकृत में 'जो'। 'मोहन जो दड़ो'——'मोहन को टीलो' (राजस्थानी में)। जैसलमेर तक राजस्थानी है; उसके आगे सिंधी।

एकवचन	बहुवचन	
राम **को लड़को गयो**——	राम **का लड़का गया**	(जयपुरी)
राम **रो लड़को गयो**——	राम **रा लड़का गया**	(जोधपुरी)
राम **नो छोकरो गयो**——	राम **ना छोकरा गया**	(गुजराती)
राम **जो छोकरो गयो**——	राम **जा छोकरा गया**	(सिंधी)

सीधी धारा चली गयी है। गुजरात से सटे हुए भाग की भाषा मराठी (आर्यभाषा है), जो बहुत दूर तक चली गयी है——द्रविड़ प्रदेशों को छू रही है। पूरब में, उड़िया भाषा आर्य-परिवार की है, जिसका पश्चिमी छोर द्रविड़ भाषाओं से संपर्क रखता है। इसी तरह, द्रविड़ भाषाओं के उत्तर में भी 'दक्षिण कोसल' की आर्यभाषाएँ थीं, जिनके रूपांतर आज 'छत्तीसगढ़ी' आदि हैं। समुद्र के इधर और उधर तमिल भाषा है।

आर्यों का भारत में आगमन

'ईरान' प्राचीन काल में ख़ूब समृद्ध-सुसंस्कृत था। वहीं से आर्य जन बढ़ते-बढ़ते भारत आये। ईरान ही आर्यों की मूल भूमि है; या वे वहाँ उत्तर दिशा के किसी प्रदेश से आ कर बसे थे; यह अलग विवेचन है। परंतु भारत में आर्य ईरान से ही आये; ऐसा जान पड़ता है। दिशा-वाचक शब्द देखिए——

पश्चिम——पीछे छोड़े हुए देश की दिशा।

पूर्व——आगे की ओर, जिधर मुँह है, जिस ओर जा रहे हैं।

उत्तर——उद्+तर 'उत्तर'। ऊँचा और उस ऊँचे से ऊँचा प्रदेश जिस ओर दिखायी दे, जहाँ हिमालय की पर्वत-माला ऊँची से ऊँची दिखायी दे रही हो।

दक्षिण—दाहिने हाथ की दिशा। वाम-दक्षिण भुज हैं। परंतु 'उत्तर' **दिशा** को '**वाम दिशा**' नहीं कहा गया। वह तो 'उद्तर' है ही।

यों स्पष्ट है कि आर्य ईरान की ओर से आये। ऋग्वेद में सिंध तथा पंजाब की नदियों का ख़ूब वर्णन है; उसके बाद गंगा-यमुना का स्थान है।

आर्यों के एक दल ने हिमालय के कटि-प्रदेश का मार्ग पकड़ा और वहीं यत्र-तत्र बस भी गया। ये प्रदेश डोगद, काश्मीर, हिमाचल, गढ़वाल, कुमायूँ, नेपाल आदि नामों से आज प्रसिद्ध हैं। 'भूटान' पर किरातों का प्रभाव पड़ा। यक्ष, किन्नर, गंधर्व, भूत आदि आर्यों के (पहाड़ी आर्यों के) नाम थे। ईरानी आर्य 'असुर' और यहाँ के 'देव' कहलाते थे। यक्ष, किन्नर आदि को 'देवयोनयः' कहा गया है; देवों (आर्यों) के भेद। इन्हीं देवयोनियों को किरातों के साथ यत्र-तत्र सीमा-संघर्ष करना पड़ा था। आजकल जिन्हें मंगोल-नस्ल' कहते हैं, उन्हें ही उस समय 'किरात' कहते थे। कितने ही किरात राजाओं का आर्य राजाओं से मेल भी था। संघर्ष भी होते थे।

द्रविड़ों से संघर्ष वैसा नहीं

किरातों के साथ आर्यों का संघर्ष हुआ, पर द्रविड़ों के साथ नहीं। आर्य पहले आ कर आबाद हो गये थे; ख़ूब समृद्ध थे। ऋग्वेद संसार का प्राचीनतम साहित्य है। साहित्य तब बनता है, जब समाज ख़ूब सुसंस्कृत-सुसंपन्न हो जाता है। तमिल साहित्य भी बहुत पुराना है; परंतु वेदों के बाद का। वेदों में तथा तमिल साहित्य में आर्य-द्रविड़ शत्रुता का कहीं वर्णन नहीं है। पाश्चात्य इतिहासकारों ने अफ़्रीका आदि में जो देखा-सुना और इंग्लैंड के इतिहास में जो-कुछ पढ़ा, उसी की छाया हमारे ऊपर डाल दी और कल्पना के आधार पर कहानियाँ गढ़ डालीं। उन्हीं कल्पित कहानियों को हम 'अपना इतिहास' मानने लगे हैं।

मेरे विचारों का प्रत्याख्यान

'**छि**ड़ा झगड़ा पजावे का, निकाला बाग़ का काग़ज़ !' मैंने निवेदन किया था कि 'इतिहास' में आर्यों और द्रविड़ों के संघर्ष-संग्राम की जो कहानी लिखी गयी है वह कल्पना का खेल है। उसमें कोई प्रमाण नहीं। यदि वैसा संघर्ष-संग्राम कभी हुआ होता, तो वेदों में, पुराणों में तथा प्राचीन तमिल साहित्य में उसका (वर्णन न सही) कहीं उल्लेख तो होता ही। मैंने निवेदन किया था कि यदि किसी के पास कोई प्रमाण हो, तो प्रकट करने की कृपा की जाय।

मेरे निवेदन पर दो विद्वानों ने विचार प्रकट किये हैं; 'माध्यम' के अप्रैल वाले अंक में। एक में मेरे विचारों का प्रत्याख्यान है, दूसरे में समर्थन।

परंतु मेरे विचारों का प्रत्याख्यान किसी प्रमाण के आधार पर नहीं किया गया है। वही 'हुआ होगा' आदि, जो पाश्चात्य विद्वानों के ग्रंथों में पढ़ा गया है। यह सब भी लिखा है कि वर्ण-व्यवस्था कैसे क़ायम की गयी, पुरोहित-वर्ग ने क्या गड़बड़ी की, इत्यादि। इसे ही कहते हैं—'छिड़ा झगड़ा पजावे का, निकाला बाग़ का काग़ज़ !'

यह भी लिखा गया है कि द्रविड़ों में भी वर्ण-व्यवस्था थी, और है। इसमें तो 'द्रविड़ाः प्रमाणम्' ही कहा जायगा। हम तो जानते हैं कि वर्ण-व्यवस्था आर्यों में ही थी। अन्यत्र तो 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' उस समय थी। जो लड़ाई करके या किसी भी तरह किसी क्षेत्र पर अधिकार कर ले, वही शासक बन जाता था। आर्यों ने कहा—'शासन दिमाग़ का काम है; युद्ध भुजदंडों का है।' परंतु भारत के आर्यों में गड़बड़ी हो गयी; भुजदंड ही दिमाग़ का काम करने लगे—शासन भी करने लगे। दिमाग़ को नौकर रख लिया। फलतः असुरों से बार-बार हारे। अब भुजदंडों का (क्षत्रियों का, फ़ौजियों का) काम पृथक और दिमाग़ का (शासन) पृथक कर दिया गया है।

यदि दिमाग़ शासन करता तो मुहम्मद ग़ोरी इस भूमि को रौंद न सकता। उसे कभी भी दिमाग़ माफ़ न करता। वह परंपरा-गंध अभी इस देश से गयी नहीं है।

आगे चल कर शासन और सुरक्षा के व्यवस्था-क्षेत्र और जगह भी पृथक किये गये, पर उसका प्रारंभ आर्यों ने किया था। यह दूसरी बात है कि यहीं वह व्यवस्था भंग भी हुई।

द्रविड़ सब **एक** हैं। उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भेद नहीं। ब्राह्मण इधर से गये। सबसे पहले अगस्त्य ऋषि अपने तेजस्वी शिष्य-साथियों के साथ, दुर्गम विंध्य के वन-बीहड़ों को चीरते हुए, उधर गये। क्यों मरने गये, जब कि द्रविड़ वैसे शत्रु थे ? फिर, द्रविड़ों ने उन्हें मार क्यों नहीं दिया ? अगस्त्य वहीं रम गये और तमिल भाषा का व्याकरण बनाया, साहित्य-निर्माण की प्रवृत्ति जाग्रत की। ब्राह्मण भी गये और वहाँ बस गये। उन्हीं की संतति आज द्रविड़ों में दस प्रतिशत है। कल्पित आग से झुलसे हुए द्रविड़ इन ब्राह्मणों को आज भी अपने से पृथक मानते हैं। वहाँ द्रविड़ और ब्राह्मण, ये दो ही वर्ग हैं। द्रविड़ों में कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हें वे 'अस्पृश्य' कहते हैं।

ख़ैर, मेरा पक्ष तो यह है कि द्रविड़ों और आर्यों के संघर्ष-संग्राम की वह कहानी कल्पित है। उसमें कोई प्रमाण नहीं है। अब आगे मैं किसी विद्वान के उसी लेख पर विचार करूँगा, जिसमें प्रमाण दिये गये होंगे।

—किशोरीदास वाजपेयी, कनखल (हरिद्वार)।

हिंदी और मराठी के तद्भव शब्द

'माध्यम' के जून अंकमें श्री राजनारायण मौर्य लिखित एक लेख प्रकाशित है—'हिंदी और मराठी के तद्‌भव शब्द'। लेख को पढ़ने के बाद कुछ शब्दों को लेकर मन में शंकाएँ उत्पन्न हुईं। मैं हिंदी और मराठी दोनों ही भाषाएँ जानता हूँ और उसी के आधार पर कुछ कहना चाहूँगा।

पृष्ठ ४३ पर एक शब्द है: **'गर्जन--गरजना--गाजणें'**। मराठी में **'गाजणें'** का प्रयोग **'प्रसिद्ध होना'** के अर्थ में किया जाता है, न कि **'गरजने'** के। पृष्ठ ४४ पर: **'जम्बू—जामुन—जांब'** में **'जांब'** का अर्थ होता है **'बिही या अमरूद'**। जामुन को मराठी में 'जांब' कभी नहीं कहते। उसी पृष्ठ पर एक दूसरा शब्द है; **'कील--किल्ली--किल्ली'**। यदि मराठी का 'किल्ली' लिया जाय तो उसके दो अर्थ हैं--एक तो **'क़िला'** और दूसरा **'चाबी'**। यदि इन अर्थों में 'किल्ली' का प्रयोग हुआ है तो उसे हिंदी में 'किल्ली' नहीं कहेंगे बल्कि 'चाबी' या 'ताली' लिखना चाहिए, क्योंकि हिंदी में 'किल्ली' गाय-बैल के शरीर पर पायी जाने वाली 'किल्ली' कहलायेगी।

पृष्ठ ४५ के शब्द: **'कर्तनम्--काटना--कतणें'** के बारे में कहूँ तो **'काटना'** के लिए मराठी में **'कापणें'** या **'कातरणें'** प्रयोग किया जाता है। उसी पृष्ठ पर: **'उलूक--उल्लू--उल्लू'** में मराठी में **'उल्लू'** को **'घुबड'** कहते हैं; **'उल्लू'** नहीं। उल्लू का प्रयोग हिंदी में ही होता है। उसी शब्द के नीचे है: **'यूका--जुंआ--ऊभा'**। मराठी में **'जुंआ'** को **'उवा'** कहते हैं **'ऊभा'** नहीं। वैसे ही: **'कोकिल--कोइल--कोइल'** में **'कोइल'** की अपेक्षा मराठी में **'कोकिल'** का ही प्रयोग अधिक किया जाता है।

अब आइए पृष्ठ ४६ पर जहाँ एक शब्द है: **'कदली--केला--केला'**। मराठी में **'केला'** को **'केल'** कहते हैं; **'केला'** कभी नहीं। इसी तरह: **'इक्षु--ऊख--ऊख'** में मराठी में तो **'ऊस'** कहेंगे और हिंदी में **'ईख'** न कि 'ऊख'। इसी पृष्ठ पर नीचे: **'स्कंध--कंथा--खांदा'** में भी **'कंथा'** की जगह **'कंधा'** होना चाहिए।

अंत में पृष्ठ ४८ पर दो शब्द हैं:

उत्सव— उछाह— उच्छाव।
उल्लास— उलहना— उल्हाता।

'उल्लास' के लिए **'उलहना'** का प्रयोग मुझे सही नहीं मालूम होता। उसी तरह **'उत्सव'** के लिए मराठी में **'उच्छाव'** का प्रयोग शंकास्पद है।

—शरद मोझरकर,
११४, लार्डगंज, जबलपुर।

उपनाम—व्यामोह या झूठा प्रदर्शन ?

आज के कुछेक कवि अजीबोग़रीब मनःस्थितियों से गुज़र रहे हैं। आत्मसीम रति ने उनके भीतर के कवि को दिग्भ्रमित और दिशाहीन बना दिया है। मेरा विवश संकेत श्री श्रीराम सिंह 'शलभ' (कलकत्ता) की ओर है।

'माध्यम' के नववर्षांक में श्री घनश्यामप्रसाद 'शलभ' की पुस्तक 'बादल और बाँसुरी' पर मेरी समीक्षा प्रकाशित हुई थी, जिसमें स्पष्टता के साथ प्रारंभिक पंक्तियों में ही असली कवि तथा उसके प्रकाशक का नाम मैंने दिया है। किसी भी पाठक को यह समझने में शायद क़तई दिक़्क़त नहीं होनी चाहिए कि उक्त समीक्षित पुस्तक के कवि श्री घनश्यामप्रसाद 'शलभ' ही हैं; श्री श्रीराम सिंह या कोई अन्य 'शलभ' नहीं। मुझे किसी भी विशिष्ट 'शलभ' से कोई वैयक्तिक भाव और संबंध नहीं है। अगर संबंध हो तब भी समीक्षा में मैं अधिक से अधिक तटस्थता और ईमानदारी बरतने की कोशिश करता हूँ।

यह बात दूसरी है कि श्री श्रीराम सिंह 'शलभ' का झगड़ा श्री घनश्यामप्रसाद 'शलभ' से उपनाम के लिए हो। 'धर्मयुग' के किसी एक अंक में श्री अजितकुमार ने 'बादल और बाँसुरी' की चर्चा की थी तब भी श्री श्रीराम सिंह ने अपना आक्रोश व्यक्त किया था, जिसका समाधान श्री अजितकुमार ने यह किया कि श्री श्रीराम सिंह को 'शलभ कलकतिया' नाम से अपने को लोगों के सामने प्रस्तुत करना उचित है। अगर श्री श्रीराम सिंह 'शलभ' को ऐसा भान होता हो कि समीक्षित पंक्तियों के कवि वे स्वयं हैं तब तो उन्हें और भी प्रसन्नता होनी चाहिए; क्योंकि इस बहाने भी तो उनकी ही लोकप्रियता बढ़ रही है। पर सपनों के संसार में चहलक़दमी करने से क्या लाभ!

इनकी प्रतिक्रिया ('माध्यम', जुलाई) से यह गंध भी निकलती है कि ये श्री श्रीराम सिंह 'शलभ' 'बादल और बाँसुरी' के कवि श्री 'शलभ' से महान हैं। महानता का क्या मापदंड है, यह मुझे ठीक मालूम नहीं। नवगीत-कवियों में पांक्तेय होने का गौरव किसे प्राप्त हो सकेगा, किसे नहीं, यह तो भविष्य पर निर्भर है। आक्रोश और ईर्ष्या से कोई भी (कवि ?) न बड़ा और महान बन सकता है और न आत्म-विज्ञापन और आत्म-प्रदर्शन से महार्घता प्राप्त की जा सकती है।

—नंदकुमार राय,
हिंदी विभाग, बिहार विश्वविद्यालय,
मुज़फ़्फ़रपुर।

पत्र प्रतिक्रियाएँ

● ●

साहित्य अकादमी-पुरस्कार ?

हिंदी के साहित्यकारों में इधर साहित्य अकादमी-पुरस्कार के प्रति पर्याप्त असंतोष दिखायी पड़ा है। कुछ दिन पहले प्रयाग में श्री अमृत राय को उनके ग्रंथ 'कलम का सिपाही' पर एक वर्ष पूर्व घोषित साहित्य अकादमी-पुरस्कार (जो कुछ क़ानूनी अड़चनों के कारण उन्हें इस वर्ष मिला) के उपलक्ष में उनका अभिनंदन किया गया। इस समय अकादमी-पुरस्कार पर चर्चा करते हुए श्री प्रकाशचंद्र गुप्त ने यशपाल को उनके 'झूठा सच' उपन्यास पर पुरस्कार न देने के लिए अकादमी की आलोचना की और उस पर सरकारी संस्था होने का आरोप लगाया। उसी समारोह में बोलते हुए श्री बालकृष्ण राव ने साहित्य अकादमी को सरकारी संस्था न मान कर विद्वानों की संस्था बताया। श्री राव ने कहा कि **सरकार का किसी प्रकार का हस्तक्षेप पुरस्कार देने या न देने में नहीं होता।**

प्रयाग में ही ४ मार्च को 'विवेचना' में 'बच्चन' के काव्य-संकलन 'अभिनव सोपान' पर परिचर्चा के दौरान 'बच्चन' जी की इस शिकायत पर कि आलोचकों ने उन पर समुचित ध्यान नहीं दिया, विजयदेवनारायण साही ने विचार व्यक्त किये कि यह शिकायत जायज़ नहीं है और इससे अंतर ही क्या पड़ता है। **अब तो यह संभव है कि बिना आलोचकों के उठाये बच्चन जी को साहित्य अकादमी-पुरस्कार मिल जाय, उन्हें पद्मभूषण की उपाधि मिल जाय और नहीं तो साठ बरस का होने पर उन्हें अभिनंदित कर दिया जाय। उनके लिए तो सम्मान का द्वार खुला ही हुआ है।** साही जी की बात से स्पष्ट है कि वे अकादमी-पुरस्कार को उसी श्रेणी में रखते हैं, जिसमें राष्ट्रपति द्वारा वितरित उपाधियों आदि को। अर्थात यह भी एक प्रकार का सरकारी खिताब है।

मार्च १९६५ के अंक में 'कल्पना' में रघुवीर सहाय का एक लेख 'साहित्य अकादमी के पुरस्कार, दाता और पात्र' छपा है। इस पर संपादकीय में कहा गया है, **चाहे सरकार-अकादमी सोचे या न सोचे, अपने को सुधारे या न सुधारे, किंतु साहित्यकारों को सोच कर कोई विद्रोही क़दम उठाना ही चाहिए।** अर्थात् 'कल्पना' भी साहित्य अकादमी को सरकार-अकादमी ही मानती है, वह उसके विद्वानों की संस्था होने में शंका प्रकट करती है।

अकादमी प्रत्येक भाषा के कुछ प्रमुख विद्वानों से यह अनुरोध करती है कि वे अपनी भाषा के ऐसे ग्रथों का नाम दें, जिन्हें वे पुरस्कार के योग्य मानते हों। इस प्रकार विभिन्न भाषाओं की

पुस्तकों के जो नाम प्राप्त होते हैं, उनकी पूरी सूची पुनः उनके पास भेज दी जाती है और उनसे अनुरोध किया जाता है उस तालिका में संग्रहीत पुस्तकों में से जिसे वे सर्वोत्तम समझते हों उसका नाम दें। इस प्रकार प्राप्त सर्वोत्तम ग्रंथ तीन सदस्यों की एक 'वाचक समिति' को भेज दिये जाते हैं। ये वाचक गोपन रीति से प्रत्येक ग्रंथ पर अपना अभिमत भेजते हैं। बाद में ये अभिमत अकादमी के कार्यकारी-मंडल के सामने रख दिये जाते हैं। यहीं से पुरस्कारों की घोषणा होती है। पुरस्कार-वितरण का यह संपूर्ण कार्य गोपनीय होता है।

पुरस्कार-वितरण के इस नियम के विरुद्ध शायद ही किसी को कुछ अधिक कहना हो, सिवाय इसके कि यह बात संदिग्ध है कि अकादमी जिन लोगों को विद्वान समझती है और जिनसे ये निर्णय माँगती है, उनको इन विभिन्न भाषाओं के लेखक और विद्वज्जन भी विद्वान मानते हैं या नहीं। और यह काफ़ी महत्व का विषय है।

यद्यपि अमृत राय के अभिनंदन-समारोह में बालकृष्ण राव ने साहित्य-अकादमी को विद्वानों की संस्था बताया लेकिन कुछ ही दिन पूर्व, इस वर्ष का अकादमी-पुरस्कार घोषित होने पर उन्होंने अंग्रेज़ी के एक प्रमुख साप्ताहिक पत्र में अकादमी-पुरस्कार पर एक टिप्पणी देते हुए हिंदी में अकादमी द्वारा पुरस्कृत ग्रंथों के चुनाव की असंगति की ओर ध्यान दिलाया। सन १९५५ में माखनलाल चतुर्वेदी की पुस्तक **हिमतरंगिणी** पर अकादमी-पुरस्कार मिलने की प्रतिक्रिया में उन्होंने लिखा है कि इस पुरस्कार से ऐसा प्रतीत होता है कि **साहित्य-अकादमी के पुरस्कार ऐसे वरिष्ठ साहित्यकारों के लिए हैं, जो अपना लेखक-जीवन समाप्त कर चुके हैं और हमारे आदर और सम्मान के पात्र हैं।** उन्होंने शिकायत की है कि **इस तरह की चीज़ हमारे देश में बहुधा होती है कि हम वय मात्र को गुण समझते हैं।** सन १९५७ के पुरस्कार के विषय में (जो स्वर्गीय आचार्य नरेंद्रदेव के ग्रंथ 'बौद्ध-धर्म-दर्शन' पर मिला था) श्री राव ने कहा है कि इस ग्रंथ को साहित्य की श्रेणी में रखा जा सकता है, यह बात विचारणीय है। इसी प्रकार स्व० पं० राहुल सांकृत्यायन का ग्रंथ 'मध्य एसिया का इतिहास' जिस पर सन १९५८ का पुरस्कार मिला, श्री राव के शब्दों में 'बहुत ही उदार दृष्टि रखने पर ही साहित्य की श्रेणी में ग्राह्य होगा।' और १९५९ के पुरस्कार के विषय में जो दिनकर की 'संस्कृति के चार अध्याय' पर दिया गया था, अधिकांश हिंदी-प्रेमियों की भाँति राव साहब को भी आश्चर्य हुआ। उनकी इस बात से प्रायः सभी सहमत होंगे कि पुरस्कृत लेखक हर प्रकार से पुरस्कार के योग्य था, लेकिन उस पुस्तक पर नहीं, जिस पर उसे यह प्राप्त हुआ। इसी प्रकार सन् १९६० में सुमित्रानंदन पंत की पुस्तक 'कला और बूढ़ा चाँद' पर अकादमी-पुरस्कार के विषय में विचार प्रकट करते हुए श्री राव ने कहा है कि **यद्यपि पंत जी के पुरस्कृत होने पर किसी को विरोध नहीं है, वे हिंदी के महान कवि हैं, लेकिन जिस रचना पर उन्हें यह पुरस्कार मिला, उससे उत्कृष्ट उनकी अनेक अन्य रचनाएँ हैं। अतः जिस पुस्तक को पुरस्कृत किया गया वह पुरस्कार योग्य नहीं थी।**

जैसा बालकृष्ण राव ने अपनी इस टिप्पणी में लिखा है, अकादमी-पुरस्कार का ध्येय किसी अभिनव रचना को पुरस्कृत करना है, न कि किसी लेखक को उसके संपूर्ण जीवन की रचनाओं के आधार पर या उसकी संपूर्ण ख्याति के आधार पर उसे पुरस्कार द्वारा सम्मानित करना।

ऐसी अवस्था में हिंदी के विद्वानों की शंकाएँ महत्व रखती हैं और इन शंकाओं का निराकरण ज़रूरी लगता है। यह बात साहित्य-अकादमी की प्रतिष्ठा के ख़याल से भी ज़रूरी है।

साहित्य-अकादमी के प्रति विद्वानों की आस्था बनाये रखने के लिए और विद्वानों में अकादमी के प्रति उठी आशंकाओं के समाधान के लिए एक बात आवश्यक प्रतीत होती है, जिसे 'अज्ञेय' पहले से कहते रहे हैं और जिसे रघुवीर सहाय ने 'कल्पना' की अपनी टिप्पणी में कहा है : **जब पुरस्कार घोषित हो तो कम से कम यह भी घोषित हो कि 'वाचक समिति' में कौन-कौन थे** और जैसा रघुवीर सहाय ने कहा है, **उन्हें (वाचक समिति के सदस्यों को) राष्ट्रपति के साथ मंच पर रहना चाहिए। इससे उनकी प्रतिष्ठा होगी, लेखक को पुरस्कार योग्य समझे जाने का यथेष्ट प्रमाण मिलेगा।**

—रमेशदत्त दीक्षित,
लखनऊ-६।

विशिष्ट या सहज अनुभव ?

नयापन या पुरानापन देखने वाले और देखी जाने वाली वस्तु की स्थिति की भिन्नता के कारण ही विवेच्य बनते हैं, तात्विक रूप से वे अभिन्न हैं। साहित्य में जो युग-बोध होता है, वह चिर प्राचीन होने पर भी चिर नूतन रहता है, केवल उसकी अभिव्यक्ति की परिस्थितियाँ और साधन मात्र बदलते हैं। साहित्य में जिस बोध को अभिव्यक्ति मिलती है वह युग-संदर्भ में द्रष्टा अथवा अनुभूतिकर्ता की क्षमता के कारण भिन्न सा लगने लगता है।

'चौरंगी' के लेखक श्री शंकर ने एक बातचीत के क्रम ('माध्यम', मार्च १९६५, पृष्ठ ५३–५५) में कहा है :—**'सुनने वाले कान चाहिए, परखने वाली आँखें। जरूरी नहीं हर चीज भोग कर ही देखी जाय।'** दूसरी जगह श्री शंकर ही कहते हैं : **'मैंने अपने आस-पास का बहुत सा हिस्सा 'चौरंगी' में इस्तेमाल किया है। लोग उस जीवन का चित्रण करते हैं जो उन्होंने जिया नहीं, जिसे वे जानते नहीं। वे कहा करें कि उनका चित्रण बहुत यथार्थ होता है, पर क्या यह बात स्वीकार की जा सकती है?'**

यह है नवलेखन का सरल शब्द-वितंडा। एक स्थान पर प्रत्यक्ष अनुभव पर ज़रूरत से ज़्यादा बल है तो दूसरी जगह उसकी ज़रूरत नहीं है। इसके अतिरिक्त, नवलेखन रोजमर्रा की समस्याओं पर भी बल देना चाहता है। तब क्या इसका आशय है कि आज के दिन रोज़मर्रा से भिन्न काव्य-विषय, जिसमें लोगों को कम रुचि है, संसार में अपनी कोई सत्ता ही नहीं रखता ? यदि हाँ में इसका उत्तर है तो फिर कहना होगा कि साहित्य में गहन और गंभीर के लिए कोई स्थान नहीं है। क्योंकि गहन-गंभीर रोज़मर्रा से दूर की वस्तु है।

श्री नागेश्वर लाल के 'नवलेखन का बुनियादी दर्शन' शीर्षक लेख में हमने ('माध्यम' के मार्च ६५ के अंक में) पढ़ा कि नवलेखन का बुनियादी तत्व अनुभववाद है। और इस अनुभववाद को वे छायावादी हृदयवाद या भावुकतावाद से भिन्न मानते हैं। हृदयवाद और भावुकतावाद अनुभवशून्य होते हैं, यह कैसे माना जा सकता है। श्री शंकर की नवचेतना के लिए किसी वस्तु का भोग किया जाना अनुभव के लिए आवश्यक नहीं। अब हमें श्री नागेश्वर लाल की सहायता वांछनीय है। साहित्य-सर्जन के अनुष्ठान मे सहज नहीं, साहित्यकार का विशिष्ट अनुभव ही आधारभूत दर्शन है। अनुभव यथार्थ का होता है पर अनुभूत विशिष्ट बन जाता है और कदाचित इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने काव्य का धर्म विशिष्ट को ही माना है। विशिष्ट का दूसरा अर्थ है असाधारण आदर्श या सामान्य से भिन्न। यदि कवि का अनुभव भी सहज हुआ होता तो उसके वर्णन से दुख में सुख की प्रतीति नहीं होती। यह बात नहीं कि नवलेखक को इस काव्यानंद का अनुभव न होता हो; होता है तभी तो वह काव्य-चित्र उतारता है। हाँ, यह दूसरी बात है कि उसे घृणित, पतित और त्रस्त के ही ब्योरों में आनंद मिलता हो, उसे शब्दाभाव की अड़चन, भाषा के भोड़ेपन में ही आकर्षण मानने को बाध्य कर देती हो।

श्री नागेश्वर लाल भी एक जगह मान गये हैं कि **'कोई भी आदर्श (अनुकरणीय तत्व) नयी कविता या कहानी को भी प्रभावित करता है तो उससे प्रभावित भी होता है।'** इस अर्थ में जब आदर्श की नवलेखन में मान्यता है तो यथार्थ का उसके साथ समन्वय प्रेमचन्द्र के मध्य मार्ग से ही बैठ सकता है, परंतु इसके लिए सीधे इंद्रियों के द्वारा प्राप्त सहज अनुभव से काम चलने का नहीं। उसे तो कवि के विशिष्ट अनुभव से ही समझना होगा। फिर नवलेखन का तत्वदर्शन सहज अनुभववाद कैसे हो सकता है? अभी कुछ दिन पहले प्रयाग के एक अध्यापक ने एक वितंडा उठाया था कि पुराने रस-सिद्धांतों का पक्ष चर्वित-चर्वण मात्र है; युग-सत्य के संदर्भ में वह अब बदल गया या बदल जाना चाहिए तो क्या फिर इसका यह आशय हुआ कि अब तक का जितना श्रेष्ठ साहित्य है, नवलेखन के सामने कोई मूल्य नहीं रखता? आज नवलेखन के नाम पर लिखने वाले जो भी हैं उनमें कुछ ही ऐसे हैं जिनकी रचना में प्रतिभा है, दम है और प्रभाव डाल कर हृदय को झकझोरने की शक्ति है। नवलेखन जिस अनुभव को चित्र में बाँधता है उसके लिए कभी-कभी तो उसे कुछ सजीव शब्द अवश्य मिल जाते हैं, किंतु अधिकांशत: उसे शब्द-रंकता से टकरा कर तिलमिला उठना पड़ता है और उसका चित्र खंडित ही नहीं, भोंड़ा भी बन जाता है जिसे वह नवलेखन-कला का आदर्श और अनुभूति का बिंब कह कर अपने गिरोह की शक्ति के पीछे लोगों को मनवाने का भरसक प्रयत्न करता है।

अंततः साहित्य का आधार शाश्वत विशिष्ट और चिर नूतन है। उसे प्राचीन कहना चलचित्तता मात्र है और इसीलिए हमारी मान्यता है कि साहित्य में 'यथार्थ' का कोई मूल्य नहीं; 'यथार्थ से' का महत्व है जिसे दूसरे शब्दों में आदर्श या विशिष्ट ही कहा जा सकता है।

—प्रभुनारायण शर्मा 'सहृदय',
जयपुर।

जुलाई अंक में कहानी विधा पर कई लेख देखे। पढ़ कर एक बार फिर लगा कि हिंदी के आलोचक अपने सीमित दायरे से बाहर नहीं निकल पाते और कभी-कभी कोई चीज़ बिना पढ़े ही उसके बारे में लिखित वक्तव्य दे कर संबद्ध लेखक का अनजाने में नुक़सान कर बैठते हैं। उदाहरण के लिए डॉ० इंद्रनाथ मदान ने कहा है कि 'आधार' के 'सचेतन कहानी' विशेषांक के अनुसार सचेतन कहानीकार नयी कहानी को 'अचेतन' मानते हैं। वास्तविकता यह है कि 'अचेतन' शब्द 'आधार' के उक्त विशेषांक में कहीं नहीं आया है। इसे सचेतन-विरोधी कुछ मित्रों ने गढ़ा और चलाया है। मदान ने उक्त विशेषांक केवल देखा है, पढ़ा नहीं, ऐसा शक इसलिए भी होता है कि पूरे लेख में 'आधार' की किसी कहानी का उल्लेख नहीं है। जिन कहानियों के नाम उन्होंने गिनाये हैं, उनमें से भी अधिकांश आज से प्रायः दस वर्ष पहले की लिखी हुई हैं। इसी प्रकार 'नयी कहानियाँ और कथानक का ह्रास' लेख में भी असंगतियाँ हैं।

—मनहर चौहान,
नयी दिल्ली।

●

'माध्यम' का मई अंक देखा। पुस्तक-समीक्षाओं का स्तर शास्त्रीय नहीं है, ऐसा प्रतीत हुआ। छायावाद के दो आलोचक श्री शांतिप्रिय द्विवेदी एवं श्री गंगाप्रसाद पांडेय की दो आलोचनात्मक कृतियों की समीक्षा श्री विश्वम्भर 'मानव' ने की है। 'मानव' जी ने दोनों आलोचकों के दृष्टिकोण की सही विवेचना नहीं की। 'मानव' जी स्वयं ऐसे आलोचक रहे हैं, जो मूलतः छायावाद पर लिखते रहे हैं, किंतु उक्त समीक्षा-टिप्पणी में वे छायावाद से असंपृक्त से दिखे जैसे कि वे छायावाद से उठ कर आज के युग-बोध के समस्त संदर्भों से परिचित हो गये हैं; जब कि द्विवेदी जी एवं पांडेय जी उनकी जैसी स्थिति नहीं रखते। 'कामायनी' के टीकाकार होने के नाते और 'महादेवी की रहस्य-भावना' एवं 'सुमित्रानंदन पंत' के लेखक होने के नाते मुझे उनमें एक विकास की नयी दिशा दिखी। टीकाकार का जाग्रत अहं भी परिलक्षित हुआ कि श्री पांडेय जी ने उनकी टीका से कुछ सामग्री ले ली है। किंतु टीकाएँ आलोचना के लिए कोई मौलिक विचार तो नहीं देतीं बल्कि उनका उपयोग साधारणतया सामान्य सहायता के लिए ही हुआ करता है।

'मानव' जी की टीका आलोचना के लिए इतनी महत्वपूर्ण है तब उनके संबंध में यह सोचना पड़ेगा कि वे टीकाकार अच्छे हैं अथवा आलोचक।

—विजयकुमार शुक्ल,
जबलपुर।

प्राप्ति-स्वीकार

●●

निम्नलिखित पुस्तकें समीक्षार्थ प्राप्त हुईं

साथी प्रकाशन, सागर

नयी कविता : संस्कार और शिल्प
(रामशंकर त्रिपाठी)

हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

चित्रफलक (अमृत)

कलरव प्रकाशन, इलाहाबाद

संदन (राजेंद्र तिवारी)

साहित्य निकेतन, कानपुर

कुलदेवता की कोठरी (शीला शर्मा)

हिंदी भवन, इलाहाबाद

१. जमींदार का बेटा (दयानाथ झा)
२. बिराज बहू (अनु० दयानाथ झा)
३. कर्मपथ (अनु० दयानाथ झा)
४. चाँदनी का जहर
(नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी)

स्वावलंबन संस्थान, इलाहाबाद

चमकते नजारे (दयानाथ झा)

परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद

धुंध में डूबे हुए (बद्रीनाथ)

कविता प्रकाशन, अलवर

नील जल सोयी परछाइयाँ
(जयसिंह नीरज)

पाही प्रकाशन, सहरसा (बिहार)

पाही आदमी (शालिग्राम)

अभिनव साहित्य प्रकाशन, मुजफ़्फ़रपुर

सागर के गीत (धमकेतु)

त्यागी प्रकाशन, मेरठ

स्वतंत्र राष्ट्रों के संबंध (डॉ० सुशीलचंद्र)

उमा प्रकाशन गृह, ललितपुर (जिला झाँसी)

निमाड़ी और उसका साहित्य
(रामनारायण उपाध्याय)

बुक हाउस, नयी दिल्ली

साहित्य और मनोविज्ञान (देवेंद्र इस्सर)

भारती भंडार, इलाहाबाद

१. औचित्य विमर्श (राममूर्ति त्रिपाठी)
२. राजस्थानी लोककथाएँ, दो भाग
(गोविंद अग्रवाल)

●

टेक्सटाइल मशीनरी कारपोरेशन लिमिटेड

(टेक्समैको)

डाकघर----बेलघरिया, २४ परगना (पश्चिम बंगाल)

अपने देश के सुरक्षा-संघटन को अपनी निष्ठापूर्ण सेवा अर्पित करता है

निम्नांकित पदार्थों के प्रसिद्ध निर्माण-कर्ता

- भारी और हल्की स्ट्रक्चरल्स, ब्रिज स्ट्रक्चरल्स, हैड्रालिक गेट और प्रोजेक्ट्स
- सभी प्रकार के, और विशिष्ट निर्देशन के, मालवाही वैगन
  मशीनों के औज़ार (टूल्स)
- सभी तरह के ब्वायलर वाटर ट्यूब, लंकाशायर, लोको, वर्टिकल वगैरह
- चीनी मिल की मशीनरी, पूरा प्लांट और मशीनों के विभिन्न हिस्से
- टेक्सटाइल मशीनरी, रिंग फ़्रेम्स, कार्डिंग इंजिन, ड्रा फ़्रेम्स, सिम्प्लेक्स मशीन, स्पेयर पार्ट वगैरह, वगैरह।
- भारी और हल्की स्टील कास्टिंग्स—खरीदार के निर्देशन के अनुसार
- ग्रे आयरन कास्टिंग्स, स्टील फ़ोर्जिंग—ख़रीदार के निर्देशन के अनुसार

माल की उत्तमता और ठीक समय पर वितरण की गारंटी

सम्मेलन के अभिनव एवं महत्वपूर्ण प्रकाशन

१	राजभाषा हिन्दी	डा० सेठ गोविन्ददास	२.००
२	हिन्दी भाषा आन्दोलन	सम्पा० श्री लक्ष्मीचंद	९.००
३	हिन्दी आन्दोलन	सम्पा० श्री लक्ष्मीकांत वर्मा	४.५०
४	स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी के संघर्ष का इतिहास	श्री रामगोपाल	६.००
५	दक्खिनी हिंदी का उद्‌भव और विकास	डा० श्रीराम शर्मा	१२.००
६	प्रबोध चंद्रोदय और उसकी हिन्दी परंपरा	डा० सरोज अग्रवाल	१०.००
७	आधुनिक हिन्दी कविता में गीतितत्व	डा० सच्चिदानन्द तिवारी	९.००
८	कबीर और कबीर पंथ	डा० केदारनाथ द्विवेदी	१२.००
९	गढ़वाली लोकसाहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन	श्री मोहनलाल बाबुलकर	८.००
१०	ब्रजभाषा रीतिशास्त्र ग्रंथकोश	श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी	६.५०
११	मार्क्स और गांधी का साम्यदर्शन	श्री नारायण सिंह	१५.००
१२	रस शास्त्र	डा० अत्रिदेव विद्यालंकार	७.००
१३	श्रद्धांजलि विशेषांक	संपा० ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री	८.००
१४	शंकराचार्य का आचार दर्शन	डा० रामानन्द तिवारी	५.००
१५	गीताऽमृत	श्री शिवकुमार मिश्र 'मयूर'	३.००
१६	बुद्धकालीन भारतीय भूगोल	डा० भरतसिंह उपाध्याय	१२.००
१७	पालि साहित्य का इतिहास	डा० भरत सिंह उपाध्याय	१५.००
१८	हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण	डा० किरण कुमारी गुप्ता	१०.००
१९	क्रान्तिकारी तुलसी	श्री नारायण सिंह	१०.००
२०	रस और रसास्वादन	डा० हरद्वारीलाल शर्मा	४.५०
२१	हार [उपन्यास]	पद्मभूषण श्री सुमित्रानंदन पंत	१०.००
२२	कवि कालिदास [नाटक]	श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी	१.२५
२३	विकास [,,]	डा० सेठ गोविन्ददास	१.५०
२४	आधुनिक कवि भाग ६	श्री माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
२५	आधुनिक कवि भाग ७	डा० हरिवंश राय 'बच्चन'	३.००
२६	आधुनिक कवि भाग ८	श्री रामनरेश त्रिपाठी	३.७५
२७	आधुनिक कवि भाग ९	श्री नरेन्द्र शर्मा	३.००
२८	रसखान रत्नावली	डा० भवानी शंकर याज्ञिक	५.००
२९	शिशुपालवध	अनु० श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री	८.००
३०	प्रागनकृत भँवरगीत	सम्पा० हरिमोहन मालवीय	१.५०
३१	बालचन्द बत्तीसी	सम्पा० हरिमोहन मालवीय	१.५०
३२	कुतुबन कृत मृगावती	डा० शिवगोपाल मिश्र	६.००

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

ज्ञानोदय

आधुनिक भावबोध, कला-संचेतना और नवीनता का प्रतिनिधि

संपादक : लक्ष्मीचन्द्र जैन, रमेश बक्षी

हमारा सितंबर अंक

- ब्रह्मराक्षस का शिष्य : मुक्तिबोध-स्मृति—श्रीकान्त वर्मा। छोटेलाल दीक्षित, नरेन्द्रदेव शर्मा के लेख भी।
- 'आँगन के पार द्वार' पर कवि अज्ञेय से भेंट—रणवीर रांग्रा
- एक भारतीय मूल्यांकन : एक आंग्ल कवि—राजेन्द्र माथुर
- ज़िंदगी और रेत की समानता : कोबो एबे—महेन्द्र कुलश्रेष्ठ
- कहानियाँ : इक़बाल मजीद, लक्ष्मीकान्त वर्मा, परेश, कैलाश नारद, महीप सिंह, सुधा आरोड़ा, अशोक शुक्ल
- कविताएं : जगदीश गुप्त, परमानन्द श्रीवास्तव, कैलाश वाजपेयी, श्रीकान्त जोशी, रवीन्द्र भ्रमर, श्रीहर्ष, हरीश भादानी, किरण जैन।
- घनवाद से अमूर्तवाद तक : विजय रेंचन
- एक और देश, नीग्रो कविताएँ—इन्दुकान्त शुक्ल
- अन्य सभी स्तंभ और बदला हुआ अंदाज़

एक प्रति : एक रुपया :: वार्षिक : दस रुपये

पूजा और दीपावली के अवसर पर नवंबर में

'दाम्पत्य विशेषांक'

आज की सबसे बड़ी समस्या पर सबसे अधिक सुलझी हुई भेंट। पृष्ठ ४५० : मूल्य तीन रुपये

ज्ञानोदय

सम्पादकीय : ९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता—२७
वितरण कार्यालय : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी
एकमात्र वितरक
बैनेट कोलमैन एण्ड कंपनी लि०, पो० बा० २१३, बंबई-१।

[illegible] ओर से भेंट

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

अक्तूबर १९६५
वर्ष २ : अंक ६
पूर्णांक : १५

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
श्रीराम वर्मा

संपादकीय पता
पोस्ट बाक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

लेख

वर्तमान युद्ध-संकट और साहित्यकार का दायित्व ३ अमृत राय
साहित्य और साहित्यकार ७ सेठ गोविन्ददास
हिंदी का प्रचार और उसका सुधार ११ ना० राम सुब्रह्मण्यन
उर्दू की नयी कविता १५ अमीक़ हनफ़ी
सर्जन-प्रक्रिया का मानवीय धरातल ३२ रवि अग्रवाल
नयी हिंदी कविता ३८ श्यामसुंदर घोष
नयी कविता का भावबोध ४७ विश्वनाथ त्रिपाठी
संपाती के बेटे ५४ कुबेरनाथ राय

कविता

दिग्दर्शी शिशिराकाश नवल २५ 'अंचल'
दो कविताएँ २९ राबिन शा 'पुष्प'
रेती का एक ढेर ३० आशारानी व्होरा
बड़ा बुरा मौसम है ३० शेफाली
निवेदन ३१ राजेंद्र एस० प्रदीप
शब्दः है ३१ सुदीपकुमार बनर्जी

कहानी

नये-पुराने माँ-बाप २६ गोविंद मिश्र
तरकश के तीर ४२ रत्नलाल शर्मा

श्रद्धांजलि

स्व० श्री ज़हूरबख्श ६० नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी
अमर शहीद विद्यार्थीजो ६२ रामगोविन्द त्रिवेदी

माध्यम

अंक १९ में :

- ओमप्रकाश दीपक का विचारोत्तेजक लेख तथा 'उर्दू की नयी कविता' अमीक़ हनफ़ी का लेख—गतांक से आगे
- 'लेखनी का धनी यशपाल'—रणवीर रांग्रा द्वारा यशपाल से भेंट
- हरिमोहन झा की मैथिली कहानी तथा श्याम परमार की कहानी
- कविताएँ, समीक्षाएँ, 'विविधा', तथा 'प्रतिपत्तिका'
- डॉ० इन्द्रनाथ मदान द्वारा 'झूठा सच' की विवेचना

सहवर्ती साहित्य

कन्नड़ भाषा का नाट्य-साहित्य ६७ सोमशेखर 'सोम'
अक्कमहादेवी के पद ७० एस० केशवमूर्ति
गंगावतरण ७३ दा० रा० बेंद्रे
झरना की चाह ७४ जी० एस० शिवरुद्रप्प
स्व० पोतदार श्रीनिवास राव ७६ स्व० द० बा० कुलकर्णी

विवेचना

'भूले-बिसरे चित्र' ७९ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
गोष्ठी-प्रसंग ९२ विवेचक

समीक्षाएँ

भाषा और भाषिकी ९६ सिद्धेश्वर वर्मा
झाड़-फानूस ९९ शिवानी
चित्रफलक १०० गंगाप्रसाद मिश्र

पत्र-प्रतिक्रियाएँ १०३
प्राप्ति-स्वीकार १०६

● ●

आवरण-सज्जा : दीनानाथ सरोदे

अमृत राय

वर्तमान युद्ध-संकट और साहित्यकार का दायित्व

युद्ध और विग्रह की स्थिति किसी को प्रिय नहीं होती। युद्धरत सैनिक भी, जब कि उसके चारों तरफ़ दिन-रात बमगोले फूटते रहते हैं और कोई भी क्षण उसके जीवन का अंतिम क्षण हो सकता है, आँख लगने पर बहुत बार शांति का ही स्वप्न देखता है।

उसी तरह साहित्यकार ने भी अनादि काल से शांति का ही स्वप्न देखा है क्योंकि शांति जीवन का ही दूसरा नाम है और जीवनधर्मिता श्रेष्ठ साहित्य का सहज गुण है। किसी भी देश-काल का गंभीर साहित्य उठा कर देखिए, आपको उसमें यह गुण मिलेगा। यहाँ तक कि नीत्शे और दास्तावेस्की या सार्त्र और कामू और काफ़्का जैसे तथाकथित अस्तित्ववादी या आउटसाइडर साहित्यकारों के यहाँ भी जिनके साहित्य में इधर कुछ लोगों को विशेष रूप से जीवन के निषेध या मनुष्य की विकृति और विकलांगता का मूल स्वर सुनायी पड़ता रहा है, वैसी ही जीवनधर्मिता या मानवधर्मिता मिलती है, लेकिन उसके लिए ज़रा गहरे उतरने की ज़रूरत है, कम से कम इतना कि नज़र शिल्प के आवरण में ही फँस कर न रह जाय बल्कि उसे भेद कर कथ्य की आत्मा को भी देख सके; पहचान सके। तब उनके जीवन और साहित्य दोनों से हमारी बात का साक्ष्य मिल जायगा और यह बात खुलेगी कि जाने-माने मानवतावादी साहित्य की धारा और इस साहित्य में न तो (सर्जक के स्तर पर) प्रेरणा के स्रोत का कोई मौलिक अंतर है और न (भावक के स्तर पर) रसबोध का। जो अंतर है वह एक ओर कृती साहित्यकारों की विविधरूपा प्रतिभा का अंतर है और दूसरी ओर जीवन के बदलते हुए संदर्भों का। यह अंतर ऐसा नहीं है जो इस साहित्य को उस मानवतावादी साहित्य-परंपरा से बिल्कुल अलग फेंक देता हो—उस साहित्य-परंपरा का क्षेत्र यों ही इतना विराट है, यों ही उसके इतने रूप और स्तर और आयाम हैं कि यह साहित्य भी उसी परंपरा में अपना स्थान पा लेता है। अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं कि इस साहित्य को अपने भीतर ले कर वह परंपरा और भी समृद्ध हो जाती है; मानवतावाद की संज्ञा में नया कुछ अर्थ जुड़ जाता है।

लेकिन ऐसा ही कुछ नया तो उसके इतिहास में हर महान कवि और द्रष्टा ने उसमें जोड़ा है। इन महान साहित्यकारों के माध्यम से आने वाला अनास्था या कठिन नैराश्य का स्वर या मनुष्य के विकारों का निर्मम साहसी चित्रण भी उसी प्रकार का एक योगदान है, भले ऊपर से देखने पर वह कुछ अलग सा लगे। वस्तुतः उस अनास्था और कठिन नैराश्य के पीछे भी कोई

बड़ा मानव-स्वप्न है जिसकी यह जीवन के कठिन यथार्थ से चोट खा कर तिलमिलायी हुई एक प्रतिक्रिया है या फिर वह एक मनीषी की गंभीर वाणी है जो जीवन के कठोर यथार्थ पर बल दे कर कहना चाहता है कि इस कड़ी धरती को पहले तोड़ो और खूब गहरे जोतो, तब कहीं तुम्हारे स्वप्न का बिरवा उसमें लग पायेगा। जो भी बात हो, इतना स्पष्ट है कि काफ़्का के यहाँ भी, जिससे अधिक गहरा नैराश्य का स्वर शायद दूसरे किसी आधुनिक साहित्यकार में नहीं मिलता, अनास्था किसी बड़े जीवन-स्वप्न के न होने की स्थिति का नाम नहीं बल्कि उस स्वप्न के साकार न होने की मार्मिक पीड़ा का नाम है। यही उसकी पीड़ा है जो उसके पाठक के मन को भी जा कर मथने लगती है। उस पीड़ा का घनत्व—और यह बात कामू, दास्तावेस्की आदि सभी समानधर्मा साहित्यकारों के लिए ठीक है—दूसरे शब्दों में उस बड़े जीवन-स्वप्न या मानव-स्वप्न के घनत्व का ही संकेत देता है जिससे उनका सर्जक मन आंदोलित था और जिसको ही उन्होंने व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति दी है।

इस तरह स्पष्ट है कि साहित्यकार प्रकृत्या जीवनधर्मी होता है; मानवधर्मी होता है; शांतिकामी होता है। युद्ध की विषय-वस्तु पर आज तक का सबसे महान उपन्यास 'आल क्वायेट ऑन द वेस्टर्न फ़्रंट' भी मूलतः शांति की दुर्दम लालसा का ही उपन्यास है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। उच्चतर जीवन-मूल्यों की सृष्टि के लिए यही उसकी आंतरिक माँग होती है। और फिर अशांत वातावरण में वह काम भी नहीं कर सकता क्योंकि उसे यों ही अपने भीतर की काफ़ी अशांति झेलनी पड़ती है, अपने सर्जक मन की अशांति। शांत परिवेश में बैठ कर वह अपने से जूझना चाहता है। यही उसका स्वभाव है।

लेकिन जब ऐसा कोई संकट सामने आ जाता है, जिसमें से हम आज गुज़र रहे हैं, तब साहित्यकार भी अपनी शांति का पल्ला पकड़ कर अलग नहीं बैठा रह सकता। एक तो इसलिए कि अगर वह बैठना चाहे भी तो नहीं बैठ सकता क्योंकि आज का युद्ध अब वह पहले का युद्ध नहीं है जिसमें दूर कहीं खुले मैदानों में या खाई-खंदकों में दो देशों के पेशेवर सिपाही आपस में लड़ कर मामले को निपटा लिया करते थे। आज का युद्ध समग्र युद्ध है जिसमें औरत-मर्द, बच्चे-बूढ़े-जवान, सैनिक-असैनिक, सबको समान रूप से अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार अंश ग्रहण करना पड़ता है। संपूर्ण राष्ट्र के मनोबल की अग्नि-परीक्षा होती है, जो अंततः देश की अर्थनीति, समाजनीति, राजनीति और संस्कृति की ही अग्नि-परीक्षा होती है।

आज ऐसा ही गंभीर समय हमारे लिए उपस्थित है। और हमें साहित्यकार के नाते, बुद्धिजीवी के नाते अपना कर्तव्य समझना है, अपनी भूमिका समझनी है। कर्तव्य का बोध नैतिकता-बोध में से ही आकार ग्रहण करता है और शक्ति पाता है। अतः हमारे लिए यह समझ लेना महत्वपूर्ण है कि इस युद्ध में सत्य और न्याय की दृष्टि से हमारी स्थिति कैसी है।

हमने पाकिस्तान पर (या दूसरे किसी देश पर) विस्तारवादी युद्ध किया होता तो स्थिति बिल्कुल दूसरी होती। ऐसे युद्ध में सहयोग करना अन्याय के साथ सहयोग करना होता। इतना ही नहीं, वैसे युद्ध में हमारे नैतिकता-बोध की माँग होती कि हम उसका विरोध करें, भले इसके लिए हमें कुछ भी क़ीमत चुकानी पड़े—उसी तरह जैसे सार्त्र ने और कामू ने अल्जीरिया को परतंत्र

बनाये रखने के लिए फ़्रांस के उपनिवेशवादी युद्ध का विरोध किया। या कि जैसे आना ज़ेगर्स और आर्नल्ड ज़्वाइग जैसे जर्मन लेखकों ने हिटलर के विस्तारवादी-साम्राज्यवादी युद्ध का विरोध किया। लेकिन हमारे यहाँ स्थिति बिल्कुल उलटी है। हमने पाकिस्तान पर हमला नहीं किया, पाकिस्तान ने हमारे ऊपर हमला किया और हम अपनी देश-रक्षा के लिए, अपनी प्रादेशिक अखंडता और अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ रहे हैं। काश्मीर के सवाल पर, जिसका बहाना बना कर पाकिस्तान ने हमारे ऊपर यह हमला किया, हमारी स्थिति दुनिया के सामने बिल्कुल साफ़ है, और जो कुछ धुंध रही भी होगी वह पिछले डेढ़ महीने के इस अत्यंत अशांत और उपद्रवी तत्वों के लिए अत्यंत सुविधाजनक समय में भी काश्मीरियों के सहज भारतप्रेमी, पाकिस्तान-विरोधी आचरण से स्पष्ट हो गयी।

तो भी अगर हिंदुस्तान मतगणना की पाकिस्तानी माँग को मानने से क़तई इन्कार करता है तो इसलिए नहीं कि उसे उस मतगणना के अपने विरुद्ध जाने का भय है बल्कि इसलिए कि यह एक बहुत ग़लत सिद्धांत को स्वीकृति देना होगा जिसके बहुत भयानक नतीजे हमारे धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के लिए हो सकते हैं। जब तक हम पाकिस्तान के इस्लामी राज्य के मुक़ावले में हिंदुस्तान को हिंदू राज्य बनाने का ही निश्चय न कर लें, जिसकी कल्पना भी हमारे लिए गर्हित है, तब तक हम पाकिस्तान की इस माँग को कभी स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि अपने वर्तमान रूप में यह हमारे राष्ट्र के लिए जीवन-मरण का प्रश्न है। इस माँग को एक बार स्वीकृति दे कर हम हमेशा के लिए पाकिस्तान का रास्ता खोल देंगे कि वह इस देश के मुसलमानों की झूठी हिमायत का बाना ओढ़ कर जब जी चाहे हमारे सर पर अपनी पिस्तौल ताने रहे।

हमारे नैतिक पक्ष की यही प्रबलता पाकिस्तान के बर्बर आततायियों के विरुद्ध हमें वह अतिरिक्त नैतिक शक्ति दे सकी जो उनके हथियारों पर भारी पड़ी। सच्चे अर्थों में देश-रक्षा का हमारा यह संग्राम अंधकार की शक्तियों के खिलाफ एक न्याययुद्ध है जिसमें हम अपनी जीवन-प्रणाली की रक्षा के साथ-साथ अपने उच्चतर जीवन-मूल्यों की भी रक्षा कर रहे हैं, और अंत तक इसी रूप में हमें इसको लड़ना है। अब प्रश्न है कि हमारे योगदान का इसमें क्या स्वरूप होगा?

सबसे पहली बात जो मुझे इस संबंध में ज़ोर दे कर कहने की लगती है, वह यह है कि हम कोरे साहित्यकार नहीं हैं : हम अपने स्वतंत्र देश के नागरिक भी हैं। उसकी स्वतंत्रता की रक्षा का अगर ज़्यादा नहीं तो कम से कम उतना दायित्व हमारा भी है जितना देश के किसी अन्य नागरिक का। इस बात को इस तरह ज़ोर दे कर कहने की ज़रूरत इसलिए पड़ती है कि पिछले दिनों हमारे साहित्य में कुछ लोगों ने इस प्रवृत्ति का बड़े ज़ोर से प्रचार किया है कि साहित्यकार एक ऐसा विशिष्ट प्राणी है जिसका कोई सामाजिक दायित्व नहीं है। उदाहरण के लिए, पिछले चीनी आक्रमण के समय जब एक जाने-माने भारतीय चित्रकार से पूछा गया कि चीन और हिंदुस्तान की लड़ाई के बारे में आपका क्या ख़्याल है तो उन्होंने बड़ी शान से जवाब दिया कि मुझे चीन और हिंदुस्तान की लड़ाई की तरफ़ देखने की फ़ुर्सत नहीं, मैं तो अपने फलक पर हरे और लाल (या किन्हीं दो या चार) रंगों की आपस की लड़ाई ही देखता रहता हूँ!

सुनने में यह बात कला-वैदग्ध्य के एक अभूतपूर्व शिखर जैसी जान पड़ती है लेकिन

सच पूछिए तो इससे उस चित्रकार की अत्यंत कदर्य मनःस्थिति की ही सूचना मिलती है, और मुझे बरबस इस शताब्दी के सबसे महान चित्रकार पिकासो की याद आ जाती है जो पेरिस पर हिटलर का क़ब्ज़ा हो जाने के बाद भी साहसपूर्वक वहीं बना रहा और पेरिस के मुक्ति-आंदोलन में गुप्त रूप से योग देता रहा, जिसकी सज़ा मौत थी। उसी तरह सार्त्र और एलुआर गुप्त पर्चे छाप कर लोगों में प्रचार करते फिरते थे और वैज्ञानिक जोलियो क्यूरी, जिसे आगे चल कर नोबुल पुरस्कार भी मिला, जंगल में रह कर मुक्ति-आंदोलन के लिए बम बनाता था।

मैं तो विश्वास नहीं करना चाहता कि ऐसे आपत्काल में भी हमारे यहाँ उस प्रकार के कलावादी होंगे, लेकिन अगर हैं तो यह देश का सचमुच बड़ा दुर्भाग्य है। ख़ुशी इतनी ही है कि ऐसों की संख्या बहुत थोड़ी है। बड़ी संख्या उन्हीं की है जिनकी रगों में गर्म ताज़ा ख़ून है और जो अपनी थोथी कला के दंभ में साधारण नागरिक के नाते, देश के प्रति अपने दायित्व से मुँह नहीं चुराते फिरते।

हमारे काम, देश-रक्षा के इस यज्ञ में, तीन रूपों में या तीन स्तरों पर हो सकते हैं:

एक तो वे कार्य हैं जिनकी अपेक्षा सभी नागरिकों से की जाती है। उनके विस्तार में जाने की ज़रूरत नहीं है। अनंत काम हैं, जो भी और जितना भी हम अपनी विशेष रुचि या क्षमता के अनुसार कर सकें। साहित्यकार के रूप में भी हम उससे लाभान्वित होंगे; हमारा जीवन-अनुभव बढ़ेगा। हैमिंग्वे ने पिछले महायुद्ध में एंबुलेंस गाड़ियों के ड्राइवर का काम किया था।

दूसरा काम वह है जो हम पत्रकार के रूप में कर सकते हैं। साहित्यकार को पत्रकार का काम करने के लिए कहना उसकी मर्यादा को गिराना नहीं है। स्टेनबेक और एहरेनबर्ग दोनों ही पिछले महायुद्ध में मोर्चे पर संवाददाता का काम कर रहे थे। इस संकट की घड़ी में हमें जितनी तरह से जितने रूपों में संभव हो, अपनी लेखनी का उपयोग कर के अधिक से अधिक लोगों तक अपनी बात पहुँचानी है और पहुँचाते रहनी है। मन की शक्ति का स्रोत चेतना के धरातल में है। इस बात को ध्यान में रखते हुए युद्ध से संबद्ध अनेकानेक विषयों पर स्वस्थ, सामयिक और पौष्टिक मानसिक आहार जुटाने का काम विशेष रूप से हमारा है। रेडियो भी एक बहुत बड़ा माध्यम है। गाँव-गाँव में रेडियो हो गये हैं जिन्हें गाँव वाले बड़े चाव से सुनते हैं, खासकर ऐसे समय में। अधिकारियों का सहयोग मिले तो इस माध्यम का भी प्रभावशाली उपयोग किया जा सकता है। यह भी विशेष रूप से हमारे ही करने का काम है।

और सबसे अंत में हमारे सर्जनशील साहित्य की बात आती है जिसका स्रष्टा, विधायक, नियामक हमारा सर्जक मन है। इसमें कोई योजना नहीं बनायी जा सकती। यह सबके अपने समझने और करने की चीज़ है। हाँ, आपस के विचार-विमर्श से हमें अपने चिंतन और विवेक को दीप्त रखने में अवश्य सहायता मिल सकती है, और उसी में से हम अपनी ऐसी सृष्टि के बीज पा सकते हैं जो हमारी उन संवेदनाओं और जीवन-मूल्यों को वाणी दें जो हमारे लिए स्थायी महत्व रखती हैं और हमारे सर्जक मन का संबल हैं और जिनकी रक्षा के लिए ही आज हमको तलवार उठानी पड़ी।

——'धूप-छाँह', १८, हेस्टिंग्स रोड, इलाहाबाद।

सेठ गोविन्ददास

साहित्य और साहित्यकार

साहित्य शब्द बड़ा व्यापक शब्द है, मानव अपनी ज्ञानशक्ति के द्वारा जो कुछ उपार्जित करता है वह सब साहित्य में समाहित हो जाता है। परंतु यहाँ हम साहित्य शब्द का अर्थ संकुचित रूप में ले रहे हैं। जिस साहित्य का इस लेख में उल्लेख है वह ललित साहित्य है। ऐसा साहित्य यदि अक्षरों में लिखा जाता है अथवा किसी वाद्ययंत्र के स्वरों में स्फुरित होता है अथवा किसी नृत्य या नाटक में प्रदर्शित किया जाता है तो वह सब भी इस ललित साहित्य के अंतर्गत आ जाता है।

मानव इस सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी अपनी ज्ञानशक्ति के कारण है। अन्य प्राणियों में विचार करने की वह शक्ति नहीं जो मनुष्य में है। यह विचार की शक्ति जगत में सबसे बड़ी शक्ति है और एक व्यक्ति के अन्तःकरण को दूसरे व्यक्ति के अन्तःकरण से संबंधित करने का विचार ही माध्यम है। किसी एक ही विचार का निरंतर संस्कार क्रमशः भाव में प्रविष्ट हो जाता है और जो भाव बन जाते हैं वे भी चरित्र का निर्माण करते हैं। किसी भी मनुष्य के चरित्र में जो कुछ प्रकट होता है उसकी जड़ें भाव में होती हैं और जो भाव में दिखायी पड़ता है उसके मूल प्रभाव विचार से आते हैं।

ललित साहित्य कला के अंतर्गत आता है। कला के संबंध में दो पक्ष हैं; एक पक्ष का मत है कला के लिए कला; दूसरा पक्ष यह नहीं मानता। वह कला को व्यष्टि और समष्टि के सत जीवन का साधन मानता है। जो बात अन्य कलाओं के संबंध में है वही ललित साहित्य के संबंध में भी। यदि ललित साहित्य का कार्य व्यष्टि और समष्टि के सत जीवन का निर्माण है तो वह प्रत्यक्ष रूप से तो उपदेश का कार्य नहीं कर सकता, परंतु परोक्ष रूप से व्यष्टि और समष्टि में ऐसे विचारों का प्रादुर्भाव करता है जो कल्याणकारी हों। ऐसा साहित्य यदि प्रत्यक्ष रूप से मनोरंजन करते हुए परोक्ष रूप से भी व्यष्टि और समष्टि में इस प्रकार के विचारों को उद्दीप्त नहीं कर सकता तो ऐसे ललित साहित्य का मूल्य मेरी दृष्टि में सामयिक से अधिक कुछ नहीं होगा। ललित साहित्य भी शाश्वत वही हो पाता है जिससे कल्याणकारी विचार आंदोलित होते हैं, उनके अनुसार उनमें परिवर्तन होता रहता है, भावनाएँ बनती हैं जो जीवन को कल्याणकारी दिशा में ले जाती हैं।

हम देखते हैं कि इस समय दो प्रकार का साहित्य-सर्जन हो रहा है, एक कुछ उपदेश देता है और प्रचार करता है और दूसरा सहज वृत्तियों से प्रेरित वासनाओं को उत्पन्न करता है। पहले

प्रकार के साहित्यकार शुभ की चर्चा करते हैं, और शुभ को सुंदर के ऊपर प्रतिष्ठा देते हैं, उनकी बातों से ध्वनित होता है कि वे साहित्य को नीति का प्रचार बनाये रखना चाहते हैं, उनके विरोध में जो सुंदर के उपासक हैं वे जाने-अनजाने अनीति के समर्थक हो जाते हैं। ललित साहित्य प्रचार नहीं है, न किसी सिद्धांत का, न किसी नीति का, और जब भी ऐसा साहित्य प्रचार का कार्य करेगा तो वह ललित साहित्य नहीं रह जायगा। क्योंकि सचेतन प्रचार होते ही उसकी सहजता, उसका अंतःस्फुरण सभी खो जाता है। ऐसा साहित्य यांत्रिक हो जाता है। इसके विरोध में जो साहित्य की सहजता के पक्षपाती हैं, उनका साहित्य केवल वासनाओं का अनुचर हो कर रह जाता है क्योंकि साधारण मनुष्य मात्र में वासना सहज होती है। साहित्य की सहजता का यथार्थ अर्थ है बिना किसी पूर्वनिर्धारित सिद्धांतों, नैतिक आदर्शों आदि को ध्यान में रखे जो सहज स्फूर्त हो ऐसा साहित्य। ये दो प्रवृत्तियाँ आधुनिक काल में साहित्य-रचना की प्रेरक हैं और यही द्वंद्व का कारण है।

मनुष्य के भीतर बहुत सी वासनाओं के अचेतन प्रवाह हैं। विवेक का नियंत्रण न हो तो वे सब सहज प्रादुर्भूत होंगी। अगर साहित्य को इस तरह केवल सहज पर छोड़ दिया जाय तो सारा साहित्य कामुकतापूर्ण हो जायगा क्योंकि 'काम' ही मनुष्य की सबसे अधिक गहरी वासना और सबसे अधिक तीव्र प्रवृत्ति है। ऐसा साहित्य जाने-अनजाने अनीति का प्रचारक बन जाता है, जो नीति का नहीं प्रवृत्ति का प्रचार है। साहित्य की इस तथाकथित सहजता के कारण ही फ़्रायड कला के लिए कला वाले पक्ष के आधुनिक ललित साहित्यकार का आधार और मापदंड बन गया है। और उनकी प्रामाणिकता भी स्वयंसिद्ध हो गयी है। चूँकि फ़्रायड के मनोविज्ञान के अनुसार संपूर्ण सृष्टि के परिचालन का केंद्र काम है, वह इसकी उपेक्षा करके नहीं चलता, उसका मत है कि काम के अभाव में मानव-मन में विकृतियाँ एवं कुंठाएँ उत्पन्न होती हैं, कुंठाएँ सूखे हुए ज़ुक़ाम की तरह, विकृतियों की भाँति मस्तिष्क में संक्रामक रोगों के कीटाणुओं की उत्पत्ति का निमित्त बनती हैं, और अनंतर मनुष्य वासनाओं के बीच घुट-घुट कर ह्रासोन्मुखी हो जाता है। इसीलिए फ़्रायड कुंठाओं की अभिव्यक्ति का आग्रह लेकर चलता है। और वह कुंठाएँ न उत्पन्न होने देने में मानव उत्कर्ष की संभावनाओं को स्वीकार करता है। दुर्भाग्य से हमारा आधुनिक साहित्य जो या तो काम-साहित्य है या प्रचार-साहित्य, उसका आधार भी यही बन पड़ा है। परिणाम यह हुआ है कि वासनाओं की तृप्ति की इस दौड़ में अतृप्ति का सागर चारों ओर अपना प्रसार बढ़ा रहा है। जो प्रचार-साहित्य है उसके आधार मार्क्स हैं और जो काम-साहित्य है उसके आधार फ़्रायड। साहित्य-जगत में इन दो नामों की निरंतर चर्चा आकस्मिक नहीं है, इन दो पक्षों में सामान्यतः आज वे सारे ललित साहित्य, उसकी प्रवृत्तियों और परिणामों को देखा जा सकता है।

सच्चे अर्थों में ललित साहित्य की सहजता और शुभ सत्यरूपी सिक्के के दो पहलू हैं; वे विरोधी नहीं परिपूरक हैं ; गहरे में उतरने पर वस्तुतः वे एक ही हैं। सत्य अपने स्वयं में पूर्ण होता है, जीवन और जगत के बीच जो भी विभ्रम की स्थितियाँ हैं उनमें ही मनुष्य की खोज का परिणाम है—सत्य। सत्य के संबंध में अनेक मत हैं, किंतु जिस वस्तु का अस्तित्व हुआ करता है उसी के संबंध में की गयी प्रतीति सत्य कही जायगी। जो है, जिसका होने का भ्रम है उसके संबंध

में मनुष्य की समस्त इच्छाएँ उसकी जिज्ञासा ज्ञात करने के लिए केंद्रित हो जाती हैं, सत्य अपने में मानवीय है, इसी कारण उसका समस्त चेतना-बोध कल्याण तथा मानवता से संबद्ध है। शिव की परिकल्पना की भूमि सत्य है, सत्य के अस्तित्व-बोध के अभाव में शिव संभव नहीं। सत्य और शिव का जो मूर्त स्वरूप होगा वह निश्चित ही सुंदर होगा। हमारा सत्य और शिव यदि निराकार के निकट है तो सुंदर साकार के निकट है। दूसरे शब्दों में सत्य और शिव गुण है जब कि सुंदर उसका बाह्य उपादान रूप है। तीनों की समन्विति में कला सप्राण हो जाती है। फिर जो शुभ होगा वह सुंदर होगा ही और जो शुभ और सुंदर है वह शिव भी होगा और जो सुंदर है शुभ है एवं शिव है; उसके अशुभ होने की कोई संभावना नहीं हो सकती। क्योंकि अशुभ से अधिक और कोई कुरूपता और फूहड़ता है ही नहीं।

हमारे यहाँ निर्गुण और निराकार ब्रह्म को सच्चिदानंद सत, चित और आनंद रूप कहा गया है। सत का अर्थ अनंत आकाश की भाँति भूत, वर्तमान और भविष्य सर्वकाल रहने वाला त्रिकालज्ञ, चित का मतलब तीनों कालों का ज्ञाता त्रिकालदर्शी और आनंद काल-गति से रहित, हर्ष-शोक आदि द्वंद्व से अप्रभावित शांत, शुद्ध, बुद्ध और समदर्शी। यही हमारे इष्ट रूप का, सत्य रूप का और ब्रह्म रूप का भी दर्शन है। सत्य के इसी स्वरूप की सुंदरता और उसके सौंदर्य की गणना में कवि की, कलाकार की और साहित्यकार की कल्पना, तूलिका और लेखनी ने त्रिवेणी रूप में अतीत काल से ही खोज की है, पर उसके सौंदर्य-बोध को प्राप्त नहीं कर सकीं। उसका सौंदर्य आकाशमंडल में उदित सूर्य, चंद्र, ग्रह-नक्षत्रों से, पृथ्वी पर पर्वतों, सागर, सरिता, संगमों और सरोवरों से तथा विविध प्रकार की प्राकृतिक छवि-छटा एवं अन्य उद्भिज सृष्टि तथा अनंत जीवधारियों से श्रेष्ठ है, उसका मुक़ाबला न आज तक कोई कर सका है, न कर सकेगा, वह इतना शुभ, समुज्वल और ऐसा सौंदर्य-सम्राट है कि उसकी परिकल्पना चरम सौंदर्य में ही की जा सकती है।

लेकिन ऐसे शुभ और सौंदर्यपूर्ण सत्य के अनुभव के लिए साहित्यकार को साहित्य का ही नहीं, स्वयं का भी सर्जन करना होगा। मैं उस मत का अनुयायी नहीं, जो कहता है कि भ्रष्ट से भ्रष्ट साहित्यकार भी उत्कृष्ट से उत्कृष्ट सर्जन कर सकता है। यह सही है कि कीचड़ से ही कमल की उत्पत्ति होती है किंतु सरोवर की जल-सतह पर उठने के पूर्व उसे कीचड़ से उठना पड़ता है और उठने के इस क्रम में उसे निर्लेपता से उठना पड़ता है; कीचड़ को साथ लेकर नहीं। तभी कमल यह सौंदर्य पाता है; कमल कमल बनता है। इसी प्रकार साहित्यकार को वासनाओं, कुंठाओं और राग-द्वेषादि के दल-दल से ऊपर उठना होगा, तभी यह साहित्य के सत पक्ष का सर्जक साहित्यकार बन सकेगा। क्योंकि साहित्यकार से जो निकलता है वह उसके स्वयं के व्यक्तित्व के ऊपर का नहीं हो सकता और स्वाभाविक है साहित्यकार का व्यक्तित्व जिस स्तर का होगा उसका साहित्य भी उसी स्तर तक प्रभावी होगा। दूसरे शब्दों में वस्तुतः साहित्यकार ही अपना साहित्य बन जाता है। किसी साहित्य को यदि समझना है तो उसकी मूल जड़ों को साहित्यकार में खोजना होगा। किसी भी साहित्य में उसके सर्जक साहित्यकार के खुले हुए अन्तःकरण की सहज प्रतिच्छवि देखी जा सकती है। सृष्टि कभी स्रष्टा से ऊपर नहीं उठती। इसीलिए

हमारे लिए विचारणीय है कि सृष्टि नहीं स्रष्टा ही होता है। शुभ साहित्य का जन्म और ऐसे सर्जन की संभावना, जिसमें सौंदर्य और शुभ में विरोध न हो, तभी संभव है जब उनका स्रष्टा अचेतन वासनाओं से ऊपर उठे और अतिचेतन मानस से संबंधित हो। एक सहजता अचेतन मन की है और एक सहजता अतिचेतन मन की भी। दूसरे शब्दों में एक सहजता वासनाओं की है और एक सहज विवेक की। दोनों के बीच में बुद्धि है जो सहज नहीं तर्कशीला है। प्रचार-साहित्य बुद्धि से पैदा होता है तथा कथित सहज साहित्य अचेतन वासनाओं से परंतु शाश्वत ललित साहित्य अतिचेतन विवेक से उत्पन्न होता है।

अतिचेतन मानस से आविर्भूत ललित साहित्य में सौंदर्य और शुभ एक होंगे। बुद्धि से निर्मित ऐसे साहित्य में शुभ का स्वीकार और शुभ के विरोध में पड़ने वाले साहित्य का अस्वीकार होगा। अचेतन के निर्मित साहित्य में सुंदर का स्वीकार और सुंदर के विरोध में पड़ने वाले शुभ का अस्वीकार। इस प्रकार शुभ और सुंदर की यह असंगति बनी रहेगी। विवेक के क्षेत्र में पहुँच कर ही ललित साहित्य पूर्णता को उपलब्ध करता है वहीं उसे अखंडता मिलती है और वहीं उसके शुभ और सुंदर का द्वंद्व समाप्त होता है। सच्चे ललित साहित्य का जन्म वहीं है, जहाँ शुभ और सुंदर में द्वंद्व नहीं। जहाँ वे एक हैं, इस अद्वैत में जिसका जन्म होता है, उसका आधार सत्य है और ऐसा ललित साहित्य प्रत्यक्ष में मनोरंजन करते हुए परोक्ष में ऐसी भावनाओं को प्रादुर्भूत करता है जो व्यष्टि और समष्टि के जीवन के लिए काल-सीमा से परे कल्याणकारी है।[१]

—अध्यक्ष, प्रथम शासन निकाय,
हिंदी साहित्य सम्मेलन,
प्रयाग।

---

[१] आचार्य रजनीश जी से हुई एक चर्चा के आधार पर।

ना० राम सुब्रह्मण्यन

हिंदी का प्रचार और उसका सुधार

भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से कोई भी भाषा कठिन नहीं है। क्योंकि भाषा समाज की संपत्ति है। एक भाषाभाषी को दूसरी भाषा इसीलिए कठिन मालूम पड़ती है कि उस भाषा के साथ उसका घनिष्ठ संबंध नहीं रहा। दूसरी बात यह है कि उसकी मातृभाषा में, अन्य भाषा की कुछ ध्वनियाँ नहीं हैं, या व्याकरण में भिन्नता है। लेकिन क्या यह संभव है कि मनुष्य बिना परिश्रम के, नयी भाषा सीख ले? उत्तर है 'अवश्य'। भाग्यवश, हिंदीतर-भाषियों को हिंदी सीखने में उतनी कठिनाइयाँ नहीं हैं जितनी चीनी या जापानी सीखने में हो सकती हैं। प्रश्न है कि ऐसी हालत में हिंदी का विरोध क्यों होता है? दो कारणों से यह विरोध होता है। पहला है, अवश्यकतानुसार हिंदी में सरलता नहीं है। दूसरा, हिंदी का प्रचार असंतोषजनक है और हिंदीतर भाषाभाषी हिंदी भाषा-भाषियों के अधीन होने की संभावना से डरते हैं। यह भय निरर्थक है: ऐसा सिद्ध करना, हिंदी भाषियों का कर्तव्य है। अतः पहला कारण भाषा-विज्ञान-संबंध है, और दूसरा सामाजिक एवं शिक्षा संबंधी। लेकिन ये दोनों कारण तात्कालिक हैं। अगर हिंदी भाषा-भाषी सहृदय हो कर, हिंदी में कुछ परिवर्तन करने के लिए तैयार हो जायँगे (क्योंकि हिंदी राजभाषा है, राष्ट्रभाषा है और भाषा में परिवर्तन होना भी स्वाभाविक है), तो हिंदी का प्रचार सरल एवं सुगम हो जायगा। संस्कृत भाषा दृढ़ एवं कठिन नियमों से बद्ध होने के कारण ही दयनीय स्थिति में है। अतः हमें बुद्धि की सहायता से सुलभता से प्राप्य प्रणालियों को अपनाना चाहिए। अतः यहाँ कुछ भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से हिंदी के सरल बनाने पर विचार किया गया है।

कठिनाइयाँ और समाधान

'ने' की जटिलता---हिंदी के कर्ता कारक का विभक्ति चिन्ह 'ने' सकर्मक क्रिया भूतकाल में प्रयोग होता है। लेकिन इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं। प्रायः 'लाने', 'भूलने', 'बोलने' आदि के प्रयोग में ये अपवाद मिलते हैं। मेरा विचार है कि ये भी सकर्मक क्रियाएँ हैं। सकर्मक क्रिया को पहचानने के लिए जो प्रश्न पूछा जाता है वह यहाँ भी लागू होता है। अर्थात यदि आप प्रश्न करें कि किसको लाया? तो, उत्तर मिलता है कि पानी को लाया, आम को लाया। इसी तरह, भूलना, बोलना आदि भी सकर्मक क्रियाएँ सिद्ध होती हैं। अतः इन अपवादों को हटाना चाहिए। इससे सुविधा यह होती है कि हमें केवल 'ने' विधि ही याद रखनी होगी न कि उसके अपवाद। यह

असंभव है कि 'ने' विधि को सर्वदा त्याज्य समझें क्योंकि व्याकरण में सकर्मक क्रिया के साथ इसका संबंध है।

विभक्तियाँ या आफ़तें!

यद्यपि विभक्तियाँ प्राय: सभी भाषाओं में पायी जाती हैं फिर भी हिंदी में इनकी कुछ आफ़तें हैं। कर्म और संप्रदान कारकों में 'को' का प्रयोग होता है। अत: हिंदीतर भाषा-भाषी को इसका भय है। लेकिन मेरा विचार है कि 'को' का प्रयोग केवल कर्म कारक में होना चाहिए। संप्रदान कारक में हम 'के लिए' का प्रयोग ही कर सकते हैं। नहीं तो, 'को' के साथ अनुस्वार मिला कर 'कों' लिख सकते हैं। उदाहरणार्थ, राम को मारने को दौड़ते हैं। देने को डरते हैं। आदि-आदि। 'से' करण और अपादान कारक की विभक्ति है। यहाँ भी अनुस्वार का प्रयोग हो सकता है। अत: 'से' का प्रयोग करण कारक में और 'सें' का प्रयोग अपादान में हो सकता है।

लिंग-भेद

उदाहरण के लिए—उसने पिचकारी से बच्चों सें होली खेली।

हिंदी के लिंग-भेद के बारे में काफ़ी चर्चा हुई है। अभी तक किसी ने इसको सुगम बनाने की कोशिश नहीं की है। यहाँ दो बातों को ध्यान में रखना चाहिए। पहली बात है कि हिंदी में संस्कृत की तरह तीन लिंग नहीं हैं। अत: हिंदी के व्याकरण में नपुंसक लिंग को कहाँ और कैसे छोड़ सकते हैं? दूसरी बात है कि क्या मनमाने ढंग से किसी चीज़ का लिंग-निर्णय करना उचित है? इसका कोई प्रमाण नहीं है कि कौन किस लिंग का है। जैसे, कुर्सी स्त्रीलिंग है। ऐसा क्यों है? ध्यान देने की बात है कि तमिल आदि द्रविड़ भाषाओं में कुछ अपूर्व योजनाएँ हैं। उनमें पहला है कि लिंग का संबंध और स्त्रीलिंग का भेद केवल जीवित, चलायमान वस्तुओं से होना चाहिए। अन्य सबको पुंलिंग के अंतर्गत मानना उत्तम होगा।

यहाँ यह सुविधा है कि जब तक आप जीवित वस्तु के लिंग पर ज़ोर नहीं देते, तब तक वह पुंलिंग ही माना जायगा। उदाहरण के लिए कौआ शब्द को लीजिए। ऊपर के नियमानुसार, यह पुंलिंग माना जायगा। यदि आप लिंग पर ज़ोर देना चाहते हैं तो 'मादा कौआ' कह सकते हैं। स्त्रीलिंग शब्द के अभाव में सभी पुंलिंग ही माना जायगा। साथ ही चाहे बुद्धि हो या कुर्सी, ये भी पुंलिंग ही होंगे। क्योंकि इनमें जीवन नहीं है। इससे लाभ यह होता है कि क्रिया, विशेषण आदि में परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं रहती। अत: जटिलता कम होगी या नहीं के बराबर हो जायगी। उदाहरण के लिए हिमाचल प्रदेश की किन्नौरी भाषा को लीजिए। यह तिब्बती भाषा परिवार की है। इसमें लिंग-समस्याएँ बिल्कुल नहीं हैं। जैसे—

मी बितो।	**आदमी जाता है।**
चिमेत बितो।	**स्त्री जाती है।**

अतः हिंदी के लिंग-सुधार से द्रविड़ भाषा-भाषी ही नहीं सब प्रांत वालों को हिंदी सीखने में सुगमता होगी ।

संख्या और क्रमवाचक शब्द

यद्यपि हिंदी में हर संख्या में इकाई संख्या पहले और दहाई बाद में आती है, फिर भी यह भाषा की अपनी विचित्रता है। इसमें सुधार करना कठिन है। अभ्यास ही एकमात्र उपाय है। केवल द्रविड़ भाषाओं में ही नहीं, अपितु तिब्बती परिवार की बोलियों में भी, इसका ठीक उलटा होता है। उदाहरण के लिए,

हिंदी	*किन्नौरी*
बारह	**सोतिश**
तेंतीस	**निजौजाई सोरुम (निजौजाई='बीस'+सोरुम=तेरह)**

इस तरह हर दहाई में पहले संख्या बनना, सवा, डेढ़, पौने दो, ढाई, साढ़े तीन आदि कठिन होने पर भी, इनका परिवर्तन, कठिन मालूम पड़ता है।

उच्चारण संबंधी सुधार

हिंदी में बोलना और लिखना एक जैसा नहीं है। अतः जैसे बोलते हैं वैसे लिखने की कोशिश होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, पति, पत्नी शब्दों को यदि ह्रस्व ही बोलते हैं तो वैसे ही लिखना चाहिए। अथवा हमेशा चाहे लिखें या बोलें, दीर्घ ही मानेंगे। साथ ही ह्रस्व ए और ओ का चिह्न बनायें। क्योंकि अन्य भाषाओं में इनकी योजना है। ह्रस्व ए और ओ का चिन्ह ऐसे हो सकते हैं, एॅ, ओॅ ।

हिंदी के कुछ अक्षरों को निकाल कर उनके स्थान में इन वर्णों को रख सकते हैं जैसे, हिंदी का संयुक्ताक्षर 'ज्ञ' है, उसको हटा सकते हैं। क्योंकि हिंदी प्रदेश में इसका उच्चारण 'ग्य' जैसा होता है। उदाहरणार्थ ज्ञान को ग्यान ही बोलते हैं। अतः हम ग्यान को ही ठीक मान सकते हैं। अर्थात, यदि हिंदी प्रदेश में ग्यान ही बोलते हैं तो अन्य प्रांतों में भी वैसे ही होना चाहिए। इसी तरह, 'ऋ' को भी हटा सकते हैं, क्योंकि इसका उच्चारण, रि जैसे होता है। जैसे ऋषि को रिषी बोलते हैं। ङ को हटा सकते हैं, और उसके स्थान में अनुस्वार काम दे सकता है। ष को हटा सकते हैं; इसका स्थान स ले सकता है। मतलब यह है कि ऐसे कुछ परिवर्तनों से भाषा सरल और सुगम हो जायगी ।

वाक्य-रचना में अंतर

वाक्य-रचना में कहाँ तक सुधार कर सकते हैं, यह एक प्रश्न है। हिंदीतर भाषाओं में वाक्य-रचना की प्रणाली सुगम है । लेकिन वाक्य-रचना भाषा की अपनी विशेषता है उसमें परिवर्तन धीरे-धीरे कालक्रम से आ जायगा। साधारणतः यों ही परिवर्तन करना न तो आसान

बात है, न वांछनीय। यदि अंग्रेज़ी में कहते हैं कि 'ही इज़ कमिंग' तो हिंदी में 'वह आ रहा है; यदि अंग्रेजी में है 'ही सेड, "राम इज़ कमिंग" तो हिंदी में, उसने कहा कि राम आ रहा है। अतः हिंदीतर भाषा-भाषियों को थोड़ा परिश्रम करना ही पड़ेगा।

हिंदी अध्यापक और पढ़ाई में सुधार

चाहे हिंदी प्रांत का हो या हिंदीतर प्रांत का, हिंदी के अध्यापक ज़्यादातर हिंदी पढ़ाने में निपुण नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि अहिंदी भाषा-प्रदेशों में पढ़ाने वाले यह भी नहीं समझ सकते हैं कि हिंदी पढ़ाते समय पहले अल्प-प्राण ध्वनियों को सिखायें।

यहाँ साफ़-साफ़ कहना चाहिए कि महाप्राण ध्वनियों के उच्चारण में श्वास-बल अधिक होता है। लेकिन हम यह देखते हैं कि अधिक से अधिक लोग इस तरीक़े से नहीं पढ़ाते। अध्यापकगण ज़्यादातर, परीक्षा की दृष्टि से ही पढ़ाते हैं। प्रश्न और उत्तर दे देते हैं और कहते फिरते हैं कि हमने तो खूब परिश्रम किया, लेकिन विद्यार्थी बेकार हैं। अध्यापकों में अभ्यास की कमी है। उन्हें रोज़ फ़ोनेटिक ड्रिल (ध्वन्याभ्यास) की तैयारी करनी चाहिए। अतः शिक्षण-विद्यालयों में उच्च स्तर के, भाषा-वैज्ञानिकों को नियुक्त करना चाहिए। केवल पहली श्रेणी के आधार पर, या जाति या प्रांत के आधार पर आजकल जो नियुक्तियाँ हो रही हैं अथवा सिफ़ारिश पर, इनसे हिंदी की उन्नति में काफ़ी नुक़सान हुआ है। इससे विद्यार्थियों की हानि, उनमें घृणा होने आदि-आदि आज स्थायी रूप में देखने को मिलते हैं। अभी तक शिक्षण-विद्यालयों में इनका सुधार नहीं हुआ है। योग्य और ज्ञानवान अध्यापकों के बिना, हिंदी का प्रचार होना असंभव है। अतः हिंदी के प्रचार में इन बातों पर भी ध्यान रखना सबसे आवश्यक काम है।

ऊपर बताया जा चुका है कि हिंदी भाषा में परिवर्तन कैसे कर सकते हैं! यह विद्वानों की चर्चा में आना चाहिए। और यथाशीघ्र ऐसे सुधारों के लिए प्रयत्न होना चाहिए। संभव है, मेरी योजनाओं में कुछ हेर-फेर करना पड़ेगा तो भी, हिंदी प्रदेश के मान्य विद्वानों को, अन्य प्रांत के विद्वानों की सहायता के साथ, इस प्रचार में प्रवृत्त होना चाहिए।

--ना० राम सुब्रह्मण्यन,
भाषा-विज्ञान विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

अमीक़ हनफ़ी

उर्दू की नयी कविता

बात कोई एक बरस पहले की है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने उर्दू की नयी कविता की कोई बात सुनकर मुझसे पूछा, "क्या उर्दू में भी नयी कविता है?" मुझे बड़ा धक्का लगा। तीसरे सप्तक का कवि यह प्रश्न कर रहा है! तभी से मैंने निश्चय कर लिया था कि उर्दू की नयी कविता का परिचय हिंदी जगत से कराऊँगा। बात दरअस्ल यह है कि हिंदी के कई प्रतिष्ठित प्रकाशकों ने उर्दू कविताओं के विभिन्न और अच्छे-ख़ासे संकलन प्रकाशित किये मगर उनमें या तो अभिजातवादी शायरों को सम्मिलित किया या प्रगतिशील शायरों को। हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में भी उर्दू की नयी कविता और नयी काव्यधारा पर प्रायः कुछ नहीं लिखा गया। 'धर्मयुग' में डॉ० वज़ीर आग़ा का एक छोटा सा लेख अवश्य छपा था। हिंदी में उर्दू साहित्य की जो दो-एक पत्रिकाएँ निकल रही हैं उनमें भी नयी कविता प्रायः उपेक्षित ही रही है। नये कवि मुशायरों से भी कटे रहते हैं। इसलिए उनका अपने वतन में ही बेवतन रहना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।

उर्दू की नयी कविता का इतिवृत्त यूँ तो उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से प्रारंभ किया जा सकता है जब मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली, मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद और उनकी अंजुमने-पंजाब ने अंग्रेज़ी कविता के रंग-रूप को उर्दू शायरी में ग्रहण करने-कराने और 'नेचुरल शायरी' को रिवाज देने का संगठित और सुनियोजित प्रयास शुरू किया था। उर्दू के प्रगतिवादी भी यहीं से अपनी काव्यधारा का स्रोत तलाश कर चुके हैं; या 'दिलगुदाज़' और 'मख़ज़न' नामक पत्रिकाओं की उन बहसों से बात शुरू की जा सकती है जिनमें तुकांत और अतुकांत, छंदयुक्त और छंदमुक्त कविता के पक्ष-विपक्ष में तर्क दिये जाते थे; या इस्माईल मेरठी और अब्दुल हलीम शरर के प्रारंभिक प्रयासों से बात उठायी जा सकती है; या फिर अज़मतुल्लाह ख़ाँ (मृ० १९२७) के उन रूपछंदवादी प्रयोगों को भूमिका-स्वरूप स्वीकारा जा सकता है जो उन्होंने अंग्रेज़ी, हिंदी और बंगला पिंगल के गहन और विस्तृत अध्ययन से प्रेरित हो कर शुरू किये थे। अरबी-फ़ारसी-गर्भित भाषा के बजाय ठेठ हिंदुस्तानी भाषा का प्रयोग भी अज़मत ही ने बड़े ही सचेतन और विवेकपूर्ण ढंग से शुरू किया था। इन्हीं के साथ क़ाजी अख़्तर जूनागढ़ी, अख़्तर शीरानी, हफ़ीज़ जालंधरी इत्यादि के भाषा, छंद, शब्द-व्यवस्था, रूप आदि के प्रयोगों को भी स्थान दिया जा सकता है।

जब प्रगतिशील लेखक-संघ बना था, बिल्कुल उसी के साथ-साथ नयी कविता की धारा

उसी तीव्र गति से प्रवाहित हुई थी। उर्दू की नयी-कविता किसी संगठित आंदोलन के रूप में शुरू नहीं हुई। न उसका कोई घोषणा-पत्र था न कोई संस्था। पंजाब और दिल्ली में 'हल्क़ये-अरबाबे-ज़ौक़' नामक एक साहित्यिक संस्था अलबत्ता थी जो नये साहित्य से संबद्ध थी लेकिन उसका कोई देशव्यापी संगठन या प्रभाव न था। लाहौर में यह अब भी सजीव और सक्रिय है। उर्दू की नयी कविता को न कोई 'अज्ञेय' मिला न 'सप्तकों' का माध्यम प्राप्त हुआ और न 'प्रतीक' या 'पाटल' जैसी पत्रिकाएँ। जब विभिन्न कवियों ने अनुभूति और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, अनियंत्रित मन की प्रतिष्ठा और देश तथा काल के साथ सीधा संबंध स्थापित करने की आवश्यकता को समझ कर मान लिया तो अपने आप उनमें एक प्रकार का साम्य पैदा हो गया। यह साम्य केवल नयेपन का प्रयोगशील, स्वाभाविक, आधुनिकतायुक्त अनुभूति, संवेदनशीलता और स्वतंत्र अभिव्यक्ति का साम्य था। दर्शन, विचारधारा और दृष्टिकोण का साम्य नहीं था। उर्दू में नयी कविता की विचित्र और विलक्षण परिस्थिति थी। बहुत कम लोग ऐसे थे जो प्रगतिशील और नये साहित्य में भेद कर पाते थे। जिन पत्रिकाओं में प्रगतिशील साहित्य प्रकाशित होता था उन्हीं में नया साहित्य भी छपा करता था। प्रकाशक भी दोनों के एक ही थे। यही नहीं, प्रगतिशील कृशनचंदर ने राशिद के कविता-संग्रह 'मावरा' की और नयी कविता के प्रवर्तक राशिद ने प्रगतिशील फ़ैज़ के संग्रह 'नक़्शे फ़रियादी' की भूमिका लिखी थी। अपनी पुस्तक 'तरक़्क़ीपसंद अदब' (प्र० १९५१) में अली सरदार जाफ़री ने १९४० के आसपास की इस स्थिति पर बड़ा तीव्र आक्रोश प्रदर्शित किया है। नये कवियों के इस 'गिरोह' को रूपवादी, दुरूहतावादी, यौनवादी, पाश्चात्य पतनशील साहित्य का अनुचर आदि विशेषणों से अलंकृत करने के बाद वे लिखते हैं, **यह दरअस्ल जागीरदाराना और बूर्ज्वा पतनशीलता की गंदगी का नाला था जो बड़े ज़ोर-शोर से बहा लेकिन उसका बहाव उसकी गंदगी को न छुपा सका।** इसलिए ऐसे विगलित और बदबूदार साहित्य का पवित्र और महकते हुए प्रगतिशील साहित्य में घुला-मिला रहना सरदार को बहुत अखरा। उन्हें इस भ्रामक और हास्यास्पद स्थिति पर दुख इसलिए भी है कि नये साहित्य के कारण प्रगतिशील साहित्य को मुफ़्त बदनाम होना पड़ा और गालियाँ खानी पड़ीं। मगर सरदार यह भूल गये कि विरोधियों ने केवल विषय-वस्तु पर नहीं नये रूप और शिल्प पर उपहास, व्यंग्य और गालियों की बौछार की थी और यहाँ तो प्रगतिशील और नये साहित्यकार एक अनौपचारिक संयुक्त मोर्चा बनाये हुए थे। इस मामले में तो दोनों ही परंपरा और रूढ़िगत भाषा-शैली और रूप-विधान के समान विरोधी और विद्रोही थे। ग़ज़ल पर दोनों हिंसात्मक प्रहार कर रहे थे। प्रगतिशील साहित्यकारों का अपना संगठन था और फिर पार्टी का सहयोग और सक्रिय योगदान भी उन्हें प्राप्त था। उनकी अपनी पत्र-पत्रिकाएँ थीं। मुशायरों का प्लेटफ़ार्म भी उन्होंने नहीं छोड़ा था और 'जन-भावनाओं' से वे संपृक्त थे। नये कवियों के लिए ऐसे साधन और सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं और न उनके कृतित्व में जन-मानस और जन-भावना को उत्तेजित करने की क्षमता थी।

संघ और आंदोलन दोनों औपचारिक रूप से समाप्त कर दिये गये और यूँ भी समाप्त हो गये। शायद इसलिए कि प्रगतिशील साहित्य अपना साहित्यिक उद्देश्य सफलतापूर्वक समाप्त

कर चुका था या इसलिए कि वह समसामयिक से सामयिक अधिक था और उसके अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं रही थीं या साहित्यकार समझ गये थे कि केवल साहित्यिक गतिविधियों से सर्वहारा लोगों की तानाशाही की स्थापना नहीं हो सकती, उसके लिए बड़ा मज़बूत साम्यवादी दल चाहिए और भारत में ऐसा दल नहीं है या अनेक बड़े प्रगतिशील साहित्यकारों ने फ़ार्मूले और नारे लिखते रहने के बजाय फ़िल्मों में कहानियाँ, संवाद और गाने लिखना अधिक श्रेयस्कर, लाभप्रद और उपयोगी उपकर्म समझा और सेल्यूलाइड की कामधेनु की उपासना में मनोरथ-सिद्धि पायी। जो भी हो, प्रगतिशील लेखकों और कवियों ने उर्दू साहित्य को नये आयाम दिये और उसे सामयिक और समृद्ध बनाने में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया। प्रगतिशील आंदोलन और संगठन की बाक़ायदा समाप्ति के बाद नयी कविता से प्रगतिशील लेखकों का अब कोई झगड़ा न रहना चाहिए। अब तो वे मात्र लेखक रह गये हैं। आजकल सरदार जाफ़री, मख़दूम मुहियुद्दीन आदि कवि जब भी कोई साहित्यिक रचना करते हैं तो एक बार उन रचनाओं पर नयी रचनाओं का भ्रम होने लगता है। फ़ैज़, नदीम, अरुतरुल ईमान तो पहले भी नयी कविता के स्रष्टा ही थे और अब तो ख़ैर प्रगतिशीलता का लेब्ल ही हटा दिया गया है।

हर भाषा की अपनी संस्कृति और अपने संस्कार होते हैं जो उसमें रचित साहित्य पर सकारात्मक या नकारात्मक प्रभाव डालते हैं। विद्रोह और विरोध भी इन्हीं सीमाओं के अंदर होता है। इसलिए एक भाषा या साहित्य के विद्रोही दूसरी भाषा या साहित्य के दृष्टिकोण से विद्रोही शायद न ठहरें। विद्रोह का दूसरा पक्ष वैचारिक और काव्य-वस्तु के क्षेत्र में नये का आग्रह है। परंपरानुसार वर्जित विषयों को अपनाना, पुरानी मान्यताओं का खंडन या नया मूल्यांकन, नये अर्थ-संदर्भों का निर्माण, समसामयिक और आधुनिक वास्तविकताओं को ग्रहण करना तथा काव्य के लिए नयी भावभूमि तैयार करना नये कवियों का दायित्व है। यहाँ भी बहुत कुछ भाषा तथा साहित्य-विशेष की अपनी पूँजी और अपने संस्कारों पर निर्भर हैं।

उर्दू की नयी कविता के अधुनातन प्रवर्तकों में मीराजी, नून-मीम-राशिद और फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' प्रमुख हैं। फ़ैज़ चूँकि मार्क्सवादी और प्रगतिशील पूर्वग्रहों को कविताओं में भी स्वीकार कर लेते हैं, इसलिए यहाँ उनका नामोल्लेख ही पर्याप्त समझा जाय। मीराजी (ज० १९१० मृ० १९४९) उर्दू के अत्यंत जटिल और एक हद तक दुरूहतम कवियों में से एक हैं। वे जवानी ही में मर गये लेकिन उनका कृतित्व उर्दू की नयी कविता के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर बन गया। मीराजी का व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों समान रूप से एक उलझी हुई पहेली है।

मीराजी का असली नाम था सनाउल्लाह। एक बंगाली युवती मीरा सेन से उन्हें आसक्ति थी। किंतु परिणय संभव न हो सका। इस विकलता पर क़ाबू पाने के लिए उन्होंने बड़ा ही विचित्र रास्ता अपनाया। बाल बढ़ा लिये और नाम मीराजी रख लिया। इस तरह वे स्वयं अपनी प्रेयसी और प्रणय के जीवित स्मारक और सशरीर प्रतिरूप बन गये। कुछ विश्लेषणकर्ताओं ने उनकी कविताओं में यौन प्रतीकों और विकृत तथा कुंठित वासनाओं की प्रधानता को उनकी पुंसत्वहीनता का परिणाम ठहराया है। उनके कृतित्व में उनकी कामेच्छाओं का उन्नयन

ही हुआ है। उनका मानसिक आक्रोश, आत्मरति, स्वप्नदोष, नारी-मूत्र-विसर्जन आदि अत्यंत घृणित विषयों को काव्य-वस्तु बनाने पर उन्हें उत्तेजित करता है, यद्यपि वे अपनी इन विकृतियों को बहुत ही ढँके-छिपे और ऊपर से असंदिग्ध दिखने वाले वैयक्तिक प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। हाल ही में डॉ० वज़ीर आग़ा ने, फ़ायड और युंग के मनोविश्लेषण के सिद्धांतों के सहारे मीराजी के व्यक्तित्व और कृतित्व का एक अत्यंत मौलिक और साहसी विश्लेषण प्रस्तुत किया है। डॉ० आग़ा ने सामूहिक अचेतन के सिद्धांत के अनुसार 'मीराजी' को आर्य-द्रविड़ संस्कृति और वैष्णव मधुर-काव्य से अचेतनरूपेण प्रभावित सिद्ध किया है। उनकी दृष्टि में मीराजी भारत की प्राचीन जन-संस्कृति के प्रस्फुटन के माध्यम मात्र थे। मैंने डाक्टर आग़ा के इस विश्लेषण को अस्वीकार करते हुए मीराजी का दायित्व भारतीय संस्कृति पर रखने की इस भ्रांतिपूर्ण कोशिश को सर्वथा निरर्थक माना है।

मीराजी ने भारत की धरती, देवी, देवता आदि की अपनी कविताओं में प्रयुक्त कर के उर्दू कविता में पार्थिवता, भारतीयता, सजीवता और वास्तविकताओं का एक नया आयाम खोला है। इससे उनकी कविता में वायवीयता और अलौकिकता नहीं आने पायी है। राधा, कृष्ण, गोपी, शिव, व्रज, रास, मंदिर आदि का प्रयोग सहज, सुलभ और सुहृद रूप से हुआ है लेकिन यह उनके सचेत, प्रयोगशील आग्रह के परिणामस्वरूप ही हुआ है। पहले भी इस प्रकार के प्रयोग किये गये थे किंतु उनमें वह गहराई, सच्चाई और मार्मिकता नहीं थी जो मीराजी के एहसास ने उर्दू कविता को प्रदान की। उन्होंने इन शब्दों को कभी प्रतीकवत प्रयुक्त किया है और कभी अलंकरण या उद्दीपन के लिए। मीराजी ने भाषा और भाव, दोनों अपने व्यक्तिगत जीवन और व्यक्ति-सत्यों से ही चुने। वे अंतर्मुखी थे और उनका कृतित्व नितांत वैयक्तिक है।

मीराजी ने पारंपरिक रूप-विधाओं को तो आजमाया ही है, तुकरहित, मुक्त छंद और मनमानी, स्वनिरूपित विधाएँ भी प्रयुक्त की हैं। उर्दू की आज़ाद नज़्म (वर्स लिब्रे) का प्रतिरूप नहीं है। उसमें पंक्तियों और पदों की रचना यद्यपि शास्त्रोक्त और पिंगल के नियमानुसार तो नहीं होती लेकिन छंद की लय को क़ायम रखते हुए की जाती है। 'आज़ाद नज़्म' नित नये रबर छंदों में लिखी जाती है। मीराजी इस रूप के प्रथम प्रचालकों में से एक हैं।

नयी शायरी के बारे में उनके विचार स्पष्ट हैं :

मेरे ख़याल में नयी शायरी हर उस मौज़ूँ (लययुक्त) कलाम (पद्य) को कहा जा सकता है जिसमें हंगामी असर (सामयिक उत्तेजना और क्षणिक प्रभाव) से हट कर किसी बात को महसूस करने, सोचने और बयान करने का अंदाज़ नया हो। यानी कोई शायर रिवायती बंधनों से अलग रह कर एहसास (अनुभूति), जज़्बे (भावना) या ख़याल (विचार) के इज़हार (अभिव्यक्ति) में अपनी इन्फ़िरादियत (व्यक्तित्व) को नुमायाँ (प्रगट) करता है तो वह नया शायर है, वरना पुराना।

मीराजी समय और परिवर्तन के वेग और उड़ते हुए क्षणों की गति पर एक 'छिछलती नज़र' डाल कर जी भर लेने की अभिलाषा रखते थे :

हर मंज़र, हर इंसाँ की दया और मीठा जादू औरत का,
इक पल को हमारे बस में है, पल बीता, सब मिट जायेगा,
इस एक झलक को छिछलती नज़र से देख के जी भर लेने दो,
तुम इसको हवस क्यों कहते हो ?

(चलचलाव)

एक कविता में उन्होंने 'रन-ऑन' पंक्ति तकनीक का प्रयोग किया है। इसमें भी वही कुंठा और उदासीनता है :

मसहरी के आग़ोश की लरज़िशों का मुझे ख़्वाब भी अब न आयेगा।
मैं अपने कानों से कैसे सुनूँगा, वो शहनाई की गूँज—सेंदूर
का सुर्ख़ नग़मा, जिसे सुन के दालान में आने-जाने की आहट
से हंगामा हो जाता है एक पल को,
मुझे तो फ़क़त सर्द दीवारें हँसती सुनायी दिये जा रही हैं।

(महरूमी)

सर्द दीवारों के चुभते उपहासों का दर्द कभी-कभी पुजारी बन कर देवदासी की नृत्य-मुद्राओं और भावभंगिमाओं में खो जाना चाहता है :

लो नाच ये देखो नाच, पवित्तर नाच; एक देवदासी का
धीरे-धीरे दूर हुआ है साया, मेरे दिल से, दिल की उदासी का

(देवदासी और पुजारी)

या फिर हठ करते बाल-मन के प्रतीक में अपने पागल मन को देखते हैं :

धरती पर परबत के धब्बे, धरती पर दरिया के जाल
गहरी झीलें, छोटे टीले, नद्दी, नाले, बावली ताल
काले डरावने वाले जंगल, साफ़ चमकते से मैदान
लेकिन मन का बालक उल्टा, हट करता जाये हर आन
अनोखा लाडला खेलन को माँगे चंदरमान।

(कठोर)

मीराजी यांत्रिक संस्कृति द्वारा खड़े किये गये 'स्नायु सागर की रचना के एक विचित्र चित्र' से उत्पन्न तनाव को पसंद नहीं करते थे :

उसका है एक ही मक़सूद[1] वो इस्तादा[2] करे
बहरे-ऐसाब[3] का इक नक़्शे-अजीब[4]
जिसकी सूरत से किराहत[5] आये—और वह बन जाये तेरा मद्दे-मुक़ाबिल[6]
पल में।
ज़ह्ने-इंसानी[7] का तूफ़ान खड़ा हो जाये।
(ऊँचा मकान)

अपनी विचित्र चेष्टाओं-कुचेष्टाओं से मानव-मन में तूफ़ान मचाने की अभिलाषा रखने वाले मीराजी आलोचनाओं और फटकारों के प्रहार सहते-सहते आख़िर समय से पहले मर गये। उनके प्रयोगों का प्रभाव अब भी उर्दू की नयी कविता में नज़र आता है। मुझे उनकी प्रवृत्तियों और बीटनिकों में बड़ा विचित्र और भयंकर साम्य नज़र आता है। उन्हें मैं बीटनिकों का अग्रज मानता हूँ। उन्होंने वास्तविकताओं को नंगा करने की धुन में ख़ुद को नंगा कर दिया। उनके स्नायविक रोग यद्यपि उर्दू कविता के लिए संक्रामक तो सिद्ध नहीं हुए किंतु उनकी अपनी कविताओं में फैलते चले गये, लेकिन अपनी इन निजी मजबूरियों के बावजूद, जिनकी अभिव्यक्ति मीराजी की सच्चाई और ईमानदारी के प्रमाण हैं, उन्होंने उर्दू कविता में 'यौन' जैसे वर्ज्य विषय को नागरिकता दिलवायी और मन की समस्याओं के प्रति एक संवेदनशीलता और कलात्मक दृष्टिकोण पैदा किया। मीराजी ने नयी कविता की शब्दावली और मुक्तछंद की शैली के रिवाज़ को एक नयी दिशा दी। उनकी अपनी तकनीक चेतना की लहर में बह कर बात से बात पैदा करते चले जाने और एक उलझाव के द्वारा बात बढ़ाते जाने की विचित्र तकनीक थी। उनकी कविताओं के शीर्षक बड़े ही वैयक्तिक और निजी प्रतीक होते थे और वे उन्हें किसी भी विषय की चेतना को प्रवाहित करने वाला प्राथमिक साधन मात्र मानते थे। बहरहाल मीराजी उर्दू की नयी कविता के लिए एक अविस्मरणीय कवि हैं, व्याख्याता हैं और निदेशक हैं।

मीराजी के साथ ही नून-मीम-राशिद का नाम सहज आ जाता है। राशिद का महत्व मीराजी से किसी तरह कम नहीं है। उनका व्यक्तित्व मीराजी की तुलना में अधिक बहिर्मुखी है और वे व्यक्ति और समष्टि के बीच संतुलन और सामंजस्य के अन्वेषी हैं। उनकी सामाजिक चेतना अधिक सजग और सजीव है। १९४१ में जब उनका पहला कविता-संग्रह 'मावरा' प्रकाशित हुआ तो उर्दू साहित्य में एक हंगामा मच गया। नयी कविता पर पैरोदियों और उपहासपूर्ण आलोचनाओं की एक किताब 'मुदावा' छापी गयी जो बिकी तो ख़ूब मगर आज 'मुदावा' का नामलेवा भी शायद ही कोई बचा हो और बचा भी होगा तो मेरी तरह उसकी क्षणभंगुरता और जल्दबाज़ी के खोखलेपन पर तरस खाने वाला ही कोई बचा होगा। 'मावरा' की भूमिका कृशनचंदर ने लिखी थी। १९४१ की इसी दुर्घटना पर १९५१ में सरदार जाफ़री को ग्लानि-

---

१. उद्देश्य, २. खड़ा, ३. स्नायु-सागर, ४. विचित्र चित्र, ५. घृणा, ६. प्रतिद्वंद्वी, ७. मानव-मन।

पूर्ण पीड़ा हुई। कृशनचंदर ने राशिद की कविताओं और उनके व्यक्तित्व का बड़ा सही मूल्यांकन किया है, जिसका सार यह है :

१. राशिद की शायरी उर्दू में एक नये प्रयोगशील युग की भूमिका है। यह शायरी रूप और विषय-वस्तु की दृष्टि से प्रचलित शायरी से भिन्न है। राशिद उन शायरों में से हैं जिनकी आवाज़ गोया किसी नये क्षितिज से आती हुई मालूम होती है और अतीत के नैरंतर्य को चीरती हुई हमारे दिलों में उतर जाती है।

२. पुराने काव्य-सिद्धांतों की अवज्ञा और उनसे विमुखता राशिद के यहाँ व्यक्तिगत और वस्तुगत, कलात्मक और विचारात्मक दृष्टि से पूर्ण है। कलात्मक दृष्टि से राशिद एक विद्रोही कवि है। उसकी शायरी में मनोविश्लेषण और भावनात्मक नैरंतर्य साथ-साथ चलते हैं। उसकी कार्य-विधि मनोवैज्ञानिक है।

३. राशिद के ख़याल में पूर्व (ओरियंट) की आत्मा मरी नहीं तो मर रही है। पूर्वीय जीवन-विधान फ़रसूदा हो चुका है। उसकी शायरी में इसी स्नायविक थकान, चिंतना-वरोध, टूटे विश्वास और हद से बढ़े हुए हीन भाव का पता मिलता है जो सदियों से पूर्वीय धरती पर छाया हुआ है। राशिद को पूर्वीय आत्मा का अंत अनिवार्य नजर आता है पर उसका सिसक-सिसक कर मरना बहुत नागवार है। यह अनुभूति राशिद की कविता में 'आत्महत्या' के प्रतीक में व्यक्त होती है।

४. राशिद का व्यक्तिगत 'अहं' एक नन्हीं टिमटिमाती हुई कंदील है। जो ज्वाला की तरह नहीं भड़कती। मर जाने की अभिलाषा राशिद के यहाँ दो तरह उजागर होती है। एक रूप, व्यक्तिगत स्तर पर जहाँ जीवन और जवानी : एक विषभरा प्याला है और हमारी गति नींद में निरुद्देश्य चलने की हास्यास्पद स्थिति है। 'जिंदगी मेरे लिए एक ख़ूनी भेड़िये से कम नहीं।' आत्महत्या का दूसरा रूप सामूहिक स्तर पर, जहाँ ख़ुदा मर चुका है या बेकार पड़ चुका है और पुराने मूल्य एक प्रेत बन गये हैं।

५. राशिद अपने आप को बेबस और अप्रस्तुत पा कर प्रेमिका की बाँहों और यौन-विलास में पलायन कर जाता है।

राशिद का यह मूल्यांकन एक बड़ी हद तक संतोषजनक और ग्राह्य है। राशिद, मीराजी की तरह वैयक्तिक कवि नहीं हैं। उनकी युगचेतना ही उनकी व्यक्तिगत भावभूमि का निर्माण करती है। युग-पीड़ा से ही उनका मन व्याकुल हो उठता है। पाश्चात्य जीवन-मूल्य और पाश्चात्य जीवन-प्रणाली का बेझिझक-पन, बेबाक़ी और आज़ादी उनके मन को मोहे हुए हैं और यह मोह उनकी कविता में उनकी 'गौरांगना, फिरंगी प्रेयसि' के रूप में प्रतीक बन गया है जिसकी आँख से वे अक्सर अपने देश की दुर्दशा और पतन को देख कर हाथ मलते रह जाते हैं।

राशिद भव्य शैली और लयात्मक मुक्त छंद के क़ायल हैं। उनकी भाषा यद्यपि व्यक्तिगत और नयी है किंतु वे ओज और भव्यता के लिए उसे अरबी-फ़ारसी शब्दों और संधि-समासों से मुक्त नहीं करते। यही वजह है कि वे नयी कविता की उस धारा से दूर हैं जिसने मीराजी के शिल्प को अपना कर आम बोलचाल की हिंदुस्तानी भाषा को अपना माध्यम बनाया

है। राशिद में मुझे नव-रूमानी प्रतिक्रियाओं और नव अभिजातवादी शैली का विलक्षण समागम मिलता है।

राशिद की यौन धारणाओं, कामेच्छाओं और दृष्टिकोण में बड़ा उन्मत्त पौरुष है; घुटन, विकृति और सिकुड़न नहीं है। एक कविता में उन्होंने यौन के प्रति बड़ा ही सामंती और अर्ध-बर्बर दृष्टिकोण अपनाया है जिसे किसी प्रकार 'नया' नहीं कहा जा सकता। किसी नारी के मानहरण को प्रतिशोध के रूप में देखना और संभोग के साथ आदर, अनादर या प्रतिशोध की भावना संबद्ध करना आधुनिक दृष्टिकोण नहीं है। किंतु राशिद के अचेतन के संस्कारों और आसंगों ने उनसे यही कराया है:

उसका चेहरा, उसके ख़द्दो-ख़ाल[१]—याद आते नहीं,
इक बरहना[२] जिस्म अब तक याद है,
अजनबी औरत का जिस्म
मेरे होंटों ने लिया था रात भर
जिससे अरबाबे-वतन की बेबसी का इन्तिक़ाम
(इंतिक़ाम)

और सब ठीक, रात की इस कहानी में केवल, अपने बेवस देशवासियों पर अंग्रेज़ों द्वारा किये गये अत्याचारों का प्रतिशोध एक फिरंगी औरत के साथ रात गुज़ार कर अपने होंटों से क़रना बड़ा ग़लत काम है। गुलाम भारत में एक भारतीय नवयुवक की एक विचित्र मनःस्थिति के रूप में भी इसे ग्राह्य समझना कठिन है।

राशिद खुदा से नाराज़ ही नहीं, कभी उसके होने पर संदेह करते हैं, कभी उसे शर्मिंदा करने के लिए 'पब्लिक गार्डन' में अपनी प्रेयसी के साथ रात भर एकाकार हो कर शबनमी घास पर लेटे हुए दो पैकरे यख़बस्ता (हिम-विद्ध शरीर) बन जाने की राह सुझाते हैं, कभी खुदा को बेकार कहते हैं, कभी फ़रिश्तों के कंधों पर उसका जनाज़ा निकलवाते हैं और कभी उसे केवल पश्चिम का स्वामी बता कर उससे घृणा करते हैं।

ख़ुदा की मौत का ऐलान राशिद ने नीत्शे के ऐसे ही एक ऐलान से सर्वथा भिन्न संदर्भ में किया है। यह एशिया के अंधविश्वासपूर्ण, रोगी अतीत के अंत की घोषणा है क्योंकि कविता का अंत नये युग के स्वागत पर होता है।

राशिद अपने मदिरापान को भिखमंगे, 'सदरे आज़म' अर्थात् धर्मगुरु के रक्तपान से बेहतर अमल मानते हुए निहायत तीखा व्यंग करते हैं।

इधर राशिद में अधिक गांभीर्य आया है। उनकी सोच में एक दार्शनिक ठहराव और रखरखाव बढ़ा है। उत्तेजना और आक्रोश कम हुआ है। उनकी शैली में एक बहुत मनोहारी गीतात्मक आवेग नज़र आता है जो कविता की पंक्तियों को एक विचित्र तालमयता प्रदान करता

---

१. रूप, रेखाएँ २. नग्न।

है। अब वे अधिकाधिक प्रतीकों की भाषा में कविताएँ कह रहे हैं। उदाहरणार्थ, इसराफ़ील वह फ़रिश्ता है जो क़यामत के दिन सूर फूँकेगा (दुंदुभी बजायेगा) और तमाम मुर्दों को जगायेगा। राशिद ने एक कविता में आज के मृत वातावरण को एक प्रतीक के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इसराफ़ील मर चुका है। अब क़यामत या पुनर्जागरण का प्रश्न ही नहीं। आवाज़ें भूखी मर रही हैं। गायकों और वादकों को मौत की चुप लगी है। श्रोताओं के दिलों के तार चुप हैं। नगरों और जंगलों में कोई आहट नहीं। हवा और पानी का प्रवाह रुक गया है। दरिया थम गये हैं।

मर्गे इसराफ़ील से
इस जहाँ का वक्त जैसे सो गया, पथरा गया
जैसे कोई सारी आवाज़ों को यक्सर खा गया!
ऐसी तन्हाई कि हुस्नेताम[1] याद आता नहीं।
ऐसा सन्नाटा कि अपना नाम याद आता नहीं!
(इसराफ़ील की मौत)

नये मानव के अवतरण पर उनकी आस्था भी अब अधिक सशक्त है।

राशिद का दृष्टिकोण नयी शायरी के बारे में पहले ही से बड़ा व्यापक और संतुलित रहा है 'मावरा' में उन्होंने लिखा है:

समय के ज्वार-भाटे से राष्ट्रों की अनुभूतियों और सौंदर्य-धारणाओं और नीति के मापदंडों में अपने आप परिवर्तन आता है।...साहित्य में बैठे-बैठाये नयी विधाओं का प्रचलन अपने आप में कोई बड़ा शानदार कारनामा नहीं है...गर्व का विषय तो अस्ल में यह है कि प्रथमतया विचार, चिंतन के क्षेत्र में अन्वेषण हो, फिर नये विचार और चिंतन, अभिव्यक्ति और शैली के साथ पूर्णतया एकात्मकता स्थापित करें कि इससे साहित्यकार का व्यक्तित्व प्रगट हो सके...मेरी राय में तकनीकी बंधनों का धर्मांध आग्रह एक विगलित पुरातनवादिता का प्रमाण है, तो उसका उन्मत्त आक्रोशपूर्ण विरोध बहुत बड़ी हद तक पथभ्रष्टता का पर्याय है।
(मावरा : १९४१)

प्रयोगशीलता के बारे में १९६२ में राशिद ने लिखा है :

इन नये प्रयोगों का प्रभाव यह अवश्य हुआ है कि हमारी शायरी का पुराना गत्यवरोध टूट गया है और शायरी में एक नयी लचक, एक नयी गतिशीलता पैदा हो रही है। इस लचक और गतिशीलता ने हमारी शायरी में नये ख़यालात और नयी अनुभूतियों को हज़म करने की पात्रता पैदा कर दी है और शायरी के वे अलंकार और आभूषण जो उसके पतन के द्योतक थे कम हो गये हैं। नयी नज़्मों में नैरंतर्य, समग्रता और एकाग्रता ज्यादा नज़र आती हैं।

---

[1] पूर्ण सौंदर्य।

इसी लेख में राशिद ने मीराजी से अपनी तुलना भी की है :

मीराजी की नज़्मों की मिसाल एक कपड़े के थान की है जिससे डिज़ाइन या धारियों की रंगारंगी के बावजूद एक ही प्रभाव पैदा होता है। . . .मेरी नज़्मों में इस हद तक एकता नहीं है। मैं बहुधा पंक्तियों को तोड़ कर उनको सस्वर शब्दों से संबंध और समग्र करने की कोशिश करता हूँ। मैंने आज़ाद नज़्म से शायरी में भावों के स्वतंत्र नैरंतर्य के साथ-साथ समग्रता पैदा करने की कोशिश की है।

मीराजी और राशिद उर्दू की नयी कविता के दो बड़े प्रेरणा-स्रोत हैं जिनका प्रभाव अन्योऽन्य कवियों पर अचेतन और सचेतन रूप से पड़ा है। नयी कविता इन्हीं की परिभाषा और व्याख्या पर केंद्रीभूत है और उर्दू के काव्य-प्रयोगों की लक्ष्मण रेखा भी इन्हीं की खींची हुई है। इसका आशय यह नहीं है कि उर्दू की नयी कविता इन्हीं दो की बनायी हुई लीकों पर अंधा-धुंध चल रही है या इनकी अनुगामिनी बन कर रह गयी है या समसामयिक अनुभूतियों और नयी शैली, नयी विधाओं और नयी शब्दावली पर उसने अपने आँख-कान बंद कर लिये हैं। इन दोनों का अतिक्रमण करने वाले कवियों की भी कमी नहीं है। फिर भी इनके प्रयोगों की प्राथमिकता और उनके प्रारंभिक प्रयत्नों को भुलाया नहीं जा सकता और उनके प्रभावशाली कृतित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।

(क्रमशः)

— १४०, गांधी पार्क कॉलोनी,
इंदौर।

माध्यम
के
लेखकों से विनम्र निवेदन
है कि

- हम रचनाओं की अस्वीकृति की सूचना नहीं देते।
- स्वीकृत रचनाओं की सूचना साधारणतया रचना-प्राप्ति के एक पखवारे के भीतर दे देते हैं।
- रचनाओं की वापसी के लिए टिकट-लगा लिफ़ाफ़ा अवश्य भेजें।

‘अंचल’

दिग्दर्शी शिशिराकाश नवल !

फेंको उतार कर कृष्ण पक्ष का अंधकार,
घनवर्ती संध्याराग अस्तमित हो आया।
दिग्दर्शी शिशिराकाश! पंचमी झूल रही,
गुंजरित गीत किस ऐंद्रजालिका का गाया!

आह्वानित महाताल के दर्पण से फूटी,
बहुवर्ण दिवस की विनत विवस्त्रा छायाएँ।
फेंको प्रत्यावर्तित शारद पवमानों के,
अधजले निरावृत गाढ़ालिंगन सपनाये।

फेंको उतार कर अर्धसृजित चंद्रातप का,
संमोहित ज्वलित वृत्त पीताभों में ओझल।
आवेशित टूटे तारों की गृहहीन शिखा,
फेंको उतार कर ज्योतिर्रेखा वेगोज्वल।

फेंकों अपत्र वनलेखा के आक्षितिज धँसे,
गहरे श्यामल खेतों के तरलित नीलांचल।
अंजन की खोहों के गिरिपंखी अंतस को,
फेंकों उतार दिग्दर्शी शिशिराकाश नवल!

●

प्राचार्य,
शासकीय स्नातक महाविद्यालय,
रायगढ़।

गोविंद मिश्र

कहानी

नये पुराने माँ-बाप

बड़ा वो है गोपी—मैंने आज ज़रा उसे अपने छत पर चलने को कहा तो बोला, बड़ी लंबी-चौड़ी छत बनायी है न तेरे बापू ने, पाजी कहीं का, आख़िर क्या ख़राबी है मेरे छत में, छोटी है पर यहाँ पर छकपक करती जाती रेल दिखायी देती है—इस समय भी कोई रेल निकले तो कितना मज़ा आये, रेल को पास से देखने का जी करता है, इतनी बड़ी क्यों बनायी भगवान ने रेल—कितने सारे घर होते हैं उसमें, एक घर बापू दीदी और हमारे लिए भी हो तो कितना अच्छा रहे—हमारा घर चलता ही रहेगा, गोपी के पास वैसा घर नहीं होगा—पर फिर पतंग कहाँ से उड़ेगी—छत तो होती है रेल के घरों में पर उसकी सीढ़ियाँ कहाँ से होती हैं—फिर उसके चारों तरफ़ दीवार भी तो नहीं होती—बापू ने बिना दीवार की छत पर चढ़ने को मना किया है, बापू से कहूँगी कि वह रेल की छत पर दीवार बनवा दें, रेल जिस रास्ते से जाती है आज उसे देख कर आऊँगी पर बापू ने तो मना कर रखा है पटरियों के पास जाने को, स्टेशन तो कितने पास है अपने घर से, जो स्टेशन जाते हैं उन्हें रेल पर चढ़ने को मिलता है—जब हम मामा के यहाँ कानपुर जाते हैं तो हम भी स्टेशन जाते हैं, रेल आती है और हमें देख कर रुक जाती रहे, हम ऊपर चढ़ जाते हैं और फिर 'कू' कर के रेल चल पड़ती है—और रेल चली जाती है भागती—कितने सारे पहाड़ों-नदियों को नाकती-फाँदती—कितनी बहादुर है रेल—मैं तो रानी और गोपेश के ही चबूतरों को ही नहीं नाक पाती—उस दिन कैसी गिरी थी—नाक से ख़ून बहने लगा था तभी से दीदी ने नाकने को मना कर दिया था, रेल को कोई नहीं मना करता, रेल गिरती भी तो नहीं . . .

गोपी अपनी छत पर पतंग उड़ा रहा है—हूँ, जैसे मेरे छत से पतंग नहीं उड़ सकती—आज ही दीदी से कहूँगी कि किशोर दादा से कह कर मुझे एक पतंग मँगा दे, किशोर दा बहुत अच्छे हैं, दीदी जब भी किताब माँगती है भेज देते हैं, मुझे बहुत प्यार करते हैं—वह पीला-पीला सा मकान वही है उनका, उनके घर में छत नहीं है, सिर्फ़ दो कमरे हैं—अगले कमरे में वे पढ़ते हैं, पिछले में उनकी बूढ़ी माँ रहती हैं, कितने गंदे कपड़े पहनती हैं वे—जब मैं कोई किताब लाने किशोर दा के यहाँ जाती हूँ तो वे मुझे पास बुलाया करती हैं, मुझे उनके पास जाने में बड़ी बदबू लगती है—किताब ले कर मैं भाग देती हूँ—वह अपने बड़े-बड़े पीले-काले दाँत निकाले हँसती रहती हैं—छि, कितने गंदे दाँत हैं ! माँ होती तो उनसे पूछती कि उनके दाँत इतने गंदे क्यों हैं। मेरी माँ मर गयी हैं—मरना क्यों होता है, दादी कहती थी—आदमी चला जाता है और फिर वापस नहीं

आता—कहाँ चला जाता है—दीदी से पूछूँगी और मैं भी रेल में चढ़ कर वहीं चली जाऊँगी—वहाँ से अपनी माँ को ले कर आऊँगी दीदी तो बस 'मुझे पढ़ने दे' कह कर टाल जाती हैं—आखिर दीदी हर समय इतना सारा क्या पढ़ती रहती है—पढ़ती है, या फिर अपनी खिड़की पर जा बैठती है और किशोर दा के घर की ओर ताका करती है, किशोर दा भी बाहर निकल कर दीदी की तरफ़ देखा करते हैं—और दोनों एक-दूसरे को जाने क्यों देखते रहते हैं—जैसे कुछ बात करना चाहते हों या बात कर रहे हों, दीदी क्यों नहीं उनके यहाँ चली जाती या उन्हें यहाँ बुला लेती—अभी जाकर दीदी से पूछूँगी कि किशोर दा को बुला लाऊँ फिर तो दीदी मुझे जरूर चाकलेट को पैसे देगी—

मैं अम्मा के पास जाऊँगी रेल में बैठ कर क्योंकि मुझसे दीदी और बापू दोनों नाराज़ हैं दीदी कहती थी कि 'ससुरो से कहा था बापू से न कहना' और उन्होंने मेरी सारी पतंगें फाड़ डाली हैं जो मैंने किशोर दा के दिये हुए पैसों से ली थीं लेकिन मैंने कुछ कहा तो नहीं बापू से सिर्फ़ किशोर दा की बड़ाई की थी कि वे बड़े अच्छे हैं, मुझे रोज़ पैसा देते हैं और दीदी के बुलवाने पर रोज़ आ जाते हैं—आखिर इसमें क्या था कि बापू मुझे डाँटने लगे—"टाँग तोड़ डालूँगा जो अब वहाँ गयीं"—मेरी टाँगें टूट गयीं तो क्या मुझे भी उस लँगड़े की तरह सड़क पर घिसट कर चलना और भीख माँगना पड़ेगा, जाने क्यों मना करते हैं बापू किशोर दा के यहाँ जाने से—वह तो इतने अच्छे हैं—उनकी माँ ज़रूर गंदी हैं सो मैं उनसे मिलती भी नहीं बापू बड़े ग़ुस्सैल हैं—दीदी को जाने क्या-क्या कहा था कि दीदी दरवाज़ा बंद किये रहीं थी दिन भर, मैंने छत से खिड़की में झाँक कर देखा था—उनकी आँखें लाल थीं, वह रो रही थीं और मुझे भगा दिया था—कहती थी "मुझे न दिखा अपनी सूरत"—क्या मेरी सूरत खराब है, गोपी की अम्मा तो कहती हैं कैसी भोली शक्ल पायी है मैंने—यह 'भोली' क्या होती है और कहाँ से मिलती है—क्या मुझे किशोर दा ने दी है—और किसने दी है, गोपी की अम्मा से ही पूछूँगी—'चाची यह भोली क्या होती है'—क्यों न दीदी से हाँ, अभी पूछ लूँ पर वह तो किवाड़ बंद किये पड़ी रहती हैं—खोलती बहुत कम हैं, खिड़की . . . वह तो बापू ने जिस दिन मुझे डाँटा था उसी दिन शाम को निकलवा दी थी—उसकी जगह लाल ईंटें चिपकवा दी हैं—कितनी अच्छी लगती हैं नयी-नयी ईंटें—कालू का सारा का सारा घर ऐसी ईंटों का ही बना है—कितना अच्छा लगता है, क्यों नहीं बापू अपने घर की काली ईंटों की जगह लाल ईंटें लगवा लेते—कल ही बापू से कहूँगी —पर नहीं रे कहीं ग़ुस्सा हो गये तो . . . . . .

गोपी के अलावा मुझे किसी के पास बैठने को नहीं मिलता—वह भी कभी-कभी ग़ुस्सा हो जाता है और मुझसे बात नहीं करता तब मुझे बड़ा ख़राब लगता है, दीदी खाना बना कर चुपचाप मुझे परोस देती हैं—मुझसे कुछ बोलती नहीं—मुझे खाना बिलकुल अच्छा नहीं लगता, दीदी के साथ बर्तन धुलाने की भी तबियत नहीं होती क्योंकि दीदी की आँखें हमेशा रोते रहने से लाल रहती हैं—सिवाय रोने के और कुछ नहीं आता दीदी को, आजकल खेलने को भी नहीं मिलता—कुछ दिनों तक हम कितने सारे थे खेलने को—इतने सारे लोग हमेशा रहते इस घर में तो कितना अच्छा रहता—हम छत पर खेलते थे, गोपेश कहता था कि मेरी छत छोटी है—वहाँ 'ताड़-ताड़' नहीं खेली जा सकती—उस दिन तो कितना खेले थे हम ताड़-ताड़, हमारे घर बाजे भी तीन-चार

दिन ख़ूब बजे—दीदी से पूछा था कि बाजे क्यों बज रहे हैं तो वह रोने लगी थीं—ज़रा सी बात पर रोना, हर बात पर रोना—बस यही आता है दीदी को —सब लोग तो इतना ख़ुश थे, गोपी की अम्मा से पूछा था तो वह बोली थीं कि मेरी नयी माँ आने वाली हैं, माँ भी क्या नयी होती हैं और जिन्हें मेरी नयी माँ बताया गया वह तो मेरी माँ नहीं हैं—फिर भी वह मेरे घर में रहती हैं क्यों, वह तो माँ जैसी भी नहीं लगतीं—दीदी जैसी लगती हैं, फिर भी दीदी जो इतनी बड़ी हैं उन्हें माँ कहती हैं, वह मेरी माँ की तरह मुझे अपने साथ सुलाती भी नहीं हैं—मैं नहीं कहूँगी उन्हें माँ—नयी दीदी ही कहूँगी—उनके आने से मुझे बाबू जी के कमरे से जहाँ मैं रोज़ सोती थी निकाल दिया गया—चाची जी कहती थीं कि मेरी माँ अभी नयी हैं इसलिए मैं अभी वहाँ नहीं सोऊँगी—क्यों—क्या मैं उन्हें नयी से पुरानी कर देती और माँ तो बस माँ होती है—नयी या पुरानी थोड़े ही, मेरी नयी दीदी के साथ सोने की तबियत थी क्योंकि वह ख़ूब अच्छे कपड़े पहने थीं—मुझे डपट कर उनके कमरे से निकाल दिया गया, मैं पुरानी दीदी के कमरे में सिसकती रही—दीदी अब भी मुझसे कुछ बातें नहीं करतीं—किशोर दा आते रहते थे तो कितना ख़ुश रहती थीं, कितने दिनों से उन्होंने न किशोर दा को बुलाया ही है और न ही उनसे कोई किताब ही मँगायी है, वे अब उतना पढ़ती भी नहीं हैं—बस, काम और काम के बाद हथेली पर सिर रखे कुछ सोचती रहती हैं, उनकी आँखें भींगी मिलती हैं, वह मुझसे छिपाने की कोशिश करती हैं मगर मैं जान जाती हूँ—कल दीदी का रोना बंद कराने के लिए मैंने सोचा किशोर दा को बुला लाऊँ, दीदी से पूछा तो वह डपट बैठीं—'चुप'—किवाड़ बंद कर लिये कि कहीं दूसरे कमरे में बापू और नयी दीदी न सुन लें—आखिर दीदी इतना डरती क्यों हैं, बापू से डरें तो कोई बात नहीं है—नयी दीदी से भी डरती हैं, उनको माँ कहती हैं, वह मुझे ज़रा भी अच्छी नहीं लगतीं, मुझे प्यार भी तो नहीं करतीं, मेरी माँ तो मेरे साथ सोती थीं और वे इतने बड़े बापू को अपने साथ लिटाती हैं—कल रात मेरी नींद खुल गयी तो सोचा, नयी दीदी के साथ सो जाऊँ चुप्पे से। बापू के कमरे में गयी तो देखा, नयी दीदी इतने बड़े बापू को साथ लिटाये हुए हैं—बच्चों को ही साथ लिटाया जाता है बूढ़े लोगों को नहीं, दीदी से सुबह पूछा भी तो उन्होंने धत कहकर डपट दिया—दीदी तो कुछ नहीं बतातीं—सिर्फ़ डपटना जानती हैं पर फिर भी दीदी मुझे बड़ी प्यारी लगती हैं, आज जब सबेरे मैंने नयी दीदी के लिए बापू जो रबड़ी लाये थे, खा डाली थी और बापू मुझे मारने लगे थे, नयी दीदी ने मुझे बचाया नहीं लेकिन पुरानी दीदी मुझे बापू से छुड़ा कर अपने कमरे में ले गयी थीं और मुझे चिपटा कर ख़ूब रोयी थीं, वह कहती थीं आज से तू मेरे पास सोया कर और मैं तेरे लिए ज़िन्दा रहूँगी—ज़िंदा रहना क्या होता है दीदी—दीदी ने कहा था कि माँ की तरह वह मुझको छोड़ कर नहीं जायँगी, वह मुझे माँ की तरह प्यार करेंगी—मुझे लगता है मेरी पुरानी माँ दीदी हैं और मेरा पुराना बापू किशोर दा—क्यों नहीं हम तीनों साथ रहते—कल किशोर दा से जाकर चुपचाप पूछूँगी . . . .।

—आयकर कार्यालय,
धनबाद।

राबिन शॉ 'पुष्प'

दो कविताएँ

बीते वर्ष का एक रोमांटिक पक्ष

एक नदी पटरी की,
एक लहर रेल की,
एक नाव सामीप्य की
और पाल धुएँ का...
तुमने है देखा ?
मैं नित्य इसे देखता हूँ,
पूरब से पश्चिम को
यूँ गुज़र जाती है...
जैसे कोई किरन--
धूप की डोली पर जाती है
(पश्चिम ?)
आज मगर अभी कुछ देर पूर्व
मैं यह सोचता रहा हूँ...
कि लहर रेल की थम जाय,
नदी पटरी की जम जाय
पर तुम डिब्बे में यूँ दाख़िल हुईं
जैसे भविष्य.
और छड़-लगी खिड़की से ,
मायूस-थकी दृष्टि यूँ फेंक दी
जैसे उदास-हारा सा वर्तमान !
और अब मैं प्लेटफ़ार्म पर...
बस यही सोच रहा हूँ
कि पटरी-सी नदी पर—
एक रेल-लहर से
यह जो सामीप्य की नाव...
धुएँ के पाल पर,
पूरब से पश्चिम को गयी है;
फिर कब पश्चिम से पूरब को आयेगी ?
देगी कब दरस ?
(कभी लौटा है...बीता बरस ?)

एक अंकित नाम

तुम बीमार हुए, लगा—
कविता के मार्क्सवादी अंग को
कोई रोग हो गया।
और सुबह उठते ही—
मृत्यु की सूचना... कस्तूरी की गंध,
(मीलों की परिधि में एक-सी)
मगर मैं कंधा नहीं दे सका...
(हर किसी के भाग्य में कस्तूरी कहाँ !)
लगता है,
दरवाज़े पर एक पुकार खड़ी थी,
मैंने अनसुनी कर दी...
'मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कहीं';
परंतु अब, ओ यात्री !
'बोध-गया' में एक और
पीपल का दरख़्त उग आया है,
जिसके नीम-नंगे-जिस्म पर...
समय ने तुम्हारा नाम
अंकित कर दिया है—
मु क्ति बो ऽऽ ध...

●

अशोक मिल, नीमतल्ला,
मुंगेर (बिहार)।

आशा रानी व्होरा

रेती का एक ढेर

मैंने देखा—
रेती का एक ढेर।
दिन-दिन भर झुलसता
गर्म लू-सा;
रात-रात भर, ओस-भीगा,
सर्दीला, बर्फ़-सा।
जिस किसी ने घोंसला बनाया—
ढह गया;
बाढ़ आयी—
कुछ बह गया, कुछ रह गया;
आँधी आयी—
उड़ा, तो आँख की किरकिरी ही बना;
छींटे पड़े—
भीगा, तो पीड़ा की झुरझुरी-सा लगा;
सूरज ने किरणें फेंकीं—
चमका नहीं, चौंधिया गया;
और कुछ न हुआ
तो पड़ा-पड़ा अघा गया।
रेती का यह ढेर—
या
मेरी ज़िंदगी का
पचपन का फेर।

●

फ़्लैट नं० १०, न्यू मार्केट,
वेस्ट पटेल नगर, दिल्ली–१२।

शेफाली

बड़ा बुरा मौसम है!

बड़ा बुरा मौसम है;
हर वक़्त चलती है आँधी ही आँधी
धूल भरी!

अभी सुबह ही बुहारा था
मन का यह कमरा
बड़ी तन्मयता से!

लेकिन—
शाम होते-होते ही
कमरे की हर चीज़
ढक गयी है—
उदासियों की गर्त से।

तंग आ गयी हूँ
इस मौसम से!

कल सुबह कमरे को
फिर से बुहारूँगी ही।

●

२१२६।४, प्रेमनगर, पूसा,
नयी दिल्ली–१२।

राजेन्द्र एस० प्रदीप

निवेदन

किसी दिलकश गीत की
अनगाये छंद-सी
वर्षों से पृष्ठों पर
अंकित, दो जिल्दों के बीच
अनजाने परिवेश में
बँधी हो, बंद हो,
आओ, एक क्षण ख़ातिर
खिड़की पर आ बैठो
दुनियादारी की हवा लगे
पृष्ठ फड़फड़ाये
और मैं तुमको....।
नहीं !
उस दिलकश गीत के
अनगाये छंद को पढ़ लूँ।

द्वारा श्री आर० के० श्रीवास्तव,
पो० बॉ० २११, नयी दिल्ली–१।

● ●

सुदीप कुमार बनर्जी

शब्दः खे...

(गीता ॥७।८॥)

आकाश की गहराई
उसकी ऊँचाई से
अधिक व्यंजक है;
मैं उड़ूँगा नहीं !
उतरूँगा,
डूबूँगा––आकाश में।

●

२०४, गौतम मार्ग,
उज्जैन (म० प्र०)।

रवि अग्रवाल

सर्जन-प्रक्रिया का मानवीय धरातल

हर प्रकार की कला का मनोवैज्ञानिक आधार होता है। कला चाहे काव्य हो या चित्र, नृत्य हो या संगीत अथवा कोई अन्य प्रकार का कलात्मक सर्जन, सबके पीछे कलाकार के बाह्य जगत की अपेक्षा आंतरिक जगत प्रमुख रहता है। किसी विशिष्ट स्थिति में कलाकार की बहिर्मुखता अपने आपमें सिमट कर इतनी अंतर्मुखी हो जाती है कि उसका चेतन अस्तित्व समाप्त हो जाता है और कलाकार आभ्यंतरिक जगत का प्राणी बन कर अपने अचेतन मन की अभिव्यक्ति करने लगता है। कला का संबंध प्रत्यक्ष ज्ञान, चिंतन, तर्क, स्मृति, विवेचन या संवेदन से नहीं होता वरन अज्ञात मन से होता है जो किन्हीं विशिष्ट क्षणों में अनजाने ही अभिव्यक्ति पा लेता है।

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक काल तक अनेक विचारकों ने सर्जन-प्रक्रिया की आंतरिक प्रेरणा को मानवीय धरातल नहीं दिया था। विचारकों ने सर्जन-प्रक्रिया में आंतरिक प्रेरणा को स्वीकारा है पर इसका संबंध दैवी शक्तियों से स्थापित कर अनेक भ्रांतियों को प्रश्रय दे दिया है। आवश्यकता इस बात की है कि हम आंतरिक प्रेरणा को दैवी प्रेरणा न मान कर अचेतन मन की प्रेरणा स्वीकार करें। हिंदी साहित्य का आदि, मध्य और रीतिकाल कला की आंतरिक प्रेरणा को दैवी प्रेरणा ही मानता रहा। उसी का परिणाम है कि जयदेव के अधूरे गीतों को भगवान कृष्ण पूरा करते थे, विद्यापति के यहाँ स्वयं भगवान शंकर चाकरी करते थे, अंधे सूरदास को अपने अंधेपन में ही इतना दीखता था कि वे बाल कृष्ण की सूक्ष्म से सूक्ष्म लीलाओं की सुंदर झाँकी प्रस्तुत कर वात्सल्य रस की अजस्र धारा प्रवाहित करने में समर्थ हो सके और तुलसी की वाणी पर स्वयं सरस्वती जी का निवास हो गया। इसीलिए रीतिकाल तक तो कला का मनोवैज्ञानिक अध्ययन न हो सका। अध्ययनकर्ताओं की दृष्टि रूढ़ि से आगे बढ़ कर जीवन के सत्य को समझने में समर्थ नहीं हो सकी। जो भी मूल्यांकन हुए वे रूढ़ियों और परंपरागत विचारों की छाया में ही हुए। व्यक्ति को पीछे छोड़ दिया गया, उसकी इच्छाओं, भावनाओं, उसके द्वंद्व, उसके संघर्ष को कोई महत्व नहीं दिया गया। कला के निर्माण के पीछे जो मूलभूत प्रेरणा है, वह प्रकाश में न आ सकी। लेकिन समय की गति के साथ दैवी प्रेरणा का सिद्धांत धूमिल होने लगा। अब व्यक्ति की आंतरिक वृत्तियों की झाँकी दिखला कर उसके भीतर चलने वाले संघर्षों को प्रस्तुत कर के यह स्पष्ट कहा गया कि व्यक्ति का अचेतन मन ही उसकी कला के पीछे किसी न किसी रूप में अभिव्यक्ति पाता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने दैवी प्रेरणा का संबंध मानवेतर जगत से न जोड़

कर मानवीय जगत से स्थापित किया और कला को व्यक्ति का आंतरिक उद्गार माना। वास्तविकता तो यही है कि सर्जन-प्रक्रिया मानवीय धरातल से होती है, शुद्ध मानवीय धरातल से जो मानव की अचेतन वृत्तियों की अभिव्यक्ति है।

कला के पीछे बौद्धिकता का, बौद्धिक प्रयास का बल नहीं मिलता है, बल व्यक्ति के अचेतन उद्गारों का रहता है जिसके प्रकाशन के लिए किसी कलाकार को प्रयास नहीं करना पड़ता, वरन वे स्वयं उठ-उठ कर कलाकार के व्यक्तित्व को अपने रँग में रंग लेते हैं। इसीलिए आधुनिक विचारकों ने कला को आह्लादपूर्ण संवेगात्मक अनुभूति कहा है। आधुनिक मनोविज्ञान ने सर्जन का संबंध कलाकार के आंतरिक मन से स्थापित कर के यह उद्बोध किया है कि जब तक कलाकार का आंतरिक जगत सजग हो कर क्रियाशील नहीं होता, उसके भाव उग्र एवं सक्रिय नहीं होते तब तक सर्जन असंभव है। कलाकार के अचेतन मन से एक विस्फोट होता है—भीषण, अति भीषण—और इसी विस्फोट में कलाकार का सचेतन मन अपने स्वतः के बंधन ढीले कर बैठता है और इतने ढीले कि वह एक स्थान पर खड़े उस समय तक शांत बना रहता है जब तक कलाकार अपने संवेगों में डूबा रहता है। यहाँ पर सर्जनकर्ता कलाकार मध्यस्थ बन कर कला का सर्जन नहीं करता, वरन अपने ही आंतरिक संवेगों को प्रकट करता है।

कला-निरूपण के विषय में जो भी अनुसंधान हुए हैं, उनमें फ़्रायड, एडलर और युंग के नाम उल्लेखनीय हैं। फ़्रायड ही पहला मनोविश्लेषणवादी था जिसने मानव के अचेतन मन के अस्तित्व की कल्पना कर के कला के क्षेत्र में क्रांतिकारी पग उठाया। उसने यह माना है कि मानव का अचेतन मन अनेक दमित इच्छाओं का अक्षय भंडार है। ये दमित इच्छाएँ भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा अपना प्रकाशन करती हैं पर जब तक इनका प्रकाशन नहीं होता, वे अचेतन मन में पड़ कर अनेक भावना-ग्रंथियों का निर्माण करती हैं। भावना-ग्रंथियाँ अति क्रियाशील होती हैं पर व्यक्ति उनकी क्रियाशीलता से परिचित नहीं हो पाता। व्यक्ति के जीवन पर इन भावना-ग्रंथियों का गहरा प्रभाव पड़ता है। कलाकार की सर्जनात्मक वृत्ति इससे प्रभावित होती रहती है। फ़्रायड ने अचेतन मन की भावना-ग्रंथियों का, जिनका निर्माण व्यक्ति की दमित इच्छाओं से होता है, और जो काममूला हैं, कलाकार के जीवन से संबंध स्थापित किया है और यह स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि कलाकार का अचेतन मन अपनी अभिव्यक्ति के लिए किस प्रकार से अनेक प्रतीकों का सहारा ले कर कला के रूप में सामने आता है। इस प्रकार से फ़्रायड ने कला को समझने के लिए अचेतन मन के गूढ़ स्तरों में छिपे भावों को समझना आवश्यक माना है। उसके अनुसार कला कलाकार की आंतरिक दमित वृत्तियों का प्रकाशन मात्र है जो अचेतन की उग्रता एवं सक्रियता का परिणाम है।

मनोविश्लेषण में कला को अचेतन भावों के परिमार्जित एवं संशोधित स्वरूप में स्वीकार किया गया है। परिमार्जन एक मानसिक क्रिया है जिससे मानव की प्रकृत इच्छाएँ परिशोधित हो कर उदात्त बनती हैं। स्पष्ट है कि मानव की प्रकृत इच्छाओं की शक्ति अपनी वासनात्मक तुष्टि के लिए न हो कर उच्च भाव-प्रतिपादन के लिए होती है। फ़्रायड ने अपने ग्रंथ 'सिविलाइज़ेशन एंड इट्स डिस्कंटेंट' में लिखा है कि **प्रकृत वृत्ति का परिमार्जन सांस्कृतिक विकास के लिए अत्यावश्यक है।** (पृ० ६३) इस तरह से न तो प्रकृत इच्छाओं पर प्रतिबंध लगता है और न उनके

दमन से जीवन में घुटन का अनुभव होता है वरन कामशक्ति का प्रवाह एक विशिष्ट दिशा में उन्मुख हो जाने के कारण इच्छाओं की अभिव्यक्ति सुंदर एवं मधुर ढंग से हो जाती है। शार्प्स का कहना है, **परिमार्जन तो अनेक चिंताओं की निवृत्ति, उनके नियंत्रण एवं निराकरण का मात्र कारण है।** (ईयर बुक ऑफ़ साइकोएनालिसिस, पृ० ११८) कामवृत्ति का यह परिमार्जन एवं संशोधन कला की प्रेरणा है। प्रवृत्त इच्छाओं को सुसंस्कृत बनाने के लिए उनका परिमार्जन आवश्यक है और उनकी अभिव्यक्ति कला में होती है। इससे एक ओर प्रकृत इच्छाओं को रचनात्मक भूमि मिल जाती है और दूसरी ओर कलाकार का व्यक्तित्व बिखरने नहीं पाता।

इस तरह से कला के लिए प्रकृत इच्छाओं का परिमार्जन अत्यावश्यक है। यदि इन इच्छाओं का परिमार्जन न हो तो व्यक्ति स्वभाव से आदिम इच्छाओं का दास बन कर निरा पशु ही बन कर रह जाय। मानव के भीतर जो पशुत्व है, उसका उदात्तीकरण ही कला है। इसीलिए ह्वाइटहेड ने लिखा है कि **कलाकार की अव्यक्त इच्छाओं का परिमार्जित रूप सुंदर ढंग से कला के रूप में व्यक्त होता है। इससे अव्यक्त इच्छाओं को मधुर भूमि और जीवन को तुष्टि मिलती है।** (साइकोएनालिसिस, पृष्ठ ११६)

अज्ञात मन की प्रकृत इच्छाएँ अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम खोजा करती हैं। इच्छाओं के परिमार्जित न होने पर व्यक्ति का जीवन प्रमुख रूप से चार प्रतिक्रियाओं का शिकार बनता है। (डी० जेम्स, अबनार्मल साइकॉलोजी, पृष्ठ ३३-३७) पहला, या तो व्यक्ति आक्रामक प्रवृत्तियों की ओर प्रेरित हो कर समाज-विरोधी कार्यों में लग जाय। इस प्रकार के व्यक्ति दूसरों को व्यथित करने की मनोदशा में आ जाते हैं। दूसरों को प्रकृत इच्छाओं से पीड़ित करने और उसकी आशा न होने पर किसी अन्य प्रकार से व्यथित करते रहते हैं। दूसरा, या तो व्यक्ति इच्छा-पूर्ति के तीव्र प्रयास में लग जाय। ऐसा रूप उन व्यक्तियों में मिलता है जो शक्तिशाली होते हैं, जिनमें निराशा और निर्बलता नहीं के समान होती है। अपनी इच्छा की पूर्ति के तीव्र प्रयत्न में व्यक्ति अनेक उपायों से अपनी तृप्ति करते हैं; तृप्ति का ढंग अलग-अलग हो सकता है। तीसरा, या तो व्यक्ति अपनी बलहीनता का प्रदर्शन कर के जीवन के प्रति निष्क्रिय हो जाय। ऐसे व्यक्ति जीवन में किसी का, किसी सिद्धांत का या विचारधारा का विरोध नहीं करते, उसके समक्ष अपना सिर झुका देते हैं और बिना किसी प्रतिरोध के सब कुछ सह लेते हैं। चौथा, व्यक्ति अपनी परिस्थितियों से समझौता कर लें। यह समझौता विवश हो कर किया जाता है। यहाँ पर व्यक्ति जीवन से संघर्ष नहीं करते वरन जीवन की विविध परिस्थितियों के अनुकूल जीने का प्रयास करने लगते हैं। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि प्रकृत इच्छाओं के विकृत रूप, सलैंगिक आकर्षण, अनुचित एवं समाज-विरोधी रूप में प्रकट होने वाले लैंगिक व्यवहार के रूप में सामने आते हैं। इन प्रतिक्रियाओं के अनेक कारण हो सकते हैं। व्यक्ति अपने निश्चित उद्देश्य की अप्राप्ति तथा सामाजिक एवं नैतिक बंधनों के कारण अपने आप में घुटता रहता है जिससे उसमें भावनात्मक तनाव आ जाता है, जिससे मुक्त होने के लिए वह असामाजिक कार्यों में लग जाता है। तनाव से छुटकारा पाने के उक्त ढंग अस्वस्थकारी एवं अहितकर होते हैं। इसीलिए जीवन के स्वस्थ विकास के लिए प्रकृत इच्छाओं का परिमार्जन अत्यावश्यक है। यह परिमार्जन प्रकृत इच्छाओं

का उदात्तीकरण ही कहा जा सकता है जो उन्नत गुणों को प्राप्त कर कला के रूप में व्यक्त होता है। जब प्रकृत इच्छाएँ परिशोधित हो कर अभिव्यक्ति पा लेती हैं तब कला की सर्जना होती है। इस तरह से प्रकृत इच्छाओं का अस्वस्थ प्रकटीकरण जीवन की विनाशात्मक क्रियाओं में और स्वस्थ प्रकटीकरण रचनात्मक क्रियाओं में व्यक्त होता है, जो कवि की लेखनी पर आ कर विविध वृत्तियों के रूप में, चित्रकार के चित्रों के रूप में, शिल्पी के लिए मूर्तियों आदि के रूप में उभर कर सामने आता है। इसलिए कलाकार को जब तक आंतरिक जगत से प्रेरणा नहीं मिलती, तब तक वह सर्जन नहीं कर सकता।

दमित इच्छाओं का प्रकाशन स्वप्न में भी होता है, पर स्वप्न और कला में सानुरूपता होने के साथ मूल अंतर भी है। सानुरूपता इस दृष्टि से है कि कला और स्वप्न में अज्ञात मन की दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति होती है। अंतर इस दृष्टि से है कि कला में दमित इच्छाएँ परिमार्जित एवं संशोधित रूप में प्रकट होती हैं, जब कि स्वप्न की इच्छाएँ अचेतन का स्वच्छंद प्रकटीकरण हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि दोनों में व्यक्ति को प्रबल तनाव से छुटकारा मिल जाता है। इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि जिसकी इच्छाएँ परिमार्जित एवं उदात्त हो जाती हैं वह कलाकार बन जाता है, जिसकी इच्छाएँ परिमार्जित नहीं हो पातीं, अथवा जो परिमार्जन में असमर्थ रहता है वह या तो स्वप्नों में खोया रहता है अथवा असामाजिक हो जाता है। व्यक्ति में इतना सामर्थ्य होना चाहिए कि उसका अहं अज्ञात मन का सामना कर सके। ऐसा देखा गया है कि संघर्ष के कारण व्यक्ति का अहं दुर्बल बन जाता है, इसीलिए वह अहं और इदं के मध्य समझौता करता है। इसी में उसे संतोष मिलता है। ऐसे क्षणों में कलाकार पूर्ण काल्पनिक न बन कर अपनी भाव-कल्पनाओं को यथार्थ से संबंधित रखता है। इसीलिए कलाकार की भाव-कल्पनाएँ स्वप्न की कल्पनाओं से भिन्न होती हैं। स्वप्न की कल्पनाएँ अपने में पूर्ण स्वतंत्र होती हैं, उन्हें यथार्थ की भूमि की आवश्यकता नहीं होती। स्वप्न की भाँति माध्यमहीन न होने के कारण कलाकार अपनी भाव-कल्पनाओं को रूप देने में समर्थ हो जाता है। इस तरह से कलाकार अपनी भाव-कल्पनाओं के अनुरूप ही कला का निर्माण करता है। यदि उसके अहं और इदं के बीच समझौता पूरी तौर पर नहीं हो पाता और उसके आंतरिक मन में संघर्ष चलता रहता है तो निश्चय ही उसकी कलाकृति बिखरी हुई दृष्टिगत होती है। कला में जो कुछ भी दिखता है, वह कलाकार के आंतरिक जगत की ही अभिव्यक्ति है।

अज्ञात मन के सिद्धांत को ले कर फ़्रायड ने जो कल्पना की थी और कलाकार के अचेतन को रुग्ण प्राणी का अचेतन मान कर कला के सामाजिक मूल्यों पर जो आघात किया, वह उसकी भूल थी। इससे उसकी आंतरिक मन की व्याख्या एकांगी हो गयी। उसने तो कला की आस्था ही समाप्त कर दी, इससे कला का मूल्य कुछ भी नहीं रह गया। रोगियों की चिकित्सा के आधार पर उसने जो सिद्धांत निर्मित किये, वे कला के स्वस्थ रूप पर लागू नहीं किये जा सकते हैं। कला का सामाजिक मूल्य होता है, वह सामूहिक जीवन को सामने लाती है। सार्वभौमिकता में ही उसका महत्व आँका जाता है। अतः कलाकार का आंतरिक मन विक्षिप्त व्यक्ति का आंतरिक मन नहीं हो सकता। कला-सर्जन के अवसर पर कलाकार अपने सामान्य जीवन से ऊपर उठ कर 'वह'

नहीं रह जाता जो था, वरन कुछ विशिष्ट बन जाता है पर उसे अपनी इस विशिष्टता का भान नहीं होता, इसीलिए उसे स्वयं अपनी सर्जना पर आश्चर्य होता है। यहीं पर आ कर कलाकार दुहरे व्यक्तित्व का प्राणी हो जाता है। इस समय वह जो कुछ भी सर्जन करता है, उसमें उसकी वैयक्तिकता नहीं, सार्वभौमिकता की झलक मिलती है। कलाकार रचना के क्षणों में निजी राग-विराग, आकांक्षाओं, सुख-दुख, कुंठाओं से अलग हट कर शाश्वत सत्य का उद्घाटन करता है जिससे उसकी रचना में व्यक्ति का नहीं, मानवीयता का साम्राज्य हो जाता है; वह रचना व्यक्ति विशेष के भावों का नहीं प्रत्येक के भावों का द्योतन करने लगती है। उसे व्यक्ति की गाथा न कह कर सामान्य जीवन की गाथा कह सकते हैं। इसीलिए कला वैयक्तिक नहीं, निर्वैयक्तिक हो जाती है जो देश-काल की सीमा पार कर विश्वजनीन सत्य की ओर संकेत करने लगती है। यही कारण है कि अनेक कवि एवं कलाकार आज भी हमारे मध्य जीवित हैं और युग-युगों तक इसी प्रकार जीवित रहेंगे। फ़ायड ने कला की सार्वभौमिकता की ओर ध्यान ही नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि उसने कला को पूर्ण वैयक्तिक बना कर कलाकार के रुग्ण मानस की अभिव्यक्ति का साधन मात्र बना कर छोड़ दिया। कला के प्रसंग में वैयक्तिक दमित भावनाओं के महत्व को स्वीकार किया जायगा, पर कला एकमात्र दमित भावनाओं का ही प्रदर्शन करती है, इसे नहीं माना जा सकता। कला युग-युगों तक इसीलिए जीवित रहती आयी है कि उसमें प्रत्येक को अपने अनुरूप कुछ न कुछ मिलता रहा है। यदि ऐसा न होता तो कला समय के साथ ही अपना अस्तित्व खो देती। जो कला समय के साथ ही मिट जाती है, उसमें निश्चय ही सार्वभौमिक सत्य का उद्घाटन नहीं मिलता है।

कला के सामाजिक मूल्य और सार्वभौमिक सिद्धांत को स्वीकारने के कारण युंग ने फ़ायड और एडलर के अचेतन मन की मान्यताओं का विरोध किया। यहाँ पर इतना और कह देना चाहता हूँ कि एडलर ने कला का संबंध व्यक्ति की हीन भावना से स्थापित किया है। एडलर की स्थापना है कि हीनता की भावना-ग्रंथि व्यक्ति के विकास में सहायक होती है। अचेतन की हीन भावना व्यक्ति को हीन कहती है पर व्यक्ति उसे चेतन स्तर से स्वीकार नहीं करता अतः चेतन उतनी ही शक्ति से प्रतिक्रिया कर के अचेतन का विरोध कर उसके विपरीत मान्यता स्थापित करता है। इस प्रकार से व्यक्ति क्षति-पूर्ति कर लेता है। इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति की प्रतिभा उसकी निर्बलता की प्रतिक्रिया है। इतना तो यहाँ स्वीकार किया जा सकता है कि व्यक्ति अपनी निर्बलता के कारण हीनता का अनुभव करता है, इसलिए वह उसकी क्षति-पूर्ति के लिए प्रयत्न कर के अपनी निर्बलता को छिपा देता है पर इसे सिद्धांत रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, जैसा कि एडलर ने स्वीकार किया है। कला के क्षेत्र में उसकी यह धारणा नितांत भ्रामक है।

युंग ने कला का संबंध सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास से जोड़ा है और उसके द्वारा सार्वभौमिक सिद्धांत के प्रतिपादन की बात कही है। युंग ने अचेतन मन को व्यक्तिगत अचेतन मन और सामूहिक अचेतन मन में विभक्त कर के व्यक्तिगत अचेतन मन में दमित भावनाएँ, विस्मृत बातें तथा जीवन के विभिन्न अनुभव माने हैं और सामूहिक अचेतन मन में उत्तरा-

धिकार में प्राप्त वंशगत गुण-अवगुण रहते हैं। व्यक्तिगत अचेतन मन में जीवन की विभिन्न परिस्थितियों तथा सामाजिक एवं नैतिक नियमों के कारण जब किसी की इच्छा का दमन होता है तो वह चेतन से निकल कर व्यक्तिगत अचेतन में दमित हो जाती है जो समय-समय पर चेतन होती रहती है पर सामूहिक अचेतन व्यक्ति को जन्मजात प्राप्त होता है और इसमें वंश-परंपरा के अनुभव, जातीय विशेषताएँ, मूल प्रवृत्तियाँ तथा भाव-प्रतिभाएँ संचित रहती हैं। ये जातीय गुण, स्वप्न, कल्पनाएँ आदि लोक-कथाओं तथा प्राचीन कहानी-क़िस्सों के रूप में स्थानांतरित होते रहते हैं जो भाव-प्रतिमाओं के रूप में व्यक्ति के सामूहिक अचेतन में रहते हैं। प्रत्येक भाव-प्रतिमा मानवीय स्वभाव, उसके सुख-दुख, आनंद का इतिहास ले कर पूर्वजों के जीवन से आज तक उसी रूप में स्थानांतरित होती आ रही है। युंग ने कला के साथ इसी भाव-प्रतिमा का संबंध स्थापित कर के उसकी सार्वभौमिकता की ओर संकेत किया है। इन्हीं भाव-प्रतिमाओं की अभिव्यक्ति जैसा युंग ने स्वीकार किया है, कला में होती है। प्लेटो के भी विचार युंग की विचारधारा से मिलते-जुलते थे।

युग की विचारधाराओं में कला के लिए दमित भावों को कोई स्थान नहीं मिलता। उन्होंने एकमात्र भाव-प्रतिमाओं की अभिव्यक्ति को ही कला की प्रेरणा माना है। उनकी दृष्टि में कला पूर्णरूपेण निर्वैयक्तिक होती है, उसके द्वारा उन सार्वभौमिक भावों की अभिव्यक्ति होती है जो प्रत्येक देश-काल-जाति के व्यक्तियों में विद्यमान रहते हैं। कला की विशेषता, उनके अनुसार इसी में है कि वह निजी जीवन से अलग रहे। कला वैयक्तिक जीवनसे जितनी दूर होगी, वह उतनी ही महान होगी और उससे अधिक से अधिक व्यक्ति अपना आत्मीय संबंध स्थापित कर सकते हैं।

कला के विषय में युंग के विचार अत्यंत व्यापक हैं पर दमन-क्रिया को महत्व न देना विवाद को उठाना है। हम कला को न तो पूर्ण वैयक्तिक मानते हैं और न निर्वैयक्तिक ही। कला की अभिव्यक्ति में दोनों का समावेश होता है। यह तो मानना उचित प्रतीत होता है कि कला मानव-मूल्यों के ही कारण शाश्वत बनती है, उसे व्यक्ति विशेष के राग-द्वेष से मुक्त रहना चाहिए पर वैयक्तिक दमन को उचित स्थान न देना, अनुचित है। वैयक्तिक अनुभूतियाँ सदा प्रेरक का काम करती हैं। उसी के परिमार्जन के ऊपर सौंदर्य का एक सजीव चित्र इस ढंग से प्रस्तुत किया जाता है कि उसमें मानव को अपने उद्गारों की आत्मीयता मिल जाती है। यहाँ पर हम व्यक्तिगत अनुभूतियों और उनकी दमित इच्छाओं की शक्ति को सार्वभौमिक सत्य की अभिव्यक्ति का एक प्रेरक तत्व स्वीकार कर सकते हैं। इस प्रकार से कलाकार दोनों के सहयोग से अपने अचेतन की अभिव्यक्ति मधुर ढंग से करता है।

सर्जन-प्रक्रिया में अंत:प्रेरणा को दैवी प्रेरणा के रूप में स्वीकार न कर के हम निस्संदेह सर्जन की प्रेरणा मानवीय धरातल से स्वीकार करते हैं। हम यहाँ इसी का औचित्य सिद्ध करते हैं।

—हिंदी विभाग,
नानीबाई गोवर्धन महाविद्यालय,
मुँगेली, बिलासपुर (म० प्र०)।

श्यामसुन्दर घोष

नयी हिंदी कविता : सप्तकों में और सप्तकों से परे

छायावादोत्तर हिंदी कविता को पूर्ण करने के लिए सप्तकों का अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। वास्तव में यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि अज्ञेय ने छायावादोत्तर हिंदी कविता को उसकी परिपूर्णता में आयत्त किया था। 'तार सप्तक' के संपादन में उनकी इस व्यापक और सूक्ष्म दृष्टि का पता चलता है। इसलिए उस प्रथम ऐतिहासिक संकलन में जहाँ उन जैसे कवि हैं वहीं नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल और डॉ० रामविलास शर्मा जैसे कवि भी हैं। लेकिन सप्तकों का संपादन करते-करते कालांतर में अज्ञेय की दृष्टि रूढ़ हो गयी। इसलिए बाद की हिंदी कविता के अकल्पित विस्तार को देखते हुए वे अपनी दृष्टि की रूढ़ि-सीमा नहीं लाँघ पाये।

'तार सप्तक' के प्रकाशन के पूर्व हिंदी कविता में जो नित नये प्रयोग हो रहे थे उसके पुरस्कर्ता इतने कम लोग थे कि उनके प्रतिनिधित्व के लिए सात की संख्या पर्याप्त थी। सात की परिधि में उस समय के सभी जाने-माने रचनाकारों का आ जाना संभव और समीचीन था। लेकिन बाद में हिंदी कविता को गति और रूप देने के लिए इतने हाथ-पाँव सामने आये कि उनके प्रतिनिधियों की संख्या सात तक सीमित नहीं रही। इसलिए 'तार-सप्तक' के प्रकाशन के बाद अज्ञेय के लिए यह उचित था कि वे सप्तकों का घेरा तोड़ देते और उन सभी प्रतिनिधियों का चुनाव करते जो परवर्ती काल के समर्थ हस्ताक्षर हैं। लेकिन अज्ञेय ऐसा नहीं कर सके। उनकी इस रूढ़ि-प्रियता से हिंदी कविता का बहुत नुक़सान हुआ।

सप्तकों की परंपरा ने हिंदी कविता के रूप को रूढ़ और सीमित कर दिया। 'तार सप्तक' और उसके कवि संदर्भ को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट है कि वहाँ अज्ञेय का दृष्टिकोण काव्य-प्रवृत्तियों के सम्यक प्रस्तुतीकरण की ओर है। इसीलिए वहाँ उन्होंने विरोधी शिविर के कवियों और उन रचनाकारों को भी स्थान दिया जो नये तो थे लेकिन जिनका सर्जन संभावनाओं से पूर्ण था। लेकिन 'दूसरा सप्तक' और 'तीसरा सप्तक' तक आते-आते उनका दृष्टिकोण चयनात्मक रह गया। शायद यही कारण है कि पहले के अज्ञातकुलशील को भी सर्जन-सामर्थ्य के बल पर स्थान देने के हिमायती अज्ञेय बाद में अज्ञातकुलशील की ओर दृष्टि डालने से भी कतराने लगे।

सप्तकों की परंपरा ने हिंदी कविता के मूल्यांकन को बहुत ग़लत ढंग से प्रभावित किया है। 'तार सप्तक' के संपादन के समय प्रवृत्तियों के वैविध्य के बीच जो प्रयोग-साम्य था, संपादक की

दृष्टि उसी पर थी। लेकिन वैविध्य भी अनछिपा नहीं था। लेकिन बाद में चल कर साम्य ही इतना मुख्य और प्रबल हो गया कि जो इस लीक से जौ भर भी हटा, उसे कवि संपादक ने दृष्टि-पथ में लाना आवश्यक नहीं समझा। इसलिए बाद के सप्तकों में एकरसता और एकतानता अधिक है। यदि यह एकरसता और एकतानता इतनी प्रत्यक्ष नहीं है तो इसलिए कि इस बीच हिंदी कविता का जो अनेकमुखी विकास हुआ, वह बावजूद सप्तक-संपादन के प्रतिरोध के, सप्तकों में यहाँ-वहाँ झलक दिखा सका।

जो बहुत छान-बीन और अध्ययन-मनन के बाद निष्कर्ष देने या मत व्यक्त करने के अभ्यासी नहीं हैं ऐसे आलोचकों का सप्तकों ने बहुत उपकार किया है। छायावादोत्तर हिंदी कविता का जिसे बाद में चल कर 'नयी कविता' की संज्ञा दी गयी, अर्थ वे सप्तकों की कविता लेते हैं और जिस प्रकार कुएँ का मेढक कुएँ को देख कर जगत का अंदाज़ा लगाता है उसी प्रकार वे सप्तकों से हिंदी कविता का स्वरूप निर्धारित करते हैं और मनमाने निष्कर्ष देते हैं। मेरी यह बात इसी से सिद्ध है कि गीतों को सप्तक-संपादक या उन जैसे कवियों ने कभी भी नयी कविता के रूप में मान्यता नहीं दी। लेकिन यह उनके नेतृत्व का सबसे दुर्बल पक्ष रहा जहाँ से हो कर गीत नयी कविता के गढ़ में जा घुसे और अब तो स्थिति यह है कि नयी कविता के पक्षधर भी गीतों को 'नवगीत' के रूप में स्वीकार करने को बाध्य हो गये हैं।

इस प्रकार सप्तक-संपादक ने अपने अनजाने ही हिंदी कविता का जो घेरा निश्चित किया उससे हिंदी कविता का बड़ा अपकार हुआ। जो इस घेरे के अंदर नहीं थे वे भी बलात घेरे के अंदर जाने के लिए ज़ोर आज़माने लगे और इस प्रकार अपनी प्रकृत भूमि से हट कर त्रिशंकुवत रह गये। ठीक यही हाल उन लोगों का हुआ जो घेरे के अंदर तो थे लेकिन जब-तब घेरा लाँघ लेना भी उनका स्वभाव था। लेकिन सप्तक-संपादक के घेरा निश्चित करते ही हालत यह हुई कि उन लोगों ने घेरा लाँघने की, क़सम खा ली और उसी घेरे के अखाड़े में शब्दों की दंड-बैठक करते रहे और अपने को 'घेरे के अखाड़े का पहलवान' मानते रहे। यह उसी घेरे का परिणाम है कि आज गीत और नयी कविता को ले कर वातावरण में विरोध के स्वर गूँज रहे हैं।

सप्तकों के बाद यत्र-तत्र सप्तकों की परंपरा के विरोध के स्वर भी सुने गये। लेकिन यह विरोध संख्यागत ही है, प्रकारगत नहीं। श्री जगदीश चतुर्वेदी ने दिल्ली से 'प्रारंभ' प्रकाशित किया, जिसमें कवियों की संख्या तो सात से बढ़ा कर चौदह कर दी गयी लेकिन उसमें चयन-दृष्टि की वह व्यापकता लक्षित न हुई जिसके कारण हिंदी कविता का सही प्रतिनिधित्व होता। वास्तव में ऐसा एक अकेला प्रयास डॉ० रणवीर सिन्हा ने 'आधुनिक कविताएँ' के संपादन में किया जिसमें हिंदी कविता अपनी परिपूर्णता में लक्षित हुई। लेकिन इस परंपरा को आगे बढ़ाने का साहस अन्य किसी में लक्षित नहीं हुआ। कुछ लोगों ने तो इसे आवश्यक नहीं समझा क्योंकि ऐसा होने से नयी कविता के ख़ेमे में बहुतों के लिए जगह का टोटा पड़ जाता।

हिंदी में नयी कविता का अखिल भारतीय स्तर पर जो रूप पल्लवित और पुष्पित हुआ उसके विकास में देश के विभिन्न प्रदेशों के समर्थ रचनाकारों का योग उल्लेख्य है। एक समय हरिनारायण व्यास जैसे कवि अपने कृतित्व के बल पर ही सप्तक-संपादक की दृष्टि में आ

सके; उनकी स्थानगत नगण्यता उनका कुछ न बिगाड़ सकी। लेकिन बाद में संपूर्ण देश में यहाँ-वहाँ फैले-बिखरे अनेक नये और समर्थ कवियों की ओर सप्तक-संपादक की दृष्टि नहीं गयी। अखिल भारतीय स्तर के नाम पर काम करते हुए भी उन्होंने दिल्ली से उत्तर प्रदेश तक के साहित्यकारों को ही प्रधानता दी; शायद यही कारण है कि सुदूर स्थानों में साधना करने वाले कितने ही रचनाकार उनके दृष्टि-पथ में नहीं आये।

अज्ञेय के कुछ अपने पूर्वग्रह भी थे जो सप्तकों के संपादन-क्रम में प्रत्यक्ष हुए। इन पूर्वग्रहों के कारण सप्तकों की सीमा का संकोच तो हुआ ही, इन्होंने औसत कोटि के आलोचकों को भी बुरी तरह प्रभावित किया।

शमशेरबहादुर सिंह को 'तार-सप्तक' में स्थान न दे कर 'दूसरा सप्तक' में स्थान देना एक ऐसी ऐतिहासिक भूल है जो सप्तक-संपादक के दृष्टि-दोष का परिचायक है। जो शमशेर-बहादुर के कृतित्व से परिचित हैं, वे जानते हैं कि नये प्रयोगों को आगे बढ़ाने में शमशेर बराबर अगली क़तार में रहे हैं। लेकिन उनको उनका स्वाभाविक स्थान न दे कर ग़लत स्थान पर संकलित करना सर्वथा अनुचित है। वास्तव में ऐसे प्रयास साहित्य में ग़लतफ़हमी पैदा होने के अनिवार्य कारण हैं। संभव है इन्हीं कारणों से 'तीसरा सप्तक' में उन्हें कुछ अन्य ईमानदार कवियों के सहयोग मिलने में बाधा हुई हो।

अज्ञेय में जो एक आभिजात्य बोध है जिसकी तुष्टि 'तार सप्तक' के संपादन में इस प्रकार हुई कि 'तार सप्तक' के कवियों ने स्वयं ही उनसे प्रस्ताव किया था कि नयी कविताओं का एक सहकारी प्रकाशन किया जाय। लेकिन 'दूसरा सप्तक' तक आते-आते स्थिति बदल गयी और तब प्रस्ताव कवियों की ओर से नहीं, संपादक की ओर से उपस्थित हुआ। यदि सप्तकों की परंपरा को आगे बढ़ाने का मोह और नेतृत्व की आकांक्षा नहीं होती तो अज्ञेय 'दूसरा सप्तक' न निकालते। लेकिन अपनी पीढ़ी के अतिरिक्त आगामी पीढ़ी का नेतृत्व भी उन्हें करना था और 'तार सप्तक' में आने से रह गये कवियों को भी स्थान देना था इसलिए 'दूसरा सप्तक' के संपादन की योजना बनी।

कुछ प्रतिनिधि कवियों द्वारा सहयोग न मिलने के कारणों का उल्लेख अज्ञेय ने 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में किया है—**दो एक और (कवि) आमंत्रित हो कर भी इसलिए रह गये कि वे स्वयं इसमें आना नहीं चाहते थे—चाहे इसलिए कि दूसरे कवियों का साथ उन्हें पसंद नहीं था, चाहे इसलिए कि संपादक का संपर्क उन्हें अप्रीतिकर या हेय लगा, चाहे इसलिए कि वे अपने को पहले ही इतना प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित मानते थे कि नये कवियों के साथ आने में उन्होंने अपनी हेठी या अहित समझा।**

सहयोगी कवियों द्वारा उठायी गयी आपत्तियों के मूल में केवल कुछ व्यक्तियों के अपने पूर्वग्रह हैं ऐसा मान लेना अनुचित होगा। वास्तव में 'तार सप्तक' से लेकर 'तीसरा सप्तक' तक सप्तक-संपादक को कवियों से सहयोग मिलने में जो कठिनाई हुई हैं उसके मूल में कुछ गहरे राज हैं। ज्यों-ज्यों कवियों को संपादक के कार्य के औचित्य में संदेह होता गया त्यों-त्यों सहयोग के स्वर विरल होते गये।

किसी भी संकलन की महत्ता और उपादेयता इस बात से प्रकट है कि संबंधित युग के अध्ययन के लिए उसका पारायण कहाँ तक अनिवार्य समझा जाता है। इस दृष्टि से 'तार सप्तक' से लेकर' 'तीसरा सप्तक' तक का मूल्यांकन किया जाय तो प्रथम दो सप्तक जहाँ युगीन पृष्ठभूमि और उनकी प्रवृत्तियों के अध्ययन के लिए आवश्यक और अनिवार्य माने जायँगे वहाँ 'तीसरा सप्तक' मात्र एक संदर्भ-संकलन के रूप में परिगणित होगा। सन १९५० से लेकर सन १९६० तक नयी हिंदी कविता का जो विकास हुआ उसका अध्ययन बिना 'तीसरा सप्तक' के भी पूर्ण किया जा सकता है। जब मैं ऐसा कह रहा हूँ तो मेरे सामने उन तमाम सामूहिक संकलनों के नाम हैं जिन्होंने उस कार्य को, जिसे सप्तक-संपादक ने 'तार सप्तक' में प्रारंभ किया था, बखूबी अंजाम दिया है।

गोड्डा, संताल परगना,
बिहार।

नयी आस्थावान पीढ़ी की प्रतिनिधि मासिकी

शताब्दी

सम्पादक : ओंकार ठाकुर

शताब्दी के कुछ लोकप्रिय और चर्चित स्तम्भ

● फुटपाथों पर ● व्यंग्य ही तो है
● मेरी कविता विवशताओं के दायरे में ● इंटरव्यू
● रंगों में डूबा : रेखाओं में उभरा ● एक चेहरा यह
● ये पत्र : ये लोग ● ये उजले अँधेरे
● टिप्पणियाँ ● कतरनें
● समीक्षा ● पत्र-प्रतिक्रिया ● मुसकान

एक प्रति : ६० पैसे वार्षिक : ६ रुपये

सम्पर्क

१९१०, राइट टाउन, जबलपुर

रत्नलाल शर्मा

कहानी

तरकश के तीर

आज माता जी आयीं तो हमेशा की तरह लड़ती ही चली गयीं। हाँफते हुए उन्होंने दरवाज़े पर पैर रखा और बोलना शुरू कर दिया, मानो चीन ने धोखे से भारत के बेख़बर और बेगुनाह सिपाहियों पर एकाएक मशीनगनों से असंख्य गोलियाँ चला दी हों।

"अरे! हाँ, हाँ, मेरी परवाह किसे है। यहाँ रहूँ या और कहीं। तुम्हें तो अपनी ही पड़ी है। मैं मरूँ या जियूँ, कौन ख़बर लेने वाला है। अच्छा, छोड़ इन बातों को, अपना ध्यान मैं खुद कर लूँगी। तू यह बता, तनख़्वाह तो मिल गयी है न? ला, मेरे रुपये दे दे।" उन्होंने बड़ी धौंस के साथ कहा।

"तुम्हें दो-चार दिन में दे दूँगा।" मेरा छोटा सा उत्तर था।

"अरे वाह! मैं फिर आती फिरूँगी?" अब तक वह जम कर बैठ चुकी थीं। लड़ने के लिए पूरी तरह से तैयार!

"लेकिन, तुम अब जा कहाँ रही हो, यहीं रहो न! अरे सुनती हो, माताजी के लिए फ़ौरन एक लोटा चाय तैयार करो और हाँ, एक प्याला मैं भी पी लूँगा।" मैंने प्रसंग को बदलने के ढंग पर कहा।

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं, मैं तो रुपये वसूल करने के लिए यहीं पड़ी रहूँगी न और तुम्हारे टुकड़े खाती रहूँगी। मुझे नहीं चाहिए तुम्हारी चाय। मैं बिना चाय ही अच्छी हूँ। तुम्हारी बहुत चाय पी चुकी हूँ, अब और ज़्यादा नहीं चाहिए। तू रुपयों की बात कर, इसे बदलने की कोशिश क्यों कर रहा है? मैंने तुझे पैदा किया है या तूने मुझे पैदा किया है? मैं सब समझती हूँ।" वह जैसे मेरी बात की तह में घुस कर बोलीं।

मैं सोचने लगा कि मैं इन्हें कैसे बताऊँ कि अब तनख़्वाह मिलेगी ही नहीं। नौकरी छूट गयी है। अगर इन्हें बता दिया तो और दस बातें सुनने के लिए मिलेंगी। वह कहेंगी, "मैं तो पहले ही जानती थी कि यह नौकरी छूट जायगी और नौकरी भी तो कुछ हो—कुत्ता नौकरी, दर-दर दुम हिलाते फिरो। उसे वह दिन याद आ गया जब एम० ए० करने के बाद कई साल टक्कर मार कर भी कोई नौकरी नहीं मिली तो उसने भारतीय जीवन-बीमा निगम में एक नौकरी पा ली थी तो घर पर आ कर उसने सबको बताया था और इन लोगों ने दिलासा देने के बजाय उसे 'कुत्ता नौकरी' कहा था। इस चित्र के सामने आते ही उसे जैसे कड़वाहट की अनुभूति हुई।

आज तो वह 'कुत्ता नौकरी' भी नहीं रही। वह भी छिन गयी। सच तो है कुत्ता कुत्ते के मुँह में टुकड़ा कब रहने देता है। उसकी कड़वाहट और भी तीखी हो गयी।

"हाय रे, मेरे अवगुणों को क्षमा करो। लो अब मैं चली। अब तो मेरा अंत समय आ गया है।" वह तड़पती हुई बोलीं। हम लोग एकाएक चौंक गये कि यह क्या हुआ। नाटक का यह नया दृश्य बिना पर्दा गिराये ही शुरू हो गया। वह उठ कर खड़ी हो गयीं और धम से नीचे ज़मीन पर गिर पड़ीं। फिर उठीं और खाट पर लेट गयीं।

"तू मुझे रिक्शा ला दे। मैं किशनगंज चली जाऊँगी। वहीं इलाज करवा लूँगी। मरना भी वहीं होगा। अरी मैया, अरी मैं तो मर गयी!" वेदना से बाहर निकलते हुए उन्होंने दृढ़ता के साथ कहा—"मैं जाऊँगी, अभी जाऊँगी। तू रिक्शा नहीं लायेगा तो मैं पैदल चली जाऊँगी। मरना तो है ही।" यह कह कर वह चल पड़ीं। अब तक हम लोग हाल में बैठे हुए मानो नाटक देख रहे थे, रस में डूबे हुए थे। अब हम इसी लोक में उतर आये थे। मैं भागा, मैंने उन्हें पकड़ा, सहारा दिया और खाट पर बिठा दिया।

"अब आराम से कुछ देर के लिए लेट जाओ।" मैंने नम्रतापूर्वक कहा।

"लो, और सुनो। यह कहता है, मैं आराम से लेट जाऊँ। मुझे आराम ही तो सूझ रहा है न इस वक़्त! तुझे क्या पता कि मुझे कितनी तकलीफ़ है! कभी सुनने या जानने की कोशिश भी की है? मैंने जब भी कुछ कहना चाहा, तब-तब यही तो कहा है तूने कि समय नहीं है। मैं तेरे सामने कई बार रोयी हूँ, पर आँसुओं से तो तुझे चिढ़ है न! मैं लेट जाऊँ? मेरा बैठना भी बुरा लगता है। मैं खुद बुरी लगती हूँ। अभी कहेगा, बोलना बंद करो, बोले ही जा रही हो। भला, मैं कहीं बोल भी रही हूँ। तू तो तंग आ गया है, मुझसे तंग आ गया है और हाँ, मैं जानती हूँ, तू खुद से भी तंग आ गया है। मैं तभी तो कह रही हूँ, मुझे किशनगंज पहुँचा दे। तू तो अकेले में राज़ी रहता है। तुझे तो आदमी ही बुरे लगते हैं। . . . ."

वह बोले ही जा रही थीं। ज़बान के घोड़े बेलगाम दौड़ रहे थे। व्यंग्य के कोड़े घोड़ों की पीठ पर न पड़ कर मेरे दिल की भावनाओं पर चोट कर रहे थे। मैं बीमार नहीं था, पर मुझे जैसे कुनैन ही दी जा रही थी, अच्छा करने के लिए नहीं, बीमार बनाने के लिए।

मेरी माताजी किसी पुराने ज़माने में बहुत बड़ी योद्धा रही होंगी, धनुर्विद्या में कुशल। आज भी उनके तरकश में असंख्य तीर रखे हुए हैं जिनमें से हर तीर दूसरे तीरों की अपेक्षा अधिक तीखा है। सभी घबड़ाते हैं उनके इन तीरों से। किसकी हिम्मत है जो इनके तीरों का सामना कर सके। सामना करना तो बड़ी बात है, इनके तीरों को देख कर ही बड़े-बड़े योद्धा पीठ दिखा कर भाग जाते हैं।

आज के प्रजातंत्र के युग में भी वह तानाशाह हैं। उनकी हर आज्ञा न टालने वाली होती है, उसके पालन करने में देर नहीं लग सकती; नहीं तो कठोर से कठोर दंड के लिए तैयार रहना चाहिए। पर आज की प्रजा का रुख़ बदल गया है। अतः इन तानाशाह का हुक्म भी हमारे घर के राज्य में नहीं चलता, सब लोग अपनी मर्ज़ी से काम करते हैं। इतना अवश्य है कि उनका आतंक बराबर बना रहता है।

इसी बीच हमारे पड़ोसी शास्त्री जी आ गये। उन्होंने बाहर से आवाज़ लगायी, "अरे, भाई शर्माजी, क्या हाल है?"

मैंने कहा, "आइए, आइए। मैं तो ठीक हूँ, हाँ, माताजी की तवीयत ज़रूर खराव है।" वह अंदर आ गये और माताजी कराहती हुई वोलीं, "हाँ, शास्त्रीजी, सिर में बड़े ज़ोर का दर्द हो रहा है।"

मैंने कहा, "दर्द तो पेट में है। हाँ, परेशानी की वेहोशी में वह ऐसा कह गयी हैं।"

शास्त्रीजी यह सुन कर मुस्कराये।

"तू चुप रह।" वह डाँट कर वोलीं—"पूरी बात भी नहीं कहने देता। मेरे सिर में भी दर्द है, तुझे क्या पता, यह तो मैं ही जान सकती हूँ—"जाके पैर न फटी बिवाई सो क्या जाने पीर परायी।" उन्होंने रोब जमाते हुए कहा।

शास्त्रीजी बोले, "कोई बात नहीं। अभी ठीक हो जायगा। मैं दवा भिजवाता हूँ। घबड़ाने से काम नहीं चलेगा। बच्चे भी घबड़ायेंगे।"

"अजी, यह घबड़ाने वाला नहीं है, बड़ा पक्का है। बाप के मरने पर भी इसकी आँखों में आँसू न आये। यह तो जीमना पूत है जीमना पूत। आप शायद मतलब नहीं समझे? इसका मतलब यही है कि यह न माँ का सगा है और न बाप का।" माताजी ने मेरी धज्जियाँ उड़ाते हुए कहा।

यह उनकी ख़ास कहावत है जिसका हमेशा मेरे लिए ही प्रयोग किया करती हैं। इस कहावत पर मेरी मुहर लगी हुई है, मेरा नाम खुदा हुआ है, इस पर मेरा पूरा-पूरा अधिकार है। क्या करता, बस, एक और कड़वा घूँट पी कर रह गया। वह स्वयं ही मुहावरों की बड़ी पुस्तक हैं, उनकी वाक्य-व्यंजना में लोकोक्तियों की भरमार रहती है। 'बहू को बुढ़िया सिगबिग (शिक्षा) दे अपनी खाट भीतरी ले' जैसी लोकोक्ति का प्रयोग भी वह मेरे लिए करती हैं, यों इसका प्रयोग मेरे सामने उन्होंने और बहुत से लोगों के लिए भी किया है। इस पर मेरे अधिकार सुरक्षित नहीं हैं।

मैंने सोचा, मुझे सब तंग करते हैं, सब मेरे दुश्मन हैं। कहीं कोई अपना नहीं। कहीं चैन नहीं। जहाँ से एम० ए० किया है, वह विश्वविद्यालय अपना नहीं और दूसरी जगहों पर सब अपने उम्मीदवारों को लेते हैं। मैं जैसे किसी का नहीं हूँ, मेरा कोई नहीं है। मेरा घर भी मेरा नहीं है। किस-किस के विरुद्ध आवाज़ उठाऊँ। मैं अकेला पीड़ित और निस्सहाय। मैं बराबर कोशिश करता रहा हूँ कि मैं जिस गढ़े में गिर गया हूँ उससे बाहर निकल सकूँ, लेकिन जैसे मेरे पैर दलदल में फँस गये हैं। मैं बाहर निकलने की जितनी कोशिश करता हूँ, उतना ही अधिक उसमें फँसता जाता हूँ।

मैं यह सब सोचता रहा था। इस बीच शास्त्रीजी न जाने क्या-क्या समझाते रहे थे। अब माताजी कह रही थीं—"मैं तो इधर पहले ही नहीं आ रही थी। जीजी के यहाँ थी, तो मेरे पेट में दर्द शुरू हो गया। मैं किशनगंज के लिए चल दी। रास्ते में सोचा, चलो यहाँ होती हुई चलूँ। दर्द रास्ते में बढ़ गया। ज़रा इसकी बात भी तो सुनो, कहता है कि 'वहाँ से चली ही क्यों

थीं बीमारी में।' ठीक है, इसको मुसीबत में डाल दिया है न। मैं भी नहीं चाहती थी और मुझे किशनगंज जाने भी नहीं देता।"

मैंने सोचा, तुम किशनगंज जा ही नहीं सकती थीं, तभी तो इधर आयी हो। वहाँ भी तो तुम लड़ती हो। सबकी नाक में दम कर रखा है। (उन्हीं का मुहावरा) वहाँ कौन सा मुँह ले कर जातीं।

"बीमारी में आदमी को वहीं रहना चाहिए, जहाँ वह है। इसका मतलब यह कब है कि मुझे आपका यहाँ आना पसंद नहीं है। मैंने तो तकलीफ़ के बढ़ने की वजह से कहा था। इसीलिए मैं आपको किशनगंज जाने से रोक रहा हूँ।" मैंने अपनी सफ़ाई पेश की।

मैंने सोचा, देखो बुढ़ापे में कितना ग़ुस्सा है। अरे भई, किसने कहा था कि तुम चने का साग खाओ, रायता पियो और पकौड़े उड़ाओ। आदमी को अपना ध्यान खुद रखना चाहिए। अगर माल इनकी जीजी का था तो पेट तो अपना था। फिर जब जीजी ने माल खिलाया था तो दवा भी खुद ही करनी चाहिए थी। पर यह मैं कह नहीं सका, कह नहीं सकता था। जब बिना कहे मुसीबत है, कह देने पर तो न जाने क्या होगा!

शास्त्री जी चले गये। उनको दवा दे दी गयी। अब फ़र्माइश हुई कि उनके लिए अदरकी की बोतल लायी जाय। मैंने बाज़ार में बीसों दुकानें छान डालीं, तब कहीं जाकर दरीबे की एक दूकान पर अदरक की बोतल मिली और घर पर आ कर जब उन्हें दी गयी तो बोलीं, "अभी मैंने दवा पी है; पेट भी भरा हुआ है और अब यह बोतल ले आया है। मुझे मारने की ही ठान रखी है क्या?" मैं हैरान और परेशान! बोतल रख दी गयी। कुछ देर के बाद खुद ही माँग ली और पूरी बोतल साफ़!

मेरी माताजी कभी अभिधा में बात नहीं करतीं। उनका रोज़ का जीवन व्यंजना-काव्य का उच्च कोटि का नमूना है। वह रस-संप्रदाय की रसात्मकता की हमेशा विरोधी रही हैं। उन्होंने तो ध्वनि-काव्य का सेवन किया है। वक्रोक्ति को वह जीवन का प्राण मानती हैं। वह एक अनिवार्य तत्व है और यही स्वभावोक्ति है। दूसरों की हर बात दोषपूर्ण है, पर उनके लिए पुनरावृत्ति भी दोष नहीं है।

उन्हें जैसे फिर दौरा उठा—"मैं अब चली। अरे, मेरे बेटे को तो खबर कर दे। तू क्यों जायगा। तेरा काम छुटेगा, पर याद रख, अगर मैं मर गयी तो वह यही कहेगा कि तूने ही मार दिया।"

इसी बीच शास्त्राणी जी आ गयी थीं, उन्होंने समझाया—

"चिन्ता न करो। अब तुम कुछ ठीक हो गयी हो और कुछ ही देर में बिल्कुल ठीक हो जाओगी। फिर सुबह मंदिर में भगवान के दर्शन करना और हमें भी प्रसाद खिलाना।"

"सुबह किसने देखी है, बीबी। अब तो अपनी सुबह नहीं होगी। बस, यह रात ही आखिरी रात है।" माताजी ने बड़ी व्यग्रता के साथ कहा।

मैं सोचने लगा, वही तो इनका बेटा है न। मैं तो इनका बेटा हूँ ही नहीं। यही तो बात है, मुझे तो कभी बेटा माना ही नहीं। माँ का प्यार मुझे मिला ही नहीं। फिर मंदिर वाली बात

सामने आयी। यह मंदिर क्यों जाने लगीं, भगवान का भजन क्यों करने लगीं। लड़ाई-झगड़े से फ़ुरसत ही नहीं मिलती, भगवान में मन कैसे लगे।

"आय हाय। बड़ा दर्द है। ख़ैर, जो भाग्य में लिखा है वह तो भोगना ही पड़ेगा।" उन्होंने दर्द के तीखेपन के बाद दार्शनिक ढंग से कहा।

शास्त्राणीजी ने दिलासा दिलाया। उन्होंने उन्हें संतोष देने के लिए एक कहानी सुनायी—"एक बार शास्त्रीजी बीमार पड़े। उन्हें दिल का दौरा पड़ गया था। बड़ी देर तक तड़पते रहे। तब रात के बारह बजे मैं डॉक्टर को बुला कर लायी। खुद होश में थी और उन्हें हौसला देती रही।"

अब वह बोलीं—"कहीं मुझे भी तो दिल की बीमारी नहीं हो गयी है?"

सब लोग हँस पड़े। वह भी कुछ मुस्करा दीं। हमारी दो साल की सारिका ने कहा, "अम्माजी, तुमको दलद हो रहा है, तुमको सुई सी चुभ रही है।" उसके स्वर में कोमलता और संवेदना थी।

माताजी बोलीं—"अरे, ओ शर्मदार सुन ले। तुझसे अच्छे ये बच्चे ही हैं। एक बार बड़े प्यार के साथ उसने पूछा तो सही।"

यह कह कर उन्होंने सारिका को प्यार किया और हँसने लगीं।

जैसे तूफ़ान रुक गया था। नदी की बाढ़ उतर गयी थी और आज पहली बार उनके तरकश के सभी तीर निकम्मे बन कर रह गये। उसके बाद उन्होंने तरकश ही उठा कर रख दिया है। अब उनके तीरों का केवल ऐतिहासिक महत्व है।

३८१७, शक्तिनगर, दिल्ली-६।

माध्यम
का
केरल विशेषांक
शीघ्र प्रकाश्य

मलयालम भाषा और लिपि
केरल की समसामयिक काव्यधारा, कथा, नाटक, लोक-संस्कृति, शिल्प और कला
केरलीय समाज-परंपरा और प्रचलन, विविध संस्कृतियों का संगम और केरलीय कलाएँ
तथा
केरल की संत-धारा
केरलीय संस्कृत साहित्यकारों की देन
केरलीय दर्शन, ज्योतिष तथा तंत्र-मंत्र
साथ ही
केरलीय कविता, कथा तथा अन्य विधाएँ
पठनीय तथा संग्रहणीय

विश्वनाथ त्रिपाठी

नयी कविता का भाव-बोध

सभ्यता का विकास वस्तुओं से हमारा परिचय और अपरिचय दोनों बढ़ाता है। वह अनजानी वस्तुओं से हमारा परिचय थोड़ा बढ़ा देता है और जानी-पहचानी वस्तुओं को हमसे थोड़ा अपरिचित कर देता है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारा भाव-बोध भी परिवर्तित या विकसित होता रहता है। वस्तुएँ और परिस्थितियाँ हमारे परिवर्तित भाव-बोध में नये संदर्भ ग्रहण करती चलती हैं। परिचित से अपरिचित होने और दूर या अपरिचित से परिचित होने की यह प्रक्रिया खड़ी बोली हिंदी कविता के विकास-क्रम में भी देखी जा सकती है। अपने आपसे परिचय प्राप्त करने की जिज्ञासा हमारे राष्ट्रकवि को भारतीय पुनर्जागरण के उपरांत हुई और उन्हें 'हम कौन थे, क्या हो गये' की जानकारी प्राप्त करने की इच्छा भी तभी हुई। द्विवेदीयुगीन काव्य प्रधानतः अपने अतीत और वर्तमान को समझने और जानने का काव्य है। हिंदी साहित्य के सुधी अध्येता इस बात को जानते हैं कि उस काल की कविता में केवल देश के इतिहास और वर्तमान को ही जानने की कोशिश नहीं है बल्कि भारत की प्रकृति, यहाँ के पहाड़, नदी, नालों, झरनों और आकाश आदि को भी नयी दृष्टि से देखने या नये सिरे से जानने की कोशिश की गयी है। छायावादी काव्य में तो जिज्ञासा और कुतूहल का स्वर स्पष्टतः प्रधान है। छायावादी कवि जहाँ असीम, निस्सीम, अनंत, आकाश, क्षितिज, इंद्रधनु, शैलश्रृंग और 'उस पार' से निकटतः संबद्ध है, वहाँ पक्षी, तृण ,वीरुध, नदी आदि जैसी आसपास की वस्तुओं के विषय में उसकी जिज्ञासा द्रष्टव्य है—

कहाँ-कहाँ अयि बाल विहंगिनि
पाया तूने यह गाना।
—पंत

तृण-वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए।
—प्रसाद

किस अनंत का नीला अंचल हिला-हिला कर-
आती हो तुम सजी मंडलाकार
—निराला

वस्तुतः इस जिज्ञासा या अपरिचित होने के एहसास में पूर्व परिचय का निषेध नहीं है, बल्कि आसपास की वस्तुओं को और अधिक जानने की आकुलता है। छायावादी कवि नवीन परिपार्श्व में या नवीन भाव-बोध के संदर्भ में इन्हें काव्यात्मक स्थिति प्रदान करना चाहता था। सभ्यता स्वयं विकसित हो कर हमारी दृष्टि को सूक्ष्मतर बना देती है। उसके प्रत्येक चरण में हमें पूर्व परिचित वस्तुओं से एक बार फिर परिचित होना पड़ता है। छायावाद का आलोचक इसी तथ्य को 'परिचित वस्तु में अपरिचित सौंदर्य' कह कर प्रकट करता था। परिचित वस्तु में अपरिचित सौंदर्य का यह उद्घाटन सभ्यतानुसारिणी काव्य-परंपरा के विकास की अनिवार्य प्रक्रिया है। छायावादी कविता की इस विशेषता पर विचार करते हुए हम पिछले कुछ दिनों (तीन-चार वर्षों) में लिखी गयी हिंदी कविता पर एकदम विचार शुरू कर सकते हैं। मैं कविताओं के माध्यम से ही अपनी बात कहना चाहूँगा।

मेरा आसपास नामहीन वस्तुओं से भरा पड़ा है
अस्पष्ट परिस्थितियों को फेंकता हुआ

हर ओर रोशनियाँ फैलाता हुआ
हमें उनमें उलझाता हुआ
सिर्फ एक बात साफ़ है; बचने का कोई रास्ता नहीं है।
कमलेश (आसपास)

यहाँ भी कवि आसपास से अपरिचित दिखलायी पड़ता है। कवि की समस्या है कि उसके आसपास की वस्तुएँ नामहीन हैं (हो गयी हैं)। नयी कविता से या ज़्यादा ठीक कहें तो नये कवि से सहानुभूति रखने वाले कई आलोचक ऐसी कविताओं में विकृति पाते हैं। लेकिन यह अजीब विकृति है कि आसपास रोशनी फैलाता है। रोशनी वस्तुओं को प्रकाशित और स्पष्ट करती है, लेकिन यह रोशनी है कि अस्पष्ट परिस्थितियाँ फेंक रही है। नये कवि की यह अनिवार्य स्थिति है। रोशनी जहाँ-जहाँ पड़ती है वस्तुएँ या परिस्थितियाँ अस्पष्ट हो जाती हैं। जो बात स्पष्ट है वह है कि कवि के लिए इस स्थिति से बचने का कोई रास्ता नहीं है। कवि की सुरक्षा तभी संभव है जब वह रोशनी के कारण नामहीन बनी वस्तुओं को नाम दे दे।

यह रोशनी नया बोध है। यह सभ्यता के नवीन चरण का परिणाम है। यह बात बिना संकोच के कही जा सकती है कि विज्ञान विशेषतः भौतिकी की प्रगति और समाजवादी विचारधारा का नयी सभ्यता और नये बोध के निर्माण में सबसे अधिक योगदान है। कभी-कभी इनका प्रभाव मानव-चेतना पर परस्पर विरोधी भी पड़ा है। इस तथ्य पर ग़ौर किया जाय तो चिंतक गजानन माधव मुक्तिबोध और शमशेर जैसे कवियों में ऐकांतिकता और सामाजिकता के परस्पर विरोध का सूत्र भी सुलझा सकते हैं। एक ओर देश और काल की सीमाहीनता के बोध ने मनुष्य को अपनी ही दृष्टि में अत्यंत नगण्य और भीरु बना दिया है और उसके सामने यह स्पष्ट हो गया है कि देश और काल का अस्तित्व हमारी अपनी चेतना से अलग कहीं नहीं है।

असहाय होने का सबसे बड़ा कारण यह है कि विजय करने के लिए न कहीं कोई देश है और न कहीं कोई काल—

न रास्ता कहीं मुड़ता है
न सड़कें कहीं जाती हैं
× × ×

और—
समुद्र वहाँ नहीं है
जहाँ दिन के सतरंगे घोड़े
उतरते हैं;
वह हमारे आस-पास
हमारी छाती में,
हमारे बंद पन्नों के भीतर है;
जहाँ रात के सन्नाटे में
हम सोचते से रहते हैं!

यानी देश-काल हमारी चेतना से अविच्छेद्य हैं! दूसरी ओर वैज्ञानिक प्रगति और समाजवादी सफलता ने मनुष्य में आत्मविश्वास भी उत्पन्न किया है। किसी भी जीवित समाज के साहित्य पर इस आत्मविश्वास का प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था। अतः यह प्रभाव हिंदी कविता पर भी पड़ा है:

धरती को खोजता हुआ आसमान धरती पर उतर आये। और
धरती को ठंढ लग रही हो, वो खुशबू में लिपट जाय
सो गये तारों की धड़कनें सूरज को छूती हों। सूरज हवा का
दुपट्टा थाम कुहरे की गलियों में भटकता हो।...चाँद की
चिट्ठी का माने-मतलब कलियों से पूछता हो।
× × ×
और धरती को कोई ख़बर नहीं हो : सुबह को शाम और शाम को
सुबह में ग़र्क़ कर लहरों की अँगड़ाइयों पर करवटें ले रही हो!—
हिमालय और आल्प्स को 'ना' कर गंगा और बोल्गा को
छोड़ कर मंगल और चाँद को अपना ख़त लिखा रही हो—
कि एक आइना ऐसा बनवा कर अभी भेज दो जो सूरत को
हर बार बदल दे...और मौसम को देख कर बोला करे।

कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह (सिलसिला)

आकाश और चंद्रमा और सूर्य का ज़िक्र छायावादी कविता में भी अक्सर होता रहा है। उनका मानवीकरण तो बहुत दिनों से होता आया है। लेकिन सूरज हवा का दुपट्टा थाम कर गलियों में नहीं भटकता था; न वह चिट्ठी का माने-मतलब कलियों से पूछता था। धरती भी पहले इतनी बेवफ़ा नहीं हुई थी कि निकटस्थ आत्मीयों—हिमालय, आल्प्स, गंगा और वोल्गा को छोड़ सीधे चाँद से और मंगल से रस्मोराह कर ले। ज़ाहिर है कि यहाँ भी निकट उपेक्षित और दूरस्थ आत्मीय या निकट हो गया है। घर के हिमालय, आल्प्स, गंगा और वोल्गा दूर हो गये हैं और दूरवर्ती चंद्रमा और मंगल निकट हो गये हैं। (हजरत मंगल तो संभवतः पहली बार प्रेम के प्रसंगों में काव्य में अवतीर्ण हुए हैं।) दूरवर्ती चंद्रमा और मंगल को कवि की चेतना में या बोध में निकट लाने का कार्य आधुनिक भौतिकी और नक्षत्रविद्या ने किया है। और भी क्या इसे आकस्मिक मान लिया जाय कि यह कविता यूरी गेगारिन की अंतरिक्ष यात्रा के बाद लिखी गयी है। अंतरिक्ष यात्राओं ने धरती, चंद्रमा, मंगल इत्यादि को एक ही विस्तृत परिवार के पहले से अधिक स्पष्ट या आत्मीय सदस्य बना दिया है। जानी-पहचानी चीज़ें कितनी अपरिचित सी हो गयी हैं, इस प्रसंग में एक और कविता की कुछ प्रसंगोचित पंक्तियाँ उद्धृत करना चाहूँगा:

एक छोटा सा मौन है
जिसमें पशु, वनस्पतियाँ और सड़कों के लैंपपोस्ट
सब शामिल हैं।
और नंगे आसमान-सी एक खुली हुई भाषा है
जिसमें कोई शरीक़ नहीं।
एक अजब सी रोशनी है
जिसमें चीज़ों का रंग हरा है या भूरा
पीला है या सफ़ेद
कुछ भी ठीक नहीं।

पशु, सड़कें, लैंपपोस्ट जैसी चीज़ें मौन में शामिल हैं (वे खुलती नहीं)। भाषा भी नंगे आसमान जैसी महसूस की जा सकती है, लेकिन मौन है। इसके बाद अंतिम पंक्तियों में तो केदारनाथ सिंह अजब सी रोशनी की बात करते हैं। यहाँ भी इस अजब सी रोशनी में वस्तुओं का रंग ठीक-ठीक स्पष्ट नहीं हो रहा है। इस प्रकार की कविताएँ हिंदी में एक नवीन काव्य-प्रवृत्ति के आगमन की सूचना देती हैं।

यह प्रवृत्ति हाल ही में लिखी गयी कुछ कविताओं में सामाजिक चेतना से संपृक्त हो कर या सामाजिक यथार्थ की भावना से समन्वित होकर भी दिखलायी पड़ी है। यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत लंबी कविताओं में दिखलायी पड़ी है। कई साधारण घटनाओं या दृश्यों को कवि एक साथ रख कर एक विशेष प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करता है। कोई एक घटना या दृश्य अपने आपमें एक विशेष महत्व रखता है, किंतु ऐसी घटनाएँ या दृश्यावलियाँ मिल कर अपने लिए एक ऐसा व्यापक परिप्रेक्ष तैयार कर लेती हैं, जो इनको एकसूत्रता प्रदान करती हैं और

उनके महत्व को व्यापकतर बना देती हैं, लगता है कि कवि एक ऐसी ऊँचाई पर स्थित है जहाँ से वह बहुत दूर तक एक समय ही देख सकता है। वह जो कुछ देखता है, उसे ज्यों का त्यों प्रस्तुत करना चाहता है। इन कविताओं में घटनाओं की त्वरा और संकुलता कवि की संवेदनशीलता पर चिन्ह उरेहती चलती है। कवि अपनी सहज अनुभूतियों को प्रायः तटस्थवत यत्र-तत्र असंबद्ध मालूम पड़ने वाली शैली में व्यक्त मात्र कर देता है। कवि अपनी ओर से कोई कटी-छँटी रचना प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं करता। पाठक के मन में एक के बाद एक आड़ी-तिरछी रेखाएँ खिचती रहती हैं और उन्हीं में से धीरे-धीरे एक अस्पष्ट किंतु अनुपेक्षणीय चित्र उभर आता है। ऐसी लंबी कविताएँ कई छोटी कविताओं का संघटन या योग मात्र नहीं हैं। छोटी कविताओं में अनुभूति-खंड को काफ़ी काट-छाँट कर प्रस्तुत किया जाता है। लंबी और छोटी कविताओं का मूल अंतर वस्तुतः कवि-मन की पृष्ठभूमि का अंतर है।

इस बीच जो लंबी कविताएँ देखने में आयी हैं उनमें विष्णुचन्द्र शर्मा की 'आयात-निर्यात' और श्रीराम वर्मा की 'गली का परिवेश' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इन दो कविताओं की सबसे महत्वपूर्ण और उत्साहवर्द्धक विशेषता यह है कि इनमें कवि जिन घटनाओं या दृश्यों की संयोजना करता है वे सामान्य जीवन से लिये जाते हैं, मन की अन्तर्गुहा से नहीं। इन कविताओं के कवि उस बौद्धिक अहंकार से मुक्त दिखलायी पड़ते हैं, जिसका प्रदर्शन नयी कविता के नाम पर अक्सर किया जाता है। इन कविताओं का अंतःस्वर सामाजिक चेतना का है। ये कविताएँ समाज-निरपेक्ष और व्यक्ति-सापेक्ष अनुभूतियों की ही अभिव्यक्ति नहीं करतीं। अस्पष्टता यहाँ भी है। लेकिन उस अस्पष्टता का आधार केवल बौद्धिक दृष्टि नहीं है, बल्कि सामाजिक अव्यवस्था है। इस अस्पष्टता से वे घबड़ायेंगे जो कविता से समाधान प्रस्तुत करने की आशा रखते हैं। कविता भाव-स्थिति की अभिव्यक्ति है न कि रामशलाका प्रश्नोत्तरी। जिस प्रकार नामहीन वस्तुएँ अस्पष्ट हैं और उन्हें नाम देने की आकुलता आज के कवि में दिखलायी पड़ती है, उसी प्रकार इस सामाजिक अस्पष्टता यानी अव्यवस्था को भी आशानुकूल स्पष्टता और सुखद व्यवस्था देने की आकुलता विष्णुचन्द्र शर्मा और श्रीराम वर्मा की 'आयात-निर्यात' और 'गली का परिवेश' में मुझे दिखलायी पड़ती है। आचार्य शुक्ल होते तो कहते, **हर्ष की बात है कि अब कई कवि उस संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकल कर जगत और जीवन के और मार्मिक पक्षों की ओर भी बढ़ते दिखायी दे रहे हैं।**

ऐसी लंबी कविताओं का सम्यक प्रभाव तो पूरी कविता पढ़ने के उपरांत ही पड़ता है, किंतु ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसके उदाहरण-स्वरूप इन कविताओं की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करने की आज्ञा चाहूँगा :

मेरे देश में तलाक़ देना जुर्म है
और बलात्कार पुरुषत्व।
कूड़ों में भ्रूण-हत्याओं की गठरियाँ छिपी हैं—
और आजाद देश में भिखारियों की लाशें गुम कर दी जाती हैं,
ताकि हमारी नग्नता छिपी रहे।

गंगा में लाशें बहाने के बाद हमारे वीर
न्याय के मुँह में सोना डाल रहे हैं
खुली सड़क पर क़त्ल करने वाले विजयी सिद्धांतों की
पताका फहरा रहे हैं।
हमारी स्वाधीनता के वीर सिपाही शराब और गाँजे की परमिट
बेच रहे हैं।
हैदराबाद के म्यूज़ियम में एक घड़ी है
जिसमें से गाँधी
हर घंटे पर दरवाजा खोल कर बाहर आते हैं
और लौट जाते हैं।
स्वामी दयानंद का 'सत्यार्थ-प्रकाश'
और तिलक का 'गीता-रहस्य'
बनियों ने ख़रीद लिया है।

('आयात-निर्यात' से)

इधर-उधर देखती-सी रोज़-रोज़
आँखों में डर, दिल में ढुका चोर
आती है भरी बाल्टी लिये जो
...कमर कसे तनिक झुकी,
शायद वही अरुण-जाया ज्योति-लता अमिता हो,
उषा नहीं।
इस छोर से उस छोर तक पानी नाली का बँधी हुई गली को
गति देता है
कौन जाने वही पलाशपंखी उदयन उगाता हो,
क्षितिज नहीं।
मुर्ग़े ने बाँग नहीं दी
तो क्या
मुन्ना ने दूध लिया
पत्नी ने जलाया चूल्हा
और मैंने सिगरेट
इस तरह हमने उदित किया सूर्य को
पर किरण नहीं आयी
वह सोयी रही छत पर
पराये घर

('गली का परिवेश' से)

नये कवि पर आँख मूंद कर यह आरोप लगाया जाता है कि वह एकांतसेवी और जनभीरु है, उसे समाज के हित-अहित का कोई ध्यान नहीं है, वह इसकी परवा नहीं करता और फलतः नयी कविता में शिवत्व नहीं है। वास्तविकता यह है कि सदैव की भाँति आज का सच्चा कवि भी समाज का सबसे प्रबुद्ध और संवेदनशील प्राणी है। काव्य आज भी सौंदर्य और शिवत्व का आश्रय है। मैं यहाँ एक नये कवि की पर्यवेक्षण-शक्ति और उसके मानव-प्रेम को प्रकट करने वाली एक कविता उद्घृत करके इस विवाद से अलग हो जाना चाहता हूँ।

ताज़गी तैराते निकल आये बच्चे
सड़कों पर कच्चे-कच्चे से पौधे उगने लगे।
गेंद-सी उछलती सुबह
प्रस्तुत हो गयी उनके लिए;
दुधमुँहा सा दिन समर्पित हुआ
दुधमुहों के लिए।

जी हुआ,
पूरी सुबह भर गोद में
उठा ले जाऊँ कहीं
रोप दूँ अमोले की तरह
जहाँ हवाएँ शोर झेलती धूलों में नहीं घुटतीं
जहाँ सड़कें भीड़ ढोती
बूढ़ी नहीं होतीं।

नित्यानन्द तिवारी (सुबह)

कवि ने इस छोटी सी कविता में, बच्चों का प्रसंग अंतिम पंक्तियों में छोड़ दिया है लेकिन ज़रा सा ही ध्यान देने पर खुल जाता है कि इसके अंतर्मन में बच्चे ही किलकारी मार रहे है। वह सुबह को गोद में भर कर ले जाना चाहता है, कहीं सुरक्षित स्थान पर। सुबह को रोपना चाहता है, अमोले की तरह। यह समझना पाठकों का काम है कि वह रोपी हुई सुबह को फूलते-फलते भी देखना चाहता होगा। यदि नयी कविता के विरोधी केवल इतना मान लेने की बुद्धिसंगत उदारता दिखायें कि बच्चे भविष्य के प्रतीक कविता में बन सकते हैं तो नये कवि के हृदय में भविष्य के लिए कितनी शुभकामना है और उसके प्रति कितनी आस्था है, इस पर बहस करने की गुंजाइश नहीं रह जाती।

—किरोड़ीमल कॉलेज,
यूनिवर्सिटी एन्क्लेव, दिल्ली।

कुबेरनाथ राय

संपाती के बेटे

चित्रा चली गयी। स्वाति का आगमन हुआ। टहटही तेज धूप, सादे मेघ, नीला आसमान और दूर-दूर फैले ज्वार-बाजरे के पके हुए गद्यगंधी खेत। नीचे पकी हुई धूसर और शस्य-पीत धरती और ऊपर प्राणों का सखा तेजस्वी सूर्य। ऐसे मर्दाने वातावरण में चातक, 'पी कहाँ', रूमान और कविता कहाँ से आये? हाँ, मेरी खिड़की के पास ही पुराना पीपल का पेड़ है जिस पर से समय-कुसमय गृध्र-युग्मों के काम-सीत्कार के घोर रव सुन पड़ते हैं। जहाँ की प्रकृति के हिस्से में ज्वार-बाजरे और ईख जैसे लाठीनुमा कवित्वहीन और गद्याकृति पौधे मिले हों वहाँ की किसी चीज़ में बंगाल की माया कैसे प्रवेश करे! रोज़ इन्हीं गृध्र-युग्मों का प्रणय देखने को मिलता है। प्रणय-पूर्व गृध्र नायक दूर-दूर के दरख्तों से सूखी-अधसूखी टहनियाँ तोड़ कर गृध्र-स्वामिनी प्रिया को सौंपता है और वह नीड़ रचती है। प्रणय और नीड़ की माया दोनों का वितान साथ-साथ तनता जाता है। काल पा कर अंडे फूटते हैं। सघन पत्तों के बीच गृध्र-शावक पलता है। शिशु के बड़े हो जाने पर गृह की माया बिखर जाती है। माया की अर्गला के एक बार टूटते ही शावक भी भूल जाता है और चिर कुमारिका गृध्र-स्वामिनी फिर से उर्वशी बन जाती है। पत्नी नहीं, माता नहीं, सनातन प्रिया। फिर वही मुक्त विहार। घर जोड़ने की माया का क्षणिक आवेश समाप्त हो जाता है। सहजानुभूतियों और संवेगों पर आधारित यह माया-युक्त जीवन निरंतर इसी प्रकार चलता रहता है, जिसे मनुष्य ने बुद्धि के आदेश से श्रृंखलाबद्ध कर दिया है, क्योंकि मनुष्य आखिर मनुष्य है। गृध्र नहीं, चील-कौवा नहीं, कबूतरबाज़ नहीं। यों, जब कभी डी० एच० लारेंस की तस्वीर देखता हूँ तो गृध्र पुरुष की छवि मन में उभर आती है। वैसे ही लंबी गर्दन, दाढ़ी वाला ऊबड़-खाबड़ मुखमंडल और ठंडी, गहरी दृष्टि! जब मन में गहरा अंधकार छा जाता है, और कुछ दिखायी नहीं पड़ता, सिवाय अंधकारयुक्त एक प्रगाढ़ नशे के और कुछ की अनुभूति करने में हम समर्थ नहीं रह जाते, तो उन क्षणों में ही लारेंस द्वारा प्रख्यात सहज वृत्तियों की 'विशुद्ध अनुभूति होती है। यह एक विशेष आवेश और विशेष अवस्था है। समस्त जीवन का दर्शन होने का सामर्थ्य इसमें नहीं। हाँ, कभी-कभी कोटरबद्ध मन के अंदर का अनजिया व्यक्तित्व गरज-गरज कर इसकी माँग करता रहता है। लेकिन जीवित व्यक्तित्व की ही माँगों का विस्तार एवं दायित्व-उपलब्धि का लेखा-जोखा इतना कठिन और उलझा हुआ है कि अनजिये की ओर ताकने की फ़ुरसत कहाँ? ताकने-देखने के लिए इस कामरूपिणी अनंतवर्णी की, सतरंगी धरती वधू की विभ्रम-चेष्टाएँ और वयःसंधि क्या कम हैं, कि अनजिये की अप्राकृतिक की, आदिम की अपेक्षा

करें मिनती करें, सूअर काटें और खून पिलायें, जिससे ये दैत्यशिशु प्रसन्न हों और मैं धन्य-धन्य हो जाऊँ? इसे खुले आकाश के नीचे सोने-सी चमचमाती और बरसती हुई क्वार-कार्तिक की धूप, ज्वार-बाजरे के पट्ठ-पर-पट्ठ खड़े खेतों की सेना और बीच से अपना बाग़; अथवा शरद की बरसती चाँदनी, आकाश और धरती की बातचीत,—ऐसे में बाहर निकलता हूँ तो पेड़ों, पौधों, मस्त हवाओं और सुनहली किरणें जैसी प्रेमिकाओं के बीच मन को मुक्त भाव से बाँटता फिरता हूँ। तब लगता है कि लारेंस झूठा था, फ़ायड कपटी था। प्रकृति की मुक्त और अनंत छवि को संमुख पा कर मन के रसबोध का दायरा इतना विस्तृत हो जाता है कि 'जिस्म' का वह आकर्षण जो बद्ध सीमित शयनकक्ष के अंदर 'बद्ध' मन को रेशमी माया बुन कर बाँधता है, इस महिमा में विलीन हो लापता हो जाता है। कृष्ण ने राधा के साथ जिस महाभाव को साधना की जिस काम-गंधहीन रसबोध की उपासना की उसका श्रेय यमुनातट, करील और कदंब की हरीतिमा तथा शरद-पूर्णिमा को है। द्वारका के शयन-कक्ष में क्यों नहीं महाभाव पा गये?

गृध्र शाक्त पक्षी है। समरभूमि में नर्तन करने वाली योगिनियों-डाकिनियों का लीला-शुक है। श्मशान-भूमि के क्रीड़ा-शिशु वैतालों का साथी है। इसका भाव-संबंध जरा और मृत्यु के साथ है। लंबी गर्दन, वृद्ध मुखाकृति, कुटिल-क्रूर बूढ़ों जैसी आँखें, मृत मांस-भक्षण (बाज़ और गरुड़ की तरह शिकार कर के तेजस्वी जीवन बिताने वाला यह नहीं है) और बीभत्स जीवन वाला यह पक्षी जरा और मृत्यु का प्रतीक न होगा तो क्या प्रेम-शृंगार और वीरता का प्रतीक होगा? इसको देख कर तो पता ही नहीं चलता कि इसके अंदर भी बचपन और जवानी आती हैं। काश्मीर और बंगाल इसके मन में भी लहलहाता है, वासंती हवाओं का स्पर्श इसे भी व्यथित करता है, काम के तीर इसे भी सहने पड़ते हैं। यदि यहाँ बैठे-बैठे दिन में तीन बार इनकी काम-सीत्कार नहीं सुनता तो कल्पना ही नहीं होती कि इनके दिल में भी एक वृंदावन उगा है और रस की अवस्थाएँ, पूर्वराग, अभिसार, संकीर्ण रति, रति, मान-मनुहार इसको भी वैसे ही मिली हैं जैसे औरों को। दरअसल रस को विधाता ने मुक्तहस्त हो कर सबको बाँटा है। यह विधाता भी अजीब फक्कड़ हैं। रस सबको बाँट दिया, रुदन सबको बाँट दिया। मनुष्य रहता तो मुँहदेखी करता, भाव चढ़ा देता, काला बाज़ार चला देता, रातों-रात रस के पीपे और रुदन की बोरियाँ ग़ायब करा देता और शायद दिल्ली में भी रस और रुदन की वह सस्ती नहीं होती जो आज है। लेकिन विधाता ऐसा क्यों करे? उसे कौन सा मुनाफ़ा कमाना है? वह तो कवि है! कवि को अपनी प्रत्येक कृति में अपना ही प्राण-रस जलाना पड़ता है चाहे वह रावण-इयागों हों या राम-हैमलेट हों। सबके अंदर उसी का प्राण पिघल कर संचारित हो रहा है। इसी से यह मदन-सखा रसाल को ही मंजरी-भूषित नहीं करता, बल्कि बबूल को भी अपना प्यार और आशीर्वाद उसी भाँति देता है। एक बार हल्दी सब पर चढ़ती है। बबूल जैसे कंटकमय भाग्यहीन वृक्ष पर जब चटख-पीले खूबसूरत फूल गहगहा कर छा जाते हैं तो लगता है कि तारों की बारात सज गयी है, सारा वसंत इसी बेवक़ूफ़ पर उतर आया है।

यहाँ पर अपने एक बंगाली अंतरंग मित्र की याद आ जाती है (नाराज़ मत होना रे, भाई!) जो आधुनिक चित्रकला का अभ्यास कर रहे हैं। ये अपनी सहन में जहाँ कभी फूलगोभी

और गुलाब की पाँतें खड़ी थीं बबूल के बाग़ लगाये हैं, आधुनिक भावबोध की प्रेरणा पाने के लिए वसंतागम के समय पीले-पीले फूलों से अपने कमरे की सजावट करते हैं। फलतः कमरे में इधर-उधर काँटे फैले रहते हैं जो समय-असमय पत्नी की उँगलियों में, मेज़ साफ़ करते समय या कमरा बुहारते समय, गड़ जाते हैं। उस समय जो अमृत-वर्षा प्रारंभ होती है उसमें बँगला भाषा की सहज बौछार का कमाल सुनते ही बनता है। संयोगवश जब कभी ऐसे अवसरों पर उधर से निकलता हूँ तो इस सुनहले मौक़े को हाथ से जाने नहीं देता और किसी न किसी बहाने पंद्रह-बीस मिनट ठहर कर इसी जीवन में स्वर्ग-सुख लूटता हूँ। कभी-कभी 'दादा' को अति संकट में पड़ा देख कर कह उठता हूँ। बउदि, दादार 'टेस्ट' खूब भालो आरु परिष्कार! देखिए न यह रात भर उसी रूमानी ढंग से झरता है जैसे मालश्री अथवा शेफ़ाली 'भाभी' तुरत चमक कर उत्तर देती हैं "छाई आसे! कभी-कभी 'दादा' श्रीमती को क़ायल करने के लिए गुरुदेव के किसी भतीजे का उदाहरण देते हैं (जो पता नहीं कितना सत्य है!), जिसने गुरुदेव के रूमानी काव्य-बोध के विरुद्ध ढाका-दल के बुद्धदेव वसु, जीवनानंद दास आदि के प्रभाव में आ कर उल्लू पालना शुरू कर दिया था। गुरुदेव को पता चला तो बुला कर एक दिन, डाँटा, "सुन रे, ... ,हमारे घर में दो उल्लू साथ-साथ नहीं रह सकते!" पर विद्रोही आत्मा की पुकार एवं आधुनिक का आग्रह दब नहीं पाये। बंगाल की 'नयी कविता' और 'क्षुब्ध' युवकों और 'क्षुधित' युवा चित्रकारों का दल इस बात का साक्षी है कि गुरुदेव साहित्यिक समर हार गये और मैदान 'नये' लोगों के हाथ में रहा! फिर भी 'बउदि' (भाभी) इस तर्क की क़ायल नहीं होतीं। गुरुदेव के नाम का जादू भी व्यर्थ हो जाता है।

(२)

तुलसीदास ने गृध्रों की अपार दृष्टि और दूरदर्शिता का उल्लेख कर के उनकी इज़्ज़त बहुत कुछ बचा ली है: **गीधहि दृष्टि अपार**। मनुष्य-समाज में भी दूरदर्शिता और दृष्टि की विशालता वृद्धता के साथ जुड़ी है। वृद्ध ही दूरदर्शी होते हैं; नौजवान को तो हरा-हरा ही सूझता है: ऐसा प्रचार वृद्धों के द्वारा कर दिया गया है। अक्सर वे अपने मुँह से ही ऐसी हाँकते हैं, भले ही नयी पीढ़ी उनके इस आग्रह को कौड़ी का तीन माने, आमूल परिवर्तन की चर्चा करे, नया साहित्य पढ़े और नयी कविता लिखें। 'वृद्ध' और 'गृध्र' का ध्वनिसाम्य भी उनके इस आग्रह का पोषक है। ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में जब शायद वैदिक संस्कृति का ज़माना था, वृद्धों ने मिल-जुल कर किसी पुरातन डॉ० रघुवीर से अपने लिए ऐसा सुंदर शब्द गढ़वा लिया। ख़ैर। बात तो यहाँ गृध्रों की हो रही है। उनकी 'अपार दृष्टि' के उल्लेख का संबंध संपाती से है जो इस महाकुल का पुराणपुरुष है। जटायु और संपाती दोनों भाई आकाश मापने और सूर्य को छूने का साहस कर के उड़े। आसमान की परत पर परत फाड़ कर पूरी आस्थां के साथ उड़ते गये, पर आगे चल कर एक ऐसा विंदु आया जहाँ निरावरण तेज असह्य हो उठा। जटायु तो लौट आया। तेज को निरावरण देखने की लालसा से संपाती आगे बढ़ा। पर निरावरण तेज, निरावरण नग्न सत्य और निरावरण सौंदर्य को सभी कोई बर्दाश्त नहीं कर सकते। इनके संमुख पड़ जाने पर सभी कोई अपनी **संज्ञा** और सुध-बुध को संतुलित नहीं रख पाते। संपाती का अहं उसे तेज और सौंदर्य को

आवरणहीन नग्न रूप में स्पर्श करने के लिए प्रेरित करता है। फलतः उसके पंख भस्म हो जाते हैं और वह धरती पर गिर पड़ता है। मूसा को निरावरण तेज का दर्शन हुआ था, पर वह भी एक हरी झाड़ी के पीछे और केवल एक क्षण के लिए। दूसरे ही क्षण मूसा की आँखें बंद हो गयीं और जब वे लौटे तो उनके चेहरे पर वृद्धता आ गयी थी और काले बाल सफ़ेद हो चुके थे। महाकवि निराला के निधन पर एक अग्रजन्मे स्वर ने कहा था : **'वे पंखहीन संपाती की तरह अपनी यूटोपिया की पराजय देखते हुए मरे।'** पर यह बात कोई बहुत बड़ा प्रगतिशील आघात नहीं है। हर एक साहित्यकार थोड़ा-बहुत संपाती होता है और प्रायः सभी तथ्यों की प्रखर ज्वाला में अपनी यूटोपिया के पंखों को झुलसा हुआ पाते हैं। सलीब पर झूलता हुआ मसीहा स्वतः एक बहुत बड़ा संपाती था। पर पैग़ंबर या साहित्यकार ऐसे संपाती हैं जो पंखों के जल जाने पर भी हार नहीं मानते; पछताते नहीं। चारों ओर पराजय है; निराशा है; रिक्तता है; दुर्गंध है। फिर भी कोई पश्चात्ताप नहीं। संघर्ष का रथ आगे बढ़ेगा। यदि पथ नहीं मिलता तो अपने इस एकाकी अकेले रथ की लीक ही पथ है। कोई चिंता नहीं, कोई परवाह नहीं। भविष्य के अजन्मे मनु के लिए सर्वस्व समर्पण।

दूसरे वे हैं जो जटायु की तरह निरावरण सत्य की खोज में चलते तो हैं, तेज के स्पर्श की इच्छा तो है, पर वे चुनौती स्वीकार कर के सूर्य तक जाने का साहस नहीं कर पाते। पैग़ंबरों का जोगिया वाना उन्हें आकृष्ट नहीं करता। मंत्रद्रष्टा बनने की, हिंद महासागर को पी जाने की या नयी सृष्टि रचा कर देवताओं से प्रतिद्वंद्विता करने की चाह उनमें नहीं। उनका उद्देश्य जीवन में सीधे-सादे कुछ आदर्शों में विश्वास भर होता है और वे सहज शांतिप्रिय जीवन बिना किसी ध्वजा-पताका के ही बिताना चाहते हैं। वे अति लघु हैं। उन्हें वामन बन कर रहना ही आता है। पर जब इतिहास की गति रुकने-रुकने को हो जाती है, जीवन कोई बड़ा 'चुनौती' फेंकता है और आदर्श जब उनके सामने भिक्षा-पात्र ले कर खड़ा हो जाता है, तो अचानक उनमें हिमालय जैसा पौरुष आ जाता है और उस हालत में वे किसी भी रावण से टक्कर ले बैठते हैं। उस समय उनका मामूलीपन हवा हो जाता है। ऐसा अक्सर देखा गया है कि संक्रमण के क्षणों में महत्वाकांक्षा और महत्व दोनों से हीन साधारण वामन भी अपने अंतर के तेज को पहचान कर ललकार उठता है और विराट बन जाता है। पर संपाती ऐसे नहीं होते हैं। ये संपाती सदैव पैग़म्बर बनने की चेष्टा करते हैं; सदैव नयी लीक खोजते हैं; पंख जलाते हैं। लीक नहीं बन पाती अंतरिक्ष की माप का स्वप्न अधूरा रह जाता है। फिर भी संपाती लघुता और क्षुद्रता की सीमा से अपने को आबद्ध नहीं मानता। पंगु और शक्तिहीन हो कर भी उसकी दृष्टि अभी बची है। इस दृष्टि का संकेत सत्य के, आदर्श के, जीवन की महिमा के अन्वेषियों को वह देता रहता है। उसके पास शक्ति नहीं कि वह हनुमान को पीठ पर लाद कर सागर पार करा दे। पर वह दिशा-निर्देश कर देता है। वर्तमान का इतिहासकार क़लम मारता जाता है, पंक्ति पर पंक्ति जुड़ती जाती है पर इन संपातियों पर वह दृष्टिपात भी नहीं करता। उसकी काली स्याही का राजतिलक इन पंगु संपातियों को नहीं मिलता है। पर ये कितने आवश्यक हैं, इसे इतिहास-विधाता ख़ूब जानता है।

(३)

प्रति संध्या इन पीपल और आम की डालों पर बलाकाओं पर बलाकाएँ उतरती हैं। जिस डाल पर हरे-हरे सुग्गों का झुंड अभी बेतहाशा नीचे उतर कर हरीतिमा में अंतर्धान हो गया है उसी पर सफ़ेद बगुलों की क़तारें उतर रही हैं। बगल में ही कहीं कौवे हैं तो कहीं ढेंकी, पेंचे और जंगली कबूतरों की पंक्तियाँ। सब के सब इस गृध्र-परिवार के अगल-बगल डेरा डाल चुके हैं। सिर्फ़ रैन-बसेरा का ही तो सवाल है, कल फिर अपने-अपने काम पर! हरीतिमा के जाल में सभी छिप गये हैं। पर स्वरों द्वारा पहचाने जा सकते हैं—पूरा पेड़ एक आर्केस्ट्रा बन गया है। ये द्विजन्मे पाखी मनुष्य से अधिक सभ्य लगते हैं। ये विविधता और सहअस्तित्व को बर्दाश्त तो करते हैं। कितने रंग, कितनी छायाएँ, कितनी सज्जाएँ, कितने बाने, कितने नृत्य, कितने गान, कितना हर्ष और कितनी विचित्रता! मनुष्य की तुलना में रोते भी बहुत कम हैं। प्रायः नहीं ही रोते। और यदि कोई रोता है, तो इतिहास बन जाता है; नये छंद का जन्म हो जाता है; कवि उत्पन्न हो जाता है। नहीं तो हर्ष, केवल हर्ष! शोक और मोह के परे नृत्य और गान। हरे, नीले, पीले, रुपहले और स्वर्णिम गीतों की बलाका नील आसमान के हृदय को रँगती रहती है। ये रंग दृष्टि वालों को दिखायी देते हैं, पर सुनायी तो सभी को पड़ते हैं, हमको, तुमको, उसको, और उसको भी जो बछड़े को नहला रहा है। इनके हाव, इनके भाव, इनकी हेला के सामने चिदंबरम् के भित्ति-उत्कीर्ण मुद्रा-चित्र झख मारते हैं; गौड़ीय वैष्णव रस-सिद्धांत और भरत मुनि अधूरे ज्ञात होते हैं। ये कभी केवल रंग ही रंग हैं और कुछ नहीं, तो कभी केवल ध्वनि हैं; रंग-रूप का लोप हो गया है। ध्वनियाँ, केवल ध्वनियाँ निराकार, शब्दहीन, भाषाहीन अर्थों के मामूली बचकाने घेरे से बाहर की ध्वनियाँ। 'शुद्ध' अतियथार्थवादी कला। केवल संकेत, पर कोई विशिष्ट सीमित अर्थ नहीं। इतनी सारी विविधता के बावजूद भी इनका सहअस्तित्व बड़े मज़े में चल जाता है। कहीं कोकिल और बुलबुल है तो कहीं कौआ और गृध्र! फिर भी ध्वनि-गुंफ (सिंफोनी) बिगड़ती नहीं इनमें कोई नहीं कहता 'अबे चुप! क्या सबेरे ही सबेरे. . . .'

मनुष्य भी बड़ा अजीब है। विशेषतः यह नया मनु। वह मन से वैविध्य बर्दाश्त नहीं करता है। ऊपर से तो बांडुंग सम्मेलन कराता है; जेनेवा और लेकसक्सेस में तीर्थ बाँधता है, विज्ञप्तियाँ प्रकाशित करता और नये-नये शब्द, 'सहअस्तित्व' 'पंचशील', 'सर्वोदय, 'साम्यवाद' आदि-आदि गढ़ता है। पर उसका अंतराल कुछ ऐसा है अथवा ऐसा हो गया है कि वह वैविध्य को बर्दाश्त कर नहीं पाता। उसकी आत्मा अपनी अस्मिता के आग्रह से ऐसी पीड़ित है कि वह समानांतर अस्मिता का अस्तित्व बर्दाश्त नहीं कर पाता। वह संपूर्ण अकेले भोग करना चाहता है, दूसरी अस्मिताओं से संयुक्त कर के पारस्परिक भोग नहीं। और तो और, बेचारे का प्यार भी इस रोग से मुक्त नहीं। कहने को तो इसी प्यार के पीछे वह संन्यास ले लेता है; कौपीन बाँधता है, रोमियो -जूलियट बनता है, ज़हर-माहुर खाता है। पर एक दूसरे को 'पारस्परिक प्रदान' एक आदर्श भर रहता है। वह यथार्थ में 'आत्मनस्तु कामाय सर्वंप्रियं भवतु' से जिसे सर्ग के प्रथम चरण में ही उपनिषादकार ने अनुभूत किया था, आगे नहीं जाता। एक दूसरे को मुष्टिगत रूप में रखना, एक दूसरे को अधिकृत रखना, इसी की परिष्कृत विधा का नाम है प्यार। वैदिक और यूनानी

अभिजातवादी युग में यही विधा थी। बाद में मध्य युग में पारस्परिकता का आदर्श स्थापित हुआ सही; पर व्यवहार में एक दूसरे की आत्मा को काट कर अपने गले की शोभा बनाने का प्रयत्न ही वास्तविक स्थिति रही। आधुनिक मनु को शॉ और लारेंस जैसे गुरु मिले हैं। आज तो प्रत्येक प्रेमिका चंडिका है और प्रत्येक प्रेमी अघोर शिव। ये एक दूसरे का मुंड काटने के लिए एक दूसरे के व्यक्तित्व को 'अधिकृत' करने के लिए ही, खुले आम लालायित हैं। यहाँ अर्धनारीश्वर नहीं। मानुषी प्यार तो चाहे वह कुमारी कंकावती मुखर्जी और सहगल साहब का हो अथवा रामभरोसे और रामनिहोर-बो भौजी का हो, सभी अघोर भैरव और चंडी भैरवी का आपसी संघर्ष है। कल्पना के जगत में अर्धनारीश्वर है, जयदेव हैं, सूरदास हैं और परिस्परिक समर्पण है। असलियत है मृगया, मृगशावक और शरासन-स्थित बाण! क्योंकि मनुष्य की आदत ही नहीं कि वह किसी भी तरह का चाहे वह भाव-जगत हो, अर्थ-जगत हो या राजनीति हो, सहअस्तित्व बर्दाश्त करे। यही तथ्य है।

पर यह भी सही है कि मनुष्य केवल 'तथ्य' ही नहीं है। मनुष्य के संपूर्ण का केवल एक भाग ही 'तथ्य' पर जा कर समाप्त है। उसका शेष तथ्य से आगे जाता है। तथ्यों से भी परे एक अनचीन्हा-अनजाना जगत है जिसकी मस्ती, जिसकी हवा के, नशे में आ कर वह मुंड मुँड़ाता है, मेखला तोड़ता है, कौपीन बाँधता है, अंधकार में डुबकी लगाता है। और दूर-दूर की खाक छानता है। तथ्यों की पहचानी ठोस भूमि के परे भी एक ऐसी भूमि है जिसकी गंध से पागल हो कर वह हृदय में दीपक प्रतिष्ठित करता है; अपना रक्त जलाता है और उसके प्रकाश में किसी की छवि का आभास पा कर धन्य-धन्य हो उठता है, चाहे वह छवि किसी लड़की की हो या श्रीकृष्ण की ! बात एक ही है। पारस्परिक समर्पण ही नहीं सहअस्तित्व के अन्य क्षेत्रों में भी अपने उच्छृंखल अस्मिता-भोग पर वह नियंत्रण रखने की चेष्टा में सदैव लीन रहता है। ज़ोर-जबर्दस्ती ही सही, पर वह सहअस्तित्व का मूल्य पहचानता है। इसी सहअस्तित्व के लिए वह लाख उपाय रचता है। गृह जोड़ता है, कचहरी-थाना बनाता है, विधान-सभा लोक-सभा बैठाता है, चर्चों और चैत्यों की स्थापना करता है, अग्नि की वेदी बाँधता है। वह क्या-क्या नहीं करता जिससे किसी तरह भी, घिसटते हुए ही सही, सहअस्तित्व चल जाय और क, ख, ग एक साथ रह सकें। वह राजा, नियामक, मिल-मालिक और 'अध्यक्ष' चुनता है, 'बोर्ड संगठित करता है, कोड पास करवाता है। वह अपने ही लिए नयी-नयी बेड़ियाँ गढ़ता चलता है और उसका सारा जीवन भिन्न कांट्रैक्टों की भुगतान करते ही बीत जाता है। आज हम अपने पिता को, अपने संत को, अपने कवि को गालियाँ देते हैं कि वे तो मर गये पर हमारे लिए ये कांट्रेक्ट और ये बेड़ियाँ छोड़ गये पर वे पिता, वे संत और वे कवि लाचार थे। उन्होंने अपने लिए और अपनी संततियों के लिए बेड़ियाँ इसी सहअस्तित्व के लिए गढ़े। हम भी जब इन बेड़ियों को तोड़ फेंकेंगे तो सिर्फ़ इसीलिए कि हमें नयी-नयी बेड़ियाँ चाहिए। यह और बात है कि वे नयी होंगी इसलिए ख़ूबसूरत लगेंगी और हमारे पैरों में नये स्वरों से झनझनायँगी।

नलबारी डिग्री कॉलेज,
डाकघर : नलबारी, असम।

दो श्रद्धांजलियाँ

● ●

नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी

स्वर्गीय श्री ज़हूरबख़्श

●

और आठ नवंबर को हिंदी के प्रसिद्ध वयोवृद्ध लेखक श्री जहूरबख़्श भी चल बसे। एक ही शहर में रहते हुए भी लोगों को उनकी अस्वस्थता के बारे में कोई जानकारी न मिल सकी। केवल नौ नवंबर के दैनिक पत्रों से ही उनकी मृत्यु की पुष्टि हो सकी। वास्तव में केवल एक दिन पहले ही ज़हूरबख़्श जी पर लकवे का हमला हुआ था, और दूसरे दिन भोपाल के हमीदिया अस्पताल में उनकी मृत्यु हो गयी।

ज़हूरबख़्शजी वास्तव में आजीवन हिंदी की सेवा एक कर्मठ साहित्यकार के नाते करते रहे। हिंदी साहित्य के इतिहास में उनकी गणना रहीम तथा रसखान जैसे हिंदी सेवियों की श्रेणी में की जानी चाहिए। उनकी मातृभाषा उर्दू थी। वे चाहते तो हिंदी की उपेक्षा कर सकते थे; लेकिन उनमें बचपन से ही हिंदी से कुछ ऐसा अनुराग हो गया था, जो आजीवन बना रहा। आज से लगभग चौदह-पंद्रह वर्ष पूर्व अपनी एक पाठ्य-पुस्तक में, सबसे पहले ज़हूरबख़्शजी का लिखा एक लेख पढ़ा था। उसके बाद धीरे-धीरे उनकी रचनाओं से परिचय होता गया। उनकी सबसे पहली कहानी, जो मैंने पढ़ी थी, उसका नाम आज तक मुझे याद है। 'तुर्की टोपी' नामक इस कहानी में ज़हूरबख़्शजी ने मुस्लिम समाज में प्रचलित कुछ रिवाज़ों पर करारा व्यंग्य किया था। आश्चर्य मुझे उस समय भी हुआ था कि ज़हूरबख़्शजी उसी वर्ग से संबंधित होते हुए भी कितने नीर-क्षीर-विवेक से कुरीतियों पर व्यंग्य कर रहे थे। इसके बाद तो उनकी अनेक रचनाओं को स्फुट तथा पुस्तकाकार पढ़ने का मौक़ा मिला। महात्मा शेख़सादी के 'गुलिस्ताँ' तथा 'बोस्ताँ' का भी उन्होंने बड़ा ही सरल अनुवाद किया था।

गंभीर निबंध एवं कहानियों के अलावा उन्होने बाल-साहित्य भी काफ़ी लिखा था। ज़हूरबख़्शजी जीवन भर अध्यापक रहे, अतः उन्हें बालकों की मानसिक अवस्था को भली भाँति समझने तथा उसके अनुकूल साहित्य रचने का सुयोग मिला था।

ज़हूरबख़्शजी से व्यक्तिगत साक्षात्कार आज से लगभग तीन वर्ष पहले भोपाल में ही हुआ। उन दिनों वे एक बहुत ही पीड़ाकारक मनःस्थिति से गुज़र रहे थे। जबलपुर के उषा भार्गव प्रकरण की प्रतिक्रिया उन दिनों मध्यप्रदेश के कुछेक जिन शहरों में भड़की थी, उनमें सागर

भी एक जगह थी, जहाँ सांप्रदायिकता की लपेट में कई लोगों को आना पड़ा। इसी के फलस्वरूप सागर में ज़हूरबख़्शजी का मकान और उनका सारा साहित्य स्वाहा हो गया। और उनका मन उस शहर से कुछ ऐसा उचाट हुआ कि उन्होंने तुरंत ही सागर छोड़ने का फ़ैसला कर लिया। बात साफ़ ज़ाहिर है कि जिस शहर में उनका सारा जीवन बीता, और जहाँ के लोगों से वे सदैव अपनापा महसूस करते रहे, वहीं अगर ऐंसी दुर्घटना हो जाय, तो उस स्थान से मन का उचाट होना स्वाभाविक है। अतः इस घटना के बाद ही वे भोपाल चले आये, जहाँ उनके कुछ संबंधी रहते हैं।

उन दिनों मैं भी आकाशवाणी से अलग होकर काफी संघर्षों के बीच चल रहा था तथा एक हिंदी दैनिक के संपादकीय विभाग में काम करता था। मई की एक तपती हुई दुपहर में एक स्वस्थ एवं आकर्षक व्यक्ति संपादकीय विभाग में आया। मैं भी उस समय अन्य सहयोगियों के साथ काम में लगा हुआ था। मैंने एक बार नज़र उठा कर उस नवागंतुक की ओर देखा। साधारण सी वेश-भूषा, आकर्षक आँखें, गठा हुआ बदन, और बड़ी-बड़ी मूँछें। मुझे ऐसा लगा कि एकदम से मैक्सिम गोर्की मेरे सामने आ खड़े हुए हों : जैसा मैंने पहले कहा है कि उन दिनों ज़हूरबख़्शजी बड़ी ही मानसिक यंत्रणा से गुज़र रहे थे। अतः उस समय दैनिक 'भास्कर'-कार्यालाय में पधारते ही ज़हूरबख़्शजी ने अपना परिचय देने के बाद सरकार तथा कुछ अधिकारियों आदि के बारे में कुछ कहना प्रारंभ किया। मैं स्वयं उनका वह रौद्ररूप देख कर स्तंभित था। असल में वे चाहते थे कि हम पत्रकार-गण उनके साथ जो भी ज़्यादतियाँ हुई हैं, उन्हें प्रकाश में ला कर उनकी पीड़ा को जनता तक पहुँचायें। वास्तव में सागर में उनका सभी कुछ लुट चुका था। ऐसी स्थिति में उनका इस तरह का असंतुलित व्यवहार भी स्वाभाविक सा लगा। अतः मैं उन्हें अपने साथ लेकर कार्यालय के बाहर एक चायघर में जा बैठा, और उनसे फिर शांतिपूर्वक चर्चा होने लगी।

ज़हूरबख़्शजी को अगर सबसे बड़ा कोई दुख था, तो वो उनके प्रकाशित तथा लिखित साहित्य के जल जाने का था। वे कहने लगे, "त्रिपाठी जी, अगर केवल मेरा साहित्य बच गया होता, तो मकान जल जाने का मुझे रंच मात्र भी दुख न होता।" और ये शब्द कहते-कहते उनकी आँखों में आँसू छलक आये। उनके इस दुख की कल्पना कोई भुक्तभोगी ही कर सकता है। किसी भी रचनाकार को अपनी कृतियों से उतना ही लगाव होता है, जितना कि एक पिता को अपनी औलाद से हो सकता है।

इसके बाद भोपाल में धीरे-धीरे उनका परिवार व्यवस्थित रूप से जम गया था। और इस बीच ज़हूरबख़्शजी ने पुनः व्यस्थित हो कर नियमित लेखन भी आरंभ कर दिया था। पिछले वर्ष तुलसी-जयंती से संबंधित एक कार्यक्रम में मैं ज़हूरबख़्शजी द्वारा तुलसी के लोक-पक्ष पर दिये गये भाषण को सुन कर तो दंग रह गया था। तुलसी के मानस का ऐसा सांगोपांग अध्ययन तो अनेक हिंदुओं ने भी अपने जीवन में न किया होगा।

कुछ भी हो, ज़हूरबख़्शजी को हिंदी संसार कभी भी विस्मृत नहीं कर पायगा। उनकी अचानक मत्यु से कई साहित्यिक योजनाएँ अधूरी रह गयी हैं।

१३/१०, नार्थ टी० टी० नगर,
भोपाल।

रामगोविन्द त्रिवेदी

अमर शहीद विद्यार्थीजी

भारत के अगणित सुकुमार किशोरों की तरह विवाह-वेदी पर विद्यार्थी जी की विद्या-वुभुक्षा का बध कर दिया गया। परंतु उनके शौर्य-साहस का संहार करना संभव नहीं था। फलतः उन्होंने स्वतः स्वाध्याय करके राजनीति, इतिहास, साहित्य और समाजशास्त्र का परिज्ञान प्राप्त कर लिया था। वे विख्यात, बहुज्ञ और बहुश्रुत थे।

विद्यार्थी जी का जन्म सन् १८९१ ई० में ग्वालियर में हुआ था। उन्होंने कई नौकरियाँ कीं, पर छोड़ दीं। अंत में सन १९१२ ई० में उन्होंने कानपुर के कारोनेशन प्रेस से 'प्रताप' (साप्ताहिक) निकाला। 'प्रताप' के प्रतापी लेखों से गोरी सरकार चिढ़ गयी; प्रेस वाले भी डर गये। इसलिए आप 'प्रताप' प्रेस खोल कर उसी से 'प्रताप' निकालने लगे। इन्होंने 'प्रभा' नामक मासिक पत्र भी निकाला।

१९२१ में रायबरेली ज़िले के मुंशीगंज में अपनी ही प्रजा पर सरदार वीरपाल सिंह ने गोलियों की वर्षा कर दी। 'प्रताप' ने इस संबंध का सारा विवरण छापा। पं० मीतीलाल नेहरू के 'इंडिपेंडेंट', ने भी विवरण छापा। सरदार महाशय के नोटिस देने पर 'इंडिपेंडेंट' ने तो माफ़ी मांग ली; किंतु प्रताप ने बढ़े गर्व, गौरव और वीरता के साथ उत्तर दिया। सरदार ने तुरंत ५०० का मुक़दमा चलाया, जिसमें सफ़ाई की ओर से सर्वश्री मदनमोहन मालवीय, मोतीलाल नेहरु, जवाहरलाल नेहरु जैसे विधि-वेत्ताओं के बड़े मार्के के इज़हार हुए। तो भी विद्यार्थी जी को तीन महीने की सज़ा हो गयी। इस प्रपंच में 'प्रताप' के प्रायः ३० हज़ार रु० खर्च हुए। दैनिक 'प्रताप' भी बंद हो गया। १९२३ में भी आप असहयोग-आंदोलन में एक वर्ष के लिए जेल चले गये।

आपने विक्टर ह्यूगो के 'नाइंटी थ्री' का हिंदी में 'बलिदान' नाम से अनुवाद किया है। 'ला मिज़रेविल' का जो अनुवाद उन्होंने किया था, वह खो गया। पुनः जेल में ही 'आहुति' नाम से उसका अनुवाद किया था। जेल में ही उन्होंने कहानियाँ भी लिखीं थीं। वे भी कहीं ग़ायब हो गयीं।

मुझे पहले-पहल आपका अतीव संक्षिप्त परिचय १९१७ में खँडवा (मध्य प्रदेश) में मिला था।

१९२६ में कलकत्ते से 'सेनापति' नाम का साप्ताहिक पत्र निकला। उसका संपादन-कार्य मेरे ज़िम्मे पड़ा। इन्हीं दिनों मेरे मन में विदेश-यात्रा की धुन सवार हुई। १९२७ के दिसंबर में मारिशस जाना निश्चित हुआ। इसके पहले ही मैंने साप्ताहिक 'विश्वमित्र' में 'सेनापति' को सम्मिलित कर दिया। 'विश्वमित्र' के संचालक बाबू मूलचन्द्र अग्रवाल ने कहा—"अपनी यात्रा का विवरण 'विश्वमित्र' में ही लिखना।" परंतु १९२० में जब मैं काशी के 'भारत-धर्म महामंडल' के प्रतिनिधिरूप में बर्मा गया था तब दैनिक 'प्रताप' में अपना यात्रा-वर्णन लिखा करता था। यह शिवनारायण जी को रुचिकर लगा था; इसलिए उन्होंने मेरी यात्रा की बात सुन कर, बहुत ज़ोर दे कर लिखा कि 'प्रताप' के सिवा अपना यात्रा-वृत्तांत अन्यत्र कहीं नहीं लिखना। फलतः ५ फ़रवरी, १९२८ से ले कर २६ जनवरी, १९३० तक 'सागर का पथिक', 'मेरी मारिशस यात्रा', 'मारिशस री यूनियन' और 'दक्षिण अफ़्रीका' तथा 'मातृभूमि की गोद में' आदि मेरी लेखमालाएँ 'प्रताप' में प्रकाशित हुईं। सभी लेख शिवनारायण जी के ही नाम आते थे। उनसे ही पत्र-व्यवहार भी होता था। किंतु एक वर्ष, एक दिन मारिशस में रहने के बाद जब मैं दक्षिण अफ़्रीका के लिए प्रस्थान करने लगा, तब 'प्रताप'—कार्यालय से समुद्री तार मिला कि फ़्रांस के उपनिवेश री-यूनियन टापू में मोरक्को के नेता अब्दुल करीम अनाम के राजा प्रिंस विनला और मेडागास्कर की रानी नज़रबंद हैं। सबसे मिल कर विवरण भेजें। मारिशस से री-यूनियन ११५ मील दूर है, जहाँ एक भी हिंदू नहीं रहता। संयोग ऐसा कि मेरा 'निहाऊ' जहाज़ दक्षिण अफ़्रीका जाते हुए एक सप्ताह री-यूनियन रुकने वाला था। मैंने गुजरात के मुल्ला इस्माइल मियाँ के सहयोग से प्रायः सभी नज़रबंदों से भेंट कर बातें कीं और सारा विवरण 'प्रताप' को लिख भेजा।

यह सब विवरण पढ़ कर विद्यार्थी जी बड़े प्रसन्न हुए। डरबन (दक्षिणी अफ़्रीका) पहुँच कर जब मैंने लेख भेजा, तब विद्यार्थी जी ने १५-३-२९ को निम्नलिखित पत्र मुझे लिखा—

"प्रिय शास्त्री जी,
वंदे।

आपके लेख बराबर मिलते जाते हैं। इस समय मेरे सामने आपकी डरबन की चिट्ठी पड़ी हुई है। शिवनारायण जी आपके लेखों को मुझे दे दिया करते हैं। यद्यपि मैं इस समय तक आपके इन लेखों के लिए साधारण धन्यवाद का पत्र भी न लिख सका, किंतु इससे आप यह न समझिए कि आपके इन लेखों के लिए मैं आपका कृतज्ञ नहीं हूँ। आपके लेखों की उत्कंठा तो अब इतनी अधिक हो गयी है कि जिस समय भाई शिवनारायण नये लेख को देते हैं, उसी समय मैं उसे आद्योपांत पढ़ जाता हूँ और जब तक समाप्त नहीं कर लेता, तब तक दूसरा काम नहीं करता। एक तो बहुत सी नयी बातों की जानकारी होती है, दूसरे आपकी ओजस्विनी भाषा का रसास्वादन होता है। मैं यदि लेखों की पहुँच न लिखूं तो आप इसमें आश्चर्य न मानें। मेरी यह बुरी आदत है कि मैं बहुत कम पत्र लिख पाता हूँ।

आशा है, आप सानंद हैं। मेरे योग्य सेवा का आदेश दें। ईश्वर करे आपकी यात्रा सानंद समाप्त हो, और देश लौट कर आप बहुत अधिक देश-सेवा कर सकें।

स्वा० भवानीदयाल से मेरा प्रणाम कह दें।

विनीत
गणेश शंकर वि०"

दक्षिण अफ़्रीका में ५ महीने रहने के अनंतर मेरी इच्छा विश्व-पर्यटन की हुई। मैंने इस इच्छा का संकेत एक पत्र में विद्यार्थी जी को कर दिया था। साथ ही अपनी एक लेखमाला का पूर्वार्द्ध भी भेज दिया था। उत्तर में आपने ७-८-२९ को लिखा—

"प्रिय शास्त्री जी, वंदे।

रजिस्टर्ड पैकेट द्वारा आपका लेख मिला। साथ ही एक पत्र भी। आपकी इस कृपा के लिए बहुत कृतज्ञ हूँ। आपके लेखों के पढ़ने में आनंद आता है; इसलिए एक नज़र से इस लेखमाला को भी तुरंत ही देख गया था।

आप उत्तरार्द्ध कब भेजेंगे? उत्तरार्द्ध आने पर जो ब्लाक आवश्यक होंगे उनको बनवा डाला जायगा और लेखमाला 'प्रताप' में आरंभ हो जायगी।

यह जान कर संतोष हुआ कि आपका स्वास्थ्य पहले से अच्छा है। आशा है कि शीघ्र ही आप पूरे स्वस्थ हो जायँगे और शीघ्र ही आपकी संसार-यात्रा की इच्छा पूरी होगी।

मेरे योग्य कोई सेवा हो तो उसका आदेश कीजियेगा।

आपका
ग० शं० विद्यार्थी"

दक्षिण अफ़्रीका से चल कर पुर्तगाली बेरा, मोजांबीक और जंजीबार रुकता हुआ मैं केनिया के बंदरगाह मोंबासा पहुँचा। यहाँ से साउथंपटन (इंग्लैंड) जाने को गया था; परंतु मलेरिया से भयंकर रूप से आक्रांत हो गया। मान कर रोगाक्रांत घर लौट आया।

मलेरिया ने गला नहीं छोड़ा। शरीर अस्थिचर्मावशिष्ट हो गया। हरिद्वार पहुँचा तो विद्यार्थी जी का १३-९-२९ का लिखा पत्र मिला।

एक महीना हरिद्वार में बिता कर पहाड़ पर (मसूरी) गया; वहाँ भी कुछ दिन बिताये; परंतु लाभ के बदले भयंकर हानि हुई। मसूरी से वापस आते देहरादून में मलेरिया का इतना ज़बर्दस्त हमला हुआ कि आँखें बंद हो चलीं। किसी तरह हरिद्वार पहुँच कर रोग-शय्या पर गिरा तो कई दिन आह, आह करता रहा। इस दुर्गति का पता लगा तो विद्यार्थी जी ने तार दिया— "फ़ौरन कानपुर आ जाइए। यहीं दवा करायी जायगी। यहाँ प्रसिद्ध डॉक्टर सुलभ हैं।"

थोड़ा स्वस्थ होने पर मैं कानपुर पहुँचा। कुछ ऐसा विचित्र संयोग कि विद्यार्थीजी जहाँ खड़े थे, वहीं मेरी गाड़ी का डिब्बा लगा। मुझे देखते ही हाथ जोड़ कर बोले—"शास्त्री जी, सादर वंदे।" मैं तो आश्चर्य में पड़ गया; क्योंकि इसके पहले न तो उन्होंने मुझे कभी देखा था,

न मैंने उनको। मैंने पूछा—"आपने मुझे कैसे पहचान लिया ?" "आपके चित्र जो कई देखे थे।" उत्तर मिला।

कुशल-मंगल के अनंतर ही हिंदी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) के वार्षिक अधिवेशन की चर्चा छिड़ गयी। कहने लगे—"संपादकाचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी सम्मेलन के गोरखपुर वाले वार्षिक अधिवेशन के सभापति निर्वाचित हुए हैं। द्विवेदी जी उद्‌भट लेखक और मूर्द्धन्य साहित्यकार हैं। सभापतित्व के पूर्ण अधिकारी हैं। परंतु द्विवेदी जी इतने निस्पृह और त्यागी हैं कि सभापति बनना अस्वीकार कर दिया। उस स्थान पर लोगों ने मुझे बैठाने का निश्चय कर लिया है। मैं तो साधारण अख़बारनवीस हूँ। मैं क्या साहित्य जानूँ ?" ये वचन उनकी अतीव विनम्रता और शालीनता के प्रोज्वल प्रमाण हैं।

दूसरे दिन कौंसिल की चर्चा छिड़ी। आश्चर्य में आ कर विद्यार्थीजी ने कहा—"मैं हिंदी में घंटों एसेंबली में बोलता हूँ; परंतु समाचार भेजने वाली एजेंसियाँ सब पचा जाती हैं। केवल इतना ही समाचार भेजती हैं कि 'इसके बाद गणेशशंकर विद्यार्थी हिंदी में बोले'। जो अंग्रेज़ी में बोलते हैं, उनके भाषणों की लंबी-चौड़ी रिपोर्ट भेजी जाती है।" इसी प्रसंग में दुख प्रकट करते हुए बोले—"बड़े नेता भी हिंदी की उपेक्षा करते हैं। मैंने आग्रह कर पं० जवाहरलाल नेहरू को जेल में कुछ हिंदी पढ़ायी।"

अपनी देश-भक्ति के कारण विद्यार्थी जी शीर्षस्थ नेता गिने जाते थे। वे प्रादेशिक कांग्रेस के और प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन के सभापति भी रह चुके थे। उन्होंने कितने ही लेखक और कवि भी बनाये थे। उनके कितने ही शिष्य प्रख्यात संपादक हो गये।

अपने देश को ग़ुलामी से छुड़ाने की चिंता में वृंदावन के राजा महेंद्र प्रताप यूरोप, एशिया और अमरीका की दौड़ लगाया करते थे। वे पत्रों में छपने के लिए पत्र भी भेजा करते थे। परंतु अंग्रेज़ी ने उनके विरुद्ध ऐसा वातावरण बना डाला था कि अंग्रेज़ों के डर के मारे कोई भी समाचार-पत्र उनके पत्र प्रकाशित करने का साहस नहीं करता था। परंतु विद्यार्थी जी अंग्रेज़ों से क्या महाकाल से भी डरने वाले पुरुष नहीं थे। वे राजा साहब के पत्र धड़ल्ले से छापने लगे। उनकी देखा-देखी पीछे और लोग भी उनके पत्र प्रकाशित करने लगे।

वस्तुतः विद्यार्थीजी अपनी शैली के अद्वितीय संपादक, धुरंधर लेखक, ओजस्वी वाग्मी और निर्भीक आलोचक थे। उनकी वाग्मिता और लेखनी में प्रलय की आँधी थी। बड़े-बड़े संपादकाचार्य भी उनकी लेखनी का लोहा मानते थे। उन्होंने शासकों के जघन्य अत्याचारों का भंडाफोड़ किया। युवकों का परोपकार करना उनका स्वभाव हो गया था। उनका कवच 'प्रताप' था। उनकी दर्प–दृप्त और वीर्य-स्फीत भाषा में जो विलक्षण विद्युद्‌धारा थी, वह नेताओं के लँगड़े भाषणों से शतगुण वरिष्ठ और प्रभावशालिनी थी। वे मज़दूरों और ग़रीबों के लिए अपनी गर्दन नापने वाले अजातशत्रु थे। उनके देहावसान पर आगरा के 'आर्य-मित्र' ने ठीक ही लिखा था कि **विद्यार्थी जी, अपने स्मरणीय और अनुकरणीय गुणों के कारण थोड़े समय में नेतृत्व से ऊँचे पद पर पहुँच गये थे, जिस पर बड़े-बड़े नेता वृद्ध होने पर भी नहीं पहुँच सके।**

'प्रताप' के सहकारी संपादक श्री देवव्रत शास्त्री ने लिखा था––"मार्च १९३१ में कानपुर के हिंदू-मुस्लिम दंगे में विद्यार्थी जी ने जलते घरों में घुस-घुस कर और घरों में बंधन काट-काट कर क़रीब १४० मुसलमान नर-नारियों और बच्चों को निकाल कर उनकी जान बचायी। घायल मुसलमानों की ख़ुद मरहम-पट्टी की। घायलों को अपने कंधे पर लाद-लाद सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाया। सबको सुरक्षित पहुँचाने में उन्हें तीन बार मुसलमानी मुहल्लों में जाना पड़ा। आपको बार-बार चेतावनी दी गयी; परंतु आप जन-सेवा कार्य में दृढ़ता के साथ डटे रहे। आप बार-बार हिंदुओं से कहते कि मुसलमान भाइयों का ख़ून करने के पहले हमारी जान ले लो।

. . . उत्तेजित मुसलमानों की भीड़ घोर गर्जन-तर्जन कर आप पर टूट पड़ी। एक नर-पिशाच ने इतने ज़ोर से उनकी पीठ में बल्लम मारा कि अँतड़ी लिये-दिये बल्लम आगे की ओर निकल गया। फिर लाश को काठ की तरह पीट-पीट कर एक जलते घर में झोंक दिया। आपको दो मुसलमान स्वयंसेवक बचा रहे थे। बचाने में एक तो सख़्त घायल हो कर वहीं मर गया। दूसरा मरणासन्न दशा में अस्पताल पहुँचाया गया।"

'कर्मवीर' संपादक पं० माखनलाल चतुर्वेदी ने लिखा था––**गणेश जी की बलि लेने वाली इस युग की राक्षसी भूख को बरसों तक पछताना पड़ेगा। विद्यार्थी जी के बिना हिंदी साहित्य और संपादन-कला विधवा हो गयी।** महात्मा गांधी ने कहा था––**इस आदर्श मृत्यु से मुझे ईर्ष्या होती है।** श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपना उद्गार प्रकट किया था––**उनकी मृत्यु वैसी ही हुई जैसी एक सच्चे भारतीय की होनी चाहिए।**

विद्यार्थीजी बड़े हँसमुख और विनोद-प्रिय थे। उनके विनोद के स्रोत मस्ती में दिन-रात झूमने वाले प्राणवंत कवि 'नवीन' जी थे। विद्यार्थी जी विशुद्ध चरित और बड़े विनम्र पुरुष थे।

विद्यार्थी जी के योग्य स्मारक बनाने के लिए नेहरूजी, टंडनजी, श्रीप्रकाशजी आदि की एक समिति बनी थी। उनके नाम पर एक 'संपादन-कला-विद्यालय' स्थापित करने का विचार था। वह तो नहीं हुआ, : परंतु कानपुर में उनके नाम पर कुछ स्मारक बने। उनका वास्तविक स्मारक 'प्रताप' है।

––कूसी,
गाजीपुर।

सहवर्ती साहित्य

कन्नड़

•

सोमशेखर 'सोम'

कन्नड़ भाषा का नाट्य-साहित्य

दक्षिण भारत की प्रमुख चार भाषाओं में कन्नड़ भाषा तमिल के पश्चात अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। कहना न होगा कि साहित्य की जितनी भी विधाएँ हैं वे सब कन्नड़ साहित्य में भली भाँति विकसित हुई हैं तथा विश्व-साहित्य में अपना प्रतिनिधित्व करती हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कन्नड़ भाषा द्रविड़-परिवार के अंतर्गत आती है। यह भाषा समृद्धिशाली, सरल एवं साहित्यपूर्ण तथा शास्त्रपूर्ण है।

वास्तव में यह गौरव की बात है कि हिंदी रंगमंच की अपेक्षा कन्नड़ का रंगमंच अधिक शास्त्रपूर्ण है। कन्नड़ में पहले-पहल नाटक न होते हुए भी रंगभूमि की कमी न थी। आज भी कर्नाटक में बीसों नाटक-कंपनियाँ हैं, जो नाट्य-कला का प्रदर्शन कर कन्नड़ नाट्य-साहित्य का विकास कर रही हैं। मैसूर राजा के प्रासाद में स्थित रंगभूमि के कारणार्थ ही 'मित्र विंदा गोविंद' नामक नाटक का निर्माण किया गया जिसे श्री सिंगारार्य ने लिखा। कथा संस्कृत-नाटक 'रत्नावली' से उद्धृत थी, फिर भी इसमें एक नवीनता थी। तत्पश्चात अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य के प्रमुख नाटकों के अनुवाद कन्नड़ में आये तथा इन साहित्यों के नाटकों की कथा-वस्तु के आधार पर नाटक लिखे गये। वास्तव में ऐसे नाटक प्रयोग मात्र थे, किंतु इनमें जीवन-दर्शन या नवीनता अपेक्षाकृत कम थी।

उत्तर कर्नाटक में भी नाटक बड़े उत्साह के साथ लिखे जाते थे। शांत कवि ने 'यक्ष-गान' के आधार पर नाटक लिखे जो जनता के मनोरंजन के लिए लिखे गये। चूरमरि शेषगिरि

रायजी द्वारा लिखित 'कन्नड़ शांकुतल' अनेक दृष्टियों से दर्शनीय है। इनसे प्रेरणा पा कर मुदुवीड़कर कृष्णरायजी ने 'प्रेमभंग' लिखा।

कन्नड़ भाषा के नाटकों में वास्तविकता उसके बाद ही आयी। इसके पूर्व लिखे नाटक या तो अनुवाद थे या किसी अन्य भाषा की कथा-वस्तु की सहायता से लिखे गये थे, जिसकी चर्चा थोड़ी देर पहले की गयी।

कन्नड़ के सामाजिक नाटकों में सबसे पहले 'इग्गप्प हेग्गड़े प्रहसन' का नाम लिया जा सकता है। हुइलगोल नारायण राय जी के दो नाटक 'शिक्षण-संभ्रम' तथा 'स्त्री-धर्म-रहस्य', नाटक के तत्वों की दृष्टि से परिपूर्ण थे। इन दोनों नाटकों ने जनता को वास्तविक आनंद दिया, परंतु 'उद्देश्य' की दृष्टि से कुछ हद तक असफल रहे।

प्रारंभिक कन्नड़-नाट्य-साहित्य में दो अग्रगण्य नाटककार हुए—श्रीरंग तथा कैलाशम्। इन दोनों ने नाटक-साहित्य का अध्ययन विदेश में किया तथा संस्कृत में पंडित होने के कारण अपने नाटकों को शास्त्रीय ढंग से लिखा। इनकी प्रेरक शक्ति ने ही वर्तमान नाटक को परिपूर्ण बनाया। कैलाशम् जन्मजात कलाकार थे; सर्वश्रेष्ठ अभिनेता थे। इनके जीवन के विषय में यदि लिखने बैठें तो एक बड़ा शोध-प्रबंध ही होगा। यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि वे हिंदी के 'प्रसाद' थे; अंग्रेज़ी के 'शेक्सपियर' थे। उन्होंने अपनी नाट्य-कला द्वारा यह बतलाया कि नाटक जीवन का प्रतिबिंब है। 'ठोल्लु-गड्डि' से लेकर 'सूळे' (वेश्या) तक नाटक एक दृष्टि से व्यंग्यात्मक तथा हास्य रस के रूपक मात्र थे। परंतु इनकी हास्य-कला गिरी हुई नहीं थी। उसमें एक अर्थ था; एक रस था; जीवन का एक संदेश अंतर्निहित था। इनके 'होमरूल', 'बडवालिल्लद बड़ाई', 'अम्माव्र गंड' आदि सर्वश्रेष्ठ प्रहसन हैं जिनमें 'बडवालिल्लद बड़ाई' एक सर्वोत्तम प्रहसन माना गया है। उन्होंने समयानुसार अपने नाटकों में जीवन की समस्याओं का प्रश्न उठाया है तथा उनके उत्तर भी यथासंभव दिये हैं। 'अम्माव्र गंड' (अम्मा के पति) नाटक में पति-पत्नी की घरेलू समस्या का समाधान किया गया है। अंग्रेज़ी के समस्यामूलक नाटककार इब्सन, बर्नार्ड शॉ तथा हिंदी के लक्ष्मीनारायण मिश्र जी की भाँति कैलाशम् ने भी समस्यामूलक नाटक लिखे। परंतु कैलाशम् ने प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने का कार्य अधिक किया है तथा मेरी दृष्टि में इसमें उन्हें अधिक सफलता भी प्राप्त हुई है। इनका 'बहिष्कार', 'सूळे' (वेश्या) इसके प्रमाण हैं।

आज तक कैलाशम् के लगभग १७ नाटक प्रकाशित हुए हैं। ये सब सामाजिक नाटक हैं। 'नम्म कंपनी' (हमारी कंपनी) नाटक में देश के कोने-कोने की सभ्यता का चित्रांकन हुआ है, जिसे देख कर प्रेषक हर्षोल्लास में डूब जाते हैं।

कैलाशम् में जो कमियाँ थीं, वे श्रीरंग में भर आयीं अर्थात इनके नाटकों में 'समस्या' गंभीर बन गयी, अपेक्षाकृत हास्य के। इनमें बुद्धिमत्ता थी; भावना की चरम सीमा थी। श्रीरंग मानवता की गहराई में पहुँच चुके थे फलतः उनका 'हरिजन्वार' निकल आया। नाटक की अभिवृद्धि के लिए इन्होंने तन-मन-धन से कार्य किया। इनका व्यंग्य बहुत कड़ुआ है।

'उंदर-वैराग्य', 'मुक्कण्णन विराट पुरुष', 'संसारिग कंस', 'प्रपंच पाणिपत्त' 'नरकदल्लि नरसिंह', आदि इनके प्रमुख नाटक हैं जिनमें अंग्रेजी के शॉ तथा इब्सन का आभास मिलता है। इनके अंतिम नाटक हैं—'जीवन जोकाली', तथा 'जरासंध'।

इनके बाद कन्नड़ साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कविराज श्री द० रा० बेंद्रे (अंबिकातनय दत्त) का नाम बड़े गौरव के साथ लिया जा सकता है। उन्होंने 'उद्धार', 'नगेय होगे', नामक दो दुखांत नाटक लिखे। 'देव्वन मने', (भूतों का घर) 'हळेय गेळेयर' (पुराने दोस्त) 'सायो आर', (मरने वाला खेल) 'तिरुकर पिडुगु', तथा 'गोल' नामक हास्य रस प्रधान नाटक लिखे। इन्होंने अपने नाट्य-साहित्य में हरिजनोद्धार तथा स्त्री संबंधी समस्याएँ उठायीं तथा उनका निरूपण भी बड़ी सफलता के साथ किया।

पर्वतवाणी ने कैलाशम् के रिक्त स्थान की पूर्ति की है। सच्ची सामाजिकता इनके नाटकों में मुखर हुई है। भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से इनके नाटक वर्तमान काल में बड़े सफल तथा लोकप्रिय हुए हैं। मैं इनसे कई बार मिल चुका हूँ। इसलिए यह कहने का दावा करता हूँ कि पर्वतवाणी न केवल सफल नाटककार हैं, अपितु एक सफल अभिनेता भी हैं तथा अपने लिखे नाटकों का निदर्शन भी बड़े सुंदर ढंग से करते हैं। अब तक इनके पाँच नाटक-ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं—'डंडाडी गुंड', 'वण्णदों बे', 'विपर्यास', 'मीना मदुवे', तथा 'बहादुर गंड'। इनमें अंतिम नाटक की प्रतियाँ अप्राप्य हैं। पर्वतवाणी ने अपने नाटकों में संकलन-त्रय को अधिक महत्व दिया है तथा इनके सब नाटक रंगमंच के लिए ही लिखे गये हैं। इनके सब नाटकों में 'डंडाडी गुंड' बहुत ही जनप्रिय हुआ है।

सामाजिक एकांकी नाटक लिखने वालों में क्षीरसागर तथा कैवार राजाराव प्रमुख हैं। इन दोनों ने कई नाटक लिखे हैं। क्षीरसागर के 'कलह-कुतूहल' तथा 'भर चुक्की' बड़े अच्छे हैं। 'मल्लगियचप्पर' तथा 'प्रयाण' एकपात्राभिनय नाटक हैं। 'शामण्णन साहस' (शामण्णा का साहस) अत्यंत लोकप्रिय हुआ है। 'नम्मूरिन पश्चिम' (हमारे गाँव का पश्चिम) एक विषादांत नाटक है। कैवार राजाराव के 'बुडुबुडिके' तथा 'नव चदुरंग', 'दिल्ली इंद हळ्ळिगे' (दिल्ली से गाँव को) आदि सफल एकांकी हैं। इन्होंने बालकों के लिए भी एकांकी लिखे जिनमें 'अम्म' तथा 'बाबरन पाठ' बाल-नाट्य-साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनकी लेखनी में एक शक्ति है; उनकी सृष्टि में एक कुशलता है; औचित्य है।

यक्ष-गान के अध्येता शिवराम कारंथ जी का नाम किस भारतीय ने नहीं सुना है? वे कन्नड़ साहित्य के प्रेमचंद हैं। ये कला-पारंगत हैं। इनके 'बिलिद बेळे' (बोयी फ़सल) तथा 'गर्भ गुडि' (गर्भ-मंदिर) दोनों ही गद्य नाटक कन्नड़ साहित्य में बेजोड़ हैं।

सी० के० वेंकटरामय्या के 'सुंदरी', 'नम्म समाज', रं० श्री० मुगळि जी का 'नामधारी', श्रीनिवास जी का 'मंजुल', वि० कृ० गोकाक के 'युगांतर', 'कोलिमंचु', 'जननायक' आदि कन्नड़-साहित्य के नाट्य-साहित्य के आधार-स्तंभ हैं।

कन्नड़ के ऐतिहासिक नाटककारों में संस का नाम अमर है, जिन्होंने तेईस ऐतिहासिक नाटक लिखे। 'बेट्टद अरसु' तथा 'विजय नारसिंह' इनमें महत्वपूर्ण हैं। इनके पश्चात एम०

आर० श्रीनिवास मूर्ति का नाम उल्लेखनीय है। इनका 'कंठीरव विजय' बहुत ही सुंदर नाटक है। इनका दूसरा नाटक है—'धर्म दुरंत'। इसकी कथा-वस्तु टीपू सुल्तान से संबंधित है। श्रीनिवास जी का 'ताळिकोटे' इतिहास एवं कल्पना का संगम है।

कन्नड़-साहित्य के कुलदीप तथा राष्ट्रकवि कु० वे० पुम् का 'रक्ताक्षी' एक ऊँचे वर्ग का नाटक है। शेक्सपियर के 'हैमलेट' का अनुकृति-रूप यह ऐतिहासिक नाटक कन्नड़-साहित्य की सुंदर एवं मार्मिक कलाकृति है।

रं० श्री० मुगळि जी के दो ऐतिहासिक नाटक 'विजय साम्राज्य', 'सेवा प्रदीप' के नाम भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। एम० नरसिंह मूर्ति जी का 'रत्नसिंहासन' देशाभिमान का द्योतक है। ऐसा बिरला ही मिलेगा जिसने 'एच्चम नायक' तथा 'वीर राणी रुद्रम्मा' का नाम न सुना हो। ये दोनों वीर रस प्रधान नाटक हैं।

आज गीति नाटक भी बड़ी प्रचुर मात्रा में लिखे जा रहे हैं। जैसे मैं ऊपर कह आया हूँ कि दक्षिण में विशेष तौर पर उत्तर कर्नाटक में नाटकों को अधिक महत्व दिया गया है। आज भी ऐसे अनेक रंगमंच हैं, जो बड़ी सफलता के साथ कन्नड़ के नाटकों का अभिनय करते हैं। इन सब नाटकों की यह विशेषता रही है कि ये नाटक विशेषत: अभिनयार्थ ही लिखे गये हैं।

जो काम पृथ्वीराज कपूर ने हिंदी रंगमंच के लिए किया, वही कार्य कन्नड़ में गुब्बि वीरण्णा तथा स्वर्गीय सुब्बय्या नायडू तथा हिरण्णया ने किया है। मैं तो यह कहूँगा कि हिंदी की रंगभूमि की अपेक्षा कर्नाटक की रंगभूमियाँ शास्त्रपूर्ण हैं।

कन्नड़-भाषा के नाट्य-साहित्य का भविष्य उज्वल है इसमें क़तई संदेह नहीं।

—अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
दि कम्युनिटी सेंटर,
जयनगर, बंगलोर–११।

अक्कमहादेवी के पद

●●

हे बसवण्ण जी! आपकी कृपा से मैंने काम को जीत लिया; आपकी कृपा से चंद्रशेखर शिव का आलिंगन किया। आपकी कृपा से कामातीत चन्नमल्लिकार्जुन में, मैं स्त्री तथा पुरुष का भेद बिना जाने ही विलीन हो गयी।

२

हे चन्नमल्लिकार्जुन! यदि मैं कहूँ कि मैंने इस माया को छोड़ दिया है तो यह माया मुझे छोड़ने वाली नहीं है। यदि मैं इस माया को सचमुच न छोड़ूँ तो सिर पर चढ़ जायगी। योगी के संमुख यह माया योगिनी बन कर आती है, तो स्रमण मुनि (जैन संन्यासी) के संमुख स्रमण संन्यासिनी बन कर आती है। यति के सामने यह कीर्ति बन कर आती है। अतः मैं सौगंध खा कर कहती हूँ कि तुम्हारी इस माया से मैं डरने वाली नहीं हूँ।

३

गुरुदेव ही कन्या-दान करने वाले बने। शिवलिंग ही वर बने। मैं वधू बनी। पृथ्वी के सब शिव-भक्त इस विवाह के प्रेक्षक बने। सबने मिल कर सर्वगुणसंपन्न पति को मेरे लिए ढूँढ़ कर मेरा विवाह करा दिया। अतः श्री चन्नमल्लिकार्जुन ही मेरे पति हैं।

४

कलरव-गान करने वाले हे शुक-समूह! मधुर गीत गाने वाले हे कोकिल-वृंद! उड़ कर गुंजार करने वाले हे भ्रमरो! सरोवर-तट पर क्रीडामग्न हे हंसो! पर्वत-गुफाओं में नर्तनरत हे मयूरो! आप सब यह जानते हैं कि चन्नमल्लिकार्जुन कहाँ हैं! यह रहस्य मुझे बताइए!

५

हे माताओ! मेरी विरह-वेदना आप कैसे जानती हैं? क्या बाँझ को प्रसव की मार्मिक पीड़ा का परिचय है? क्या विमाता बच्चों को प्यार करना जानती है? चन्नमल्लिकार्जुन को प्राप्त करने के लिए मैं जिस पीड़ा से तड़प रही हूँ, उसे आप क्या जान सकती हैं?

६

हे चन्नमल्लिकार्जुन! जब मेरा शरीर आपका बन गया, तब मैं किस शरीर से आपकी सेवा करूँ? जब मन आपका

रूप ग्रहण कर चुका, तब किसकी चिंता करूँ? प्राण भी जब आपका रूप ग्रहण कर चुके, तब मैं किसकी आराधना करूँ? जब ज्ञान भी आप में विलीन हो गया, तब किसके बारे में जानूँ? अतः मैं आप में अपनत्व को खो कर, जब आप ही बन गयी, तब आपको स्मरण करना भूल गयी।

७

जल से निर्मित मंडल रच कर अग्निरूपी छप्पर लगा कर ओलों से निर्मित मंगल पलंग पर मुझे बिठा कर लौकिक चलन से दूर मुझसे उस निराकार ने आकर विवाह किया।

८

हे चन्नमल्लिकार्जुन! सब वस्तुओं में आप ही आप दिखायी देते हैं। यह सारा वन-प्रदेश आपके ही जैसा है। वनस्थ वृक्ष-समूह आप ही हैं। वृक्षस्थ खग-मृग भी आप ही हैं। ऐसी अवस्था में यह जान नहीं पा रही हूँ कि सृष्टि कौन है, सृष्टिकर्ता कौन है और मैं कौन हूँ!

● ●

अनु० : एस० केशवमूर्ति,
१२९२।१, नालो स्ट्रीट, के० आर० मुहल्ला,
मैसूर–४।

कृतिकार और कृति

दा० र० बेंद्रे

कन्नड़ साहित्य के अग्रगण्य कवियों में श्री बेंद्रे (अंबिकातनय दत्त) जी का नाम बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। आप तथा श्री कुवेंपु कन्नड़-साहित्य के शिलाधार हैं। आप बड़े रसिक कवि हैं। आपके लिखे ग्रंथों से कन्नड़ साहित्य की ज्योति, वास्तव में, प्रज्वलित है।

‘सूर्यपान’, ‘हृदय-समुद्र’, ‘मुक्त-कंठ’, ‘चैत्रालय’, ‘जीव-लहरी’, ‘गंगावतरण’, ‘नाद-लीले’, ‘मेघदूत’, ‘गरि’, ‘सखी-गीत’, ‘उइयाले’ आदि आपके काव्य-संग्रह हैं। यदि आपको हिंदी साहित्य का श्री ‘प्रसाद’ कहें, तो अन्योक्ति न होगी।

प्रस्तुत पद्य कर्नाटक में बहुत ही प्रसिद्ध है। कवि यहाँ गंगा माता से जो भारतीय पवित्र नदी है, पूजनीय है——प्रार्थना करता है कि हे गंगा, यहाँ उतर आ। भारतीय जनता का उद्धार करना ही कवि का मूल उद्देश्य है। किंतु गंगा माता के बिना कवि विवश है। क्योंकि वह भारत की माता है।

इसमें भारतीय संस्कृति का परिपाक हुआ है। कविता सरल है और ज्ञेय भी।

गंगावतरण

●

हे मेरी माँ
आ जा यहाँ।
हर-जटा से
हरि-पादों से, ऋषि-गर्भ से

आ रेंगती।
कर तृप्त देव-देवताओं को, आ
दिग्दिगंतों को भिगो, आ
चराचरों को खिला, आ
हे मेरी जन्म-धात्री
उतर आ,
यहाँ उतर आ।

करूँगा नमन तुझे
पहनूंगा परिधान तेरे
क्यों विलंब आने में
आ, बहती-बहती।
त्याग, स्वर्ग
कर पार, हर ज़मीन
बहती-बहती आ भूमि पर

हे मेरी माँ, आ उतर
उतर माँ, आ
उतर आ।

मलिनता का नाशक नहीं यहाँ, आ
मानूँगा नहीं अन्य शक्तियाँ, आ
कर न ऐसा कदापि, आ जा, यहाँ
नस-नस में समा जा, तू आ कर यहाँ
देश हमारा, घेर, आ
जीव-दान करने, निर्जीवों को, आ।

● ●

—अनु० : सोमशेखर 'सोम'

जी० एस० शिवरुद्रप्प

कन्नड़ साहित्य के आधुनिक कवियों में डॉ० जि० एस० शिवरुद्रप्प जी का स्थान सर्वोपरि है। आपको 'कन्नड़ काव्य में सौंदर्य-बोध', नामक शोध-प्रबंध पर मैसूर विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० प्राप्त हुई है। 'देवशिल्प', 'सामगान', 'दीपद् हेज्जे', 'कातीर्क' आदि इनके काव्य-संग्रह हैं। हिंदी साहित्य के 'निराला' और 'प्रसाद' जी की भाँति आप भी बड़े दार्शनि हैं, भावुक भी।

प्रस्तुत कविता में, आध्यात्मिक भावनाओं पर सुंदर तथा मार्मिक रूपक बाँधा गया कवि का मन एक अनदेखे सागर को देखने के लिए बहुत आतुर बन बैठा है। सागर में अनेकों नदियाँ, मिल जाती हैं। फिर भी उसमें एक ही समानता होती है। उसका गांभीर्य अगाध होता है अपार भी। वह उस भाग्य की प्रतीक्षा में बैठा हुआ है।

यहाँ जीव, परमात्मा तथा संसार का रूपक निरूपित किया गया है। झरना, सागर, वन क्रमशः जीव, परमात्मा एवं संसार है।

झरने की चाह

चाहा है मन ने अदृश्य सागर
क्या देख सकूँगा एक दिन ?
क्या मिल सकूँगा सागर से एक दिन
अदृश्य सागर की आवाज़ भयंकर
सुन रहा है अंतर्मन।
कल्पना मेरी, कर चित्रित
अपना ही सागर, चिंतित,
भर रही है आहें।
है कहाँ वह
है कैसा वह।
क्या मिल सकूँगा सागर से एक दिन ?

नदियाँ हज़ारों भरी-भरी, बहने पर भी,
है वहाँ समानता !
सुनील विस्तर तरंग-शोभित
गंभीरांबुधि है आप !
है वह संगम
है वह अपार,
क्या देख सकूँगा एक दिन वह सागर,
क्या मिल सकूँगा न मैं एक दिन।

जटिल कानन कुटिल पथों में
बहता झरना हूँ मैं !
कभी तो अदृश्य सागर में
मिल भी तो सकूँगा न !
कब वह पुण्य
कब वह काल
समुंदर के रत्न-गर्भ में
क्या मैं मिल सकूँगा ?
उदधि नील में
गल सकूँगा न मैं ?

—अनु० : सोमशेखर 'सोम',

स्व० द० बा० कुलकर्णी

स्वर्गीय पोतदार श्रीनिवास राव

धारवाड़ स्टेशन से शहर जाने वाली सड़क की दायीं ओर ही कन्नड़ में एक पट्ट दिखायी देगा 'श्रीनिवास कंपनी, चित्रकलामंदिर'। इसके मालिक पोतदार श्रीनिवास राव जी हैं। किसी भी स्टेशन पर उतरिए, पहले-पहल कोई रेस्तराँ, कोई होटल, कोई कंपनी आदि रहेंगे ही। कहीं कन्नड़ में कोई पट्ट लिखा न मिलेगा। प्रायः मैंने देखा है, आने-जाने वाली गाड़ियों से उतरने वालों में कन्नड़ के जानकार नहीं होते। कन्नड़भाषी भी कोई-कोई अक्षर प्रेम से पढ़ लें तो, बड़ी बात है। उन्होंने यह घोषणा की कि इसे दूसरे लोग असहनशीलता भले ही कह लें, पर यह अपने स्वाभिमान की निशानी है। धारवाड़ में यह कमज़ोरी जड़ें न जमा लें, इस हेतु उन्होंने धारवाड़ के फाटक पर कन्नड़ का झंडा फहराया। इसी से इन्हें धारवाड़ का सहारा कहा गया है।

केवल पट्ट में क्या धरा है, यह सवाल उठाने वाले कम नहीं हैं। ये अक्षर तख़्ते या टीन पर अंकित मात्र नहीं, श्रीनिवास राव के सीने पर निजी संकल्प से खुदे हुए हैं। यह कन्नड़ के वर्णों की विभूति सूचित करते हैं।

चित्रकारी, ब्लॉक-निर्माण ही उनका पेशा था। बंबई में इन्होंने इस कला की साधना की थी। कहा जाता है कि उससे पहले वे कलकत्ता भी गये थे। बंबई में इन्हें जो कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी थीं, उनका ज़िक्र बुज़ुर्गों से सुनने को मिल जाता है—यह इनके बंबई जीवन-काल का वृत्त है। जब कोई देश की जनता को 'मृतप्राय' कह बैठता तो श्रीनिवास राव इसे बड़ा 'असगुन' मानते। यही कारण है कि मुसीबत के दिन उन्होंने बाहरी प्रांतों में बिताये। यहाँ बस जाने पर आख़िरी साँस तक ये कन्नड़भाषियों के स्वाभिमान के जागरण के पुनीत कार्य में लगे रहे।

परिशुद्ध आत्मा दासता की दुर्गंध से अलिप्त है। दासता आत्मा का कलंक है। स्वार्थ उससे चिपका रोग है। आत्मबल से युक्त रहने वाले संयत हो कर स्वतंत्रता की साधना में लग जायँ तो भविष्य बड़ा ही उज्वल हो जाय। व्यक्ति जीवन तक सीमित स्वार्थ गौरव में ब लगायेगा ही। वही यदि देशव्यापी हो जाय तो देश का भी भला होगा, व्यक्ति का सम्मान सुरक्षित रहेगा। इसी अर्थ में श्रीनिवास राव स्वार्थी रहें।

धारवाड़वासी श्रीनिवास राव को प्यार से 'शीनप्पा' पुकारा करते थे। 'शीनप्पा पागल है सिरफिरा है' कहने वालों की भी कमी न रही। शीनप्पा की भाँति कन्नड़ की सनक दस पाँच औरों पर भी सवार रहती, उन्हीं की तरह दस-पाँच और भी सिरफिरे हो जाते थे तो एकीकरण के उन दिनों के सपने आज साकार हो जाते। शीनप्पा सनकी थे, पर वह सनक विवेकशून्य न थी। जागृति की, स्वाभिमानी की सनक रही है! विफल-मनोरथ की विक्षिप्तता नहीं, आशावादी योद्धा का उन्माद था उनका! इनके आवेशपूर्ण उन्माद से न जाने कितने विस्मित थे, कितने

कंपित थे और कितने ही लज्जित भी थे। यह उन्माद विकृत मनोवृत्ति की मलिनता का नहीं, विवेकसम्मत हृदय की विशालता का परिणाम था।

श्रीनिवास राव बंबई में ही ठाठ से अपना व्यवसाय चला सकते थे, काफ़ी रक़म भी जुटा सकते थे। नयी रंगत की अमीरों की भाँति सिक्के मुँह पर फेंक कर अपनी गुणगाथा शौक से सुन सकते थे; पर धारवाड़ आये और यहाँ चित्रकारिता और ब्लाक बनवाई का बड़ा भारी अभाव दूर किया। देशहित ही इनका एकमात्र लक्ष्य था। श्रीनिवास राव ने इज़्ज़त के साथ पेशा चलाया। परिश्रम का पुरस्कार भी पाया। गौरवपूर्ण जीवन-निर्वाह में सहयोग देने वाली जनता के प्रति भी अपना कर्तव्य निभाना है! इतना ही नहीं, व्यक्ति का गौरव ऐसा हो कि सारा देश उससे गौरवान्वित हो सके। इस प्रकार ज्यों-ज्यों दृष्टि व्यापक होती जायगी, त्यों-त्यों कार्यक्षेत्र भी विस्तृत होता जायगा। सात्विक प्रवृत्ति का परिणाम भी सात्विक ही रहेगा। श्रीनिवासराव की बहुमुखी कार्य-निष्ठा और उसकी व्याप्ति से देश का जीवन सत्वपूर्ण हुआ। आज के कार्यकर्ताओं के अंतस उनकी आकृति-आलोक से अंकित है।

कन्नड़-सेवा उनका व्रत था। उनका मस्तिष्क कर्णाटक की माँग पूरी करने वाला कारखाना ही था।

कर्णाटक में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। महात्माजी उसके सभापति रहे। कन्नड़भाषियों के लिए इससे अधिक सम्मान क्या मिले? पर अधिवेशन में आनेवाले राष्ट्र के कर्णधारों, सैकड़ों इतर प्रांतवासियों को कर्णाटक की अपनी विशेषताओं के परिचय की व्यवस्था न हो? बेलगाम किस प्रदेश का है? यहाँ की संस्कृति कैसी है? यहाँ का इतिहास क्या है? इस झमेले में कौन पड़े, क्यों पड़े? यह सब झमेला पसंद न हो तो स्वराज्य किस काम का? श्रीनिवासराव के अंतस्तल से यह आवाज़ उठी, उनका व्यक्तित्व जागरूक हो उठा। देश-प्रेमियों के कान फूंकने की जरूरत उनकी आँखें भर जायँ, चेतना चमत्कृत हो उठे! ऐसा ही कोई उपाय निकाला जाय बस श्रीनिवास राव की कूँची चलने लगी। 'विजयनगर', 'पंपासरोवर' बन गये। नगर-पंथों पर र्णाटक के इतिहास की छाप दिखायी पड़ी। पंडाल का महाद्वार विरूपाक्ष देवालय के गोपुर से शोभित हुआ। आगंतुकों के लिए यह दृश्य मनोहर था ही। जानकारों के मन में कन्नड़ प्रदेश या कन्नड़-भाषियों के प्रति आस्था भी सजीव हो उठी।

सा श्रीनिवास राव की कई कला-कृतियों में संग्रह रूप में केवल दो कृतियाँ विरासत में 'भूले हैं। 'सचित्र विजयनगर' हंपे की षटशतवार्षिकी के समारोह पर प्रकाशित कृति है। 'कन्नड़ नितगति' दूसरी पुस्तक है जिसमें कन्नड़ साहित्य-सम्मेलन के सभापतियों के भावचित्र एक जगह काशित मिलते हैं। इन भाव-चित्रों के साथ उन व्यक्तियों के रेखाचित्र भी रचनारूप में प्रकाशित करने की उनकी उत्कट कामना रही। पर वह अधूरी रह गयी। यह काम अब पूरा होना है। श्रीनिवास राव की ये दो कृतियाँ कन्नड़ के प्रति अनन्य अनुराग का परिचय देती हैं।

श्रीनिवास राव के सभी चित्रों में एक गोपुर और ब्लाकों में 'श्रींकं' की मुद्रा अंकित है। ये दोनों उनके प्रतीक-चिन्ह हैं। यहीं तक उनका व्यवसाय सीमित है। शेष आयु कन्नड़ की सेवा के लिए अर्पित थी। कन्नड़ प्रदेश की कला उनके हाथों निखर उठी।

क्रम से उनका कार्यक्षेत्र विस्तृत हुआ। साहित्य परिषत्, एकीकरण संघ, विद्यावर्धक संघ, व्यायामशाला, कर्णाटक टाकीज़ जैसी संस्थाएँ, जय कर्णाटक, जयंति, संयुक्त कर्णाटक, जैसी पत्र-पत्रिकाएँ इन सबका व्यवस्थित संचालन होना है। वेंकटराव जी, कृष्णराव जी, श्री कंठय्याजी इनके प्रति असीम श्रद्धा ! कोई संस्था नहीं जिससे श्रीनिवासराव का संपर्क न रहा हो, कोई व्यक्ति नहीं जिससे उनकी आत्मीयता न रही हो।

पूना में कन्नड़भाषियों को जो सुविधा-सम्मान नहीं, वहीं धारवाड़ में महाराष्ट्रियों को क्यों आवश्यक है। यह भी उनका दूसरा सिद्धांत था। पूना में रह रहे कन्नड़भाषी सचेत हों। धारवाड़ में महाराष्ट्रियों ने जो सफलता पायी है, वैसी ही सिद्धि पूनावासी कन्नड़भाषी प्राप्त करें। धारवाड़ में अपनों को मिली सम्मान सुविधाएँ महाराष्ट्रीय पूना में कन्नड़भाषियों को निस्संकोच भाव से सुलभ बनायें। इस दलील में मराठी के प्रति अवज्ञा की अपेक्षा कन्नड़ के प्रति हृत्तल में लहराती प्रेम-भावना ही व्यंजित देखनी चाहिए।

कन्नड़ की सेवा में पहले से लगे देश-प्रेमियों पर शीनप्पाजी को बड़ा गर्व था। उनकी स्मृतियाँ हृदयमंदिर में सदा जीवित रहें। उनसे हमारा पथ-प्रदर्शन होता रहे। कन्नड़ की उन्नति के लिए संघर्ष का इतिहास भावी पीढ़ी के लिए स्फूर्तिदायी बने, यही श्रीनिवासराव की शुभेच्छा थी। मुदवीडु कृष्णराव के इधर-उधर बिखरे लेखों को सुसंपादित रूप में प्रकाशित करने का उनका विचार था। एक सुचिंतित योजना बना कर कार्य शुरू करने की महती आकांक्षा थी। कम से कम यही काम आज हम पूरा कर सकें तो शीनप्पा जी की आत्मा पूर्णकाम हो उठे।

उपर्युक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त देश की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि के लिए होने वाले प्रत्येक कार्य में ये हाथ बँटाते थे। औपचारिकता, व्यर्थ का शिष्टाचार, अनावश्यक बड़प्पन इनके फेर में पड़ कर इन्होंने कन्नड़ का सेवाव्रत शिथिल न होने दिया। नतीजा यह निकला कि लोगों ने इन्हें जंगली कहा। इन्होंने बेइज़्ज़ती सही, हानियाँ उठायीं पर अपना व्रत जारी रखा।

इनका निधन निरभ्र आकाश से होने वाले वज्रपात के समान अकालिक या। अंतिम यात्रा के असवर पर एकत्र जन-समुदाय ही इनकी जनानुरागिता का प्रमाण था।

कन्नड़ का वृक्ष बड़ा पुराना है, इसकी जड़ें गहरी हैं। इसकी जटाधारी शाखाएँ भी हैं। कटे हुए हिस्से भी कम नहीं। पर नयी कोंपलें फूटेंगी, मज़बूत होंगी, हरियाली फैलायें कुसुम विकसित होंगे। वृक्ष का वैभव लुप्त न होगा। इसकी छाया शांतिदायिनी है, स्फूर्ति वाली है। पहले भी यह फल देता रहा है, कल भी फलदायी रहेगा। एक लहलहाती हुई का असमय ही टूट जाना वैसा ही है जैसे शिशु के हाथ से किसी कौए का मिठाई लेकर भाग

—अनु : सु० रामच,
हिंदी विभाग, कर्णाटक कॉलेज,
धारवाड़।

विवेचना

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

'भूले-बिसरे चित्र'

भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास। राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–७।
प्रथम संस्करण : १९५९। मूल्य : ११.००।

आज हम जिस साहित्यिक विधा को उपन्यास-साहित्य के नाम से अभिहित करते हैं उसका भारत में मध्यम वर्ग के जन्म, नवीन शिक्षा और जीर्ण-शीर्ण पुरातन के प्रति विद्रोह के साथ घनिष्ठ संबंध है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब नवशिक्षित मध्यम वर्ग ने पौराणि परंपराओं अंधविश्वासों और वाह्याडंबरों एवं अनैतिक आचार-विचारों के स्थान पर मानवोचित उदारता, जीवनगत सत्य के अन्वेषण और नवीन मूल्यों तथा मानदंडों की स्थापना का पुनीत प्रयास किया तो यह गुरुतर भार उपन्यास-साहित्य ने अपने ऊपर लिया। प्राचीन काल में जो स्थान महा- व्य का था, वही स्थान आज उपन्यास-साहित्य का है। उपन्यास को यदि हम मध्यमवर्गीय ीन चेतना का महाकाव्य कहें तो अत्युक्ति न होगी। कूपमंडूकता और अंधविश्वास के प्रति ह का वह साक्षात प्रतीक है। फलतः साहित्य का अन्य रूपों की अपेक्षा उपन्यास में जीवन ार्थता, सत्यता, आवश्यकताएँ, संभावनाएँ और स्वतंत्रता, व्यक्तित्व और मूल्यों का निरू- क होता है। उससे समाज में प्रचलित सत्य की अनुभूति और भी घनीभूत हो उठती है। व करवट लेता है, उसमें जब बौद्धिक स्पंदन होता है, तो उपन्यास उस स्पंदन का मानदंड है और समाज की नयी मूर्ति गढ़ने में सहायक सिद्ध होता है। मानव-जीवन की समग्रता एवं यथार्थ परिवेश ही उपन्यासों में चित्रित होते हैं और एक विराट फलक में युगीन जीवन एवं समकालीन जीवन-चिंतन के विविध पक्ष उसमें कलात्मक अभिव्यक्ति पाते हैं। उसमें जीवन फिर से जिया जाता है।

उपन्यास विधा की यह विशेषता ध्यान में रखते हुए जब हम हिंदी की उपन्यास-परंपरा पर दृष्टिपात करते हैं तो पता नहीं किसने हिंदी साहित्य में यह भ्रम उत्पन्न किया कि प्रेमचंद ने

सर्वप्रथम उपन्यास को नयी दिशा प्रदान की। वास्तव में कहना यह चाहिए था कि पूर्ववर्ती उपन्यास-परंपरा की प्रेमचंद एक विकसित कड़ी थे। उनसे पहले के उपन्यासकारों ने जो सामाजिक चेतना प्रदर्शित की थी, वही चेतना प्रेमचंद के उपन्यासों में दृष्टिगोचर होती है। भारतेंदु हरिश्चंद्र; लाला श्रीनिवासदास, राधाकृष्ण दास आदि की परंपरा में ही प्रेमचंद के 'प्रतिज्ञा', 'वरदान', 'सेवासदन' और निर्मला जैसे उपन्यास रखे जा सकते हैं। अंतर केवल समय के व्यवधान का है। प्रेमचंद का महत्त्व इस बात में नहीं कि उन्होंने किसी नवीन परंपरा को जन्म दिया, वरन इस बात में है कि पहले से ही चली आ रही परंपरा को ही उन्होंने काल-गति के अनुसार विकसित किया; इसकी परिधि विस्तृत की। यही प्रेमचंद का विशाल फलक है। पिछली परंपरा का निर्वाह करते हुए उन्होंने 'प्रेमाश्रम' में सर्वप्रथम नयी ज़मीन पर पैर रखा। हाँ, कलात्मकता की दृष्टि से प्रेमचंद ने पिछले खेवे के उपन्यासकारों की अपेक्षा अधिक मौलिकता प्रकट की।

भगवती बाबू इन्हीं दोनों परंपराओं का पालन करने वाले हिंदी के उन उपन्यास-लेखकों में हैं जिनमें व्यक्ति और समाज के परस्पर संघर्ष की भावना निरंतर विद्यमान रहती है। प्रेमचंद और भगवती बाबू की जीवनियों का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इन दोनों कलाकारों को जीवन के साथ घोर संघर्ष करना पड़ा था। उन्होंने अपनी कुरूपता के साथ-साथ समाज की कुरूपता भी देखी। जीवित रहने की प्रेरणा दोनों में बनी रही। दोनों ने बहुत से सपने देखे और मिटाये भी। अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करते हुए ही दोनों कलाकारों ने साहित्य में प्रवेश किया। किंतु प्रेमचंद तो अपने व्यक्तिगत जीवन की कटुता को अपने समाज-दर्शन से पृथक रखने में समर्थ हो सके थे। भगवती बाबू ऐसा नहीं कर सके। उन्होंने अपने सपने मिटाये; अपनी आँखों से मस्ती का पागलपन मिटाया और अनास्था से भरा व्यंग्य उनकी आँखों से झलकने लगा। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि उनकी दृष्टि में व्यंग्य ही जीवन का एकमात्र सत्य है। काल और परिस्थिति के झोकों में लगातार डूबते-उतराते रहने के कारण उन्हें कार्य-कारण, क्रिया-प्रतिक्रिया आदि तत्वों का निरीक्षण करने की आदत पड़ गयी है। भगवती बाबू में जीवन-शक्ति का अभाव तो नहीं है, किंतु जीवन के संघर्ष ने उनमें संशय, अविश्वास और आ तुष्टि की भावना उत्पन्न कर दी है। नियंता के आश्रित रहने के कारण वे अपना स्वतंत्र अस्ति नहीं मानते। उनकी मान्यता है : **जो मैं करता हूँ, वह करने को विवश हूँ ; बाध्य हूँ । जो हो है, वह हो चुका है।** परिस्थितियों के संघर्ष के बीच नियंता ने ही उन्हें बचाया, ऐसा उनका वि है। प्रेमचंद ने अपना निजी रूप इतना दबा दिया था कि वह उनके साहित्य में शायद झाँकता दिखायी देता हो। भगवती बाबू दूसरों के सत्य के साथ-साथ अपना सत्य कभी नह वे दोनों में समन्वय के पक्षपाती भले ही हों, किंतु प्रेमचंद की भाँति दूसरों का सत्य उनके सा कभी प्रमुख नहीं रहा।

जीवन संबंधी परिस्थितियों के प्रभाव के अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भगवती बाबू का साहित्यिक जीवन कवि के रूप में प्रारंभ हुआ। वह युग छायावाद का युग था; संक्रमण-काल था; वस्तुवादी कविता के प्रति विद्रोह था। जयशंकर 'प्रसाद', पंत और निराला के नाम हिंदी में उजागर हो रहे थे। विहार में जनार्दन झा 'द्विज' और मोहनलाल महतो 'वियोगी',

मध्यप्रदेश में जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' और कानपुर में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और भगवतीचरण वर्मा ख्याति प्राप्त कर रहे थे। १९३० में भगवती बाबू ने सोचा कि कवि की अपेक्षा उपन्यासकार के रूप में अधिक सफलता मिल सकेगी। वैसे १९३० से पहले भी उन्होंने कुछ निबंध, कहानी आदि की रचना की थी, किंतु उस समय कविता ही उनके साहित्यिक जीवन में प्रमुख स्थान ग्रहण किये हुए थी। किंतु कविता से आर्थिक संकट या आजीविका की समस्या सुलझते न देख विवश हो कर उन्हें उपन्यास-कहानी क्षेत्र की ओर आना पड़ा। पैसा तो उन्हें प्रारंभ में अधिक न मिला किंतु उनमें आत्म-विश्वास अवश्य बढ़ा। धीरे-धीरे वे कविता के प्रति उदासीन होते गये। उन्होंने परिस्थितिवश कविता छोड़ने की बात स्वयं स्वीकार की है। इसका उन्हें खेद भी है, क्योंकि प्रगतिवादी, प्रयोगवादी कविताएँ तो, उन्हीं के शब्दों में, दिन में दस-पाँच लिखी जा सकती हैं। उनका यह भी विचार है कि भावना के व्यक्तीकरण में गद्य में उपन्यास और कहानी सबसे अधिक सक्षम सिद्ध हुए हैं, अतः उनका प्रचार भी अधिक है। वर्तमान युग को वे कविता का युग मानते भी नहीं हैं।

वास्तव में सामाजिक चेतना और जीवनगत संघर्ष एवं विद्रोह ने भगवती बाबू को उपन्यास-क्षेत्र की ओर खींचा और इसके लिए उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध से चली आ रही सुदीर्घ और प्रेमचंद द्वारा पुष्ट परंपरा उन्हें प्राप्त थी। उनके 'पतन' (१९२८), 'चित्रलेखा', (१९३३), 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' (१९४०), 'तीन वर्ष' (१९४६), 'आख़िरी दाँव' (१९५०), 'अपने खिलौने' (१९५७), 'भूले-बिसरे चित्र' (१९५९), 'वह फिर नहीं आयी', (१९६०), 'सामर्थ्य और सीमा' (१९६२), 'थके पाँव' (१९६३) और 'रेखा' (१९६४), नामक उपन्यासों में, 'चित्रलेखा' को छोड़ कर, सामाजिक और राजनीतिक चेतना उभरी है। 'चित्रलेखा' में इतिहास नाम मात्र का है। अन्यथा इसकी मूल समस्या नितांत आधुनिक और सामाजिक है। ऐतिहासिक उपन्यास की दृष्टि से ही नहीं, मूल समस्या को भली भाँति उभारने की दृष्टि से भी 'चित्रलेखा' एक सफल औपन्यासिक कृति नहीं कही जा सकती।

अ 'भूले-बिसरे चित्र' की रचना के पीछे भगवती बाबू को ३०-३५ वर्षों के कड़वे-मीठे क वन के अनुभव और लगभग इतना ही लंबा अभ्यास उपन्यास लिखने का प्राप्त था। जिस प्रकार महा अन्य उपन्यासों में उनके व्यक्तिवादी दृष्टिकोण द्वारा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक साधारन और मानव-मन की दुर्बलताओं पर प्रकाश पड़ा है, उसी प्रकार 'भूले-बिसरे चित्र' 'भूले-बिामंतवर्गीय परिवार की चार पीढ़ियों के माध्यम से भगवती बाबू का व्यक्ति और समाज नित स वही दृष्टिकोण प्रकट हुआ है।

'भूले-बिसरे चित्र' में एक पीढ़ी शिवलाल, राधेलाल, गजराज सिंह, बरजोर सिंह आदि की है। दूसरी पीढ़ी ज्वाला प्रसाद और जैदेई की है। तीसरी पीढ़ी गंगाप्रसाद, सतवंती आदि की और चौथी पीढ़ी ज्ञान की है। लेखक ने ज़माने की उत्तरोत्तर बदलती हुई चित्तवृत्ति और दृष्टिकोण को चित्रित करना चाहा है। शिवलाल तो एकदम पुरानी सामंती परंपराओं में पालित-पोषित व्यक्ति है। उसका आचरण सामंत वर्ग के पतन का प्रतीक है। समाज में खुशामद-दरामद और रुपया-पैसा उसके लिए सब कुछ है। अपने इन्हीं 'गुणों' के कारण वह अपने

पुत्र ज्वाला प्रसाद को कानपुर की घाटमपुर तहसील का नायब नियुक्त करा लेता है। ज्वाला प्रसाद की कथा से उपन्यास में आधुनिक मध्यम वर्ग की कथा का उल्लेख होना प्रारंभ हो जाता है। परिवार पुरानी दुनिया को छोड़ कर नयी दुनिया बसाने की चेष्टा करता है––मान्यताओं, आचरण, रुचि, दृष्टिकोण आदि सभी दृष्टियों से। एक ओर तो सामंत वर्ग की मान्यताएँ भू-लुंठित हो चुकी थीं, दूसरी ओर नवजात मध्यम वर्ग के सामने नवीन जीवन-मूल्य अभी स्थापित न हो पाये थे। वे स्थापित होने के क्रम में अवश्य थे। ऐसी परिस्थिति में अनिश्चितता और डाँवाडोल मानसिक स्थिति के अभिशाप से पीड़ित होना स्वाभाविक था। आलोच्य उपन्यास में प्रारंभ से ही यह सब दृष्टिगोचर होने लगता है। ज्वाला प्रसाद का पुत्र गंगाप्रसाद, जो डिप्टी कलक्टर हो जाता है, आभूषण-विक्रेता राधाकिशन की पत्नी संतो से प्रेम करता है। प्रेम विलासिता पर आधारित है। राजा साहब विजयपुर की दावत में वह गंगाप्रसाद की झूठी शराब भी पीने का प्रयत्न करती है। ऐसे आचरणों से बड़े-बड़े परिवार अपनी ध्वंस -लीला देख चुके हैं। समाज में ऐसे लोग भरे पड़े हैं जिनके इशारों पर स्त्रियाँ पतन के गर्त में गिरती हैं; परिवार छिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसे लोगों की दृष्टि में मानवता का कोई महत्त्व नहीं होता। वे इन्सान को इन्सान न समझ कर अपने विविध स्वार्थों की पूर्ति का साधन मात्र समझते हैं। लेखक का दृष्टिकोण पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन का खोखलापन प्रदर्शित करना है जहाँ हर एक चीज़ रुपये से तोली जाती है, जहाँ रुपया ही सब कुछ है, जहाँ विवाहिता पत्नियों को भी लोग धनोपार्जन और समाज में आगे बढ़ने का साधन बना लेते हैं। राधाकिशन की पत्नी संतो गंगाप्रसाद के साथ ही नहीं, वाट्स के साथ भी चोंचलेबाज़ी करती है और राधाकिशन को 'रायबहादुर' की उपाधि मिल जाती है। संतो का 'उपयोग' सार्थक सिद्ध हुआ। संतो के रूप और उसकी जवानी के बदले राधाकिशन को समाज में मान-मर्यादा प्राप्त हुई और स्वयं संतो 'रानी सतवंत कुँवर' बन गयी। लेकिन अपने पति को वह 'ज़नाना' और 'जनखा' समझती है। सौदे में मुनाफ़ा न हो तो सौदा ही क्या! भगवती बाबू पूँजीवादी समाज की इसी 'नैतिक मुनाफ़ाखोरी' की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। जीवन इसी रफ़्तार से चलता रहता है। सारा परिव परिस्थितियों के चक्र में पड़ कर जीवन की सम-विषम पगडंडी पर आगे बढ़ता जाता है अ अंत में ज्ञान राष्ट्रीयता का तत्व उपस्थित करता है। नवल और विद्या भी राष्ट्रीयता की भ से प्रेरित होकर जेल-यात्रा करते हैं। ज़माना बदल रहा था; अब वह और तेज़ी से बदल पुरानी परंपरा में पालित-पोषित ज्वाला प्रसाद की समझ में यह सब कुछ नहीं आता। क्या हो गया! उसी के शब्दों में––**न जाने कितने नये लोग आये, न जाने कितने लोग चले गये।.... ये तरह-तरह के चित्र आप ही आप बनते हैं और मिट जाते हैं; यह क्यों? और दो बुड्ढे! जिन्होंने युग देखा था, ज़िंदगी के अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे जिन्होंने, जिनके पास अनुभवों का भंडार था, विवश थे, निरुत्तर थे। और दूर हज़ारों, लाखों, करोड़ों आदमी जीवन और जाति से प्रेरित, नवीन उमंग और उल्लास लिये हुए एक नवीन दुनिया की रचना के लिए चले जा रहे थे।** यहीं इस उपन्यास का अंत हो जाता है। इन प्रमुख पात्रों और घटनाओं के अतिरिक्त उपन्यास में प्रसंगानुकूल दिल्ली-दरबार, मीर जाफ़र अली, स्वामी

जटिलानंद, अल्लामा वहशी आदि के माध्यम द्वारा हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिकता, राधेलाल की बहुओं, जैदेई, राधा, रुक्मा, संतों, विद्या आदि के माध्यम द्वारा नारी के व्यक्तित्व आदि का भी उल्लेख हुआ है।

'भूले-बिसरे चित्र' की यह कथा उस युग की है जब जीवन के परंपरागत मूल्य निस्सार और निष्प्राण हो गये थे, देश परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था, ब्रितानी सरकार ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए ज़मींदारों, राजा-महाराजाओं का सामंत वर्ग बनाये रखा था, नवशिक्षित मध्यम वर्ग का जन्म हो चुका था और वह जीर्ण-शीर्ण परंपरा का ध्वंस और नवीन परंपराओं के निर्माणार्थ अपने जीवन की बलि चढ़ाने तक के लिए प्रस्तुत था, इसी मध्यम वर्ग के नेतृत्व में देश स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए प्राणपण से संलग्न था और राष्ट्रीयता की अदम्य आकांक्षाओं से उद्वेलित हो रहा था। इसी समय राष्ट्रपिता गांधी के विविध आंदोलनों के फलस्वरूप नारी-जगत में चेतना उत्पन्न हुई थी और अछूतों को प्रकाश की क्षीण रेखा दिखायी पड़ने लगी थी। उन सब घटनाओं का उल्लेख करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। आधुनिक इतिहास का सामान्य विद्यार्थी भी उन्हें जानता है। किंतु इतना निश्चित है कि देश अनेक बाधाओं, कठिनाइयों और शंकाओं के टेढ़े-मेढ़े रास्ते से गुज़र रहा था और अनेक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के घात-प्रतिघात से देश का एक नया रूप उभरता आ रहा था। यह ठीक है कि इस समय भी ढोंगियों की कमी नहीं थी, तो भी महात्मा गांधी के नेतृत्व में और स्वतंत्रता की अदम्य आकांक्षा ने देश में एक नवीन आदर्शोन्मुख वातावरण उत्पन्न कर दिया था, जीवन को नये साँचे में ढाले जाने का प्रयत्न होने लगा था और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए देश बड़े से बड़ा बलिदान करने के लिए प्रस्तुत था। भारतेंदु हरिश्चंद्र, स्वामी दयानंद, तिलक, एनी बेसेंट, मदनमोहन मालवीय, रवींद्रनाथ ठाकुर, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ, योगी अरविंद, रमण मर्हषि आदि महापुरुषों की एक परंपरा थी जिसने उस भारत के निर्माण में योग प्रदान किया जिसे 'भूले-बिसरे चित्र' में स्थान दिया गया है। अपने देश में ही नहीं, वरन प्रथम महायुद्ध के बाद तो एशिया के विभिन्न देशों, यूरोप और रूस में नवीन क्रांतियाँ जन्म ले रही थीं या ले चुकी थीं। देश का थोड़ा-बहुत औद्योगीकरण भी हो रहा था। तेज़ी से बदलते हुए जीवन को लंगर प्रदान करने की दृष्टि से हमारे महापुरुषों ने देश की सर्वश्रेष्ठ परंपराओं के अनुसार धर्म, त्याग, साधना, आध्यात्मिकता, सरल-साधारण जीवन, उच्च आदर्श, आत्म-सम्मान की भावना आदि की ओर ध्यान आकृष्ट किया। 'भूले-बिसरे' चित्र' वाले युग में धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक चेतना नित नूतन रूप धारण कर भारतीय वसुंधरा को जीवन प्रदान कर रही थी। उस समय मध्ययुगीन प्रवृत्तियों पर प्रहार पर प्रहार हुए। अपने से ही संघर्ष लेने वाले तर्कशील मध्यमवर्गीय व्यक्ति समन्वयात्मक बुद्धि ग्रहण कर रहे थे। पश्चिम से प्रभावित होते हुए भी देश में पूर्व और पश्चिम का संघर्ष छिड़ा हुआ था। भारत अपना आध्यात्मिक और सांस्कृतिक संदेश हिंसा से पूर्ण और रक्त से लथपथ संसार को देना चाहता था। किंतु राजनीतिक एवं आर्थिक दासता उसके मार्ग में बड़ी भारी बाधाएँ थीं। राजनीतिक स्वतंत्रता-संग्राम उस समय यही आध्यात्मिक और सांस्कृतिक संदेश देने का साधन था ; अपने में साध्य नहीं था। फलतः राष्ट्रीयता ने रहस्य-

वादी भावनाओं से संवलित एक धर्म का रूप ग्रहण कर लिया। कृष्ण वर्मा, भूपेंद्रनाथ दत्त, अरविंद घोष, विनायक सावरकर आदि ने राष्ट्रीयता का यही रूप ग्रहण किया। उस राष्ट्रीयता में आध्यात्मिकता का अंश निश्चित रूप से विद्यमान था। देश की भौगोलिक इकाई को दिव्य रूप प्रदान किया जाने लगा। प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय राष्ट्रीयता ने जो आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया था उसका नैतिक आधार भी ढूँढ़ा जाने लगा था। भारतीय राष्ट्रीयता अपने आंतरिक रूप की परीक्षा करने लगी थी। तत्कालीन महापुरुषों ने भारतीय राष्ट्रीयता को समग्र मानव-जाति के संदर्भ में देखना शुरू किया।

उतना ही नहीं। एक पराधीन और भू-लुंठित देश के योग्य जीवन-दर्शन की स्थापना भी हुए बिना न रही। औपनिषद् मार्ग का अवलंबन ग्रहण कर ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग में समन्वय उपस्थित कर एक विशेष तर्क-शृंखला उत्पन्न की गयी और प्रकृति तक को कर्मशील माना गया और सर्वोपरि गीता के निष्काम कर्म का उपदेश दिया गया जो तत्कालीन भारतीय परिस्थिति के अनुकूल था। आधुनिक भारत के लगभग सभी महान निर्माताओं ने गीता का आश्रय ग्रहण किया और धार्मिक अंधविश्वासों और अंध-परंपराओं के मूलोच्छेदन के प्रयास के साथ-साथ सर्वैकता, मानवतावादी आदर्श और वसुधैव कुटुंबकम् के आधार पर राष्ट्र को जागृति और एकता के सूत्र में गूँथ देने वाला धर्म देश के सामने रखा गया। यह धर्म अंतःसाधनामूलक था।

'भूले-बिसरे चित्र' वाले युग का यही वास्तविक युगबोध था। निश्चय ही उसमें विकृतियाँ भी थीं; ढोंग और आडंबर भी था। किंतु विकृतियों, ढोंग और आडंबर के स्थान पर जीवन के नव-निर्माण की चेतना भी सर्वत्र व्याप्त थी, यह हमें कभी न भूल जाना चाहिए। 'भूले-बिसरे चित्र' के लेखक ने एक ओर सामंत वर्ग की ढहती दीवारों की ओर और दूसरी ओर मध्यवर्गीय जीवन के खोखलेपन की ओर ही हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। नवल और विद्या बदलते हुए ज़माने की ओर संकेत अवश्य करते हैं, किंतु लेखक ने उस युग को जिस परिप्रेक्ष्य में देखा है उससे उस युग का सम्यक चित्र उभर नहीं पाया। प्रेमचंद ने जीवित रहते हुए अपने समकालीन का चित्र प्रस्तुत किया था। भगवती बाबू ने १९५९ ई० में सिंहावलोकन किया था; पीछे मुड़ कर देखा था। उस समय तक पूर्ववर्ती युग की मूल चेतना को हृदयंगम कर उपन्यास की रचना की गयी होती तो उसमें चार चाँद लग गये होते। किंतु संभवतः लेखक अपने व्यक्तिगत जीवन के कटु अनुभवों को अलग नहीं रख सका। ऐसा मालूम होता है कि भगवती बाबू का व्यक्ति हार गया है, टूट गया है, और वे अपने भूले-बिसरे हारे हुए व्यक्ति के रंगीन चश्मे से पिछले सारे युग को देख बैठे हैं। इसीलिए उपन्यास जितना महान होना चाहिए था उतना नहीं बन पड़ा। उनके व्यक्ति की त्रासदी सारे देश की नहीं बन सकती।

सच तो यह है कि उपन्यास में राजनीति तथा अन्य विषय तो प्रासंगिक रूप में आये हैं और जितने अंश में वे आये हैं उतने में भी अपनी संपूर्ण चेतना ले कर नहीं आये। उपन्यास का मूल दृष्टिकोण वही है जो लेखक के इससे पिछले उपन्यासों में दृष्टिगोचर होता है। वही पुराना दृष्टिकोण उनके 'थके पाँव' और 'रेखा' तक में स्पष्टतः अंकित है। हिंदी में संभवतः भगवती बाबू ही एक ऐसे लेखक हैं जो अपने साहित्यिक जीवन के पिछले लगभग ३६ वर्षों में बदले नहीं

हैं—गतिहीन रहे हैं। वे इस उपन्यास में भी अपनी वही पुरानी मान्यता दुहराते हैं कि—**नियति का विधान एक अजीब ढंग से चल रहा है, और वह इसी तरह इस अजीब ढंग से चलेगा भी। इस दुनिया में जीवित वह रह सकता है, जो समर्थ है।** 'भूले-बिसरे' चित्र में कई स्थलों पर उन्होंने परिस्थिति का महत्व भी बताया है। संतो के परिवर्तन पर आश्चर्य प्रकट करने पर रिपुदमन सिंह कहता है: **'व्यक्ति की आधारभूत प्रवृत्तियाँ विशेष परिस्थितियों में उभरेंगी ही; उभारने के लिए यदि तुम साधन न बने होते तो कोई दूसरा साधन बन गया होता। आदमी कुछ नहीं करता, जो कुछ कराती हैं, परिस्थितियाँ कराती हैं।'** परिस्थिति का चक्र ही संतो को झूठ और फ़रेब की दुविधा से उबरने नहीं देता। रिपुदमन सिंह के इस कथन में: **'यह दुनिया शिवप्रतापों से भरी है, जिनके इशारों पर स्त्रियाँ गिरती हैं, जिनके प्रभाव से परिवार टूटते हैं, जिनके कहने से हत्याएँ होती हैं। मैं चाहता हूँ इन शिवप्रतापों को चुन-चुन कर दुनिया से हटा दिया जाय। सुना गंगाप्रसाद, ये शिवप्रताप मानवता के अभिशाप हैं, ये मनुष्य की योनि में पिशाच हैं।....आज की मान्यताएँ बदल गयी हैं। जिस जगह तुम हो, वहाँ हर चीज बिकती है—दीन, ईमान, सत्य, चरित्र! यह पूँजीवाद का युग है, यह बनियों की दुनिया है, सब कुछ बिकता है। यहाँ न हत्या होती है, न बदला लिया जाता है।'** स्वयं लेखक के व्यक्तिगत कटु अनुभवों का तीखापन है। वास्तव में भगवती बाबू ने मध्यम वर्ग का एक ही पक्ष देखने की चेष्टा कर अपने को एक सीमित परिधि में बाँध लिया है। मध्यम वर्ग में उसकी ऐश्वर्य एवं भोग-लिप्सा और विलासिता की प्रवृत्ति ही उन्होंने अधिक पायी। किंतु क्या यह तत्कालीन जीवन का सच्चा चित्र कहा जा सकता है! लेखक ने उपन्यास का फलक विराट बनाने की चेष्टा अवश्य की है। कई तरह के लोगों, विचारधाराओं और प्रवृत्तियों को स्थान देकर एक दूसरे पूरे युग को समेट लेने की चेष्टा की है, किंतु लेखक के अपने व्यक्तित्व की परछाईं उस पर इतनी अधिक है कि युग का सारा चित्र धुँधला पड़ गया है।

क्योंकि लेखक को नियंता और परिस्थिति के चक्र में अगाध विश्वास है इसीलिए उपन्यास के अंत में इस प्रकार के कथन पढ़ने को मिलते हैं: **'ज्वालाप्रसाद हाथों पर सिर रखे हुए सोच रहे थे, यह सब क्या होने वाला है? उनकी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। अपने चारों ओर वाला वातावरण उन्हें नितांत अनजाना लग रहा था। उनके अतीत के चित्र एक के बाद एक उनकी आँखों के आगे आने लगे—धुँधले से, अस्पष्ट से। शिवलाल, गंगाप्रसाद, यमुना; ये सब के सब गये, जैसे इन लोगों का कभी कोई अस्तित्व नहीं था। और एक दिन वह भी चले जायँगे, इसी प्रकार अस्तित्वहीन बना कर। तो फिर यह अस्तित्व...क्या यह एक छलना है, भ्रम है?'** भीखू भी कहता है: **'...समझ माँ नहीं आवत भइया, ई सब का हुइ रहा है।'** भगवती बाबू के शब्दों में **दो बूढ़े, जिन्होंने युग देखा था, विवश थे; निरुत्तर थे। और दूर हजारों, लाखों करोड़ों आदमी जीवन और गति से प्रेरित, नवीन उमंग और उल्लास लिये हुए एक नवीन दुनिया की रचना करने के लिए चले जा रहे थे।'** अफ़सोस यही है कि जब लाखों करोड़ों आदमी जीवन और गति से प्रेरित हो कर एक नयी दुनिया की रचना करने के लिए चले जा रहे थे, और

जैसा मैं पहले कह आया हूँ, जिन पचास वर्षों के युग को लेखक ने अपने उपन्यास का विषय बनाया है उसमें लाखों-करोड़ों आदमी निस्संदेह नयी दुनिया की रचना करने के लिए आगे बढ़े चले जा रहे थे, वह एक वास्तविकता थी, तो लेखक ने उस दुनिया की धड़कन पहचानने की कोशिश क्यों नहीं की। झूठ, फ़रेब आदि किस दुनिया में नहीं रहे और आगे नहीं रहेंगे। किंतु यही सब कुछ तो जीवन नहीं है। लेखक या कलाकार को पूर्ण स्वतंत्रता है कि वह झूठ, फ़रेब, समाज के खोखलेपन आदि को अपना विषय बनाये, किंतु तब उसे युग-चित्र प्रस्तुत करने का दावा नहीं करना चाहिए। अधिक से अधिक 'भूले-बिसरे चित्र' को एक युग के उपेक्षा-योग्य पक्ष का उपन्यास कह सकते हैं।

इसका मूल कारण मेरे विचार से वही है जिसका उल्लेख मैं पीछे कर आया हूँ। लेखक न केवल जीवन की कटुता से तिक्त अपने जीवनानुभव ही नहीं छोड़ पाया, जीवन के जिन रंध्रों से उसने एक बीते युग को देखा है उन रंध्रों से उसे विषैली वायु ही मिली है, वरन वह उपन्यास में व्यक्ति और समाज के बीच सामंजस्य भी उपस्थित नहीं कर पाया। उसका व्यक्ति एक ओर तो नियंता और परिस्थितियों का शिकार है, दूसरी ओर उसमें किसी सामाजिक व्यवस्था के आगे सिर उठाने की क्षमता भी नहीं। बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि भगवती बाबू गतिहीन ही नहीं, वरन् अपने वास्तविक विचारों को अपने उपन्यासों में ('टेढ़े-मेढ़े रास्ते' को छोड़ कर) प्रतिफलित भी नहीं कर पाते। 'चित्रलेखा' में सब कुछ अच्छा होते हुए भी उन्होंने अंत में उसे चौपट कर दिया है। उसमें उन्होंने मनुष्य को परिस्थिति का दास बता दिया है—यद्यपि बीजगुप्त का चित्रण अपने वास्तविक विचारों के अनुसार किया है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में उन्होंने गांधी-इर्विन समझौते के समय का स्वतंत्रता-आंदोलन अपना विषय बनाया है। इस उपन्यास में भी लेखक ने स्थान-स्थान पर परिस्थितियों पर बल दिया है। किंतु साथ ही यह भी बताया है कि उनका मुक़ाबला न कर कमज़ोरी और बेबसी दिखाना उचित नहीं। बाहर वाली परिस्थितियों से लड़ कर हारना या जीतना मनुष्य के वश की बात नहीं (लेखक के शब्दों में **नियंता सब कुछ है**) है। असीम शक्तियाँ उसके ख़िलाफ़ केंद्रित हो सकती हैं। किंतु अपने अंदर से हारना या जीतना—यह मनुष्य स्वयं कर सकता है। पराजय की भावना मनुष्य के अंदर है। जब तक वह अंदर से पराजित न हो, पराजित नहीं। कितना अच्छा होता यदि भगवती बाबू 'भूले-बिसरे चित्र' तथा अन्य उपन्यासों में ऐसा ही स्वस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत करते।

वैचारिक दृष्टि से भगवती बाबू बुद्धिवादी हैं। ज्ञान के अतिरिक्त और किसी देवता पर उनका विश्वास नहीं। बुद्धि ही मनुष्य को पशु से अलग करती है। उनका विश्वास है कि बुद्धि का विकास मानवता का चरम विकास (?) है। वैसे बुद्धि द्वारा बहुत-सी बातें नहीं समझी जा सकतीं, जैसे सृष्टि का रहस्य, तो भी बुद्धि निम्न स्तर की चीज़ नहीं। मनुष्य में कुरूपता और अपूर्णता दृष्टिगोचर होती है। इसलिए नहीं कि बुद्धि अर्द्ध-विकसित है, वरन इसलिए कि मनुष्य मन की कमज़ोरी को बुद्धि की कमज़ोरी कह डालता है। (बुद्धिवादी होने के कारण न मुझे धर्म पर विश्वास है, न उपासना पर।) उनका विश्वास है कि बुद्धि से ही मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर सकता है। मनुष्य जहाँ प्रकृति पर विजय प्राप्त कर रहा है, वहाँ अपनी पशुता पर विजय प्राप्त नहीं कर

सका। वह मुँह चमकाती ही रहती है। जीवन में भावना का महत्वपूर्ण स्थान है। बुद्धि उसका नियंत्रण करती है। बुद्धि ने पशुता को थोड़ा सा दबाया अवश्य है, किंतु पशुता कभी-कभी उभड़ कर बुद्धि को अपना साधन बना कर महानाश का तांडव नृत्य करती है। पूर्ण विकास के लिए मनुष्य को अपने पर विश्वास करना चाहिए। वह स्वयं कर्ता है; स्वामी है। बुद्धि द्वारा मनुष्य को अपनी विवशता नामक कमज़ोरी से लड़ना है। जटिल समस्याओं के वर्तमान युग में यह और भी आवश्यक है। इन सब बातों के साथ-साथ भगवती बाबू ने 'अहं' और 'अहंमन्यता' पर भी विचार किया है। लेखक चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अहंमन्यता छोड़ कर अहं का विकास करे, क्योंकि अहं व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है। अहं और दूसरों के पार्थक्य से अहंमन्यता उत्पन्न होती है। अहंमन्यता सीमित और अविकसित अहं का गुण है। जिसमें बुद्धि और ज्ञान, जो मानवता के लिए वरदान-स्वरूप हैं, अभिशाप बन जाते हैं। हमारी आज की दुरवस्था का मूल कारण, लेखक की दृष्टि में, यह सीमित और संकुचित अहं है। मानवता का यह अभिशाप कैसे दूर हो? लेखक का मत है कि अहं को असीमत्व प्रदान करना, दूसरों को दूसरा न समझ कर अपना समझना—यही अहं का विकास है और यही अहंमन्यता का विनाश है। अपने जीवन के साथ संघर्ष, भूख और बेकारी से संघर्ष करते हुए भगवती बाबू ने आत्मसम्मान और 'अपनेपन' की रक्षा की और यद्यपि वे बहुत दिनों तक खोते ही खोते रहे, पाया कुछ नहीं, तो भी अहं को असीमत्व प्रदान करने की दृष्टि से उन्हें एक सत्य मिल गया। इसी अहं को 'चित्रलेखा' में 'ममत्व' कह कर पुकारा गया है और इसी अहं का विश्लेषण 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में मार्कंडेय करता है। भगवती बाबू यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य का अपना हित कठोर सत्य है। किंतु हमारे प्रत्येक कार्य का एक और पहलू होता है—वह है दूसरों का सत्य। प्रत्येक कार्य का निजी पहलू बुरा नहीं है; अच्छा भी नहीं है। वह प्राकृतिक है। मनुष्य अपने को संतुष्ट करना चाहता है; यह भी स्वाभाविक है। दूसरों का रक्त चूसने वाला और महादानी दोनों ही आत्मतुष्टि की दृष्टि से अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त होते हैं; यह सत्य है। किंतु दूसरों का हित मानवता का सत्य है। अपने लिए तो पशु भी जीता है। जो उससे ऊपर उठा हुआ है वही मनुष्य है। सीमित अहं पशुता के निकट और मानवता से दूर है। अपने सत्य और मानवता के सत्य का सामंजस्य उपस्थित करना ही अहं को असीमत्व प्रदान करना है। संक्षेप में, भगवती बाबू सैद्धान्तिक दृष्टि से नियतिवाद, परिस्थितियों के चक्र और अहं के असीमत्व इन तीनों बातों में विश्वास करते हैं। उनका यह जीवन-दर्शन जीवन के व्यावहारिक अनुभवों पर आधारित है, न कि तात्विक चिंतन पर और उसमें परस्पर विरोध है। नियति और परिस्थिति के चक्र की बात उठा कर अहं के विकास की चर्चा करना बेतुका सा लगता है। भले ही कुछ लोग उनके इस जीवन-दर्शन को अपंगु बनाने वाला समझें; भले ही कोई उनसे सहमत न हो, किंतु भगवती बाबू किसी को बाध्य नहीं करते; और न बाध्य करने का उन्हें अधिकार है।

परस्पर विरोध के रहते हुए भी भगवती बाबू का जीवन-दर्शन अपने में बहुत बुरा नहीं है। किंतु जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, उनकी अधिकांश रचनाओं में यह जीवन-दर्शन ठीक तरह खप नहीं पाया। फलतः उनकी अनेक रचनाओं और उनके जीवन-दर्शन में एक प्रकार का वैचा-

रिक अलगाव पाया जाता है। 'भूले-बिसरे चित्र' में भी, दुर्भाग्यवश, मुझे उनका यह जीवन-दर्शन नहीं मिला। मालूम होता है 'भूले-बिसरे चित्र' की घटनाएँ, पात्र आदि किसी अज्ञात डोर से बँधे किसी अनवरत प्रवाह में प्रवाहित होते हुए चले जाते हैं। कहीं कोई ऊपर उठता हुआ नज़र नहीं आता। इसीलिए सब खोते हुए, टूटते हुए नज़र आते हैं और ज्वाला प्रसाद को सबका अस्तित्व ही एक छलना और भ्रम के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए उनका जीवन स्वतः निर्मित होता है—उसे मानव-शक्ति और प्रतिभा निर्मित नहीं करती—और उसकी रूपरेखा क्या होगी, यह कोई नहीं जानता। यह न जानना और भी अधिक अखरता है, क्योंकि सबके समान उनका भी यह विश्वास है कि यदि अतीत वर्तमान में अनुस्यूत है तो वर्तमान भविष्य में। उपन्यास के अंत में व्यक्त किया गया दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। उपन्यास का मूल स्वर नियतिवाद और परिस्थितियों के चक्र का है, न कि संघर्षों से जूझने वाले और आत्मोत्थान में रत प्रगतिशील व्यक्ति का। कथा के सभी सूत्रों को एक स्थान पर समेट कर रख देने का प्रयास भी उसमें दृष्टिगोचर होता है। किंतु सभी सूत्रों को मन को समेटने वाला यह केंद्र कृत्रिम प्रतीत होता है। प्रतीत होता है जैसे आस्थाहीन, सिद्धांतच्युत गौरव और मूल्य-मर्यादा से रहित पात्रों से लदे-फँदे कथानक रूपी गुब्बारे की एकदम हवा निकल गयी हो।

कथा-संगठन की दृष्टि से भगवती बाबू ने रोमांटिक यथार्थवाद का आश्रय लेते हुए उसे प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने में सिद्धहस्तता प्रकट की है। उसमें घटनाएँ परस्पर शृंखलाबद्ध रूप में प्रस्तुत की गयी हैं। यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि भगवती बाबू कथा कहने में प्रवीण हैं। किंतु कथा-संगठन की दृष्टि से 'भूले-बिसरे चित्र' उपन्यास अपनी वर्णनात्मक शैली के कारण प्रेमचंद-परंपरा में ही परखा जा सकता है। प्रेमचंद की कथाओं की भाँति उसमें स्थूलत्व है। लेखक मनोवैज्ञानिक गहराइयों में नहीं जाता। घटनाओं और पात्रों को ज़्यादा नहीं कुरेदता; उनके सूक्ष्म पक्ष नहीं उभारता। वर्णन करने की शक्ति वर्मा जी में अच्छी है। साथ ही जिस प्रकार प्रेमचंद के कई उपन्यासों में कथा का बिखराव पाया जाता है उसी प्रकार आलोच्य उपन्यास में भी विविध प्रसंग सुशृंखलित और परस्पर कसे हुए नहीं हैं। एक परिवार की चार पीढ़ियों की लंबी कहानी में वर्मा जी ने स्वाभाविकता और रोचकता का ध्यान रखा है, किंतु मेरी दृष्टि में कॉमरेड मारीसन, हिल्डा, मिसेज़ सिम, वीणा आदि, प्रभानाथ, विश्वंभर दयाल, माताप्रसाद आदि से संबंधित कुछ प्रसंग ऐसे हैं जिन्हें कम किया जा सकता था। अपने वर्तमान रूप में उनसे कथानक को अनावश्यक विस्तार, शिथिलता और पूर्वापर क्रम-भंग को प्रश्रय मिला है। इसी प्रकार सामंती व्यवस्था की विश्रृंखलता और नवोदित मध्यम वर्ग की अतृप्त वासनाओं के मुख्य चित्रण के अतिरिक्त जहाँ भगवती बाबू ने राजनीतिक और सामाजिक जीवन की समस्याओं को परस्पर संबद्ध करने की चेष्टा की है उन स्थलों पर भी शिथिलता दृष्टिगोचर होती है। इन कुछ अपवादपूर्ण स्थलों को छोड़ कर उपन्यास में वर्मा जी की कथा कहने की कला का परिचय प्राप्त होता है। उसमें रोचकता है; उत्सुकता बनाये रखने की शक्ति है। कथानक की नींव यथार्थवाद पर आधारित है। उन्होंने इस युग की परिवर्तनशीलता को यथार्थवाद के परिप्रेक्ष में देखा है। किंतु यह यथार्थवाद तत्कालीन युग की केवल कुछ ही बातें लेकर व्यक्त

हुआ है। ये कुछ बातें ही इस युग का पूर्ण चित्र उपस्थित करने में असमर्थ हैं। राजनीतिक और सामाजिक यथार्थ भी पूर्णतः नहीं उभर पाया। किंतु जहाँ तक सामंत वर्ग द्वारा पालित-पोषित परंपराओं और उनसे उत्पन्न जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से संबंध है, यह यथार्थवाद अत्यन्त सशक्त और प्रभावपूर्ण बन पड़ा है। यदि वर्मा जी ने उस युग की चौमुखी व्यापकता का इसी कलात्मकता के साथ वर्णन कर मानव-जीवन की पूर्णता का चित्रण किया होता तो 'भूले-बिसरे चित्र' निस्संदेह एक महत्वपूर्ण उपन्यास होता। इस उपन्यास का यथार्थवाद केवल आंशिक रूप में ही सफल हुआ माना जायगा। वह हमें झकझोरता भी नहीं। लेखक सामंत वर्ग की खंडित और पतित मर्यादाओं और पूँजीवाद के साये में पनपने वाले नवोदित मध्यम वर्ग की परिवर्तनशीलता के चित्रण में इतना रम गया है कि वह तत्कालीन जीवन को पूर्ण सत्य प्रस्तुत करना भूल गया है। इससे उपन्यास में बड़ी भारी अपूर्णता समा गयी है। समाजगत वैषम्य और वर्ग-संघर्ष के साथ भी लेखक पूर्ण न्याय नहीं कर सका।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पुरानी सामंती परंपराओं का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों के लिए स्वयं उपन्यास से उद्धृत यह कथन अत्यंत उपयुक्त है: '...**धर्म के दो रूप होते हैं, एक सामाजिक और दूसरा वैयक्तिक! दोनों धर्मों का समान रूप से पालन करना हरेक साधारण गृहस्थ का धर्म है। समाज छुआछूत को मानता है, समाज वर्गों में ऊँच-नीच का भेदभाव करता है, यह सब हमें स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि हम सब समाज द्वारा शासित हैं, हम सबकी रक्षा समाज करता है। इन सामाजिक नियमों को तोड़ा नहीं जाता, इन नियमों को केवल बदला जाता है, और इन्हें बदलने की क्षमता महान त्यागियों और तपस्वियों में ही मिलेगी, हम जैसे साधारण गृहस्थों में नहीं। इस सामाजिक धर्म के बाद वैयक्तिक धर्म आता है—दया, त्याग, ममता, प्रेम, सत्य, अहिंसा आदि का। लेकिन यह धर्म व्यवितगत जीवन से संबद्ध है, समाज से नहीं। हम वैयक्तिक धर्म का पालन करते हुए सामाजिक धर्म का पालन करने को बाध्य हैं। यदि सामाजिक व्यवस्था के आगे हम सिर नहीं झुकाते तो हम अराजकता के पाप के भागी होते हैं, और सामाजिक प्राणी होने के कारण हम गृहस्थ लोग अराजक बन ही नहीं सकते।'** इस संदर्भ में मुंशी शिवलाल, छिनकी, घसीटे और ज्वाला प्रसाद का चरित्र भली भाँति समझा जा सकता है। यद्यपि शिवलाल परंपरा की सीमाएँ तोड़ने में असमर्थ रहता है। तो भी तदनुकूल उसका व्यक्तित्व भली भाँति उभरा है। खुशामद, अपने को परिस्थिति के अनुकूल ढालने की क्षमता, दूसरों पर अपना प्रभाव डालने की शक्ति आदि की दृष्टि से उसके चरित्र का एक पक्ष दृष्टिगोचर होता है, तो छिनकी के साथ संबंध में उसका दूसरा पक्ष। सामंती वर्ग की विलासिता और अवैध प्रेम के बावजूद भी उसे गौरव और मर्यादा का ध्यान बना रहता है। और वह उसे पत्नीत्व का पद तक प्रदान करता है। अपनी मृत्यु के समय वह ज्वालाप्रसाद से छिनकी की मान-मर्यादा की रक्षा की भीख भी माँगता है। वास्तव में शिवलाल के चरित्र में भगवती बाबू ने पूरी स्वाभाविकता बरती है। उसके व्यक्तित्व द्वारा सामंत वर्गीय प्रवृत्तियाँ भली भाँति स्पष्ट हो जाती हैं। वह अपने वर्ग का सच्चा प्रतीक है। छिनकी-घसीटे का संबंध सामंत वर्ग के ही साथ है, किंतु ये उन लोगों में से थे जो अपनी सच्चाई और 'स्वामि-भक्ति' के वशीभूत हो कर अपना निजत्व

रजिस्ट्रार

तक खो बैठते थे। छिनकी को अपनी मान-मर्यादा का पूरा ख्याल रहता है। ज्वाला प्रसाद उसे अपनी माँ के समान समझता है। ज्वाला प्रसाद नवोदित मध्यम वर्ग का प्रतीक है। उसमें वे सभी विशेषताएँ हैं जो तत्कालीन मध्यम वर्ग में पायी जाती थीं। वह न तो परंपरा से विमुख होने की शक्ति रखता है और न एकदम नवीन जीवन-क्रम ग्रहण करने का साहस। वह प्राचीन और नवीन के बीच की कड़ी है। भगवती बाबू ने ज्वाला प्रसाद का चरित्र भी भली भाँति चित्रित किया है। इसके अतिरिक्त उपन्यास में उस सामाजिक व्यवस्था का भी उल्लेख हुआ है जो प्राचीन की तुलना में नयी थी और जिसके अंतर्गत शिवलाल के समय की मान-मर्यादा के स्थान पर प्रेम का क्रय-विक्रय होने लगा था। इस व्यवस्था के अंतर्गत स्त्री को स्वार्थ-पूर्ति का साधन बना लिया गया था, जिसका अस्तित्व केवल पुरुष की विलासिता की तृप्ति के लिए था। यह समय भारत में पूँजीवाद के उदय का समय भी था। दीन, ईमान, सत्य, चरित्र आदि सब कुछ बिकने लगा था। भगवती बाबू ने इस सामाजिक स्थिति की अपनी व्यंग्यपूर्ण शैली में खरी आलोचना की है। यहाँ नैतिक मान-दंडों और मूल्य-मर्यादा की समस्या सामने आती है। उपन्यासकार अपनी अंतर्दृष्टि द्वारा जीवन को देखता और युग-सत्य, युगीन भाव-बोध तथा मानवीय संबंधों के नये आयाम खोज निकालता है। नैतिक मानदंड और मूल्य-मर्यादाएँ स्थापित करने के लिए शब्दाडंबर या कृत्रिम आक्रोश या ऊपर से लादे गये कथोपकथनों से काम नहीं बनता। इस कार्य के लिए वह मार्मिकता और शक्ति चाहिए जो प्रेमचंदकृत 'निर्मला' में दृष्टिगोचर होती है। कलाकार के इस उत्तरदायित्व को दृष्टिपथ में रखते हुए गंगाप्रसाद, राधाकिशन, संतो, राजा रिपुदमन सिंह, कैलासो, होमवती आदि अपनी-अपनी रूमानी प्रवृत्तियाँ लेकर आते हैं, किंतु इससे इन पात्रों के व्यक्तित्व अच्छी तरह उभर नहीं पाये। इन पात्रों के संबंध में भगवती बाबू की वही कमज़ोरी दिखायी देती है जो 'चित्रलेखा' में थी। बदलती हुई सामाजिक व्यवस्था के योग्य जैसे मांसल पात्र होने चाहिए थे वैसे ये पात्र नहीं हैं। रिपुदमन सिंह के तीखेपन में भगवती बाबू स्वयं बोलते प्रतीत होते हैं। अन्य पात्रों के कथन से नये समाज की एक धुँधली तस्वीर सामने आती है, परंतु उसमें संतुलन नहीं है। यद्यपि भगवती बाबू स्वयं बुद्धिवादी हैं और भावुकता को अधिक प्रश्रय देने के पक्ष में नहीं हैं, तो भी उनके ये पात्र भावुकता के साथ अधिक चित्रित हुए हैं। उनके ये पात्र नयी उभरती हुई सामाजिक व्यवस्था के विविध पक्षों का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं कर पाते। इस असमर्थता के कारण इन पात्रों में कोई विशेष जान मालूम नहीं पड़ती। जब सारी प्राचीन आस्थाएँ और धारणाएँ विघटित हो रहीं थीं, आत्मविश्वास के साथ पाले हुए मूल्य खंडित हो रहे थे, नयी उमंग लिये विद्या और नवल राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेते और जेल जाते हैं। समाज का यह अभिनव रूप समझने में ज्वालाप्रसाद असमर्थ रहता है। विद्या और नवल, जो उल्लास और उमंग से भरी एक नयी दुनिया के प्रतीक माने जा सकते हैं, अपना-अपना व्यक्तित्व पूर्णतः उद्घाटित नहीं कर पाते। यह इस उपन्यास की सबसे बड़ी त्रासदी है। इन दोनों पात्रों को दृष्टि में रखते हुए उपन्यासकार ज्वाला प्रसाद के मुख से यह कहला कर कि दूसरे हज़ारों, लाखों, करोड़ों आदमी जीवन और जाति से प्रेरित नवीन उमंग और उल्लास लिये हुए एक नवीन दुनिया की रचना के लिए चले जा रहे थे प्रगतिशीलता का क्षीण संकेत अवश्य देता है, किंतु दुर्भाग्यवश

यही प्रगतिशीलता उपन्यास का प्रधान अंग नहीं है। वास्तव में उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य एक ऐसे समाज का चित्रण करना रहा है जो अपने गुण-दोष लिये हुए बिखर चुका था। बिखर रहे समाज का चित्रण करना अपने में बुरा नहीं है। जो चिंत्य बात है वह यह है कि उपन्यासकार हमें पुराने के स्थान पर नये के निर्माण करने की प्रेरणा नहीं देता। यदि यह कहा जाय कि लेखक का उद्देश्य चित्रण कर देना भर है, प्रेरणा ग्रहण करना या न करना पाठक की अपनी चित्तवृत्ति पर निर्भर रहती है, तो यह कलाकार का कला-दौर्बल्य ही कहा जायगा। 'निर्मला' और 'गोदान' में प्रेमचंद ने भी वही किया है जो भगवती बाबू ने 'भूले-बिसरे चित्र' में किया है। किंतु 'निर्मला' और 'गोदान' में एक जीर्ण-शीर्ण परंपरा और व्यवस्था के प्रति आक्रोश और विद्रोह की भावना भर हमें आगे बढ़ने का प्रोत्साहन प्रदान करते हैं। 'भूले-बिसरे चित्र' में नवीन मूल्य स्थापित करने की यह शक्ति नहीं है। उपन्यास में जो कथन क्रांतिकारी और समाज के चेहरे से नकाब हटा कर उसके असली घिनौने रूप की ओर संकेत करने वाले हैं वे समूचे उपन्यास के संदर्भ में लेखक द्वारा ऊपर से आरोपित किये गये प्रतीत होते हैं। संभवतः लेखक चाहता रहा होगा कि वह उल्लास और उमंग से भरी दुनिया का भी चित्रण करे, किंतु उसे सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। वास्तव में यह कहते हुए बड़ा दुख होता है कि भगवती बाबू जैसे कलाकार की लेखनी से सिद्धांतहीन आस्था-च्युत और मूल्य-मर्यादारहित पात्रों का निर्माण हुआ और ऐसे ही पात्र ले कर उन्होंने उपन्यास का प्रासाद खड़ा किया। कुछ चिंत्य प्रयोगों और शिथिल वाक्य-विन्यासों को छोड़ कर भाषा उपन्यासों जैसी ही है।

अंत में मैं यही कहना चाहता हूँ कि ऐसे समाज का चित्रण करना जिसमें पुराने मूल्य भू-लुंठित हो गये हों और नये मूल्य जन्म धारण कर रहे हों, बहुत कठिन है। भगवती बाबू जैसे सक्षम कलाकार के लिए यह कठिन कार्य संपन्न करना संभव था। किंतु समाज के प्रति अपने जीवन का आक्रोश, असंतोष और कटुता अलग न रख सकने के कारण वे एक बीते हुए युग की मूर्ति सफलता पूर्वक गढ़ नहीं सके। उपन्यास में जीवन का कोई प्रतिमान नहीं है। उपन्यास में कथा-प्रवाह है, किंतु तत्कालीन जीवन-प्रसंग भली भाँति उभर नहीं पायी। कथा में स्थूलता है। घटनाओं और पात्रों के सूक्ष्म पक्षों के उद्घाटन की ओर लेखक का ध्यान नहीं गया। खेद के साथ कहना पड़ता है कि 'भूले-बिसरे चित्र' में न तो कोई साहित्यगत उपलब्धि है और न जीवन-मूल्यगत। साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत होने के कारण यह उपन्यास बहुचर्चित अवश्य हो गया है, किंतु भगवती बाबू ने उसमें लकड़ी के पैर लगा ऊँचा उठने की कोशिश की है।

छात्र-कल्याण-संकायाध्यक्ष,
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

गोष्ठी-प्रसंग

'विवेचना' में 'भूले-बिसरे चित्र'

दिनांक ७–९–६५ को सायं ६ बजे एनी बेसेंट हॉल, में 'विवेचना' की गोष्ठी भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र' का मूल्यांकन करने के लिए हुई। अध्यक्ष बालकृष्ण राव ने कहा कि आज 'विवेचना' की यह गोष्ठी राष्ट्रीय संकट के क्षणों में हो रही है फिर भी मुझे पूरी आशा है कि हम इसमें शांत हृदय से भाग ले कर अपनी मानसिक दृढ़ता का परिचय देंगे। इसके बाद डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'भूले-बिसरे चित्र' पर अपने विद्वत्तापूर्ण समीक्षात्मक निबंध का पाठ किया।

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा कि मेरी तरह शायद अन्य मित्रों के सामने भी यह कठिनाई हो कि इस पुस्तक को पढ़े हुए काफ़ी समय बीत गया है इसलिए ब्योरों के बारे में कुछ अधिक न कह सकूँगा। जब मैंने दो साल पूर्व इसे पढ़ा था तो इसमें मुझे कोई रचना-दृष्टि नहीं दिखी थी और अब भी नहीं दिखायी देती। वर्णनों एवं चरित्र-चित्रण के माध्यम से इसमें कोई संगति नहीं उत्पन्न की जा सकी है। यह दिक़्क़त प्रेमचंद के बाद के उन सभी उपन्यासकारों यशपाल, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा आदि की है जिन्होंने अभिजातवादी शैली के उपन्यास लिखने की चेष्टा की है। ये देश-काल दोनों के माध्यम से विशाल फलक प्रस्तुत कर के ब्यौरे तो दे सके हैं लेकिन संगतियों और विसंगतियों के माध्यम से अपनी रचना-दृष्टि विकसित नहीं कर सके हैं जब कि 'ज्याँ क्रिस्तोव', 'क्राइम एंड पनिश्मेंट' और 'गोदान' के लेखक ऐसा कर सके हैं। 'भूले-बिसरे चित्र' को पढ़ कर लेखक की रचनात्मक क्षमता का प्रभाव नहीं पड़ता। केवल कुछ चरित्र याद रह जाते हैं। लेकिन 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के पं० रामनाथ तिवारी जैसा शक्तिशाली चरित्र 'भूले-बिसरे चित्र' का शिवलाल नहीं बन सका है। गौण चरित्रों को विकसित किया गया होता तो संभव है रचना-दृष्टि उभर पाती। कहानी कहना सामान्य पाठक के लिए रोचक हो सकता है लेकिन प्रबुद्ध पाठक ऐसी कृति पढ़ कर किसी निष्पत्ति पर नहीं पहुँच पाता। पता नहीं क्यों, प्रेमचंद के बाद उनकी परंपरा के अभिजातवादी उपन्यासकारों की रचनात्मक शक्ति लुप्त हो गयी जब कि जैनेंद्र और अज्ञेय आदि भिन्न प्रकार के उपन्यासकारों में यह क्षमता है।

नरेश मेहता ने कहा कि मैं निबंध-लेखक और डॉ० चतुर्वेदी से सहमत हूँ। इसका मूल कारण यह है कि अभिजातवाद के प्रभाव के कारण चरित्र किताबी वातावरण से हट कर

जीवित चरित्र लगते हैं। भगवती बाबू से कलात्मकता की माँग करना उचित नहीं है। इस उपन्यास के प्रासंगिक चरित्र अधिक जीवंत हैं क्योंकि उन पर भगवती बाबू की कथात्मक पकड़ नहीं रह गयी है इसलिए वे अपनी स्वतंत्र सत्ता पाने में सफल हो गये हैं। उनके सभी पात्र एक साँचे में कसे हुए हैं और अत्यंत हास्यास्पद ढंग से दुहराये गये हैं। उदाहरण के लिए आरंभ से अंत तक पात्रों के जोड़े बैठाये गये हैं और उपन्यास अगर आगे भी दस पीढ़ियों तक चलता तो यह रोमांटिक मोड़ बराबर बना रहता। उनका उद्देश्य यह प्रकट करते रहना है कि कोई बड़ी बात इसमें है। वे आंदोलनों का ब्यौरा देते गये हैं लेकिन उनमें निर्मितियों का अभाव है। दो पीढ़ी पहले के सक्षम कलाकार होते हुए भी भगवती बाबू इलाहाबाद जैसी जगह का, जिसे राष्ट्रीय आंदोलनों का एक महत्वपूर्ण केन्द्र होने का गौरव प्राप्त है, केवल सतही रोमांटिक चित्रण कर सके हैं। इसीलिए उनके चित्र मूल्यों के प्रतीक नहीं बन पाये और पढ़ने के बाद उनकी कृति हमारे अंदर जीवित नहीं रह पाती, जैसा कि महान कृतियाँ करती हैं। इसे कोई अभिजातवादी दृष्टि भले मान ले लेकिन मैं नहीं मानता। यह कोई मानदंड नहीं है। मैं 'भूले-बिसरे चित्र' को केवल कथा की दृष्टि से ही पढ़ सकता हूँ।

श्रीलाल शुक्ल ने कहा कि मैं नरेश जी से सहमत हूँ। वर्मा जी अपनी अभिव्यक्ति को स्वयं भी कलात्मक नहीं मानते। जासूसी उपन्यासकार जैसे लिखते हैं वही दृष्टिकोण उनका भी है। वे रोचक कहानी कहने के लिए कुछ तस्वीरें या कहें कि फोटोग्राफ प्रस्तुत करते हैं। उनमें संश्लेषण की कमी और बिखराव साफ़ दिखायी देता है। कथानक, वर्णन, चरित्र-चित्रण, भाषा आदि अलग-अलग भागों को ले कर ही उनकी आलोचना की जा सकती है जैसे डॉ० वार्ष्णेय ने किया है। समग्र रूप में इस कृति की आलोचना संभव नहीं। स्पष्ट कहूँ तो यह फ़तवा देना ठीक नहीं कि यह एक यथार्थवादी कृति है। इसमें यथार्थवादी रचना-दृष्टि है ही नहीं। वास्तव में वर्मा जी की रचना-परंपरा फ़िल्मी फ़ार्मूलों वाली है। हर अफ़सर को चरित्रहीन, पुलिस को बदमाश और सामंती परंपरा की स्त्रियों को दुराचारिणी दिखाना कलाकार की नहीं, बंबइया फ़िल्मकार की दृष्टि है जो बने-बनाये साँचे और रूढ़ स्थितियों को ले कर चटपटी कहानी गढ़ देता है। वर्मा जी से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि की माँग करना अनुचित है। इसे वे शास्त्रियों का काम मानते हैं। अपनी कृतियों में वे कठपुतली पात्रों को लेकर रोचक तमाशा दिखाते हैं और इसका आनंद भी उस तरह की रुचि वाले ले लेते हैं। वे एक चित्रकार नहीं, बल्कि ऐसे फोटोग्राफर की तरह हैं जो महल का परदा लगा कर बरामदे में खड़े हो कर दूर से बेड रूम का चित्र घटिया क़िस्म के कैमरे से खींचता है। जो लोग वर्मा जी के उपन्यास पढ़ कर उनसे दूसरी तरह की चीज़ की माँग करते हैं वे अपनी इस माँग के कारण ही धोखा खाते हैं, वर्मा जी का इसमें काई दोष नहीं। डॉ० वार्ष्णेय के निबंध के अंतिम अंश से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए श्रीलालजी ने कहा कि आस्थाहीनता के चित्रण के कारण ही कोई कृति कमज़ोर नहीं हो जाती। कमज़ोरी का कारण लेखक की अपनी अक्षमता होती है। उन्होंने रामस्वरूपजी के इस कथन से भी असहमति प्रकट की कि प्रेमचंद के बाद अभिजातवादी शैली के सभी हिंदी उपन्यासकार क्षमताहीन हो रहे हैं। वर्माजी की असफलता उनकी असफलता है, उसे सामान्यीकृत नहीं किया जा सकता।

उदाहरण के लिए यशपाल का 'झूठा सच' एक सक्षम अभिजातवादी उपन्यास है और उसमें जो कमज़ोरी आयी है उसका कारण लेखक का सैद्धांतिक दृष्टिकोण है। वर्माजी के साथ कोई ऐसी प्रतिबद्धता नहीं है। वे केवल कथा भर देना चाहते हैं लेकिन आज का पढ़ा-लिखा पाठक पश्चिम का साहित्य भी पढ़े होता है इसलिए वे कुछ-कुछ वैसी सामग्री भी देते चलते हैं। इसीलिए उनकी कृतियों में दर्शन नहीं, दर्शनाभास मिलता है। उदाहरण के लिए 'सामर्थ्य और सीमा' को लें तो इसमें स्थितियों के माध्यम से प्रकृति की अज्ञेय शक्ति और नियति की बात कही गयी है। लेकिन कलाकार का काम स्थिति का नहीं बल्कि प्रतिक्रिया का चित्रण करना है।

उमा राव ने डॉ० वार्ष्णेय से प्रश्न किया कि आपने अपने निबंध के अंत में कहा है कि संभावनाएँ थीं लेकिन वर्माजी असफल रह गये हैं। वे तत्व कौन से हैं जिनके आधार पर यह बात मानी जाय? यह संभावनाओं वाली बात आपने कृति के आधार पर कही है या कृतिकार के नाम के आधार पर? डॉ० वार्ष्णेय ने पूर्व वक्ताओं के कथनों की ओर संकेत करते हुए कहा कि मैं इस कृति को घास-फूस नहीं मानता। इस कृति में जगह-जगह कौंध है। भगवती बाबू क्षमतावान लेखक हैं। वे नौसिखिये नहीं हैं। अगर सतर्क हो कर लिखें तो अच्छी कृति दे सकते हैं। उदाहरण के लिए 'चित्रलेखा' के अंतिम अंश को निकाल दें तो वह एक सफल कृति है और उसमें उनका जीवन-दर्शन भी है; ऐसा मैं मानता हूँ। वे एक कलाकार हैं और उनके संपूर्ण चित्र असफल नहीं हैं।

डॉ० रघुवंश ने कहा कि श्रीलालजी की इस बात से मैं सहमत नहीं हूँ कि वर्माजी की कला मात्र कहानी कहने तक सीमित है। साहित्यिक अभिव्यक्ति की ओर भी उनका झुकाव है, हाँ, कहानी कहने की ओर अधिक है। उच्चतम कोटि के कलात्मक उपन्यासों में कथा का तत्व कम से कम होता है। सभी बड़े उपन्यासों में कथा का कम से कम सहारा लिया गया है। लेकिन अपने-आपमें रोचक चरित्र और प्रसंग कलात्मकता की अपेक्षा नहीं रखते। 'भूले-बिसरे चित्र' में बिखराव अधिक है और कथा की क्षिप्रता को वर्माजी सँभाल नहीं पाये हैं। इसकी अपेक्षा 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' अधिक संयोजित कृति है। मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि इसमें मात्र प्रतिनिधि पात्रों को लिया गया है और वे कठपुतलियों जैसे निर्जीव हैं। वैसे प्रतिनिधि पात्रों को ले कर भी सफल कलात्मक सृष्टि की गयी है। वर्माजी में प्रायः कलात्मक सर्जनशीलता का अभाव है। 'चित्रलेखा' उनकी दूसरी तरह की कृति है जिसके बारे में मैं अभी अपना अंतिम मत नहीं व्यक्त करना चाहता। एक और कठिनाई 'भूले-बिसरे चित्र' के संबंध में है जो 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के साथ नहीं थी। इसमें न तो वातावरण है और न जीवन के विभिन्न आयामों के चित्रण। बस पात्रों की भरमार है। दूसरी तरह के उपन्यासों में पात्रों एवं प्रसंगो की ऐसी बहुलता ठीक नहीं लगती।

बालकृष्ण राव ने कहा कि मैं सबसे अंत में अध्यक्षीय भाषण देने के बजाय पहले ही संक्षेप में कुछ बातें कह लेने की अनुमति चाहता हूँ। लगता है कि औरों से अधिक मैं ही 'भूले-बिसरे चित्र' पढ़ कर संतुष्ट होने के निकट पहुँचा था। मेरे मन पर यह प्रभाव क्यों पड़ा, इसका एक कारण यह है कि मैंने इसमें विचार-तत्व पाने की खोज नहीं की थी। चूँकि मैंने 'कहानी' से अधिक की माँग नहीं की थी इसलिए मुझे निराशा नहीं हुई। लेकिन यह कहना अन्याय है कि भगवती

बाबू केवल क़िस्सागो हैं। क़िस्सागोई की प्रवृत्ति उनमें है अवश्य और व्यक्तियों और प्रसंगों का उपयोग वे कहानी का स्वाद बढ़ाने के लिए करते हैं लेकिन उनके लेखन का केवल यही उद्देश्य नहीं है। यह कृति असफल नहीं है और मुझे तो उनकी 'सामर्थ्य और सीमा' जैसी असफल कृति भी सोद्देश्य रचना लगती है। 'भूले-बिसरे चित्र' में उन्होंने अपने बाल्यकाल से अब तक की घटनाओं का एक अलबम सा प्रस्तुत किया है। इसमें वे सतही स्तर पर अपने दायित्व का प्रक्षेपण करते गये हैं। कलाकार भी अपना प्रक्षेपण करता है, लेकिन जान-बूझ कर और सतही स्तर पर नहीं। मुझे यह उपन्यास दो खंडों में बँटा मालूम पड़ता है। एक खंड है शिवलाल आदि पात्रों के जीवन-प्रसंगों का और दूसरा है राजनीतिक परिवेश और सामाजिक उथल-पुथल का। ये दोनों खंड आपस में भली भाँति जुड़े हुए और गुंफित नहीं लगते बल्कि तेल-पानी की तरह अलग तैरते मालूम पड़ते हैं। दूसरा खंड क्षेपक जैसा लगता है। उसका बहुतेरा कमज़ोर, निरर्थक और उबाऊ है तथा आकार को बढ़ाता भर है। कहीं-कहीं वर्णन अयथार्थ हो गया है, जैसे अफ़सरों के क्लब का चित्रण। कुछ प्रसंग अनावश्यक से लगते हैं जैसे अखाड़े का विस्तृत विवरण। इस उपन्यास के अधिकांश पात्र प्रतिनिधि अवश्य हैं लेकिन शिवलाल आदि निश्चय पूर्वक अपना व्यक्तित्व रखते है और उनके अंतस का संस्पर्श कराने में लेखक सफल हुअ। है। इसमें लेखक ने तात्विक दर्शन थोपने की चेष्टा न कर के व्यक्तित्वों का मार्मिक संस्पर्श कराया है। यह छोटी उपलब्धि हो, लेकिन उपलब्धि अवश्य है। वे नवयुग के संदेश को यथार्थ बना कर नहीं दिखा पाते और उनकी उपदेश या प्रवचन दिलाने जैसी चेष्टा असफल और हास्यास्पद लगने लगती है। फिर भी उनकी पिछली रचनाओं की तुलना में मुझे 'भूले-बिसरे चित्र' अधिक अच्छी कृति लगी।

अंत में डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने कहा कि जो विचार प्रकट किये गये हैं उनसे मेरा मतभेद नहीं। अंतर इतना ही है कि मैं उतनी दूर तक नहीं जा सकता। किसी भी कृति की समीक्षा करते समय संतुलित दृष्टि अपेक्षित है। भगवती बाबू में सुंदर कलात्मक स्थल एवं पात्र देने की क्षमता है और अपनी इस कृति में भी उन्होंने यह क्षमता प्रकट की है। मैं यह नहीं कहता कि सद्पात्रों द्वारा ही कलात्मकता संभव है। प्रसाद जी की मागंधी एक गतिशील चरित्र है, वह सद्पात्र नहीं, फिर भी कलात्मक है। ऐसे ही कुछ पात्र इसमें भी हैं। भगवती बाबू में कथा कहने की क्षमता है लेकिन कहीं-कहीं वे कलात्मकता से डगमगा जाते हैं। संपूर्ण रूप से देखें तो इस कृति में न तो सफल कलात्मक प्रयोग ही हैं, न सर्जनात्मकता और न जीवन-दर्शन ही; अतः यह असफल है। 'भूले-बिसरे चित्र' के युग में और भी बहुत कुछ था जिसकी ओर भगवती बाबू ध्यान नहीं दे सके। अपनी संकुचित दृष्टि के कारण वे जीवन के नये मूल्य हमारे सामने नहीं रख सके। इसीलिए यह प्रेमचंद की परंपरा की अनुकृति सी लगती है।

—विवेचक

समीक्षाएँ

●

भाषा और भाषिकी

डॉ० देवीशंकर द्विवेदी की भाषाविज्ञान विषयक नयी पुस्तक। प्रकाशक : लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा। १९६४। मूल्य : ५.००।

नवोदित आकृतिमूलक भाषिकी के अध्ययन में आधुनिकतम तकनीक के लिए युग की बढ़ रही माँगें स्वभावतः हिंदी संसार में भी आ गयी हैं और यह पुस्तक इन माँगों की पूर्ति करने वाला एक साहसपूर्ण प्रयास है।

हिंदी भाषा में भाषा-विज्ञान पर सर्वमान्य पारिभाषिक शब्दावली का अभाव है और विशेष रूप से आकृतिमूलक भाषिकी की शब्दावली की प्रकृति इतनी लचीली है कि बहुत बार उसकी सर्वमान्य परिभाषाएँ खोजना कठिन हो जाता है, फलस्वरूप किसी दूसरी भाषा में उसका अनुवाद करना असामान्य श्रम की बात हो जाती है। इसलिए ऐसे शब्दों का कार्य तो कोई समिति ही कर सकती है जिन्हें सारे प्रशिक्षित शब्दशास्त्री स्वीकृति दे सकें। जब ऐसे शब्दों की संख्या प्रति सप्ताह बढ़ रही हो तब यह बात और भी आवश्यक हो जाती है। दूसरी ओर स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि हिंदी में सर्वमान्य शब्दावली का अभाव होने पर क्या जिज्ञासु हिंदी जनता को भाषिकी के कामचलाऊ ज्ञान से भी वंचित रखा जाय? इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि भाषिकी के क्षेत्र में हिंदीभाषी जनता का सक्रिय सहयोग तब तक असंभव है जब तक उसे हिंदी भाषा के माध्यम से भाषिकी का ठोस परिचय नहीं करा दिया जाता। इसलिए यह बात विषय के सर्वोत्तम हितों में पड़ती है कि लेखक ने इस प्रकार की पुस्तक लिखने का उद्योग किया है।

सारे संसार में भाषा को यादृच्छिक संकेतों की व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया है, किंतु लेखक ने पृ० १५ पर सुयोग्यतापूर्वक दिखलाया है कि भाषा में मिलने वाली इस यादृच्छिकता से हमें यह नहीं मान बैठना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति किसी भी शब्द का किसी समय किसी भी वस्तु या विचार के लिए प्रयोग करने के हेतु स्वतंत्र है। यह यादृच्छिकता तो एक गुप्त समझौता है जो पिछली पीढ़ियों से चला आ रहा है, फलस्वरूप आज व्यक्ति को यादृच्छिकता में भाग लेने का अधिकार नहीं के बराबर है।

पृ० ५० पर लेखक ने आकृतिमूलक भाषिकी की आधारशिला 'स्वनिम' का विवेचन किया है। व्यतिरेक को स्पष्ट करने के लिए उसने अधिकांश में लघुतम युग्म दिये हैं और जहाँ कहीं लघुतम युग्म उपलब्ध नहीं हैं, वहाँ उसने केवल स्वनिक अंतरों से व्यतिरेक को स्पष्ट किया है।

पृ० २५ पर लेखक ने स्वर का वर्णन केवल औच्चारिक आधार पर किया है, किंतु आशा है कि परवर्ती संस्करण में वह श्रौत आधार को भी अपना लेगा क्योंकि अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि स्वर के लाक्षणिक तत्व गुंजन से जितना पहचाने जाते हैं उतना श्वास के अनवरोध अथवा असंघर्ष से नहीं।

लेखक बताता है कि मर्षिम अर्थपूर्ण इकाई होते हुए भी केवल अर्थ से आबद्ध नहीं है, उसका संबंध रूप से भी है। इसके अतिरिक्त, मर्षिम का एक स्थिर पक्ष होता है और एक परिवर्तनशील पक्ष। लेखक के विवेचन से स्पष्ट है कि उसने आकृतिमूलक भाषिकी के इस दुरूह अंग को बहुत गहराई से आत्मसात कर लिया है।

आकृतिमूलक भाषिकी में वाक्यविज्ञान अब भी तरल स्थिति में है। अभी वह निर्माणावस्था में ही है। ऐसे सार्वभौमिक सिद्धांत अभी खोजे नहीं जा सके हैं जो सारी भाषाओं पर लागू हो सकें। लेखक ने वाक्यविज्ञान को 'शब्दों के संयोजन का विचार' (पृ० ७४) कहा है। 'किसी संघटन के सारे लघुतम तत्वों का पारस्परिक संबंध एक सरीखा नहीं होता'। (पृ० ७४) कह कर लेखक ने वाक्यविज्ञान की आधारभूत समस्या को पकड़ लिया है। संसार के सर्वश्रेष्ठ शब्दकोश वेब्स्टर डिक्शनरी में वाक्यविज्ञान की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है: **विवेचनाधीन भाषा के प्रतिष्ठित प्रयोग के आधार पर विधेयात्मक, वैशेषणिक तथा अन्य शब्द संबंधों की अभिव्यक्ति।**

कदाचित इस परिभाषा से सुपरिचित लेखक ने वाक्य के विविध अंगों के पारस्परिक संबंध का विश्लेषण तथा वर्णन किया है।

यह प्रारंभिक प्रयास प्रशंसनीय है किंतु हमारे प्रगतिशील महत्वाकांक्षियों की इच्छा होगी कि इस यांत्रिक विश्लेषण में उन नियामक सिद्धांतों के वर्णन का भी योग किया जाना चाहिए जो वाक्य में विविध संघटनों का निर्माण करते हैं। इस संबंध में यह अनुभव किया गया है कि वाक्यविज्ञान का एक मूलभूत नियामक सिद्धांत शब्दक्रम है। लेखक ने क्रिया को वाक्य के अंत में न रख कर उसे क्रियाविशेषणात्मक वाक्यांश के पहले रख दिया है और क्रियाविशेषणात्मक वाक्यांश 'परिवार के भाषा-विकास में' को वाक्य के अंत में रख कर उसे वाक्य के निर्देशन का दूसरा 'शिखर' बना दिया है। क्योंकि लेखक ने इस अंश के महत्व पर बल देना चाहा है, और वास्तव में यही अंश संपूर्ण अध्याय का वर्ण्य विषय है। इस संबंध में 'इन ऑनर ऑफ़ डेनियल जोन्स', १९६४ में 'वर्ड आर्डर ऐंड इंटोनेशन' (पृ० २६१) नामक रोचक लेख द्रष्टव्य है। शब्द-क्रम के अतिरिक्त, निर्वैयक्तिक वाक्य-रचना आदि अन्य नियामक सिद्धांत भी हैं। उदा० अंग्रेज़ी 'आई गेट फ़ीवर' के लिए हिंदी में 'मुझे बुख़ार आता है' होगा, लेकिन इस हिंदी वाक्य का अंग्रेज़ी में इस प्रकार शब्दानुवाद होगा—'सो फ़ार ऐज़ आई एम कंसंर्ड, फ़ीवर कम्स'। यहाँ बुख़ार को बुख़ार आने वाले व्यक्ति से अलग कर दिया गया है। तमिल और रूसी भाषा में भी ऐसी वाक्य-रचना मिलती है। उदा० एनक्कु तलइ वलिक्किकरदु (तमिल) तथा म्न्ये गलवा बल्येत (रूसी)। हिंदी में 'में', 'को' आदि परसर्गों का प्रयोग एक और नियामक सिद्धांत है। (देखें—ए बेसिक ग्रामर ऑफ़ हिंदी, नयी दिल्ली, १९५८, पारा ९७।)

लेखक ने पृ० १५ पर भाषा को मनुष्य के विचार-विनिमय का साधन बताया है, किंतु उसने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि भाषा चिंतन का भी साधन है। अन्यथा भाषा-विज्ञान की कई चोटी की पाठ्य-पुस्तकों तक में भाषा को केवल विचार-विनिमय का साधन बताया गया है। किंतु क्या विचार-विनिमय भाषा का प्रमुख कार्य है? इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि विचार-विनिमय भाषा का एक प्रमुखतम कार्य है किंतु थोड़ा सा विचार करते ही स्पष्ट हो जायागा कि विचार-विनिमय को सर्वप्रमुख बताना नितांत असंगत है। पाणिनीय शिक्षा में कहा है—**आत्मा बुद्धि के साथ वस्तुओं को लक्षित करती है और मस्तिष्क में बोलने की प्रेरणा भर देती है; मस्तिष्क शरीर के भीतर की अग्नि को उद्बुद्ध करता है और यह अग्नि श्वास को बाहर निकाल देती है।** (मनमोहन घोष, पाणिनीय शिक्षा, कलकत्ता, १९३८, पृ० ५४)।

आधुनिक भाषिकी की एक अत्यंत महत्वपूर्ण कोटि पुस्तक में नहीं दी गयी है और वह है भाषा तथा वाक् का व्यतिरेक। पृ० ११ पर भाषा की परिभाषा देते हुए लेखक के कहा है—**भाषा यादृच्छिक वाक्प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके माध्यम से मानव-समुदाय परस्पर व्यवहार करता है।** इसमें यह उल्लेख नहीं किया गया है कि भाषा वाक् का शोधित रूप होती है और उस जीवित तथा बोली जाने वाली भाषा का चुना हुआ रूप होती है जिसे हम बार-बार व्यवहृत होने वाली भाषण-ध्वनियों का अनुकरण कह सकते हैं, ऐसा अनुकरण जिसे शिशु अर्जित करता है। पृ० ७ पर लेखक ने कहा है कि भाषा क्, ख्, ग्, घ् आदि विविध भाषण-ध्वनियों से बनती है। इस संकेत से भाषा के स्वरूप में समग्र रूप से भ्रांति आ गयी है। पृष्ठ ७ पर उल्लिखित तत्व भाषा नहीं वाक् है। यह भी दुर्भाग्य की बात है कि वाक् को लेखक ने अपने पारिभाषिक शब्दों की सूची में सम्मिलित तक नहीं किया है। ए० सी० गिम्सन ने 'ऐन इंट्रोडक्शन टु द प्रोनंसिएशन ऑफ़ इंग्लिश' में भाषा को, 'यादृच्छिक संकेतों की व्यवस्था' (पृ० ३) और वाक् को 'बार-बार व्यवहृत होने वाली भाषण-ध्वनियों के अनुकरण' (पृ० १) के रूप में स्वीकार किया है। आज की सबसे बड़ी भाषा-वैज्ञानिक समस्या भाषा को वाक् से पृथक् करने की है। वाक् का एक विशेष लक्षण है आवश्यक तत्वों की अनावश्यक भरमार। लेखक ने मनुष्य की भाषा को जीव-जंतुओं की ध्वनियों से पृथक् करने का पर्याप्त प्रयत्न किया है लेकिन यह अंतर तो १९वीं शताब्दी में ही दिखाया जा चुका है। पृ० १६७ पर लेखक ने पुनः वाक् की कोटि का आलेखन करने का प्रयत्न करते हुए 'कथन' का उल्लेख किया है लेकिन अपनी सूचियों में उसने इस 'कथन' को भी स्थान नहीं दिया है।

आशा है, पुस्तक के परवर्ती संस्करण में इस कमी को दूर कर दिया जायगा।

एक भ्रांति व्याकरण और मर्षविज्ञान में मिलती है जो यत्र-तत्र देखी जा सकती है, उदा० पृ० १७ तथा ६४ पर। इन पृष्ठों पर मर्षविज्ञान को व्याकरण के एक अंग के रूप में निरूपित किया गया है जब कि व्रह एक सर्वथा भिन्न विषय है। चीनी में व्याकरण नहीं है; किंतु उसमें मर्षविज्ञान है। व्याकरण के लिए अभी हाल में पाइक (के० एल० पाइक,

डाइमेंशंस ऑफ़ ग्रैमेटिकल कांस्ट्रक्शन, लैंग्वेज, जुलाई-सितंबर १९६२, पृ० २३७) ने 'टैग्मेमिक्स' शब्द प्रस्तावित किया है ताकि 'मार्फ़ेमिक्स' से उसका विरोध स्पष्ट रहे।

विषय-सूची के विस्तृत विवरणों का अभाव तथा सहायक ग्रंथ-सूची का अभाव भाषिकी की पाठ्य-पुस्तक के रूप में व्यवहृत होने पर इस पुस्तक की उपयोगिता को गंभीर क्षति पहुँचायेगा।

लेखक द्वारा व्यवहृत हिंदी के पारिभाषिक शब्दों की समीक्षा करना अप्रासंगिक होगा, फिर भी मेरी समझ में 'फ़ोनीम' और 'मॉर्फ़ीम' सरीखे अंतराष्ट्रीय शब्दों का हिंदी अनुवाद किया ही नहीं जाना चाहिए जिनका प्रयोग दुनिया में बहुत जगह होता है। ज्ञानवर्द्धन के लिए इनके हिंदी पर्याय कोष्ठकों में दिये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, हिंदी शब्द प्रयोक्ताओं की पृष्ठभूमि के अनुरूप होने चाहिए। उदाहरणार्थ, 'फ़ोनीम' के लिए 'स्वनिम' शब्द के प्रयोग पर यह आपत्ति की जा सकती है कि लेखक ने स्वयं पृ० १९ और ५४ पर 'स्वनिम' की व्याख्या 'ध्वनि' शब्द के सहारे दी है। अतः यहाँ 'ध्वनि' शब्द पर आधारित शब्द-निर्माण अधिक उपयुक्त होता। प्रयोक्ता को थोड़ी-बहुत जानकारी इस बात की भी दी जानी चाहिए कि 'मॉर्फ़ीम' के लिए 'मर्षिम' का प्रयोग किस प्रकार किया गया है। मार्फ़ीम शब्द ग्रीक 'मार्फ़े' (रूप) पर आधारित है। हमारी व्याकरणिक परंपरामें इसके समकक्ष एक शब्द 'रूप' विद्यमान ही है, इसलिए 'रूप' पर आधारित शब्द अधिक स्वीकरणीय होता।

—सिद्धेश्वर वर्मा (डॉ०),
अवैतनिक परामर्शदाता, विश्वेश्वरानंद वैदिक अनुसंधान संस्थान, होशियारपुर (पंजाब)।

झाड़फानूस

आरिगपूडि का उपन्यास। प्रकाशक : हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी। १९६४। मूल्य : १.०० रुपये।

प्रस्तुत उपन्यास आरिगपूडि की एक सामाजिक कृति है। इसमें आधुनिक पढ़े-लिखे लड़के-लड़कियों के पारस्परिक आकर्षण, प्रेम, समाज, व्यवस्था तथा पारिवारिक मान्यताओं का संघर्ष प्रस्तुत किया गया है।

कथा-वस्तु इस प्रकार चलती है—श्रीनिवास एक ख्यातिप्राप्त दरजी है। निम्न वर्ग में जन्म लेने पर भी अपने स्वाध्याय से ही ऊपर उठा है। इसी से थोथे अहं की भावना तीव्र है। अपने प्रासाद को, विलास के नाना उपकरणों से भर देने की उसकी उत्कट इच्छा है। किंतु श्रीनिवास अंत में अनुभव करता है कि झाड़फानूस लटकाने पर भी उसका थोथा दंभ उसे अशांति की ओर खींच ले जाता है, उच्च समाज में उसका परिचय दरजी के ही रूप में दिया जाता है। पुत्री राजी, सुंदरी है; सुशिक्षिता है; विक्टर नाम के एक सहपाठी से प्रेम भी करने लगी है, किंतु मन ही मन वह अपनी सीमाओं को जानती है; उसमें लाख गुण हैं, सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी वह दरजी की ही पुत्री कहलाती है, इसी से वह पिता की मान्यताओं की परिधि को ही स्वेच्छा से ग्रहण कर लेती है किंतु पिता के पसंद किये गये युवक से विवाह करने पर भी वह कर्तव्यपरायणा पत्नी नहीं बन पाती। न उस पर पति का नियंत्रण रह जाता है, न पिता का। श्रीनिवास अपने त्यक्त व्यवसाय को अपना लेता है साथ ही अनुभव

करता है कि इस युग का प्रतीक झाड़फानूस नहीं, कार्य एवं परिश्रम है। इसमें कोई संदेह नहीं कि लेखक ने पाठकों का कुतूहल अब तक अक्षुण्ण रखा है; उपन्यास शिथिलता या एकरसता से आक्रांत नहीं लगता। कहानी में फ़िल्मी ढंग की नाटकीयता का दोष भी नहीं है किंतु जहाँ तक मानवीय विशिष्टता या भावानात्मक तीव्रता प्रस्तुत करने का प्रश्न है, लेखक अपने सुनिश्चित उद्देश्य-शिखर पर पहुँचने के पूर्व ही अनावश्यक घटना-विस्तार में भटक जाता है। तीव्र अनुभूति के पट खोलने वाली अनुभूति की प्रचंड झंझा, कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती।

कहीं-कहीं पर भाषा संबंधी त्रुटियाँ भी बुरी तरह खटकने लगती हैं, लेखक क्या कहना चाहता है——स्पष्ट नहीं हो पाता। जैसे——**आंतरिकता का प्रदर्शन एकता में अट्टहास द्वारा ही प्रायः व्यक्त किया जाता है।** (पृ० ३५) **चाल-ढाल में कुछ प्रौढ़ा सी, सम्पन्न शौकीन समाज-सेविका सी लगती थी, जिनकी उम्र साज-सिंगार के मोटी-मोटी सलवारों में खो सी जाती है।** (पृ २१)

'उम्र का' साजसिंगार के मोटी-मोटी सलवारों में खो जाना कुछ जँचता नहीं वर्णना एकदम ही अटपटी लगती है। यह ठीक है कि लेखक की मातृभाषा तेलुगु है किंतु एक सफल उपन्यासकार के लिए विशिष्ट शैली का कला-नैपुण्य अत्यंत आवश्यक है; वह नैपुण्य तब तक नहीं आ सकता जब तक किसी सीमा पर पूर्ण अधिकार न हो। फिर भी अपनी समस्त त्रुटियों के बावजूद उपन्यास सरस एवं पठनीय है।

——शिवानी,
४७ ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद।

चित्रफलक

अमृत राय का नया कहानी-संग्रह। प्रकाशक : हंस प्रकाशन, इलाहाबाद। मूल्य : ३.०० रुपये।

कहानी-लेखक, उपन्यासकार, अनुवादक और आलोचक के रूप में अमृत राय का हिंदी साहित्य में अच्छा स्थान है। श्रेष्ठ अनुवाद के लिए वे पुरस्कृत हो चुके हैं। अभी कुछ ही दिन हुए——प्रेमचंद की जीवनी——'कलम का सिपाही' पर उन्हें साहित्य-अकादमी का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

'चित्रफलक' नामक संग्रह में अमृत की ग्यारह कहानियाँ संग्रहीत हैं। विचारणीय शीर्षक से उन्होंने अपने इस संग्रह की भूमिका लिखी है। भूमिका इस दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है कि वह नयी कहानी को लेकर इधर जो बवंडर उठाया गया था उस संबंध में एक संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। इधर कुछ लोगों ने 'नयी कहानी' को लेकर जो आंदोलन चलाया था उसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी यही थी कि वह उस पूरी परंपरा को हो अस्वीकार करते थे जो आधुनिक कहानी के साथ संबद्ध थी। वे यह नहीं जानते थे कि 'नयी कहानी' का नयापन एक क्रमबद्ध विकास है। उन्होंने कुछ ऐसा आभास देने का प्रयास किया था कि कुछ जन्मजात महान लेखकों को नयी कहानी का इलहाम हुआ था। अमृत राय ने उनके अनुसार नयी कहानी क्या है, अब तक लिखी जाने वाली कहानी से वह कहाँ भिन्न है, नये और पुराने कहानीकार के दृष्टिकोण में क्या

अंतर है—इसे स्पष्ट किया है। सबसे महत्वपूर्ण बात जो उन्होंने इस संबंध में कही है वह है — **यह नयापन कोई आकस्मिक आविर्भाव नहीं है। किसी एक दिन या एक मुहूर्त की उपलब्धि वह नहीं है, और न किसी एक देश की उपलब्धि है। उसके पीछे कहानी कहने-सुनने, लिखने-पढ़ने का तीन हज़ार बरस का इतिहास है। इस इतिहास के अनेक छोटे-बड़े चरण हैं। आज जिसको हम 'नया' कहते हैं, वह कैसे और किन रास्तों से हो कर यहाँ तक पहुँचा है, उस क्रमिक विकास के सब संकेत थोड़े ही परिश्रम से इतिहास के उस चरणों में देखे जा सकते हैं। इतना ही नहीं, उस संदर्भ से हट कर इस नयेपन को समझा भी नहीं जा सकता।**

हर देश में, हर युग में और हर भाषा में ऐसे साहित्यकार जन्म लेते रहे हैं जो विचार और शिल्प में बड़े से बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन करते रहे हैं पर जिस प्रकार हमारे नये कहानीकारों ने यह प्रभाव डालना चाहा है कि जो आकाशी फूल वे तोड़ कर दे रहे हैं उसे उनसे पहले किसी ने सपने में भी नहीं देखा था—यह निश्चय ही बेमिसाल है।

'नयी कहानी' के कर्णधारों को दो और विशेषताओं की ओर अमृत ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। प्रथम है अपने देश को मिट्टी से विरक्ति और जो विदेशी हैं उससे अनुराग। वह भयंकर रोग भी इधर बहुत ज़ोर पकड़ गया है और इससे बढ़ कर दुर्भाग्य क्या होगा! अपनी आलोचना करना बुरा नहीं है पर अपने सब कुछ को जो महान है अस्वीकार करना सरासर भूल है। दूसरे का जो सचमुच अच्छा है उसे ग्रहण करना तो उचित ही है पर उसके लिए अपने सब को भुला देना निश्चय ही बहुत बुरा है। दूसरी बात है नयी कहानी में 'काम' की कुंठा की अति। इस क्षेत्र में भी एक संतुलित दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता है क्योंकि 'काम' जीवन की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता होते हुए भी एकमात्र आवश्यकता नहीं है। 'विचारणीय' में अमृत ने संक्षेप में सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है और स्वयं कहा है उसमें न कठमुल्लापन है न ऐसी आधुनिकता जो अपनी परंपरा से विच्छिन्न हो।

अमृत दुख और दर्द के लेखक हैं। यह स्थायी भाव है जो उनकी कहानियों में उभर कर आता है। यों हास्य और व्यंग्य के छींटों की उनकी रचनाओं में कमी नहीं है।

अधिकांश कहानियाँ पूर्व दृश्य शैली में लिखी गयी हैं। प्रथम कहानी 'चित्रफलक' एक ऐसे परिवार की दुःखगाथा है जिसमें मृत्यु के समाचार ने परिवार के एक-एक सदस्य को तोड़ दिया है।

संबंधित सभी लोगों की पीड़ा का विशद एवं मार्मिक चित्र द्रष्टव्य है। कहानी का अंत तो हमारे हृदय को बेध देता है।

दूसरी कहानी 'समय' निराश प्रेम की कहानी है। लड़कपन की घटनाओं में पतंग वाली घटना बड़ी रोचक है। जहाँ तक इस कहानी के कथानक की बात है उसमें कोई नयापन नहीं है पर अमृत का अंदाज़ ऐसा अनोखा है कि वह उस पुराने कथानक में भी प्राण-प्रतिष्ठा कर देता है।

'एक साँवली लड़की' इस संग्रह को ही नहीं—इधर लिखी जाने वाली कहानियों में अत्यंत महत्वपूर्ण है। बदलते हुए मूल्यों की ओर लेखक ने क्रांतिकारी संकेत किया है। हमारे समाज की परंपरा थी कि हम अपनी

लड़कियों को दबा कर ढँक कर रहना सिखाते थे। विश्वासों पर हमें बड़ा गर्व था, जिन्हें हम बहुत कस कर पकड़े हुए थे वह किस प्रकार हमारे हाथ से निकले जा रहे हैं हमारा साथ छोड़ दे रहे हैं इसकी यह बड़ी द्रावक कथा है। रज्जो के अंतर्तम में प्रविष्ट हो कर ज्वालामुखी का जो लावा लेखक ने उँड़ेल दिया है वह पाठक के हृदय को झकझोर देता है।

'स्टिल लाइफ़' और 'काली मोटर' चित्रण-प्रधान कहानियाँ हैं। फिर भी लेखक का उद्देश्य केवल चित्रण नहीं है। उस बहाने वह हमें हमारे समाज की एक झाँकी दिखलाता हैं। 'काली मोटर' कल्पित आशंका तथा भय का चित्र और चरित्र दोनों प्रस्तुत करने में समर्थ है। 'मिट्टी' कहानी विचित्र परिस्थितियों की कहानी है। इस कहानी में एक चीज़ खटकी। नेगी परिवार की महिलाओं से जो बोली अमृत ने बुलवायी है वह पहाड़ियों के लिए अस्वाभाविक लगती है।

'एक नीली तसवीर' तकनीक और मार्मिकता की दृष्टि से इस संग्रह की बहुत अच्छी कहानी है। इस संग्रह की कहानियों में 'एक साँवली लड़की' के बाद दूसरा स्थान इसी का हो सकता है। अमृत में भावों के चित्रण की अद्भुत शक्ति है। वह पाठक को जिस भाव में निमग्न करना चाहता है बड़े ही सामर्थ्य से करता है। उस पूरी सामाजिक व्यवस्था के प्रति जो, मनचाहे व्यक्ति से प्रेम करने को स्वतंत्रता नहीं देती, जो बच्चे को जायज़ नहीं मानती, जो उस व्यक्ति से पैदा है जिसे स्त्री रोम-रोम से प्यार करती है, जो माँ अपने वात्सल्य को अस्वीकार कर देती है लेखक एक भयंकर घृणा हमारे मन में उत्पन्न कर देता है। यही इस कहानी की बहुत बड़ी सफलता है।

'सेतुबंधु' बड़ी प्यारी सी घरेलू कहानी है। छोटी-छोटी नित्य प्रति घटने वाली घटनाओं में कहानी को पकड़ लेना और उसे प्रभावोत्पादक बना देना बहुत बड़ा सामर्थ्य है। आज के भौतिकवादी युग में आदर्श के लिए कष्ट उठाने वाले बिरले ही मिलते हैं। 'अमलतास' कहानी का नायक ऐसा ही एक पात्र है।

'मंगलाचरण' कहानी का विषय विवाह-पद्धति है। बाज़ारू लड़कियों से तुलना कर के लेखक ने लड़की दिखाने की प्रथा पर जो व्यंग्य किया है वह बहुत कुछ प्रच्छन्न ही रह जाता है।

दफ़तरों की दुनिया का भ्रष्टाचार और फिर उसके निरीक्षकों का भ्रष्टाचार 'सितार' कहानी में लेखक ने चित्रित किया है। वह कुछ इस सीमा तक बढ़ जाता है कि कहानी का उद्देश्य हल्का पड़ जाता है।

अमृत की ग्यारह कहानियों के इस संग्रह की विशेषता यह है कि कोई भी दो कहानियाँ एक प्रकार की नहीं हैं। कहानी कहने की शैली में भी बड़ी विविधता है। 'काली मोटर' को छोड़ कर और कोई कहानी ऐसी नहीं लगी जो केवल मनोरंजन के लिए ही लिखी गयी है।

अमृत की ये कहानियाँ अच्छी हैं, उनमें नयापन है। आधुनिक कहानी का अनिवार्य गुण उसकी प्रतीकात्मकता भी उनमें पर्याप्त है।

—गंगाप्रसाद मिश्र, प्रधानाचार्य,
राजकीय इंटर कॉलेज, फैज़ाबाद।

पत्र-प्रतिक्रियाएँ

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी अभिनंदन-ग्रंथ

हिंदी के मनीषी कवि, स्वतंत्रता-संग्राम के उद्भट सेनानी, अप्रतिम वक्ता और संघर्ष-युग के पत्रकार पंडित माखनलाल चतुर्वेदी को राष्ट्र और साहित्य के प्रति की गयी उनकी अभूतपूर्व जीवन-व्यापी सेवाओं के सम्मानार्थ शीघ्र ही एक अभिनंदन-ग्रंथ समर्पित किया जा रहा है। हमारी प्रार्थना है कि चतुर्वेदी जी से संबंधित महत्वपूर्ण सामग्री जिन किन्हीं महानुभाव के पास हो वे हमें भिजवाने की कृपा करें । सामग्री में निम्नलिखित बातें प्रेषित की जा सकती हैं :—

१. चतुर्वेदीजी के संस्मरण ।

२. चतुर्वेदीजी से प्राप्त पत्र अथवा उनकी प्रामाणिक प्रतिलिपि ।

३. चतुर्वेदीजी के दुष्प्राप्य चित्र ।

४. चतुर्वेदीजी से संबंधित अन्य कोई विशेष बात ।

मूल पत्र और चित्र उपयोग के पश्चात पूर्ण सावधानी के साथ सुरक्षित लौटा दिये जायँगे ।

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी अभिनंदन-ग्रंथ की सामग्री सितंबर-अक्तूबर माह के भीतर-भीतर अवश्य प्राप्त हो जानी चाहिए क्योंकि ग्रंथ अक्तूबर के अंत में प्रेस में चला जायगा ।

पत्र-व्यवहार का पता—

श्रीकान्त जोशी,
जवाहरगंज, (खंडवा,) म० प्र० ।

इस अभिनंदन-ग्रंथ में जो विशिष्ट महानुभाव अपना योग दे रहे हैं उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं :

सुश्री महादेवी वर्मा, सर्वश्री जैनेंद्रकुमार; आचार्य नंददुलारे बाजपेयी, सेठ गोविन्ददास, बनारसीदासजी चतुर्वेदी, डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन', डॉ० प्रभाकर माचवे, पं० सूर्यनारायण व्यास, डॉ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० बल्देवप्रसाद मिश्र, डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० धर्मवीर भारती, कन्हैयालालजी मिश्र प्रभाकर, प्रयागदत्त शुक्ल, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० जगदीश गुप्त, डॉ० विश्वनाथ मिश्र, डॉ० रामचंद्र तिवारी, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० कन्हैयालाल सहल, डॉ० हरिशंकर शर्मा, डॉ० कृष्ण बलदेव उपाध्याय, डॉ० रवींद्र भ्रमर, जगदीश चतुर्वेदी, डॉ० आनंद-प्रकाश दीक्षित, ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी, गंगाप्रसाद पांडेय, डॉ० प्रेमशंकर, भवानी-प्रसाद मिश्र, अजितकुमार, भाऊ समर्थ, अनिलकुमार, वामन ठाकरे, ब्रिजलाल बियाणी, डॉ० प्रेमनारायण टंडन, कु० कुसुम सिन्हा, कृष्णबिहारी मिश्र, केदारनाथ अग्रवाल, डॉ० सरला शुक्ल, डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र, नर्मदाप्रसाद खरे, कुसुमाकर, डॉ० टीकम सिंह तोमर, डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री, डॉ० प्रताप-नारायण टंडन, डॉ० शंभुनाथ चतुर्वेदी, राजेंद्र अवस्थी, चंद्रकांत देवताले, काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर', रत्नांबर दत्त चंदोला, क्षेमचंद्र सुमन, डॉ० महेंद्र भटनागर, दिनकर

सोनवलकर, शिवकुमार श्रीवास्तव, रामकृष्ण श्रीवास्तव, वीरेंद्र मिश्र, गोपाल प्रसाद व्यास तथा अन्य ।

—श्रीकान्त जोशी,
खँडवा, म० प्र० ।

'विवेचना' में 'अभिनव सोपान'

'माध्यम' अपनी समधीत विवेचना के लिए विद्वानों का आदर पा चुका है, लेकिन अप्रैल अंक की विवेचना एक विशेष महत्व की है क्योंकि यह एक ऐसे कवि के विषय में है जिसमें साहित्य के विद्वानों के साथ-साथ हिंदी की सामान्य जनता को भी रुचि रहती है। जनप्रिय कवि बच्चन के काव्य की इतनी तटस्थ, स्पष्ट और साथ ही सहानुभूतिपूर्ण विवेचना के लिए इसके लेखक, विवेचना के संयोजक और 'माध्यम' के संपादक सभी बधाई के पात्र हैं। लेखक ने कुछ ही वाक्यों में बच्चन जी की कविताओं को तौल कर रख दिया है जैसे : '**इस युग (छायावाद और प्रगतिवाद के संक्रांति काल) की रचनाओं द्वारा बच्चन सहज ही हिंदी के सर्वश्रेष्ठ गीतकारों की पंक्ति में अपने लिए एक विशेष स्थान आरक्षित करने के साथ-साथ काव्यभाषा-विषयक मान्यताओं में क्रांतिकारी परिवर्तन ला सके।..उन्होंने हमें कुछ ऐसे गीत दिये जिनकी संवेदना और सुंदरता निश्चय ही अजर-अमर सिद्ध होगी। बच्चन की इस युग की कुछ कृतियाँ किसी भी काव्य-साहित्य में स्थान पाने की अधिकारिणी हैं।' 'मधुशाला की धूम का वह जमाना जिन्हें याद है वे स्वीकार करेंगे कि बच्चन का कितना बड़ा ऋण हिंदी कविता पर है। सामान्य जनता से कविता का सीधा संपर्क पुनः स्थापित करने का श्रेय बच्चन को है। काव्यभाषा का कायाकल्प करने का श्रेय बच्चन को है।' 'बच्चन के सर्वश्रेष्ठ कविता-संग्रह 'निशा-निमंत्रण' का कलाम 'आह' है, और ज्यों-ज्यों यह 'आह' 'वाह' में बदलती गयी त्यों-त्यों बच्चन का कवि-व्यक्तित्व विघटित होता गया।' 'बच्चन की इधर की रचनाओं को देख कर उन्हीं के शब्दों में कहने को जी होता कि जो 'बीत गयी सो बात गयी।'** यदि किसी परीक्षा में बच्चन पर तैयारी करनी होती तो ये वाक्य गुर की तरह रट लिये जाते।

—रमेशदत्त दीक्षित,
गोरखपुर।

आधुनिकता का संदर्भ

'माध्यम' के जुलाई अंक में प्रकाशित डॉ० इंद्रनाथ मदान का लेख 'आधुनिकता और हिंदी कहानी' सूत्र-शैली के बावजूद भी अपने खुलेपन के कारण महत्वपूर्ण है। सूत्रों में ताज़गी है, किंतु इस शैली की सीमाओं के कारण डॉ० मदान अपनी मान्यताओं को स्पष्ट नहीं कर पाये। उनके अनुसार आधुनिकता एक मूल्य न हो कर एक प्रक्रिया है जिसके मूल में वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि है—किंतु प्रश्न यह है कि इस दृष्टि की एक स्वतंत्र रचना के लिए क्या सार्थकता है, जब तक कि इसको निर्मित करने वाले विज्ञान द्वारा ज्ञापित मूल्य रचना-प्रक्रिया की अनिवार्य शर्त नहीं बन पातें। गिरिजाकुमार माथुर अपनी वैज्ञानिक दृष्टि के बावजूद भी अपनी रचनाओं में स्वच्छंदता-

वाद के प्रभाव से, जो कहीं न कहीं मूलतः आधुनिकता-विरोधी है, मुक्त नहीं हो सके, क्योंकि विज्ञान द्वारा ज्ञापित मूल्यों को वह अपनी रचना-प्रक्रिया का अभिन्न अंग नहीं बना पाये। मात्र दृष्टि लेखक या साहित्यकार को आधुनिक नहीं बनाती। इसका दायित्व उन भूल्यों पर है जो उसकी रचना-प्रक्रिया की अनिवार्य शर्त और सर्जन की आंतरिक विवशता वन गये हैं। रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से आधुनिकता निश्चय ही मूल्यों का आकलन है।

डॉ० नामवर सिंह यदि कभी इसे एक प्रक्रिया के रूप में तो कभी एक मूल्य के रूप में खोज निकालते हैं, तो इसमें कोई विरोधाभास नहीं। उनकी स्थिति स्पष्ट है अर्थात उनके लिए आधुनिकता विज्ञान द्वारा ज्ञापित मूल्यों को आत्मसात करने की प्रक्रिया है। महत्वपूर्ण बिंदु मूल्यों को आत्मसात करना है, प्रक्रिया नहीं। प्रक्रिया तो अवमूल्यन की स्थिति भी हो सकती है। इस युग में मूल्यहीनता से प्रतिबद्ध लेखक कम से कम आधुनिक नहीं हो सकता। मूल्यहीनता की स्थिति में मूल्यों का आग्रह आधुनिकता की एक अनिवार्य शर्त है। 'प्रश्न-चिन्ह की निरंतरता' दूसरे शब्दों में मूल्यहीनता की निरंतरता है और उससे केवल उन्हीं लोगों को मोह है जो मूल्यहीनता या उससे संबद्ध स्थितियों को ही आधुनिकता मान बैठे हैं, क्योंकि वे प्रश्नों के उत्तरों से उपजने वाली नयी स्थितियों को झेलने में स्वयं को असमर्थ महसूस करते हैं। आधुनिक वही है, जो स्थितियों को झेलता है न कि स्वच्छंदतावादी की तरह 'झेलने' को रागात्मक भोग में परिणत कर लेता है। डॉ० मदान के अनुसार कई नव-स्वच्छंदतावादी लेखक भी आधुनिकता की चुनौती को अपने-अपने धरातलों पर स्वीकार कर रहे हैं। चूँकि रागात्मक भोग के लिए मूल्यहीनता एक आदर्श स्थिति है इसलिए अपनी आधुनिक त्वचा के नीचे कहीं गहरे में रूमानी बोध से मोह और सहानुभूति रखने वाले समीक्षक डॉ० इंद्रनाथ का, मूल्यहीनता (उनके शब्दों में प्रश्न-चिन्ह की निरंतरता) को ही आधुनिकता से विभूषित करने का प्रयास स्वाभाविक है।

--कुमार विकल, चंडीगढ़।

'माध्यम' को बराबर देखता आया हूँ। मुझे लगा है कि पुस्तक समीक्षा संबंधी खंड अभी कमज़ोर है। पुस्तकों के चयन तथा आलोचकों के चुनाव में यदि थोड़ी सावधानी तथा निष्पक्षता से काम लिया जाय तो पत्रिका का यह भाग भी उठ सकता है। इसका सशक्त भाग अभी तक 'विवेचना' की देन है।

--इन्द्रनाथ मदान,
चंडीगढ़।

(समीक्षार्थ पुस्तकों और समीक्षकों का चयन 'सावधानी तथा निष्पक्षता' से ही किया जाता है, पर यदि कोई पसंद न आने वाली समीक्षा में अनवधानता और पक्षपात ही देखना चाहे तो उसे कौन रोक सकता है! --संपादक।)

प्राप्ति-स्वीकार

●

हिंदी प्रचार सभा, मथुरा

१. मिलिंद मित्रम्——बनमाली भारद्वाज
(सं० मनोहर 'अभय')

साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद

१. तस्वीरें और साये
(गंगाप्रसाद मिश्र)
२. रवींद्र भ्रमर के गीत
(रवींद्र भ्रमर)

अर्चना प्रकाशन, आरा

१. उदात्त, सिद्धांत और शिल्पन
(जगदीश पांडेय)
२. शील-निरूपण : सिद्धांत और विनियोग
(जगदीश पांडेय)
३. रेल की पटरियाँ
(रामेश्वर नाथ तिवारी)
४. कालिदास के सौंदर्य-सिद्धांत और
मेघदूत (शिवबालक राम)
५. कहानीकार जैनेंद्र : अभिज्ञान और
उपलब्धि (जगदीश पांडेय)

समवाय प्रकाशन, लखनऊ

१. रोशनी की आँधियाँ
(सं० रोहित आत्रेय)

लोकचेतना प्रकाशन, जबलपुर

१. अंकुर की कृतज्ञता
(दिनकर सोनवलकर)
२. कथाचक्र (पदुमलाल पुन्नालाल
बख्शी)
३. जिन्हें नहीं भूलूँगा (" ")
४. मेरे प्रिय निबंध (" ")

उदयाचल, पटना

१. कोयला और कवित्व
(रामधारी सिंह 'दिनकर')
२. आत्मा की आँखें (" ")
३. मृत्ति-तिलक (" ")

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, दिल्ली।

१. जो (प्रभाकर माचवे)
२. संक्रांत (कैलाश वाजपेयी)
३. नाटक बहुरूपी
(लक्ष्मीनारायण लाल)
४. भारतीय संस्कृति का विकास
(मंगलदेव शास्त्री)
५ हिमविद्ध (जगदीश गुप्त)
६. हिंदी गीतिनाटय (कृष्ण सिंहल)
७. प्रतिनिधि रचनाएँ——४
(कर्तार सिंह दुग्गल)
८. " "——५
(सं० अनिल कुमार)
९. चौंसठ कविताएँ (इंदु जैन)
१०. दर्शन-अनुचिंतन
(गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी)
११. प्रतिनिधि रचनाएँ, मराठी
(नारायण सीताराम फड़के)
१२. झाड़ी (श्रीकांत वर्मा)
१३. सिकंदरनामा (सलमा सिद्दीक़ी)
१४. प्रतिनिधि रचनाएँ, पंजाबी
(नानक सिंह)
१५. जुलस (फणीश्वरनाथ 'रेणु')

टेक्सटाइल मशीनरी कारपोरेशन लिमिटेड
(टेक्समेको)

डाकघर—बेलघरिया, २४ परगना (पश्चिम बंगाल)

अपने देश के सुरक्षा-संघटन को अपनी निष्ठापूर्ण सेवा अर्पित करता है

निम्नांकित पदार्थों के प्रसिद्ध निर्माण-कर्ता

- भारी और हल्की स्ट्रक्चरल्स, ब्रिज स्ट्रक्चरल्स, हैड्रालिक गेट और प्रोजेक्ट्स
- सभी प्रकार के, और विशिष्ट निर्देशन के, मालवाही वैगन
  मशीनों के औज़ार (टूल्स)
- सभी तरह के ब्वायलर वाटर ट्यूब, लंकाशायर, लोको, वर्टिकल वगैरह
- चीनी मिल की मशीनरी, पूरा प्लांट और मशीनों के विभिन्न हिस्से
- टेक्सटाइल मशीनरी, रिंग फ्रेम्स, कार्डिंग इंजिन, ड्रा फ़्रेम्स, सिम्प्लेक्स मशीन, स्पेयर पार्ट वगैरह, वगैरह।
- भारी और हल्की स्टील कास्टिंग्स—ख़रीदार के निर्देशन के अनुसार
- ग्रे आयरन कास्टिंग्स, स्टील फ़ोर्जिंग—ख़रीदार के निर्देशन के अनुसार

माल की उत्तमता और ठीक समय पर वितरण की गारंटी

सम्मेलन के अभिनव एवं महत्वपूर्ण प्रकाशन

१	राजभाषा हिन्दी	डा० सेठ गोविन्ददास	२.००
२	हिन्दी भाषा आन्दोलन	सम्पा० श्री लक्ष्मीचंद	९.००
३	हिन्दी आन्दोलन	सम्पा० श्री लक्ष्मीकांत वर्मा	४.५०
४	स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी के संघर्ष का इतिहास	श्री रामगोपाल	६.००
५	दक्खिनी हिंदी का उद्भव और विकास	डा० श्रीराम शर्मा	१२.००
६	प्रबोध चंद्रोदय और उसकी हिन्दी परंपरा	डा० सरोज अग्रवाल	१०.००
७	आधुनिक हिन्दी कविता में गीतितत्व	डा० सच्चिदानन्द तिवारी	९.००
८	कबीर और कबीर पंथ	डा० केदारनाथ द्विवेदी	१२.००
९	गढ़वाली लोकसाहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन	श्री मोहनलाल बाबुलकर	८.००
१०	ब्रजभाषा रीतिशास्त्र ग्रंथकोश	श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी	६.५०
११	मार्क्स और गांधी का साम्यदर्शन	श्री नारायण सिंह	१५.००
१२	रस शास्त्र	डा० अत्रिदेव विद्यालंकार	७.००
१३	श्रद्धांजलि विशेषांक	संपा० ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री	८.००
१४	शंकराचार्य का आचार दर्शन	डा० रामानन्द तिवारी	५.००
१५	गीताऽमृत	श्री शिवकुमार मिश्र 'मयूर'	३.००
१६	बुद्धकालीन भारतीय भूगोल	डा० भरतसिंह उपाध्याय	१२.००
१७	पालि साहित्य का इतिहास	डा० भरतसिंह उपाध्याय	१५.००
१८	हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण	डा० किरण कुमारी गुप्ता	१०.००
१९	क्रान्तिकारी तुलसी	श्री नारायण सिंह	१०.००
२०	रस और रसास्वादन	डा० हरद्वारीलाल शर्मा	४.५०
२१	हार [उपन्यास]	पद्मभूषण श्री सुमित्रानंदन पंत	१०.००
२२	कवि कालिदास [नाटक]	श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी	१.२५
२३	विकास [,,]	डा० सेठ गोविन्ददास	१.५०
२४	आधुनिक कवि भाग ६	श्री माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
२५	आधुनिक कवि भाग ७	डा० हरिवंश राय 'बच्चन'	३.००
२६	आधुनिक कवि भाग ८	श्री रामनरेश त्रिपाठी	३.७५
२७	आधुनिक कवि भाग ९	श्री नरेन्द्र शर्मा	३.००
२८	रसखान रत्नावली	डा० भवानी शंकर याज्ञिक	५.००
२९	शिशुपालवध	अनु० श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री	८.००
३०	प्रागनकृत भँवरगीत	सम्पा० हरिमोहन मालवीय	१.५०
३१	बालचन्द बत्तीसी	सम्पा० हरिमोहन मालवीय	१.५०
३२	कुतुबन कृत मृगावती	डा० शिवगोपाल मिश्र	६.००

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

ज्ञानोदय | पूजा – दीपावली के अवसर पर वार्षिक भेंट

दाम्पत्य विशेषांक

नवंम्बर १९६५ : पृष्ठ लगभग ४०० : मूल्य ३–००

● युगल-युग्म चित्रों सहित रंगीन सज्जा ● परिचर्चा, संस्मरण, डायरी, कहानी, पत्र, एकांकी . . सभी विधाएँ । ● सभी जाने-माने लेखक । ● विस्तृत जानकारी ज्ञानोदय के सितंबर और अक्तूबर अंक में उपलब्ध ।

विशेषांक से पहले एक साधारण अंक––अक्तूबर १९६५ :

कुछ विशेष शीर्षक

- **याद आते बापू : रिषभदास राँका**
- **एक अस्वाभाविकता की ओर संकेत : सेठ गोविन्ददास**
- **बहती हुई चौरंगी––त्रिकोणी भेंट : शंकर, रमेश बक्षी और सुदर्शन चोपड़ा के बीच**
- **नास्तित्व की खोखल और युगीन आशंका : कैलाश बाजपेयी**
- **गुलाब खाने की आदत : शरद जोशी**
- **विज्ञान और व्याकरण से परे कला . डॉ० लक्ष्मीचन्द्र**
- **ब्रह्मराक्षस का शिष्य : श्रीकान्त वर्मा**
- **आदमी से बड़ा कैक्टस : रमेंशदत्त शर्मा**
- **गीत के पक्ष में : वीरेन्द्र मिश्र**
- **कहानियाँ**
- **प्रकाश पंडित, रजनी पनिकर, राजेन्द्र अवस्थी, मधुकर गंगाधर, ओमप्रकाश निर्मल ।**
- **कविताएँ :**
- **भवानी प्रसाद मिश्र, दूधनाथ सिंह, चन्द्रकान्त देवताले**
- **प्रयाग शुक्ल, विजयबहादुर सिंह**

तथा सभी स्थायी स्तंभ रंगीन सज्जा सहित

‘दाम्पत्य विशेषांक की प्रति अभी से सुरक्षित करवा लें’

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

सम्पादक : लक्ष्मीचन्द्र जैन, रमेश बक्षी
सम्पादकीय कार्यालय : ६, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता – २७
वितरण-कार्यालय : दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी
प्रमुख वितरण : बेनेट कोलमैन क०, लि० बम्बई – १

एक प्रति : एक रुपया : वार्षिक १० रुपये : त्रयवार्षिक : २५ रुपये
पन्द्रहवर्षीय : सौ रुपये : आजीवन : एक सौ एक्यावन रुपये

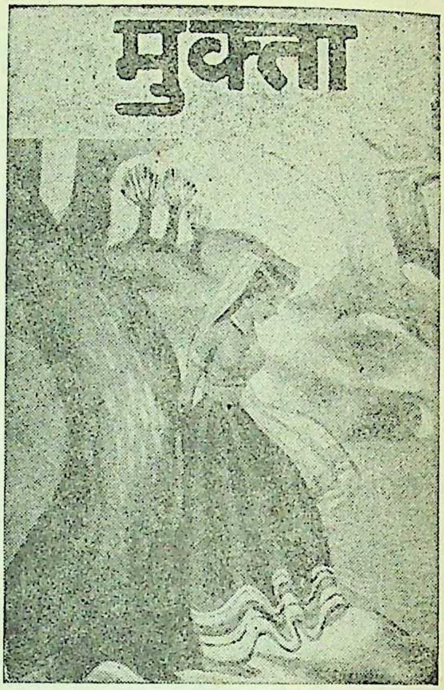

क्या आप

मुक्ता से

पूरी तरह परिचित हैं ?

मुक्ता के हर अंक में :

राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों का निर्भीक लेखा-जोखा––जो हिंदी की किसी अन्य पत्रिका में आपको शायद ही मिले। दलबंदी एवं तथाकथित वादों को चुनौती देने वाला स्वस्थ साहित्य––जो आप का भरपूर मनोरंजन करेगा, प्रेरणा देगा और मानसिक स्तर ऊँचा उठाएगा। ज्ञान-विज्ञान के नये-नये विषयों पर बिल्कुल नयी सामग्री––जो आपको आधुनिक बनाये रखने में सबसे अधिक योग देगी।

'सरिता' सामाजिक पुर्ननिर्माण के क्षेत्र में सबसे आगे है, और उसकी पूरक 'मुक्ता' राजनीति, कला व ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में।

आज ही नमूने की प्रति के लिए निम्न पते पर लिखिए :

मुक्ता • रानी झाँसी रोड • नयी दिल्ली

भारतीय ज्ञानपीठ-द्वारा प्रवर्तित

ज्ञानपीठ पत्रिका

लेखन-प्रकाशन की अधुनातन दिशा-प्रवृत्ति
और उपलब्धि-परिचायिनी
मासिकी

●

'ज्ञानपीठ पत्रिका' हिंदी में अपने प्रकार का प्रथम प्रयास है, और कदाचित अन्य भारतीय भाषाओं को देखते हुए भी; जिसका प्रयत्न एक ऐसा अध्ययन प्रस्तुत करने का है जो लेखक-प्रकाशन-विक्रेता-पाठक चारों के 'अक्षर-जगत्' की गतिविधि, नयी प्रवृत्तियों, समस्याओं एवं समाधान और विकास-उन्नति की दिशा-भूमिका का सम्यक परिचय दे तथा परस्पर विचारों के आदान-प्रदान का पथ प्रशस्त कर सके।

संपादक
लक्ष्मीचन्द्र जैन : जगदीश

111056

मूल्य वार्षिक ६.०० : ००.५५ पैसे प्रति

संपादकीय कार्यालय
भारतीय ज्ञानपीठ, ९ अलीपुर पार्क प्लेस,
कलकत्ता - २७

वितरण कार्यालय
भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड रोड, वाराणसी -५

हिंदी नवलेखन की सशक्त मासिकी

लहर

जुलाई १९५७ से
नियमित हिंदी पाठकों के समक्ष कहानियों, कविताओं के
अतिरिक्त
समसामयिक घटनाओं-समस्याओं पर विचार-युक्त सामग्री
प्रस्तुत करती रही है।

जिसके विशेषांक
स्थायी महत्व के रहे हैं।

एक प्रति : ५० पैसे। वार्षिक : छह रु० मात्र।

सम्पादक : प्रकाश जैन

महात्मा गांधी मार्ग, पो० बा० ८२, अजमेर।

युगप्रभात

सचित्र हिंदी पाक्षिक

अहिंदीभाषी केरल राज्य से प्रकाशित होने वाले 'युगप्रभात' में हिंदी-अहिंदीभाषी लेखकों द्वारा हिंदी में लिखित-अनूदित श्रेष्ठ कहानियाँ, एकांकी, धारावाहिक उपन्यास, निबंध, समालोचनाएँ आदि प्रकाशित किये जा रहे हैं। दक्षिण के विकासमान प्रगतिशील साहित्यों के परिचायक के रूप में 'युगप्रभात' जनप्रिय होता जा रहा है।

संपर्क : मैनेजर 'युगप्रभात', कालिकट (केरल)   वार्षिक शुल्क : छह रुपया

राष्ट्रभारती

१ : इसमें लब्धप्रतिष्ठ विद्वान साहित्यकारों के ज्ञानपोषक और मनोरंजक अच्छे-अच्छे लेख, कविताएँ, कहानियाँ, एकांकी, रेखाचित्र, शब्दचित्र आदि रचनाएँ रहती हैं।

२ : इसमें संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, मैथिली, उर्दू, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं की तथा अंग्रेज़ी, रूसी आदि विदेशी भाषाओं की उत्कृष्ट रचनाओं के सुंदर हिंदी अनुवाद भी रहते हैं।

वार्षिक मूल्य : ६) • छमाही : ३·५० रु०

नमूने की प्रति के लिए : ६२ पैसे मात्र

रियायत : समिति के प्रमाणित प्रचारकों, हिंदी शिक्षकों, कोविद, रा० भा० रत्न, आचार्य, विशारद और साहित्यरत्न के विद्यार्थियों, केन्द्र-व्यवस्थापकों तथा सभी सार्वजनिक पुस्तकालयों, वाचनालयों और स्कूल-कॉलेजों के लिए केवल ५ रु० वार्षिक चंदा रखा गया है। अतः वे ५ रु० मात्र मनीआर्डर से भेजें।

पता : श्री व्यवस्थापक, 'राष्ट्रभारती', हिंदीनगर, वर्धा (महाराष्ट्र राज्य)

111056

Compiled
1999-2000